वर्ष : १९५७
प्रथम संस्करण : १००० प्रतियाँ
मूल्य : रु० १०)

प्रकाशक :
श्री वसंतलाल मुरारका स्मारक समिति
१५२ वी, महात्मा गाँधी
कलकत्ता-७

मुद्रक :
शशिभूषण मिश्र
मिश्रा एण्ड कम्पनी
१२, ग्रांट लेन, कलकत्ता-१२



आमुख

भाई वसन्तलालजी न तो समाज-विज्ञानके विद्वान् थे और न राजनीति के, परन्तु सामाजिक और राजनीतिक दोनो ही क्षेत्रोमें उन्होने दीर्घ काल तक लगन, दृढता एव साहस के साथ जो और जितना कार्य किया, उसके लिए इन दोनो क्षेत्रोमें ही उन्हें अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। सामाजिक सुधारोके क्षेत्रमें तो उनकी कार्येच्छा और कार्य-क्षमता इतनी वढी-चढी थी कि उनका नाम और समाज-सुधार लगभग समानार्थक शब्द वन गए थे। समाज-सुधारकी कोई वात हो, वे हर क्षण उसके लिए तत्पर रहते थे। वाल-विवाहको रोकने, अनमेल विवाहको वन्द कराने, विधवाओंका पुनर्विवाह सम्पन्न कराने, पर्दा और दहेजके विरुद्ध सत्याग्रह करने, तथा जात-पाँत और साम्प्रदायिकताके घेरेको तोडने आदिका कोई काम हो, और किसी वक्त हो, वसन्तलालजी सवसे पहले और सवसे आगे तैयार मिलते थे। वे सामाजिक सुधारका कार्य करनेवाले कार्यकर्त्ताओंके चौवीस घटोके साथी थे। समाज-सुधारके क्षेत्रमें जो गाली-गलौज, लाछना, वहिष्कार और ताडना मिलती है (आजकी अपेक्षा पहले यह सव वहुत ज्यादा था), वह सव उन्होने सहा और झेला, वल्कि यो कहना चाहिए कि उसे निमन्त्रण देकर वुलाया। ऐसे थे वसन्तलालजी। इसलिए जव यह विचार हुआ कि उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाय, तो तुरन्त यह निर्णय हो गया कि ऐसे समाज-सुधारक के अभिनन्दन के लिए समाज-सुधारका एक विवेचनात्मक इतिहास प्रकाशित कर उनको भेट किया जाय। जो अभिनन्दन-समिति वनी, उसकी ओरसे जव यह विचार लोगोके सामने आया, तो सभीने उसे पसद किया। और, ग्रथकी योजना तैयार की गयी। देशके विभिन्न भागोसे लेखको और कार्यकर्ताओंके साथ पत्र-व्यवहार किया गया। सव ओरसे इस विचारका स्वागत हुआ और सहयोगका भरोसा प्राप्त हुआ। इस प्रकार अभिनन्दन-ग्रन्थकी योजना को शीघ्रातिशीघ्र साकार करनेका उद्योग किया गया पर दुर्भाग्यसे ग्रथ तैयार होनेमें विलम्व हो गया।

इसी वीच श्री वसंतलालजीका स्वास्थ्य वहुत गिर गया। उन्हें कैंसरने आक्रात कर लिया था। जव यह लगने लगा कि ग्रथ तैयार हो सकेगा, उस समय तक शायद वे न वचें तो ८ अक्टूवर, १९५६ को अभिनन्दन-समारोहका आयोजन कर लिया गया तथा उसमें ग्रथकी आशिक पाण्डुलिपि मात्र उनको समर्पित करदी गयी। हाँ, ग्रथकी योजनाके सम्वन्धमें स्वय श्री वसन्तलालजी से चर्चा-परामर्श किया गया था। उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि ग्रथका निमित्त चाहे वे हो, पर ग्रथमें जो सामग्री हो, वह "व्यक्ति" की नही, "समाज" की हो। उसमें समाजकी रचना और विकास के मौलिक तत्त्वो से प्रारम्भ करके सामाजिक जीवनके भावी विकास तकके संघर्ष और सगठनकी लम्वी

कहानी हो ताकि उसके द्वारा हम अपने अतीतकी सबलता-दुर्बलताको समझ सकें, अपने पूर्वकालीन समाज-सुधारकोंके कार्योंकी पृष्ठभूमिको पहिचान सकें, उनसे प्रेरणा ले सकें और उनके कार्यमें जो त्रुटियाँ रह गई हो, उनसे बचकर चल सकें। ऐसा भी हो कि आनेवाली पीढ़ियाँ वर्तमानको, जिसके हम सब अंग हैं, देख सकें और साथ ही भावी समाज-व्यवस्थाके आधारों और मूल्योंको भी न केवल जानें, पहिचानें और समझें ही, बल्कि उनको गढ़नेमें योग दे सकें। इस ग्रथके सम्बन्धमें यही विचार और लक्ष्य रहा है।

जिसकी 'अभिनन्दन-ग्रंथ' के रूपमें परिकल्पना की गई थी, वह काल-गतिसे 'स्मृति-ग्रंथ' के रूपमें निकल रहा है, परन्तु इससे उसमें कोई अन्तर नही हुआ। ग्रंथका आधार तो "व्यक्ति" नही, "समाज" था और है, "व्यक्ति" तो निमित्त था। निमित्त वर्तमान था तो और अवर्तमान है तो, उसका कार्य तो हो गया। 'व्यक्ति' (श्री वसन्तलालजी) की स्मृतिके निमित्तसे यह ग्रन्थ 'समाजका और समाजके लिये' रूपमें आपके समक्ष प्रस्तुत है। इसके निर्माणमें बहुतोंका बहुत तरहसे सहयोग संकलित है और वे सब धन्यवाद के पात्र है। श्री सत्यदेव विद्यालकार का सहयोग विशेष उल्लेखनीय है। प्रयत्न किया गया है कि ग्रंथके विभिन्न खंडोमें हमारे सामाजिक आधारों, विचारों, मूल्यों-मापदण्डो और आन्दोलनोका यथासभव पूरा क्रमागत इतिहास आ जाय और वह हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्यका निर्वैयक्तिक दर्शन हो। कई बड़े-बड़े विचारकों, लेखकों और कार्यकर्त्ताओंका सहयोग पाकर भी हम इस प्रयत्नमें कितने सफल हो सके है, यह तो पाठक और समीक्षक ही बताएँगे। हमारा खयाल यह जरूर है कि समाज-सुधार के सम्बन्धमें इस प्रकार का कोई ग्रंथ अभी तक शायद प्रकाशित नही हुआ है। यदि इस ग्रंथसे उस अभावकी पूर्त्ति हुई तो हम अपने प्रयासको सफल मानेंगे।

यह ग्रंथ समाज-सुधारकी उत्क्रान्तिके इतिहासमें एक कड़ी है। आगे बढनेके लिए प्रगति-पथका एक सम्बल और सोपान है, पथका अन्तिम छोर नही। समाज सतत विकास-शील है और विकासके क्रममें व्यक्ति और समाज के सम्बन्धोंकी स्थिति मुख्य तौरसे क्रियाशील होती है। इन सम्बन्धोंमें जब किसी कारणसे असंतुलन उत्पन्न हो जाता है, तब समाजमें विकारकी सृष्टि होती है और सुधारकी आवश्यकता और प्रेरणा का प्रादुर्भाव होता है। विकार और सुधारकी यह गतानुगतिकता आजतकके इतिहासपर समाज-वेत्ताओंका दर्शन और निदर्शन है। यह गतानुगतिकता और प्रवहमान विकासशीलता ही स्थायी है। समाज कभी कही ठहरा नही, ठहरता नही और ठहरेगा नहीं; व्यक्ति भी समाजकी इसी गतिशीलताके साथ चलता है और चलनेको बाध्य है। कभी ऐसा व्यक्ति आता है जो एक जीवनसे बहुतोंके जीवनको गढ़कर या धकेलकर या तोड़कर सारे समाजका मार्ग बदल देता है और कभी समाजमें—यहाँके समाजमें, वहाँके समाजमें और सारी दुनियाके समाजमें—ऐसा बवण्डर पैदा हो जाता है (ऐतिहासिक आधारपर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियोंके झंझावातमें) कि बड़े-से-बड़े व्यक्ति तिनकोंकी तरह उड़ जाते हैं। तभी तो कहा गया है कि इतिहास बड़े-से-बड़े व्यक्तित्व की भी परवाह नही करता और आवश्यकता होनेपर उसको कुचलकर फेंक देता है। तो समाजको—बल्कि, कहिए कि समाज और व्यक्तिके सम्बन्धोंपर आधारित सामाजिकता को—देखनेवाला इतिहास जितना सही होता है, उतना व्यक्तिका दर्शन नही क्योंकि वह

देश, काल और पात्रकी सीमाओं और उनके कारण उत्पन्न निहित स्वार्थोकी गण्डीमें बँधा होता है। इतिहास स्वय निर्जीव है, पर वह कितने सहस्रो वर्षोके असख्य जीवनोके निर्माण और अवसानकी कहानी है! इसलिए उसकी दृष्टिमें सच्ची दार्शनिकता होती है और वह दार्शनिकता ही समाजको सच्चा मार्ग-दर्शन देती है। इस दृष्टिसे समाज-सुधार की कहानी व्यक्ति और समाजके पारस्परिक सम्बन्धोके सतुलनकी कहानी है। कभी व्यक्तिपर जोर देनेकी स्थिति आती है और कभी समाजपर जोर देनेकी। कभी व्यक्ति दब जाता है और उसे बचानेके लिए सामाजिकताके बधन काँटने-छाँटने पडते हैं; और कभी व्यक्ति उच्छृ खल और स्वार्थाभिभूत होकर समाजमें शोषण और वैषम्य फैलाने लगता है, तब उसे योजनापूर्वक नियत्रणमें रखना पडता है। इस सतुलनके प्रयासको ही व्यापक अर्थमें समाज-सुधार कहना चाहिए—राजनीतिक भाषामें समाजवाद। आज विज्ञानने भौगोलिक दीवारें तोडकर सारे विश्वको काल और स्थानकी दृष्टिसे इतना सन्निकट ला दिया है कि समाज और सामाजिकता सारे विश्वमें एक-रूप, एक-हृदय हो रहे हैं। मानवताको यह एक नया वरदान मिला है, जो सामाजिक विकासकी दिशामें सहस्रो वर्षो के सघर्ष और सहयोगाधारित प्रयत्नोका सार-फल है। प्रस्तुत ग्रन्थकी योजनाके पीछे विचारोंकी यही पृष्ठभूमि रही है और नये समाजकी रचनाका यही दिशा-सकेत दिया गया है।

अन्तमें इतना ही और कहना है कि ग्रन्थमें जो-कुछ अच्छा बना है, उसका श्रेय उन लेखको और कार्यकर्ताओंको है, जिनके सहयोग और सहायताके बिना यह प्रयास सम्भव न होता और जो कुछ त्रुटि रह गयी है, उसके लिए मैं उत्तरदायी हूँ। निर्धारित पृष्ठ-सख्यासे कुछ पृष्ठ अधिक कर देनेपर भी मगाए-आये हुए सारे लेख ग्रथमें नहीं दिये जा सके। इसके लिये हम उन लेखकोसे क्षमा-प्रार्थी है, जिनके लेख सम्मिलित नही किये जा सके।

आज स्व० बसन्तलालजीकी प्रथम निधन-तिथिके अवसरपर श्रद्धा और सम्मानके साथ,

भँवरमल सिघी
सम्पादक

कलकत्ता,
१० अक्टूबर सन् १९५७

—.:००.:—

श्री बसंतलाल मुरारका स्मारक समिति*

अध्यक्ष :

श्री प्रफुल्लचन्द्र सेन,
खाद्यमंत्री, पश्चिम बंगाल

मंत्री :

श्री भवरमल सिघी
,, भालचन्द्र शर्मा

सदस्य :

डा. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
अध्यक्ष, विधान परिषद्, पश्चिम बंगाल
श्री शैलकुमार मुखर्जी
अध्यक्ष, विधान सभा, पश्चिम बंगाल
,, अतुल्य घोष
अध्यक्ष, प०ब० प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी
,, मूलचन्द्र अग्रवाल (स्वर्गीय)
सचालक, 'विश्वमित्र'
,, ईश्वरदास जालान
स्वायत्त-शासन मत्री, पश्चिम बगाल
,, भागीरथ कानोड़िया
,, सीताराम सेकसरिया
,, प्रभुदयाल हिम्मतसिहका
एम० पी०
,, रामदेव चोखानी
,, तुलसीराम सरावगी (स्वर्गीय)
,, गोविन्दप्रसाद कानोड़िया
,, रामेश्वरलाल टाटिया
एम० पी०
,, मंगतूराम जयपुरिया
,, विजयसिंह नाहर
प्रधान मत्री, प० ब० प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी
,, रामेश्वरलाल नोपानी
,, रघुनाथप्रसाद सिंहानिया

श्री दामोदरदास खन्ना
,, वजरगलाल लाठ
,, कृष्णचन्द्र अग्रवाल
,, आनन्दीलाल पोद्दार
एम० एल० ए०
,, हरदत्तराय मुगला
,, रघुनाथप्रसाद खेतान
,, कृष्णदयाल जालान (स्वर्गीय)
,, सत्यनारायण मिश्र
,, रामलगनसिह
एम० एल० ए०
,, रामकुमार भुवालका
एम० एल० सी०
,, वेणीशकर शर्मा
,, नन्दकिशोर जालान
,, काशीप्रसाद मोदी
,, धर्मचन्द सरावगी
,, पन्नालाल गुजराती
,, विजयसिंह कोठारी
,, वहादुरसिह
,, इन्द्रचन्द्र संचेती
,, रामशकर उपाध्याय
,, मूलचन्द सेवक

---

*आरभमें इस समितिका गठन श्री वसतलाल मुरारका अभिनन्दन समितिके नाम से

अर्थ-सहायक

२५००)	श्री ब्रिजमोहन बिड़ला
१०००)	" भागीरथ कानोड़िया
५००)	" रामकुमार भुवालका
५००)	" मंगतूराम जैपुरिया
५००)	" राधाकृष्ण कानोड़िया
५००)	" रामकुमार केजडीवाल
५००)	" नन्दलाल जालान
५००)	" केशरदेव झुंझनूंवाला
५००)	" रामेश्वरलाल नोपानी
५००)	" प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका
५००)	" रामेश्वरलाल टांटिया
५००)	" रघुनाथप्रसाद खेतान
५००)	" आनन्दीलाल पोद्दार
२५०)	" सीताराम सेकसरिया
२५०)	" भगवतीप्रसाद खेतान
२५०)	" मूलचन्द्र अग्रवाल
२५०)	" गोविन्दप्रसाद कानोड़िया
२५०)	" वेणीशंकर शर्मा
रु० १०२५०)	

अनुक्रमणिका

प्रथम-खण्ड

जीवन-वृत्त एवं संस्मरण

द्वितीय खण्ड

समाज के मौलिक तत्त्व

तृतीय खण्ड

भारतीय समाज पर बाह्य प्रभाव

चतुर्थ खण्ड

सामाजिक समस्याएँ और सुधार-आन्दोलन

पंचम खण्ड

महिला-जागृति

षष्ठ खण्ड

कुछ विशिष्ट समाज-सुधारक

सप्तम खण्ड

प्रान्तीय सुधार-आन्दोलन

अष्टम खण्ड

नये समाज की ओर

समाजको बदल डालो !

प्रथम खण्ड

जीवन-वृत्त एवं संस्मरण

जीवन-वृत्त

एक सामान्य परिवारमें जन्म लेकर और सीमित साधनोंमें रहते हुए भी मनुष्य अपने अध्यवसाय, बुद्धि, लगन और दृढ़ संकल्पके बलपर किस प्रकार उन्नति कर सकता है, श्री वसंतलाल मुरारकाका जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उनका जन्म जयपुर राज्यके मुकुन्दगढ़ नामक स्थानमें शिवरात्रिके दिन फरवरी १८६३ ई० में हुआ था। उनके घरकी स्थिति साधारण थी और साधन बहुत सीमित। बाल्यावस्थामें उनका लालन-पालन उसी स्थितिके अनुसार हुआ।

शिक्षा

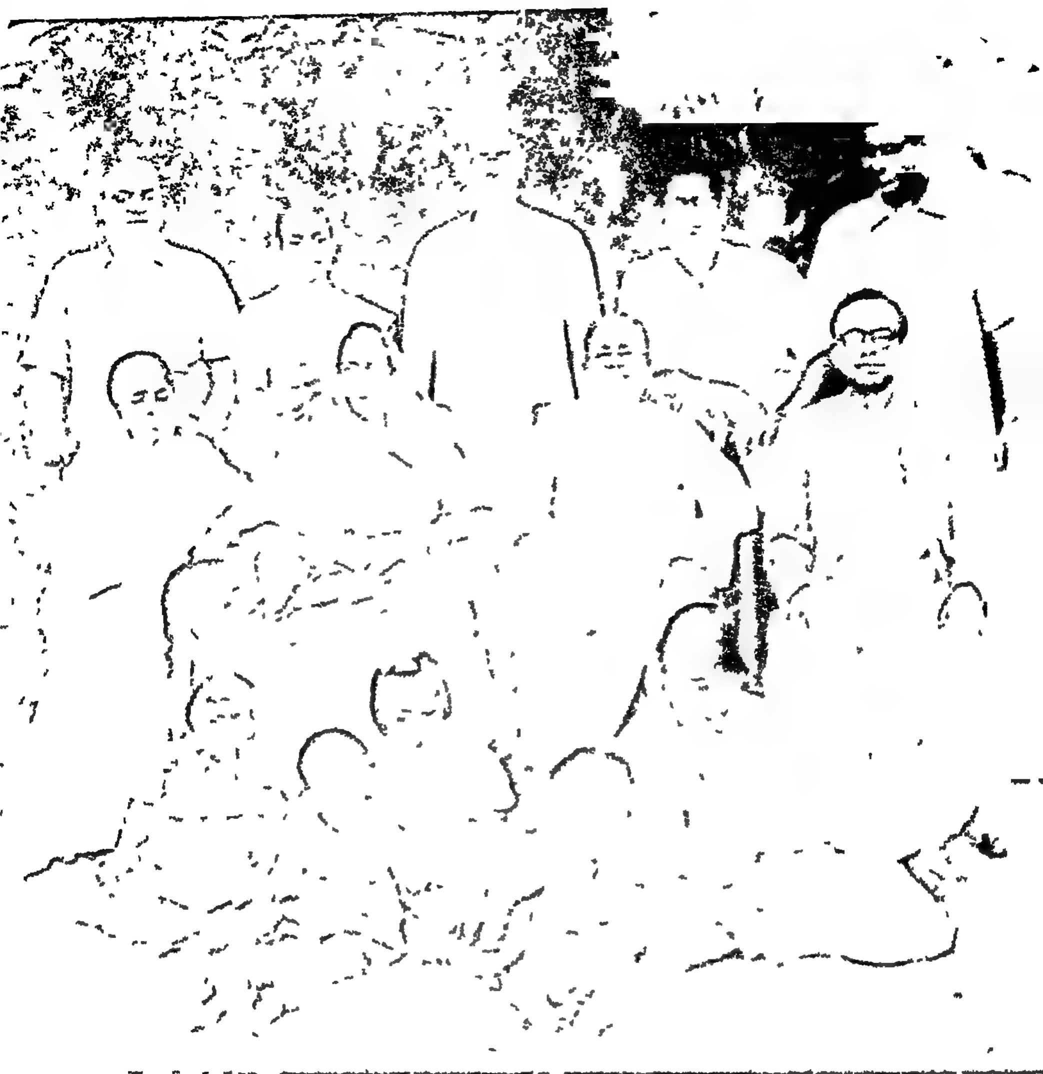
जब उनकी आयु शिक्षा प्राप्त करने योग्य हुई, तब उन्हें एक स्थानीय पाठशालामें विद्याध्ययनके लिए भेजा गया। उस पाठशालाके गुरु थे श्री नेढमलजी जो अपनी अनुशासनप्रियता, कठोरता और विद्यार्थियोंके प्रति निर्दय व्यवहारके लिए प्रसिद्ध थे। शायद उस समय यही समझा जाता था कि विद्यार्थियोंको डाट-डपटकर ही पढ़ाना चाहिए। वसंतलालजीका विद्यारम्भ उसी पाठशाला में हुआ। वहाँ विशेष रूपसे महाजनी ढंगकी शिक्षा दी जाती थी जिसमें हिसाब-किताबपर अधिक जोर दिया जाता था।

कुछ समय इस विद्यालयमें बितानेके बाद एक दूसरे विद्यालयमें उनको भरती कराया गया। उस विद्यालयमें हिन्दी, उर्दू और अँग्रेजीकी शिक्षा भी दी जाती थी। इस प्रकार शिक्षाके दूसरे सोपानमें पहुँचकर वसन्तलालजीको आधुनिकताकी हवाके एक हल्केसे झोंकेका अनुभव हुआ। परन्तु उससे उन्हें कोई विशेष प्रेरणा मिली हो, ऐसी बात नहीं थी। केवल अंग्रेजी पढ़ने और शिक्षाके पुराने ढंगसे कुछ भिन्न ढंगकी पढ़ाईका अनुभव हुआ। यह क्रम लगभग तीन वर्ष तक चला। इसके बाद उनके पिता श्री रामदेवजी उन्हें कलकत्ता ले आये।

कलकत्ता आकर उनकी शिक्षा-दीक्षाका अधिक अच्छा प्रबंध हुआ। उस समय स्थानीय विशुद्धानन्द विद्यालय मारवाड़ी समाजमें सबसे अधिक उत्तम शिक्षालय माना जाता था। श्री रामदेवजीने वसन्तलालजीको उसी विद्यालयमें भरती करा दिया। यहाँ वसन्तलालजीकी प्रतिभाकी थोडी झलक दिखलायी पड़ी। विद्यालयकी ओरसे उन्हें कई पुरस्कार भी मिले। यह सब होते हुए भी उनका शिक्षा-क्रम अधिक समय तक न चल सका।



दम्पत्ति



बाँयीसे दाहिनी ओर—(कुरसीपर बैठे हुए) श्रीमती भागीरथी जालान (पुत्री), श्रीमती रमादेवी मुरारका (पत्नी), श्री बसंतलालजी मुरारका, श्री पुरुषोत्तमदास जालान (जामाता)

” (पीछे खड़े हुए) श्री मदनमोहन मुरारका (द्वितीय पुत्र), श्रीमती सुशीला मुरारका (श्री मदनमोहन की पत्नी), श्री श्यामाप्रसाद मुरारका (तृतीय पुत्र), श्री भागीरथ मुरारका (ज्येष्ठ पुत्र), श्री राजेन्द्रप्रसाद मुरारका (चतुर्थ पुत्र)

” (सामने बैठे हुए) कुमारी नीरजा जालान (दौहित्री), बेबी मुरारका (पौत्री), प्रवीनकुमार (पौत्र), ईवा (पौत्री), मुन्ना (पौत्र), कुमारी वदना (छोटी पुत्री)

विवाह

उस समयकी प्रचलित विवाह-प्रथाके अनुसार उनका विवाह छोटी उम्रमें ही कर दिया गया। विवाह होनेके बाद उनका शिक्षा-क्रम समाप्त हो गया। हाँ, निजी तौरसे कुछ-कुछ स्वाध्याय वे बाद में भी करते रहे। इस प्रकार शिक्षा तो बहुत नही हो सकी, पर उनमें बुद्धि, विवेक और सूझ-बूझ अच्छी थी और आगे चलकर जो सफलताएँ उन्हें मिली, वे सब इन्ही गुणोके फलस्वरूप मिली।

उनकी प्रथम धर्मपत्नीका शरीरान्त थोडे ही समय बाद हो गया। इसके बाद उनका दूसरा विवाह १९१६ ई० में फतेहपुर निवासी श्री केदारनाथ गोएनकाकी कन्या रमादेवीके साथ हुआ। इस बार उन्हें ऐसी धर्मपत्नी मिली, जो सच्चे अर्थमें सहधर्मिणी निकली। रमादेवीजीने बसन्तलालजीके सभी समाज-सुधार सम्बन्धी कार्योंमें पूरा साथ दिया। घर और बाहरके वाग्बाण सहे, महिलाओंके बीच अपमान उठाये, सार्वजनिक रूपसे भद्दी-भद्दी गालियाँ तक सुनी। साराश यह कि पथसे विचलित करनेवाले कठिनसे कठिन प्रसंग उनके सामने आये परन्तु उनका दृढ सकल्प उनके पतिके सकल्पकी भाँति ही अटल-अचल रहा और वे कभी अपने मार्गसे विचलित नही हुईं।

रमादेवीजीसे ही बसन्तलालजी के वर्तमान पुत्र-पुत्रियाँ हैं।

अर्थार्जन

शिक्षाका क्रम टूट जानेके बाद बसन्तलालजी अर्थार्जनके प्रयत्नमें लगे। उन्होने दुबराजपुर जाकर कपडेकी दूकान की। यद्यपि इस कार्यमें उन्होने यथेष्ट परिश्रम किया और अनेक कठिनाइयाँ उठा कर भी काममें जुटे रहे तथापि उन्हें इसमें सफलता नही मिली। शायद भविष्य उन्हें दूसरी ओर खीच रहा था। दुबराजपुरके कामसे उन्हें केवल इतना ही लाभ हुआ कि व्यापार सम्बन्धी कुछ ज्ञान प्राप्त हो गया।

दुबराजपुरसे वे फिर कलकत्ता आये और यहाँ आकर गल्लेकी दलाली करने लगे। दुबराजपुरके किञ्चित् अनुभवके कारण इस काममें कुछ दिन तक टिके रहे परन्तु अतमें यह काम भी उन्हें छोडना पडा। तब सन् १९१३ में उन्होने बिडला-बन्धुओके यहाँ रु० ३०) मासिक वेतनपर नौकरी करली। एक महत्वाकाक्षी व्यक्ति इस प्रकारकी नौकरीसे कितने दिन सतोष करता? अतमें अवसर पाकर उन्होने नौकरी छोडदी और श्री घनश्यामदास लोयलकाके प्रतिष्ठानमें उनका शेयर सबधी काम सँभालने लगे। यहाँ आकर उन्हें सफलता मिली।

बसतलालजी बडे सरल स्वभावके मिलनसार व्यक्ति थे। जहाँ-जहाँ रहे, वहाँ सब जगह मिलनेवालो से अच्छे संबध स्थापित किये। इस प्रकार लोयलकाजीके यहाँ रहने तक उनके सबध शेयर बाजारमें तो अच्छे हो ही गये थे, सार्वजनिक कार्योंमें रुचि रखने और सेवा करनेके कारण बाहर भी उनकी बडी ख्याति हुई। मारवाडी समाजमें तो वे बहुत लोकप्रिय हो ही गये थे।

इसीलिये जब उन्होने अतमें लोयलकाजीके यहाँसे पृथक होकर शेयर बाजारमें मुरारका कम्पनीके नामसे अपना कार्य शुरू किया, तब उन्हे अच्छी सफलता मिली। इस व्यापारमें उन्होने धन भी कमाया।

व्यक्तिगत जीवन

अपने व्यक्तिगत जीवनमें वसन्तलालजी वडे सरल, मृदु, उदार और सेवापरायण थे। सार्वजनिक रूपसे वे जो सेवा-कार्य करते थे, वह तो करते ही थे, व्यक्तिगत रूपसे भी वे लोगोका वडा उपकार करते थे। उनकी ख्यातिके कारण उनके पास आनेवाले व्यक्तियो की कमी न रहती थी और जो आता, उसके लिए अपनी शक्ति भर सहायता करनेको वे सदा चेष्टा करते थे। आये हुए व्यक्तियोके काम सदा हो ही जाते थे, ऐसा न था परन्तु यह भी न होता था कि जो कुछ प्रयत्न वसतलालजीके लिए सम्भव हो, उसमें वे कोई कोर-कसर रखें। इस प्रकार सैकडो आदमियोके काम उन्होंने किये होगे।

अपने परिवारमें उनका वरताव सवके साथ समानताका होता था। जिन वातो को वे सभा-मंचसे कहते थे, जिन्हें करनेका दूसरोको उपदेश देते थे, उनका अपने-आप भी पालन करते थे। जिन्होने उनके घरके वातावरणको देखा है, वे जानते हैं कि उन्होंने पत्नीकी तो वात ही छोड दीजिये, अपने पुत्रों, पुत्रियो, वहुओ सवको कितनी स्वतंत्रता दे रखी थी। उनके घरमें पुत्र और पुत्रीके साथ किये जानेवाले व्यवहारमें अथवा वहुओ और वेटियोके साथ किये जानेवाले व्यवहारमें कोई भेद न था। वे कडा रुख रखकर कभी किसीसे वोले हो, ऐसा प्रसंग तो शायद कभी आया ही न होगा।

उनके रहन-सहन, पहनावे-ओढावे, घरके साज-सामान सवमें सादगी प्रमुख थी। सादगी उनका स्वभाव था। वातचीतमे भी सादगी की ही छाप रहती थी।

सामाजिक सेवाएँ

यह तो स्वाभाविक ही होता है कि आदमी अपनी स्थिति सुधारनेका, आर्थिक अवस्था सुधारनेका प्रयत्न करता है। इसीके अनुसार वसंतलालजीने व्यापार-व्यवसायमें लग कर अर्थोपार्जन का प्रयत्न किया था; परन्तु जिसके मनमें सेवाकी भावना होती है या कोई अन्य प्रकारकी लगन होती है, वह अधिक दिनो तक परिवार और घरकी चहार-दीवारीमें ही वन्द रहना पसन्द नही करता। वह 'वसुधैव कुटुम्वकम्' का सपना देखता है और अपने सामनेके सम्पूर्ण समाजकी सेवाके लिए अग्रसर होता है। वसंतलालजीमें भी कुछ ऐसी ही महत्वाकाक्षाएँ थी। अत वे अपना गार्हस्थिक कर्तव्य पालन करते हुए सार्वजनिक सेवाके क्षेत्रमें अग्रसर हुए।

उस समयका समाज प्राचीन परम्पराओ और जर्जर रूढ़ियोंसे वुरी तरह ग्रस्त था। वाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल-विवाह, परदा, मृतक विरादरी-भोज, समुद्र-यात्राका निषेध, स्त्रियोके प्रति दुर्व्यवहार, जवर्दस्ती लादा हुआ वैधव्य और दूसरी न जाने कितनी वुराइयाँ समाजमें प्रचलित थी। वसन्तलालजीका ध्यान इन सवकी ओर गया। इन कुप्रथाओको वे समाजोन्नतिमें वाधक मानते थे। अत उन्होंने यह निश्चय किया कि इस संवधमें सुधार-कार्य करना चाहिए। सौभाग्यसे इस कार्यमें उन्हें साथी और नेता भी वडे अच्छे मिले थे। सवको लेकर वसतलालजीने समाज-सुधारका वीड़ा उठाया।

मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसिएशन

उन्होंने सवसे पहले यह प्रयत्न किया कि उस समय समाजमें जो प्रभावशाली व्यक्ति थे, उनके द्वारा समाज-सुधारका कार्य किया जाय, परन्तु वे सव व्यक्ति पक्के रूढ़िवादी थे। पुरानी प्रथाओंसे, वे चाहे कितनी ही हानिप्रद और समय-विपरीत क्यो न हो, वे जरा भी

इधर-उधर चलना नही चाहते थे। उस समय मारवाडी समाजमें मारवाडी एसोसियशन एक वड़ी प्रभावशाली सस्था थी। इसके द्वारा समाज-सुधार करवानेकी चेप्टा स्वाभाविक ही थी, परन्तु इस सस्थामें प्राचीन विचारवाले व्यक्तियोका ही प्रभुत्व रहा। अत. यहाँसे किसी प्रकारकी आशा न थी।

वसंतलालजी तथा उनके अन्य उत्साही साथी नवयुवक समाजको नीचे धकेलनेवाली इस स्थितिको वदलनेके लिए छटपटा रहे थे। इस मित्रमडलीमें वसतलालजीके साथ सर्वश्री पद्मराज जैन, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, भागीरथ कानोडिया, सीताराम सेकसरिया, मोतीलाल लाठ, गगाप्रसाद भोतीका, रामकुमार भुवालका आदि समाजके उत्साही और प्रभावशाली कार्यकर्त्ता थे। इन लोगोने मिलकर मारवाडी ट्रेड्स एसोसिएशनको जन्म दिया और उसके द्वारा समाज-सेवा सम्वन्धी कार्योमें जुट गये। मारवाडी ट्रेड्स-एसोसिएशनकी ओरसे अनेक कार्य हुए। आगे चलकर मारवाडी अग्रवाल महासभा की स्थापनाके वाद और भी अधिक विस्तृत, व्यापक और मजवूत सस्था हाथ आयी और उसके द्वारा समाज-सुधारके वहुत कार्य हुए।

मारवाडी अग्रवाल महासभा श्री जमनालालजी वजाजकी प्रेरणासे स्थापित हुई थी और वह सार्वदेशिक सस्था थी। अत उसके द्वारा न केवल स्थानीय कार्यकर्ताओका ही सहयोग मिला, प्रत्युत समस्त देशके कार्यकर्त्ताओ और नेताओका साथ मिला। इससे कार्यमें आशातीत सफलता मिली।

मारवाडी अग्रवाल महासभा, जो आगे चलकर केवल अग्रवाल महासभा रह गयी थी, मुख्यत समाज-सुधारके उद्देश्यसे स्थापित हुई थी। इसलिए उसके द्वारा समाज-सुधार सम्वन्धी कार्य करना उपयुक्त भी था। वसतलालजीने इस सुविधासे यथेष्ट लाभ उठाया। वे समाज-सुधार सबधी कार्योमें अग्रवाल महासभाको माध्यम वनाकर जुट गये।

विलायत-यात्रा

उस समय सवसे प्रमुख चर्चा विलायत-यात्रा की थी। आज विलायत-यात्रा सरल हो गयी है, परन्तु उस समय इसका इतना प्रवल विरोध था, जिसका ठिकाना नही। सारा समाज विलायत-यात्राके नामसे चौंक पडता था। श्री कालीप्रसाद खेतान उन्ही दिनो वैरिस्टरी पढनेके लिए विलायत जा रहे थे। रूढिवादी समाजके धुरधर महानुभाव इसका विरोध कर रहे थे। उस समय श्री वसतलालजीने अपने साथियो सहित कालीप्रसादजीकी यात्राका समर्थन किया। कालीप्रसादजी और उनके परिवारके अन्य भाई भी दृढ थे और वह विलायत-यात्रा हुई।

समाज-सुधार सबधी प्राय सभी कार्य समाजमें हलचल मचा देनेवाले होते हैं। जो परिपाटी पूर्वकालसे चली आ रही है, उसके विपरीत चलनेमे एक वार हिचकिचाहट होती ही है। परन्तु जो दूरदर्शी हैं, समयकी गतिको पहचाननेवाले हैं, समाजोन्नतिके लिए आवश्यक सुधारके पक्षपाती हैं, वे इस हिचकिचाहटको दवाकर सुधारकार्यमें जुटे रहते है और जो रूढि और परपराके गुलाम हैं, उनकी हिम्मत वँधी हुई लकीरसे इधर-उधर चलनेकी नही होती।

नवजीवन मण्डल

सन् १९२६ मे इस क्षेत्रमें अधिक द्रुतगामी और प्रभावशाली कार्य करनेके लिए 'नवजीवन मण्डल' नामसे एक सस्थाकी स्थापना हुई। इस

संस्थाके सभापति श्री घनश्यामदास बिडला, मन्त्री श्री ब्रिजलाल बियाणी और सयुक्त मन्त्री श्री वसंतलाल मुरारका बनाये गये। यह मण्डल जिस उद्देश्यसे स्थापित किया गया था, उसकी पूर्त्तिके लिए इसके कार्यकर्त्ताओं ने बडी चेष्टा की। इसने बाल-विवाहका अंत करनेके लिए यह निश्चय किया कि १४ वर्षसे कम आयुकी कन्या और १८ वर्षसे कम आयुके लडकेका विवाह न किया जाय। और जहाँ इसके विरुद्ध विवाह होता था, वहां उसको रुकवानेका प्रयत्न किया जाता था। ऐसे विवाहमे मण्डलके कार्यकर्ता सम्मिलित नही होते थे। वसंतलालजीने इसके पूर्वसे ही यह निश्चय कर रखा था कि जिस विवाहमे १२ वर्षसे कम उम्रकी कन्या और १६ वर्ष से कम उम्र का लडका होगा उसमें सम्मिलित नही होगें।

वृद्ध-विवाह

वृद्ध-विवाहोको रोकनेके लिए भी प्रवल आन्दोलन किया गया। जहाँ-जहाँसे वृद्ध-विवाहोकी सूचना आती, वहाँ-वहाँ जाकर वसंतलालजी की मण्डली उनको रुकवाने की चेष्टा करती थी। इसका परिणाम यह हो गया था कि जो वृद्ध अपना विवाह करनेकी चोट करते थे, उनकी हिम्मत पस्त हो गयी और कुछ दिन लुक-छिपकर विवाह होने लगे। तिसपर भी पता लगा-लगाकर ऐसे स्थानोमें जाकर अनेक उपायोसे वृद्ध-विवाह रुकवाने का प्रयत्न जारी रहता था। इस कार्य में नवयुवकों की तत्परता यहाँ तक थी कि कही-कही ऐसे विवाहोमें लडकियोको समझा-बुझाकर विवाह-मंडपसे उठा लाया गया और उसी समय उपयुक्त वर खोजकर उनका विवाह करा दिया गया। उसके बाद वृद्ध-विवाहोकी संख्या बहुत कम हो गयी और अब तो कदाचित् ही कही वृद्ध-विवाह होते हुए सुने जाते है।

विधवा-विवाह

सुधारोमें विधवा-विवाह शायद सबसे प्रमुख है। श्री वसंतलालजीने समाजमे विधवाओकी अवस्था देखकर यह अनुभव किया था कि इनके पुनर्विवाहकी व्यवस्था होनी चाहिए। अत वे इसके पक्षमें आन्दोलन कर रहे थे। विधवा-विवाह जैसी 'भयंकर' बात समाजके पंच भला कब स्वीकार कर सकते थे? वे इसका विरोध करनेमें एड़ी-चोटीका पसीना एक कर रहे थे।

इसी बीच विधवा-विवाह करानेका एक प्रसग आ उपस्थित हुआ। हवटाकी एक विधवा बहन पुनर्विवाह करनेके लिए राजी थी। उधर विधवा-विवाह के पक्षमें जो प्रचार-कार्य हुआ था, उसके कारण कुछ युवक भी विधवाके साथ विवाह करनेके लिए तैयार हो गये थे। अत इस बातका प्रयत्न होने लगा कि यह विवाह कराया जाय। इसके लिए झरियाके श्री नागरमल ल्हीला से बात की गयी। वे इसके लिये तैयार थे। बस, इस पुनर्विवाहकी तैयारी होने लगी। एक ओर नवयुवक दल इस विवाहकी तैयारी कर रहा था, दूसरी ओर प्राचीन पथी इसको रुकवानेकी चेष्टा में थे। दोनो ओरसे पूरी ताकत लग रही थी। इस आदोलनमें रूढिवादियो की ओरसे गदीसे गदी स्थितिया पैदा की गयी परन्तु नवयुवक दल अपने निश्चयसे रंचमात्रभी विचलित नही हुआ। अतमें यह विधवा-विवाह बड़ी धूमधामके साथ सम्पन्न हो गया।

समाजके पचोको यह काम बहुत बुरा लगा। उन्होने इसका बदला नवयुवकोसे

चुकाया। १२ नवयुवकोको, जो इस विधवा-विवाहके करानेमें शामिल हुए थे, समाजसे वहिष्कृत कर दिया। इन वहिष्कृतोमें सर्वश्री पद्मराज जैन, भागीरथ कानोडिया, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, सीताराम सेकसरिया, ओंकारमल सराफ, जगन्नाथ गुप्त, रामगोपाल सराफ, फूलचन्द चौधरी, रामकुमार भुवालका, नागरमल मोदी, धर्मचन्द रानीवाला के साथ वसतलालजी भी थे। समाज-वहिष्कार ही एकमात्र ऐसा प्रभावशाली अस्त्र था, जिसके प्रयोगसे साधारणतया लोग दव जाते थे। परन्तु वसतलालजीकी मण्डली ऐसी नरम धातुकी वनी हुई न थी। वह इस दण्डकी परवाह न करते हुए अपने निश्चयमें अटल वनी रही।

परदा प्रथा

समाजमें प्रचलित परदा-प्रथाके विरोधमें भी इन नवयुवकोका आदोलन वहुत प्रवल था। इन्होने इस वातका अनुभव कर लिया था कि परदाके कारण नारी जातिके स्वास्थ्य, उसके ज्ञान और मानसिक विकासपर जो आघात होता है, उसके स्वास्थ्यके खराव होनेसे समाजमें उत्पन्न होनेवाले वच्चोका स्वास्थ्य जिस प्रकार खराव होता है, संसारके नानाविध आविष्कारो और प्रगतियोसे नारियोको जिस प्रकार अनभिज्ञ रहना पडता है, उस सवका फल यह हो रहा है कि सामाजिक उन्नति रुक गयी है। जिस समाज का आधा अग एकदम पगु वना दिया जाय, उसकी निर्वलता और अयोग्यताका क्या ठिकाना ? इसलिए परदेके खिलाफ जेहाद वोल देनेका दृढ निश्चय किया गया।

नवजीवन मण्डलके कार्यसे श्री वसतलालजीको देशके अनेक स्थानोका दौरा करने का अवसर मिला था। अपनी इस यात्रामें वे ऐसे सभी स्थानोमें गये जहाँ मारवाडी समाजका आवास था। इन स्थानोमें वसतलालजीने समाज-सुधार सवधी सभी विपयो पर भापण दिये। इन भापणोका अच्छा प्रभाव पडा हालाकि विरोध भी कम नही हुआ।

इसके वाद नवजीवन मण्डलकी ओर से एक डेपूटेशन वनाकर परदा-प्रथाका सगठित और जोरदार विरोध करनेका निश्चय किया गया। यह निश्चय किया गया कि परदा-विरोधी डेपूटेशन देशके अनेक स्थानोका भ्रमण करके समाजमें परदा-विरोधी वातावरण उत्पन्न करे। डेपूटेशन वन गया। इसमें श्री पद्मराज जैन और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चन्दादेवी, श्री नवलकिशोर भरतिया और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीलादेवी, श्री वसतलाल मुरारका और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमादेवी और श्री मोतीलाल लाठ सम्मिलित हुए। जिस समय इस डेपूटेशनके साथ वसंतलालजीके सपत्नीक जानेकी वात उनके परिवारवालोने सुनी, उस समय परिवारमें तहलका मच गया। सारा परिवार एक स्वरसे और कठोर से कठोर व्यवहारके साथ इसका विरोध करने लगा। मुरारकाजीकी माता तो वहुत ही अधिक नाराज हुईं और उन्होने यहाँ तक कह डाला कि मेरी मृत्यके वाद भी वह मेरे शवका स्पर्श न करे। परन्तु इन सव विरोधोकी अवहेलना करके भी वसंतलालजी अपने निश्चयपर दृढ रहे।

परदा-विरोधी डेपूटेशन निकला और झरिया, भागलपुर, कानपुर, दिल्ली, रेवाडी, भिवानी, जयपुर, आगरा, मथुरा, ग्वालियर, उज्जैन, अकोला, धामनगाँव, भुसावल आदि स्थानोमें दौरा किया और परदाके विरोधमें जोरदार प्रचार किया। इस

दौरेमें विरोधियोंने काले झंडे दिखाये, भद्दी-भद्दी गालियाँ दी, कीचड उछाला, ईंट-पत्थर फेंके, सभाएँ भंग करनेमें कोई कसर उठा नही रखी। ऐसे-ऐसे कार्य इस डेपूटेशनके विरोधमें किये गये जिनको देखकर गुण्डापन भी लजा जाय। खुलेआम समाजके बीच इस प्रकार के अपमानजनक व्यवहारका सहन करना कोई साधारण वात न थी परन्तु जिनके हृदयोमें लगन थी, जिनके सामने एक लक्ष्य था और जो उस लक्ष्य तक पहुँचनेके लिए अधिकसे अधिक कष्ट उठाने, अपमान सहनेका पहलेसे ही निश्चय कर चुके थे, वे अपने पयसे कैसे च्युत होते? इस डेपूटेशनने परदा-प्रथाकी जड़ें हिलादी।

इसके वाद भी प्रयत्न जारी रहे। देवोत्थान एकादशीके दिन प्रति वर्ष सारे देशमें परदा-विरोधी दिवस मनानेकी योजना वनायी गयी। कलकत्तामे दो वड़े सम्मेलन हुए जिनमें एक की अध्यक्षता श्रीमती जानकी देवी वजाजने की और दूसरेकी श्रीमती रावादेवी गोयनकाने। कई वर्षों तक प्रति वर्ष परदा-विरोधी दिवस मनाया जाता रहा और उस दिनकी सभामें हज़ारो स्त्रियाँ परदा छोडकर सम्मिलित होती थी। उसके वाद अ० भा० मारवाडी सम्मेलनकी समाज-सुधार समितिके तत्वाव-धानमें परदा-विरोधी सत्याग्रह जोरोसे शुरू हुआ। इसमें भी वसतलालजीने पूर्ण रूपसे सहयोग दिया। इस अभियानमें सर्वश्री सीताराम सेकसरिया, भँवरमल सिंघी, गोविन्दप्रसाद कानोडिया, रघुनाथप्रसाद खेतान, सुशीला सिंघी, माँग कुमारी भूतेडिया, चपादेवी गंगवाल, वजरंगलाल लाठ, पुरुषोत्तम केजडीवाल श्रीचद मेहता, सुशीला भडारी, जवाहरलाल जैन आदि नवयुवक और नवयुवतियोंने मुख्य तौरसे भाग लिया। जहाँ पता लगता कि परदेके साथ विवाह हो रहा है, ये लोग पिकेटिंग करनेके लिए अपने दल-वलके साथ पहुँच जाते और परदा हटवानेकी चेष्टा करते थे।

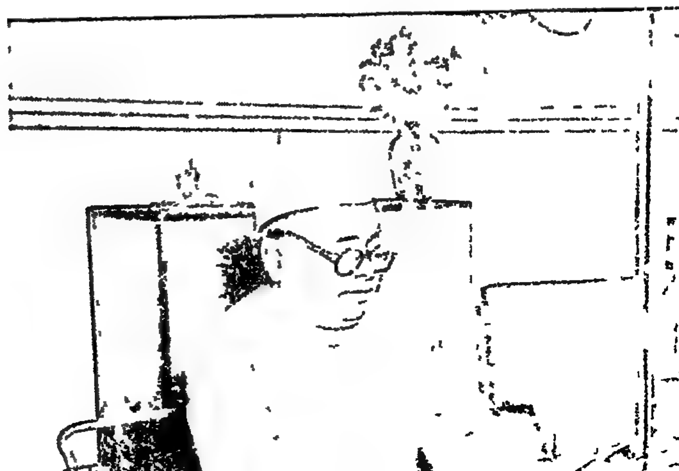
मृतक विरादरी-भोज

दूसरी प्रथा जिसके विरोधमें आन्दोलन हुआ था, मृतक विरादरी-भोजकी प्रथा थी। यह कितना वीभत्स, हृदयहीन और अमानुषिक था कि जव एक परिवार अपने कुटुम्बीकी मृत्युके कारण शोक-सतप्त, दुखी और व्याकुल हो रहा हो तव समाजके लोग उसके यहाँ भोजन करने जायँ। इतना ही नही, इस प्रथाकी क्रूरताकी पराकाष्ठा तो तव होती थी, जव ऐसा शोक-संतप्त परिवार अपनी धनहीनताके कारण भोज देनेमें असमर्थ होता था और तिसपर भी उसे मजवूर किया जाता था कि भोज दे। जिस परिवारका एकमात्र आश्रयदाता मर गया हो, जिसके पास सम्पत्तिके नामपर भूँजी भाँग भी न हो, जिसके भविष्यके निर्वाहका कोई ठिकाना न हो, उसको मदद देनेके वजाय उससे भोजन करानेके लिए कहा जाय और इस प्रकार उसे कर्जदार वनाकर और भी गहरे गर्तमें धकेला जाय, इससे वढकर हृदयहीनता और क्या हो सकती थी? पता नही यह किस प्रकारका भाईचारा था जिसका निर्वाह कराया जाता था।

इस कुप्रथाके विरोधमें भी सुधारक-दलने वड़ा सराहनीय कार्य किया। इसके लिए समझाने-वुझाने, कागजी आन्दोलन करने, लिखा-पढी करने आदिसे लेकर पिकेटिंग तक की गयी। जहाँ कही पता चलता कि मृतक विरादरी-भोज होने जा रहा है, वहाँ सुधारकोका यह दल पहुँच जाता और जव किसी तरहसे उसको रुकवानेमें सफल न होता तो पिकेटिंग तक करता। इसके लिए भी इस दलको अनेक प्रकारके अपमान सहने पड़े। इन्हें



मच पर



आकाशवाणी पर

भूतपूर्व पश्चिम वग गवर्नर डा० कैलाशनाथ काटजू के साथ



भूतपूर्व पश्चिम वग गवर्नर डॉ० एच० सी० मुखर्जी (स्व०) के साथ

बुरा-भला सुनाने से ही विरोधियोको संतोष न होता था। वे इनपर जूठी पत्तलें तक फेंकते थे। परन्तु अपनी धुनके पक्के इन वीरोका उत्साह इससे जरा भी न दवता था।

वसंतलालजी उन दृढव्रती लोगोमे से थे जो केवल दूसरोको उपदेश देकर ही नही रह जाते वरन् उनके उपदेशोपर स्वय भी अमल करते है। उन्होने जिन-जिन वातोके लिए समाजमें आदोलन किया, उन सवको अपने ऊपर घटित किया। आभूषणोका वहिष्कार कर अपनी पत्नीको सादगीके साथ शुद्ध खादीकी वेश-भूषामें रखा, उससे परदा छुडाया, उसे स्वतन्त्रतापूर्वक रहने और मानवीय व्यवहार पानेके अवसर दिये और समाज-सेवामें प्रवृत्त किया। अपने पुत्र श्री भागीरथका विवाह माहेश्वरी जाति की कन्यासे किया। इस विवाहमें परदाका पूर्ण वहिष्कार किया और दहेजके नामपर एक पैसा भी नही लिया। इसी प्रकार अपने दूसरे पुत्रका विवाह विधवाके साथ करके समाज-सुधारका दूसरा उदाहरण उपस्थित किया। अपनी कन्याके वारेमें यद्यपि उनके घरवालो और समाजवालोका वडा विरोध था तथापि जव तक उसने मैट्रिक पास नही कर लिया और उसकी आयु १६ वर्षकी नही हो गयी तव तक उसका विवाह नही किया। घरके अन्दर वहुओको भी वह स्वतन्त्रता दे रखी थी जिसका प्रचार वे समाजमें करते थे। व्यवहारमे घरकी वहुओ और लडकियोमें जैसे कोई भेद ही न था। इस प्रकार जितने सुधारोका वे प्रचार करते थे, उन सवका व्यवहार अपने परिवारमें उन्होने किया।

सेवाका सम्मान

उनके इन गुणो, समाज-सेवाओ, उदात्त भावनाओ आदिके उपलक्षमें समाजने भी उन्हें समय-समयपर सम्मानित किया। उन्हे अग्रवाल महासभाके मत्री आदि पदोपर प्रतिष्ठित कर उनका जो सम्मान किया, वह तो किया ही, उत्कल प्रान्तीय अग्रवाल महासभाके अधिवेशनका सभापतित्व देकर और फिर अखिल भारतीय अग्रवाल महासभाके प्रयागवाले अधिवेशनमे उन्हें सार्वदेशिक सभाका सभापति वनाकर भी उनका सम्मान किया। अभी कुछ समय पूर्व गोहाटीमें मारवाडी सम्मेलनका जो आसाम प्रान्तीय अधिवेशन हुआ था, उसमें भी उन्हें सभापति निर्वाचित किया गया था। वसतलालजी इन सव पदोके पूर्ण अधिकारी थे, यह तो निर्विवाद है ही।

राजनीतिक क्षेत्र मे

एक वार सार्वजनिक कार्योमें रुचि उत्पन्न हो जानेके वाद फिर किसी क्षेत्रमें क्यो न हो, कार्यकर्त्ता काम करनेके लिए लालायित हो उठता है। श्री वसतलालजी इस नियम के अपवाद न थे। सामाजिक क्षेत्रमें ही सीमित रहकर काम करते, यह शायद स्वाभाविक भी न था। उन दिनो विदेशी शासनके कारण देशकी तवाही हो रही थी, स्वतन्त्रता-प्राप्तिके लिये देशके नेतागण छटपटा रहे थे, राजनीतिमें वडे जोरोसे हलचल हो रही थी, काग्रेस, लिवरल फेडरेशन, होम रूल लीग, आदि अनेक सस्थाएँ देशको स्वतत्र करानेकी चेष्टामे लगी हुई थी। ऐसे समयमें सार्वजनिक कार्य की इच्छा रखनेवाले किस कार्यकर्त्ता का ध्यान उस ओर न जाता?

रौलट एक्ट

प्रथम महायुद्ध समाप्त हो चुका था। उस युद्धमें महात्मा गांधीके आग्रहपर भारतवर्षने जन-धनकी स्वेच्छापूर्ण सहायता दी थी। आशा यह थी कि लड़ाईके बाद अंग्रेज भारतवर्षको कुछ शासनाधिकार देंगे. परन्तु शासनकी सुविधाएँ देना तो दूर किनार, उल्टा रौलट एक्ट जैसा कानून पास किया गया जिससे देशवासियोंकी रही-सही स्वतंत्रता पर भी आघात होता था। यह बात देशवासियोके लिए असह्य थी। स्वयं महात्मा गांधीभी अंग्रेज शासकोंकी इस दुर्नीतिसे बहुत असतुष्ट हुए और उन्होने इस कानूनको वापस लेनेकी माँग की। सरकार अपने मदमे मत्त थी। वह इन बातो, माँगो और विरोधोकी क्या परवाह करती ?

वह जमाना १९१९ का था। कांग्रेस देशकी सबसे अधिक प्रभावशाली संस्था बन चुकी थी। महात्मा गाँधी भारतीय राजनीतिपर हावी हो रहे थे। चम्पारन और खेड़ाके सत्याग्रह हो चुके थे। उनमे महात्मा गांधीको पूर्ण सफलता मिल चुकी थी। सत्याग्रहका जो प्रयोग उन्होने दक्षिण अफ्रीकामें आजमाया था, वह यहाँ भी उक्त दोनो स्थानोंमें सफल हो चुका था। अतः महात्माजीका विश्वास इस प्रयोगपर और भी अधिक दृढ हो गया था। उन्होने रौलट कानूनके विरोधमें भी सत्याग्रह करनेका निश्चय किया और उस निश्चयकी सूचना उन्होंने सरकारको भी दे दी।

देशव्यापी हड़ताल

६ अप्रैल सन् १९१९ का दिन इसी सिलसिलेमें देशव्यापी हडताल करनेके लिए निर्धारित किया गया। इसकी खूब जोरदार तैयारियाँ हुईं। सरकार हडतालको असफल बनानेकी कोशिशमें लगी और कांग्रेसकी शक्ति उसे सफल बनानेमें। अंतमें ६ अप्रैल कादिन आया और सारे देशने ऐसी हड़ताल की जो उस समय अभूतपूर्व थी। इस हडतालसे दो काम सिद्ध हुए। एक ओर कांग्रेसने यह देखा कि देशकी जनतामें राष्ट्रीय जागरण किस हद तक हो गया है और वह कहाँ तक कांग्रेसका साथ दे रही है और दूसरी ओर सरकारको भी यह मालूम हो गया कि देशमें उसके विरुद्ध कैसी व्यापक धारणाएँ फैल गयी है।

कलकत्तामें इस हडतालका संचालन सर्वश्री पद्मराज जैन और अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी कर रहे थे। श्री वसंतलालजीने इन नेताओंके साथ कंधेसे कंधा मिलाकर ऐसा काम किया जिसकी प्रशंसा सभी लोगोंने की। पहिले कहा जा चुका है कि वसतलालजीके साथ सहकर्मियोंका एक दल था और इन सब साथियों ने मिलकर हड़ताल को सफल बनाने का काम किया था।

दमन-चक्र

इसी सम्बन्धमें पंजाबमें जो काण्ड हुआ, उसने बड़ा ही भयंकर रूप धारण कर लिया। पंजाबके क्रूर अधिकारियोंने जलियानवाला बागमें होनेवाली सार्वजनिक सभामें उपस्थित लोगोंपर गोलियाँ चला दी। उनमें लडके, जवान, बूढे स्त्री-पुरुष सभी हताहत हुए। इसके कारण सारे देशमें और भी भयंकर उत्तेजना फैली। उस समय उत्तेजित जनतामें हिंसा और रक्तपात तककी चर्चा होने लगी थी। यह तो कहिए कि महात्मा गांधी

जैसा शात और धैर्यवान नेता सूत्र-संचालन कर रहा था अन्यथा क्या होता, कह सकना कठिन है ।

कलकत्ताके नवयुवकोको दवानेके लिए भी पशु-बलका प्रयोग किया गया । उनपर लाठी चार्ज हुआ, वे जेलमें भेजे गये और उनपर मशीनगनें तक चलवायी गयी । मगर नवयुवकोका उत्साह इससे जरा भी शिथिल नही हुआ । जब सीधी कार्यवाही मे सरकार सफल न हुई तब उसने व्यापार-व्यवसायमें बाधा उपस्थित करके उन्हें परेशान करनेकी युक्ति अपनायी । इस दुरभिसंधिमें बंगाल चेम्बर आफ कामर्स और यूरोपियन एसोशियेशन भी उनसे मिल गये । डा० कैलाशचन्द्र वोस भी, जिनका उस समय के मारवाडी समाजपर अच्छा प्रभाव था, सरकारकी हिमायत करते हुए नवयुवकोको निरुत्साहित करने में लगे । मगर सब कोशिशें वेकार गयी । नवयुवकोने अपना मार्ग कभी नही छोडा । इस नवयुवक मडलीमें वसतलालजी भी थे ।

असहयोग आन्दोलन

देशकी राजनीतिक अवस्था वडी विकट हो चली थी । उस स्थितिमें क्या किया जाय, राजनीतिक आन्दोलनका भविष्यमे क्या रूप हो इत्यादि महत्वपूर्ण प्रश्न सामने थे । अत इनपर विचार करनेके लिए सन् १९२० में कलकत्तामें काग्रेसका विशेष अधिवेशन बुलाया गया । इस अधिवेशनमें महात्मा गाधी ने असहयोग आन्दोलन करनेका प्रस्ताव रखा । देशके लिए यह बिलकुल नया कार्यक्रम था । लोगोका इसपर सहसा विश्वास न हुआ । परिणाम यह हुआ कि श्री मोतीलाल नेहरू और सेठ जमनालाल बजाजके अतिरिक्त प्रस्तावका और किसीने समर्थन नही किया । तथापि अधिकाश प्रतिनिधियोंके समर्थनसे प्रस्ताव गृहीत हो गया । इस काग्रेस अधिवेशनमें भी वसतलालजी ने वडा काम किया था ।

महात्माजी देशकी स्थितिका अध्ययन कर रहे थे । जनताकी सहानुभूति प्राप्त करने और उसकी रुचि जाननेके प्रयत्न भी जारी थे । इन अनुभवोंके आधारपर महात्मा जी का विश्वास असहयोग आन्दोलनपर और भी दृढ हो गया था । अत उन्होने इसका आग्रह नही छोडा । उसी वर्ष नवम्बरमें नागपुरमें काग्रेसका अधिवेशन हुआ । अधिवेशनमें असहयोगके प्रस्तावपर विशेष रूपसे विचार होना था । पक्ष-विपक्ष दोनो ओर से तैयारियाँ हो रही थी । बगालसे देशबधु चित्तरजनदास अपने दल-बलके साथ महात्माजीका विरोध करनेके लिए पहुँचे थे । वडा बाजारकी ओरसे वसतलालजी और उनके कुछ साथी भी वहाँ गये थे । वडा बाजार दल महात्माजीका समर्थक था । अत बगाल कैम्पमें दो दल हो गये थे । एक दिन आपसी बहस-मुबाहसेमें दोनो दलोमें सघर्ष हो गया । झगडेकी बात सुनकर महात्माजी बगाल कैम्पमें आये । उन्होने अपने समर्थकोको सम्बोधित करते हुए कहा कि बगालके नेता देशबधु दास है । बगालको उनके ही आदेश पर चलना चाहिये । उन्हे समझाया जा सकता है परन्तु उनके साथ लडाई नही की जा सकती ।

इसके बाद महात्माजीने दास बाबूसे इसी विषयमें लम्बी बातचीत की । इस बातचीतमें दासबाबू महात्माजीकी नीतिसे सहमत हो गये । फिर तो उन्होने स्वय नागपुर

कांग्रेसमें असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव रखा। जब इतने प्रधान विरोधी स्वयं प्रस्तावक हो गये, तब विरोध क्या होता? असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया।

अब व्यवहारमें असहयोगका श्रीगणेश किया गया। वकील लोग अदालतोका, विधान सभाई अपनी-अपनी धारासभाओका, विद्यार्थी सरकारी स्कूल-कालेजोका वहिष्कार करके आन्दोलनमें शामिल होने लगे। अनेक व्यक्तियोने सरकारी नौकरियाँ छोड़ी, अनेकोने सरकारी उपाधियाँ लौटाईं, विदेशी वस्त्र जलाये गये, विदेशी मालके विरुद्ध पिकेटिंग हुई और सबने एक स्वरसे यह घोषित कर दिया कि वे विदेशी शासनका अंत चाहते हैं। इस आन्दोलनसे एक बहुत बडा लाभ यह हुआ कि उस समय तक देशकी जनतामें जेलोका जो भय समाया हुआ था, वह समाप्त हो गया। इस आन्दोलनमें हजारो आदमी जेल गये। इसलिये जेलका जो आतंक जन-साधारणके हृदयमें छाया हुआ था, वह समाप्त हो गया। इस आन्दोलनमें श्री वसंतलालजीने देशबंधुके साथ मिलकर खूब काम किया।

प्रिंस आफ वेल्स का वहिष्कार

सन् १९२१ के नवम्बर महीनेमें प्रिंस आफ वेल्स भारत आये। सरकारका स्वाभाविक प्रयत्न था कि उनका शानदार स्वागत किया जाय। परन्तु महात्माजीने इसके बिलकुल विपरीत यह निर्णय किया कि उनका वहिष्कार किया जाय। १७ नवम्बरको वे बम्बई उतरनेवाले थे। उसी दिन सारे देशमें पूर्ण हड़ताल करनेका निश्चय किया गया। उसीके अनुसार सब तैयारियाँ हुईं और १७ नवम्बर १९२१ की हड़ताल अप्रत्याशित रूपसे सफल हुई। कलकत्ता में भी यह हडताल मनायी गयी। बडाबाजारमें हड़ताल करवानेमें वसंतलालजीने बड़ी कोशिश की। वह हड़ताल इतनी सफल हुई कि जिसकी कोई मिसाल आज तक नही है। कलकत्ताका सारा कारोबार एकदम बंद था, यहाँ तक कि पानकी दुकान तक खुली न थी। हवडा स्टेशनपर यात्रियोको जाने-आनेकी लिए सवारियाँ न मिलती थी, सारे शहरमें सन्नाटा छाया हुआ था, रोगियोंको देखनेके लिये डाक्टरोको छोड़कर और कोई सड़कपर चलता हुआ नजर न आता था। रातमें बिजली तक फेल करदी गई। उस दिन सन् १९२१ में ही ब्लैक आउटका नजारा दिखलायी पड़ रहा था।

प्रिंस आफ वेल्सका यह बायकॉट देखकर अंग्रेज शासक बडे क्रुद्ध हुए। और उसी समय तो नहीं, १० दिसम्बर को देशके अनेक नेताओ और कार्यकर्त्ताओको इसी अपराधमें पकड़कर जेल भेज दिया। बंगालके नेतागण भी इस बार बचे नही। १० दिसम्बरको ही देशबंधु दास, मौलाना अबुल कलाम आजाद आदि पकडकर जेल भेज दिये गये। उन्ही के साथ श्री वसंतलालजी भी जेल भेज दिये गये। उन सबको प्रेसीडेंसी जेलमें एक साथ रखा गया। जब उनपर मुकदमा चला तब वसंतलालजीने बड़ा ओजस्वी और निर्भीक बयान अदालतमें दिया, जिसमें उन्होने बताया कि अंग्रेजी हुकूमत अत्याचार पर तुली है और भारतवासी अब उसको बिलकुल बरदाश्त नही कर सकते। उस मुकदमेमें उन्हें डेढ़ वर्ष का सश्रम कारावास-दण्ड मिला।

असहयोग आन्दोलन जोरोसे चल रहा था। देशने पहले-पहल इस प्रकारका

राजनीतिक जागरण देखा था। चारो ओर सन्नाटा-सा छाया था, लोग बडी उत्सुकता के साथ आनेवाले दिनकी प्रतीक्षा करते थे। अंग्रेज सरकारके लिये भी यह एक नया मोर्चा था। इस प्रकार के आन्दोलनका उसे कोई अनुभव न था। वह भी वडी दुविधा में पडी हुई थी। जेलें भरी जा रही थी। कैदियोको रखना और सँभालना उसके लिए एक समस्या बन रहा था। वह भी इस चेष्टामें थी कि किसी प्रकार आन्दोलन शान्त किया जाय। कुछ समय बाद महामना मालवीयने मध्यस्थता करके गाधीजी और वायसरायके बीच समझौतेकी बातचीत करानेकी चेष्टा की। इसी बीच चौराचौरी काण्ड हो गया, जिसमें महात्माजीको हिंसाकी गध आयी। अत उन्होने असहयोग आदोलन स्थगित कर देनेकी घोपणा करदी।

नये नेतृत्व की माँग

यह निश्चय कुछ नेताओको बडा अप्रिय लगा। उनकी दृष्टिसे देश बिलकुल तैयार था और वह समय था कि आन्दोलन और आगे बढाया जाता परन्तु महात्माजीने बिलकुल उलटा निर्णय करके इसे स्थगित कर दिया। देशबधु दासकी पत्नी श्रीमती बासती देवी तो इतनी क्षुब्ध हुई कि फरीदपुरमें हुए प्रातीय राजनीतिक सम्मेलनमे उन्होने देशके नेतृत्वको बदल देनेकी माँग की। इससे सारे देशमें बडी खलबली मच गयी। जेलो में भी इसकी चर्चा होने लगी। उस समय बसतलालजी देशबधु आदि नेताओके साथ अलीपुर जेल भेज दिये गये थे। वहाँ भी यह प्रसग छिडा। मगर बसतलालजी ने सदा महात्मा गाधीके पक्षका समर्थन किया।

स्वराज्य पार्टी

कुछ समय बाद काग्रेसमें परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी दल हो गये। परिवर्तनवादी दलने स्वराज्य पार्टी स्थापित की और कौसिल प्रवेशका समर्थन किया। इस पार्टीमें देशबधु दास, मोतीलाल नेहरू, विट्ठलभाई पटेल आदि थे। देशबधुका बसतलालजी पर अच्छा प्रभाव था। परन्तु फिर भी बसतलालजीने इस मामलेमें उनका साथ न देकर अपरिवर्तनवादी दलके ही साथ रहे। अपने सिद्धातके समय बसतलालजी बडेसे बडे व्यक्तिसे भी समझौता करनेके लिए तैयार नही होते थे।

देशबधुकी मृत्युके पश्चात् श्री जे० एम० सेनगुप्त और तत्पश्चात् श्री सुभाषचन्द्र बोस बगालके नेता बने। उन दोनो महानुभावोके साथ भी बसतलालजीका घनिष्ट सम्बन्ध रहा। सन् १९२८ मे कलकत्तामें काग्रेसका जो अधिवेशन हुआ था, वह बहुत महत्वपूर्ण था। उसमें पूर्ण स्वतन्त्रताकी चर्चा हुई थी। उसी अवसरपर सर्वदल सम्मेलन भी हुआ था। उन सबमें मुरारकाजीने बडा महत्वपूर्ण सहयोग दिया था।

कानून अमान्य आन्दोलन

एक वर्ष बाद लाहौरमें काग्रेसके अधिवेशनमे पूर्ण स्वतन्त्रताका प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। २६ जनवरीको स्वतन्त्रता-दिवस मनानेका निश्चय किया गया। उस आयोजनको सफल बनानेके लिये बसतलालजीने भी बडा प्रयत्न किया। उससे देशमें फिर नवजीवनकी लहर दौडी। अब कानून अमान्य आन्दोलनका श्रीगणेश हुआ। श्री जे० एम० सेनगुप्तने उसमें सबसे पहले काम किया। वे कानूनकी अवज्ञा करके जेल

गये। उसके वाद इस आन्दोलनको वगालमें सफलतापूर्वक चलानेके लिए सिविल डिस-ओवीडिएन्स कमेटीकी स्थापना हुई जिसके सभापति श्री अमरेन्द्रनाथ चटर्जी और मंत्री वसंतलालजी निर्वाचित हुए। इस काम को भी उन्होने सुचारु रूपसे चलाया।

इधर गाधी-इरविन पैक्टकी वात चल रही थी। गाँधीजी उस समझौतेके पक्षमें थे, परन्तु भय यह था कि कही सुभाष वावू इसका विरोध न करें। अत जव सुभाष वावू जेलसे छूटे तो वसतलालजी जेलके फाटकपर ही उनसे मिले और सुभाष वावूसे भी पैक्टका समर्थन करवानेमें सफल हुए। परन्तु कराँची कांग्रेसके समय नौजवान कान्फ्रेंसके सभापतिकी हैसियतसे सुभाष वावूने फिर पैक्टका विरोध कर दिया। इससे महात्माजी वहुत चिंतित हुए। तव वसंतलालजी सुभापवावूसे मिले और महात्मा गाधीसे उनकी मुलाकात करवाई। इस मुलाकातके वाद सुभाष वावूने पैक्टका विरोव वंद कर दिया।

राउण्ड टेवुल कान्फरेन्स

नमक सत्याग्रहके समय वसतलालजीने वडा काम किया। जन-धनकी जो सहायता जहाँ आवश्यक होती थी, वहाँ वह सहायता यथाशक्ति पहुँचायी जाती थी। वंगालके इस आन्दोलनमें वसतलालजीकी सहायता अनुपम थी।

इसके वाद राउण्ड टेवुल कान्फरेंसका नाटक रचा गया। महात्माजी भी उसमें शामिल हुए। वे लन्दन गये, परन्तु वहाँसे खाली हाथ ही उन्हें लौटना पड़ा। जव राउण्ड टेवुल कान्फरेन्ससे कोई समस्या सुलझ न सकी तव यह निश्चय ही था कि सत्याग्रह आन्दोलन आगे वढाया जाता। इसलिए सरकारने महात्माजी तथा अन्य नेताओको लन्दनसे वापस आते ही जहाज पर गिरफ्तार कर लिया। देशके विभिन्न स्थानोंके नेतागण भी गिरफ्तार हुए और वसन्तलालजी भी उसीमें गिरफ्तार कर लिये गये। वे दो महीनोंके लिए नजरवन्द किये गये थे। परन्तु वादमें छूटते ही अवज्ञाके अपराधमें फिर गिरफ्तार कर लिये गये।

हरिजन-उत्थान

१९३२ में जेलसे मुक्त होनेके वाद वसन्तलालजीने महात्माजी द्वारा संचालित हरिजन-उत्थान का कार्य अपने हाथमें लिया। कलकत्तामें हरिजन उत्थान समिति की स्थापना करके आपने उसके माध्यमसे हरिजनोंमें शिक्षा प्रचार करने, उनको साफ-सुथरा रखने, उनके निवास-स्थानोंकी सफाई करने आदिमें खूव काम किया। समय-समयपर अपने हाथमें झाड़ू लेकर हरिजन-वस्तियोंकी सफाईके लिए उनका जाना और हरिजनोंके साथ वरावरी का व्यवहार करना, उनसे गले मिलना आदि वातें समाजवालोको असह्य थी। इसके लिए भी उनका वहुत विरोध हुआ परन्तु उसकी परवाह न करके वे इस कार्यमें जुटे रहे।

१९३५ में रीगसकी राजनीतिक कान्फरेन्सके सभापतिकी हैसियतसे भी उन्होने हरिजन-उत्थानका वहुत काम किया। वहाँ हरिजन सेवक संघकी स्थापना करके उन्होने इस कामको वहुत आगे वढ़ाया।

आगे चलकर वह समय आया, जव काग्रेसकी भीतरी व्यवस्थामें थोड़ी उथल-पुथल

मची। सुभाष बाबू हरिपुरा काग्रेसके सभापति निर्वाचित हुए थे। उसके बाद त्रिपुरी काग्रेसके सभापतिके निर्वाचनका जब समय आया, तब सुभाष बाबू और डा० पट्टाभि सीतारमैयामें सघर्ष हो गया। महात्मा गाधी डा० पट्टाभि को सभापति बनाना चाहते थे परन्तु जनताने सुभाष बाबूको निर्वाचित किया। इस विवादमें बसतलालजीने सुभाष बाबूका ही समर्थन किया।

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव

१९४२ के अगस्तमें बम्बईमें काग्रेस कमेटीकी ऐतिहासिक बैठक हुई जिसमें 'अग्रेजो, भारत छोडो'का प्रसिद्ध प्रस्ताव गृहीत हुआ। बसतलालजी जबसे काग्रेसमें शामिल हुए थे, तबसे प्राय प्रतिवर्ष प्रति अधिवेशनमें और काग्रेस कमेटीकी प्राय सभी बैठकोमें भाग लेते थे। वे अखिल भारतीय काग्रेस कमेटीके सदस्य थे। बम्बईमें भी वे उक्त बैठक में सम्मिलित होने गये।

उस समय देशका राजनीतिक वातावरण उत्तेजनाकी चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। जनतामें उत्साहका सागर हिलोरें मार रहा था। अग्रेज अधिकारी इस स्थितिसे परिचित थे और आन्दोलनको शुरू होनेके पहले ही दबा देनेकी चेष्टामें थे। इसलिये ज्योही यह प्रस्ताव पास हुआ, त्योही बम्बईमें उपस्थित नेता तो गिरफ्तार कर ही लिये गये, अन्य सब स्थानोके नेता और खास-खास कार्यकर्ता भी गिरफ्तार कर लिये गये। बसतलालजी भी बम्बईसे लौटते ही अपने अनन्य साथी श्री सीतारामजी सेकसरिया सहित हवडा स्टेशनपर ही गिरफ्तार कर लिये गये और जेल भेज दिये गये।

मगर आन्दोलन इसके बावजूद भी चला और उसका ऐसा प्रभाव पटा कि अग्रेजी शासनकी जडें हिल गयी। समय अपना काम कर रहा था। ये लोग १९४४ के फरवरी महीनेमें छोड दिये गये।

१९४५में बम्बईमें काग्रेसका अधिवेशन हुआ। नेताजी सुभाषचन्द्रके भाई शरच्चन्द्र बोस जेलसे छूटते ही सीधे काग्रेसमें शामिल होनेके लिए वहाँ पहुँचे। बसतलालजीके साथ वहाँ उनकी मुलाकात हुई। उसके बाद कलकत्ता वापस आनेपर शरत बाबूके सार्वजनिक स्वागतकी व्यवस्था की गयी। उसमें उन्हें एक लाखकी थैली भेंट की गयी। इस कार्यमें भी बसतलालजीका बहुत बडा हाथ रहा। उसके बाद शरत बाबूके साथ बहुत दिनो तक उनका पूर्ण सहयोग रहा।

साम्प्रदायिक उपद्रव

१९४६ में कलकत्तामें भयकर मारकाट हुई। हिन्दू-मुसलमानोकी इस लडाईके पीछे अग्रेजी सत्ताका कुचक्र था। १४ अगस्तको बगाल विधान-सभामें तत्कालीन मुख्य मत्री सुहरावर्दीने सूचना दी कि मुसलिम लीगने सीधी कार्यवाही करनेका निश्चय किया है। दूसरे दिन इसके विरोधमें सभा हुई जिसमें बसतलालजीने इस की तीव्र निंदा की और समझदारी तथा शातिसे काम लेनेकी अपील की। मगर १६ अगस्तको यह मार-काट छिड ही गई। वह स्थिति इतनी भयकर थी जिसका स्मरण करनेसे रोमाच होता है। आदमी पशु और राक्षससे भी गया-बीता हो गया था। इस अवसरपर शाति-स्थापना तथा दंगा-पीडितोकी सहायता आदिके कार्यमें बसतलालजी

ने बड़ा काम किया था। जब १९२६ में पहले-पहल कलकत्तामें साम्प्रदायिक दगा हुआ था, तब भी वसतलालजीका सेवा-कार्य बडा प्रशंसनीय हुआ था।

यह प्रयत्न हो ही रहे थे कि महात्माजी अन्य सब कार्य स्थगित करके कलकत्ता दौडे आये और शान्ति-स्थापनाके लिए आमरण अनशन की घोषणा की। इस अवसरपर वसतलालजीने दोनो समुदायोके नेताओसे मिलकर महात्माजीका अनशन भंग करवाने के लिए बडा प्रयत्न किया। अन्तमें दोनो सम्प्रदायोके नेता महात्माजीसे मिले और उन्हें आश्वासन दिया कि शातिकी स्थापना होगी और भविष्य में भी मैत्री रहेगी, इस प्रकार की घटना फिर न हो, इसका प्रयत्न किया जायगा। तब महात्माजीने अनशन भंग किया।

विस्थापितो की सेवा

१९४७ में स्वतत्रता-प्राप्तिके साथ ही देशमें फिर भयकर उपद्रव हुए। इसमें अनेक परिवारोको जन-धनकी अपार हानि उठानी पडी। अनेक जन विस्थापित होकर भारत आये। उस समय विस्थापितोके निवास और पुनर्वासकी समस्या बड़ी विकट थी। दिल्लीमें विस्थापितोकी अपार भीड़ एकत्र हो गई थी। वसंतलालजी मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटीकी ओरसे वहाँ गये और विस्थापितोके निवास आदिके लिए यथासाध्य व्यवस्था की। बंगालकी विस्थापित समस्याको सुलझानेमें भी उन्होने बडा सहयोग दिया।

विधान सभाके सदस्य

सन् १९४६ में विधान-सभाका जो आम चुनाव हुआ, उसमें बड़ाबाजार क्षेत्रसे वससतलालजीको भी कांग्रेस की ओरसे उम्मीदवार किया गया और वे अपनी लोकप्रियता के कारण सफल होकर विधान सभा के सदस्य हो गये। वहाँ उन्होने अपनी राजनीतिक सेवाओ का अच्छा परिचय दिया।

जब विधान सभामें काग्रेस दलके अन्दर फूट हो गयी, उस समयके मुख्य मत्री डॉ० प्रफुल्लचद्र घोप और डा० सुरेशचन्द्र बनर्जीका दल एक ओर था और हुगलीके श्री प्रफुल्लचन्द्र सेन और श्री अतुल्य घोपका दल दूसरी ओर। इस सघर्पमें हुगली दल विजयी हुआ। डा० घोपने इस्तीका दिया और उनके स्थानपर डा० विधानचंद्र राय मुख्य मत्री निर्वाचित हुए। वसंतलालजीने डा० रायका समर्थन किया।

सन् १९५२ में बालिग मताधिकारके आधारपर प्रथम बार निर्वाचन हुआ। काग्रेसने भी अपने उम्मीदवार खडे किये। उस समय तक बंगालकी राजनीतिमें वसतलालजी का अच्छा स्थान बन गया था। इसलिए कांग्रेसने इस बार उन्हें बीरभूमसे विधान सभाके लिए अपना उम्मेदवार मनोनीत किया। वसंतलालजीके मुकाबलेमें जो उम्मेदवार खडा था, वह काफी प्रभावशाली व्यक्ति था परन्तु फिर भी निर्वाचनमें वसन्तलालजी विजयी हुए। बीरभूम, जो शुद्ध बँगला-भापी क्षेत्र था, से अपने प्रबल प्रतिद्वंदीको परास्त करना वसंतलालजीकी लोकप्रियता और उनकी राजनीतिक सेवाओके प्रति जनता के विश्वासका द्योतक था। मुरारकाजीका जन्म राजस्थानमें हुआ था परन्तु बंगालमें निवास करनेके कारण उन्होने अपनेको बंगालीसे भिन्न कभी नही माना।

जब बिहार-बगालकी सीमाका प्रश्न आया, तब भी उन्होने बगालके पक्षका समर्थन किया। बगालके राष्ट्रीय कार्यकर्ताओमें उनका विशिष्ट स्थान था।

वसंतलालजी जव से काग्रेसमें शामिल हुए, तवसे यावज्जीवन उसमें वने रहे। इस सम्वन्धमे उनकी दृढता इतनी अधिक थी कि पिछले दिनो स्वतत्रता प्राप्त हो जानेके वाद काग्रेसमें स्वार्थपरता और पदलोलुपता आदिकी भावना देखकर जव उनके कुछ साथी उससे अलग हो गये, तव भी उन्होनें काग्रेसको नही छोडा।

भाषा और साहित्य की सेवाएँ

वसतलालजीका कार्य-क्षेत्र वहुमुखी था। उन्होने हिन्दी भापा और साहित्यके क्षेत्रमें भी काम किया। जव-जव वे जेल गये, तव-तव जेलके अपने साथियोको हिन्दी-भापाकी शिक्षा देनेका काम वे करते रहे। सुभाप वावूको भी हिन्दी सिखानेकी उन्होने समुचित व्यवस्था की थी। इसके अतिरिक्त वगाल, आसाम और उत्कल प्रान्तोमें हिन्दीका प्रचार करनेके लिए पूर्व भारत हिन्दी प्रचार सभा नामसे जो सस्था स्थापित की गई थी, उसके वे सभापति थे और श्री विष्णुदत्त शुक्ल मत्री थे। इस सभा द्वारा हजारो रुपये वार्पिक व्यय करके तीनो प्रान्तोमें राष्ट्रभापा हिन्दीका प्रचार किया जाता था। उत्कल प्रान्तीय राष्ट्र भापा प्रचार समिति इसी प्रयत्नका फल था, जो आज तक उडीसामें हिन्दी प्रचारका अच्छा कार्य कर रही है।

मुरारका पारितोपिक

वसतलालजीकी शिक्षा तो सीमित थी ही, इसलिए वे स्वय साहित्य-निर्माणमे कोई विशेप कार्य नही कर सके परन्तु उन्होने दूसरोको उसकी ओर प्रेरित करनेका प्रशमनीय प्रयत्न किया। प्रयागके हिन्दी साहित्य सम्मेलनको उन्होने एक वनराशि इसलिये दी थी कि उमसे ५००) प्रति वर्प उस लेखकको पुरस्कार स्वरूप दिये जायँ जो समाजवाद पर हिन्दीमें सर्वोत्तम पुस्तक लिखकर दे। मुरारका पारितोपिकके नामसे यह पुरस्कार हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी ओरसे प्रति वर्प दिया जाता है।

देशके विभिन्न भागोमें जो साहित्यिक सस्थाएँ काम कर रही हैं, उनकी सहायताके लिए भी वसतलालजीने समय-समयपर वहुत काम किया था। इस प्रकार उनकी साहित्य-सेवा अनेक प्रकारसे हुई थी।

उपसहार

वसतलालजीका जीवन सेवा, सादगी, सिद्धान्तप्रियता, दृढता और लगनका एक तेजस्वी उदाहरण है। अनेक वर्षो तक नाना प्रकारके कष्ट, अपमान उठाकर उन्होंने यावज्जीवन समाज और राष्ट्रकी सेवाकी और अतमें १० अक्टूवर सन् १९५६ को शान्ति-पूर्वक इह-लीला समाप्त की। उनका जीवन-चरित्र अनुकरणीय है। उससे आनेवाली पीढियोको सदैव प्रेरणा और उत्साह मिलता रहेगा।

— oo —

सार्वजनिक अभिनन्दन

"श्री वसंतलालजी मुरारका सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रोमें समान रूपसे अपनी सेवाओंके लिए प्रसिद्ध हैं। न केवल बंगाल बल्कि देशमें दोनो क्षेत्रोंका समन्वय करने-वाले व्यक्ति बहुत कम हैं। गत चालीस वर्षोसे मुरारकाजीने देशकी जिस लगन, स्वार्थ-त्याग और निष्ठाके साथ सेवा की है, उसके लिए कार्यकर्त्ता-समाज अपनेको गोरवान्वित अनुभव करता है।" इन शब्दोमें पश्चिम बंगाल प्रदेश काँग्रेस कमेटीके अध्यक्ष श्री अतुल्य घोषने सुप्रसिद्ध समाजसेवी एव राजनीतिक नेता श्री वसतलालजी मुरारकाके अभिनन्दन-आयोजनपर मुरारकाजीके प्रति उद्गार प्रकट किए। उन्होने आगे कहा कि मुरारकाजीने देशकी सर्वांगीण उन्नतिके लिए निरंतर देश एव समाज-विरोधी तत्वोसे मोर्चा लिया। मुरारका जीका यह सघर्ष-काल देशकी वह घडी थी जब राजनीतिक या सामाजिक सुधारके नामपर कार्यकर्त्ताओको हर प्रकारसे तिरस्कार मिलता था। राष्ट्रके निमित्त आपने जेल-यात्रा की, परिवार और स्वजनोको भुला दिया, किसी भी प्रकारके कष्टका कभी ख्याल नही किया। मैं बंगाल प्रदेश काँग्रेस कमेटी और उसके शत-शत कार्यकर्त्ताओकी ओरसे मुरारकाजीका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

कठिन कैंसर रोगग्रस्त मुरारकाजीका अभिनन्दन उनकी अत्यधिक अस्वस्थता के कारण उनके निवास-स्थानपर ही विशेष रूप से निर्मित पडालमें आयोजित हुआ। आयोजनका सभापतित्व करनेके निमित्त राजस्थान प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष लोकनायक श्री जयनारायणजी व्यास आज ही हवाईजहाजसे कलकत्ता पहुँचे। समारोह में उपस्थित विभिन्न प्रान्तो और जातियोके नर-नारियोकी उपस्थिति मुरारकाजीके प्रति सार्व-जनिक प्रेम और उनके व्यापक सेवा-क्षेत्रकी द्योतक थी। मुरारकाजी एक चारपाईपर मंचपर लेटे हुए थे।

अभिनन्दन-ग्रथ (जो तैयार नही हो सका था) की रूप-रेखा का पत्रक एक चाँदी की पेटीमें रखकर अभिनन्दन समितिके अध्यक्ष श्रीप्रफुल्लचन्द्र सेनने आपको भेंट किया। समितिके मंत्री श्री भँवरमल सिघी द्वारा पढे गये एक मान-पत्रमें आपकी सेवाओंपर प्रकाश डाला गया।

माननीय श्री प्रफुल्लचन्द्र सेनने मुरारकाजीके जीवनपर प्रकाश डालते हुए कहा कि वे केवल एक राजनीतिक विप्लवी ही नही, अपितु सामाजिक कार्यकर्त्ता भी हैं, जिन्होने सामाजिक दुर्नीतियोका खुला विरोध किया।

लोकनायक श्री जयनारायण व्यासने मुरारकाजी का अभिनन्दन करते हुए कहा कि जिन कारणोसे मुरारकाजी इतने सर्वप्रिय हुए, उनके मलमें उनकी वह भावना थी जो देश की सारी सामाजिक कुरीतियोका उन्मूलन करने तथा समाजको अन्तर्राष्ट्रीय जीवनमें स्थान दिलानेके लिए व्यक्त होती रही। मुरारकाजीने वह क्षेत्र अपनाया जिसमें कोरा धिक्कार ही नही, शाब्दिक लांछना भी मिलती है।

अभिनन्दन-समितिके अध्यक्ष श्री प्रफुल्लचन्द्र सेन (खाद्य मंत्री, पश्चिम बंगाल)
द्वारा रजत-पेटिका में अभिनन्दन ग्रंथकी पाण्डुलिपि भेंट

परम श्रद्धास्पद श्री वसन्तलालजी मुरारका

के

कर-कमलों में सादर समर्पित

अभिनन्दन-पत्र

आदरणीय साथी,

आज हमें आपका अभिनन्दन करते हुए अतीव आनन्द हो रहा है। ४० वर्ष पूर्व आपने समाज और राष्ट्र की सेवा का जो सकल्प और व्रत ग्रहण किया और जिस पर निरंतर यात्रा करते हुए आपने अनुपम आदर्श निष्ठा, अदम्य उत्साह, अप्रतिम निर्भीकता एवं अटल धैर्य का परिचय दिया, उसके लिए आपके जीवन का प्रति वर्ष, प्रति मुहूर्त अभिनन्दित रहा है।

स्वाधीनता-संग्राम के सेनानी,

जब हम उस दिन का स्मरण करते हैं जब आप राष्ट्र पिता महात्मा गाधी के आह्वान पर देश को विदेशी शृङ्खलाओं से मुक्त करने के लिए अहिंसक संग्राम के समरांगण में अपना सर्वस्व न्योछावर करने की तमन्ना लेकर जूझ पड़ने वाले नौजवानों की अग्रपंक्ति में दिखाई पड़े और समस्त बाधाओं, विपत्तियों एवं संकटों का सामना करते हुए अविचलित भाव से उस पर बढ़ते गये, जब राष्ट्र-गुरु द्वारा दिये गये मन्त्र से दीक्षित होकर आप ऊँचा सिर, ऊँची छाती रख कर पुलिस की लाठियों और गोलियों का, जेल की सीकचों और शृङ्खलाओं का सामना करते हुए अपने लक्ष्य पर बढ़ते गये। सुदीर्घ काल की आपकी यह तप-साधना एक इतिहास है और उस इतिहास का हर पृष्ठ, हर शब्द और हर अक्षर अभिनन्दनीय है।

सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत,

जो समाज अगण्य सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों में जकड़ा हुआ हजारों वर्षों से अगाढ़ निद्रा में सुषुप्त था, जिसकी सामाजिक चेतना निर्जीव हो गई थी जिसने भेद, वैषम्य और अन्याय को धार्मिक मान्यताओं में अन्तर्निविष्ट कर रखा था, जिसने नारी को निरा चेतनाविहीन अधिकारविहीन पशु बना कर कैद में रखा था, उस समाज को झकझोर कर जाग्रत करने के लिए, जो मन्त्र आपने फूँका उसकी सफलता आज स्वयं आपका अभिनन्दन कर रही है। आपके शब्द हैं ये कि 'सामाजिक क्रान्ति के इस युग में प्राचीन रूढ़ियों और अन्धविश्वासों को हमें उसी तरह जला कर खाक कर देना है जिस प्रकार प्लेग और हैजे के कीटाणुओं से आच्छादित वस्तुएं उन कीटाणुओं का प्रसार समाप्त करने के लिए खाक कर दी जाती हैं। उस समय यह नहीं देखा जाता कि अमुक वस्तु काम की है कीमती है, उसे रख लिया जाय। काम की होगी, कीमती भी होगी, वह है तो कीटाणुओं से भरी हुई। वह हमारे लिए उपयुक्त नहीं।" समाज में से इन कीटाणुओं का सदा-सर्वदा के लिए नेस्तनाबूद करने के लिए आपने जिन प्रचण्ड आन्दोलनों का नेतृत्व किया, ईंट-पत्थरों के सामने छाती तान कर, जूठी पत्तलों का सिर पर झेल कर, गाली-गलौज को फूल मान कर, सामाजिक बहिष्कार का अभिनन्दन मान कर और माता पिता, बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी सब के कोप-भाजन बन कर भी आपने इन विचारों को अपने जीवन में उतारा, इन आदर्शों को साकार किया, और हजारों-हजारों नौजवानों को इस पथ पर चलने की प्रेरणा दी। घोर सामाजिक-धार्मिक अन्याय और अत्याचार से पीड़ित नारी को बाल विवाह, अनमेल विवाह, बहुपत्नी-प्रथा, अनिवार्य वैधव्य-पालन और पर्दा की पैशाचिक यन्त्रणाओं से मुक्ति प्रदान कर आपने जो जागृति और नवचेतना उत्पन्न की, वह कभी भी विस्मृत नहीं होगी।

तूफ़ानों के जयी वीर,

आपका जीवन सामाजिक और राजनीतिक तूफ़ानों का जीवन रहा है। तूफ़ानों ने आपको प्रेरणा और शक्ति दी, आपको झुकाया नहीं। तूफ़ानों पर बैठकर आप युग के नये क्षितिजों की ओर उड़े। आज हम जिस क्षितिज पर पहुँच गये हैं, वह कितने तूफ़ानों कितने संघर्षों के बाद मिला है! इन बड़े-बड़े तूफ़ानों के बाद प्राप्त हुई राजनीतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता के नव प्रांगण में खड़े होकर हम आज हे जयी वीर, आपका अभिनन्दन करते हैं और अभिनन्दन करने में गौरव अनुभव करते हैं।

राष्ट्रीयता की आदर्श भावना के उन्नायक,

आपने अपने जीवन में सदा राष्ट्र-कल्याण को ही सबसे ऊँचा स्थान दिया। जातीयता, साम्प्रदायिकता और प्रांतीयता की घातक भावनाओं का आपने हर जगह हर समय डट कर मुकाबला किया और राष्ट्रीय ऐक्य के उन्नयन में आप सतत अग्रसर रहे। समस्त देश में एक राष्ट्रीयता की भावना जागृत रहे, हर प्रांत, हर जाति, हर सम्प्रदाय अपने-अपने क्षुद्र स्वार्थों को भूल कर मातृभूमि के व्यापक हितों को ही सर्वोपरि मान कर चले इस आदर्श का जो उदाहरण आपने रखा, उसका ही परिणाम है कि आप सब जन प्रिय हैं—आपकी सर्वप्रियता जाति, धर्म, प्रान्त, भाषा सबकी सीमाओं से परे है।

नव-निर्माण के उद्‌गायक,

संघर्ष और बलिदान की दीर्घकालीन साधना के बाद आज हमारा राष्ट्र बन्धन-मुक्त होकर नवनिर्माण के सिंहद्वार पर खड़ा है। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की पुरानी जड़ परम्पराएं टूट रही हैं—आपका स्वप्न आज साकार हो रहा है। नये समाज के निर्माण की बुनियादें डालने के लिए भूमि साफ हो गई है—सामाजिक और आर्थिक जीवन के क्षेत्रों में आमूलचूल परिवर्तन का आह्वान हमारे सम्मुख खड़ा है। आपके साथ हम इस नवनिर्माण का स्वप्न लेकर बढ़े थे—आज अभिनन्दन की वेला में इस स्वप्न को साकार देख कर हम और आप आनन्दित हैं।

सरलता और सौम्य की मूर्ति,

आपका व्यक्तित्व महान् है—आपकी सरलता, आपकी पर-दुःख-कातरता, आपके सौम्य, आपकी निश्छलता ने सबका हृदय जीत रखा है। जो विचारों में आपके विरोधी हैं वे भी आपके इन गुणों के कायल हैं और आपके व्यक्तित्व के प्रशंसक हैं और एक विशाल जन-समुदाय आपके स्नेह-सूत्र में आबद्ध है। और वे सब आपके विचारों और भावनाओं का अभिनन्दन करते हैं और कामना करते हैं, आपको विश्वास दिलाते हैं कि हम समाज और राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए हर क्षण कटिबद्ध रहेंगे—आपके प्रिय गान रवि ठाकुर के 'एकला चलो रे एकला चलो' की भावना लेकर समस्त बाधाओं के बावजूद आपने ध्येय की ओर अग्रसर होंगे, उसकी पूर्ति अवश्य करेंगे।

प्रिय साथी, अभिनन्दन के रूप में हमारी विनम्र श्रद्धा स्वीकार कर हमें कृतार्थ करें।

हम हैं,

आपके साथी, सहयोगी और शुभचिन्तक

वसन्तलाल मुरारका अभिनन्दन समिति

१५२ बी हरीसन रोड कलकत्ता

सोमवार ता० ८-१०-५६

स्वर्गीय मुरारकाजी का अंतिम संदेश—
"सामाजिक क्रांति जिन्दाबाद!"

आज मेरा अभिनन्दन करनेके निमित्त यह जो आयोजन हुआ है और अभी आपने मेरे वारे मे जो कुछ कहा और सुना है, उसके लिए मैं किसका और क्या आभार मानूँ ? यह आयोजन उन साथियों के द्वारा किया गया है, जिनके साथ मैंने कन्धे से कन्धा मिला कर पिछले ४० वर्षो मे स्वाधीनता की लडाई लडी और सामाजिक क्रान्ति का वीज वोया। उन साथियो के उत्साह और लगन से ही यह कार्य हुआ है। अत यह अभिनन्दन जितना मेरा है, उतना ही उन सवका भी है। और, मेरा और उनका भी क्या, उन विचारो और कार्यो का है, जिनसे समाज मे परिवर्तन आया है।

मुझे तो फिर आपसे यही कहना है कि यद्यपि हमने राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करली है, पर आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी वाकी है। यह आज भी एक वडा क्रान्तिकारी कार्य है। विना सामाजिक स्वतन्त्रता के हम कभी भी आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नही कर सकते और सामाजिक क्रान्ति वहुत कुछ निर्भर करती है पुरानी परम्पराओ के ध्वंस करने पर। जिन सडी-गली परम्पराओं से प्लेग के कीटाणु उत्पन्न हो गये है, उनसे आज हमको सघर्ष करना है। अच्छी से अच्छी वस्तु भी त्याज्य हो जाती है, जव उसमें संक्रामक रोग के कीटाणु उत्पन्न हो जाते है। किसी मकान मे सगमरमर के कमरे हो, फिर भी जव वह पुराना हो जाय और नई रहन-सहन के काविल न हो,तो उसे तोड़ना ही पड़ता है। इसलिए जो परम्पराएँ पुरानी हैं,सड गई हैं, वे कितनी भी अच्छी हो, कितनी भी कीमती हो, उन पर निर्भय होकर आक्रमण करना है। अगर हम पुरानी परम्पराओ को वचाने मे ही फँसे वैठे रहेगे, तो नये समाज का निर्माण नही कर सकेगे।

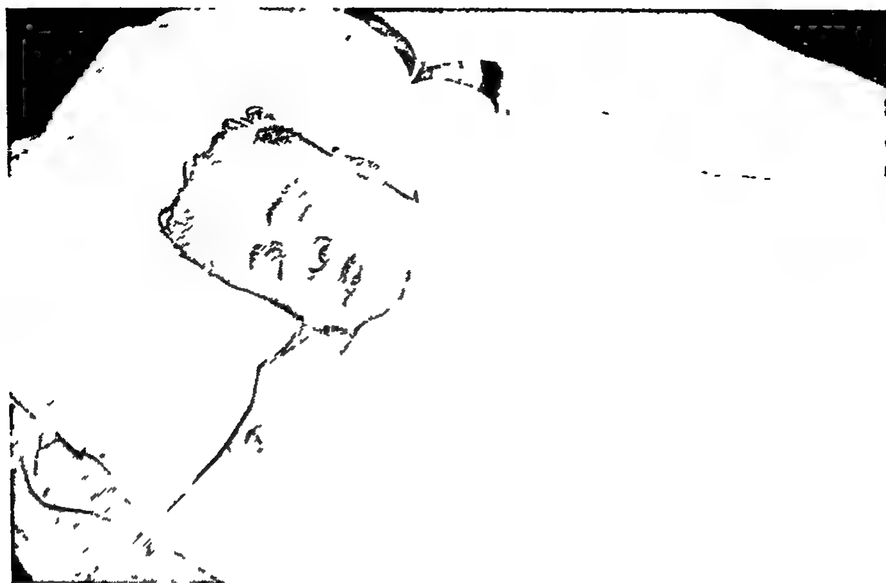
आज नये समाज का जो निर्माण हो रहा है, उसमे जातपात, साम्प्रदायिकता आदि राक्षस नही रहेगे,ऊच-नीचका भाव नही रहेगा। मैं यह अनुरोध करूंगा कि हम सव मिलकर प्राचीन परम्पराओ के कीटाणुओ को नष्ट कर नये समाज की रचना करे। तभी देश मे नया जीवन आयेगा और राष्ट्रीय नवनिर्माण की योजनाये सफल होगी। अव तो समाजवाद का जमाना है।

देश वड़ी तेजी से वदल रहा है। इसमे जो पुरानी रूढियो को पकड़े वैठे रह जायेंगे, उन्हे पीछे ही छोड़ कर देश आगे निकल जायगा। आज हम सवका एक ही कार्य है कि युग की आवाज को पहचाने और जिस प्रकार हम एक दिन राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में जुट गये थे, उसी प्रकार आज सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता के लिये जुट जांय।

सामाजिक क्रांति जिन्दावाद! सामाजिक क्रांति जिन्दावाद!! सामाजिक क्रांति जिन्दावाद!!!

—:o:o:—

ता० ८ अक्टूवर सन् १९५६ को सायंकाल ६ वजे श्री वसंतलालजी का जो सार्वजनिक अभिनन्दन उनकी विशेष रुग्णावस्था के कारण उनके घर पर ही किया गया था, उसमें वे बोल नहीं सके, पर उससे एक दिन पहले जव उनकी अवस्था कुछ अच्छी थी, उनके उद्गार टेप-रिकार्डर पर भर लिये गये थे और वे ही अभिनन्दन-समारोह में सुना दिये गये। उनके इस अंतिम संदेश को समारोह में समागत हजारो नर-नारियो ने रुद्ध कंठ से सुना और वहां से लौटते वक्त तक वह कानों में गूंजता रहा।



अंतिम दर्शन

शोक–संतप्त कुटुम्बी-जन और साथी

अंतिम इच्छानुसार विद्युत-सचालित दाहगृहमें रखा हुआ शव

केवल भस्म रह गये !

अविस्मरणीय समाज-सेवी

श्री वसतलालजी मुरारकाने ४० वर्षो तक लगातार जो समाज-सेवा की, वह अविस्मरणीय रहेगी ।

—श्री उच्छगराय नवलराय ढेवर,
कांग्रेस-अध्यक्ष

अभिनन्दनीय सार्वजनिक जीवन

श्री वसतलालजी मुरारकाका ४० वर्षोका सार्वजनिक जीवन सचमुच अभिनन्दन करने योग्य था ।

—श्री गोविन्द वल्लभ पत,
गृहमत्री, भारत सरकार

एक कर्मठ जीवन

मुरारकाजी तो मेरे पुराने—पिछले २८ वर्षोसे—मित्र थे । उनका जीवन एक सस्था था । कलकत्तेके सभी सार्वजनिक कार्योमें उनका सहयोग रहता था । उनका जीवन एक कर्मठ जीवन था ।

—श्री जगजीवन राम,
परिवहन मत्री, भारत सरकार

कांग्रेसके पुराने कार्यकर्ता

श्री वसन्तलाल मुरारका कांग्रेसके पुराने कार्यकर्ता थे। विगत तीस वर्षोंसे सार्वजनिक क्षेत्रमें काम करते आ रहे थे। भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राममें उनका काफी अवदान रहा है।

—डॉ० हरेकृष्ण मेहताव,
मुख्य मंत्री, उड़ीसा

एक कर्मठ समाज-सेवी

जिस समय श्री मुरारकाजीने समाज-सेवा का व्रत धारण किया था, उस समय समाज अन्धविश्वासोंके कूपमें इस प्रकार डूबा था कि उसके उत्थानकी कल्पना करना भी साहस का काम था। श्री वसन्तलाल मुरारका एक कर्मठ समाज-सेवी और सुधारक थे। आशा है, हमारे नवयुवक मुरारकाजीके जीवनसे स्फूर्ति लेंगे। यद्यपि आज हमारा सामाजिक स्तर ऊँचा है फिर भी अभी कई ऐसी रूढ़ियाँ है, जिनका निर्मूलन किए बिना राष्ट्रकी प्रगति नही हो सकती।

—डॉ० पट्टाभि सीतारमैया
राज्यपाल, मध्यप्रदेश

जिनकी सेवाएँ सर्व-विदित थीं

श्री वसंतलाल मुरारका हम लोगोंके परिवारके साथ घनिष्ठता रखनेवाले व्यक्तियो में से थे। उन्होने राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रमें देशकी जो सेवाएँ की, वे सर्व-विदित हैं।

—श्री जुगलकिशोर बिड़ला

आदर्श और स्फूर्ति-प्राप्तिके स्रोत

भाई वसंतलालजी हमारे देशके स्वतन्त्रता-सग्रामके एक प्रमुख सेनानी थे। उन्होने तथा उनकी धर्मपत्नी बहिन रमादेवीजीने अपने जीवनका अधिकाश एव सर्वोत्तम भाग राष्ट्रकी सेवामें लगाया। वह देशके उन मूक सच्चे सेवकोमें रहे, जिनका जीवन-कार्य आजके नवयुवको और आनेवाली पीढियोंके लिए कई मानोमे आदर्श उपस्थित करेगा। गुलामी और रुढिवादके विरुद्ध भीषण सग्राममें भाई वसतलालजी सपरिवार उस समय कूद पडे, जब पर्दे, छुआछूत आदिके खिलाफ और अन्तर्जातीय एव विधवा-विवाहके पक्षमें मुँह खोलना एक बडी बात थी। अपने अथक परिश्रम द्वारा जो निस्वार्थ सेवा भाई वसतलालजीने देश और समाजकी की, वह स्वर्णाक्षरोमें अकित रहेगी।

स्वतन्त्रता-सग्रामका वह सिपाही जीवन-भरके त्याग और तपस्याके बाद हम सबके लिये आदर्श और स्फूर्त्ति-प्राप्तिका स्रोत बन गया।

भाई वसतलालजीका सरल स्वभाव, निष्कपट व्यवहार और निर्मल चरित्र हम सबके लिये अनुकरणीय रहेगा। दूसरोका दु ख जीवनमें उन्होने अपना ही दु ख माना। उसको मिटानेके लिये जो कुछ भी उनकी शक्तिमें था, वह कर डालनेमें कभी कोई कोर-कसर उठा न रखी।

—श्री राजबहादुर

उप-परिवहन मन्त्री, भारत सरकार

सामाजिक जागरणके प्रतीक

श्री मुरारकाजीने सक्रिय रूपसे काग्रेस आन्दोलनमें योग दिया। यही नही, सामाजिक जागरणके वे बगालके प्रतीक माने जा सकते हैं। पश्चिमी बगालकी धारासभाके वे एक क्रियाशील सदस्य थे और एकनिष्ठ काग्रेसीके रूपमें अ० भा० काग्रेस कमेटीके सदस्य।

ईश्वरसे मेरी प्रार्थना है कि उनके विचारो और कार्योसे आगे आनेवाली पीढीको मार्ग-दर्शन मिले।

—सेठ गोविन्द दास

जिनकी सेवाका वर्षों तक स्मरण रहेगा

श्री वसन्तलालजीके साथ मेरा बहुत वर्षो तक घनिष्ठ सबंध रहा। सार्वजनिक कार्योमें और विशेषकर कांग्रेस संस्थामें उनका उत्साह व लगन अभिनन्दनीय था। कुछ वर्षोसे तो उनका सारा ध्यान कांग्रेसके कार्योंमें ही लगा रहा, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। जो सेवा उन्होंने विभिन्न क्षेत्रोंमें की, उसका बहुत वर्षो तक हम सभी को स्मरण रहेगा।

—श्री श्रीमन्नारायण
प्रधान मन्त्री, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी

नई पीढ़ी के सामने एक आदर्श

श्री मुरारकाजीने समाज-सुधारके नानाविध आन्दोलनोमें सक्रिय भाग लेकर देश की नई पीढ़ीके सामने एक आदर्श उपस्थित किया।

—श्री तख्तमल जैन,
मुख्य मन्त्री, मध्यभारत

जिनसे हमेशा मार्ग-दर्शन और प्रेरणा मिलती रही

श्री मुरारकाजी लगभग ४० वर्षो तक समाज व देशकी प्रसंशनीय सेवा करते रहे। उनका क्षेत्र विशेषत. समाज-सेवाका था। समाज-सुधारमे उनकी विशेष रुचि थी। राजनीतिक क्षेत्रमें भी मुरारकाजीने जो काम किए, वे अनुकरणीय थे। उनके सहयोगी के रूपमें मुझे हमेशा उनसे मार्ग-दर्शन एवं प्रेरणा मिलती रही।

—श्री मिश्रीलाल गंगवाल,
वित्त मंत्री, मध्यभारत

प्रियदर्शन वसंतलालजी

मैंने अपने स्नेहियोमेंसे एक वर्ग बनाया है, जिनको मैं 'प्रियदर्शन' कहता हूँ–जिनको देखते ही खुशी होती है, जो हमेशा प्रसन्न रहते हैं—औरोंको प्रसन्न करते हैं और इस तरह अनजाने भलाई का प्रचार करते हैं। ऐसे लोगो को मैं प्रियदर्शन कहता हूँ।

श्री वसतलालजी मुरारका ऐसे ही प्रियदर्शनोमें से एक थे। उनकी काग्रेस-निष्ठा सब जानते है, किन्तु उनमें दलबन्दीका माद्दा नही था। रचनात्मक कामोमें उनकी दिलचस्पी छिछली नही थी।

श्री सीतारामजी सेकसरियाके द्वारा जिन अनेक सज्जनोका स्नेह मुझे मिला, उनमें वसतलालजी भी थे। फिर उनके द्वारा मुझे अनेक स्नेही मिले और इस तरह स्नेहकी विरादरी वढती गई। सात्त्विक स्नेहकी विरादरी वढाते जाना, यह आजके युगके लिये सबसे महत्वका काम है।

—काका कालेलकर

वंगालकी वड़ी च्ति हुई !

पश्चिम वग प्रादेशिक काग्रेस कमेटी द्वारा गृहीत निम्न लिखित प्रस्तावसे स्पष्ट है कि श्री मुरारकाजीने वगालके सार्वजनिक जीवनमें अपनेको किस प्रकार एकरूप कर लिया था

"पश्चिम-वग प्रदेश कांग्रेस कमेटीकी कार्यकारणी समिति वडे दु खके साथ वगालके जनप्रिय देश-सेवक वसतलालजी मुरारकाकी मृत्यु पर शोक प्रकट करती है। वसन्तलालजी मुरारकाने काग्रेसके एकनिष्ठ कर्मीके रूप मे तथा विशिष्ट समाज-सेवीके रूपमें अपना सारा जीवन विताया। उनके मधुर स्वभावकी स्मृति सभीको अनन्त काल तक वनी रहेगा। उनकी आकस्मिक मृत्युसे वगालकी वडी क्षति हुई है। यह सभा वसतलाल मुरारका के परिवारके प्रति समवेदना ज्ञापन करती है।"

— —

सच्चा मनुष्य

श्री जयनारायण व्यास

स्वर्गीय वसंतलालजी मुरारकाके निकट सम्पर्कमें मैं संभवतः सन् १९३४ में आया, जब वे रीगसके युवक सम्मेलनकी अध्यक्षता करनेके लिए गए थे। मैं भी उस सम्मेलन में चला गया था। वहाँ पहले-पहल उनका असली स्वरूप नज़र आया। वैसे वह सम्मेलन सामाजिक-क्रांतिके मुख्य उद्देश्यसे हुआ था और उसकी प्रतिक्रिया भी विरोध और बहिष्कारके रूपमें व्यक्त हुई पर मुरारकाजीकी सारी प्रवृत्तियोमें राष्ट्रीयतासे भरा उत्साह प्रतीत होता था।

ज्यो-ज्यो हम आपसमें निकट आए, त्यो-त्यो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मुरारकाजी कोई पराए व्यक्ति नही है। सचमुच जो उनके निकट आया, वह उनका हो गया; वे उसके हो गए।

मुरारकाजी नवीनताके उपासक थे। वे प्रत्येक वस्तुमें नवजीवनका संचार करना चाहते थे। कला हो या क्रांति, सामाजिक सुधार हो या देशके लिए त्यागकी वात, सभी में मुरारकाजी अग्रसर रहते थे। उनका कुटुम्ब भी मित्रोका समूह रहा, जिसमें लड़के-लड़कियो, बहुओ आदि सबको सहयोगियो और साथियोंकी तरह रहनेकी स्वतंत्रता रही। उनके यहाँ पहुँचनेपर कोई परायापन नजर नहीं आता।

एक शब्दमें यही कहा जा सकता है कि मुरारकाजी 'मनुष्य' थे। उनमें मनुष्यके गुण थे, मनुष्यका उत्साह था, मनुष्यकी प्रगतिशीलता थी और सच्चे मनुष्यकी-सी समाज और देशको आगे बढानेकी उत्कल इच्छा थी।

—:०:—

नारी-जागरणके अग्रदूत भाई वसंतलालजी

श्रीमती जानकी देवी बजाज

भाई वसन्तलालजी मुरारकासे जमनालालजीका बडा प्रेम था। जब वे सामाजिक क्षेत्रमें काम करते-करते राजनीतिक क्षेत्रमें आ गए तो मुझे बराबर भाई वसन्तलालजी और उनकी धर्मपत्नी बहन रमादेवीका उदाहरण देकर नए विचारोको अपनाने और आगे आनेको कहते। रमा बहन वसन्तलालजीके कहनेसे सभाओमें व्याख्यान देने लग जाती थी। यह बहुत बडी बात थी। उस जमानेमें मारवाडी समाजमें पढी-लिखी महिलाएँ उँगलियोपर गिनी जाने लायक थी। पढी-लिखी न होनेपर भी रमा बहन सार्वजनिक कामोमें वसन्तलालजीके साथ बराबर रहती थी। हम स्त्रियाँ पति-आज्ञाके समक्ष दूसरी बडी आज्ञाको महत्व नही दे सकती हैं, हमारे भारतीय सस्कार कुछ ऐसे ही बने हैं। वसन्तलालजी खुद अधिक पढे-लिखे न होनेके बावजूद नारी-जागरणके बडे समर्थक थे। स्त्रियोके समानाधिकारके लिए हमेशा वे लडते रहे। इस दिशामें अपने दैनंदिन जीवनमें भी उन्होने अपने विचारोको उतारा। रमा बहनको अधिकसे अधिक सार्वजनिक क्षेत्रमें लानेका उन्होने प्रयत्न किया। अपने परिवारमें भी उन्होने लडकियोको, बहुओको पूर्ण स्वतन्त्रता दी। वे स्त्री-जातिके बडे हिमायती वकील थे।

दूसरा उनका बडा गुण उनका हँसमुख स्वभाव था। उनकी याद करते ही वह प्रसन्नतासे प्लावित चेहरा आँखोके सामने घूम जाता है। किसीसे मिलते, तो हँसते हुए। दूसरा गभीर मुद्रामें भी रहता तो उनके पास जितनी देर रहता, दु ख, परिताप, असतोष, दुराशा आदि दुर्गुणोसे कोसो दूर रहता। असलमें उन्होने अपने स्वभावको कुछ इस कदर बना कर ढाल लिया था कि दु ख उनके पास फटकने भी नही पाता था। गाँधीजीमें भी यह गुण था। कभी-कभी इसीलिए वे अपनी इस हँसनेकी खुराकको बच्चोसे लेते—उनसे घुलते-मिलते और स्वय भी उस समय बच्चे बन जाते।

उनकी जानलेवा बीमारीके वक्त मैं उनसे मिलने अस्पतालमें गई। भयकर बीमारीमें भी पति-पत्नीको हँसमुख पाया। चेहरेपर कोई खास उद्विग्नता नही। तभी मालूम हुआ कि इलाज करानेके लिए उनको विलायत ले जाएँगे। लेकिन विधि का विधान कुछ और ही था। वे चले गए।

मुझे दिल्लीमें भाई सीतारामजी सेकसरिया मिले। बातें हुईं। उन्होने बताया कि भाई वसन्तलालजीके १२ दिनोमें ही रमा बहन बाढ-पीडितोकी सेवामें निकल गईं। यह जानकर मुझे अपार हर्ष हुआ। सोचती हूँ रमा बहनमें इतना साहस कैसे

आया ? वे इतनी ऊपर कैसे उठी ? तो मानना पड़ेगा कि उनको बनानेमें भाई वसन्तलालजीका बड़ा हाथ रहा है ? १२ दिनके भीतर ही सार्वजनिक कामोमें जुट जाना—कोई मामूली बात नही। ऐसा तो केवल गाँधीजी ही कर सकते थे। या फिर कोई अपरिग्रह करनेवाला हीं। रमा बहन तो अनाथ बहनोके लिए ही जीती-मरती है। घरमे बहुओंके साथ भी वे जैसा व्यवहार करती है, देखकर किसीको भी ईर्प्या हो सकती है।

भाई वसंतलालजीका समाज-सुधारके कार्योमें जो अवदान रहेगा, उसमें विशेपत' नारी-जागरणका स्थान रहेगा। अगर उनको नारी-जागरणका अग्रदूत कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं।

—:o.—

भाई वसन्तलालजी और उनका व्यक्तित्व

—श्री हीरालाल शास्त्री

भाई वसन्तलालजी मुरारकासे मेरा लवा व घनिष्ठ परिचय रहा। मैंने उनका नाम तो वहुत पहलेसे सुन रखा था और मिल भी चुका हूँगा। पर मुझे उनकी विशेष याद सन् १९२८ के अप्रैल मासके उस दिनकी आती है, जिस दिन वे मुझे और मेरे परिवार को लेनेके लिये सियालदह स्टेशन पहुँचे थे। उनका चेहरा सदाकी भाँति उस दिन भी खिलता हुआ और हँसता हुआ था और उनकी सीधी-सादी लापरवाही मुझे उनकी ओर खीच रही थी।

मै जयपुरमें एक छोटा-सा छात्रावास चलाया करता था। उस छात्रावासके लडको को न जाने क्या सूझी कि वे सव मुझसे कहे-सुने विना ही किसी प्रकार एक तरफके किराये के पैसोका जुगाड करके, १९२८ का कांग्रेस अधिवेशन देखनेके विचारसे, एक दिन सवेरे अचानक कलकत्तेमें मेरे द्वारपर आ धमके। मै वडी उलझनमें पड गया पर भाई वसत-लालजीने लडकोंके भोजन-निवासादिकी व्यवस्था करके मुझे निश्चित कर दिया।

कुछ महीनोतक मेरा कलकत्तेमें ठहरना हुआ। उस अर्सेमें भाई वसन्तलालजीसे मेरा काम वरावर पड़ता रहा। वसतलालजी मजेदार आदमी थे। वे विशेष पढे-लिखे नही थे, यह उनसे वातें करनेसे मालूम हो जाता था। पर वे नये युगकी वात वडे अधिकार के साथ करते थे। उनकी कही हुई एक वात मुझे वहुत अखरती रही। वह वात इस आशयकी थी कि वेदादि शास्त्र वेकार हैं, उन्हें समुद्रमें फेंक दिया जाय। मैं वसन्तलालजीसे कहता रहा—"भले आदमी, आप पढे-लिखे तो हो नही, शास्त्रका एक अक्षर आप जानते नही और आप वेदादि शास्त्रोको समुद्रमें फेंक देने योग्य वताते हो।" मै याद करके देखता हूँ, तो मुझे लगता है कि वसन्तलालजीने एक वार भी मेरे इस कडे उपालम्भका वुरा नही माना। और न कभी उन्होने जरूरत समझी अपने मतमें सशोधन करनेकी। न उन्होने कभी कोई सफाई पेश की।

एक वार भाई वसन्तलालजी 'जोडे से' (सपत्नीक) वनस्थली पहुँचे। उस जमानेमें वनस्थलीकी यात्रा करना सवके लिये कठिन था। वसन्तलालजी व रमादेवीको विदा करनेके समय वर्षा हो रही थी। इसलिए उस अनूठे जोडेको मैंने एक वैलगाडीमें विठाया। और उनके चारो ओर मोमजामेका एक मजवूत-सा पर्दा लगवा दिया। फिर मुझे धुन सवार हुई गानेकी—

"पर्देकी वीवी वन गए, वावू मुरारका!"

वसन्तलालजी वीवी रमादेवीका पर्दा छुड़वानेके काममें अग्रणी रहे होंगे पर उस दिन उन्हें खुद पर्देकी वीवी वनना पड़ा। भाई वसन्तलालजीकी उस दिनकी प्रसन्नता मुझे सदा याद रहेगी।

भाई वसन्तलालजीसे आप किसी भी विषयपर भाषण दिलवा सकते थे। वे झिझकना तो जानते ही नही थे और संकोच उनसे वहुत दूर रहता था। उनका कोई विरोध करता, तो वे विचलित नही होते थे। वसंतलालजी आगे वढकर वात करने-वाले सुधारक थे-। उनसे भूल-चूकसे भी किसी तरह की गलती हो जानेकी शंका का अवसर आ जाय तो लोग कव उन्हें वख्शने वाले थे। पर ऐसा समय वे कम आने देते थे। उस दिन पुरुलियामें मारवाड़ी सम्मेलनमें वसंतलालजीके विरुद्ध लोगोने ज़ोरकी आवाज़ उठाई, पर वसन्तलालजी हँसते ही रहे। न उन्होने वुरा माना, न उन्हें गुस्सा ही आया। विरोधियोकी उपेक्षा करते हुए वे अपनी वात ज़ोर-शोरसे कहते रहे। दूसरा आदमी ऐसी स्थितिमें दव जाता, वुरा मान जाता, चिढ़ने लगता, पर वसन्तलालजी उस पिताके पुत्र सावित हुए, जिनकी एक ढावेमें जीमनेकी वह कथा मशहूर है जिसमें ढ़ावे-वालेको अपनी जानकी माफी माँगनी पड़ी थी।

पिछली वार जव मैं कलकत्तामे था, तव भाई वसन्तलालजी काफी वीमार थे। मैं अपने कामका लोभी ठहरा। सो इनके पास भी पहुँच गया। वसन्तलालजी कमालके आदमी थे! उस वीमारीकी हालतमें भी वे अनेको वार मेरे साथ हो लिये। और उन्होने अपने हिस्सेका कार्य पूरा करवा दिया। वैसी अवस्थामें वे मुझे आसानीसे टाल सकते थे। पर न वसंतलालजी टालनेवाले थे, न टलने वाले थे। उन दिनो वसंतलालजी को एक दर्दनाक घटनाका टेलीफोन मिला। उन्होने मित्रोको खटखटाया—चलो, वहाँ चलना है। पता नही मित्र लोगोमेंसे कौन पहुँचे और कौन नही। पर जहाँ तक मुझे मालूम है, वीमार वसन्तलालजी मुरारका ज़रूर पहुँचे। ऐसे अदम्य उत्साहकी हमें सराहना करनी होगी।

समाजमें भाई वसन्तलालजी-सा व्यक्तित्व मुझे नही दिखायी देता। वस "वसता" जैसा तो "वसन्ता" ही था।

—:o:—



ऐसा वह साथी था!

श्री सीताराम सेकसरिया

जब मैं १७ वर्षका था और वसतलालजी भी प्राय इतनी ही उम्रके, तब हम लोग राजस्थानके अपने गाँव नवलगढमें पहले-पहल मिले। वसन्तलालजीके एक दूरके भाई मेरे मित्र थे, जिनको आज कोई नही जानता। २० वर्षकी उम्रमें ही उनकी मृत्यु हो गयी। उनमें देश और समाजकी उन्नति की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। हिन्दी की उन्नतिके लिए वे वहुत ही प्रयत्नशील थे। एक प्रकारसे उन्होंने ही मुझे दीक्षित किया। मेरी धार्मिक भावनाओको उन्होंने जगाया और देश तथा समाजकी सेवा करनेकी अभिरुचि पैदा की। हम दोनो मित्रोके प्रयत्नसे नवलगढमें सन् १९०८ में 'नवलगढ विद्या-विवर्धन पुस्तकालय' की स्थापना हुई। उस समयकी स्थितिको जव याद करता हूँ और युगके आजके परिवर्तनके रूपको देखता हूँ, तो ऐसा लगता है कि वह सव जैसे स्वप्न था। वास्तवमें रात और दिनमें जितना अन्तर है, उतना ही उस समयकी स्थिति और आजकी स्थितिमें है।

एक दिन उसी मित्र, भाई मोहनलाल मुरारका, ने एक समवयस्क युवक को मेरे सामने लाकर खडा किया और कहा "यह मेरे भाई है वसन्तलाल मुरारका। मुकुन्दगढके है। इनकी इच्छा भी अपने गाँवमें पुस्तकालय खोलनेकी है।" इस घटनाके दो-चार महीने वाद ही भाई भागीरथजी और वसन्तलालजीने मुकुन्दगढमें पुस्तकालय स्थापित कर लिया। यही वसतलालजीके साथ मेरा पहला परिचय था।

सन् १९११ में मै कलकत्ता आया। यहाँ पहुँचनेके कुछ दिन वाद ही भाई मोहन लालजीके यहाँ वसतलालजीसे मुलाकात हुई। उन दिनो कलकत्तामें हिन्दी साहित्य सम्मेलनका अधिवेशन हो रहा था। इस अधिवेशनके सभापति थे चौधरी वद्रीनारा-नारायण प्रेमघन। आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदीके सभापति होनेकी वात थी पर कई कारणोसे वे सभापति नही हो पाये। मुझे उस समयकी स्थितिका ज्ञान नही था, पर भाई वसन्तलालजी, जिन्होने सम्मेलनमें भाग लिया था, ने मुझे वताया कि द्विवेदीजी सभापति न चुने जानेके कारण असतुष्ट हो गए। हम लोगोकी उम्र उस समय वहुत कम थी और हम वहुत वातोको समझ-सोच नही सकते थे। आजकी तरह् विकासके साधन भी उस समय उपलव्व नही थे। हा, तो भाई वसन्तलालजी उसी समयसे सार्वजनिक क्षेत्रमें काम करने लगे थे।

भाई वसन्तलालजी विडला-वधुओंके यहाँ वलदेवदास जुगलकिशोर फर्ममें तीन

रुपए महीनेपर काम करने लगे और मैं सूरजमल शिवप्रसादके यहाँ पच्चीस रुपये महीनेपर। दोनोंको काम इतना अधिक रहता था कि बहुत इच्छा रहनेपर भी हम लोग आपसमें मिल नहीं पाते थे। उन दिनों टेलीफोनकी सहूलियत भी नहीं थी। हम पत्रोंके ज़रिए ही आपसमें मिला करते थे।

जब मैथिलीशरणजी गुप्तकी भारत-भारती प्रकाशित हुई, तो वसन्तलालजीने पत्र द्वारा ही मुझे ये पंक्तियाँ लिखकर भेजी—"हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी। आओ, विचारें आज मिलकर यह समस्याएँ सभी।" उन दिनों गद्दियोंमें रातमें काम करना पड़ता था। वसंतलालजीको दस बजे छुट्टी मिल जाती पर रोकड़का काम होने के कारण मुझे अधिक समय तक काम करना पड़ता था। जिस दिन मुझे जल्दी छुट्टी मिलनेकी सम्भावना मालूम होती, उस दिन हम लोग मिलनेकी व्यवस्था करते और बड़तल्ला की मोड़की कोठीके पास बैठकर घण्टों बातें करते। हमारी चर्चाका विषय होता था देश और समाजकी समस्याएँ। हम इन कामोंको कैसे करें—इस सबंधमें सोचते-विचारते थे। कभी-कभी देशके गण्यमान्य नेताओंके सम्बन्धमें भी चर्चा कर लेते थे जिनमें लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल, गोखले, लाजपतराय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा गाँधीजी और बंगालके क्रांतिकारियोंकी बातें होती थीं। हमारे साथियोंमें ऐसे युवक भी थे, जो जेलकी या सरकारी दमनकी स्थितिके लिये अपनेको तैयार करनेके लिए जमीनपर सोते थे, ईंटका तकिया लगाते थे और खिचड़ी खाते थे। उन दिनोंकी भावनाएँ इतनी तीव्र थी कि हर आदमी, जो जरा भी देश, समाजकी सेवाके बारेमें सोचता था, हर तरह से अपने-आपको कष्टोंमें डालना चाहता था। कुछको छोड़कर ऐसी विचारधारा रखने वालोंकी आर्थिक अवस्था शोचनीय थी। फिर भी अपनी आमदनी का एक हिस्सा वे सार्वजनिक कार्योंमें देनेके लिए बाध्य थे। संयोगसे इसी समय एक स्वामीजी आए, जिन्होंने नवयुवकोंको सादगी, सेवा, सत्य-निष्ठा और देश-प्रेमका पाठ पढ़ाया। उन्होंने सात जीवनोपयोगी व्रत दिलाए—(१) सूर्योदयसे पहले उठना (२) उपासना करना (३) व्यायाम करना (४) स्वाध्याय करना (५) स्वदेशी वस्त्र पहनना (६) स्त्री-संबधी चारित्रिक पवित्रता बरतना (७) आमदनीका एक हिस्सा, जो कमसे कम १० प्रतिशत हो, देशके कार्योंमें देना। इसके अलावा उन्होंने राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना भी जागृत की और सार्वजनिक कार्य करनेके तरीके भी बताए।

मैं और भाई वसंतलालजी उन दिनों कार्यकर्त्ताओंकी दूसरी पंक्ति थे। इसलिए सारी बातोंकी पूरी जानकारी हमें नहीं मिलती थी, पर इस गति-विधिसे हम सम्बन्धित थे और आकर्षित भी। स्वदेशी आन्दोलनने बंगालमें ही नहीं समस्त भारतवर्षमें राजनीतिक जागृति और स्वाधीनताकी प्रबल भावना पैदा कर दी थी। सामाजिक कार्य उन दिनों कम होते थे पर समाज-सुधारकी चेतना लोगोंमें जग चुकी थी। समाज-सुधारके कार्योंमें पंचोंसे, घरके बड़े-बूढोंसे और समाजसे सीधा विरोध होने के कारण यह आन्दोलन मारवाड़ी-समाजमें बहुत धीमा चल रहा था। सुधारकी बात अगर कभी आती भी तो पंचोंकी मार्फत ही आती। नवयुवक विचारोंकी दृष्टिसे आगे थे पर काम करते समय उन्हें बड़ोंकी ओर देखकर ही आगे बढना पड़ता। समय-समयपर इस नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ीमें समाज-सुधारके कार्योंको लेकर परस्पर संघर्ष भी होता था।

कई वार वह सघर्ष काफी गहरा और उग्र भी हो जाता था, जैसे आर्य-समाज और सनातन धर्मके सघर्षका आन्दोलन हुआ। इस आन्दोलनका नाम चाहे जो रहा, पर वास्तवमें यह नए-पुराने विचारोका ही संघर्ष था।

उन दिनो "देशकी वात" नामक एक पुस्तक की चर्चा हम लोगोमे खूब थी। इस पुस्तकने अग्रेज़ी राज्यके विरोधमें वहुत अच्छा वातावरण पैदा किया था। इस पुस्तक को पढकर हर भारतीय अग्रेज़ोका कट्टर विरोधी वन जाता था। पुस्तक ज़ब्त थी। ऐसी स्थितिमें उसका किसीके पास मिल जाना खतरेसे खाली नही था। सरकारी दमनका डर वहुत था। ऐसी वात नही थी कि हम डरते नही थे। हम डरते थे किन्तु इस प्रकारकी पुस्तक पढने, नेताओके वारेमें जाननेकी जिज्ञासा रखते थे और समय आनेपर कुछ करने-धरनेका साहस भी।

सन् १६१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ। इसकी प्रतिक्रिया चारो तरफ दिखाई दी। सरकार भारत-रक्षा कानून वनाकर आतकवादियोको गिरफ्तार करने लगी। अग्रेज़ी राज्यके पिट्ठू लोग युद्धमें सहायता करनेके लिए आन्दोलन और प्रचार करने लगे। मारवाडी समाज व्यापारी समाज होनेके कारण राजभक्त माना जाता था। विदेशी कपडेका व्यापार मारवाडी समाजका मुख्य व्यापार था। विदेशी कपडेका आयात अग्रेज़ी आफिसोके द्वारा होता था। मारवाडी समाजके वडे नेता या पच इन आफिसोके दलाल या मुसद्दी थे। पर मारवाडी समाजमें कुछ युवक थे जो अग्रेज़ी राज्यके खिलाफ विचार रखते थे और आतकवादी आन्दोलनकारियोके साथ उनका सम्वन्ध था। डा० कैलाशचन्द्र वोस का मारवाडी समाजके धनी और प्रभावशाली लोगो पर उन दिनो काफी दवाव था। ये सव लोग नवयुवकोके रवैयेसे सख्त नाराज थे। इसी समय एक घटनामें पाँच-सात युवक भारत रक्षा कानूनके अन्तर्गत गिरफ्तार हो गए जिनमें भाई हनुमानप्रसादजी पोद्दार, प्रभुदयालजी हिम्मतसिहका, कन्हैयालालजी चित-लागिया, ओकारमलजी सराफ, ज्वालाप्रसादजी कानोडिया एव फूलचन्दजी चौधरी थे। श्री घनश्यामदासजी विड़ला पर भी वारट था पर वे कलकत्तेसे वाहर होनेके कारण गिरफ्तार नही हो सके। इस घटनाका समाजपर ऐसा प्रभाव पडा कि सारा नवयुवक समाज भयसे काँपने लगा। साथ ही कैलाश वावूके नेतृत्वमें पच लोग सरकारके पास अपनी राजभक्तिके सदेश भेजने लगे। वर्तमान मारवाडी रिलीफ सोसाइटीका नाम उन दिनो मारवाडी सहायक समिति था। इस सस्थाका सचालन नवयुवको द्वारा ही होता था। वगालमें आतकवादी आन्दोलनकी भावना रखनेवाली दो समितियाँ थी—एक, युगान्तर समिति और दूसरी, अनुशीलन समिति। 'मारवाडी सहायक समिति' नाम रहनेके कारण और नवयुवकोकी सस्था होनेके कारण कैलाश वावूने राय दी कि इस सस्थाका नाम न वदला गया तो सरकारकी निगाहमें मारवाडी समाज शकाकी दृष्टि से देखा जाएगा। एक तो गिरफ्तारीके कारण, दूसरे पहलेके दो-तीन सामाजिक आन्दोलनोके कारण (जिनमें विलायत-यात्राका आन्दोलन मुख्य था) युवक लोग पचो के समक्ष मुठभेड लेनेकी स्थितिमें नही रह गए थे। इसलिये इच्छा न रहते हुए भी मारवाडी सहायक समितिका नाम वदल कर मारवाडी रिलीफ सोसाइटी रखा जाना स्वीकार कर लिया गया। इन सव वातोका ऐसा व्यापक प्रभाव हुआ कि युवक समाज

उनसे त्रस्त हो गया और सार्वजनिक कामकी चर्चा बंद-सी हो गई; परस्पर मिलना-जुलना और विचार करना भी छूट-सा गया।

कानपुरसे प्रकाशित 'प्रताप' उन दिनों हिन्दीके पत्रोंमें नवयुवकोंका पथ-प्रदर्शक था। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थीके लेखोंको युवक-समाज आदरकी दृष्टिसे देखता था। मारवाडी सहायक समितिका नाम बदलनेपर यहाँकी जो स्थिति हो गई थी, उसपर विद्यार्थीजीने 'प्रताप' में एक बहुत ही प्रभावशाली लेख लिखा। विद्यार्थीजीकी क़लम में वह शक्ति थी, वह जादू था, जिसका प्रभाव सर्व-साधारणपर पड़े विना नही रह सकता था और खासकर युवक वर्गपर तो उनके लेखोंका अत्यधिक प्रभाव पड़ता था।

भाई वसन्तलालजीकी पत्नी बहुत बीमार थी। वे उसको लेकर जसीडीह गए हुए थे। 'प्रताप' के लेखको पढ़ कर मेरे मनमें जो प्रतिक्रिया हुई, उसको लिखकर विद्यार्थी जीके लेखके साथ मैंने भाई वसन्तलालजीके पास जसीडीह भेजा। मैंने उनसे यह पूछा था—आप विचार करें, हम लोग क्या कर सकते है और जितना जल्दी हो सके आप कलकत्ता आ जायँ। वसंतलालजीपर उस लेखकी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक ही थी। उन्होने मुझे पत्रमें लिखा—"चाहे जो हो, हम चुप नही बैठ सकते; हमें कुछ-न-कुछ करना ही होगा। आप लोगोसे मिलना-जुलना शुरू करें। मै जल्दीसे जल्दी आ रहा हूँ।" एक सप्ताह हीमें वे आ भी गए। इस समय जो स्थिति थी, उसमें पहली पंक्तिके लोगो के साथ मिलना-जुलना या काम करनां सम्भव नही था। दूसरी पंक्तिके लोगोमें सगठन मुश्किल हो रहा था। कई दिनोकी कोशिशके वाद कुछ मित्रोको इकट्ठा किया गया और एक संस्था "ज्ञान-वर्द्धिनी मित्र-मंडली" नामसे स्थापित की गई। इस संस्थाके उद्देश्योमें यह साफ़ तौरसे लिखना पड़ा कि राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक कामोसे इस संस्थाका कोई सम्बन्ध नही होगा। यह संस्था ज्ञान-वर्धनके कामो तक अपना कार्य सीमित रखेगी। उस समयकी स्थितिको ऊपरका सकेत साफ करता है कि राजनीतिक काममें सरकारी भय, धार्मिक काममें ब्राह्मणोकी वाधा, सामाजिक कामों में पचोका आतंक पूर्ण रूपसे नवयुवकोंमें व्याप्त था। यदि ऐसा न किया जाता तो संस्था का आरंभ करना ही मुश्किल हो जाता। आज वे सव वातें कल्पनाके वाहरकी चीज हो गई है। मुझे स्वयं आश्चर्य होता है उस दिनकी और आजकी स्थितिकी तुलना करने पर। ज्ञान-वर्द्धिनी मित्र-मंडलीका काम शीघ्रतापूर्वक आगे बढने लगा। पुराने साथी भी आने लगे, स्थिति बदलने लगी, आतंक, आशंका, निराशा और भय दूर होने लगा। ज्ञान-वर्द्धिनी मित्र-मंडली तो एक साधारण वहाना था। जो काम आगे करना था, वह काम उस मंडलीके द्वारा हो नही सकता था। ऐसी स्थितिमें एक और संस्थाकी ज़रूरत महसूस होने लगी। आहिस्ते-आहिस्ते वातावरण भी वदल रहा था। पुराने लोगों के साथ सघर्ष था ही। उनकी सस्था मारवाड़ी ऐसोसिएशन ही उन दिनों मारवाड़ी समाजकी मुख्य संस्था थी। समाजके धनीमानी और बड़े व्यापारी सवका इस संस्था से सम्वन्ध था। सरकारमें इसी संस्था तथा इसके संचालकोंका प्रभाव था। नए लोग इसके जोड़-तोडकी एक संस्था खड़ी करना चाहते थे। कई दिनोंके सोच-विचार

के वाद मारवाडी ट्रेड्स एसोसियेशन नामसे एक संस्थाकी स्थापना की गई, जिसके सभापति स्वर्गीय देवीप्रसादजी खेतान और मत्री श्री जगन्नाथ प्रसादजी अग्रवाल चुने गए। सवाल था इस संस्थाके द्वारा वे सव काम कैसे हो, जो नवयुवक करना चाहते थे अथवा जो उन्हें करना उचित था। केवल व्यापारकी वातोसे तो नवयुवकोको सतोष नही हो सकता था। इसलिये इस सस्थाके अन्तर्गत कई विभाग खोले गए, जैसे ज्ञानवर्द्धक विभाग, जिसमें ज्ञान-वर्द्धिनी मित्र-मडली अन्तर्भुक्त करदी गई। सेवा-विभागका मत्री भाई वसन्तलालजी को वनाया गया और इस विभागके द्वारा वहुत काम हुआ। यो तो मारवाड़ी ऐसोसियेशनकी सारी धाक और महत्व को इस सस्थाने खतम कर दिया, फिर भी समाजपर वड़े आदमियोका जो प्रभाव था, वह तो था ही।

इसी वीच स्वर्गीय जमनालालजी वजाजने समाज-सुवारकी दृष्टिसे अग्रवाल महासभा की स्थापनाकी वात सोची। कलकत्ता मारवाडी समाजका खास केन्द्र था और जमनालालजीका यहाँके युवकोसे सम्वन्व भी था। इसलिए वे अग्रवाल महासभाकी चर्चाके लिए कलकत्ता आए। नवयुवकोका तो सारा सहयोग उन्हें प्राप्त था ही, पर वे चाहते थे कि पुराने विचारवाले या पच-पचायतीवाले लोगोका भी सहयोग प्राप्त किया जाय। वहुत कोशिश करनेपर भी जमनालालजी उनका सहयोग प्राप्त नही कर सके। पर वम्वई तथा दूसरे प्रान्तोमें उन्हें सहयोग मिला। वर्धामें अग्रवाल महासभाका प्रथम अधिवेशन हुआ जिसमें श्री देवीप्रसादजी खेतान और भाई वसन्तलालजी नवयुवक समाज के प्रतिनिधिके रूपमें सम्मिलित हुए। लेकिन उसी समय जमनालालजीके परिवार में एक दुखद मृत्यु हो जानेके कारण अधिवेशन विशाल रूपमें नही हो सका। महासभाका दूसरा अधिवेशन वम्वईमें वडी धूमधाम से हुआ। प्रसिद्ध सनातनी और समाजके पुराने घरानेके वयोवृद्ध श्री रामलालजी गनेडीवालको सभापति चुना गया। इस अधिवेशनमें कलकत्ताके नवयुवकोने काफी सख्यामें भाग लिया। ताराचन्द घनश्यामदासकी ओरसे सेठ जयनारायणजी पोद्दार भी इस अधिवेशनमें सम्मिलित हुए और कार्यवाहीमें उन्होने उत्साहपूर्ण हिस्सा लिया। यह सम्मेलन वहुत ही सफल रहा। महात्मा गाँधीभी इस सम्मेलनमें एक दिनके लिए आए और वोले। उन्होने दक्षिण भारतमें हिन्दी-प्रचारकी आवश्यकताके लिए अर्थ-सग्रहकी अपील की। इसपर पचास हज़ार रुपएका चन्दा तत्काल इकट्ठा करके उनको दे दिया गया। इसी अधिवेशनमें ६ लाख रुपयोसे अग्रवाल सहायक कोषकी स्थापना हुई। समाज-सुधारके प्रस्तावोमे वाल-विवाहके प्रस्तावपर काफी वाद-विवाद के वाद यह तय हुआ कि वारह वर्षसे पहले लडकी और सोलह वर्षसे पहले लडकेका विवाह न किया जाय। इसके साथही सशोधनके रूपमें यह छूट दे दी गई कि अगर किसीको इस सम्वन्ध में आपत्ति हो, तो वह स्थानीय पचायतकी अनुमति लेकर कन्याका विवाह वारह वर्षसे पहले भी कर सकता है। इस सशोधनको नवयुवकोको स्वीकार करना पड़ा। पर इससे उनको सतोष नही था। इसलिये वहुतसे युवकोने प्रतिज्ञा की कि वारह वर्षसे कम उम्रकी लडकी और सोलह वर्षसे कम उम्रके लडके के विवाहमें वे सम्मिलित नही होगे। कहना नही होगा कि भाई वसतलालजी प्रतिज्ञा करनेवालोमे थे। इसके वाद तो प्रतिज्ञा करनेका एक अभियान-सा चल पडा, जिसमें भाई वसतलालजीने काफी काम किया।

आज ये सब बातें साधारण और बहुत हल्की लगती है, पर उस समय ये बहुत बड़ी-बड़ी बातें थीं। प्रतिज्ञा करनेवालोंको कठिनाइयोका सामना करना पड़ता था। ऐसे अवसर भी आए, जब भाई अपनी बहनको चुनरी उढ़ाने तक नही जा सका। बाल-विवाहके आन्दोलनने एक विशेष आन्दोलनका रूप लिया और भाई वसंतलालजीको अपने साथियोके साथ काले झंडेका प्रदर्शन भी करना पड़ा।

महासभाका तीसरा अधिवेशन कलकत्तामें हुआ, जो बहुत ही प्रभावशाली और बृहत रूपमें था। पंचायतके लोग इस अधिवेशनमें सम्मिलित नही हुए। अधिवेशनके बाद महासभाका कार्यालय कलकत्तेमें ही रहा। भाई वसंतलालजी महासभाके प्रधान मंत्री चुने गए। भाई पद्मराजजी जैनके सहयोगसे महासभाका काम और प्रभाव मारवाडी समाजमें खूब बढ़ा। हजारो शाखाएँ भारतके बड़े-बड़े शहरो और ग्रामोमें स्थापित हुईं, जिनके द्वारा बाल-विवाह आदिका विरोध किया गया। इन सारे अभियानोमें वसंतलाल जीका प्रमुख स्थान था। इन सामाजिक आन्दोलनोके बराबर-बराबरमें राष्ट्रीय आन्दोलन भी जोर पकड़ता जा रहा था। पूज्य जमनालालजीके प्रयत्नसे कांग्रेस कमेटीकी स्थापना करके बड़ाबाजारमें कांग्रेसका काम आगे बढानेका प्रयत्न किया गया। भाई पद्मराज जी जैन मंत्री और वसतलालजी सहायक मंत्री बनाए गए। इस प्रकार सामाजिक और राजनीतिक कार्य साथ-साथ होने लगे।

पूज्य महात्माजीके आह्वानपर सन् १९२१ का आन्दोलन शुरू हुआ। वसंतलालजी ने इसमें प्रमुख भाग लिया। फलत. वे गिरफ्तार किये जाकर प्रेसीडेंसी जेलमें भेज दिये गये। उन दिनो जेल जाना मामूली बात नही थी, फिर वसंतलालजीका तो परिवार भी काफी बड़ा था। उनका विवाह हुए भी चार-पाँच वर्ष ही हुए थे। इन सब कठिनाइयोकी परवाह किए बिना वसंतलालजीने आन्दोलनमें पूरा भाग लिया। वसंत-लालजीको डेढ़ वर्षके कठिन कारावासकी सजा सुनाई गई। मेरा खयाल है कि मारवाड़ी समाजमें देशके लिए जेल जानेका यह पहला उदाहरण था, जो भाई वसतलालजीने ही उपस्थित किया था। वसंतलालजीकी माँ उनके जेल-जीवनकी बातोंसे बहुत ही दुखी हो गई थी। पर अन्तमें उन्होने हम लोगोसे कहा कि "वसंतियो शिवरात्रिके दिन जनम्यो है, वो भोलो शंभु है। ऊँकी रक्षा भागवान् शिवजी महाराज ही करैंगा।" इस आंदोलन में देशबन्धु दास, सुभाषचन्द्र बोस तथा बंगालके अनेक दूसरे नेता जेलमें गए। मौलाना अबुल कलाम आजाद, मौलाना अकरमखाँ (जो बादमें मुस्लिम लीगी बन गए), बडे बाजारसे पद्मराजजी जैन, पं० अम्बिकाप्रसादजी बाजपेयी, भाई मूलचन्द्रजी अग्रवाल, भोलानाथजी बर्म्मन, माधोजी शुक्ल, पं० लक्ष्मण नारायणजी गर्दे आदि अनेक लोग जेलमें वसंतलालजीके साथी हो गए। बादमें पू० महात्माजीने चौराचौरी काण्डपर आन्दोलन बंद कर दिया और यह एलान कर दिया कि जो लोग जेल गए है, वे वहाँ न रहना चाहें, तो सरकारसे अनुरोध करके बाहर आ सकते है। वसंतलालजीने ऐसा नही किया। जो लोग जेल गए हैं, वे समझ सकते है कि आन्दोलनकी गति धीमी पड़ जानेपर जेलमें रहने-वालोकी मनोदशा क्या होती है; जेलके अधिकारियोका व्यवहार कितना क्रूर और यातनामय बन जाता है। फिर आन्दोलनका अनिश्चित काल तक बंद हो जाना कितना दुखद होता है। जिन लोगोकी सजा कम थी वे तथा दूसरे लोग भी आहिस्ते-आहिस्ते

वाहर आने लगे। पर वसतलालजीकी सजा तो लम्बी थी। उनके साथ जेलमें वहुत कम आदमी रह गए थे। पर वे अपने आनन्दी स्वभावके कारण दु ख-सुखकी परवाह किए विना जेल की अवधि पूरी कर रहे थे।

जेलसे वाहर आनेपर वे फिर अपने सामाजिक कामोमें लग गए। अग्रवाल महासभाका काम तथा दूसरे सामाजिक काम करने लगे—वाल-विवाहो और वृद्ध-विवाहोको रोकनेके आन्दोलनो तथा उनके परिणामोसे हम तग आने लगे थे और ऐसा सोचने लगे थे कि हमे समाज-सुधारका कोई क्रातिकारी कदम उठाना चाहिए, जिससे समाजमें क्रातिकी भूमिका तैयार हो सके। इसी समय हमने सुना कि एक वाल-विधवा जानकीदेवी साह वैधव्य-दु खसे तग आ गई है और पुर्नविवाह करना चाहती हैं। वह हो कैसे? यह एक वडा सवाल था। काम तो वडा भारी था, पर जोश और उत्साह-वश इसकी कौन परवाह करता था? जानकीदेवीको उसके घरसे तो ले आए पर अव उसके विवाहकी व्यवस्था कैसे हो, यह एक समस्या थी। पुराने आर्य-समाजी भाई नागरमलजी लील्हा विवाह करनेके लिए तैयार हो गए। नागरमलजीकी उम्र करीव छत्तीस वर्षकी थी और जानकी देवीकी वाईस वर्ष की। दोनोको एक-दूसरेको दिखला कर विवाह तय हो गया। विवाहके लिए स्थानका सवाल था। आर्य-समाज मदिर तो मिल सकता था, पर वहाँ विवाह हो, यह हम पसद नही करते थे। भाई नागरमलजी मोदी अपना मकान देनेके लिए तैयार थे। जानकी देवीको उनके घरपर ही छिपाकर रखा गया था। किन्तु वह मकान छोटा था। इसलिए स्वर्गीय छाजूरामजी चौधरी का मकान ठीक किया गया। यह मकान वहुत सुन्दर और वडा था। साथही यह वडे वाज़ारके वीचमे था। छाजूरामजीसे वात करनेपर वे सहर्ष राजी हो गए। यह विवाह अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है। इसका इतिहास लिखनेके लिए एक अलग लेख लिखा जा सकता है। इस कार्यमें वसतलालजीका महत्वपूर्ण हाथ रहा। परिणाम स्वरूप पचायत की सभामें वारह समाज-सुधारोकोको इस विवाहमें भाग लेने के लिए अलग-अलग इल्जाम लगाकर जातिसे वाहर कर दिया गया। भाई वसतलालजीको भी जातिसे वाहर किया गया। जाति-वाहरका भी एक आन्दोलन वन गया। वसतलालजीका निजी कुटुम्व वडा होनेके कारण और भाइयो आदिमें विचारोकी भिन्नता होनेके कारण उनको तथा उनकी पत्नीको काफी परेशानियाँ उठानी पडी, परन्तु वसतलालजीके पिता पूज्य रामदेवजीने उनके कामोका पूरा समर्थन किया। और उनके भाइयोंने भी साथ दिया।

वसतलालजीके छोटे भाई शुभकरणका विवाह था। इस विवाहके समय राष्ट्रीय आन्दोलन और खिलाफत आन्दोलन चल रहे थे। खिलाफत आन्दोलनके कारण वसतलालजीका मुसलमान भाइयोंसे गहरा सम्वन्ध था। इसलिए इस विवाहमें उनको भी निमन्त्रित किया गया। स्वर्गीय देशवधु दास भी इस विवाहमें भोजनके लिए पधारे। उनके साथ मौलाना अकरमखाँ और पचासो अन्य मुसलमान भी आए थे। उन मुसलमानो को भोजन कराते समय समाज के कुछ लोगोकी नाराजगी रही। उनके भोजन करनेके वाद जूठी पत्तल उठानेके लिए नौकरोने इन्कार कर दिया। कुछ मिनटोमें ऐसी स्थिति पैदा हो गई कि भाई वसतलालजी ने उन मुसलमानोको वुलाकर और भोजन

करा कर एक हंगामा-सा कर दिया है। लेकिन वसंतलालजीने अपने मुसलमान दोस्तोकी जूठी पत्तलोको उठाकर सारे लोगोको चकित कर दिया। मुसलमानोको वुलाकर घरपर भोजन कराना और फिर उनकी जूठी पत्तलें उठाना साधारण बात नही थी। इसकी चर्चा और विरोध बहुत रहा। पर वसतलालजीका उत्साह और दृढ़ता ऐसी थी कि उनके घरके लोग तथा दूसरे विरोधी भी उनसे नाराज नही होते थे।

सन् १९३० तक अग्रवाल महासभाके द्वारा जो भी सामाजिक काम हुए, उनका बहुत-सा श्रेय भाई वसंतलालजी और पद्मराजजीको था। कांग्रेसके द्वारा जो राजनीतिक काम होते थे, उनमें भी वसन्तलालजी पूरा-पूरा हिस्सा लिया करते थे। सन् १९३० मे पू० गाँधीजीने नमक सत्याग्रहका देशव्यापी आन्दोलन चलाया। गांधीजीकी डाडी-यात्रा के दिनोमें बंगालमें एक आइन-अमान्य कमेटीकी स्थापनाकी गई। उसके सचालनमे भाई वसंतलालजीने बहुत वडा हिस्सा लिया। वे वड़ा वाजारसे संगठन करके नमक सत्याग्रह करनेके लिए कलकत्तेसे ७-८ मील दूर महिसावथानमें सत्याग्रहियोके जत्थे भेजने लगे। फलस्वरूप उनको गिरफ्तार कर लिया गया और बंगालके कई नेताओके साथ उनको डेढ़ वर्षके कठिन कारावासकी सजा दी गई। जेलमें कलकत्ताके तथा बंगालके अनेक नेताओ और कार्यकर्ताओसे भाई वसंतलालजीका सम्वन्ध हो गया और वे आन्दोलनके खास आदमी माने जाने लगे। अपने विनोदी और सरल स्वभावके कारण वे जेलमें बहुत ही प्रिय रहे। कोई घटना होनेपर वसतलालजी कहा करते थे—आनन्द हो गया। जेलमें सब लोगोको एक-एक काँचका गिलास मिलता था। संयोगवश किसी के हाथसे गिलास गिरकर टूट जाता तो टूटनेकी आवाज सुनकर, जिस सज्जनका गिलास टूटता, उनको सम्वोधन करके वसतलालजी तुरन्त कहते— आनन्द हो गया क्या? इस तरह वे दु.खको स्वभावतः सुखका रूप दे देते थे। उनके इस स्वभावके सम्वन्धमें एक घटना और याद आती है। सन् १९३२ में जेलसे छूटनेके वाद हम लोग स्वास्थ्य-सुधार की दृष्टिसे राजस्थान गए। वसंतलालजीके मुकुन्दगढ़ स्थित मकानमें एक ब्राह्मण-परिवार रहता था। उनके लड़केके नाकमें तकलीफ थी। इसलिए उसका आपरेशन करानेके लिए उस लड़के और उसकी माँको पिलानी ले गए। संयोग-वश उस लड़केकी माँ ऊँटसे गिर पड़ी और उसे चोट लगी। वह गर्भवती थी। वसंत-लालजीने मुझे आकर सूचना दी— "भाई साहब, आज तो आनन्द जोरको होगो।" कहने का मतलब यह कि वे किसी भी घटनासे घवराते नही थे और उसको अपनी सरलताके कारण विनोदमें वदल दिया करते थे। जेलोके कष्ट और सामाजिक आन्दोलनोकी तीव्रताके समय जव-जव निराशा, दु ख और असफलता सामने आती, तब-तव वे अपनी भाषामें कहते थे 'आंटो-सांटो लागकर सुख होवा हालो है' यानी जो दुःख आता है, या असफलता आती है, वह सुख और सफलता देनेके लिए आती है।

उन दिनो समाजमें मृतक विरादरी-भोज हुआ करता था। साधारण स्थितिके आदमीको भी अपना घर, जो भी कुछ सम्पत्ति होती, वह वेचकर अथवा ऋण लेकर मृतक विरादरी-भोज करना पड़ता था। इसका दु.खद अनुभव नवयुवक समाज किया करता था। अन्त में इसके लिए पिकेटिंग करनेका निश्चय किया गया और इस पिकेटिंगका सगठन करनेमें भाई वसंतलालजीने वहुतही उत्साहपूर्ण काम किया। मृतक विरादरी

भोजके स्थानोपर जाकर जोरदार पिकेटिंग की गई। कई जगहोपर भोजन करनेवालो के सामने लेटना भी पडा। विरोधियोकी ओरसे इस आन्दोलनका ज़ोरदार विरोध किया गया और सत्याग्रहियोपर जूठी पत्तल और गदा पानी भी गिराया गया पर इस का कुछ ही दिनोमें इतना व्यापक और गहरा प्रभाव हुआ कि विहार, मध्यप्रदेश आदि प्रान्तोमें भी यह पिकेटिंग शुरू हुई और मृतक विरादरी-भोज वन्द हो गया।

मारवाड़ी समाजमें पर्दा-प्रथाभी वहुत जोरोसे प्रचलित थी। नवयुवक समाजको इस प्रथाको तोडनेके लिए काफी आन्दोलन करना पडा। भाई वसतलालजीके नेतृत्व में सन् १९२९ में एक शिष्टमडल पर्दा-प्रथाके विरोवमें आन्दोलन करनेके लिए वगाल, विहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश आदि स्थानोमें गया और जगह-जगह सभाएँ आदि करके पर्दा-प्रथाके विरोधमें आन्दोलन किया गया। इस आदोलनको स्थायी वनानेके लिए सन् १९२९की कार्त्तिक शुक्ला ११ (देवोत्थान एकादशी) के दिन सारे भारतवर्षके नगरोमें पर्दा-निवारण दिवस मनाया गया, जिसका अधिकाश श्रेय भाई वसतलालजीको दिया जा सकता है। मतलव यह है कि विलायत-यात्रा, वाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, मृतक विरादरी-भोज और पर्दा-प्रथा-निवारण आदि कोई भी आदोलन, सन् १९२० से सन् १९५६ तक, उनकी मृत्यु पर्यन्त, नही हुआ, जिसमें भाई वसन्तलालजीने सचाई और ईमानदारीके साथ हिस्सा न लिया हो। हिस्सा ही नही. वे इन सारे आन्दोलनोके सूत्र-धार रहे। इसी प्रकार राजनीतिक आन्दोलनोमें सन् १९२० से लेकर सन् १९४२ के 'करेंगे या मरेंगे'—आन्दोलन तक ऐसा एक भी आन्दोलन नही हुआ, जिसमें वे जेल न गये हो और अधिकसे अधिक भाग न लिया हो। सेवा और शिक्षाके काममें भी वे सदा आगे रहते थे। सन् १९३४ में विहारमे जो भयकर भूकम्प हुआ था, उस समयकी वात है। उनकी स्त्रीको वच्चा होनेकी पीडा हो रही थी। ऐसी हालतमें वे उसे छोडकर भूकम्प-पीडितोकी सेवा करने चले गए। वसतलालजी एक ऐसे वहादुर समाज-सुधारक और देश-सेवक थे, जिन्होने अपने घरकी, अर्थकी, शरीरकी और परिवारकी जरा भी परवाह किए विना देश और समाजकी सेवा की।

सन् १९४५–४६ में ऐसा लगने लगा था कि निश्चय ही देश स्वाधीन होगा और तव जो विधान-सभाएँ वनेंगी, वे स्वाधीन देशकी विधान-सभाएँ होगी। इसलिए उनकी इच्छा हुई कि वे विधान-सभामें जायँ। सन् १९४६ की फरवरीमें जो चुनाव हुए, उसमें वे चुनाव लडनेके लिए खडे हुए और वडे वहुमतसे निर्वाचित हुए। तवसे वरावर पश्चिम वंग विधान-सभाके सदस्य रहे। जिस प्रकार स्वाधीनता-सग्राममें भाग लेकर उन्होने देशकी सेवा की, उसी प्रकार स्वाधीन देशके शासन-सचालन और निर्माणकार्यमें भी उत्साह और जोशसे काम करते रहे। सन् १९५२ में जो चुनाव हुए, उसमें वगालके वीरभूम जिलेसे वे वगाल विधान सभाके सदस्य चुने गये जहाँ वगाली भाइयोके सिवा अन्य किसी के वोट नही थे। इस चुनावकी सफलता वसंतलालजीकी वगालमें लोक-प्रियताका एक सवूत था।

वसतलालजी अपने जीवनमें हर तरहसे सफल रहे। वे अपने विचारो और सिद्धान्तो को वरावर अमलमें लाते रहे। उन्होने अपने वडे पुत्रका विवाह माहेश्वरी समाजमें किया और अपने द्वितीय पुत्रका विवाह एक वाल-विधवासे किया। उनकी स्त्री

रमादेवीने उस ज़मानेमें पर्दा छोड़ा और सामाजिक एवं सार्वजनिक कार्यमे हिस्सा लिया जब मारवाड़ी समाजकी इनी-गिनी महिलाएँ ही पर्दा-प्रथासे मुक्त हुई थी । इस प्रकार वसंतलालजीका जीवन करीब ४० वर्ष तक निरन्तर देश और समाजकी सेवामें लगा रहा । वे स्वभावसे सरल, हृदयसे कोमल, व्यवहारसे उदार, देश और समाजकी सेवासे प्रेरित, सहृदय और बहुतही सच्चे साथी थे । व्यक्तिगत दृष्टिसे भी ऐसे मित्र और साथीका वियोग बड़ा ही दु.खद है । सार्वजनिक कार्यमें उतरनेसे पहले वसन्तलालजीके साथ मेरी मित्रता हुई थी । आज ४७ वर्षके बाद इतने सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनोकी स्मृतियाँ और रेखाएँ मेरे मन और मस्तिष्कपर अंकित हैं, जिनको मैं भूलना चाहूँ, तो भी भूल नही सकता । वे स्मृतियाँ, वे मौके, वे स्थितियाँ इस वियोगके दु खको हर वक्त ताज़ा रखते हैं ।

पिछले कुछ वर्षो से राजनीतिक विचारोमें मेरा उनके साथ मतभेद रहा, पर अन्तमें उनकी बीमारीने उस मतभेद को भी इस तरह धो डाला कि आज उसका कोई निशान भी खोजनेपर नही मिलता । उनकी मृत्युसे कुछ ही दिन पहले हम दोनोंने पहलेकी तरह ही हृदयकी एकताके सुखका अनुभव किया । यदि यह न होता तो आज मेरे दु.खका अन्त कहाँ था ? . यह ईश्वर की कृपा थी और थी उनके हृदयकी सरलता और सहृदयता ।

—:०:—

एक संस्मरण

श्री दीनानाथ सिद्धातालकार

जबसे मैं श्री वसंतलालजीके निकट सम्पर्कमें आया, मैंने उनके भीतर समाज-सुधारके लिए एक ऐसी जोरदार आग देखी, जो सामाजिक कूडा-करकट और गन्दगीको त्वरित भस्मसात करनेके लिए उतावली हो रही थी। उनके कई साथी उन्हें धीमे-धीमे चलने का परामर्श देते पर हँसमुख और स्पष्ट-वक्ता मुरारकाजी सदा यही कहते—"भाई, आगकी लपटें चिऊँटीकी गतिसे नही चला करती, वह सिंहके सदृश झपटा मारकर कुछ क्षणोमें ही अपना काम पूरा कर देती है।"

एक घटनाका मुझे स्मरण आ रहा है जिसने समाजमे भूकम्प ला दिया और मुरारकाजीको समाज-सुधारकोकी प्रथम पक्तिमें ला खडा कर दिया। झरियामें कई मारवाड़ी परिवार रहते थे। प्राय सभी खुशहाल थे। वे सब सेठ हरदेवदास अग्रवाल के प्रभावके कारण सुधारक विचारोसे अनुप्राणित थे। इन्हींमें एक सज्जन थे श्री नागरमल लील्हा, जिनका हाल हीमें देहान्त हुआ है। वे दृढ विचारोके और विरोधकी तनिक भी परवाह न करनेवाले थे। उनकी पत्नीका देहान्त हो गया था। उन्होने विधवा-विवाह करनेका निश्चय किया। मेरा भी उनसे अच्छा परिचय था। हम झरिया और कलकत्तामें प्राय मिलते रहते थे। कुमारी कन्या अथवा किसी अन्य विरादरी की विधवा मिलनी भी मुश्किल न थी, पर लील्हाजीका पक्का निश्चय यही था—मैं मारवाडी अग्रवाल विधवासे ही विवाह करूँगा ताकि मारवाडी समाजमें विधवा-विवाह प्रचलनको बल मिल सके। कुछ मासके प्रयत्नके बाद इस दिशामें सफलता प्राप्त हो गई।

अब प्रश्न था, विवाह किस प्रकार हो और कहाँ हो? इसी बातको लेकर कलकत्ता का पुरातन-प्रिय मारवाडी समाज बौखला उठा। अगर यह विवाह झरियामें या अन्यत्र किसी छोटे स्थानमें चुपकेसे हो जाता तब धर्मके इन ठेकेदारोको कोई आपत्ति न होती, क्योकि हिन्दुओमें चुपकेसे साँप भी निगल जानेपर किसीके कानपर जूँ नही रेंगती। कुछ सुधारक भी विवाह चुपकेसे करनेके पक्षमे थे पर मुरारकाजी अपने कुछ साथियो सहित कलकत्तामें धूमधामसे इस विवाहके किए जानेके लिए दृढ थे। मुझे भी इस आदोलन में सक्रिय भाग लेनेका अवसर मिला। विरोधियोने बडा बवडर उठाया, दगा करने और मारनेकी धमकियाँ दी। मुरारकाजीके नेतृत्वमें सुधारक चट्टानकी तरह अविचल रहे। मुरारकाजीने सारे आन्दोलनमें जिस साहस और निर्भयताका परिचय दिया, वह सचमुच ही अनोखी बात थी। आखिर चित्तरजन एवेन्यूकी एक बडी कोठीके प्रागण

में यह विधवा-विवाह बड़ी धूमधामसे सम्पन्न हुआ। इस अवसरपर सैकड़ो नही, हजारो नर-नारी उपस्थित थे।

पुराणपंथियोकी इससे कमर ही टूट गई। उन्होंने अब अपने अन्तिम शस्त्रका प्रयोग किया। वह था "जाति बहिष्कार"। मुरारकाजी आदि युवक इसके लिए पहले ही सजग थे। इससे वह रंचमात्र भी विचलित नही हुए। धनका प्रलोभन देकर गुडो द्वारा सुधारकोको डराने-धमकाने और अपमानित करनेके ओछे हथियार बरते गए। फिर भी विफल हुए। इसी प्रसंगमें कलकत्ता विश्वविद्यालयके संस्कृत-प्राध्यापक महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मण शास्त्रीकी अध्यक्षतामें बड़ा बाज़ारमें एक विधवा-विवाह विरोधी सार्वजनिक सभाका आयोजन किया गया। पाँच-सात सौ व्यक्ति इसमें उपस्थित थे। सभास्थलके चारो ओर लट्ठ लिए गुंडे खड़े थे। बसन्तलालजी और कुछ मित्रोंके साथ मैं भी वहाँ मौजूद था। विधवा-विवाह विरोधी कुछ सारहीन और तर्कशून्य भाषणोंके बाद यह आह्वान किया गया कि "विधवा विवाहके पक्षमें यदि कोई बोलना चाहे, तो उसे १० मिनिटका समय दिया जाएगा।" मैं उठा। मैंने विधवा-विवाहके पक्षमें शास्त्रीय प्रमाण देने अभी आरम्भ ही किये थे कि तड़ातड़ मेरे ऊपर और मुरारकाजी तथा अन्य साथियोपर लाठी-वर्षा होने लगी। विरोधियोमें कुछ ऐसे भी थे, जो इस प्रकारके असभ्य व्यवहारके विरुद्ध थे। उन्होने हम सबको चारो ओरसे घेर लिया। लाठियाँ फिर भी बीच-बीचमें चलती गईं। किसी प्रकार वहाँसे निकलकर हम सब घर पहुँच सके।

अगले दिन कलकत्ताके सब पत्रोंमें यह घटना बड़े लम्बे-लम्बे शीर्षकोंके साथ जोरदार शब्दोंमें प्रकाशित हुई। उन दिनो कलकत्तासे "स्टेट्स्मैन" के अतिरिक्त "इंगलिश मैन" नामक एक और अधगोरा पत्र निकलता था। उसने इस घटनाको लेकर कलकत्ता-पुलिसको आड़े हाथों लिया और बंगाल सरकारको फटकार बताते हुए लिखा कि वह नगरके समाज-सुधारक कार्यकर्त्ताओको कुछ अनुदार धनिकोके गुंडों द्वारा पिटवाकर ब्रिटेनकी सुधार-पोषक परम्पराओको कलंकित करना चाहती है। इससे प्रान्तीय सरकार भी सचेत हो गई और फिर पुराणपंथियोको ऐसा करनेका साहस न हो सका।

इस विधवा-विवाहके कुछ दिन बाद ही एक और विधवा-विवाह इसी प्रकार सार्वजनिक रूपसे हुआ। उसकी भी खूब धूम रही। बसन्तलालजी मारवाड़ियोमें इस सुधारके प्रचारके लिए अब विशेष प्रयत्नशील हो गये थे। एक और उल्लेखनीय विधवा-विवाह कलकत्तेसे कुछ मील दूर एक औद्योगिक केन्द्रमें हुआ। वहाँके मारवाड़ी बंधुओं ने अपने नगरमें ही विवाहपर इसलिए जोर दिया कि वहाँकी जनतामें भी इसका प्रचार हो सके। मुरारकाजी अपने कुछ मित्रोंके साथ वहाँ गये। मैं भी साथ था। हम सबका वहाँ बड़ा शानदार स्वागत किया गया। वहाँके मारवाड़ी युवक मुरारकाजीके भाषणसे बहुत प्रभावित हुए। बसन्तलालजी स्पष्टवक्ता तथा राजनीतिक और सामाजिक विषयोंपर एक निश्चित विचार देनेमें सक्षम और समर्थ थे।

——:o:——

समाज-सुधारक बसन्तलालजी मुरारका

—श्री ईश्वरदास जालान

श्री वसन्तलालजी मुरारका इस ससारमें नही है परन्तु आप की कीर्ति अब भी सर्वत्र व्याप्त है। सार्वजनिक जीवनसे आपका अखूट प्रेम रहा। राजनीतिक क्षेत्रमें आपने प्रारम्भसे ही कांग्रेसका अनुसरण किया। आजीवन उसके भक्त बने रहे। देशकी मुक्तिके आन्दोलनोमें आपने सदैव भाग लिया। कई बार जेलकी यातना भोगी, परन्तु अपने पथसे विचलित नही हुए। सामाजिक क्षेत्रमें भी आपके विचार सदा प्रगतिशील रहे। जीवनके प्रारम्भसे ही सामाजिक सुधारोमें आप अग्रणी रहे। केवल विचारो हीसे नही, कर्मसे भी आपने प्रमाणित कर दिया कि आप रूढिवादिताके सर्वथा विरुद्ध थे। मरने तक भी आपने जो अतिम इच्छा प्रकट की और जो आदेश दिया, वह सिद्ध करता है कि हृदयसे वे सामाजिक प्रथाओमें आमूल परिवर्तनके पक्षपाती थे। बहुतसे उनके विचारोसे मतभेद रखनेवाले भी उनकी सरलता और सहृदयताके प्रति आदर रखते थे। किसी भी समय कोई भी आदमी यदि उनकी सहायता चाहता था, तो वे उसी समय उसके लिये तैयार हो जाते थे। वसतलालजीकी सर्वप्रियता इसीसे जानी जा सकती है कि वगला भाषामें अपने भावोको व्यक्त करनेमें असमर्थ होते हुए भी वे वगला-भाषी-क्षेत्रसे पश्चिम-वग विधान-सभाके सदस्य चुने गए और मरते समय तक भी अपने क्षेत्रमें उसी प्रकार जनप्रिय बने रहे। सदा प्रसन्नमुख, साहसी, वीर और कर्मठ योद्धा की भाँति जीवन-सग्राममें वे सफल सैनिक रहे। उनका चिर-वियोग उनके मित्रोको सदा खलता रहेगा।

'कीर्त्तिर्यस्य स जीवति'

श्री नरोत्तमदास जोशी

श्री मुरारकाजी न केवल स्वतन्त्रता-सग्रामके एक निर्भीक और कर्मठ सिपाही ही थे और समय-समयपर अंग्रेजी सरकारने उन्हें कारावास भेजा किन्तु वे उतने ही बल, उत्साह तथा प्रेरणासे नव-समाजके निर्माणमें लगे रहे। पर्दा-निवारण, रूढियोकी दासतासे मुक्ति, परोपकार और सेवा-भाव उनमें कूट-कूट कर भरा था। बच्चोका-सा सरल निष्कपट व्यवहार मिलने वालोका हृदय स्पर्श करता था। उनके निधनसे समाजकी बडी हानि हुई है। उनको सच्ची श्रद्धाजलि हम तभी दे सकेंगे जब उनके अधूरे छोडे हुए कार्यको पूरा करेंगे। उनके कार्य हमें अब भी उस क्षेत्रमें प्रेरित करते रहेंगे। इसीलिये शास्त्रकारोका कथन है—"कीर्तिर्यस्य स जीवति।"

स्व० वसन्तलालजी

श्री रामदेव चोखानी

स्व० भाई वसन्तलालजी समाजके तेजस्वी और विशेष प्रतिभाशाली सुधारक थे। आपका उत्साह सदा ही दूसरोको स्फूर्ति देनेवाला होता था। मेरा परिचय आपसे इधर प्राय. तीस वर्षोंसे ही था, यद्यपि आपने समाज-सेवाका काम उसके बहुत पहले ही करना आरम्भ कर दिया था। वसन्तलालजीमें विशेष गुण यह था कि वे अपने विरोधीकी समालोचनासे कभी उद्विग्न नही होते थे, बल्कि उसका आदर करते थे और प्रसन्नता-पूर्वक आवश्यकतानुसार उत्तर देते थे और जहाँ अपनी त्रुटि मालूम होती, उसे स्वीकार करनेमें भी संकोच नही करते थे।

एक बार मैंने जब उनकी कही हुई बातोका विरोध किया, तो उन्होने पत्र लिखकर मुझे संतोष कराया और समाचारपत्रोमें भी अपना वक्तव्य देनेमें किसी प्रकारका संकोच नही किया। ऐसी प्रवृत्ति यदि समाजके अन्य भाइयोमें भी रहे, तो बहुत ही उत्तम हो।

सन् १९२७ ई० में सर्वप्रथम विधवा-विवाहके प्रश्नको लेकर आपके साथियोंसे मेरे मतके लोगोका विरोध हुआ, पर आप और आपके मित्रोने बड़ी सद्भावनासे हमलोगोके द्वारा उनके विरुद्ध की गई कार्यवाहीको उचित रूपसे स्वीकार किया।

यो तो आपके साथ बराबर ही सभा-सोसाइटियोमें मिलना होता था, पर अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलनके अन्तर्गत परदा-विरोधी आन्दोलनको लेकर आपके साथ मेरा पूरा सहयोग रहा। आपने सुधारकी प्रगतिमें प्रशंसनीय कार्य किया, यद्यपि आपकी कई एक बातोसे मैं सहमत नही था।

दहेज-प्रथाको लेकर भी आपके साथ मेरा काफी सम्बन्ध रहा। आपने इधर इस कुप्रथाको लेकर बहुत ही जोरोका काम किया, जिससे समाजमें फैली हुई इस प्रथाके उन्मूलन में यथोचित प्रगति हुई। मैंने तो एक बार उन्हें यहाँ तक उलहना दिया था कि यदि वे और भी अधिक सचेष्ट होकर सुधार-कार्य को अग्रसर करते तो बहुत बड़ा काम हो सकता था। तो भी यह कहा जायगा कि आपने व्यवसाय-वाणिज्यका कार्य करते हुए भी समाजका बड़ा काम किया।

राजनीतिक क्षेत्रमें भी वसन्तलालजीकी सेवा प्रशंसनीय रही। आप यद्यपि अंग्रेज़ी थोड़ी जानते थे, तो भी विधान सभाके मेम्बरकी हैसियतसे बंगभूमिकी सेवा करनेमें कमी नहीं की। ऐसे कर्मठ व्यक्तिके चले जानेसे समाजकी विशेष हानि हुई और उनके रिक्त स्थानको पूर्ण करना अब कठिन-सा प्रतीत हो रहा है।

दृढ़प्रतिज्ञ बसंतलालजी

श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका

स्वयके विपयमें यदि कभी किसीसे कोई प्रश्न किया जाय, तो उसका उत्तर देना उस व्यक्तिके लिये अत्यन्त दु सह कार्य हो जाता है। इसी प्रकार आज भाई वसन्तलालजी मुरारकाके सम्बन्धमें अपने सस्मरण लिखनेको जब मुझसे कहा गया है, तो कुछ समझमें नही आ रहा है कि क्या लिखूं? लगभग पिछले ३५ वर्षसे सामाजिक एव राजनीतिक क्षेत्रमें मुझे उनके साथ कार्य करनेका अवसर मिला। सदा ही साथ-साथ रहनेके कारण उनसे इतनी अधिक अभिन्न-हृदयता हो गई कि उन्हें पृथक रूपमें देखने-समझनेका न कभी अवसर ही मिला और न कभी चेष्टा ही की। फिर भी आज उनके विपयमें कुछ लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ। कह नही सकता—कहाँ तक सफलता मिलेगी।

मुझे अच्छी तरह याद है, जब १९२१ के सत्याग्रहके समय वापूजीने कहा था कि यदि कांग्रेसके एक करोड सदस्य वन जायें तथा स्कूल-कालेजो आदिमें विदेशी शिक्षाका एव अन्य सभी क्षेत्रोमें विदेशी वस्तुओका वहिष्कार किया जाय और हिन्दू-मुस्लिम एकताका प्रयत्न हो तो एक वर्पमें स्वराज्य अवश्य प्राप्त हो जायगा। उनकी इस घोपणाके फलस्वरूप देशमें असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हो गया और उसके परिणाम स्वरूप हममेंसे अनेक को जेल जाना पडा। जेल जाते समय अत्यन्त स्वाभाविक एव सहज रूपसे भाई वसतलालजीने घनश्यामदासजी बिडलासे पूछा—"भाई साहव, जब स्वराज्य मिल जाए, तो मैं आपको कहाँ तार दूँ।" वापूमें असीम निष्ठा और पूर्ण विश्वास तथा उनकी निष्कपट सरलताका इससे अधिक और क्या उदाहरण मिल सकता है?

उनके व्यक्तित्वकी सवसे वडी जिस विशेपताने मुझे प्रभावित किया, वह यह है कि उन्होनें जो कहा, उसे अक्षरश अपने जीवनमें उतार कर दिखाया। सन् १९२६ की वात है। उन दिनो हम सभी सुधारक विचारवाले व्यक्ति यह चाहते थे कि समाजमें विधवा-विवाह एव अग्रवाल-माहेश्वरी सम्बन्ध प्रचलित हो जायें। इस प्रस्तावसे चपकनिया दलके सहमत होनेका कोई प्रश्न ही नही उठता था। उसने इसका खूब विरोध किया। उस समय मैं तथा भाई भागीरथजी कानोडिया आदिने चपकनिया दलसे समझौता करनेका विचार कर लिया, किन्तु वसन्तलालजी अपने निश्चयपर दृढ रहे। उन्होंने कहा कि ये लोग तो हमारे प्रस्तावका विरोध करेंगे ही परन्तु हमें अपनी वातपर अडे रहना है। उन्होने केवल सैद्धातिक रूपसे ही यह वात नहीं कही परन्तु उनके स्वय के जीवनमें जव उसको प्रत्यक्ष प्रमाणित करनेका अवसर आया, तव समस्त विरोधोंके उपरान्त

उन्होने अपने ज्येष्ठ पुत्र भागीरथका विवाह एक माहेश्वरी परिवारकी कन्यासे (अग्रवाल-माहेश्वरी सम्बन्ध) तथा द्वितीय पुत्र मदनका एक बाल-विधवासे (विधवा-विवाह) सम्पन्न किया। उनके समान दृढप्रतिज्ञ एव दृढ निश्चयके कितने व्यक्ति आज मिलेंगे जो कि जो बातें प्लेटफार्मपर कहें, उनका उदाहरण भी समाजके सम्मुख प्रस्तुत कर सकें।

भाई वसंतलालजीने लोक-सेवा एव समाज-सेवाको ही सदा अपने जीवनका सबसे प्रमुख अग माना। यदि वे चाहते तो अधिकार एवं पदलोलुपतामें फँसकर अत्यन्त उच्चतम पदपर आसीन हो सकते थे परन्तु जिस व्यक्तिके जीवनका उद्देश्य ही पीड़ित व्यक्तियोकी सेवा था, उसे इन सबकी लालसा अपने कर्तव्यसे कैसे च्युत कर सकती थी? यदि रात्रिके १२ बजे भी उनके द्वारपर किसी व्यक्तिने आकर यह कहा कि आपके द्वारा अभी अमुक कार्य करनेसे किसी व्यक्तिकी कार्य-सिद्धि हो सकती है, तो उन्होने उसे करनेमें किंचितमात्र भी सकोच प्रदर्शित नही किया। यदि उस मध्य रात्रिमें वह उनसे अपने साथ चलनेको भी कहता, तो 'अच्छा भाया, मैं इबार ही चालू हूँ' केवल इतना कहकर अपना कुरता और चप्पल पहननेमें उन्हें जो समय लगता, उतनी ही देर उस व्यक्तिको उनकी प्रतीक्षा करनी पड़ती।

आजके इस युगमें इतना आत्म-त्याग कहाँ मिलता है कि पीडित व्यक्तियोकी आर्तना सुनकर मनुष्य अपना सर्वस्व त्याग दे। परन्तु भाई वसन्तलालजी मुरारका इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण थे। उनके समान निष्कपट, नि स्वार्थी एवं स्नेही व्यक्ति आज विरले ही मिलते है। और तो क्या लिखूँ, जितना ही अपने जीवनसे पृथक करके उन्हें देखना चाहता हूँ, उतनाही अधिक निकट वे आते जा रहे हैं। लिखनेमें कुछ कष्ट भी हो रहा है और कुछ मनोव्यथा भी। फिर भी अन्तमें केवल यही कह सकता हूँ कि उनके विषयमें जो कुछ भी कहा जाय अथवा लिखा जाय, थोड़ा ही है

—:o —

सामाजिक सुधारके क्षेत्रमें अपनेसे ही श्रीगणेश

श्री कन्हैयालाल खादीवाला

भाई श्री मुरारकाजीसे मैं कई वर्षोंसे परिचित था। राजनीतिक क्षेत्रमें तो उन्होने काफी कार्य किया ही, लेकिन मारवाड़ी समाज में सामाजिक सुधारके क्षेत्रमें जो कार्य उन्होने किये, वे निस्सदेह ही उल्लेखनीय है। विधवा-विवाहके सामाजिक सुधारके क्षेत्रमें उन्होने अपने ही परिवारसे श्रीगणेश किया। अपने खुदके लडकेकी सुयोग्य विधवा कन्यासे शादी करके मारवाड़ी समाजमें एक अनुकरणीय उदाहरण उन्होने प्रस्तुत किया। यह कोई छोटी बात नही। मैं उनके इस कदमको एक महान् क्रातिकारी क़दम समझता हूँ।

वसन्तलाल

श्री भागीरथ कानोडिया

वसतलाल और मैं एक ही गाँवके होनेके कारण वचपनमें एक ही गुरुके पास पढते थे और गुरुकी एकही वेंतसे हम दोनो पिटते थे। उस वक्त मेरी उम्र ७ वर्षकी और वसतलालकी ६ वर्षकी थी। उन दिनो हमारा जो परिचय हुआ, और सबध जुडा, वह निरन्तर अधिकसे अधिकतर गहरा ही होता गया। वसतलालकी सरल प्रकृति, स्नेहशील स्वभाव और उदार विचारोका ही यह परिणाम रहा कि हमारे ५५ वर्षके सम्बन्धमें कभी कोई फर्क का अवसर नही आया।

सामाजिक सुधारकी ओर उसकी प्रवृत्ति छोटी उम्रसे ही थी। पुराने जमानेके लोगोको याद होगा कि अपने समाजमें विवाहके अवसरपर अश्लील गीत, जिन्हें "सीठणा" कहा जाता था, गानेकी एक आम रिवाज थी। सारे गाँवमें इस वातका आन्दोलन उठा कि "सीठणें" वन्द होने चाहिएँ। इस आन्दोलनमे वसतलालने सक्रिय भाग लिया। एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार करके लोगोसे हस्ताक्षर करवाये गये। यह वात शायद सन् १९११ की है। उसके दो वप वाद उसके छोटे भाईका विवाह होनेवाला था। लडकी के पिता पुराने विचारोके जिद्दी स्वभावके थे। उन्होने कहा—हमारे यहाँ जीमनवार के वक्त सीठणें अवश्य होगे। वात कुछ खिच गई। वसतलालके पिता पूज्य श्री रामदेवजीके सामने धर्म-सकट-सा उपस्थित हो गया। वसतलालने कहा—सीठणें होगे, तो मैं विवाहमें नही जाऊँगा और यह भी कहा कि मैंने जो हस्ताक्षर किए हैं, वह आपकी अनुमतिसे किए हैं, इसलिए आपको साहजीकी वात माननेसे इन्कार करना चाहिए। पूज्य रामदेवजीको उसकी दलील ठीक लगी और वे वसतलालके पक्षमें हो गए। लडकीका पिता वहुत नाराज हुआ, लेकिन आखिर मान गया।

इसके पहले दिखावेके विरुद्ध भी वसतलालने एक छोटा-मोटा आन्दोलन चलाया था। किसी भी अवसरपर दिये जानेवाले या आए हुए दहेजका दिखावा करनेकी याने दी जानेवाली या आई हुई वस्तुओ और रुपयोको खाटोपर सजाकर सारे गाँवको वुलाकर दिखानेकी एक प्रथा हमारे समाजमें थी। शायद छोटे-मोटे रूपमें वह आज भी विद्यमान है।

एकवार होलीमें धूल और कीचड उछालने तथा अश्लील शब्द वकनेके विरुद्ध आदोलन करके उसने गाँव (मुकुन्दगढ) में अच्छा वातावरण पैदा किया था, जिसको लेकर वहाँ के ठाकुरसाहव वहुत नाराज़ हुए थे, लेकिन वसतलालने कभी किसीकी राजी-नाराजगी की परवाह नही की।

गणगौर पूंजकर कुएँमें डालनेकी एक रिवाज़ राजस्थानमें प्रचलित थी, जिसके फल-स्वरूप कुओंका पानी खराव हो जाता था। उसके विरुद्ध भी वसंतलालने छोटी उम्रमें ही वालकोंकी एक टोली वनाकर कुएँपर पिकेटिंग की थी और उसमें सफल हुआ था।

छोटे-मोटे मेलो-ठेलोंके अवसरपर प्रवन्ध करनेके लिए अक्सर स्वयसेवक दल जाया करते थे। उनमें हरएक स्वयसेवक दलके साथ वह अवश्य होता था।

आज ये सव आदोलन और सेवाएँ वहुत छोटी लगती है। किसी-किसीको ये वातें हँसी आने लायक भी लग सकती हैं। लेकिन जो लोग उस जमानेसे गुज़रे है, उन्हें मालूम है कि उस वक्त इन सवका कितना महत्व था और इनको करनेमें कितनी कठिनाई आती थी।

जो वात वसतलालको ठीक जँची, उसका उसने निर्भीकतापूर्वक प्रचार किया और उसके अनुसार काम भी किया। उदाहरणके लिए, उसने अन्तर्जातीय विवाहकी वात कही, तो अपने लड़केका विवाह माहेश्वरी समाजमें किया, विधवा-विवाहकी वात कही तो अपने दूसरे लडकेका विवाह वाल-विधवा लड़कीसे किया, अस्पृश्यता-निवारण की वात कही तो हँसते-हँसते उसके लिए धक्के-मुक्के और गालियाँ खाईं और हरिजन सेवक सघ, राजस्थानके सभापतिके नाते राजस्थान-व्यापी दौरा भी किया। पर्देकी वात कही, तो उसे अपने घरमें सवसे पहले उठवाया और दहेजकी वात कही, तो अपने लडकोके विवाहमें दहेज नही लिया तथा आगे चलकर तो दहेजके विवाहमें शरीक नही होनेकी प्रतिज्ञा भी की।

सामाजिक सुधार-आदोलनोके अलावा रचनात्मक प्रवृत्ति भी उसकी छोटी उम्रसे रही। हमारे गाँवमें उसके द्वारा सन् १९०९ में स्थापित किया हुआ एक पुस्तकालय आज तक चल रहा है। उस वक्त उस पुस्तकालयके लिए कुल चन्दा १५) इकट्ठा हुआ था, जिसमें ११) की लागतसे एक जाज़म वनवायी गयी थी और "वेंकटेश्वर समाचार" नामका एक साप्ताहिक पत्र वम्वईसे मँगवाया गया था। कुछ फटी-पुरानी पुस्तकें इधर-उधर से माँगकर इकट्ठी की गई थी, जिन्हें मरम्मत कर-कराके रखा गया था। आज तो इस पुस्तकालयका रूप, साधारण कस्वोमें ठीक-ठीक जैसा एक पुस्तकालय चाहिए, वैसा हो गया है। काफी पुस्तकें हैं, पर्याप्त पत्र-पत्रिकाएँ आती है तथा गाँवके वहुत लोग उससे लाभान्वित होते हैं। हालहीमें भाई वसंतलालने अपने खर्चेसे इस पुस्तकालयके लिए अपने पूज्य पिताजीकी स्मृतिमें एक अच्छा सुन्दर दोतल्ला भवन भी वनवा दिया है।

कलकत्तामें जितने सामाजिक आन्दोलन हुए, जैसे सनातनधर्म और आर्यसमाजका आन्दोलन, वाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विलायत-यात्रा, डीडू-कोलवार प्रकरण, हरिजन-समस्या, विधवा-विवाह, पर्दा-प्रथा, मृतक विरादरी-भोज आदि, इन सवमें उसने सुधार-पक्ष या यो कहें कि न्याय-पक्षकी ओरसे खुलकर भाग लिया तथा नेतृत्व भी किया। खुद की पढ़ाई-लिखाई कम होनेके वावजूद शिक्षा और साहित्यके प्रति विशेषकर स्त्री-शिक्षाके प्रति उसका अनुराग सदा रहा, जिसका जीवित उदाहरण हमारे गाँवमें उसकी ओर से चलनेवाला वालिकाओका एक मिडिल स्कूल है। यहाँपर करीव २५० लड़कियाँ पढ़ती हैं। उसका सुन्दर भवन भी उसने पूरा-पूरा अपने खर्चेसे वनवाया है। इनके अलावा कलकत्ते की तथा दूसरी जगहकी भी ऐसी कई शिक्षण-सस्थाएँ हैं, जिनकी मदद करने-करानेका

वसतलालने सदा प्रयत्न किया। अहिन्दी प्रान्तोमें हिन्दी प्रचारके काममें भी उसका सहयोग बरावर रहा तथा समाजवादपर अच्छा ग्रथ लिखनेवालेको मुरारका-पुरस्कार भी दिया गया।

उसकी सामाजिक प्रवृत्ति कलकत्ते तक ही सीमित नही रही वल्कि वाहर भी उसे वहुत जाना पडा। जव-जव जहाँ-जहाँ जरूरत पडी, वहाँ वह जरूरतके अनुसार दल-वल लेकर अथवा अकेले-दुकेले भी गया और पूरी लगन तथा ताकतके साथ काम किया।

हरिजन-आन्दोलनके दिनोमें मुकुन्दगढमें वसतलालका जो विरोध हुआ और उसका उत्तर उसने अपने मृदुल स्वभावके अनुसार विरोधियोको जिस तरह हँसते-हँसते दिया था, वह एक स्मृतिकी वस्तु है।

राजनीतिक आन्दोलनमें गाँधीजीके आह्वानपर देशमें सवसे पहले जो लोग जेल गए थे, उनमें वसतलाल भी एक था। उस वक्त उसकी आर्थिक हालत वहुत साधारण थी। सयुक्त परिवार था, दूसरा विवाह किये थोडे ही दिन हुए थे, इसलिए पत्नीकी आयु वहुत छोटी थी, घरका वातावरण अनुकूल नही था। लेकिन उसने किसी वातकी परवाह नही की—किसी वातकी चिन्ता नही की। उसके वाद जव-जव राजनीतिक आन्दोलन हुए, वह बरावर जेल गया। सामाजिक क्षेत्रमें वह सदा उग्र सुधारवादी रहा, राजनीतिक क्षेत्रमें अपनेको गाँधीजीका अनुयायी माना और रचनात्मक प्रवृत्तियोमें भी उसने बरावर सक्रिय भाग लिया। खादी जिस दिन किसी दूसरे आदमीके तनपर आई, उसी दिन उसने भी धारण की और अत तक उसी प्रेम और निष्ठासे धारण किए हुए रहा।

सहृदय और सहानुभूतिशील वह इतना था कि कोई भी आदमी किसी भी तरह की आपत्तिमें पडा हुआ या जरूरतमन्द उसके पास पहुँचा, तो उसे निराश नही लौटना पडा। सदा-सर्वदा उसकी सहायता अपनी सुविधा-असुविधाका और समय-असमयका ख्याल किये विना की। आनेवाली पीढी वसतलालको उसकी सेवाके लिए गर्व और कृतज्ञता के साथ याद करेगी क्योकि उसने स्वय दुख झेलकर आनेवाली पीढीके लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

—०—

सरल-जीवन मुरारकाजी

श्री कुम्भाराम आर्य

श्री वसन्तलालजी मुरारका समाजके पुराने सेवकोंमें से थे। मुरारकाजीका नाम जब आता है, तो पुरानी सब घटनाएँ स्मरण हो आती हैं। समस्त सामाजिक बुराइयोंसे लोहा लेनेवाले लोगोंमें मुरारकाजी अग्रगणी समाज-सेवक थे। अनमेल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, पर्दा आदि अनेक रूढ़ियाँ समाजमें घर किए हुए थीं, जिनके कारण हिन्दू समाज का ह्रास होता जा रहा था। उन कुरीतियोंके सामने किसीकी खड़े होनेकी हिम्मत नहीं थी और समाज बुरी तरहसे इन रूढियोंका शिकार था। समाजकी इस भयकर बीमारी को जड़-मूलसे नष्ट करनेके लिए वे सुधारकके रूपमें जनताके सामने खम्भ ठोक कर आये।

रूढिवादिताको नष्ट करनेके लिए उठाए गए कदमोंका जहाँ स्वागत होना चाहिए था, विरोध हुआ और समाजने बुरी तरहसे उनका तथा उनके साथियोंका तिरस्कार किया। यहाँ तक कि जातिच्युत कर दिए जानेकी नौबत भी आई लेकिन उस समाज-सेवकका मन कमज़ोर नहीं पड़ा। उसकी लगन बढती गई, समाजका विरोध बढ़ता गया; मामला यहाँ तक आगे बढा कि पारिवारिक जनों तकने इसका विरोध किया। किन्तु फिर भी उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, अपने कर्त्तव्यपर डटे ही रहे।

वह घटना बड़ी ही आकर्षक है जब श्री वसन्तलालजी मुरारकाने अपनी धर्मपत्नीको हाथसे लाखका चूड़ा उतारनेके लिए तैयार कर लिया। पत्नीने चूड़ा उतारा कि विरोध की अग्निमें घी डालने जैसा कार्य किया। घर, मोहल्ला, पारिवारिक जन सब ताने और विरोधमें उनको घायल करने लगे। धर्मपत्नीको राँड तक कहा गया फिर भी दोनों पति-पत्नी अपने विचारोंपर अटल रहे और जो कदम आगे बढा लिया सो बढ़ा लिया। वापिस नहीं लिया। समाज-सुधारकी धुन आपको अंतिम दिन तक वैसी ही लगी रही स्त्री-शिक्षा, सामाजिक सुधार, जन-सेवा आदि कार्योंमें ही आपने अपना समय लगाया। उनका घर एक आश्रम-सा लगता था। उस समाज-सेवकके घर अतिथि बनकर ठहरने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ था। परिवारके हरएक व्यक्तिके व्यवहारका आज भी वैसा ही असर और आकर्षण है। उसके घरसे विदा लेनेको किसी भी अतिथिका मन नहीं चाहता।

उसकी धर्म-पत्नी, लड़के-लड़कियाँ और लड़कोंकी बहुएँ सबके सब एक साँचेमें ढले लोग बड़े प्यारे लगते हैं। उस व्यक्तिने समाज-सुधारका कार्य अपनेसे ही प्रारम्भ किया हो, ऐसा लगता है। स्वयं वह देखनेमें बडा सीधा, कमबोला और लगनशील दीखता था

तो उसकी धर्मपत्नी भी इससे कम नही रही। पति-पत्नी दोनोके आचार-विचार एक होनेसे वाल-वच्चोपर वैसा ही रंग चढा हुआ है। एक वार इस घरके वच्चोंसे मिल लेने और वात करनेके वाद उनको भुलाया नही जा सकता। इस प्रकारके जन-सेवकके जीवनके वारेमें मेरा जैसा साधारण व्यक्ति क्या लिखे ? मेरे कुछ समझमें नही आता। हाँ इतना लिखना आवश्यक समझता हूँ कि इस कर्मठ पुरुपको जन्म देनेवाली मातृभूमि राजस्थानकी शेखावाटी है। इस भूमिको कुछ ऐसा ही वरदान है। यहाँ ऐसे ही पुरुप पैदा होते है, जिनसे उनका और मातृभूमि दोनोका नाम उज्ज्वल होता है। इस भूमिको मै वारम्वार नमस्कार करता हूँ जिसने हमको वसन्तलाल मुरारका-जैसा समाज-सेवक दिया।

श्री वसन्तलालजी मुरारका वडे लोकप्रिय थे। वे राजस्थानमें नही रहे और उनकी सेवाओका लाभ राजस्थानको इतना नही मिला पर हमे इस वातकी प्रसन्नता है कि राजस्थानमे पैदा हुआ वसन्तलाल मुरारका हमारे वगाली भाइयोकी सेवा वैसी ही कर सका जैसी वह राजस्थानमें होता, तो राजस्थानियोंकी करता। इसका प्रमाण भी हमारे पास है। वह वगालकी असेंवलीका सदस्य ऐसे स्थानसे चुना गया जहाँ एक भी राजस्थानी नही। वसतलालजी मुरारकाको वगालकी धारा-सभामें किसीने भेजा तो वह वगाली जनता थी। वगाली भाइयोने मुरारकाजीको मारवाडी नही समझा। वे उनको अपना भाई समझकर उनसे व्यवहार करते रहे थे। श्री मुरारकाजी की सेवाओका ही यह फल था।

समाज-सेवकोको श्री वसतलालजी मुरारकाके जीवनसे शिक्षा लेनी चाहिये।

वे अमर हैं!

श्री खेमचन्द्र चौधरी

मुरारकाजीकी मस्ती, उनका नौजवानोको शर्मिन्दा करनेवाला जोश, उनका अदम्य उत्साह, दृढता और वहादुरीके साथ विरोधसे टक्कर लेनेकी अद्भुत क्षमता, विना घवराए धैर्यके साथ स्थितिका सामना करनेका साहस सदा समाज और साथियोकी स्मृतिमें अमिट रहकर प्रेरणा देता रहेगा। सुधार, परिवर्तन और क्रातिके उस पुजारीका हँसता हुआ चेहरा आज भी इन अभागी और गीली आँखोके सामने थिरक रहा है। सुनो! सुनो!! वे क्या कह रहे है ? कहते है—अधूरे कामको पूरा करो, इसीसे मेरी आत्माको शान्ति मिलेगी। अरे, वही हँसी, वही उत्साह, वही अपनापन! हमें उस जोतको जगाए रखना है, उसे सजोना है।

यह माननेको जी नही चाहता कि वे मर गए। सचमुच वे मरे नहीं। वे मर कर भी अमर हैं।

मारवाड़ी समाजके आन्दोलन और बसंतलालजी

श्री गंगाप्रसाद भोतिका

मारवाडी समाजमें सामाजिक संघर्षका श्रीगणेश मारवाड़ी एसोसियेशनकी स्थापनाके बाद हुआ। एक तरफ मारवाडी एसोसियेशनके प्रमुख कार्यकर्ता थे, जिनमें श्री जुहारमलजी खेमका, श्री रामजीदासजी वाजोरिया, श्री केशोरामजी पोद्दार, श्री रामकुमारजी झुंझनूवाला, श्री चिम्मनलालजी गनेडीवाला, श्री दौलतरामजी चोखानी आदिके नाम विशेष उल्लेखनीय है। दूसरी तरफ उस समाजके युवक कार्यकर्त्ता श्री नागरमलजी मोदी, श्री फूलचन्दजी चौधरी, श्री रामकुमारजी जालान, श्री रामकुमारजी गोयनका, श्री वैजनाथजी केड़िया आदि थे, जिन्होने कलकत्तेमें वैश्य सभा की शाखा स्थापित की थी और उसका एक अधिवेशन भी यहाँ बुलाया था। इन संस्थाओंका परस्पर संघर्ष चलता रहा, जी पीछे जाकर आर्यसमाज और सनातन धर्मके संघर्षमें परिणत हो गया। मारवाड़ी समाजमें आर्यसमाजके उस समयके प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री जयनारायणजी पोद्दार तथा उनके पुत्र, श्री देवीवक्सजी सराफ, श्री शिवप्रसादजी सराफ, श्री नागरमलजी मोदी आदि थे। एक ओर मारवाड़ी एसोसियेशनके कर्णधार श्री केशोरामजी पोद्दार तथा दूसरी ओर श्री जयनारायणजी पोद्दारके विशेष ज़ोर देनेपर यह संघर्ष सक्रिय हुआ। उन दिनो श्री देवीवक्सजी सराफकी माताजीका देहान्त हो गया था। उनके श्राद्धपर भोजन न कराने के लिये ब्राह्मणोको बहुत भडकाया गया। इसी प्रकार श्री लक्ष्मीनारायणजी खेमानीने अपनी बहनको आर्यकन्या महाविद्यालय, जालन्धरमें भर्ती करा दिया था। इसपर सनातन-धर्मियो में बड़ी खलबली मची और उन्होंने मामले-मुकदमे भी किए। संघर्ष यहाँ तक बढा कि मारवाड़ी एसोसियेशनके कर्णधारोने एक गश्ती चिट्ठी तैयार की और उन सबके पास भेजी, जिनपर उन्हें आर्यसमाजी होनेका सन्देह था। उसमें यही लिखा था कि या तो वे इस बातकी घोषणा करें कि वे आर्यसमाजी नही है, अन्यथा उनपर यथोचित कार्यवाही की जायगी। श्री फूलचन्दजी चौधरी आदि कुछ सज्जन मारवाड़ी एसोसियेशनके सदस्य होना चाहते थे। उन्हें सदस्य न बनने देनेके लिए एसोसिएशनने पहले ही यह प्रस्ताव पास कर लिया कि जो गीताकी शपथ लेकर कहेंगे कि वे सनातनधर्मी है, वे ही सदस्य बन सकेंगे। आपसकी तनातनी यहाँ तक बढ़ी कि दोनो ओरसे इसी बातको लेकर समाचारपत्र निकलने लगे। सनातन-धर्मियोकी ओरसे "श्री सनातन धर्म" निकला और सुधारवादियोंकी ओरसे "सत्य सनातन धर्म"। "सत्य सनातन धर्म" के सम्पादनका

कार्य श्री राधामोहन गोकुलजी करते थे और उसमें विशेष लेख श्री शिवप्रसादजी सराफ के हुआ करते थे जिन्हें पढकर सनातनी समाजमें बडी खलबली मच जाया करती थी।

इस संघर्षको मिटाने और समाजमें एकता स्थापित करनेके लिये देशभक्त सेठ जमनालालजी बजाजने सन् १६१८ में काफी दौडधूप की, किन्तु सनातनी दल किसी प्रकार भी राजी नहीं हुआ। अन्तमें उन्होंने नवयुवकोंके सहयोगसे ही मारवाडी अग्रवाल महासभाकी स्थापना की और उसका प्रथम अधिवेशन वर्धामें बम्बईके श्री रामलालजी गनेड़ीवालाकी अध्यक्षतामें बुलाया। मारवाडी अग्रवाल महासभाके अधिवेशन प्रतिवर्ष भिन्न-भिन्न स्थानोंमें होते रहे। कलकत्तेमें भी करीब ४ अधिवेशन हुए। तीसरा अधिवेशन श्री नौरंगरायजी खेतानकी अध्यक्षतामें हुआ। इस अधिवेशनके बाद मारवाडी अग्रवाल महासभाका नाम बदलकर अग्रवाल महासभा कर दिया गया, जिसमें भारतवर्षके सभी अग्रवाल सम्मिलित होने लगे और इसके अधिवेशन भी स्थान-स्थानपर देशी अग्रवालो द्वारा बुलाए जाने लगे। सामाजिक आन्दोलनको प्रगति देनेमें अग्रवाल महासभासे काफी बल मिला। अग्रवाल महासभाका इतिहास बड़ा स्फूर्ति प्रदान करने वाला है। बम्बईके अधिवेशनके सभापति श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार मनोनीत किये गए थे, किन्तु वे सनातनियोसे डर कर जुलूसके बीचमें ही चले गए और श्री रंगलालजी जाजोदियाके सभापतित्वमें सभाका कार्य सम्पन्न हुआ। इसी प्रकार इलाहाबादके अधिवेशनके सभापति महाराजा तमीपुर मनोनीत किए गए थे, किन्तु शायद उन्हें किसीने बहका दिया और ठीक समयपर अस्वस्थताका बहाना करके उन्होंने सभापति बननेसे इन्कार कर दिया। उस समय श्री पद्मराजजी जैनने तुरत सभापतिका भाषण तैयार करके श्री बसंतलालजीको सभापतिके पदके लिए तैयार कर दिया और अधिवेशन बडी सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

कलकत्ताके एक अधिवेशनमें बम्बईके श्री केशवदेवजी नेवटिया सभापति बनकर आए थे। उनके जुलूसपर सनातनियो द्वारा कीचड उछाला गया। जबसे श्री नागरमलजी लील्हाका विधवा-विवाह हुआ, तभीसे महासभामें विधवा-विवाहका प्रश्न किसी न किसी रूपमें आता रहा, किन्तु पास न हो सका। अन्तमें लाहौरके अधिवेशनमें श्री पद्मराजजी जैनके सभापतित्वमें वह पास हो गया। अग्रवाल महासभाके बाद ही मारवाडी समाजके अन्य उप-समाजोंने भी महासभाओकी स्थापना की और उनके अधिवेशन भी समय-समयपर होते रहे। इन महासभाओंके द्वारा सामाजिक सुधारोंमें काफी प्रगति मिली, किन्तु राजनीतिक आन्दोलनोंके कारण कार्यकर्ताओकी रुचि इस ओर कम हो गई। साथही महासभाओका महत्व कम होता गया, वैसे तो हालहीमें अग्रवाल महासभाका अन्तिम अधिवेशन नागपुरमें श्री ईश्वरदासजी जालानके सभापतित्वमें हुआ था।

जिस समयमें आर्य समाज और सनातन धर्मका आन्दोलन चल रहा था, उन्हीं दिनोंमें श्री कालीप्रसादजी खेतान बैरिस्टरी पास करनेके लिये विलायत जानेको तैयार हुए थे। यह खबर समाजमें जोरोंसे फैली और सनातन-धर्मियोंने इनका विरोध करनेके लिये उस समय के प्रमुख वक्ता व्याख्यान-वाचस्पति श्री दीनदयालजी शर्माको बुलाया। उनके व्याख्यान श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालयके पुराने भवनमें हुआ करते थे। उपस्थिति

काफी होती थी। जब श्री कालीप्रसादजी विलायत चले गए, तो उन्हें जाति-बहिष्कृत किया गया। अन्तमें उन्हे साधारण-सा प्रायश्चित करना पड़ा और मामला ठंडा हो गया। आज तो विलायत-यात्राका कोई प्रश्न ही नही रहा।

मारवाड़ी समाजमें घृत-आदोलनका भी काफी मजेदार इतिहास है। समाजमें यह चर्चा जोरोंसे होने लगी कि व्यापारी लोग घीमें चर्बी मिलाते है। मारवाड़ी एसोसियेशनका समाजपर उस समय काफी प्रभाव था। उसने मारवाड़ी पंचायतकी सभा बुलवाई और जिन-जिन व्यापारियोका घीमें चर्बी मिलाना प्रमाणित हुआ, उनपर जुर्माना किया गया और आगेसे ऐसा न करनेकी चेतावनी दी गई। सभीने जुर्माना देना स्वीकार किया। इसपर पचायतकी धाक जम गई। किन्तु जब एक बड़े माहेश्वरी समाजके व्यापारीका मामला सामने आया, तो पचायतके लोगोंमें मतभेद हो गया और उचित निर्णय न हुआ। इससे लोगोकी पंचायतसे श्रद्धा उठ गई और घृत-आन्दोलन ठडा पड़ गया।

जिस प्रकार आर्य-समाज और सनातन धर्मको लेकर अग्रवाल समाजमें आन्दोलन मचा था, उसी प्रकार श्री रामेश्वरदासजी बिड़लाके दूसरा विवाह एक कोलवार समाजकी कन्यासे करनेपर माहेश्वरी समाजमें आन्दोलन शुरू हुआ। जो अपनेको असली माहेश्वरी मानते हैं वे अपनेको डीडू कहते हैं अर्थात् वे अपनी उत्पत्ति डीडवानासे बतलाते हैं। कोलवारोको या तो माहेश्वरी मानते ही नही या निम्न कोटिके माहेश्वरी मानते है। माहेश्वरी समाजमें यह आन्दोलन बहुत जोरसे चला और परस्पर सामाजिक सम्बन्ध होनेमें में भी अडचनें पड़ने लगीं। इसी आन्दोलनके फलस्वरूप डीडू माहेश्वरी विद्यालयकी भी स्थापना की गई, क्योकि माहेश्वरी विद्यालयका सम्बन्ध बिडला परिवारके पक्षके लोगोंसे समझा जाता था। अन्तमें किसी तरहसे समझौता होकर यह आन्दोलन शान्त हुआ और अब तो माहेश्वरी और अग्रवालोंके बीच सम्बन्ध होनेमें भी कोई आपत्ति नही रही।

जैसा ऊपर कहा गया है, अग्रवाल महासभाकी स्थापनाके बादसे समाजमें सामाजिक आंदोलन खूब जोर-शोरसे चले। इन सबमें श्री पद्मराजजी जैनका प्रमुख हाथ था। वे इनका संचालन किया करते थे। श्री नागरमलजी लील्हाको विधवा-विवाहके लिए तैयार किया गया और सब मित्रोने मिलकर इसका आयोजन छाजूरामजी चौधरीके मकानमें किया। सनातनियोने बड़ा हो-हुल्लड़ मचाया, किन्तु पुलिसके प्रबन्धमें विवाह निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। इस विवाहको लेकर सनातनियोमें खलबली मच गई और उन्होने पंचायत बुलाकर समाजके १२ प्रमुख सुधारक व्यक्तियोको जाति-बहिष्कृत कर दिया। इनमें एक श्री जगन्नाथजी गुप्त भी थे। इन्होने श्री बालचन्दजी मोदी आदिकी प्रेरणा से बहिष्कार करनेवालोंपर मामला भी चलाया। इससे कई दिनो तक हलचल मची रही। कुछ समय तक तो समाजमें इसकी काफी चर्चा रही और सामाजिक सम्बन्धो में भी कठिनाई आने लगी। किन्तु लोग इससे ऊब गये और बहिष्कार का कोई महत्व नही रह गया। सामाजिक सम्बन्ध फिरसे उसी प्रकार होने लगे और पंचायतका महत्व घट गया। इसके बाद तो कई मित्रोने विधवा-विवाह कर लिए, किन्तु किसीके कानपर

जूँ तक नही रेंगी। अब तो समाजमें विधवा-विवाहका कोई प्रश्न ही नही रह गया।

विधवा-विवाहके आन्दोलनके साथ-साथ कई अन्य आन्दोलन भी समाजमें चलते रहे। इनमें मृतक बिरादरी-भोजको बन्द करनेका आन्दोलन एक प्रमुख आन्दोलन था। इसके लिए नवयुवकोको स्थान-स्थानपर सत्याग्रह तक करनेपडे। उनपर जूठी पत्तलें डाली गईं। किन्तु अन्तमें सफलता मिली। आज मृतक बिरादरी-भोजका कोई महत्व नही रहा और प्राय बन्द ही हो गया।

इसी प्रकार वृद्ध-विवाहोके विरुद्ध भी आन्दोलन किया गया। इन विवाहोको रोकनेके लिए समाजके कार्यकर्त्ता अन्य स्थानोमे भी गये और ऐसे विवाहोको रोकनेकी काफी चेष्टा की। एक लडकीका तो एक वृद्धसे विवाह रोककर एक नवयुवक से करवा दिया गया। बाल-विवाहका कानून बनानेके लिये पहला बिल श्री रंगलालजी जाजोदियाने दिल्लीकी विधान-सभामें उपसियत किया था। किन्तु उन्हें सफलता न मिली और श्री हरविलासजी शारदाका बिल पास हुआ। मारवाडी एसोसियेशनने इसके विरुद्ध में तार दिया था। इधर मारवाडी ट्रेडर्स एसोसिएशनकी ओरसे इसके पक्षमें तार दिया गया। असलमें मारवाडी ट्रेड्स एसोसिएशनकी स्थापना मारवाडी एसोसिएशनके कार्योंके प्रतिवादमें ही हुई थी। उसने मारवाडी एसोसिएशनको विधान-सभामें जो सदस्यता मिली थी, उसका समय-समयपर प्रतिवाद भी किया और सरकारको बतलाया कि मारवाडी एसोसिएशन समस्त मारवाडी समाजकी प्रतिनिधि सस्था नही है।

समाजमें परदा-निवारक आन्दोलनको प्रगति देनेके लिये देवोत्थान एकादशीके दिन कई वर्षो तक परदा-निवारक दिवस मनाये गए। मारवाडी कार्यकत्ता सम्मेलन, जिसमें प्रमुख हाथ श्री बसतलालजी मुरारकाका था, के तत्वावधानमें परदा निवारक सम्मेलन कलकत्तेमें श्रीमती राधादेवीजी गोयन्काकी अध्यक्षतामें बडी धूमधामसे मनाया गया।

इस प्रकार हम देखते है कि उक्त आन्दोलनोके द्वारा ऐसा वातावरण तैयार हो गया, जिससे समाजकी सारी कुरीतियाँ पूर्णत तो बन्द नही हुईं, किन्तु विचारोकी चेतना आ गई। इन सभी आन्दोलनो में श्री बसन्तलाल मुरारकाका प्राय सहयोग रहा।

——·०० ——

हमराही

श्री रामकुमार भुवालका

लगभग ४० वर्ष पहलेकी वात है। उस समय सामाजिक सुधारोकी वहुत जरूरत थी। मारवाडी ट्रेड्स एसोसिएशन का जन्म मारवाड़ी एसोसिएशनके विरोधमें हुआ था। उसी समय से कुछ पहले या वादमें मेरी जान-पहचान स्वर्गीय वसन्तलालजीसे हुई। निर्भीकता, उदारता और नई चेतनाकी भावना उनके प्रत्येक कार्यमें दीखती थी। उस समय सभी कार्योका सम्पादन करनेमें कार्यकर्त्ताओमें इतना मेल था कि परस्पर कोई किसी से भिन्न नही था। गाँधीजीके असहयोग आन्दोलनने देशमें एक नया जोश पैदा कर दिया था। उसमें तथा अन्य राजनीतिक आन्दोलनोमें श्री वसन्तलालजी वरावर सक्रिय रूपसे भाग लेते रहे। इस लम्वी अवधि में वे एक ही ढंग से देश-सेवाके कार्यो में जुटे रहे। उनके इन कार्योसे हम लोगोको प्रेरणा मिलती रहती थी। वे जव १९२१ में जेल गए, उस समय सव वडा वाजार कांग्रेस कमेटीमें साथ-साथ थे। वे तव वड़ा वाजार कांग्रेस कमेटीके सेक्रेटरी थे।

क्या गजवका समय था वह! स्वर्गीय पद्मराजजी जैन की स्मृति आ जाती है। उनसे जो प्रेरणा साथियोको मिलती थी, वह सचमुच अद्‌भुत थी। उस समय काम करनेकी सच्ची लगन तथा संगठन वेजोड़ था। भाई वसन्तलालजी पद्मराजजीके अन्यतम साथी थे। प्रत्येक कार्यमें वे वसंतलालजीको आगे रखते थे। वे भी प्रत्येक कार्य को करनेमें फौरन अपनी स्वीकृति देते थे। वास्तवमें जो व्यक्ति निर्भीक होते है, उनमें साहसके कार्य करनेकी अद्‌भुत क्षमता रहती है। हर नई वातमें भाई वसन्तलाल जी का पहला प्रस्ताव होता—"हमें जरूर ही यह कार्य करना चाहिए।" विधवा-विवाह, छुआछूत, वाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल विवाह, दहेज, फिजूल खर्ची, विरादरी भोज सभी कार्यों में वे आगे रहते थे। १९२३ में एक साप्ताहिक पत्र 'नवयुवक मारवाड़ी' के नामसे उन्होने निकाला। उसमें ४–५ व्यक्तियोके लेख या विचार रहते थे। इसके अलावा समाजकी खामियोकी आलोचना-प्रत्यालोचना रहती थी। उन आलोचनाओसे समाजमें तहलका मच जाता था। इसमें कोई संदेह नही कि तवका जमाना आज जैसे सुलझे हुए विचारोका नही था। आज तो हर वातकी आलोचना करनेका सभीको अधिकार प्राप्त है—पर तव ऐसी वात नहीं थी।

विधवा-विवाहकी वात जव सामने आई तो सर्वप्रथम जानकी वाई का विवाह कराया गया। इसके विरुद्ध हम वारह व्यक्तियोको जाति-वहिष्कृत किया गया। सचमुच

वह समय याद करने लायक है। क्या जोश था ? किसीको खयाल ही नही होता था कि हमें जातिसे वाहर किया गया है! वास्तवमें इन वातोका श्रेय उस सगठनको है, जिसमें हम वँधे थे। मृतक विरादरी भोज आन्दोलन भी काफी सरगर्म रहा। इन सव कामोमें श्री वसतलालजी तो सवसे आगे रहते थे।

नमक-सत्याग्रहमें उन्होने काफी काम किया। जव हम लोग महेशवथान से वापस आगये, तो उनकी राय थी कि वडा वाजारमें काम करना चाहिए। एक दिन वे वोले—"रामकुमारजी, मिरजापुर पार्कमें कानून तोडनेके लिये मीटिंग करनी है, उसमें ६ आदमी चाहिए, ५ तो मिल गये है, एककी जरूरत है। मैने कहा—"मै तैयार हूँ।" वे वहुत खुश हुए। हम लोग एक घटा तक ६ आदमी मीटिंग करते रहे। उनमें यह खूवी थी कि वे जिस समयके लिए जिस कामको ठीक समझते थे, उसे करते थे। परिणाम कभी नही सोचते थे—इसीसे काम वहुत हुआ। जो व्यक्ति परिणाम सोचकर काम करता है, वह काम कर ही नही पाता। वास्तवमें उत्साहसे आधा काम तो आरभ में ही हो जाता है। काम करनेवाले कभी परिणाम थोडे ही सोचा करते है।

उन्होने समाजमें स्त्रियोके परदा न रहे, इसके लिए काफी आन्दोलन किया—दौरे किए जिनमें कई जगह वसतलालजीपर लोगोने धूल फेंकी कीचड फेंका, अपशब्दोका तो कहना ही क्या—लेकिन उनको तो कामकी लगन थी! क्रोध करना या नाराज होना तो जैसे वे जानते ही नही थे। भला-वुरा कहना, वह हँस कर टाल देते। तभी वहुतसे भाई विचारोसे सहमत न होते हुए भी उनसे प्रेम करते थे। आधी रातको भी अगर किसीने जाकर उनसे कह दिया—वसन्तलालजी यह काम है, उसी समय उसके साथ जाकर वे काम कर देते।

राजनीतिक विचारोमें मतैक्य होना मुश्किल है। लेकिन उनमें यह खूवी थी। वह इस ढगसे वात करते कि भिन्न विचार वालेको यह पता ही नही चलता कि वे भिन्न विचारके है। काम करने और करानेकी क्षमता उनमें काफी थी। विशेषकर वगालमें तो वे इतने ज्यादा जनप्रिय हो गए थे कि हर वगाली भाई उनका नाम आते ही कह देता था—"तिनि तो आमादेर।" इधर करीव ७–८ वर्षसे मेरा-उनका साथ इतना अधिक था कि कोई भी काम हम दोनो मिलकर ही करनेकी कोशिश करते थे। आज वह हमारे वीचमें नही है, लेकिन उनकी स्मृति इतनी ताजी है कि प्रत्येक काममें वह याद आते रहते है। मै वरावर उनकी याद कर सोचता हूँ ऐसे साथीके चले जानेपर मनपर कितना असर पडता है और असर भी ऐसा जो भुलाया न जा सके। मेरे हृदयसे तो उनका स्थान हट ही नही सकता। उनकी वीमारीके समय भी वरावर उनसे वातें होती रहती थी। कभी-भी उनके मनपर कमजोरीके लक्षण नही देखे। हमेशा प्रसन्न-चित्त रहे।

—— ०० ——

दृढ़व्रती वसन्तलालजी

श्री राधाकृष्ण नेवटिया

श्री वसन्तलालजी मुरारकासे मेरा प्रथम परिचय मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसिएशनमें हुआ था। उसमें श्री वसन्तलालजीका प्रभावशाली सहयोग था और मैं भी उनके कार्य-कलापोंमें भाग लेता था।

ट्रेड्स एसोसिएशनके साथ एक डिबेटिंग सोसाइटी भी थी जिसमें समाज-सुधार सम्बन्धी विषयोंपर वाद-विवाद होता था। इन सोसाइटीमें वसन्तलालजी बराबर भाग लेते थे। उनकी जबान जरा तुतलाती थी, इसलिये उनके बोलते समय कभी कभी लोग हँसते और उन्हें निरुत्साहित करनेकी चेष्टा करते थे, परन्तु वसन्तलालजी अपनी धुनके इतने पक्के थे कि इन बातोंकी परवाह न कर बराबर उसमें भाग लेते थे। इसी अभ्यासके बलपर वे आगे चलकर बड़ी-बड़ी सभाओंमें भी भाषण देकर उपस्थित जनतापर अपना प्रभाव छोड़ते थे।

ट्रेड्स एसोसियेशन द्वारा कंगालोंको भोजन कराना, गंगासागरके मेलेके अवसरपर यात्रियोंकी मदद करना आदि सेवा-कार्य भी किए जाते थे। इन सब कामोंमें भी वसन्तलाल जी उत्साहपूर्वक भाग लेते थे। समाज-सुधारकी अन्य अनेक प्रकारकी हलचलोंमें भी उनका सहयोग बराबर मिलता ही था।

ट्रेड्स एसोसिएशनके अन्तर्गत चुने हुए कुछ मित्रोंकी एक मित्र-मण्डली भी थी। इसमें श्री फूलचन्द चौधरी, श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, श्री वसन्तलाल मुरारका, श्री पद्मराज जैन, आदि महानुभाव योग देते थे। जो काम करना होता, वह पहले इस मित्र-मण्डली में स्वीकृत कर लिया जाता था। उसके बाद ट्रेड्स एसोसियेशनके द्वारा उसे कार्यान्वित किया जाता था। उसके सदस्योंके लिए कुछ शर्तें थीं। उनमें मुख्य बातें थी :—प्रत्येक सदस्य रोज कुछ न कुछ स्वाध्याय करे, जो काम जिसे सौंपा जाय उसे वह अवश्य करे। मित्र-मंडलीमें दस-बारह आदमी ही थे परन्तु ऐसा संगठन था कि बड़ी-बड़ी सभाओंमें अपने पक्षका समर्थन करवानेमें हम लोग सफल हो जाते थे। सभाके विभिन्न कोनोंमें बैठकर जहाँ हम सब लोग समर्थन के लिये अलग-अलग आवाजें उठाते थे, वहाँ सारी सभा उसीका अनुभव करने लग जाती थी।

समाजमें सबसे पहले जो विधवा-विवाह कराया गया, वह भी इस मित्र-मण्डलीके प्रयत्नसे ही हुआ। इसमें वसन्तलालजीने बड़ा सक्रिय सहयोग दिया। श्री बालकृष्ण मोहता हवड़ासे एक विधवा बहनको लाये जिसके पुनर्विवाहके लिए झरियाके श्री नागरमल

लील्हाको तैयार किया गया । सर्वप्रथम उस विधवा बहनको मेरे ही घरपर लाया गया था और यहीपर उसके विवाहकी बात तय हुई थी । उसके वाद उसे श्री छाजूराम चौधरीके यहाँ रखा गया और वहीपर उसका पुनर्विवाह कराया गया ।

वसन्तलालजी समाज-सुधारके साथ राजनीतिक कार्योमें भी अगुआ रहते थे । पहले लाला लाजपतरायके लोक-सेवक सघके प्रति उनका विशेप आकर्पण था । जव उन्होने कुछ रुपये कमाये, तव मुझे रु० १०,०००) इसलिये दिए कि ये रुपये लोक-सेवक सघको देकर उसकी ओर से कुछ समाज-सेवक युवक तैयार किये जायें, जो कलकत्तामे रहकर काम करें । यह रुपया कई महीनो तक वैकमें पडा रहा, परन्तु मेरे अपने आलस्य के कारण यह काम हो नही पाया और रुपया वसन्तलालजीको वापस कर दिया गया । वादमें तो वे कॉंग्रेसके अन्यतम अनुयायी हो गये थे ।

जव श्री शरत्चन्द्र वोस जेलसे छूटकर आये, तव उनका स्वागत किया गया और उन्हें १,११,१०१) रुपये की थैली भेंट की गयी । इस धन-सग्रहमें वसन्तलालजीने वडा काम किया था । मैं भी उनके साथ था । थैली भेंट करते समय वसन्तलालजीने शरत् वावूसे यह कहा था कि मैं तभी तक आपके साथ हूँ, जव तक आप काग्रेसमें है । यदि आप काग्रेससे अलग हो जायेंगें, तो मैं आपके साथ न रहूँगा । उस समय शरत्वावूका वगालमें काफी प्रभाव था । साधारण अवस्थामें लोग उनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये इस प्रकार की वात करनेका साहस न करते, परन्तु वसतलालजी वडे निर्भीक आदमी थे । उन्होने काग्रेसको किसी भी व्यक्तिसे ऊँचा मानकर शरत् वावूसे ऊपरोक्त बातें कही थी । इतना ही नही, जव शरत्वावू काग्रेससे अलग हो गए, तव उनके घर जाकर वसतलालजीने यह कहा कि अव हम आपका साथ नही दे सकते । जिस प्रातमें रहकर काम करना था, उसके एक प्रभावगाली नेतासे इस प्रकारकी वाते करना जलमें रहकर मगरसे वैर करने जैसा था । मगर वसन्तलालजी परिणामोकी जरा भी परवाह किये विना स्पष्ट रूपसे सव-कुछ कह आये ।

मारवाडी समाजमें समाज-सुधारका काम अग्रवाल महासभाकी स्थापनाके साथ हुआ । श्री जमनालालजी वजाजकी प्रेरणासे इस महासभाका जन्म हुआ था । वसन्तलाल जीका आरम्भसे ही इसमें वड़ा सहयोग था । जिन लोगोने समाज-सुधारके कामोमें सहयोग दिया, उनमेंसे अनेक व्यक्ति समाजका विरोध सह सकनेमें असमर्थ होकर कार्य-विरत हो गये, परन्तु वसन्तलालजी अपने व्रतसे कभी विचलित नही हुये । उन्होने 'परोपदेशे पाण्डित्य' का भी प्रयोग नही किया । जिस वातको उन्होने अच्छा समझा, उसीको अपनानेके लिए समाजमें आन्दोलन किया और जो आन्दोलन किया, उसे अपने ऊपर भी लागू किया । अपने परिवारसे उन्होने पर्दा हटाया, अपने लडकोके अन्तर्जातीय और विधवा-विवाह किये । अपनी कन्याका विवाह सयानी उम्रमें किया, यद्यपि इन सवके लिये उन्हें समाजका, और स्वय अपने परिवारका वडा विरोध सहना पडा था ।

वसतलालजी जैसे दृढव्रती वहुत कम मिलते है । उनकी निर्भीकता, लोकसेवा, समाज-सुधारकी भावना, देशभक्ति, सादगी आदि सभी वातें अनुकरणीय थी । उनका निधन देशके लिए एक वहुत वडी क्षति है ।

कार्यकर्ताओंके शुभचिन्तक

श्री विश्वनाथ उपाध्याय

जब मुझे श्री वसंतलालजीकी याद आती है, तो सोचने लगता हूँ यदि वसन्तलालजी न रहे होते तो पता नही मेरे जीवनकी दिशा क्या हुई होती ?

सन् १९४१ की बात है । हाई स्कूलकी परीक्षा पास करनेके बाद मेरे सामने एक विकट समस्या उपस्थित थी । एक तरफ मेरे परिवारके लोगो तथा मेरे परम हितैषी श्री रामलखनजीका, जिनका मेरी शिक्षामें अधिक हाथ था, आग्रह था कि मैं नौकरी पकड़ कर परिवारकी आर्थिक स्थितिको ठीक करूँ और दूसरी तरफ अपनी शिक्षाका क्रम जारी रखनेकी मेरे हृदयमें प्रवल इच्छा थी ।

श्री रामलखनसिंह एक चाय-बगानमें सहायक मैनेजर थे और उन्होने उसी बगानमें मेरे लिए एक क्लर्ककी जगह ठीक करदी और मुझे यह भी बताया कि निकट भविष्यमें ही मैं हेडक्लर्ककी जगहपर नियुक्त कर लिया जाऊँगा । निवास-स्थान, नौकर तथा चाय-बगानोमें मिलनेवाली अन्य सभी सुविधाएँ मिलाकर मुझे करीव-करीव ३००) मिलने-वाले थे ।

परन्तु मै अपने निश्चयपर दृढ़ रहा । इससे मेरे परिवारवालोको काफी दुख हुआ और उन्होने मुझसे यह स्पष्ट कह दिया कि भविष्यमें मेरी शिक्षाके लिए किसी प्रकारकी सहायता नही दी जायगी ।

निम्नलिखित कारणोसे चाय-बगानकी नौकरी मेरे अनुकूल नही पड रही थी—पहला, वहाँ शिक्षाका क्रम जारी रखनेका कोई साधन नही था ; कोल्हूके बैलकी हालत थी ; दुनियाकी सारी हलचलोसे दूर एक ही स्थानपर जीवन पर्यन्त कलम घिसनेकी बात थी ! दूसरा, मैं बचपनसे ही राष्ट्रीय विचारोका था, जिसके लिए चाय बगानका वातावरण किसी प्रकार अनुकूल नही था ; एक अंग्रेज मैनेजर यह कैसे वर्दाश्त कर सकता था कि राष्ट्रीय विचार रखने तथा खादी पहननेवाला व्यक्ति उसके दफ्तरमें काम करे , मेरा पूरा विश्वास था कि वहाँपर मेरी अधिक दिनो तक नही निभ सकती थी । ऐसी परिस्थितिमें मेरे हृदयमें एक अन्तर्द्वन्द चल रहा था ।

इस समय सिलचरमें एक हिन्दी-प्रचारकसे मेरी भेंट हुई और उन्होने श्री वसंत-लालजीकी प्रशंसा करते हुए उनके नाम एक पत्र भेजनेका मुझे परामर्श दिया । मैंने किसी प्रकारकी आशा न रखते हुए केवल उनके पते पर एक पत्र भेज दिया । उस समय तो मेरे आश्चर्य और आनन्दकी सीमा नही रही जब मुझे शीघ्र ही उनका उत्साहवर्द्धक

पत्र मिला। उन्होने सूचित किया कि मेरा पत्र पूर्व भारत राष्ट्रभाषा प्रचार सभाके मन्त्री श्री भँवरमलजी सिंघीको भेज दिया गया है। कुछ ही दिनोके वाद श्री भँवरमलजी सिंघीका भी पत्र आ पहुँचा।

इसके वाद श्री सिंघीजी के पास मैं कलकत्तेमें करीव १० वर्षो तक रहा। और इस अवधिमें कई ऐसे मित्रोके सम्पर्कमें आया, जिनमे मेरा पारिवारिक सदस्यका-सा सम्वन्ध स्थापित हो गया। कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि वसन्तलालजीने कृपा न की होती, तो क्या यह सभव हुआ होता?

जवतक मैं कलकत्तेमे रहा, श्री वसन्तलालजीके सम्पर्कमें रहा और जव उन्होने "नव जीवन सघ" की स्थापना की तव तो मुझे और भी उनके निकट सम्पर्कमें आनेका मौका मिला। एक प्रकारसे मैं उनके प्राइवेट सेक्रेटरीके रूपमें ही काम करने लग गया। वे प्राय मुझसे देशके विभिन्न समाज-सेवको, नेताओ तथा कार्य-कर्ताओके नाम पत्र लिखवाया करते। कभी-कभी मैं मन ही मन उनकी भाषापर हँसता, पर उनकी भावनाओके प्रति मेरी श्रद्धा अवश्य रहती।

इसके अतिरिक्त एक घटना मैं नही भूल सकूँगा। एक वार मैं अस्वस्थ हो गया। १२०, हरिसन रोडके ऊपरी तल्लेपर फर्शपर ही विस्तर डालकर लेटा हुआ था। वसत-लालजी मेरी अस्वस्थताकी खवर पाकर विना किसी पूर्व सूचनाके मेरे कमरेमें आ उपस्थित हुए और उसी विस्तरपर वैठकर करीव दो घटे तक मुझसे वातें करते रहे। उस दिन मुझे पता चला कि कार्यकर्ताओके प्रति उनके हृदयमें कितनी ममता थी। वास्तवमें, वे कार्यकर्त्ताओके वहुत वडे सहायक तथा शुभचिन्तक थे।

हिमालय की तरह दृढ़

श्री जगन्नाथ प्रसाद जालान

देशका शायद ही कोई ऐसा नगर या ग्राम होगा जहाँ पर समाज-सुधार के लिए कोई आयोजन हुआ हो और उसमे श्री मुरारकाजीकी अनुपस्थिति पाई गई हो। इसी प्रकार स्वाधीनता-सग्रामके इतिहासमें कांग्रेस द्वारा जो भी प्रयास या आयोजन हुए, श्री मुरारकाजी हर स्थितिमें उसमें अपना योगदान देते रहे। अपने विचारो एव उद्देश्योके प्रति तो वे सदा ही हिमालयकी तरह दृढ पाए गए। सामाजिक लाँछना, कटु आलोचना एव शारीरिक प्रहार भी उन्हें कभी अपने पथसे विचलित नही कर पाए।

श्री मुरारकाजीका जीवन नि सन्देह महान एवं आगामी पीढ़ीके लिए प्रेरणादायक रहेगा।

का भी पूरा सहयोग रहा है। हमारे सब साथियोंमें भाई वसतलालजीका उत्साह वहुत कुछ काम करता था।

ज्ञान-वर्द्धिनी मित्र-मडलीके वाद मारवाडी अग्रवाल महासभाका वहुत काम हुआ। भाई वसन्तलालजी इसके जेनरल सेक्रेटरी थे। मैं सेक्रेटरी था। वाल-वृद्ध-अनमेल विवाह वन्द करना, विरादरी-भोज वन्द करना, परदा-प्रथा उठाना, विधवा-विवाह चालू करना, शिक्षा-प्रचार, हिन्दी-प्रचार आदि कामोको हमारे ऊपरोक्त साथियोने वहुत कुछ आगे वढाया। इसके वाद हिन्दू सभा और स्वराज्य आन्दोलनका भी वहुत जोरदार काम हुआ। भाई वसन्तलालजी हर काममे सवसे आगे रहते थे। किसी समय भी पूछो—'हाँ तैयार हूँ, चलो' यह ही जवाव उनसे मिलता था। कभी आधी रात को भी यदि कोई भाई उनको किसी कामके लिए जाकर जगाते या टेलीफोन करते तो उनसे होनेवाले कामको वे तुरत जाकर करते थे। ऐसा उत्साह और ऐसी सेवा-भावना वहुत कम लोगोमें देखी जाती हैं।

आजसे ४० वर्ष पहलेके समाज और आजके समाजमें रात-दिन का अन्तर है। उस समयके कार्यकर्त्ताओको घरवालोसे और वाहरवालोसे जो-जो गाली-गलोज सुनना पडता था, और जो-जो तकलीफें उठानी पडती थी, उनका अनुभव आजकी पीढीवालोको नही हो सकता। पगडी और दुपट्टा विना का पुरुष, घाघरा-ओढ़ना और घूंघट विनाकी स्त्रीका उस समय समाजमें कोई आदर-मान नही था। सनातनधर्मी नामधारियोके मुँहसे उस समय जो निकल गया, वही व्रह्म-वाक्य समझा जाता था। सामाजिक सुधारके कामोके लिए जहाँ भी जाना पडा, सत्याग्रह करना पड़ा, पिकेटिंग करनी पडी वहाँ सव जगह भाई वसतलालजी आगे रहे। स्वतंत्रता-सग्राममें महात्मा गाँधीकी आज्ञाओंको स्वयं परमात्माकी आज्ञा मानते हुए उन्होने वरावर काम किया और कई वार वे जेल गए। स्वतत्रता-सग्राममें घरवालोसे, जातिवालोसे और समाजवालोसे जो-जो दुर्वचन उनको सुनने पडे, उनको उन्होने शान्तिपूर्वक सुना। गालियोके सिवाय जूठी पत्तलें, धूल और लाठियाँ भी उनपर पडी, परन्तु वे कभी विचलित नही हुए। हमेशा हँसमुख रहे। मुझे उनका तरीका वहुत पसन्द था और सव कामोमें मैं उनके साथ रहा, केवल जेल जानेसे वचता रहा।

देशके वर्तमान वडे-वड़े नेताओके साथ उन्होने आजादी की लड़ाईमें कंधेसे कंधा भिड़ाकर काम किया—उन सवके साथ जेल गए। वे वगाल असेम्वलीके सदस्य थे। वंगालके जिस जिलेसे वे खडे हुए, वहाँ मारवाडी तो क्या हिन्दी-भापियोके भी वोट नही थे। वंगाली भाइयोके वोटों द्वारा उन्होने निर्वाचनमें सफलता प्राप्त की, यह वहुत गौरवकी वात थी।

अन्तमें मैं इतना ही कहूँगा कि भाई वसंतलालजी मुरारका देश और समाजके ऐसे सच्चे कार्यकर्त्ता थे, जिनका रिक्त स्थान हमे एक कमी महसूस कराता रहेगा।

—:००:—

युवक-कर्मी मुरारकाजी

श्री रामेश्वर अग्रवाल

प्रसिद्ध समाजसेवी और राष्ट्रकर्मी श्री वसन्तलालजी मुरारकाकी समाज-सेवा राजस्थानके समाज-सेवाके इतिहासमें चिरस्थायी रहेगी। भाई वसन्तलालजीने जयपुर राज्य प्रदेश सम्मेलन, रीगसके अवसरपर जिस निर्भीकता और उत्साहसे हम लोगोका मार्ग-दर्शन किया, वह आज भी हमे याद है। मैंने अजमेर जेलसे आनेपर ऐसा सोचा कि समाज-सुधारके कामोमें लगे हुए राजस्थानियोका संगठन होना चाहिए और राजस्थानमे समाज-सुधारका काम तेजीसे किया जाना चाहिए। इस काममें वडी कठिनाई आई। जयपुर राज्यमें सभाओपर और सस्थाओके सगठनपर कडी पावन्दियाँ लगी हुई थी जिसके अलावा पुराने रूढिवादी लोगोसे काफी विरोध सहना पडता था और ९९ प्रतिशत से भी ज्यादा ऐसे ही विचारोके लोगोका वोलवाला था। मुट्ठी-भर लोग इधर-उधर फैले पडे थे। उन्हें मजबूर होकर उसी परिस्थितिको सहन करना पडता था। इस सवका मुकावला करनेके लिए ही जयपुर राज्यमें एक युवक-सम्मेलन खडा करनेका विचार किया गया और इस काममें भाई वसन्तलालजी मुरारकाका उत्साहप्रद सहयोग मिला और उन्होने उस सम्मेलनकी अध्यक्षता स्वीकार कर ली। इस काममें जयपुर राज्य, सीकर ठिकाने और समाज—इन इन तीनो तरफसे ही काफी वाधाएँ खडी की गई। गाँवके लोगोने सम्मेलनका वहिष्कार करनेका फैसला किया और ऐन वक्तपर सामान मिलने व रसोई करनेवालोकी भी समस्या उठ खडी हुई। सारी परिस्थितियोका साहसके साथ सामना किया गया और भाई वसन्तलालजीने काफी हिम्मत वँधाई और कहा कि कोई परवाह नही है, चने-गुड खाकर भी हम लोगोको सम्मेलनको सफल करना है। राजस्थानके कोने-कोनेसे प्रमुख लोग इसमें आए और सम्मेलन आशातीत सफलताके साथ सम्पन्न हुआ। इस तरहके और भी कई प्रसग है, जिनमें भाई वसतलालजीकी दृढता, साहस और निष्ठासे समाज-सुधारके कामोको वल मिला।

—०—

श्रद्धेय मुरारकाजी

श्री बजरंगलाल लाठ

वैसे तो वचपनसे ही मैं भाई वसन्तलालजी को जानता रहा हूँ, पर सन् १९३१ के आन्दोलनमें सबसे पहले उनको देखा। मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटीकी कार्य-कारिणी समितिका सदस्य चुने जानेके वाद मुझे उनके साथ काम करने का भी मौका मिला। पिछले एक दशकसे तो मैं उनसे काफी घुल-मिल गया था। वे मुझे छोटे भाईकी तरह स्नेह करते थे, और सामाजिक तथा राजनीतिक वातोंके अलावा घरेलू बातो में भी मुझसे कोई दुराव नही रखते। मेरी इच्छा थी कि मैं उनके साथ राजनोतिक क्षेत्रमें काम करूँ और वे भी ऐसा ही चाहते थे, किन्तु ऐसा कुछ हो नही सका। मैं उनके साथ तेज़ रफ्तारसे दौड़ नही सका। इस दिशामें मैंने अपनेको कमज़ोर पाया। तो ऐसे समाज-सेवक और देशभक्तके वारेमें मैं कुछ लिखूं, यह मेरे लिए गौरवकी वात है।

मुरारकाजीमें काम करनेकी अद्‌भुत शक्ति थी। उनका जोश भी गज़बका था। निराशा तो जैसे जीवनमें उन्होंने देखी ही नही थी। "काम करते जाओ" "आगे वढ़ते जाओ"—गीताके इन प्रेरणादायक विचारोंसे वे सहमत थे और इन्ही सिद्धान्तोको अपने जीवनमें उतारना भी चाहते थे। जव किसी कामको लेकर सोसाइटीके कार्योंमें शिथिलता झलकती, तो मुरारकाजी अपने विचारोंसे स्फूर्त्ति पैदा कर देते और हम लोग दूने उत्साह से काममें जुट जाते।

क्रोधपर तो जैसे उन्होंने कमालका अधिकार पा लिया था। विरोधी चाहे जो कुछ भी उन्हें कहते, उनके चेहरेपर द्वेषके या क्रोधके भाव परिलक्षित नहीं होते। यही स्थिति होती है जहाँ व्यक्तिके व्यक्तित्वको निखार पानेका और समझनेका अवसर मिलता है। उनकी प्रसन्नमुद्रा और हँसकर टाल देनेकी आदत विरोधियोको पराजित कर देती। ऐसे वक्तमे दूसरा आदमी स्थितिको कावूमें नही कर पा सकता है, और वात वनते-वनते विगड़-सी जाती है। इस प्रकारकी आदतको विशेष गुण कहना चाहिए। इसी सम्वन्धकी एक घटनाका वर्णन करनेका लोभ मैं संवरण नही कर सकता। वात विहार प्रान्तीय मारवाड़ी सम्मेलनके राँची अधिवेशनकी है। सम्मेलनमें सामाजिक सुधार सम्वन्धी क्रांतिकी वात नवयुवकोसे करनेपर विरोधियोने 'मुरारका मुरदावाद' के नारे लगाने शुरू किए। स्थिति गभीर हो गई। वादमें मुरारकाजीने अपनी वाकचातुरी के ज़रिए स्थितिको कावूमें किया। विरोधियोको शान्तिपूर्ण ढगसे समझाया और कमाल की वात है कि जो व्यक्ति 'मुरारका मुर्दावाद' के नारे लगा रहे थे, वे ही सहर्ष 'मुरारका

जिन्दावाद' के नारे लगाने लगे। इस घटनाको मामूली कहा जा सकता है, किन्तु इसमें निहित गूढ रहस्य को अगर देखा और समझा जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि मुरारकाजीका व्यक्तित्व अद्वितीय था।

अन्तमें यही कहना होगा कि मुरारकाजीके निधनसे समाज और देशका एक सच्चा सेवक चला गया, जिसके स्थानकी पूर्त्ति सम्भव नही। उन्होने देश और समाजके बडे कामोंके समक्ष अपने निजी तुच्छ स्वार्थोंको प्रमुखता नही दी। अनेको बार देशके लिए जेल गए—समाजसे वहिष्कृत हुए, पर एक सच्चे कार्यकर्ताके रूपमें नए समाजका निर्माण करते गए—आगे वढते गए।

क्रांति-प्रेरक श्री वसंतलालजी

श्री काशीप्रसाद मोदी

जब मैं लगभग वीस वर्ष पहले कालेजमें अध्ययन करनेके लिए कलकत्ता आया, तो श्री मुरारकाजीसे व्यक्तिगत परिचयका सुअवसर मिला। इन २० वर्षोंमे जैसे-जैसे उनकी नि स्वार्थ सेवाओके प्रत्यक्ष उदाहरण सामने आए, वैसे-वैसे उनके प्रति श्रद्धा वढती गयी। जब कभी मुरारकाजीको किसी कार्यके लिए किसीने भी अनुरोध किया, विना व्यक्तिगत असुविधाओका ख्याल किए वे उस के कार्य में जुट गए। अस्वस्थ होते हुए भी उनका ध्यान दूसरोकी भलाईकी ओर ही लगा रहता था। यहाँ तक कि ववई से ऑपरेशन कराने के वाद कलकत्ता वापस आने पर भी और अस्वस्थ होते हुए भी वे कई वार कई लोगोके मकानोपर उनके पारिवारिक झगडो को मिटानेके लिए गए।

समाजमें और देशमें सार्वजनिक कार्यकर्त्ता और सुधारक वहुत विद्यमान है किन्तु वसंतलालजीकी कोटिके प्रगतिशील भी न केवल विचारमे वल्कि उसे कार्य रूपमें परिणत करने में इनेगिने ही मिलेंगे। सामाजिक सुधारके विचारोको अपने परिवारमें सर्वप्रथम उन्होंने कार्य रूपमें परिणत कर जनताके सामने पथ-प्रदर्शन किया। सौभाग्य से रमादेवीजी जैसी पत्नी भी सच्चे रूपमें सहधर्मिणी एव सहकर्मिणी उन्हें मिली। उनकी कार्यक्षमता और साहससे जो उनके निकट आए है, वे भली भाँति परिचित है।

अंतमें, श्री वसंतलालजीके निम्न शब्द मेरे कानोमें हमेशा गूँजते रहेंगे—देशके नवनिर्माण के लिए पुरातनवादका ध्वस करना आवश्यक है।

मुरारकाजी और उनका व्यक्तित्व

श्री श्यामदेव देवड़ा

भाई मुरारकाजी और मेरा करीब ४० वर्षोंका संग-साथ रहा। उन्होंने मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसियेशन नामकी संस्थाका कार्य-भार सभाल रखा था और उसीके द्वारा सामाजिक सेवा-कार्य किया करते थे। मैं भी उस संस्थाका एक सदस्य था और उनके साथ ही कार्य करता था। उनमें सुधारकी भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी।

भाई बसन्तलालजीके जीवनकी उन दो घटनाओंको मैं नहीं भूल सकता, जिनमें एक साधारण होते हुए भी व्यक्तिके चरित्रको उभारनेमें काफी सबल है और दूसरी तो व्यक्ति के सारे व्यक्तित्वको उभारकर एकबारगी सामने रख देती है और उसका चरित्र सूने पन्नोंके सदृश हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाता है।

सन् १९२५ की बात है। खिलाफत-आन्दोलन जोरोंसे चल रहा था और हिन्दू-मुस्लिम एकताकी आवाज चारों तरफ से आ रही थी। ऐसे समयमें श्री बसन्तलालजीके छोटे भाई श्री शुभकरणजी मुरारकाका विवाह होना तय हुआ। आपने अपने घरमें यह प्रस्ताव रखा कि विवाहमें जैसे बिरादरीवालोंको भोजन कराया जायगा, वैसे ही कुछ मुस्लिम भाइयोंको भी भोजन कराया जायगा। ऐसा सुनना था कि घरवाले एवं आपके संबंधी सख्त नाराज हो गए और उनकी बात माननेसे एकदम इनकार कर दिया। मगर मुरारकाजी थे, जो अपनी बातपर दृढ रहे। इन्होंने साफ कह दिया कि या तो, मैं विवाहमें सम्मिलित ही नहीं होऊँगा या मुसलिम भाइयोंको भी विवाहमें उसी तरहसे उसी सम्मानसे भोजन कराना पड़ेगा, जिस तरह अपने भाई-बंधु करेंगे।

ऐसी कार्यवाही न इसके पहिले कभी हुई थी और न शायद बादमें ही हुई। बड़ी कहा-सुनी और वाद-विवादके बाद मुरारकाजीकी बात सोलह आना मान ली गई और करीब १०० मुसलिम भाइयोंको भोजन के लिये आमन्त्रित किया गया। उनको बड़े प्रेमसे भोजन कराया गया। लोगोंको यह देखकर आश्चर्य हो रहा था और सब मुरारकाजी की दृढ़ताकी तारीफ कर रहे थे।

जब भोजनके बाद उनकी जूठी पत्तलें उठानेका सवाल आया, तो जितने नौकर थे, उन्होंने पत्तलें उठानेसे इंकार कर दिया। बड़ी कठिन समस्या उत्पन्न हुई, मगर मुरारका जी इससे बिल्कुल नहीं घबराए। उन्होंने अपने मित्रोंको अपना साथ देनेके लिए आह्वान किया। सभी मित्र तुरन्त तैयार हो गए और सबने मिलकर जूठी पत्तलें उठाना आरंभ कर दिया। पत्तलें उठाकर चौकियोंको, जिनपर बैठकर उन्होंने भोजन किया था,

धोकर साफ कर दिया। ऐसा साहस मैंने भाई मुरारकाजी ही में देखा, यद्यपि वात सुनी वहुतोसे हैं।

दूसरी घटना सन् १९२२ की है। स्व० सेठ जमनालालजी वजाजने वर्धामें अग्रवाल महासभाके प्रथम अधिवेशनकी तैयारियाँ आरम्भ कर दी थी। उन्होने कलकत्तेसे कुछ कार्यकर्त्ता माँगे थे। हम लोग चार मित्र कलकत्तासे वर्धाके लिये रवाना हुए—वसन्तलालजी मुरारका, नर्मदाप्रसादजी लाठ, वासुदेवजी सराफ और मैं।

उस समय वर्धाकी तरफ वडे जोरोसे इन्फ्लुएन्जा फैल रहा था। ऐसा कोई ग्राम नही था, जहाँ रोज़ाना दो-चार व्यक्ति मृत्युके ग्रास न होते हो। लोग अपने घर छोड़-छोडकर दूसरी जगह भाग रहेथे। गाँवके गाँव खाली हो रहे थे। ऐसे समयमें महासभाका अधिवेशन वर्धामें करना और लोगोको वाहरसे वुलाकर वहाँ इकट्ठा करना सेठजीको नही जँचा और उन्होने महासभाका वह अधिवेशन स्थगित कर दिया। पर हम लोग रवाना हो चुके थे। वर्धा पहुँचतेही हम सेठजीसे मिले। वे वहुत खुश हुए और वोले—"भाई, वडे जोरोसे इन्फ्लुएजा फैला हुआ है, इसलिए हमने महासभाका अधिवेशन स्थगित कर दिया हैं। पर आप लोग जव इधर आ ही गए हो, तो इस यात्राका लाभ उठाना चाहिये। यहाँसे पासही एलोराकी गुफाएँ हैं—वह देखने लायक ऐतिहासिक स्थान है। उसे देखते जाओ।" उन्होने वहाँ जानेकी हमारी पूरी व्यवस्था कर दी और साथमें पाँच सेर भुने हुए चने और दे दिये और कहा कि जहाँ जरुरत हो, यही खाना। वाजारकी कोई वस्तु खरीद कर नही खाना।" हम लोग अपनी यात्रापर रवाना हुए। उस वक्त सभी नवयुवक थे—वढती हुई उमगें थी। किसी तरहका दिलमें भय नही था। वर्धासे मनमाड स्टेशन और वहाँसे गाडी वदलकर प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर अहमदनगर पहुँचे। वहाँका प्रसिद्ध दुर्ग देखा, जिसको तत्कालीन सरकारने एक वडा भारी कैदखाना वना रखा था। वहाँसे ताँगा भाडा कर रातके समय एलोरा गाँवमें पहुँचे। वहाँ वीमारीके कारण पूरी अशान्ति छाई हुई थी। रात-भर रहनेके लिए कोई सुन्दर स्वच्छ स्थान की खोज की गई, मगर एक पडाजीके घरके सिवाय कोई स्थान नही मिला। पडाजी घरके भीतर स्वय रहते थे, इसलिये हमें सिर्फ वाहरका स्थान ही रात वितानेको मिला। खानेके लिये सेठजीके भूने चने खाकर कुँएँका ठण्डा पानी पिया। अब हमारे सामने एक वडी समस्या खडी हो गई। हम लोग उस छोटी सी जगहको वन्द कर सोना नही चाहते थे। हमें दम घुटकर मरजानेका भय था। नई जगह थी, दरवाजा खुला रखना भी खतरेसे खाली नही था। अतएव यह निश्चय हुआ कि हर एक आदमी रातको दो घटे पहरे पर रहे। वाकी लोग सोवें। तदनुसार पहरा दिया गया और किसी तरह रात विताई गई। भाई वसतलालजीने इस सारी व्यवस्थामें वहुत ही प्रसन्नताका परिचय दिया। वे वहुत ही साहसी और वीर पुरुष थे, आपत्तिके समय घवडाना वे नही जानते थे। उनकी सफलताओका यही सवसे वडा रहस्य था।

—o—

समाज-सेवी मुरारकाजी

श्री कनक 'मधुकर'

मै वर्षों तक श्री मुरारकाजीके बारेमें सुनता रहा और सामाजिक क्रांति सबधी उनके विचार पढता रहा। सन् १९३८–३९ में अजमेरमें भाई ऋषिदत्तजीके साथ 'राजस्थान' साप्ताहिकमे उनकी अपीलें छापने और उन्हे समझनेका अधिक अवसर मिला। उनकी लेखनी सदा हृदयको स्पर्श करनेवाली रही। उन्होंने सामाजिक कुरीतियो और रीति-रिवाजोंके प्रति सदा पुरजोर आवाज बुलन्द की।

सन् १९४४में कलकत्ताकी यात्रामे उनके निकट आनेका प्रथम सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी आत्मीयताने मुझे और भी काफी मोहा। महसूस किया कि समाज-सेवाके व्रतमें लगे इस महापुरुषमें उस मार्गपर अग्रसर होनेवाले जन-सेवकोंके प्रति कितनी ममता और अनुराग है। 'नवजीवन' की अपीलमें समाज-सेवाके उद्देश्योंके सतत प्रचारकी भावनासे उन्होने जो सहयोग दिया, वह कभी भुलाया नही जा सकता।

सन् १९४५–४६ मे वे उदयपुर पधारे और 'नवजीवन' को उसके कार्यालयमें आकर आशीर्वाद दिया। यहाँ भी वे समाज-सेवाकी भावनाको नही भूले और मेवाड़में पर्दा-प्रथाके जघन्य कोढके निवारणहेतु महिला-मडलमें उद्‌गार प्रकट किए,

सन् १९४८ में दो बार अक्टूबर और नवम्बरमें कलकत्ता जानेका फिर सौभाग्य प्राप्त हुआ और दोनो ही बार उनका पहलेसे भी अधिक सहयोग मिला।

कलकत्तामे मारवाड़ी बंधुओमें फैली दहेज, बाल-विवाह और पर्दा आदि कुरीतियोके विरुद्ध श्री मुरारकाजी और उनके साथी लोक-सेवकोने जो भीषण लोहा लिया, वह बडी प्रेरक कहानी है। दहेज प्रथा और बाल-विवाहके विरोधमें आगे आये स्वयं-सेवको और समाजसेवामें रत अनेक राष्ट्रकर्मियोकी दिलेरगी की कहानियां आज भी भुलाई नही जा सकती जिनमे मुरारकाजीका विशिष्ट स्थान है।

सभीके हृदयमें स्थान बना लिया!

श्रीमती कमलाकुमारी श्रोत्रिय

नाम लेते ही उनका हँसमुख चेहरा आँखो के सामने आ जाता है। जब कभी भी कलकत्ते आई, उनका बडे भाई का सा आत्मिस्नेह मिला। उन्होने अपनी सरलता एवं सहृदयतासे सभीके हृदयमें अपना स्थान बना लिया था। हमारा तो एक सहारा खो गया। समाजको उनके जैसे कर्मठ व्यक्तिका अभाव सदा खटकता रहे गा।

भाई वसन्तलालजी

श्री भालचन्द्र शर्मा

—हमें समाजमें क्रातिका शख फूंकना है , नवयुवको और नवयुवतियो, समाजमे क्रातिके लिये माता-पिताके विद्रोही वनो ।

—घूंघटको जवर्दस्ती हटादो, स्त्रियोकी वेप-भूपामें आवुनिक परिवर्तन करो, दहेज समाज का कोढ है ।

—लडके-लडकियोका विवाह-सवध माता-पिताको नही, वरन उन्हें स्वय करनेका अधिकार है ।

—तलाक-प्रथा समाजके लिये आवश्यक है ।

—हर चीज़में नवीनता होनी चाहिये ।

ऊपरोक्त वाक्य भाई वसतलालजीके भापण और साधारण वातचीतके सिलसिले मे अति प्रिय थे ।

सुधार और सामाजिक क्रातिकी लगन भाई वसतलालजीमें प्रारम्भसे ही थी। मेरे उनके तीस वर्पके सवधमें प्रति दिन उन्हें अवनत समाजको उन्नत वनानेकी चर्चा करते ही देखा । साथ ही कार्यकर्त्ताओको प्रोत्साहित करना, किसी नवीन कार्यक्रमकी सफलतामें सलग्न रहना उनके जीवनकी दिनचर्या थी ।

विफलतासे कभी भी अनुत्साहित न होना उनका एक विशेप गुण था । पिछले वर्पोमें रुढिग्रस्त समाजमें विधवा-विवाह, विलायत-यात्रा, परदा-प्रथा, दहेज-विरोध, तलाक आदि क्रातिकारी सुवारोका प्रचार सावारण वात नही थी । पग-पगपर विरोध और रुकावटें थी, किन्तु वसतलालजीने विरोध और वाधाओकी जरा भी परवाह न की , दृढतासे अपने मार्गपर चलते रहे । उनके क्रातिकारी विचारोके कारण उनके परिवारके लोग तथा सगे-सवधी उन्हें कई वार बुरा-भला कहते, खास अवसरोपर उनका वहिप्कार करते । किन्तु वे इससे जरा भी विचलित न होकर कहते—"अव मेरा सकल्पित सुधार शीघ्र सफल होनेवाला है, कारण मेरे सवधी सुवारोका विरोध करनेका साहस न कर केवल मेरा वहिप्कार मात्र करते है ।" समय आया; उनके जीवनमें ही उन्होने देखा—सुधारोके कट्टर विरोधी तथा कट्टरपथियोके नेताओने उका अभिनन्दन किया, सुवारोका समर्थन किया ।

भाई वसतलालजीमें कार्यकी लगनके साथ-साथ अद्वितीय सहिष्णुता थी । एक वार वे परदा-प्रथाके विरोव तथा हरिजन आन्दोलनके समर्थनमें दौरा करते हुये लक्ष्मणगढ

(शेखावाटी) पहुँचे। वहाँके कट्टरपंथियोंने उनके उद्देश्यकी भर्त्सना करते हुए बाजारमें धूल, पत्थर, कीचड फेंका, गन्दे शब्दोंको उपयोग किया। किन्तु वसन्तलालजीने प्रसन्न मुद्रामें उनके उस आतिथ्यको स्वीकार किया। उग्र सुधारकके नाते उन्हें विहार के कई मारवाडी सम्मेलनोंमें बोलनेसे रोका गया, हँसी उडायी गयी, किन्तु उन्होंने सुधारो का संदेश निर्भीकताके साथ दिया। परिणाम-स्वरूप कई स्थानोंपर पुरुषोंकी इच्छा नहीं रहते हुए भी स्त्रियां अपने-आप सभामें भागी आई, चिकें हटा दीं, घूंघट-त्यागकी प्रतिज्ञा ली। साथही नवयुवकोंने अपने माता-पिताओंकी इच्छाके विरुद्ध दहेज तथा परदा-प्रथाके विरुद्ध मंचपर प्रतिज्ञायें ली। यह निर्विवाद सत्य है कि राजस्थानी समाजमें समाज-सुधारकी लहर फैलानेमें भाई वसंतलालजी की बहुत बड़ी देन रही। कडे विरोधों के बावजूद उन्होंने जिन कुप्रथाओंके विरुद्ध जिहाद बोला था, समाजमें उन प्रथाओंको दम तोड़ते हुये उन्होंने अपनी आंखो देखा। बाहरमें कहनेके साथ उन्होंने अपने घरमें भी उन सुधारोंको स्थान दिया, जैसे अपने एक पुत्रका विधवा-विवाह कर, और दूसरे पुत्रका अन्तर्जातीय विवाह कर।

भाई वसंतलालजीकी बड़ी इच्छा थी कि आर्य-समाज और ब्राह्म-समाजकी तरह आज के युगमें एक नवजीवन समाजकी स्थापना की जाय, जो युगकी मांगोंको पूरी कर सके। अज्ञान और अन्धकार, अन्धविश्वासोंको हटाकर समाजको नव-आलोक दें। इस सबधमें मरनेसे कुछ दिनों पहले उन्होंने एक सामूहिक प्रयत्न भी किया, भारतके प्रमुख समाज-सेवियोंके पास अपने विचार प्रेषित किये, किन्तु मृत्युने उनकी यह साध पूरी न होने दी।

जो भी हो, भाई वसन्तलालजी अपने पीछे अपने ऐतिहासिक कार्योंकी एक दिव्य स्मृति छोड़ गये हैं। आनेवाली पीढी उनके द्वारा चालित सुधारों तथा क्रांतिकारी विचारोंको अग्रसर करनेमें गति दे; साथही उनकी तरह अपना समय समाजके नव-गठनमें प्रदानकरे।

भाई वसंतलालजी समाज-कर्मीके साथ-साथ उच्च श्रेणीके राष्ट्र-कर्मी भी थे। समय-समयपर स्वतंत्रता-युद्धमें उन्होंने अपनी आहुतियां दीं। राजनीतिमें वे इतने घुल गये थे कि देशभरके राजनीतिक नेताओंसे बड़ी घनिष्टता थी। बंगालमें तो वे मारवाड़ी होते हुए भी "बंगाली नेता" माने जाते थे। सी० आर० दास, सुभाष बोस, जे० एम० सेन गुप्ता से लेकर वर्तमान नेता श्री विधानचन्द्र रायका उनपर अति स्नेह रहा था। कई बार वे टूटी-फूटी बंगला भाषामें बोलकर बंगाली भाइयोंको मुग्ध कर देते थे। वे अपने को बंगाली कहनेमें अति गर्व अनुभव करते थे। उनकी सर्वप्रियता इतनी व्यापक थी कि बंगालकी विभिन्न राजनीतिक पार्टियोंके कार्यकर्त्ताओंसे बंधुवत् प्रीति-स्नेह था। उनकी मृत्युसे बंगालके कई कार्यकर्त्ताओंको गहरी वेदना हुई। कारण, वे तन, मन, धनसे उनकी सहायता करनेको प्रस्तुत रहते थे।

कलकत्ताके व्यस्त तथा स्वार्थमय वातावरणमें एक-दूसरेकी सहायता करनेकी क्षमता विरले ही सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओंमें पाई जाती है। पीड़ित व्यक्ति बडे-बड़े नामोंको सुनकर अपनी सहायताके लिये दौडते हैं, किन्तु उन बड़े द्वारोंसे उन्हें बिना सहानुभूति प्राप्त किये ही वापस लौटना पड़ता है। श्री वसंतलालजीमें परदुख—कातरताका स्वभाव-प्रिय गुण था। राज्य और प्रजामें प्रिय वसंतलालजीको पीडित लोग अर्ध-

रात्रिमें जाकर जगाया करते थे और वे विना वहानावाजीके तत्काल उसके दु ख-निवारण में लग जाते थे। कही भी जाना होता, पीडितको अपनी मोटरमें वैठाकर ले जाते थे। कलकत्ता ही नही, आसपासके लोग भी उनकी इस तात्कालिक सहायताको कभी नही भूल सकते थे। वड़े-वडे अधिकारी उनकी सिफारिश की वडी इज्जत करते थे।

एक साथमें अनेक गुणोका सम्मिश्रण वहुत कम व्यक्तियोमें मिलता है। आज अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा गुणोका जो अमिट प्रभाव श्री वसंतलालजी जनतापर छोड गये है, उसे स्मरण करते ही प्रत्येक व्यक्तिका सिर श्रद्धासे उनके प्रति नमता है।

उड़ीसा में वसंतलालजी

श्री भैरवलाल नन्दवाना

सन् '४२ के अप्रैल महीनेकी वात है। विजगापट्टम विदेशी आक्रमणका शिकार हो चुका था और उसपर वम पटना प्रारम्भ हो गया था। ऐसे समयमें विजगापट्टमके समीप ही उडीसा मारवाडी कार्यकर्त्ता सम्मेलनका तीसरा अधिवेशन वलागीरमें श्री मुरारकाजीके सभापतित्वमें करनेकी योजना हुई। अधिवेशनकी पूरी तैयारियां हो चुकी थी, किन्तु निर्धारित तिथियोंके टीक सात दिन पहले विजगापट्टमपर वम पड गए। आसपासकी जनता घवरा उटी। अधिवेशनको स्थगित करनेकी वात होने लगी। किन्तु धैर्य और साहसकी मूर्त्ति श्री मुरारकाजी ऐसे भयकर समयमें भी वलागीर पधारे और उक्त अधिवेशनको उन्होने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। मुरारकाजीके इस विलक्षण प्रभावसे वहांपर हिन्दी विद्यालयकी स्थापनाके साथ ही वाईस हजार रुपये हिन्दी प्रेमी राजस्थानी जनतासे तत्काल प्राप्त हो गए। उस विद्यालय के रूपमें मुरारकाजीकी स्मृति आज भी उस दिनकी याद दिलाती है।

सम्मेलन उडीसाके मारवाडी समाजके विकास-कार्योका सफल निर्देशन वना। उसके वाद भी वरगढ, पुरी, वलागीर तथा कटक अधिवेशनोपर और अन्य अवसरोपर मुरारकाजी की यात्रा कितनी ही वार उडीसामें हुई और लोगोमें समाज-सुधारकी प्रगति हुई। स्थान-स्थानपर विद्यालयोकी स्थापना हुई, वाचनालय, पुस्तकालय, युवक सघ, महिला सघ, व्यायामशालाएँ आदि सैकडो सस्थाओको जन्म मिला। कटकका हिन्दी विद्यालय हाई स्कूलके रूपमें उन्नति कर गया। इस तरह सामाजिक विकास तो हुआ ही, राजस्थानी-समाजमें राष्ट्रीय भावनाका जागरण भी हुआ। मुरारकाजीकी भावना थी कि हम पहले भारतीय है और पीछे राजस्थानी, ऐसा कोई काम राजस्थानी-समाज द्वारा नही होना चाहिए जिसके द्वारा कांग्रेसका विरोध हो अथवा राष्ट्रीय कार्योकी गति अवरुद्ध हो। मुरारकाजी की इन वातोका उडीसाके राजस्थानी वन्धुओपर वडा प्रभाव पडा। आज जो उडीसाकी उन्नति दीखती है, उसमें राजस्थानियोका वडा हाथ रहा है और उसके पीछे मुरारकाजीकी प्रेरणा हमेशा चमकती दिखाई देगी।

वसंतलालजी चले गये, वसंतलालजी नहीं गये !

श्री भँवरमल सिंघी

परसों जिन हाथोंसे भाई वसन्तलालजीको अभिनन्दन-पत्र भेंट किया, उन्हीं हाथोंसे आज उनको विदा कर दी। केवल ४० घंटोंमें ही यह सब हो गया। भाई वसन्तलालजी आज उनके अभिनन्दन [illegible]। जिस दिनसे यह पता लगा था कि भाई वसन्तलालजी ऐसी भयंकर बीमारीके शिकार हो गये हैं, हम सब इस दिनकी विभीषिकासे डर रहे थे। अभिनन्दन-पत्र पूरा होनेसे पहले ही अभिनन्दन-समारोह करनेका भी इसीलिए निर्णय कर लिया गया। तथापि आज ही, इतनी जल्दी सब हो जायगा, ऐसी कल्पना नहीं हुई थी। फिर, इसी माह [illegible] निश्चित था।

हम सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता आज वसन्तलालजीके बिना हैं, यह सोचकर दिल बैठने लगता है। उनके जैसे सज्जन, विनम्र और त्यागी ही निर्भीक समाज-सुधारक होते हैं। वे हमारे साथी, सहयोगी और प्रेरक थे। अगर मारवाड़ी समाजकी बात सोचें, तो आज ४० वर्षोंकी सतत साधनाके सिलसिलेमें एक शक्ति मानो उठ गई। पर वसन्तलालजी और उनके साथियों द्वारा किया हुआ काम सारे समाजमें फैल चुका है, और नये विचारोंका हवा-पानी उनके पौधोंको बढ़ा रहा है, बढ़ायेगा।

आज सुबह साढ़े-सात आठ बजे ही जब उनके चारों तरफ जीवन और मृत्युका संघर्ष हो रहा था, उन्होंने कहा—"सब काम हो गया, भँवरमलजी, अब आप लोग मुझे छुट्टी दीजिए। अब आगे आप लोग काम कीजिए।"

कलकत्तामें और अन्यत्र आज एक बहुत बड़ा कुटुम्ब—वसन्तलालका कुटुम्ब—वियोग-विह्वल है, वेदना-विकम्पित है, पर विह्वलता और विकलताके आँसू पोंछकर उनके अन्तिम क्षणोंके सन्देशको सफल बना कर चलना है—"अब आप लोग काम कीजिए।"

उस दिन अभिनन्दनके समय टेप-रिकार्डपर उनकी टूटी हुई वाणीमें हमने सुना था—'सामाजिक क्रान्तिका काम हमें अभी बहुत करना है,' और आज मृत्युके क्षणोंमें उन्होंने कहा—'अब आगे आप लोग काम कीजिए।' हाँ, हमें काम करना है, और समाजमें वसन्तलालजीके विचारों और भावनाओंको बढ़ाना है। यही सम्पत्ति वे समाजके लिए छोड़ गये हैं, जो विरले ही छोड़ जाते हैं।

वसंतलालजी चले गये, वसंतलालजी नहीं गये !

तारीख १० अक्टूबर '५६ को जब श्री वसंतलालजी का शव-दाह हो रहा था, लेखक के मस्तिष्कमें ये विचार दौड़ लगा रहे थे, जो उसी वक्त एक पत्र-प्रतिनिधिको लिखा दिये गये थे।

द्वितीय खण्ड

समाजके कुछ मौलिक तत्व

श्री प्रेमनारायन माथुर

सामाजिक चेतना : उसका प्रादुर्भाव और विकास

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । समाजमें वह जन्म लेता है, समाजमें ही उसका पालन-पोषण होता है, समाजका वातावरण उसके सपूर्ण व्यक्तित्वको प्रभावित करता है । समाज व्यक्तिके सामने जो अवसर प्रस्तुत करता है, उनका उपयोग करनेसे ही उसकी प्रतिभा निखरती है, सामाजिक जीवनमें जिन जोखिमो को उसे उठाना पडता है, उसीमेंसे उसका साहस प्रस्फुटित होता है और सामाजिक सघर्षोपर विजय पाकर ही वह अपने भावी विकास के मार्ग को प्रशस्त करता है । मनुष्य की भाषा, साहित्य, कला, उद्योग मनुष्यके जीवनके प्रत्येक अग और प्रत्येक पक्षपर उसके समाजकी स्पष्ट छाया हमें देखनेको मिलती है । जिस प्रकार समाज व्यक्तिको प्रभावित करता है, उसी प्रकार व्यक्ति भी अपने समयके समाजका निर्माता है । इस विचित्र और महान् सृष्टि में, जिसकी विशालता और प्राचीनता दोनो ही मानवीय कल्पनासे बाहरकी वस्तुएँ है, मनुष्य ही विश्वकी उस अलौकिक सृजनशील शक्तिका सर्वतोत्कृष्ट नमूना है, जिसे हम अपने भावका स्वय निर्माता कह सकते है । कौन नही जानता कि मानव सभ्यताओंने समय-समयपर बुद्ध, महावीर, कन्फ्यूशियस, ईसा, मुहम्मद, अरविंद, और गाधी जैसे उन महान व्यक्तियोको जन्म दिया है जिन्होंने न केवल अपने समयके समाज-को ही सर्वथा एक नया जीवन और नयी चेतना प्रदान की बल्कि जिनके विचारो, आदर्शों और सिद्धान्तो तथा जीवनके व्यवहारोका आज भी मानव-जीवनपर प्रभाव है और यह प्रभाव जब तक मनुष्य जाति है तब तक रहनेवाला है । ऐसे महान व्यक्तित्व, जिन्होंने समाजको प्रभावित किया—उसको एक नयी दिशा दी, सामाजिक जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें देखनेको मिलते है । साहित्य, कला, विज्ञान, उद्योग, सामाजिक और सास्कृतिक जीवन, धर्म एव राजनीति किसी भी पक्षको हम ले, हमें महान आत्माओंकी एक शृखला सी नजर आती है, ऐसी शृखला जो प्रत्येक देश और कालमें पायी जाती है । हमारे कहने का आशय यह है कि व्यक्ति और समाजका अन्योन्याश्रित और आत्मिक सबध है और यह सबध मानव सभ्यताके प्रारभिक चरणोंसे लेकर आज तक चला आया है और आगे भी चलता रहेगा ।

प्राय दार्शनिको और विचारकोंने यह प्रश्न उठाया है कि समाज और व्यक्तिके इस 'द्वय' में प्रमुखता किसकी मानी जाये । आज भी यह प्रश्न हमारे सामने बार-बार उपस्थित होता है । पश्चिमी राजनैतिक विचारधाराका ही यदि हम विचार करें,

तो, एक ओर उन विचारोका हमें ध्यान आता है जिन्होने समाजको प्रमुखता दी है; अफलातून, अरस्तू, हीगल, ये कुछ ऐसे ही नाम है । दूसरी तरफ हमारे सामने कैन्ट, जान स्टुअर्ट मिल, हरवर्ट स्पेन्सर जैसे नाम है, जिन्होने व्यक्तिको प्रधानता दी है । पूर्वके विचारकोमें यह दृष्टि-भेद सभवत नही पाया जाता । उसका मुख्य कारण यह है कि पूर्वकी दृष्टिमें सपूर्णता और समन्वय की प्रधानता रही है और फलत. व्यक्ति और समाज दोनोके उचित महत्वको स्वीकार किया गया है । सस्कृतका निम्नलिखित श्लोक हमारी इस युक्तिको पुष्ट करता है .

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेद्

अर्थात् व्यक्तिको कुलके लिये, कुलको ग्रामके लिये, ग्रामको जनपदके लिये और पृथ्वीको आत्माके लिये त्याग देना चाहिये ।

ऊपरोक्त श्लोकमें जहाँ सासारिक स्तरपर छोटे स्वार्थको वडे स्वार्थके लिये छोडने के लिये कहा गया है, वहाँ आत्मोन्नति के लिये समस्त सासारिक स्वार्थके छोड़नेकी वात भी कही गई है । इसका आशय यह है कि जहाँ सामान्थ सासारिक स्वार्थोमें व्यक्ति को अपने सकीर्ण स्वार्थका समाजके व्यापक हितके लिये त्याग करना चाहिये वहाँ व्यक्ति में जो आध्यात्मिक तत्व है, और जो व्यक्तिके व्यक्तित्वकी वास्तविक विशिष्टताका द्योतक है, उसका भी इतना महत्व स्वीकार किया गया है कि उसके हितमें संपूर्ण इहलौकिक समाजके हिततकका त्याग किया जा सकता है । व्यक्ति और समाजके पारस्परिक सवघका यह वह संपूर्ण चित्र है, जिसमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनो दृष्टियोका समावेश हो जाता है ।

व्यक्ति और समाजके आत्मिक सवघका एक भिन्न प्रकारसे .भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है । व्यक्ति रूपी नीव पर ही समाज रूपी भवनका निर्माण किया जा सकता है । इस अर्थमें व्यक्ति साधन है और समाज साध्य । इस दृष्टिमें व्यक्तिकी अपेक्षा समाजका महत्व अधिक है । पर हमें यह नही भूलना चाहिये कि यह वाह्य दृष्टि है या यो भी कह सकते है कि व्यक्ति और समाजका यह सवध आधिभौतिक और सांसारिक स्तरका सवंध है । इसके अनुसार हर व्यक्तिका यह धर्म है कि अपने सांसारिक हितो को समाजके लिये त्याग दे । लेकिन व्यक्ति और समाजके सवधकी एक अन्य दृष्टि भी है, जो कही अधिक गहरी है । इसको हम आन्तरिक, तात्विक या आध्यात्मिक दृष्टि कह सकते है । इस दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति में जो आध्यात्मिक तत्व है, उसपर जोर है । समस्त सासारिक और सामाजिक व्यवस्थाका एकमात्र लक्ष्य व्यक्ति के इस आध्यात्मिक और आत्मिक विकास में सहायक होना है । इस अर्थमें व्यक्ति साध्य है और समाज साधन; यह ससार सावन है और स्वर्ग साध्य । जिस समाजरूपी भवनका हमने ऊपर उदाहरण दिया है, वह भवन अन्ततोगत्वा व्यक्तिके निवासके लिये, उसके उपयोगके लिये ही है और इसी अर्थमें व्यक्ति साध्य और समाज साधनका रूप ले लेता है । हमारी दृष्टि में व्यक्ति और समाजका यह द्विपक्षीय संवध ही उसके पारस्परिक संवंधोको पूर्णतया व्यक्त करता है और इसीके आधार पर सही सामाजिक चेतना का निर्माण भी किया जा सकता है ।

यह जिसे हमने 'सामाजिक चेतना' कहा, क्या वस्तु है ? इसका प्रादुर्भाव कैसे हुआ ? किन-किन अवस्थाओंमें से होकर और किन-किन रूपोंमें हमारी यह 'सामाजिक चेतना' व्यक्त होती है ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो व्यक्ति और समाजके पारस्परिक सबंधोंपर से स्वाभाविक रूपमें पैदा होते हैं। अब हम इन्हींके विषयमें कुछ विचार करेंगे।

व्यक्ति और समाज या व्यष्टि और समष्टिके जिस सबंधका विवेचन ऊपर किया गया है, उसीमें से 'सामाजिक चेतना' का प्रादुर्भाव होता है। व्यक्ति जब समाजके साथके अपने सबंधको, उसके साथ अपनी एकताको अनुभव करता है, तो उसकी इस अनुभूतिको ही सामाजिक चेतनाका नाम दिया जाता है। जिस प्रकार व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध द्विपक्षीय या द्विस्तरीय है, अर्थात् वह आधिभौतिक भी है और आध्यात्मिक भी, उसी प्रकार 'सामाजिक चेतना' के भी दोनों ही रूप देखनेको मिलते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने पड़ोसीके कष्टोंको अपना कष्ट मानकर उसकी सहायता करनेको तैयार हो जाता है; जब समाजमें व्याप्त बुराइयोंको निकाल फेंकनेके लिये समाज-सेवक अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, जब राष्ट्रकी स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रके गौरवके लिए राष्ट्र-प्रेमी जनता अपना आत्मोत्सर्ग करनेको तैयार हो जाती है, जब समाजमें स्वतत्रता, समानता और बधुत्वके सिद्धान्तोंकी प्रतिष्ठा करनेके लिये सामाजिक क्रांतिकारी अपने क्रांति-मार्ग का अनुसरण करता है तो इन सबमें हमें 'सामाजिक चेतना' का एक प्रकारका स्वरूप देखनेको मिलता है। व्यक्ति समाजके भलेके लिये अपने दुख-सुखकी चिन्ता न करके अपने जीवनको लगा देता है। हमारे समाज-सुधारकों, राष्ट्रनायकों और क्रांतिकारियोंका जीवन इस 'सामाजिक चेतना' से ही ओत-प्रोत जीवन रहा है। हम अपने देशके आधुनिक कालका उदाहरण लें, तो इस 'सामाजिक चेतना' से ओत-प्रोत व्यक्तियोंकी एक चित्रावली-सी हमारे सामने आ खड़ी होती है, जिसका दर्शनमात्र ही हमें अत्यन्त प्रेरणादायक मालूम पड़ता है। राजाराममोहनरायसे लेकर गांधी तक की इस शृखलामें अनेक कड़ियां हैं और सामाजिक जीवनकी यह शृखला कभी टूटती नहीं है, वह आज भी मौजूद है और आगे भी रहेगी। 'सामाजिक चेतना' का यह स्वरूप जिसका अभी हमने उल्लेख किया है, उसका बाह्य या आधिभौतिक स्वरूप है। प्राय हम 'सामाजिक चेतना' के अपने विचारको उसके इस बाह्य स्वरूप तक ही सीमित मान लेते है। पर यह एकांगी और अपूर्ण दृष्टि है। 'सामाजिक चेतना' का जो आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक स्वरूप है उसे भी हमें नहीं भूलना चाहिए। जब 'जीवात्मा' अपने 'परमात्मा'के साथके सबंधकी अनुभूति करता है, जब हममें 'अहं-ब्रह्मास्मि'का भाव जाग्रत होता है, जब हममें इस विवेकका उदय होता है कि व्यक्तिका वास्तविक लक्ष्य आत्मोन्नति है तब हममें 'सामाजिक चेतना' के इस दूसरे, अर्थात् आध्यात्मिक रूपका उदय होता है। मनुष्यके इस आध्यात्मिक लक्ष्यको महर्षि अरविंद ने अपनी मानवीय-विकासचक्र (ह्यूमन साइकिल) नामक पुस्तक मे इन शब्दो में व्यक्त किया है : "हम देखते हैं कि प्रथम दृष्टिमें मनुष्य स्वभावके दो पक्ष मालूम होते हैं, जीवमय और शारीरिक अस्तित्वका पशु स्वभाव, जो कि अपनी सहज प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट), आवेश (इम्पलसेज), इच्छाओं, अपने स्वाभाविक निर्देशन और प्रणाली (ओटोमेटिक ओरियेन्टेशन

एंड मेथड,)के अनुसार अपना जीवन व्यापार चलाता है, और स्वचेतनायुक्त, बौद्धिक, नैतिक, कलात्मक, विवेकमय भावात्मक, विवेकमय गत्यात्मक अस्तित्वका अर्द्ध-दैविक स्वभाव, जो कि अपने कर्मके नियमका पता लगाने और समझनेकी तथा समझ-बूझ कर उसका उपयोग करने और उसका उन्नयन करनेकी क्षमता रखता है, एक ऐसा विचारशील मन (माइन्ड)जो प्रकृति को समझता है,एक ऐसी इच्छा जो प्रकृति का उपयोग करती है, उसको ऊँचा उठाती है, उसको पूर्णता प्रदान करती है, एक ऐसी चेतना(सेन्स) जो विवेकपूर्वक प्रकृतिका भोग करती है। हमारे पशु-स्वभाव का लक्ष्य सांसारिक (वाइटल,)स्वत्व(पजेशन) और सासारिक आनन्द की अभिवृद्धि करना है, हमारे अर्द्ध-दैविक स्वभावका लक्षण भी अभिवृद्धि करना, सपन्न होना और भोग करना है, किन्तु एक तो शरीर और जीवकी अपेक्षा अधिकतर मनकी शक्तियोके द्वारा विवेकपूर्वक, कलात्मक और नैतिक दृष्टिसे संपन्न होना और भोग करना है, और दूसरा, जितना एक आधार और प्रारभके रूपमें, एक प्रारंभिक अनिवार्यता और शर्त्तके रूप में, एक भूमिकाके रूप में आवश्यक है उसके अतिरिक्त, सासारिक और भौतिक सपन्नता प्राप्त करना और भोग करना उतना नही है जितना कि बौद्धिक, नैतिक और कलात्मक सपन्नता प्राप्त करना और भोग करना है और वाह्य-जीवन में अभिवृद्धि करना उतना नही है, केवल उस हद तक छोडकर जहाँ तक यह वाह्य अभिवृद्धि हमारे मानवीय अस्तित्वकी गरिमा, सुविधा और सुरक्षाके लिए आवश्यक है, वल्कि सत्य, शिव और सुन्दरमें अभिवृद्धि करना है। यही मनुष्यकी मनुष्यता है, उसकी अपूर्व विशिष्टता है और अचेतन और आधिभौतिक प्रकृति की इस सामान्यतामें असामान्यता है।"

"इसका यह अर्थ है कि मनुष्यने अपने अस्तित्वकी एक नयी शक्तिका विकास किया है . इसे हम नयी आत्मशक्ति कहेंगे, इस आधारपर कि हम जीव और शरीरको भी एक प्रकारकी आत्मिक शक्ति ही मानते है और जिस अस्तित्वने इस नयी शक्तिका विकास किया है, उसका यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह न केवल इस नये उच्च स्तरसे ससारकी ओर दृष्टिपात करे और उसमें जो कुछ है, उसका पुनः मूल्यांकन करे वल्कि अपने सपूर्ण स्वभावको इस शक्तिकी आज्ञा पालन करनेके लिये विवश करे और एक अर्थमें उस नयी आत्मशक्तिके ढाँचे में अपने स्वभावको फिर से ढाले और जहाँ तक संभव हो अपने आसपासके जीवनका भी इस महत्तर सत्य और नियमकी किसी प्रतिमूर्त्तिके रूपमें पुनः निर्माण करे। इसीमे उसका स्वधर्म है, उसके अस्तित्वका सच्चा नियम और मार्ग है और उसकी पूर्णता और वास्तविक सुख का मार्ग है।" जीवन के जिस आध्यात्मिक लक्ष्यकी व्याख्या ऊपर की गयी है, उसको 'वैयक्तिक मुक्ति' के आदर्श के रूप में नही देखना चाहिये। श्री अरविंदको वैयक्तिक मुक्तिकी इतनी चिंता नही थी, जितनी समस्त मानव-समाजको ऊँचा उठानेकी। आध्यात्मिक प्रगतिके संबंधमें विचार करते हुए श्री अरविंदने लिखा है, "इस प्रकारका परिवर्तन, मानसिक और जीवमय स्तरसे जीवनके आध्यात्मिक स्तरका परिवर्तन अनिवार्यत व्यक्तिमें और वहुत वड़ी सख्यामें व्यक्तियोमें ही होगा इसके पूर्व कि उसका समाजपर असर हो।" "प्रगतिशील और निर्माणकारी व्यक्तिके द्वारा ही आध्यात्मिकता सपूर्ण जाति के मानसके समक्ष एक नयी आत्मसृजनताकी उपलब्धि और संभावना प्रस्तुत करती है।

दूसरे शब्दोमें श्री अरविन्द एक ऐसे आध्यात्मिक समाजकी कल्पना करते है, जो "उसके आध्यात्मिक व्यक्तियोकी तरह, अपने 'अह'मे नही किंतु अपनी आत्मामें, सामूहिक अहके रूपमें नही किन्तु सामूहिक आत्माके रूपमें, निवास करेगा।" सम्पूर्ण समाज के स्तरको इस प्रकार ऊँचा उठाने की भावनाको हम 'सामाजिक चेतना'का आध्यात्मिक रूप नही तो और क्या कहेंगे ? इतिहासमें जितने भी ऋषि, महर्षि, सत, भक्त और आध्यात्मिक व्यक्तित्व हुए हैं, उनमें हमें 'सामाजिक चेतना' के इसी आध्यात्मिक रूपकी अभिव्यक्तिके दर्शन करने चाहिये। परमहस रामकृष्ण और श्री अरविंद आधुनिक भारतके ऐसे दो उदाहरण हैं।

हमने 'सामाजिक चेतना'के दो रूपोका ऊपर उल्लेख किया है, सासारिक या आधिभौतिक रूप। पर हमें यह नही समझना चाहिए कि इन दोनो रूपों का वास्तव में कोई सबध नही है। सच बात तो यह है कि 'सामाजिक चेतना' का आधिभौतिक रूप जिस हद तक उसके 'आध्यात्मिक रूप'को व्यक्त करनेका बाह्य उपकरणमात्र है उसी हद तक उसे वास्तविक अर्थमें 'सामाजिक चेतना' कहा जा सकता है। व्यक्ति जब अपने 'स्व'को किसी 'व्यापक सत्य'का अग मात्र मानता है और उसके साथ अपना तदात्म करना वह अपने अतिम लक्ष्यके रूपमें समझता है, तभी उसमें 'सामाजिक चेतना' अभिव्यक्त होती है फिर चाहे वह अभिव्यक्तिका रूप इस सासारिक स्तर पर सासारिक कार्य-कलापोके रूपमें हो और चाहे आध्यात्मिक स्तरपर आध्यात्मिक उन्नतिके रूपमें। 'अश'का अपने 'पूर्ण'मे मिलने का भाव और अपने समान ही दूसरे 'अशो'के प्रति एक 'पूर्ण' के अग होने मात्रसे उत्पन्न एकात्मक भावका नाम ही वास्तवमें 'सामाजिक चेतना' है।

'सामाजिक चेतना' की दार्शनिक व्याख्या करनेका हमने प्रयत्न किया है। अब हम उसके प्रादुर्भाव और विकासके सबधमें विचार करेंगे।

ऐसा विचार करना सभवत अनुचित न हो कि 'सामाजिक चेतना'का जन्म 'स्वार्थ भाव'में से ही हुआ यद्यपि उसका विकसित रूप 'समष्टि भाव'मे है। अपने जीवन के अत्यन्त प्रारभिक कालमें जब मनुष्य एक शिकारीका जीवन व्यतीत करता था या, जब वह जीवित रहनेके लिये भोजनका केवल सग्रह करनेवाला था न कि उसका उत्पादन करनेवाला, तभी हिंसक पशुओसे अपनी रक्षाके लिये उन पर विजय पाने तथा उनका शिकार करनेके लिये मनुष्यको एक-दूसरेके सहयोगकी आवश्यकता अनुभव हुई होगी। इसी आवश्यकता में से उस सहजीवनका प्रादुर्भाव हुआ होगा जो 'सामाजिक चेतना' के विकासकी प्रथम अवस्था थी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, मनुष्य का यह 'स्वार्थ-भाव' जागृत होता गया और 'समष्टि भाव' के साथ-साथ 'सामाजिक चेतना'का भी विकास होता गया। 'स्वार्थ भाव' और 'समष्टि भाव' में अन्तर यही है कि जब अपने सामाजिक आचरणसे प्रत्यक्ष स्वार्थमे मनुष्य प्रेरित होता है तब तो उसका भाव भाव होता है और जब मनुष्य अपने सामाजिक आचरणमें ऐसे किसी स्वार्थ भाव से प्रेरित न होकर 'एकत्व भाव,' से सामाजिक आचरण करता है, तो वह उसका 'समष्टि भाव' कहा जायगा। जब मनुष्य किसी प्रत्यक्ष खतरेसे बचनेके लिए एक सगठन और अनुशासन में काम करते हैं तो उनकी इस 'सामाजिक चेतना'के पीछे 'स्वार्थ भाव' होता है। जब मनुष्य बिना किसी

फलकी आशाके या उसका ध्यान किये हुये ही अपने पड़ौसीकी सहायता करता है,तो इस 'सामाजिक चेतना' के पीछे 'समष्टि भाव' होता है। यदि हम वारीकीसे विचार करें, तो मालूम पड़ेगा कि 'सामाजिक चेतना' की शुरूआत 'स्वार्थ भाव' में और उसका चरम विकास 'समष्टि भाव' में है। मानव-समाजके विकास की यही दिशा रही है कि वह स्वार्थ-भाव को समष्टि-भावमें वदले, ठीक उसी प्रकार जैसे उसे अपनी आधिभौतिकता को आध्यात्मिकता में वदलना है। इस प्रकार देखने से मानव-जाति का संपूर्ण इतिहास 'सामाजिक चेतना' के विकास से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं रह जाता है। एक समय रहा होगा जव मानव की 'सामाजिक चेतना' उसके परिवार तक ही सीमित होगी। पर धीरे-धीरे उसका विस्तार परिवार से कवीला (क्लान) तक और कवीला से जाति (ट्राइव) और जाति से राज्य (स्टेट) में हुआ। राज्यमें से ही आधुनिक राष्ट्रका जन्म हुआ और राष्ट्रमें से ही आजकी राष्ट्रीयताका, जो हमारी 'सामाजिक चेतना' का एक प्रवल प्रतीक समझी जाने लगी हैं। एक प्रकार से हम यह कह सकते है कि राष्ट्रीयता हमारी सामाजिक चेतनाका राजनैतिक सीमाओमें मर्यादित रूप है। आज हम 'विश्व राज्य' की कल्पना करते है पर वास्तवमें हम हैं राष्ट्रीयताके विकास स्तर पर ही। एक मानव-समाजकी कल्पनाको वास्तविक रूप देनेसे अभी हम वहुत दूर हैं। 'सामाजिक चेतना' के आधिभौतिक रूपके समान ही आध्यात्मिक रूपमें भी विकास हुआ है। धर्म, (रिलीजियन) और आध्यात्मिकता (स्प्रिचुएलिटी) में भेद होते हुए भी दोनोका घनिष्ठ संवंध है। मनुष्यने धर्म और ईश्वरकी कल्पना अपने स्वार्थकी रक्षा करनेके लिये ही सवसे पहले की। भयसे वचनेके लिये और आशाओको फलीभूत करनेके लिये मानवने अपने प्रारभिक देवताओकी कल्पना की थी। श्री एच० जी० वेल्स अपनी 'इतिहासकी रूपरेखा' नामक पुस्तकमें लिखते है "पिताका भय अदृश्य अवस्थाओसे होता हुआ जातीय देवता (ट्राइवल गाड) के भयमें परिणत हो गया।" जिससे मनुष्यको भय उत्पन्न हुआ उसको प्रसन्न करनेकी भी मनुष्यने आवश्यकता अनुभव की। इन्ही आवश्यकताओमें से 'धार्मिक वलि' की प्रथाका जन्म हुआ। यही अविकसित मानवके धर्म और ईश्वरकी वह अविकसित कल्पना है जिसमें स्वार्थ-भावकी प्रधानता थी और जिसने विकसित होकर भक्ति-मार्गसे वैयक्तिक ईश्वर और ज्ञान-मार्गने, 'ब्रह्म' का वह रूप ले लिया जिसमें 'स्वार्थ भाव' का स्थान 'समष्टि भाव' ने ले लिया। भक्ति भावसे ओत-प्रोत भक्त अपने सर्वस्वको अपने ईश्वरके प्रति समर्पण कर देनेमें ही अपनी सार्थकता देखता है और इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष आत्मा और परमात्माके अभेदको समझ कर आत्माको परमात्मामें विलय कर देना ही जीवनका ध्येय मानता है।

'सामाजिक चेतना' के प्रादुर्भाव और विकासके आधिभौतिक और आध्यात्मिक स्वरूपकी ऊपरोक्त व्याख्याको पूरी करनेके लिये यह संकेत करना अनुचित न होगा कि 'सामाजिक चेतना' के आधिभौतिक स्वरूपने सामाजिक जीवनके विभिन्न अंगोको विभिन्न समयमें प्रभावित किया है और इस दृष्टिसे भी उसके विकासके किसी ऐतिहासिक क्रमकी कल्पना की जा सकती है।

जव मानव-समूहने एक व्यवस्थित समाजका रूप ले लिया, उसमें राज्य-सस्था और व्यक्तिगत संपत्तिकी संस्थाका उदय हो गया और आर्थिक-सामाजिक असमानता

समाजमें फैल गयी तो समाज शासक और शासित तथा शोषक और शोषित इन दो वर्गों में विभाजित हो गया । समाज आज भी इन दो वर्गों में विभाजित है । इस वर्ग विभाजनने 'सामाजिक चेतना'के सामने शासक और शासित तथा शोषक और शोषित इन वर्गोंके पारस्परिक सबधो और पारस्परिक महत्वके बारेमें भी प्रश्न उपस्थित कर दिया । 'सामाजिक चेतना'ने, ऐसा कहा जा सकता है, एक लबे अर्से तक, संभवत उस समय तक जब कि उसके सामने समाजकी सुरक्षाका प्रश्न प्रमुख रहा होगा, समाजका हित सामाजिक व्यवस्था,उसको चलानेवाली सत्ता और उसकी मान्य परम्पराओ को सर्वोपरि मानने में ही समझा । व्यक्तिका परम कर्तव्य समाजमें जो उसका स्थान निश्चित था उसीके दायित्वको निभाना माना गया । प्राचीन यूनानी दार्शनिक अफला-तूनने तो न्यायकी ही यह व्याख्याकी कि जब प्रत्येक व्यक्ति अपना समाजमें निर्धारित कार्य करता है तभी समाजमें न्याय कायम रह सकता है । भारतीय चतुर्वर्णकी व्यवस्था के पीछे भी इसी प्रकारकी विचार धारा रही है । यह नही कहा जा सकता कि प्राचीन कालमें किसी भी समय जनताके अधिकारो और उसकी स्वतंत्रताको शासक के अधिकारोकी तुलनामें कोई महत्व ही नही दिया गया था । प्राचीन यूनान, प्राचीन रोम और प्राचीन भारतमें गणतत्रोका अस्तित्व रहा है, इस बातका इतिहास साक्षी है । फिर भी इन प्राचीन गणतत्रोके बादके समयमें सभी जगह जनता की स्वतंत्रता और अधिकारोका लोप होते हुए और राज्य और राजा का वर्चस्व बढते हुए हम देखते है । इस बीच के काल में एक प्रकार से हमारी 'सामाजिक चेतना' इस सामाजिक राजनैतिक दृष्टिसे सुप्तावस्थामें थी । पर उसके बाद योरोपमें प्रोटेस्टेंट सुधारवाद और फ्रासकी राज्य क्रातिके साथ इस 'सामाजिक चेतना'का भी उदय होने लगता है । पहले यह धर्मके क्षेत्रमें उदीयमान होती है, फिर राजनीति और समाजके क्षेत्रमें यह प्रकट होती है और राजनीतिक जनतत्रके रूपमे यह हमारे सामने आती है । अब यह राजनीतिक मर्यादाओको पार करके आर्थिक क्षेत्रको छूना चाह रही है । आर्थिक स्वतत्रताका जय घोष आज के युगका मुख्य जय घोष है और हमारी आजकी सामाजिक चेतना अपने आधिभौतिक रूपमें इसी आर्थिक स्वतत्रता के लक्ष्यको लिये हुये है । "सामाजिक चेतना'के विकासका यह क्रम केवल पश्चिम तक ही सीमित रहा हो यह नही कहा जा सकता । वह तो समस्त ससारमें इसी क्रमसे फैला है । आधुनिक भारत वर्षकोही यदि हम देखते है तो उसमें भी हमें उसी क्रम की पुनरावृत्ति मिलती है । भारतके पराधीनताके कालमें जिस राष्ट्रीय चेतनाका उदय होता है वह हमारी उस समयकी सामाजिक चेतनाका ही प्रतिबिम्ब था । यह राष्ट्रीय चेतना पहले सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्रमें उत्पन्न होती है । राजाराम मोहनराय और उनका 'ब्रह्म समाज' और रानाडेका प्रार्थना समाज इस चेतनाके प्रवर्तक थे । बाद में आर्य समाज, ब्रह्म विद्या समाज (थियोसोफिकल सोसाइटी) और रामकृष्ण परमहस और स्वामी विवेकानन्दने इस राष्ट्रीय चेतना को उसके सामाजिक और सास्कृतिक रूपमें और आगे बढाया और राजनीतिक राष्ट्रीयताके लिये पृष्ठभूमि तैयार की । काग्रेसके जन्मके साथ हमारी 'सामाजिक चेतना' अपने राजनैतिक रूपमें व्यक्त होती है । गोखले, तिलक और गाधी इस राजनीतिक चेतनाके उत्तरोत्तर विकासके प्रति-

निधिके रूपमें माने जा सकते हैं। आज भारत राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र है पर उसकी 'सामाजिक चेतना' आर्थिक स्वतंत्रता के लिए छटपटा रही है।

'सामाजिक चेतना' के प्रादुर्भाव और विकासका जो विशद विवेचन हमने किया है, उसका सार यही है कि मानव समाजके विकासके साथ-साथ हमारी 'सामाजिक चेतना' का भी विकास होता रहा है, बल्कि 'सामाजिक चेतना' के इस विकासको ही मानव समाजका विकास कहा जा सकता है। आजका मानव समाज विकास क्रमकी एक ऐसी मोड़ पर खड़ा है जहाँसे उसका भविष्य उज्ज्वल और अन्धकारपूर्ण दोनों ही हो सकता है। मनुष्यकी वैज्ञानिक प्रतिभाने उसके हाथमें एक अद्भुत शक्ति देदी है। प्रश्न यह है कि इस शक्तिका मानव सदुपयोग करता है या दुरुपयोग। हमारी सभ्यता और सामाजिक चेतना आज इस विषम सकटकी अवस्था में है। इस संकटमें से विजयी होकर मनुष्य तभी निकलेगा जब वह अपनी आधिभौतिक प्रतिभाको आध्यात्मिक चेतना से नियन्त्रित करनेमें सफल होगा। आधिभौतिक प्रगतिका त्याग करनेका प्रश्न नही है। प्रश्न है इस प्रगतिको मानव हितकी दिशामें मोड़नेका। मानवकी 'सामाजिक चेतना' के आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपोमें उचित समन्वय से ही यह संभव होगा। क्या इस युग से चले आने वाले सच्चे समाज सुधारको, राष्ट्र निर्माताओ और क्रान्तिकारियोंके ज्वलंत और प्रेरणामूलक उदाहरण हमारा पथ प्रदर्शन करनेमें सफल होंगे ? इस प्रश्नके उत्तर पर हमारे समाजका भविष्य निर्भर करता है और उसका सही-सही उत्तर देकर ही आज का मानव उन महान आत्माओके प्रति अपनी सच्ची श्रद्धाजलि अर्पित कर सकता है जिन्होने अपनी सेवाओसे समाजके मार्गको सदा प्रशस्त किया है।



श्री गोपीकृष्ण अरोरा

समाज-निर्माण के आधार

समाज-संबंधोके विना मनुष्य जीवित नही रह सकता। अपनी कुछ आवश्यकताओंको पूरी करनेके लिये उसे दूसरोंके साथ सहयोग करना होता है। कुछके लिये दूसरोसे संघर्ष करना पडता है। लेकिन संघर्ष और सहयोगमें एक संतुलन कायम रहना जरूरी है अन्यथा यदि संघर्ष हो, तो विशृंखलता तथा विनाश और यदि संघर्ष विलकुल न हो, तो स्थिरता-निष्क्रियता और विनाश ही फल होगा। इसी संतुलनका नाम सामाजिकता है। जीवनको कायम रखने और उसे विकसित करने एवं बढानेके लिए जिस सामाजिक व्यवहारकी आवश्यकता होती है उसे ही सामाजिकता कहते है। उदाहरणके लिए चोरी करने वालेको दंड देनेमें सहयोग करना और निर्दोषी को दंड देने वाले से संघर्ष करना सामाजिकता के उदाहरण है। चोरी करने वाले यदि वढ जायेंगे तो जीवन अरक्षित हो जायगा और यदि निर्दोषी को दंड देने वाले वलवान हो जायेंगे, तो भी जीवन सुरक्षित नही रह सकेगा।

यह गति कभी एक स्तर पर ही कायम नहीं रहती—रह सकती ही नही। मनुष्य अपनी आवश्यकताओंकी पूर्त्तिकी प्रक्रियामें ही कुछ नयी आवश्यकताओंकी सृष्टि करके उन्हें भी संतुष्ट करना चाहता है। इसका फल यह होता है कि व्यक्ति और समाजके संबंधो और व्यवहार में लगातार परिवर्तन होते रहते है। जो कल मैत्रीपूर्ण संबंध था वह आज उपेक्षापूर्ण वन जाता है, जो कल तक सामान्य संबंध था वह आज विशिष्ट हो जाता है। शास्त्रीय भाषामे इसीको आर्थिक संबंध-परिवर्तन कहते है। यह नामकरण इसलिये सार्थक है कि इस नामसे इन संबंधोका एक प्रमुख आधार प्रकट होता है किन्तु सव कुछ वह ही नही है यह भी कह देना जरूरी है। मनुष्य-समाजके आर्थिक विकास का अर्थात् आदिम युगमे जव मनुष्य कन्दराओ में रहता था और परिस्थितिके अनुसार फल अथवा जानवरो का मास खाकर उदरपूर्त्ति करता था तव से आज के अणु-युग तकका क्रमिक विवरण देनेकी यहाँ आवश्यकता नही है। किन्तु यह उल्लेख करना तो आवश्यक हैही कि जीवलकी मौलिक आवश्यकताओंके उत्पादन तथा उपयोगकी व्यवस्था की प्रक्रियाओ में विशिष्ट संबंध स्थापित होते रहते है। उन संबंधोका विशिष्ट वर्गीकरण भी होता रहता है। इसी प्रक्रियामें नयी-नयी ऐसी कल्पनाओंका उदय होता है, जिनका जीवित मात्र रहनेसे सीधा संबंध नही होता किन्तु अच्छी तरह रहने, सुखसे रहने आदिका संबंध अवश्य होता है। यहीं कलाका जन्म होता है। जव मनुष्यने लकड़ी

के टुकडेमें गड्ढा किया था तब तो उसने अपने जीवनकी एक सीधी आवश्यकता पूरी की थी किन्तु जब उसे कुछ फुर्सत मिली तो उसने उस कटोरेको चिकना किया, उसे सजाया, उसे रँगा भी। स्पष्ट है कि कटोरेको सजाना उसकी उपयोगिता नही बढ़ाता किन्तु आवश्यकता पूर्तिके अतिरिक्त सुख और सौन्दर्यकी भावनाको मूर्त करता है। सुन्दरकी चाह, अत. असुन्दरके तिरस्कारका भाव भौतिक जीवनमें जहाँ कला को जन्म देता है वहाँ नैतिकता और क्रमश. धर्म विचारोके उदयका मानसिक आधार तैयार करता है। वह भी सुन्दरकी उपासना और असुन्दरके तिरस्कारका एक पक्ष है।

व्यक्ति और समष्टिके संबंधो, जीवनकी आवश्यकताओ, उनके उत्पादन एवं उपभोग की व्यवस्था, आदिमें परिवर्तन होते रहनेकी स्वाभाविक अनिवार्यताके साथ ही साथ उनके स्थिरताका भाव भी सर्वदा व्याप्त रहता है, क्योकि व्यवस्थित करनेकी आवश्यकता भी उतनी ही स्वाभाविक है ताकि समाज का रूप विशृंखलित न हो जाय। अत. कुछ बातें गृहणीय तथा कुछ त्याज्य मान ली जाती है। इनके अतिरिक्त बीचकी भी कुछ बातें होती है, जिन्हें व्यक्तिकी इच्छापर स्वतत्र छोड दिया जाता है। सामाजिकता की शृखलाको सुदृढ़ बनाये रखने वाली बातें ही गृहणीय होनी चाहिए। शृंखलाका लक्ष्य स्वतत्रताको बाँधना नही, वरन् विशृंखलतासे रक्षा करना होता है। ये गृहणीय विचार ही सामाजिकताके मूल्य होते हैं। सामाजिक संगठनको स्थायी रखनेके लिए, उनको विशृखल होनेसे रोकनेके लिए तथा सामाजिक-व्यवहारमे एकरूपता लानेके लिए यह आवश्यक है कि कुछ आधारभूत विचार तथा व्यवहार ऐसे हो, जिनपर कसकर व्यक्तिके विचारो तथा व्यवहारोका मूल्याकन किया जा सके और उन्हें उचित तथा अनुचितमें बाँटा जा सके। व्यवहारोका यह वर्गीकरण कुछ ऐसे आदर्शो की स्थापना कर देता है, जो मान्य होते है। काल्पनिक आदर्शो तथा सामाजिकताके व्यावहारिक मूल्योमें यही अंतर है कि एक कभी प्राप्त नही होता केवल प्रेरणा देता है, दूसरा प्रेरक होने के साथ-साथ प्राप्त भी होता है। अहिंसा एक आदर्श है। किसीको पीड़ा न देने की प्रेरणा तो देता है किन्तु जीवनमें पूर्ण रूपेण व्यवहार्य नही है। जीवनसे हिंसा को बिलकुल अलग नही किया जा सकता। दूसरोंके सम्पत्ति-अधिकारका सम्मान करना सामाजिकताका मुख्य-आधार है। इस सम्मानका अर्थ यही तो है कि दूसरेकी सम्पत्ति, अनधिकार रूपसे उसकी अनुमतिके बिना हस्तगत न की जाय अथवा उसे क्षति न पहुंचायी जाय इस नियमके उल्लंघन के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हुए भी यह नही कहा जा सकता कि सामाजिक जीवनकी सुचारुताके लिए वे उल्लघन वांछनीय हैं। कम्युनिस्ट-दर्शनके अनुयायियोकी ओर से इस बात पर आपत्ति की जा सकती है क्योकि उनके विचारसे सम्पत्तिके व्यक्तिगत स्वामित्वकी भावना मनुष्य की परम भावनाओमें से नही वरन् वर्ग-हितपर आश्रित है। कम्युनिस्ट विधि-शास्त्र में सम्पत्तिके व्यक्ति-स्वामित्वका आधार मान्य है, इसलिये सम्पत्तिके सार्वजनिक स्वामित्वकी बात और अन्यके सम्पत्ति-अधिकारका सम्मान कोई परस्पर विरोधी मत नही है। उनमें जनक और जन्य का सम्बन्ध है।

इस नियमको यदि ग्राह्य तथा वर्ज्य व्यवहारोकी परिधिसे परे स्वेच्छाकी श्रेणी में रख दिया जाय तो सामान्य-जीव-समूह तथा मनुष्य-समाजका स्तरान्तर सिद्ध करनेवाली

सामाजिक जीवनकी उपलब्धियाँ— कभी प्राप्त न हो सकेंगी। श्रम-सचय ही तो सम्पत्ति है। जब किसीका श्रम-संचय सुरक्षित न होगा तो कोई मचय करेगा ही क्यो ? और यदि श्रम सचित न हो, तो अवकाश प्राप्ति सभव नही होगी अत कोई भी प्रगति विकास सभव न हो सकेगा। दीन पर बलवानके और उस पर उससे अधिक बलवान के आक्रमण और अपहरणका क्रम बना रहेगा। यह नियम गृहणीय होनेके कारण एक सामाजिक आदर्श है। कितनी ही लोकगाथाओंमें और कही-कही तो ऐतिहासिक विवरणोके रूपमें भी यह सुनकर हृदय उल्लसित होता है कि मकानो पर लगानेकी कभी तालोंकी आवश्यकता नही थी, द्वार खुले पड़े रहते थे और यदि कोई किसी स्थानपर कोई वस्तु भूल जाता, तो लौटने पर उसको वह उसी स्थान पर मिल जाती थी। आदर्श होने के साथ-साथ वह व्यावहारिक भी है और इसीलिए इसे आदर्श नही सामाजिकता का मूल्य माना गया है। चोरी करना अवैध एव अनियमित है अत दण्डनीय भी है। इस विधिका शास्त्रीय आधार और सामाजिकताका यह मूल्य अन्यके सम्पत्ति-अधिकार का अपहरण करना है।

यह सामाजिक जीवनको विशृंखल होने से बचानेके लिये तथा सामाजिक जीवनमें और अधिक सुव्यवस्था, सुचारुता और सरलता लाने के लिए व्यावहारिक रूप से प्राप्त जो आदर्श स्थापित किये जाते है उन्हें ही सामाजिकता के मूल्य कहा जाता है।

ये व्यावहारिक आदर्श सदा एक-से नही रहते। सामाजिक जीवनकी आवश्यकताएँ तथा परिस्थितियाँ बदलती और मनुष्यके 'विश्वासका दृष्टिकोण भी बदलता रहता है। उदाहरणके लिए जिस समय मनुष्य-समूहो को जीवित रहनेके केवल चरागाह अथवा आखेट क्षेत्र ही पर्याप्त थे उस समय युद्धमें पराजित और गिरफ्तार शत्रुकी हत्या कर देना सामाजिकताका मूल्य माना गया था। जब खेती के लिए अथवा अन्य श्रम-कार्योके लिए श्रमिकोकी आवश्यकता उत्पन्न हुई तब युद्धमें पराजित शत्रुको मारना वर्जित माना जाने लगा। उस पराजित शत्रुको गुलाम बनाना अमानवीय नही माना जाता था। फिर यह नियम भी बदला और अब तो समानाधिकारकी मान्यता ही सामाजिकताका स्वीकृत परम-मूल्य है।

सामाजिकताके इन मूल्यो अर्थात् ग्राह्य और वर्ज्य व्यवहारोमें कुछ स्थायित्व होना आवश्यक है अत प्रारम्भिक रूपमे इनके पालनमें इनका वाह्य-रूप ही देखा जाता है। व्यक्ति के किसी व्यवहार के पीछे उसकी मन स्थिति अथवा भावना कैसी है अगर इस पर ध्यान दे तो व्यवहारो के अनेक वर्गीकरण करने की आवश्यकता होगी। ये वर्गीकरण नवोदित मूल्योंके विषयमें सभव नही होती। उससे सामाजिक-जीवनमे एकरूपता भी स्थापित नही हो सकती। इसीलिए इन सामाजिक मूल्योंके पालन का कुछ उपहार और उनके उल्लघन का कुछ दड निर्धारित हो जाता है। चूंकि इस उपहार अथवा दडका देना सभी परिस्थितियोमें सभव नही है इसलिए मानव-मस्तिष्क ने उनकी कल्पित पर-लोक में व्यवस्था कर डाली। धर्म और परलोककी भावना के उदयके अन्य कारणो एव आधारोंके अतिरिक्त यह आधार भी है। सामाजिकता के मूल्य नैतिक आचरणका नाम ग्रहण कर लेते है। सामाजिक जीवनकी स्थिरताके लिये आवश्यक होनेके कारण चोरी न करना जहाँ सामाजिकताका एक मूल्य है वह-धर्म में

भी चोरी पाप और अस्तेय धर्माचरण माना जाता है। सहयोगकी भावना सामाजिकता का मूल्य है, वही धार्मिक भाषामें 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' का रूप धारण कर लेता है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट है कि सामाजिकताके मूल्यो, नैतिक-नियमो, धार्मिक-सिद्धातो अथवा उच्च आदर्शोका लक्ष्य समाजको शृंखलाबद्ध रखना, जीवनको अधिक सुखी, अधिक सम्पन्न, अधिक सरल तथा सुन्दर बनाना ही है। फिर भी इन सबका रूप एकदूसरेसे कुछ भिन्न होता है। इस रूप-भिन्नताका कारण मानव-ज्ञानकी सीमाएँ है।

समाजके विकसित होते रहनेके साथ-साथ मान्यताओ और आदर्शोंके विकासका पूरा विवरण यहाँ देना न तो संभव है और न आवश्यक। किंतु यह बात अवश्य ध्यान देने की है कि एक स्तर तक समाजका विकास हो चुकनेके बाद उसके राजनीतिक रूपका भी विकास होता है, और इसे ही राज्यकी संज्ञा दी जाती है। राज्यकी कल्पनाके विकासकी कहानी बड़ी रोचक है। राज्य अर्थात् समाजके उस राजनीतिक-सगठनकी शक्तिके उदयके बाद ग्राह्य और वर्ज्य-व्यवहारोका विभाजन कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है। कुछ व्यवहारोको राजशक्ति दंडित ठहरा देती है और कुछको नही। इस प्रकार ग्राह्य और वर्ज्य-व्यवहार कानूनका रूप धारण कर लेते है। कुछ ग्राह्य व्यवहार सार्वजनिक कर्त्तव्य बना दिए जाते है।

कानून द्वारा नियमित इन व्यवहारोमें एक बात विशेष रूपसे दृष्टिगोचर यह होती है कि कानूनके आदेशोका रूप नकारात्मक होता है : जैसे चोरी न करो, किसीको क्षति न पहुँचाओ, धोखा न दो, हत्या न करो आदि-आदि। कुछ विशिष्ट परिस्थितियो को छोड़कर सामान्य रूपसे जो कर्त्तव्य-निर्धारण कानून द्वारा अर्थात् राजशक्ति द्वारा होते है उनमें "ऐसा करो" का निर्देश प्राय नही होता। मानलीजिए कोई आदमी डूब रहा है और कोई अन्य तैरने वाला व्यक्ति अपनी जान खतरे में डाल कर उसे बचा ले, तो उसके कार्यकी प्रशंसा होगी किन्तु यदि वह पानीमें न कूदनेका ही निश्चय कर ले, तो कोई कानून उसे उसके लिए मजबूर नही कर सकता, भले ही उसके उस निश्चयका कारण शत्रु-भाव ही क्यो न हो। अत कुछ तो व्यवस्था-विषयक सीमाओके कारण और कुछ व्यक्तिकी स्वतंत्रताकी रक्षा करनेके आदर्शके कारण व्यवहारोका नकारात्मक और सकारात्मक विभाजन हो जाता है। 'पापाय पर पीडनम्' का व्यापक नैतिक-आदर्श (धर्म-सिद्धात) सामाजिकता तथा व्यावहारिकताके स्तर पर आकर अपने पड़ोसीको क्षति न पहुँचाओकी विधिका साकार रूप धारण कर लेता है।

देखने में यह द्विवर्गीय विभाजन कुछ अटपटा-सा अवश्य लगता है किन्तु जरा गहराई से देखा जाय, तो इसका आधार सामाजिकताकी यह परम-पुनीत मान्यता ही है कि नैतिकताका आश्रय स्वेच्छित निर्णय है दण्ड-भय नही। सुख उपभोग कर सकनेकी क्षमता तथा साधन रहते हुए भी जो उसे पर-सेवाके उपयोगमें लाता है वह त्यागी कह लाता है। क्लीव ब्रह्मचारी नही होता। राजशक्तिके बल पर यदि डूबने वालेकी रक्षाके लिये पानीमें कूदना अनिवार्य हो, तो उसे परोपकारकी संज्ञा नहीं दी जा सकती। फिर भी नैतिक और विधि-निर्देशित आचरण ऐसे नही है, जो एक दूसरेसे बिलकुल

अछूते हो। दोनोका मूल एक ही है—सामाजिक जीवनकी सुचारुता, और दोनोका भविष्य भी एक ही है—व्यक्तिका व्यवहार। अन्तर यह है कि कानून जहाँ समष्टिमें व्यष्टिके व्यवहारसे सबधित है, वहाँ नैतिकताका आग्रह केवल व्यक्तिको लेकर ही है। लेकिन आचरण की नैतिकताकी तुला तो लोक-कल्याण ही है। यही कारण है कि मनुष्य-समाजके ज्ञान और उसकी वृद्धिके साथ-साथ विधिका क्षेत्र बढता जाता है। उसमें नैतिकताके नियमोका क्रमश अधिकाधिक समावेश होता जाता है। व्यावहारिकताका ध्यान रखनेके कारण नियमोके रूपमें थोडा बहुत अन्तर अवश्य आ जाता है। जैसे "सत्य वद" के नैतिक नियमका विधि रूप केवल यही रह गया कि 'किसी को क्षति पहुँचानेकी दृष्टिसे असद् भाषण करना दण्डनीय है।' 'एक पत्नी-व्रत" की बात विधिके क्षेत्रमें आकर "एक समय में एक पत्नीका" नियम बन जाती है। इस प्रकार सामाजिकताके मूल्यमें सर्वथा नयी मान्यताओका समावेश होता रहता है और वह भी बहुत क्रमिक रूपमें, जिन्हें हम सामान्य रूपसे, सामाजिकताके नये मूल्य कहते है, वस्तुत वह आचरण विषयक अन्य क्षेत्रोके नियमोको उधार लेना है।

भारतीय-सविधानकी प्रस्तावनामें स्वतत्रता, समानता और भ्रातृत्वके साथ-साथ सामाजिक न्यायकी स्थापना करना सविधानका उद्देश्य घोषित किया गया है, यह एक नयी मान्यता है।

फ्रासीसी क्रातिके स्वतत्रता, समानता और भ्रातृत्वके तीन आदर्शोने सामाजिक मान्यताओका रूप धारण कर जहाँ एक ओर सामन्तशाही समाप्त कर राजनीतिक समानता स्थापितकी, वही व्यक्तिकी स्वतत्रताकी मान्यताने आर्थिक क्षेत्रमें एक नयी असमानताको भी जन्म दे दिया। उस असमानता को ही दूर करनेके लिए एक ओर आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिकी स्वतत्रतापर पूर्ण नियत्रणकी मान्यताका उदय हुआ और दूसरी ओर सामाजिक न्यायको ही सामाजिकताका मूल्य माना गया। आज विश्वमें मूल रूपसे इन्ही दोनो मान्यताओपर सगठित दो समाज कायम है। इस मौलिक अन्तरके कारण ही दोनोके सामाजिकताके मूल्योमें भी व्यापक अन्तर-व्याप्त है। प्रथममें आर्थिक नियत्रणके कारण व्यक्ति-स्वातत्र्य जरूर समाप्त हो गया, किन्तु व्यक्ति, सम्पन्नता और कार्य-क्षमताके नये स्तर कायम हुए। दूसरी ओर राजशक्ति उतनी बलशाली नही किंतु व्यक्ति-स्वातत्र्य (कही कुछ अधिक व्यापक और कही कुछ कम व्यापक क्षेत्रोमें) कायम है।

दोनोमें ही व्यक्तिकी पूर्ण स्वतत्रता राजशक्ति द्वारा जनहितके लिए नियन्त्रित है। किन्तु एक अतर है। एक स्वतन्त्रताको ही सारे दोषोका कारण मानकर चलता है और दूसरा स्वतत्रताके उसी अग पर नियत्रण करता है जहाँ समाजके हितके लिए उसका दुरुपयोग होता है अथवा होने की सभावना है। अभी तक उसका कोई तुला स्पष्ट नही है।

यहाँ हम इस राजनीतिक बहसमे पडना नही चाहते कि हमारे संविधानकी प्रस्तावना में "हम भारतीय जन—" की घोषणा न्याययुक्त नही है क्योकि यह सविधान बहुत सीमित क्षेत्रके प्रतिनिधियो द्वारा ही तैयार किया गया है। यह एतराज स्वीकार करते हुए भी यह उल्लेखनीय है कि "हम भारतीय जन —" कहकर सविधान निर्माताओने,

कमसे कम सैद्धातिक रूपमें तो यह स्वीकार किया ही है कि राजशक्ति ईश्वर प्रदत्त नही है और न ही बलपर आधारित है वरन् वह सार्वजनिक रूपसे जनसाधारण में व्याप्त है। यदि जनसाधारण ही राज्यशक्तिका स्रोत है, तो किसी एक व्यक्ति या एक दल या एक गुट को उस पर चिर काल तक अधिकार कायम रखने का कोई अधिकार नही है। यह स्वत· स्पष्ट है कि निश्चित अवधियोके बाद पुन -पुनः जनमत लेते रहने की और सभीको अपनेमें जन-विश्वास सिद्ध करनेकी व्यवस्था होनी चाहिए। इसलिए बार-बार नियत अवधिके बाद चुनावकी व्यवस्था की जाती है चुनाव वास्तविक होना चाहिए प्रदर्शन मात्र नही।

संविधानकी प्रस्तावनाके अन्य अंशोको हम यही इसलिए छोड़ देते है कि उसके अन्य भागोमें सामाजिकताके किन्ही नये मूल्योका समावेश नही, वरन पुरानी मान्यताओकी ही पुनरावृत्ति है। सामाजिकताके कुछ मूल्योंका विवरण संविधानके तीसरे तथा चौथे भागमें दिया गया है। घोषणाएँ सर्वथा नयी हो ऐसी बात नही है। तीसरे भागमें जो "मौलिक अधिकार" घोषित किये गए है उनका इतिहास हमें १२ वी सदी से मिलता है। पोपकी घोषणा (बुल) में इनमें से कई का उल्लेख किया गया था। कुछ अन्य देशोके संविधानोमें भी येह घोषणायें है। जो हो नागरिकके मौलिक अधिकारोकी घोषणा पुरानी परिपाटी होते हुए भी उसका महत्व कम नही किया जा सकता। राज्य सर्वशक्तिमान सर्वाधिकार सम्पन्न नही है बल्कि उस पर भी कुछ बंधन और कुछ सीमाएँ है।

सकारात्मक कर्तव्योकी घोषणा इस युगकी एक नयी मान्यता है। भावी-निर्माण का एक रूप सामने उपस्थित है जिसकी तुला पर राज्यके कार्योको आँका जा सकता है। समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्वके नारो पर की गयी फ्रांसीसी क्रांतिके बाद "लैसे-फेयर" अर्थ व्यवस्थाने एक नयी असमानता, एक नयी गुलामी और एक नया शत्रु-भाव स्थापित कर दिया था क्योकि उस क्रांतिके उद्देश्यमें सकारात्मक निर्देश नही थे। इसीलिए उस क्रातिके बाद राजनीतिक और उसके प्रतिक्रिया स्वरूप आर्थिक समानता के मूल्योकी स्थापनाके बाद भी समानता पूरी नही होती। इसकी पूर्त्तिके लिए सामाजिक समानता भी आवश्यक है। सामाजिक समानता इस युग का एक नया मूल्य है। शिक्षा एवं ज्ञानके प्रसार तथा परस्पर साहचर्यसे तो वह संभव होगा ही किन्तु उसमें गति देने के लिए उसके साधन यही तो है कि अज्ञान अथवा अंधविश्वासों पर आधारित रूढिगत सामाजिक असमानताओ पर आचरण करना दण्डनीय बना दिया जाय, दूसरी ओर रुढिने जिन्हें अधिकारहीन कर रखा है उन्हें विधि द्वारा समानाधिकार संपन्न बना कर व्यक्तिगत विधि-व्यवस्थाके स्थान पर सभीके लिए समान विधिकी व्यवस्था करदी जाय।

स्वतंत्रता-प्राप्तिके बादसे विधि निर्माणकी जैसी गति रही है, उसे पूर्ण संतोपजनक न मानते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि इस ओर सर्वथा असावधानी उपेक्षा या उदासीनता नहीं रही। फैक्टरी कानूनोका नये-नये क्षेत्रोमें विस्तार, व्यक्तिगत लाभ की प्रवृत्ति पर समाज-हितके उद्देश्यसे (वह पूरा कहाँ तक होता है यह प्रश्न भिन्न है) राज्यका नियंत्रण, स्त्रियों, पिछड़ी जातियों आदिको कुछ विशिष्ट अधिकारोंसे सम्पन्न

कर उन्हें समान स्तर पर लानेके प्रयास, वीमा-योजना आदिके विधि-निर्माण इसी ओर सकेत करते हैं।

सामाजिक समानताकी इस नयी मान्यताने विभिन्न राष्ट्रोकी सार्वभौमिकता के सिद्धात को शुद्ध राजनीतिके क्षेत्रसे वाहर निकाल कर उसे एक सामाजिक अर्थ प्रदान कर दिया है। शुद्ध राजनीतिक आधारपर राष्ट्रोकी सर्व-सत्ता, समानताकी मान्यता का कुफल इतिहास प्रकट कर चुका है। उस मान्यतापर वलहीन, छोटे और पिछड़े हुए तथा गुलाम राष्ट्रोकी स्वतत्रताकी माँग को कौन सामने रखे यह समस्या हल नही हो सकती। उसका अवसर तो तभी उपस्थित होता है जव सभी राष्ट्र समानताके स्तरपर एक ही मचपर एकत्र हो। और यह तभी सभव है, जव सभी राष्ट्र अपनी सार्वभौमिकताकी पूर्णताका पुरानी मान्यताओपर आधारित आग्रह कुछ त्यागें। विगत दो महायुद्धो ने मानव जातिको यही शिक्षा दी है कि सभी अपनी सार्वभौमिकता का कुछ अश "सामाजिक सहयोग" को "अर्पित" कर दें। इसी अनुभूति ने 'लीग आफ नेशन्स'को जन्म दिया था और इसीकी द्विगुणित अनुभूति ने सस्याकी कुछ कमजोरियो को दूर करके वर्त्तमान "सयुक्त राष्ट्र सघ"को जन्म दिया।

यह स्वीकार करना पडेगा कि यह वर्त्तमान सघ भी अभी सही अर्थो में "सयुक्त-राष्ट्र-सघ" नही वना है क्योकि सामाजिक समताका आदर्श सार्वभौम रूप में स्वीकार नही किया गया। एक ओर एक विशाल भूखडके अपार जनसमुदायका कोई प्रतिनिधित्व नही है, दूसरी ओर दो विशाल शक्तियाँ—एक आर्थिक स्वतत्रताके नाम पर और दूसरी सास्कृतिक समताके नाम पर आश्रित राष्ट्रो पर वलात् प्रभुत्व जमाए हुए हैं अथवा उसके लिए प्रयत्नशील हैं। इस छीना-झपटीने ही विश्वमें द्वितीय महायुद्धके वाद इतनी शीघ्र सतुलन विगाड दिया है और सारा वातावरण शीत-युद्धसे भयभीत है। ऐसा लगता है कि मानव जातिको सामाजिक समानता एवं सामाजिक न्यायके नये मूल्यका वास्तविक अर्थ समझनेके लिए एक और युद्ध की अग्नि-परीक्षा देनी होगी—इस महा-प्रलयके काले वादलोके पीछे एक धूमिल प्रकाश रेखा स्पष्ट दीख रही है। पंचशीलकी स्वीकृति विभिन्न राष्ट्रो में विभाजित मानव जातिको कदाचित इस अनिष्टसे विरत रख सके और मानव-इतिहास में प्रथम वार सामाजिक समता, सहयोग शाति और सम्पन्नता की स्थापना सार्वभौम रूपसे हो सके।

—— o ——

विष्णुदत्त शुक्ल

संस्कृतिके तत्व

मानव समाजमें व्यष्टि और समष्टि रूपोंसे जो व्यवहार आचार-विचार आदि किये जाते है, उसीको संस्कृतिके नामसे अभिहित किया जाता है। हम अपने साथ एकान्तमें किस प्रकारके व्यवहार करते है, कैसे विचार रखते है, यह भी संस्कृतिका एक अंग है और सम।जमें अपने मित्रो, पड़ोसियो आदिसे जो व्यवहार करते है, वह भी सस्कृतिका एक अग है। इसमें सन्देह नही कि सामाजिक रूपसे हमारा आचरण-व्यवहार संस्कृतिका अधिक प्रख्यात अंग है और वैयक्तिक रूपसे किया गया व्यवहार उतना प्रख्यात अंग नही है। परन्तु यदि इनमें से किसी एकको भी हम हटा दें और तब किसी समाज विशेपकी सस्कृतिकी विवेचना करने बैठें, तो वह एकागी होगी, अपर्याप्त होगी।

हम किस प्रकार एकान्तमें बैठकर पूजा अर्चन करते है, किस प्रकार भोजन पान करते है, कैसे सोते उठते है, कैसे अध्ययन अनुशीलन करते है, कैसे सोचते-विचारते है आदि सभी बातें, वैयक्तिक होते हुए भी, व्यापक रूपसे संस्कृतिका अंग ही है। इनकी उपेक्षा करके किसी समाजकी सस्कृतिपर क्या विचार किया जा सकता है? और उस प्रकार का विचार कैसे पर्याप्त माना जा सकता है? सम्यक विवेचनाके लिए इस अंगपर दृष्टि-पात करना आवश्यक और अनिवार्य ही है।

सामाजिक या समष्टि रूपसे सस्कृतिकी जो विवेचना की जाती है, उसमें भी हम संकीर्णतासे काम लेते है। इस दिशामें भी हमारा दृष्टिकोण अधिकाशमें सीमित रहता है। हम यह विचार तो करते है कि समाज विशेपमें अपने कुटुम्बियोंके साथ कैसा व्यवहार किया जाता है, अपने मित्रोंके साथ किस प्रकार मिला जुला जाता है, अपने पड़ोसियोंके प्रति कितनी सहानुभूति दिखाई जाती है और बहुत आगे जाते है, तो यह विचार भी कर लेते है कि उस समाजमें अपने नौकरोंके साथ किस प्रकारका व्यवहार वर्त्ताव किया जाता है। इसके आगे जाते हुए हम प्राय. नही मिलते।

परन्तु संस्कृतिकी विवेचना इतने हीसे पर्याप्त या सम्पूर्ण नही हो जाती। हमें यह भी देखना पड़ेगा कि हम अपने अतिथियोंके साथ कैसा वर्ताव करते है, उन लोगोंके प्रति कैसा व्यवहार करते है, जिनसे हमारा कोई सरोकार नही है जो हमारे लिए अपरिचित है। इतना ही नही यदि किसी समाजकी सस्कृतिका सम्यक् अध्ययन करना है, तो हमें यह भी देखना पडेगा कि वह समाज अपने शत्रुओ तकसे और कहा जाय तो पशुओं तकसे कैसा व्यवहार करता है।

जव इन सव वातोको सामने रखकर विवेचना की जायगी तभी किसी सस्कृतिकी विवेचना ठीक-ठीक हो पायेगी और तभी हम उस सस्कृतिके साथ उचित न्याय कर सकेंगे।

समाजमें वडे छोटोके साथ कैसा व्यवहार करते हैं, छोटे वडोके साथ किस प्रकारका व्यवहार करते है, समान वयवाले आपसमें कैसा व्यवहार करते हैं, स्त्रियोके प्रति समाजका क्या व्यवहार है, वर्ग भेद या वर्णभेद आदि की क्या अवस्था है, समाजकी क्या प्रवृत्तियाँ हैं' क्या रुचियाँ है, क्या व्यसन है, क्या रूढियाँ है, क्या परम्पराएँ है, क्या अंधविश्वास हैं इत्यादि अनेक वातोका विचार सस्कृतिका रूप निरूपण करते समय करना पडेगा। संस्कृतिके इन आधारभूत तत्वोकी उपेक्षा करके उसका उचित विवेचन सम्भव नही।

इन व्यवहारो, आचरणो, मान्यताओ और धारणाओमें अनेक वातें अच्छी हो सकती हैं और अनेक वुरी। इन्हींके आधारपर किसी समाज-विशेपकी श्रेष्ठता और कनिष्ठता का परिचय मिलता है। जो वातें अच्छी है, वाछनीय है उनके सम्वन्धमें तो अधिक कुछ कहनेकी आवश्यकता नही प्रतीत होती। परन्तु जो वाते अवांछनीय है उनपर सहानुभूति और उदारतापूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता होती है। किसी अवाछनीय वात को देखते ही, उसपर सम्यक् विचार किये विना, उसकी सस्कृति को निकृष्ट कह देना वुद्धिहीनता ही मानी जायगी। हमें यह देखना पड़ेगा कि जो अवाछनीय तत्व समाजकी सस्कृतिमें आ गए वे कैसे आए? उनके लिए अनुकूलता कैसे मिली? जिन स्थितियो में वे अपनाये गये थे या घुस आये थे वे स्थितियाँ वचायी जा सकती थी या नही? उनके वचानेका कोई प्रयत्न किया गया या नही आदि। सस्कृतिविशेप उसी समय हीनताकी दोपी मानी जा सकती है जव उसने स्वेच्छासे विना किसी स्थिति विशेपके दवाव के उस विशेप प्रथाको स्वीकार किया हो।

और यदि ऐसा भी हो तो भी यह मानकर विचार करना पड़ेगा कि सभव है उस समय जव वह प्रथा-विशेप अपनायी गयी थी वह अच्छी मानी जाती हो। यह वात ध्यान देने योग्य है कि सस्कृतिके मूल्याकन भी युग के प्रभावसे वदलते रहते हैं। आज जो विचारधारा समाजमें प्रचलित है वही भविष्यमें भी वनी रहेगी इसकी कल्पना नही की जा सकती और यदि आगे इसकी विचारधारा वदलती है, तो आजके आचार व्यवहार उस वदली हुई विचारधाराके युगके अनुकूल न होगे। इसलिये उस समयके विचारक आजकी किसी सस्कृतिकी निंदास्तुति कर सकते है। इसी आधारपर समाज-विशेपकी भी निन्दास्तुति हो जाती है।

इसमें सदेह नही प्रत्येक विचारक अपने युगके धर्मसे प्रभावित होकर ही विचार करता है और उस समय प्रचलित मान्यताओ और विश्वासोके आधारपर ही वह किसी सस्कृति की आलोचना करता है। यही स्वाभाविक भी है और उचित भी। परन्तु समालोचक के लिए समाजके प्रति उचित न्याय करनेके लिए यह भी आवश्यक है कि यह विवेचन भी किया जाय कि सस्कृतिका आलोच्य अग किन स्थितियोमें अगीकार किया गया और उनमें उसका औचित्य था या नही?

नारीके प्रति न केवल हिन्दू समाजमें वरन् सारे ससारमें एक जमानेसे हीन धारणा प्रचलित चली आ रही है। आज भी इस धारणाका पूर्णतया उन्मूलन नहीं हुआ। परन्तु आजका विचारक इस विपयमें जागरूक हो गया है। एक इतने वडे सम्प्रदाय

के प्रति जो अन्याय हो रहा है, उसके विरुद्ध उसने अपनी आवाज़ उठाई है। दशा सुधरने लगी है। निकट भविष्य में ही उसके और भी अधिक सुधारकी आशा है। ये सब शुभचिन्ह है। इनका स्वागत होना चाहिए। परन्तु इसीके आधारपर सारे संसारकी सभ्यता और सस्कृतिको निन्दनीय बता देना उचित नही है। संस्कृतिकी आलोचनामें भी एक संस्कृति होनी चाहिए। हम कटु-शब्दोका प्रयोग करके किसीकी आलोचना न करें। इसकी अपेक्षा सहानुभूतिके साथ मधुर शब्दोमें त्रुटियोकी ओर सकेत करें यह अधिक सास्कृतिक है और यही उचित है।

आजके मनुष्यमें मानवता अधिक विकसित रूपमें आयी है। पूंजीवाद, साम्रा वाद, वर्गभेद, वर्णभेद आदि देखकर यह सोचना गलत होगा कि मानवताके अधिकहोने की बात असत्य है। देखना यह नही है कि पूंजीवाद या साम्राज्यवाद आदि अभी मिटे नही है बल्कि देखना यह है कि उनके प्रति जन-साधारणके मनोमें कितना विद्रोह उत्पन्न हो गया है। और धीरे-धीरे किस प्रकार ये परम्पराएँ मिटती जा रही हैं। आज मानवता-विरोधी परम्परा की जड़ें हिल चुकी है। यही मानवताके विकासके चिन्ह है।

आजका मानव अत्याचार, उत्पीडन, शोषण आदिका प्रत्यक्ष विरोधी हो गया है। जो प्रथाएँ आजसे कुछ समय पूर्व निन्दनीय न मानी जाती थी, वे आज निँदनीय ही नही घृणास्पद मानी जाने लगी है। आज गुलाम बनानेकी प्रथा असह्य है। इसी प्रकार जो जातियाँ वर्णभेद या वर्गभेदके कारण उच्च वर्णोंके सामने हीन, अस्पृश्य मानी जाती थी उन्हें गले लगानेका अपनी बराबरी देनेका भाव आज जितना जाग्रत है, उतना पहिले न था। मनुष्यमात्र समान है, उनमें कोई ऊँच-नीच नही, यह मान्यता आज जितनी प्रखर है उतनी पहिले नही थी। आज मनुष्य की दृष्टि में मनुष्यका मूल्य पहिलेकी अपेक्षा बढ़ा है। इसी लिए आज मानवता अधिक विकसित मानी जाती है।

पूर्वकालकी अपेक्षा आज का संसार एक-दूसरेसे अधिक निकट आ गया है। भिन्न-भिन्न संस्कृतियोके सम्पर्क बराबर बढ़ रहे हैं। एक संस्कृतिका दूसरीपर प्रभाव भी पड़रहा है। इस प्रकारका प्रभाव नैसर्गिक है। उसे बचाया भी नही जा सकता। वह तो जाने या अनजाने, इच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक घुस ही आता है। आजका युग संस्कृतिकी बहुत बड़ी सक्रान्तिका युग है। सारे संसारकी सस्कृतियाँ एक-दूसरेसे टकरा रही हैं। विचारधाराओमें बड़ी तेज़ीसे परिवर्तन हो रहे है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे महाकाल नाटकीय रंगमंचको पटपरिवर्तनके लिए घुमा रहा है। और उसीसे यह हलचल मच गयी है।

इस दशामें हम अपने-अपने राष्ट्रोकी (जातियोकी तो बात ही छोड़ दीजिए।) पृथक्-पृथक् संस्कृतिकी बात छोडकर विश्वव्यापी संस्कृतिकी भी कल्पना कर सकते हैं। यातायात, संवादवहन, आदिके उन्नत साधनो और नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारोंने विश्वको एक व्यापक समाज बना दिया है। इस स्थितिमें एक सार्वभौम विश्वव्यापी संस्कृति की उद्भावना हो जाय तो आश्चर्य नही। यदि ऐसा होता है, तो हमारी विश्वबन्धुत्व की भावना साकार बन जायगी। इस दशामें सांस्कृतिक तत्वोकी विषमता अपनेआप समाप्त हो जायगी और सारा विश्व सस्कृतिके एक सूत्रमें पिरोया हुआ सुन्दर सुखद जयमाल बन जायगा।

उदारचेता दूरदर्शी मनीषी इस प्रकारकी सम्यताकी आशा भी करने लगे हैं। सारे संसारको एक व्यापक समाजके रूपमें सोचनेकी परिपाटी बढ रही है। सारे संसार की राजनीतिक एकताकी बातें तो होने भी लगी हैं। एक ससार (one World) विश्व राष्ट्र सघ (World Commonwealth) की बात तो आये दिन समाचारपत्रोमें आती ही है। सारे ससार की शासनका समीकरण करनेकी भी चर्चा हैं। ये सब ऐसे लक्षण हैं, जो एक विश्वसस्कृतिकी कल्पना करनेकी प्रेरणा देते हैं। ये शुभचिन्ह हैं। हमें इसका स्वागत ही करना चाहिए। जब हम चद्रलोक मगललोक तकके साथ सम्पर्क स्थापित करनेकी बात सोचने लगे हैं, तब अपने इस ससारका एकीकरण भी न करें यह तो अनुदारता और बौद्धिक दरिद्रताका ही द्योतक होगा। यह अनुदारता या दरिद्रता अब सम्भव नही हैं। बुद्धिका विकास इसे होने न देगा और आज नही तो कल, कल नही तो परसो सारा ससार एक विशाल राष्ट्र होगा, सम्पूर्ण मानव समाज एक परिवार होगा और सारी सस्कृतियाँ मिलकर एक सामान्य सर्वमान्य सार्वभौम सास्कृतिको जन्म देंगी। सारा ससार आज इसी अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए आगे बढ रहा है। जो विचारधाराएँ इसके प्रतिकूल हैं, वे अधिक दिनो तक टिक नही सकती। युग अपना प्रभाव डाले बिना रह नही सकता।



महात्मा भगवानदीन

समाज-सुधार और समाज सुधारक

समाज-सुधारका काम कबसे शुरू हुआ यह बताना कठिन है। हाँ यह बताना आसान है कि उसका कब अन्त होगा। इसका यह जवाब है। "कभी खतम नही होगा'। समाज सुधारके कामका खतम हो जाना और समाजका खतम हो जाना एक ही बात है,।

यह काम खतम क्यो नही होगा? इसका जवाब है, कि समाजका बिगडना कभी बंद नही होगा। मकान नष्ट होनेपर ही मकानका साफ होना बद हो सकता है। मकानके रहते वह बंद नही हो सकता। कूड़ा तो हमेशा साफ करना ही पड़ता है, बिगड़े-समाजको हमेशा बनाना पड़ता है।

समाजके बिगडनेका क्या कोई और नाम है? हाँ है, वह है, समाज का रूढ़ियो पर चलना। समाजके बिगड़नेको रूढिवाद भी कहा जा सकता है।

रूढ़ि कहते है पुराने रिवाजको। रिवाज पुराने होने पर रूढ़ि नाम पाते है। समाज-सुधारक इसके सिवाय और करता ही क्या है कि पुराने रिवाजो की जगह नये रिवाजो को दिलवा दे। नये रिवाज फिर पुराने हो जाते है और रूढ़ि बन जाते है। सुधारकी फिर जरूरत हो जाती है। यो सुधारका काम भी कभी खतम नही हो पाता।

रिवाज, अनेक है, अनगिनत है। हर समय एक-दो दस-बीस रिवाज रूढिके रूप में रहते ही हैं· इसलिये हरदम, हर घड़ी, हर क्षण सुधारकी जरूरत है। सबके सब आदमी अगर सुधारक बन जायँ तब भी यह काम कभी न निपट सकेगा। अब आपने समझ लिया होगा कि समाज-सुधारका मैदान कितना लंबा चौड़ा, कितने फैलाव और समाई वाला है।

सुनकर आप दाँतों तले उँगली दबाकर रह जायँगे कि समाजका कोई सुधार, समाजका कुछ न कुछ बिगाड़ किये बिना हो नही सकता। समाज-सुधारक ऐसी बात सुनकर भौंचक्का रह सकता है, पर सचाई यही है।

पहले यह बताइए कि लड़केलड़कियोको मजबूत बनाना समाज-सुधार है या नही? यदि हाँ, तब यह बताइए कि क्या सुधार हुए समाजके लड़की-लड़के उतने ही बलवान होते है, जितने उस समाजके जिनको सुधरे समाज बिगड़ा-समाज या जगली, आदिम और पिछड़ा समझते हैं? क्या आज भी अंग्रेज और अमरीकी उस हिन्दुस्तान को पिछड़ा

हुआ देश नहीं समझते, जिसने अभी कुछ दिन हुए सुधरे-अग्रेजी समाज को अपने देश से बाहर निकाल दिया था ?

आप कहेंगे, इतिहासकारोका कहना है, कि हमेशा बिगडा हुआ समाज यानी जगली-समाज लड़ाई के मैदान में सुधरे समाज को हराया करता है। इसको साबित करने के लिए इतिहासके जानकार दलील दिया करते है कि हिन्दुस्तानके आदिमवासी द्रविड ज्यादा सभ्य थे तभी असभ्य आर्योसे हार गये। इसलिये अभी कुछ दिन पहले जो अंग्रेज हिन्दुस्तानियोसे हारे वह इसलिये हारे कि हिन्दुस्तानी जगली थे और अग्रेज सभ्य आज भी अग्रेज सभ्य है और हम जगली।

क्या इस दलीलको सच मानकर मैं यह कहूँ कि अग्रेजी और अमरीकी जगली है, जिन्होने जर्मनी और जापानको हरा दिया ? अगर मेरी यह बात इतिहासके आधार पर है, तो क्या अग्रेज और अमरीकी इसको सच मान लेंगे ? क्या दोनों अपने को जापान और जर्मनीसे ज्यादा असभ्य समझेंगे ? अगर नही, तो यह बात माननी होगी कि हर सुधारक बिगाडको जन्म देकर अपनी जगह बनाता है।

मान लीजिये आप समाजको बलवान बनाते है, क्योकि बलवान बनाना एक सुधार है तो आप जरूर समाजको उतने ही अगोमें मूर्ख भी बना देंगे। मूर्ख बनाये बिना आप समाजको बलवान नही बना सकते। कमजोर बनाये बिना आप समाजको बुद्धिमान नही बना सकते। पर हम कभी समाजको बलवान देखना चाहते है और कभी बुद्धि-मान। इसलिए बिगाड-सुधार का सिलसिला बराबर चलता रहता है।

घरोमें आये दिन औरतें अपनी सोनेकी आरसी तुडवाकर कगन बनवा लेती है। पता नही कगन-रूपी सुधार आरसी के रूपको बिगाड कर ही क्यो बनाया गया ? दलील की खातिर हम यह भी मान लें कि वह नया पाँसा तुडवा कर ही बनवाया गया पुरानी आरसी से नही। पर पाँसा क्या खुद सोनेका सुधरा हुआ रूप नही था ? कगन चोरके हाथ पड़ कर जब सराफकी दूकानपर पहुँचेगा, तो उस कगनको सुधरे रूप पाँसेकी शकलमें आना होगा। तभी तो वह सराफकी आलमारीमें जगह पानेके योग्य हो सकेगा। सभव है इस नये सस्कारमें उसे कुछ टोटा भी भुगतना पडे।

समाज-सुधारक बुरा न मानें। वे यह खूब समझ लें कि वह समाजका बिगाड किये बिना कोई सुधार नही कर सकते। समाज-सुधारक अगर सोलहो आना सुधारक है तो सोलहो आना बिगाडक भी है, जितना कम सुधारक होता है उतना ही कम वह बिगाडक भी। उजाले और अँधेरे पाखमें चाँदनीके घटे एक बराबर होते है पर न जाने क्यो हम एक पाखको अच्छा और दूसरेको बुरा कहते है ? सभव है कुछ ऐसे लोग भी हो, जो अँधेरे पाखको अच्छा और उजाले पाखको बुरा समझते हो। जो अँधेरे पाखको अच्छा समझते है वे कौन है उनसे आप खूब अच्छी तरह वाकिफ है।

एक बार एक अँगरेज और फ्रासीसीमे वाद-विवाद हो गया। अँग्रेज बोला—"हमारा राज बडा।" फ्रासीसी बोला—"हमारा राज बडा"। अग्रेज बोला—"तुम्हारा राज कैसे बडा ?" फ्रासीसी बोला "हमारा राज बहुत अच्छा है। तुम बताओ तुम्हारा राज कैसे बडा ?" अग्रेजने कहा—"हमारा राज सारी दुनिया

में फैला हुआ है। हमारे राजमें सूरज कभी नही डूबता।" फ्रांसीसी बोला—"यह तो कोई अच्छी बात नहीं हैं। खुदा तुम्हारे राजमें सूरज इसलिये नही डूबने देता कि तुम चोर हो। अंधेरा हो जायगा तो चोरी करोगे।" अग्रेज बिगड़ कर बोला—"तब मैं यह कहूँगा कि हमारे राजमें हमेशा अधेरा रहता है और कही चोरी नही होती।" फ्रांसीसी बोला—"तब मै यह कहूँगा कि खुदाने तुमको किसी पहली चोरी की सजा दी है। तभी तो तुमको हमेशा अधेरे में रखता है।" हम इस कहानीसे पाठकोके दिलमें यह बात बैठाना चाहते है कि समाज-सुधारक जाने-अनजाने समाजका बिगाड़ कर जाता है। अगर उसे यह मालूम हो जाय कि वह बिगाड कर रहा है तो शायद वह समाज-सुधार की बात सोचे भी नही।

समाज-सुधार या समाज-सुधारकका आदर्श क्या होना चाहिये? इसके जवाबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि आदर्श कहते किसे है?

हम तो आदर्शकी यह परिभाषा मानते हैं—"किसी कामका आदर्श उस कामकी वह काल्पनिक अवस्था है, जहाँ तक कभी नही पहुँचा जा सकता।"

आप पूछेंगे कि वह आदर्श ही क्या जिस तक न पहुँचा जा सके? हम उसके जवाब में कहेंगे कि वह आदर्श ही क्या जिस तक हम पहुँच जायँ? क्योकि आदर्श तक पहुँचने पर हमारे पास करनेको कुछ रह ही न जायगा और वह हालत ऐसी हालत होगी, कि हम चेतनसे जड बन जायेंगे हमारे ऋषियोने मुक्तिको आदर्श माना है। क्या दुनियामें कोई मुक्त जीव मिलता है? मुक्त-जीव तो सुनने-पढ़नेकी चीज है, देखने छूनेकी नही। वास्तवमें मुक्ति या तो कभी मिलती ही नही या फिर वह हर क्षण मिलती रहती है और वह मुक्ति जिसको ऋषियोने आदर्श माना है अगर किसी को मिल भी जाय, तो दुनिया की अपेक्षा वह कोरा ठूँठ बन कर रह जाय, ठूँठ। पर मुक्तिके किसी आदर्शने सैकड़ोको भला आदमी बना दिया, हजारोको बडे काम का साबित कर दिया, लाखो करोड़ोका भला कर रहा है; पर आदर्श ऐसा है, कि जिस तक कभी नही पहुँचा जा सकता।

चाँदको निशाना बनाकर तीर फेंकने से ही तीर पूरे जोर से फेंका जा सकता है, चाँद तक तो तीर कभी पहुँच ही नही पाएगा।

सुधार का आदर्श क्या हो? यह बात कभी किसीने नही सोची। हमें नही पता पर हम तो अपने लेखको आगे हरगिज न बढ़ने देंगे जब तक सुधारका आदर्श तय न कर लें। बिना आदर्श हम बढें भी किस ओर? और फिर ऐसी दुनियामें जहाँ हर सुधार एक बिगाड़को जन्म दे देता है। क्या इसी विचारसे बुद्ध-भगवानने मध्यम-मार्ग पसंद किया था? क्या अब आठ आना सुधार और आठ आना बिगाड़ के लिये छोड़ दें ताकि बिगाड-सुधार का समतोल बना रहे? यानी अगर समाजमें दस-लाख पहलवान हो, तो दस लाख ही बुद्धिमान तैयार किए जायें, दस लाख साधु-पुरुष हो, तो दस-लाख ही चोर डाकू तैयार किये जायें? पर यह सब हमारे ही तैयार किये हुए हो, अपने आप उठ खडे हुए नहो। हम खेती हिसाबसे करते है पर प्रकृति खेती बे हिसाब करती है। हम ऐसा कह सकते हैं—प्रकृति देवी ऐसा नहीं कर सकती। प्रकृति देवीका हिसाब वही जाने, वह जरूर सब कुछ किसी न किसी हिसाबसे ही करती होगी। उसके हिसाब

का हमें पता नही। इसमे हमें लेना-देना भी क्या ? हमें तो समाजको अपनी आँखो ही देखना, उसी हिसावसे विगाड-सुवार और आदर्श तय करना होगा।

समाज-सुवारके आदर्श निम्न लिखित हो सकते हैं :

१ सुवरे हुए समाजमें कोई अविवेकी न हो।

२ सुवरा हुआ समाज शासन-विहीन हो यानी उस पर कोई सरकार न हो।

३ अराजकता ही राजकता का रूप लेले

३. विवाह जैसी प्रथाका अत हो जाय, फिर भी यौन-उच्छृंखलता न हो।

४. अस्पताल, स्कूल, अनाथालय, धरमशाला नामके लिये भी न हो।

५ सोलह वरसकी उमरके वाद चोटके सिवा किसी वीमारीपर ध्यान नही दिया जाय।

६ नौ वरसकी उम्रके वाद वच्चे दवा लेना पसद न करें। वारह वरस की उमरके वाद वैद्यकी मदद लेना वुरी नजरसे देखा जाय।

७ जव सरकार नही होगी तो अदालतें भी नही होगी।

८ कोई दो आदमी अपने झगडेको किसी तीसरेसे चुकानेमें वहुत शरम मानेंगे खुद ही अपना झगडा निपटा लेंगे।

९ मादरजाद नंगा रहना कोई अनोखी वात नही समझा जाये।

१० अपढ शायद कोई भले ही मिल जाय, नासमझ और अज्ञानी ढूँढे न मिले।

११ दुवले-पतले मिलें पर निर्वल कोई न हो।

१२ आम तौरसे आदमी दो सतानोसे सतोप माने पर एक घरकी आवादी पाँचसे ज्यादा हरगिज न मिले,।

१३. पच्चीस वरस तक आदमी वच्चा ही समझा जाये और वच्चोकी तरह रहनेकी उसे छूट होगी।

१४. कोई किसीका नौकर न हो

१५. जव सरकार ही न होगी, तव मौतकी या दूसरी सजायें भी नही होगी।

१६ गुरुजन सजाका काम "हा" जैसे शब्दोसे लिया करें ? हर एक आदमी "हा" सुनकर इतना दुःख माना करेगा जिसका ठिकाना न होगा। "धिक" शब्द तो उसकी जान लेनेके लिए काफी हो।

१७ धर्मका कोई नाम न होगा। धर्मग्रथ न होगा। उनकी जरूरत ही नही होगी। मदिर न हो। उनकी जगह अजायवघर वन चुके हो।

१८ भगवानकी जगह सत्य और भगवानकी खोजकी जगह सत्यकी खोज ले लें।

अव हमारे आदर्श साफ है। हमारे प्रयत्न अव उसी ओर होगे। हम अपने अपने चरित्रको उसके अनुरूप ही ठीक-ठीक सगठित करके, विश्व-नागरिकताकी नीव डाल सकेंगे।

सुधारका मतलव है—समाजका हर तरह आजाद होना। समाजके आजाद होने का मतलव है—व्यक्तिका हर तरह आजाद होना। आजाद व्यक्तियोका ही आजाद समाज वन सकता है। अव समाज-सुधार व्यक्ति-सुधारके सिवा कुछ नही है।

सुधारकोको यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यक्तिके विगाडे विना समाज-रचना नही

हो सकती । आजकी ईंटका नाम है "गुम्मा" ईंट । पुरानी ईंटोंका नाम होता था —"ककैया" ईंट । आजकी ईंट स्कूलसे निकले हुए लड़केकी तरह सब एक-सी होती हैं । पहली ईंटें घरमें पले वच्चेकी तरह होती थी । हर एकका अपना रूप होता था । कभी-कभी रंग भी भिन्न होता था । मकान वनानेमें गुम्मा ईंट तकको कही न कहींसे छीलना, काटना होता है, तोड़ना-फोड़ना होता है । ककैया-ईंटोंमें तो हर एक ईंटको छीलना और वहुत-सी ईंटोको तोड़ना-फोड़ना पड़ता था तव कही सुन्दर मकान वन पाता था । जिस तरह मकान वनानेमें ईंटोको विगाड़ना पडता है, वैसे ही समाजका भवन वनानेमें व्यक्तिको विगाड़ना पड़ता है ।

ईंटोमें अगर जान होती, तो वे न तो आसानीसे छिल सकती, न टूट-फूट सकती । टूटने-फूटनेका अर्थ है मरना । ठीक इसी तरह यदि व्यक्तिका वस चले, तो समाज-भवन में लगनेके लिये कभी विगड़ना पसंद ही न करे । यह कह सकते है कि व्यक्ति कभी नही चाहता कि समाजकी रचना हो और जव व्यक्ति समाज-रचनाकी वात सोचता है, तो कभी यह नही चाहता कि वह सुधरनेके लिये विगडे । असलमें होता यह है कि उसमें अहकार जागता है । अहंकारका जागना एक प्रकारका आत्म विकार ही है । पर इस आत्म-विकृतिका ही अगर ध्यान रहे, तो वह समाज-रचनाकी वात भी न सोचे । नशेमें चूर व्यक्ति जिस तरह अपनेपनको भूलकर ऐसे-ऐसे काम कर डालता है, जो दूसरो की नजरोमें गिरे हुए माने जाते है पर वह खुद उन कामोको गिरा हुआ नही समझ पाता । अगर गिरा हुआ ही समझे, तो करे क्यो ? ठीक इसी तरह अहंकारी व्यक्ति जव अपनी आत्माको विकृत करके समाज-रचनाकी वात सोचता है, तो समाज रचनाका अर्थ हो जाता है—"सारे समाजका एक आदमीके कावूमें आ जाना ।" इसी वातको नासमझ समझदार कवि एक सूतमें माला पिरोनेसे उपमा देते है । यह किससे छिपा है कि मोती मालामें आनेसे पहले ही अपनी शान खो चुका होता है—अपना पेट फडवा चुका होता है । इसलिए व्यक्ति समाज-मालामें पिरो जानेसे पहले अपना वहुत-कुछ नुकसान कर चुका होता है ।

व्यक्तिने इतनी तकलीफें यूं ही नही भुगती । अलग-अलग उसका जीवन खतरेमें था । उसने इसलिए अपने सिरपर राजाका वोझा उठालिया । यह वोझा आज तक उसके सिरपर रक्खा है । आज तो हाल यह हो गया है कि वह अपने सिरसे एकको हटाता है, तो दो सवार हो जाते है, दोको हटाता है, तो चार । मानो उसे शहदकी मक्खियोंके झुण्डने घेर रखा हो । और व्यक्ति है कि अपनी झूठी तालीमके नशेमें इसमें रह ले रहा है । उसको अच्छा समझ रहा है ।

क्या समाज-सुधारक हमें यह वता सकते है कि जो कुछ वह करते है, वह सुधार है या विगाड़ ? अगर उन्हें हमारे आदर्श स्वीकार्य नही है, तो वे अपने आदर्श वतायें । ताकि हम देखें कितने व्यक्ति इन आदर्शोंपर जान देनेके लिए तैयार होंगे ।

मूर्ख होते तो कई तरहके हैं पर सुधारमें काम करनेवाले दो तरहके मूर्ख आपसमें में खूब लड़ते है एक है—प्राचीन मूर्ख, दूसरे है—अर्वाचीन या नवीन मूर्ख । प्राचीन मूर्ख जो-कुछ करते है, वे यह कहकर करते है कि "सदासे होता चला आया है ।" ये कहलाते है रूढिवादी । इनको वे लोग वुरा कहते है, जो सुधारक या सुधारक-भक्त होते हैं, ।

दूसरी ओर अर्वाचीन मूर्ख जो कुछ करते हैं यह कहकर करते हैं कि वह बात पुरानी हो गई। आजके लिये जरूरी नही। इसलिये उसकी जगह यह नई बात करो।" यह कहलाते हैं सुधारवादी। रूढिवादियोके लिए कानून है प्रथा। सुधारवादियोके लिए कानून है नवीनता। उदाहरणार्थ —विवाहके अवसरपर पूजाके लिये गणेशजी तैयार किये जाते हैं। पीली मिट्टीके डलेपर कलावा लपेट दिया जाता है, बस गणेशजी तैयार। ये हैं रूढिवादी गणेश। अब लीजिये, सुधारकोके गणेशजी। मैंगनीज़ या भुसपर अगर रेशमका डोरा बँधा हो, तो सुधारकोको कोई एतराज न होगा। अगर कोई बहुत ऊँचे दर्जेके सुधारक हुए, तो वह अक्लका बहुत जोर लगाकर रामायणके चारो तरफ कलावा लपेटकर गणेशजी बना लेंगे। अब कहिये इन सुधारवादियो और रूढिवादियो में क्या अतर हुआ?

यह बात सुनकर हमारे पाठक कहते होगे ये क्या उदाहरण हैं? कहाँ लबी-चौडी शादियाँ और कहाँ सिविल-मैरेज? सिविल मैरेजमें कहाँ होते हैं गणेशजी? कहाँ होता है हवन? कहाँ होते हैं फेरे? कहाँ होती है बरात? यह सब सुधार नही तो क्या है? जी हाँ, आप ठीक बिगड रहे है पर मैं तो देख रहा हूँ कि हमारे सिरसे अगर ब्राह्मण का जूता हटा, तो सरकारका जूता आ गया और आज नही तो कल इसी सिविल-मैरेज में वे शाखें फूटेंगी, जो सँभाले न सँभलेगी? अभी सिविल-मैरेज होती ही कितनी है? लाख पीछे एक भी तो नही। हम अपनी आँखो ही देख रहे हैं, जो मिलें हमें सस्ता कपडा देने आई थी वे आज हमें अधनगा रख रही है। जो नहरें हमारे खेतोकी पैदावार बढाने आई थी, वह आज करोडोको अधपेट बनाए है। इसी तरह ये सिविल मैरेज इतनी खर्चीली होकर रहेंगी कि हम पुरानी-शादियोको याद करने लगेंगे क्योकि सिविल-मैरेजसे उस डकके निकालनेकी कोशिश नही की गई, जो व्यक्तिके सिरपर रहता है। वह है बधन। हम रूढिमें फँसकर सिरसे पैर तक इतने रूढिवादी बन गये हैं कि हमारा हर सुधार रूढिके बीज लिए हुए होता है। रूढिसे ही जन्मा होता है। इसका कारण यह है कि हमारे सामने कोई आदर्श नही होता।

समाजका आदर्श हमने ऊपर बहुत विस्तारके साथ लिख दिया। जिसके मनमें हमारा यह आदर्श अपनी जगह बना लेगा, उसमें एक खास तरहकी ताकत पैदा हो जायेगी। उसका ज्ञान साफ हो जायगा। सुधारका मार्ग उसके लिये सीधा हो जायगा। अव्वल तो उसमें भूलें होगी ही नही, अगर हुई भी, तो वे भूलें अपनेआप सुधर जायगी। वह अपने काममें इतना सलग्न होता है कि अपने आपको ही भूल जायगा। उसे हमारे आदर्श तक पहुँचनेके रास्ते आसानीसे मिल जायेंगे।

हम आदर्श सुधारकमें वे बातें पैदा कर देंगे कि वह मानव समाजको एक समझने लगेगा। उसके लिए अगर कोई पराया है, तो वह है मानवेतर, यानी पशु-पक्षी इत्यादि। मानव-प्रेमके सामने पशु-पक्षी प्रेमको दूरसे ही प्रणाम करना चाहिये। जो सुधारक पशु-प्रेममें फँस गया वह समाज-सुधार क्या कर सकेगा? गायके बेजा प्रेमने मनुष्य-समाजमें क्या-क्या गजब ढाये हैं, इससे कौन वाकिफ नहीं है? बिल्लीकी पूजा ने मिस्र देश-वासियोका कितना नुकसान किया इससे कौन अपरिचित है? सूअरके द्वेपने जो-जो टटे खडे किये वे किससे छिपे है? ईंट-पत्थरके बने मदिर मसजिदोंने

आदमियोका कितना खून वहाया—इसकी कोई गिनती हो सकती है? पत्थरकी मूर्त्तियोने आदमीसे कितने नाको चने चववाये इसका कही लेखा-जोखा है? सुधारक, सुधारक तव तक नही हो सकता जव तककि वह इस सव इतिहासका ज्ञाता न हो।

अव सुधारकको यह मालूम हो गया होगा कि समाजमें क्या करना है? उसका काम है कि मानव-प्रेमको शुद्धसे शुद्धतम और शुद्धतर वना दे। ऐसा करनेके लिए उसे मानवके हृदयसे पर-प्रेम यानी पशु, पक्षी, वनस्पति और जड़-प्रेमको कम से कम और वहुत ही कम कर देना होगा। यह ठीक है कि वह प्रेम मिटाये न मिट सकेगा पर सुधारकको तो कर्मोका सर्वनाश करके अपने जीवको मुक्त करनेवाले मुनिकी तरह, मानवेतर प्रेमको समाजके व्यक्तियोसे पूरी तरह मिटानेमें ही लगना पड़ेगा—उसे यह सोचने का अधिकार नही है कि यह प्रेम मिटाये नही मिट सकता।

सुधारक आमतौरसे समझौतेपर उतर आता है, यह वुरी वात है। समझौतेके लालचसे वड़े-वडे ऋषि मुनि न वच सके। समझौतेका अर्थ है, उच्च आदर्शोसे गिर जाना। सौ वरस जीनेवाला आदमी तत्कालीन सफलताकी खातिर आदर्शोसे गिर जाना पसंद करता है। हम आज तक एक भी ऐसा महापुरुष पैदा नही कर पाये, जो आदर्शोसे गिरा हुआ न हो। हमारी यह वात सुनकर हमारे पाठक विगड़ उठेंगे पर हम सच वात कहनेसे कैसे चुप रहें? यह हमारे महापुरुषोके समझौतेका ही तो फल है कि हममें से कुछ लोग हिन्दू है और कुछ मुसलमान। हममें से कुछ शिया है कुछ सुन्नी, कुछ आर्य समाजी है, कुछ सनातनी, कुछ जैनी है तो कुछ श्वेताम्वरी, कुछ दिगम्वरी, कुछ शैव है तो कुछ शाक्त। यह सव समझौते का ही फल है। ये सव सम्प्रदाय है—विजयकी आकाक्षाके वच्चे। भले ही हमारे महापुरुषोने अपनी पूजाकी वात कभी मनमें नही सोची हो, न कभी मुँह से कही हो, न कभी इस ओर इशारा ही किया हो। फिर भी उनके अंतस्तलमें पूजाकी आकांक्षा थी। नही तो वह पुजते ही नही। मोहम्मद साहवके जीमें अपनी मूरत पुजवानेकी वात कभी न आई, तभी तो इनकी मूरत नही वन पाई। रसूल कहलवाने की आकांक्षा थी, इमाम वननेकी आकाक्षा थी, वादशाह वनने की आकाक्षा थी, तभी तो ये सव चीजें मुसलमानों में मिलती है। जिस तरह और महापुरुषोने समझौता किया, उसी तरह मुहम्मदसाहवने कदम-कदमपर समझौते किये और समझौता करना आदर्शसे गिरना ही है। हम तो यहाँ तक कहनेके लिये तैयार है कि अगर ससारने अवतारो, महापुरुषो, रसूलो, पैगम्वरो, नवियो और सतोको जन्म न दिया होता, तो आज सभ्य समाजमें वैसी मारकाट देखने को कभी न मिलती जैसी हिन्दुस्तान सन् १९४७ में देख चुका है। हम जंगली हालत में होते तो क्या था? नागा या एक्सिमो भी तो आपसमें वडे प्यारसे रह लेते है।

महापुरुष हममें जन्म लेकर आखिर क्या कर जाते है किसीने यह भी सोचा? महापुरुषो की जिदगी का आदर्श क्या होता है—क्या किसीने कभी इस वातका भी जवाव ढूंढा? महापुरुष इतना वड़ा त्याग किसलिए करते है, क्या किसीने इसका कारण भी जाननेकी कोशिश की? महापुरुषका दूसरा नाम क्या हो सकता है? "महापुरुष" में से यदि "महा" हटा दिया जाय, तो "पुरुष" का क्या मतलव रह जाता है? सुधारकको इन सव सवालोंका जवाव देना होगा।

हम पिछले सवालको सबसे पहले लेते है महापुरुपका दूसरा नाम है—"महासुधारक" उत्तरप्रदेशमें कोई भी ब्राह्मण अपनेको "महाब्राह्मण" कहलाना नही पसंद करता। "महाब्राह्मण" का उत्तरप्रदेशमें दूसरा नाम है—"कट्या"। कट्या उसको कहते है जो मुर्देका कफन लेते है। इसी तरह हो सकता है कुछ लोगोको "महासुधारक" शब्द महापुरुपकी शान घटाता मालूम हो, पर इस देशमें ऐसा होना नही चाहिये। जिस देशमें 'रसोइया-महाराज' और 'पानी-पाडे' जैसे शब्द प्रचलित हो वहाँ "पॉलिश-पाडे" शब्द भी खप सकता है। इन नामोकी जडमें भी एक मार्केका इतिहास छिपा है। ये सब शब्द समाज-सुधारकोकी देन है। इसीसे मिलते-जुलते शब्द भगियोके लिये "मेहतर" है, कुम्हारोके लिये "प्रजापति", चमारोके लिये "भगत" गडरियोके लिये "चौधरी" इत्यादि है। अब तो शायद हमारा "महासुधारक" शब्द नही खटकेगा। अब पुरुप का अर्थ रह गया सुधारक। और पुरुपका अर्थ है मायाका मालिक। माया का दूसरा नाम है चालाकी। इसलिये हर सुधारकको चालाक और काइयाँ होना चाहिये और वह होता भी है।

वैज्ञानिकोका कहना है कि कबूतर कबूतरीका जोडा या दोनोमें से कोई एक अगर किसी जगह घूम आयें तो उनका बच्चा बिना रास्ता दिखाये अपने-आप वहाँ जा और आ सकता है। यह गुण उसे विरासतमें मिलता है। वह रास्ता जानता है पर क्यो, यह नही जानता। अभिमन्युने चक्रव्यूहमें घुसना माँके पेटमें ही सीखा था। इससे हम कहना यह चाहते है कि हमारे त्यागोकी तह में, बिना जाने हुए भी ग्रहण की भावना मौजूद रहती है। हम भूखे रहकर सच्चे जी से अपनी नजरो और दुनियाकी नजरोमें तपस्या जरूर करते है, महीनो नही खाते पर हमारे बिना जाने हमारे अतस्तलमें यह बात मौजूद रहती है कि इस लबे-चौडे उपवासके बाद हमारी देह निर्मल हो जायेगी। हमारी उम्र लबी हो जायगी, हमारी देहका वजन बढ़ जायगा। हम पहलेसे ज्यादा स्वस्थ और ज्यादा खुश रहेंगे। इस तपस्यासे जो पूजा हाथ आयेगी, जो प्रतिष्ठा हाथ लगेगी वह घातेमें। अब हमें कोई बताये कि महापुरुप तपस्या करके या भूखो रहकर एहसान किस पर करते है? पच्चीस-पच्चास या सौ-बरसकी तपस्याके बाद भी अगर महापुरुपोको अनन्तकालका परमात्म-पद मिल जाय तो क्या यह भी कोई टोटेका व्यापार है? लाखो बरसोका बिगडा हुआ मनुष्य सौ-दो सौ वर्षमें ठीक नही हो सकता और वह भी सिर्फ एक जन्ममें? एकके बाद दूसरा जन्म तो तपस्याके लिए मिलता हुआ सुना नही गया वहाँ तो तुरन्त उधार चुका दिया जाता है। परमात्मा नही बनाया जाता तो देवता बनाकर उसे स्वर्ग भेज दिया जाता है। यह लालच आदमीको न दिया गया होता तो क्या कोई राज-पाट छोडता?

महापुरुपकी जिन्दगीका क्या आदर्श है यह एक ऐसा सवाल है, जो हमेशा पूछा जाता रहेगा। और उसके जवाबमें जो कुछ भी कहा जायगा उस सबका निचोड हमेशा एक ही रहेगा, शब्द चाहे भिन्न रहें, दुनियाके सारे धर्म, सारे सप्रदाय तभी तो जडमें एक और कर्मकाँड में भिन्न है। जिस तरह गायके रगसे दूधके रगमें अतर नहीं आता, वैसे ही शब्दोके आडम्बरसे आदर्शके निचोडमें कभी कोई अतर नही आता।

महापुरुष आदमी ही होते हैं और मेरी रायमें मामूली आदमीसे भी ज्यादा मामूली, होते हैं ज्यादा भोले होते हैं, तभी तो उनको दुनियाकी बहुत मामूली बातें अनोखी मालूम होती हैं। अनोखेपनका कारण सबने मूर्खताको ही बताया है। अचरज मूर्खताका ही प्रभाव है, इसी कारण बच्चे मामूली-सी घटना देखकर हँस देते हैं, उछलने कूदने लगते हैं, रो देते हैं—बेहोश हो जाते हैं। रोज ही दुबले-पतले आदमी सडकोंपर फिरते रहते हैं क्या किसी बालकने उन्हें देखकर अचरज माना? सफेद बालो वाले, कमर झुके, हाथमें लाठी लिये बूढे-बुढिया रोज़ ही चलते-फिरते दीखते हैं, क्या किसीने इन्हें देखकर अचरज किया? गली-गलीसे रोज़ ही तो मरे हुए लोगोकी अर्थियाँ निकलती हैं, क्या किसी स्कूल जानेवाले बच्चेने उसपर ज्यादा ध्यान दिया? अगर कोई ऐसा बालक निकले, जो ऐसी बातो पर बहुत ज्यादा ध्यान दे और अचरज करे तो उसके साथी विद्यार्थी उसे निरा मूर्ख ही समझेंगे, और ऐसा समझने में वे कोई भूल नहीं करेंगे। आप खुद स्कूल जाकर देख लीजिये। इस तरहका लड़का अपनी क्लासमें हमेशा पीछे बैठा और अध्यापककी नज़रोमें गिरा हुआ मिलेगा। हमारे अपने युगके महापुरुष गाधीजी भी अपनी क्लास में निरे बुद्धू थे और इसी आधारपर हम ये कहेंगे कि बुद्धभगवान भी ऐसे ही बुद्धू रहे होंगे।

जिस तरहका अचरज महापुरुषोको होता रहा है वैसा हम सबको नही होता, ऐसी बात नही है। हम सबको भी होता है और हम उसे व्यक्त करना अपनी शानके खिलाफ समझते है। इन बाल-महापुरुषोको इतना भी स्वाभिमान नही होता या यों कहिये कि इतना भी ज्ञान नहीं होता कि कौन बात कहनेकी है और कौन न कहनेकी। फिर क्या बात है कि हम सबमें से सैकडो-हजारों बरस बाद कभी कोई एक महापुरुष बन पाता है?

यूँ तो इस सवालका जवाब बहुत सीधा है कि समाजको ऐसे महापुरुषोकी जल्दी या ज्यादा सख्यामें जरूरत नही होती। असलमें यह सम्मान तो उसीको प्राप्त होता है, जो सच्ची लगनके साथ अपना सारा जीवन अपने आदर्शकी खोजमें लगा दे। मनुष्य के दो आदर्श हो नही सकते। कोई महापुरुष ऐसा आदर्श बना ही नही सकता जिसे दूसरे लोग आदर्श न मानते हो। यह कोई बड़ी बात नही है। आदमी का आदर्श दुखसे बचनेके सिवाय और हो ही क्या सकता है? सब तरह सुखी होना ही आदर्श है। जो सब तरह सुखी है वह सबसे बलवान, सबसे ज्ञानी होगा ही...।

क्या अब यह साफ नही हो जाता कि जो इस दुनियामें सबसे ज्यादा सुखी होना चाहता है वह यह भी चाहता ही है कि सबसे बड़ा, सबसे धनवान, सबसे ज्ञानवान, सबसे बलवान, सबसे प्रतिभाशाली और सबसे स्वस्थ हो। अब कहिये इतनी चीजें खरीदनेके लिये कौन आदमी अपना सर्वसुख त्यागनेको तैयार न होगा? इस दाँवपर तो कर्जा करके भी धन लगा देगा। महाभारत कारने युधिष्टिरको जुआ खिलाकर महापुरुषोका अच्छा खाका खीच दिया है,। व्यासजीने द्रौपदीसे यह कहलवाकर कि जो आदमी जुएमें खुदको हार चुका हो उसे दूसरेको दाँवपर लगानेका कोई हक नही रह जाता, यह साफ कर दिया है कि महापुरुष कितने हठी और अन्यायी होते हैं। युधिष्ठिर अपनेको हारकर और दास बनकर भी अपने राजापनेको नही भूल पाते। यही हाल जर्मनीके विलियम कैसरका था। वह गद्दीसे उतार दिया गया था फिर भी रोज़ राजा होनेका नाटक किया करता था और बेमतलब दस्तखत करके राजापनेकी प्यास बुझाया करता

था। अपने युगके राष्ट्रपिता गाँधीजीको ले लीजिये। वे काग्रेसके चवन्नी वाले मेंबर भी नही थे, पर काग्रेसका सभापति पद अपनी जेवमें डाले फिरते थे। जिसको चाहे सभापति वना सकते थे। वडे-वडे ज़िम्मेदारीके काम काग्रेसकी तरफसे अपने सिर ओढ लेते थे और मौका पड़नेपर ऐसे साफ निकल जाते थे मानो वे काग्रेसके कुछ है ही नही। कहते है जल में कमल-पत्रकी तरह रहो और यह कहावत है इसलिए कि जलकी बूंद कमल-पत्रको गीला नही करती यानी कमलपत्र जलकी बूंदसे जरा-सी भी नमी नही लेता। कितना वीतरागी है? पर क्या कभी किसीने सोचा कि उस कमल-पत्रका पेट पानीसे इतना भरा हुआ है कि उसमें बूंदकी नमी सोखनेके लिए भी जगह नही है। सोखे तो उलटी होजानेका डर है। वस हमारे महापुरुष इसी तरहका "जल-में-कमल" वत् जीवन विताते थे। राजपथको छोडकर राजाओके राजा वन जाते थे। नगे होकर सैंकडो को नगा वनानेकी ताकत पा जाते थे। टोटेमें कहाँ रहते थे? जो उनका आदर्श था वह यही तो था जो हम-तुम सव चाहते है। आदर्शके लिहाज़से महापुरुष और हममें कोई अतर नही। हम भी सुखी होना चाहते हैं—वह भी सुखी होना चाहते थे। किसी भिखारीने किसी धनवानसे विगडकर अच्छी चुटकी ली है—

"तेरा दुशाला मोलमें भारी,
तो मेरा कम्वल तोलमें भारी"

महापुरुष हमारे वीचमें जन्म लेकर क्या कर जाते है? इस सवालका जवाव अपढ भी दे सकता है और विद्वान भी। मूलमें दोनोके जवाव एक ही होगे। यहाँ सवाल यह नही है वे क्या-क्या काम कर गए? हम तो उनके कामोका फल जानना चाहते है। किसी चीज़की जाँच करनेके लिये दूसरी चीज से तुलना ज़रूरी होती है! तभी दोनो चीज़ोके अन्तरका पता लग सकता है।

आज कलके वैज्ञानिक कुछ जानवरोको खास-खास चीजें खिलाकर देखते है कि दो जानवरोका अलग-अलग चीजें खाकर क्या हाल रहा? अपने इन्ही नतीजो को दुनियाके सामने रख देते है।

आइये, हम भी परीक्षा भवनमें प्रवेश करें, एक ऐसे समाजको लीजिये जिसने अपने में एक ही महापुरुषको जन्म दिया और एक ऐसे समाजको लिजिए जिसने अव तक किसी महापुरुष को जन्म ही नही दिया और फिर दोनोके आज तकके कृत्योकी जाँच करके देखिये क्या नतीजा होता है? उदाहरण के लिये यहूदी समाजको लें इसने ईसाको जन्म दिया। हजरत ईसाका सिद्धात था तुम्हारे गालपर अगर कोई चपत मारे, तो दूसरा गाल भी थप्पडके लिये उसकी तरफ फेरदो और आज उन्हीके अनुयायी हैं, जो हिरोशिमापर ऐटम वम गिराकर लाखो जानें चट कर गये। अव इसीके मुकावलेमें लीजिये टुड्राके रहनेवाले ऐस्किमो, नागा पहाडियोके रहनेवाले नागा या और जगहके आदिवासी। क्या किसीने भी अपनी या पराई जातिपर ऐसे अनहोने जुल्म ढाए है?

महापुरुषोके अनुयायी इतने क्रूर क्यो वन जाते है? क्या इसमें महापुरुषो का हाथ विलकुल नही होता? मेरे खयालसे सौके सौ फीसदी यही चिल्लाकर कह वैठेंगे कि इसमें महापुरुषो का क्या दोष? उन्होने तो ऐसा कभी नही सिखाया। उनकी कही

हुई किताबके किसी भी शब्दसे टेढे सीधे ऐसे अर्थ निकलते ही नही कि लड़ाईमें लाखोंकी जान ले लो। फिर इसमें महापुरुषका क्या दोष ?

धर्मके रंगमें चूर माँ या बाप अपने एक बच्चेको उपवासके फलका सब्जबाग दिखला कर उसे उपवासके लिये तैयार करते है। लडकेकी उम्र बारह बरसकी है। वह बहकावेमें आ जाता है। उपवासकी प्रतिज्ञा ले बैठता है। दोपहरके बारह बजेके बादसे ही उसके पेटमें खुदबुद शुरू होती है। खाना माँगना या खाना वह अपनी शानके खिलाफ समझता है। थोड़ी देरमें प्यास भी जाग जाती है। अब तो वह और भी घबराता है। उसमें सूझ-बूझ जागती है। पानीकी पट्टी पेटपर रख कर प्यास बुझानेकी कोशिश करता है। धीरे-धीरे यही पट्टी छाती तक पहुँचती है। फिर गले तक, गाल तक, ओठ तक और जीभके अग्र-भाग तक। इसी तरह तरह-तरहकी ध्यान बँटानेकी कोशिश में लगता है। किसी तरह शामके चार बजा देता है। अब उसकी हिम्मत टूट चुकी होती है और वह चोरी पर उतारू हो जाता है। जहाँ चाह होती है, वहाँ राह निकल आती है। कहींसे लड्डू पा जाता है, खाता है। पानी पा जाता है, प्यास बुझाता है और सबकी नज़रोमें अपने उपवासकी शान बनाये रखता है। खुलासा यह है कि वह सत्य-व्रतको लतिया देता है, अहिंसा-व्रतको भूल जाता है, अचौर्यकी खिल्ली उड़ाता है, अपरिग्रहको बेमतलब समझता है, शील और ब्रह्मचर्यको धता बताता है। इस तरह उपवास नामका झूठा व्रत पाँच सच्चे व्रतोको खा जाता है! क्या इसमें बच्चेका दोष है ? आप कहेंगे—"इसमें माँ-बपका क्या दोष है ? माँ-बापने कब कहा था कि चोरीसे लड्डू खाना, चोरीसे पानी पीना।" पाठक हमें माफ करें, बच्चेका इसमें कोई कुसूर नही। सोलहो आना माँ-बापका दोष है। उन्होंने न पात्र देखा, न काल, न क्षेत्र देखा, न द्रव्य, न भाव। समाज जिस तरह रह रहा है बालकने उसीका अनुकरण किया। उसने कोई ग़लती नहीं की।

ऊपर का उदाहरण रखकर हम यह कहना चाहते है कि महापुरुष समाजको एकदम भलाईके पहाड़ की चोटी पर चढा देते है। वह समय-असमय, पात्र-अपात्र नही देखते—न देख सकते है। वे अपने ऊपर के मनसे भले ही पूरे वीतरागी हो पर उनका अंतस्तल पूजाका भूखा होता है। वही उनके सब कामोका प्रेरक होता है। वही उन्हें मजबूर करता है कि वह समाजको कितना ऊँचा ले जाय और ऐसी जगह ले जाँय कि जहाँ वह उनकी मददके बिना एक क्षण भी न टिक सकें और अगर वह ज्यादा जीवित रहें, तो खुद ही थककर उन्हें गिरते हुए देख सकें। महापुरुष अपने अंतस्तलसे वाकिफ नही होते और अगर हो भी जाते हैं, तो वे अपनी प्राप्त जगहसे हटना पसंद नहीं करते। और अगर हिम्मत करके वे अपनी जगह छोड़ भी दें, तो समाज उनको उस रोगीकी तरह छोड़ताही नही जिसे किसी वैद्यने एक बार चमत्कार करके बहुत स्वस्थ बना दिया हो। यो महापुरुष अपने बनाये हुए जालमें आप ही फँस जाते है। जो समाज भलाईके पहाड की चोटीपर चढ चुका होता है वहाँसे गिरकर वह उस वक्त तक दम नही लेता जब तक कि बुराईके गर्तके तलमें ही न पहुँच जाय। हज़रत ईसाके अहिंसक समाजने ये सब करके दिखा दिया। बुद्ध और महावीरके अनुयायी चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे राजा पहले ही करके दिखा चुके है। दयाकी मूर्त्ति मुहम्मदसाहबके अनुयायी जितने जुल्म ढा चुके

है वे कुछ कम नही है, नादिरशाहके कत्लेआमसे कोई अपरिचित नही है। हमारे युगके नये महापुरुष गाधीजीकी अहिंसा आज क्या रग ला रही है और आगे क्या-क्या रग लायेगी इसका अनुमान नही लगाया जा सकता। गाँधीजीके ग्यारह व्रत किस रूपमें फल रहे है वे किसीसे छिपे हुए नही। इसमें लोगोको भले ही अचरज होता हो हमें अचरज नही। हम अच्छी तरह समझते हैं। बहुत खानेके लिए ही भूखो मरा जाता है, बहुत पहनने के लिए ही नगा रहा जाता हैं। बहुत मालदार बनने के लिये ही भिखारी बना जाता है। बहुत सुखकी खातिर ही तपस्या की जाती है। पर हम तो यहाँ सिर्फ यही बताना चाहते है कि अगर संसारने महापुरुषोको जन्म न दिया होता, तो आज हम कहाँ होते।

ऊपरके सवालका जवाब बिलकुल ठीक तो नही दे सकते—अदाजन ही बतला सकते है कि बिना महापुरुषोवाले इस भारतवर्षमें चाहै आज रेलें न होती, बिजली न होती, बडे-बडे कल कारखाने न होते, पर हम भूखो न मरते होते। हाँ, हमारे यहाँ चोर-डाकू भी होते पर वे सीमित चोरी कर रहे होते लाखोकी जाने न ले रहे होते। जिस तरह पाँच लाख हिन्दू मुसलमान मरे वैसा कभी न हुआ होता। जैसे पशुओको शर्मिन्दा कर देने वाले कृत्य हिन्दू-मुसलमानोने धर्मकी रूसे तुच्छ कहलानेवाले 'स्वराज'की खातिर किये वैसे कभी न होते। प्रमाणमें हम आदिम जातियोको पेश कर सकते है। वे आपसमें एक दूसरेकी जान तो कभी लेते ही नही। हाँ एक दल दूसरे दलकी जान लेनेपर जरूर उतारू हो जाता है। पर वह मार-काट भी उस पैमानेपर नही पहुँचती जिस पैमाने तक अवतारियोकी औलाद पहुँचती है। थोडे-से शब्दोमें यही समझ लेना चाहिये कि महापुरुष समाजमें इतना ऊँचा सुधार कर जाते है कि उस ऊँचाईके नामपर पतन का गड्ढा बिना मिहनत बन जाता है। जहाँ की मिट्टीसे इंटोका पजावा बनता है वहाँ पोखर अपने आप बन जाती है।

प्रकृति मनुष्य-समाजको अपने ढगसे, अपनी चालसे आगे बढाये चली जा रही है। इसकी चाल बिलकुल ठीक है। भले ही कछुएकी चाल हो मगर खरगोशसे बाजी ले जानेवाली है। समाजकी दौडमें महापुरुष हमेशा खरगोश साबित होते है। वे बड़ी ऊँची उडाने लेते हैं। खरगोशकी तरह यह समझ बैठते है कि अब क्या है मारली बाजी। और फिर लबी नीद सो जाते है। सैकडो-हजारो बरस बाद जागते है, तो देखते है कि दुनिया उस समयसे निश्चय ही आगे बढ गई है जिस वक्त हमने जन्म लिया था और जब हमने इसको ऊँचा उठानेकी बात सोची थी, हमारा सुधार टिकाऊ न रहा। प्रकृति हमसे बाजी ले गई।

सुधारकने अब सारा नक्शा अपने जहनमें जमा लिया होगा और उसने अब समझ लिया होगा कि समाज-सुधारके काममें उसे आगे किन-किन बातोंपर ध्यान रखना होगा। समाज-सुधारमे कौन-सी चीजें बाधक होती है यह हम ऊपर गिना आए है। समाज-सुधारका 'स्व' क्या है और समाज-सुधारका "पर" क्या है, इसको ठीक-ठीक समझे बिना सुधारके मैदानमें कदम उठाना बेकार होगा। इस 'स्व' और 'पर' को हम फिर दुहराते है कि मनुष्यके सिवा और सब तरहकी पूजा सुधार मे बाधक होती है। सुधारकको उससे हमेशा दूर रहना होगा। समाज-सुधारके लिए वह हर किसीसे इस बातको लेकर लडता नही फिरेगा पर उसका समर्थन भीनहीं करेगा।

इस तरहकी पूजा महापुरुषोंको पसंद नही थी, पर उन्होंने समझौता किया। इसलिये किसी समाजमें कुछ और किसी समाजमें कुछ बच रही और वह आज तक कायम है।

हज़रत मोहम्मदकी बाबत कुछ किताबोंमें लिखा है कि उन्होंने अरबके और सब सैंकडों देवी-देवताओंकी पूजाको नाजायज ठहराकर भी एक बार अरब कौमकी तीन सबसे बड़ी देवियों लात, उजा और मनातको आदरणीय हस्तियाँ मान लिया था। कहते है इस विषयकी एक आयत भी उतर आई थी। पर अगले दिन ही अल्लाहने उनसे कहा कि एक दिन पहलेकी वह आयत शैतानकी 'वही' थी अल्लाहकी 'वही' नही। कुरानमें उसके बाद लात, उजा और मनातकी पूजाको भी नाम लेकर गलत बताया गया। पर काबेकी दो पुरानी पहाड़ियो 'सफा और मरवा' को कुरानमें भी अल्लाहकी निशानियोंमें से गिनाया गया है और इन दोनो पत्थरके तूदोकी परिक्रमाको हज्जके वक्त जायज़ करार दिया गया है। आजतक सब हाजी ऐसा करते भी हैं।

समझौतोका समर्थन अपने आपको धोखा देना है। सुधारकको चाहिये कि वह समझौतोके चक्करमें न पडे जीवन-भर सचाईपर अडा रहे। प्रकृतिको अपनी चालपर चलने दे। उसकी गतिको रोके नही। तभी वह समाजका कुछ भला कर सकता है। कोई हमसे पूछे, तो हमतो यह कहेंगे कि हमें तो ऐसे सत पसद है, जो "डायोजीनीज" सिकदर, गुरु नानक और कबीर जैसे हो। मतलब यह कि अपनी उम्रें अकेले रहकर बिता दें और कोई पंथ कायम न करें। सुधारक अगर सच्चे जीसे सुधारके काममें लगेगा और सफल होनेकी जल्दबाज़ी न करेगा,तो बडा ठोस काम कर जायगा। आदर्श जीवन बिताने वाला सुधारक जो किसीपर सुधारका जोर नही देता, जितना ठोस काम कर जाता है उतना वह सुधारक नही कर सकता, जो किसी नामसे एक सुधार-समाज कायम कर जाय और समझौतेके चक्करमें फँसकर एक नए कर्मकाण्डको जगह दे जाय। नये देवालय, मठ, मत खडे कर जाय। सुधारक यह समझ ही नही पाता कि ऊपर बताई हुई बातें सुधार नही बिगाड है, क्योंकि वे 'पर' पूजाकी पोषक है समाजका 'स्व', 'पर' पूजासे कमज़ोर हो जाता है। समाजको बँधे रखनेके लिये मानव-प्रेम काफी होना चाहिये, मदिर मसजिद नही। किसीका भी घर ज़रूरतके वक्त मंदिर-मसजिद समझा जा सकता है। समाजको बाँधे रखनेके लिए जब तक इन पर-चीजोंसे जरूरतसे ज्यादा मदद ली जाती रहेगी तब तक समाज उठता हुआ भी गिरता रहेगा। आज तक जितने भी महापुरुष पैदा हुए सभीने समाजको एक सूत्रमें बाँधना चाहा,पर वे अपनी एक छोटी-सी नयी माला बनाकर और एक उसमें गाँठ देकर चलते बने। पर पूजा कायम करके समाजका एक टुकडा और बढा गये और फायदेकी जगह नुकसान कर गए। सुधारकको यह तथ्य अच्छी तरह कठस्थ कर लेना चाहिए। गाधीजीने कांग्रेस को न अपनाकर अगर नया संगठन बनाया होता तो बहुत टोटेमें रहते। शायद कुछ न कर पाते। हिन्दुस्तान को आजाद करनेके लिये बहुत-से नये-संगठन बन चुके थे, सब नाकामयाब रहे। आज भी कांग्रेससे हटकर जितने नये संगठन बन रहे है, राजनीतिक मैदानमें सब निकम्मे साबित हो रहे हैं। वे निकम्मे साबित हो, तो हो लेकिन वे सब हिंदुस्तानी समाजमें बुद्धि-भेद पैदा करके भारतका जबरदस्त नुकसान कर रहे है। सुधारकको नई समाज-रचनाके चक्करमें कभी न पड़कर अपना आदर्श-जीवन बिताना चाहिये। उसका सुधरा हुआ

जीवन ही उसमें वह शक्ति पैदा कर देगा कि जहाँ वह जाये वही लोग सुधरा जीवन बिताने लगें। जिस घरमें वह ठहरेगा, वही घर सुधर जायगा। जिस जगह रहेगा उस जगह अपना प्रभाव फैला सकेगा। यह सुधरा हुआ जीवन क्या हो, इसको भी हम खोलकर बता देना चाहते है

समाज सुधरना चाहता है, सुधारक पैदा करता है। सुधारक खडे हो जाते है। सुधारक समाजको सुधारना चाहते है, पर यह कैसी अनोखी बात है कि सुधारक खुद सुधरे हुए नही होते। यह ठीक है कि हर तरह सुधरे हुए सुधारक तो समाजमें मिल ही नहीं सकते पर कमसे कम इतने सुधरे हुए तो हो ही कि जिस तरहका सुधार वे समाजमें चाहते है उस तरहके सुधारमें खुद पूरे रँगे हुए हो। जो रग कपडेको रंगी न बना सके वह किसी कपड़ेपर गिरकर उसे रगीन कैसे बना सकेगा? उदाहरणके तौरपर अगर एक आदमी सचाईके रगमें रँगा हुआ नही है, और अपने घरवालोको सच बोलना नही सिखा सका है वह समाजको सच्चा बनाने का साहस कैसे कर बैठता है? और किसी भी अशमे कैसे सफल हो जा सकता है—कह नही सकते। आमतौरसे जितने सुधारक देखे गये वे समाजसुधारक ही पाये गये—न पडोस-सुधारक, न घर-सुधारक—खुद सुधरे हुए तो वे होते ही नही।

एक बुढिया थी जो अपने लडकेको गुरुजीके पास गुड खानेकी आदत छुडानेके लिए ले गई। उसे गुरुजीने दूसरे दिन लानेके लिए कहा। दूसरे दिन गुरुजीने लडकेको सिर्फ यही उपदेश दिया कि बेटा गुड न खाया करो।' बुढियाने समझ लिया कि इतना गुरुमन्त्र काफी है और वह काफी साबित हुआ भी। सुधारक यह क्यो नही सोचते कि सुधारके काममे लगनेसे पहले खुद उनका सुधरा होना निहायत जरूरी है। एक धोबी मैले कपडे पहन कर दूसरोके कपडे साफ कर सकता है, एक मैली नायन दूसरोके बदनका मैल छुडा सकती है, यहाँ तककि काला-मजन और काला अजन दाँत और आँखमें दमक तो सकते है, पर ये सब सफाई-उपदेशक सुधारक नही बन सकते न सुधारक कहला सकते है। बीडी पीनेवाला बाप शायद अपने बेटेसे बीडी छुडानेमे सफल हो जाय, पर वह दूसरोंसे बीडी छुडानेमें उस वक्त तक सफल नही हो सकता जब तक खुद बीड़ी पीना न छोड़ दे। बीडी पीनेवाला बाप अपने बेटे की बीडी छुडानेमे अगर सफल हो भी गया है, तो उसे यही समझना चाहिये कि यह उसकी मिहनतका फल नही है, वह तो उस पवित्र काममें तुच्छ निमित्त मात्र बना है। उसके बेटेने जो बीडी पीना छोडा है, वह या तो किसी दूसरेके उपदेशका फल है या समयकी हवाका परिणाम या उसके भीतर बैठे ईश्वरका चमत्कार है। दूसरे को सुधारना आसान काम नही। सुधारनेकी क्रियाकी सिद्धि बड़ी तपस्या चाहती है। बडे त्यागसे हासिल होती है। हर वक्तके सयमकी अपेक्षा रखती है। क्या यह सब आजके सुधारकमे होते है? यदि नहीं, तो वह कैसे समाजको सुधार सकता है? ऐसे आदमियोसे समाज-सुधर भी कैसे सकता है? आजके सुधारक समाजमे यदि एक सुधार करते है, तो सवा बिगाड़ कर डालते है। इसलिए इनके सुधारको अगर बिगाड़ कहकर पुकारा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

आम तौरपर सुधारक कथाके बैगन कहानीके मुख्य पात्र होते है। कभी-कभी सुधारक तो काफी अच्छा होता है पर समाज इतना पतित होता है कि उनकी सीखका

पात्र नही होता। ऐसे समय सुधारकको चाहिए कि वह सुधारके आन्दोलनका भी नियमन करे। उसे उस बयाकी कहानीको याद रखना चाहिये, जिसने बदरको सीख देकर अपने घोसलेको बरबाद करा लिया था; और अपने बच्चोकी जान खतरेमे डाल दी थी। इसी कहानीके आधारपर यह कहावत चल पड़ी है —

"सीख न दीजे बाँदरा, घर बयाका जाय"

सुधारकको सुधारके मैदानमें आनेसे पहले उसी तरह वर्दी पहनकर सजना और जरूरी हथियारोंसे लैंस होना होगा जिस तरह सिपाही लडाईके मैदानमें उतरता है। सुधारक की वर्दी है उसका त्याग, उसकी तपस्याकी तैयारी, उसका धैर्य, उसकी विनय-संपन्नता, शील, दृढ विश्वास, सच्चा ज्ञान, वत्सलता, निर्भीकता, निष्कामभावना, उसकी सब तरह की सेवाकी तैयारी, उसका स्वाभिमान, समाजपर प्रभाव का खयाल, उसकी चारो प्रकार की उपगूहनता इत्यादि। हम बातें तो बहुत-सी गिना गए है, इन सबको अलग-अलग खोलकर हम इस लेखको बढ़ाना नही चाहते। यह सब गुण गिनानेमें ही बहुत मालूम होते है। पर असलमें एक दूसरेसे इतने गुंथे हुए है कि इनमेंसे कोई भी आदमी किसी एक को भी मजबूतीसे पकड़ ले तो सबके सब इतनी आसानीसे खिचे हुए चले आयें जैसे हजारो मन सामानसे लदी नाव एक मामूली रस्सीके सहारे नदीके तलपर बिना परिश्रमके खिची चली आती है। इसलिये सुधारकको इस बड़ी गिनतीसे भयभीत नही होना चाहिये। गिनती तो और भी बढ सकती थी। हमारा "इत्यादि" यह सूचना भी दे रहा है पर यह कितनी भी लबी क्यो न होती अमलके लिए रहती उतनी ही सुगम जितनी अब है। जिस तरह रानी मक्खी अनगिनत अंडे देकर अनगिनत मक्खियाँ तैयार कर लेती है, वैसे ही समाज-सुधारककी अटूट लगन और समाज-सुधारका सच्चा ज्ञान एक क्षणमें मनुष्यमें गुण पैदा कर देता है और ये गुण जल्दी ही बड़े होकर पंख पा जातें है। शहदकी मक्खियोकी तरह भिनभिनाकर समाजकी सेवा करने लगते है।

जिस तरह मामूली तार और बिजलीके तारमें हमारी आँखोके लिए कोई अतर नही होता वैसे ही समाजके एक सदस्य और सुधारकमें देखनेमें अंतर नही दिखाई देगा, पर जैसे वे दो तार गुणोमें एक-दूसरेसे बिलकुल भिन्न है वैसे ही ये दो व्यक्ति शील-स्वभाव में एकदम भिन्न होते है। गांधीजी अपनेको मरते दम तक वैष्णव कहते रहे। और भी दुनिया जीनेसे मरने तक अपनेको वैष्णव कहती है। गांधीजी और अन्य वैष्णव देखनेमें एक थे। वे भी यही गीत गाते थे · "वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे" यही गीत गाधीजी भी गाते, दूसरोसे गाते हुए सुनते थे, पर उनके सुननेमें औरो से भेद था। उनके गाने की लय दूसरोंसे मेल नही खाती थी। उनके हृदयमें इन शब्दोंका जो भाव था, वह वही नही था जिसे आम वैष्णव या उनके अनुयायी समझे हुए है। यदि गाधीजीके भावको कोई समझलेगा तो खुद भी वह गाँधी ही बन जायगा। परम्-सुधारक गीतोका रस चूसते है छूछ नही। जिस तरह गन्ना धरतीसे मिठास लेता है, शेष चीज़ें छोड़ देता है, नीबू खटास लेता है दूसरी चीज़ें छोड़ देता है, नीम कड़-वाहट लेता है दूसरी चीजें छोड़ देता है वैसे ही इस गीतसे बदमाग बदमागी ही खीच सकता है। पर पीडाको दूर करनेकी भावना वाला रस तो सहृदय ही चूस सकता है। गाँधीजी वैष्णव होते हुए मुसलमान भी थे, ईसाई भी, बौद्ध, जैनी, जरथुस्ती सभी थे, दूसरे वैष्णव

तो वैष्णव भी नहीं है। दूसरे वैष्णव ये गीत गाते हुए कि "वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीर पराई जाणे रे", यह गीत गाते रहते है कि "वैष्णव जन तो तेने कहिये जो लहसन-प्याज न खाय रे,"वैष्णव जन तो तेने कहिये जे हरिजन छकर न्हाय रे," "वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे नित रामके मदिर जाय रे,""वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे घटे झांझ वजाए रे" "वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे वैष्णवेतर अलगाय रे", "वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे सागर पार न जाय रे" इत्यादि।

सुधारकने अब समझ लिया होगा कि उसका हृदय कितना पवित्र होना चाहिये। उसके सिरपर वडीसे वडी या छोटीसे छोटी किमी भी रुढिकावोझ नही होना चाहिये। अगर वह जरा भी वोझिल हुआ तो ऊँचा कैसे उठ सकेगा? रूढियोका वोझ ही तो है, जो आदमीको दवाये रखता है। समाज-सुधारक कितना ही ऊँचा क्यो न उठ जाय, कितना ही नाम क्यो न पा जाय अगर समाजके व्यक्तित्वने एकके ऊपर एक खडे होकर उसको अपने सिरपर उठा लिया तो हमारी नजरोमें वह दो कौडीका भी आदमी नही है। हम उस सोनेके कलसको तो मिट्टी समझते है जो मदिरकी चोटीपर लगा है, क्योकि उसका आधार है, मदिरका गुवद, मदिरकी दीवारें, मदिरकी वुनियाद, उसका अपना कोई आधार नही होता। वह चमकनेवाली किसी और चीजका भी वन सकता है। खोटे सोनेका भी वन सकता है। स्टेनलेस स्टील चाँदीसे ज्यादा चमकता है। पर चाँदीकी कदर नही पा सकता। समाजमें तो ताकत है कि वह अपने सिरपर उठाकर गधेको भी पुजवा सकता है, लकडी और पत्थरकी मूर्त्तियोको तो पुजवा ही रहा है। समाजकी कोरी पूजा पाया हुआ आदमी हमारी नज़रोमें ऊँचा नही है। हम तो सुधारक और परम-सुधारक उनको कहते है जो अपनी तपस्याके वलसे निर्विकार हो जाय, जिसमें ऊपर वताए हुए गुण आ जायें और जो इन्ही गुणोकी गैससे इतने हल्के हो जायें कि गैस भरे फुग्गेकी तरह समाज-प्रार्थनाके डोरेसे वाँधकर ही रखना पडे। अगर समाज उसे छोड वैठे, तो वे उड जायें और दुनिया भर में घूमते फिरें। समाज सुधारक वही है, जो हल्के होकर समाजसे ऊँचे तो उठ गये है, पर किसीके कधेपर सवार नही है—कोई उनको थामें हुए नही है, वह अपने हल्केपनके सहारे ही समाजके सिरोपर लुढकते-फिरते है। किसीपर ज़रा भी वोझ सावित नही होते। जिसके सिरपर वे जितनी देर रहते है, उतनी देर उस आदमी या कुटुवका सारा तन-मन पुलकित रहता है, आनन्द का अनुभव करता रहता है। वह यह चाहता ही नही कि वह उस आनन्दसे वचित हो जाय। सुधारक रूढिमें फँसे हुओसे लडता और सिर फुडव्वल नही करता। वह तो अपने हल्केपन से प्रभावित करता है। वह किसी से घृणा नही करता, वह कुछ करनेके लिये वहुत ही कम कहता है। वह तो अपने कृत्यसे उनपर असर डालता है और उनमें अपनेआप ऐसी भावना पैदा कर देता है कि वे उसकी नकल करने लगते है। वह उपदेश देगा—आदेश वहुत कम देगा। उसके उपदेशमें आदेशकी गैस भरी रहती है। तभी तो उनका उपदेश सुनकर एक-दो-दस नही, लाखो एकदम वदल जाते और उसी क्षण हल्का अनुभव करने लगते है। उन्हें विलकुल ऐसा मालूम होने लगता है मानो वे जमीनसे सूत-दो-सूत ऊँचे हो गये है। और उन्हें गमनागमनमें आसानी होने लगी है, वे अपनेको चलता हुआ नही—उडता हुआ सा अनुभव करने लगते है।

यही होते है समाज-सुधारक जो समाजको इस तरहका बना देते है। उनकी देखा-देखी समाज वैसा अपनेआप बन जाता है। अगर किसी समाज-सुधारकको देखकर समाज हल्का अनुभव न करे, तो समझना चाहिये कि समाज-सुधारकमें जरूर बहुत-सी कमियाँ है। समाज-सुधारक खुले मैदानमें जिसकी गालियाँ सुनता है अगर वह गाली देनेवाला घरमें या अकेलेमें किसीसे उस समाज-सुधारककी तारीफ न करे, तो समझ लेना चाहिये कि वह समाज-सुधारक झूठा है दिखावटी है। दुश्मन कितना ही बुरा क्यो न हो, अपने दुश्मनके गुणोकी तारीफ किये बिना कोई नही रह सकता। यह ठीक है कि वह उसके गुण गाता नही फिरेगा पर गुणोकी पहिचानसे कैसे रुक सकेगा? एक अँगरेज़ गाँधीको अँगरेजोका दुश्मन कह सकता था पर गाँधीको सत्यवादी कहनेसे कैसे चुप रह जाता? सत्य-गुण तो उसे भी पसद है, वह उनको खुद भी तो शीश नवाता है। ठीक इसी तरह सुधारकके गुण घर-घरमें गाये जाने चाहियें। बाहर उसे गाली मिलती रहें इसकी परवाह नही। सुधारककी कसौटी समाजका प्लेटफार्म नही—घरका कमरा है। उस सोनेको वहाँ कसकर देखो। अब आप हमारी बात समझ गए होगे कि परम-सुधारकको ऊँचा बनानेमें समाजका हाथ इतना नही होता, जितने उसके अपने भीतरी गुण। होसकता है, उनमेंसे एकसे ज्यादा गुण हममें हो; पर वे हमें दिखाई कहाँ देते है? आप कहेंगे कि इस लेखके लेखकको हो सकता है पता हो, लेकिन साफ खोलकर हमें कोई बात इस लेखमें नही बताई गई। शका ठीक है। हमें चाहिए कि हम जरूर अपने जवानोका रास्ता साफ कर दें। उनसे कबीरकी बोलीमें बात करें—ईसाकी बोली में मूसा, बुद्ध और महावीरकी बोलीमें नही, सतोकी बोलीमें। या यो कहिये कि साफ दिल आदमियोकी बोलीमें बातें करें।

आइए अब खरी और सीधी बातें सुनिये—

"लकडीकी बना गल माल भले, पर हाथ में लेकर जपना क्यो?
पत्थरकी बना बेशक मूरत, पर उसके आगे नवना क्यो?
तू एक नही दस नदियां तर पर यह होगा भवतरना क्यो?
राजा थे दोनो रामकिशन ये ईस समझ दम भरना क्यो?

कौसल्या नदन राम नही वे तुझ जैसे थे रामचद।
यशुदानदन भी राम नही वे तुझ जैसे थे श्यामचंद।
क्या राम रहेंगे मंदिर में वो तुझे मिले कर आख बंद।
वो तेरे भीतर बैठे है वो हैं तेरे आनद कंद।
मयखुरो मसहफ बिसोजो आतिश अदर का बाजन।
हरचि खाही कुन वलेकिन मरदुम आजारो मकुम।

पद्य बहुत स्पष्ट है। टीकाकी जरूरत नही। फारसीके पद्य का अर्थ हम आगे चलकर करेंगे। उसपर अपनी राय भी जाहिर करेंगे। पर उससे पहले जरा कबीरजी भी बात सुनलें।

माला लक्कड़ ठाकुर पत्थर तीरथ सगरे पानी
रामा कृशना मरते देखे चारों वेद कहानी

अगर दुनियामें सच बोलना धर्म है, अहिसा धर्म है, अचौर्य धर्म है, अपरिग्रह धर्म है, ब्रह्मचर्य धर्म है और बाकीके छै व्रत जो गाँधीजी गिनवा गये है धर्म है, तो कबीर साहब पूरे धर्मात्मा थे और भी अनेक सत उन्ही जैसे धर्मात्मा हो गये है। धर्मवादी, सम्प्रदाय-वादी, पथवादी, सतवादी, महतवादी, बुद्धिवादी, पूँजीवादी या और कोई वादी धर्मात्मा नही हो सकते। अलबत्ता वादी-विवादी हो सकते है—वादी-प्रतिवादी हो सकते है। और ये सब सुधारक बने, तो असफल ही रहेंगे। असफल रहें चिंता नही, ये तो ढानेवाले बिगाड़ू और फुटारू साबित होते है। समाजके टुकडे-टुकडे कर जाते है, समाजमें भेद-भाव फैला जाते है, कबीर-पथ बेशक है, पर कबीरका बनाया हुआ नही है। कबीरके नामपर बना हुआ है। बनानेको 'गाँधीबम' बन सकता है, गाँधी चाय बन सकती है, गाँधी शराबघरकी बुनियाद पड सकती है, गाँधी कसाबघर भी खुल सकता है, पर क्या इससे यह सिद्ध होगा कि गाँधीजी की ये ही सब देन है? सुधारक सुधार ही नही करते, सिर्फ सुधरा हुआ जीवन बिताते है।

अगर मै लकडी पत्थरको किसी रूपमें भी नही पूजता, पानीको किसी तरह भी अदर की सफाईका कारण नही मानता, किसी मृत या जीवित पुरुषको सब भूलोमे बरी नही मानता, किसी भी ग्रथको किसी ऐसेका कहा नही मानता,जो त्रिकालज्ञ था तो मै सुधारक बननेके योग्य हूँ, पर में इसे न माननेकी डौंडी भी नही पीटता फिरूँगा। मेरा रहन-सहन इसको खुद बतादेगा। किसीके सीधे प्रश्न करने पर मै सीधा जवाब देनेमें झिझकूंगा भी नही। अगर मै झिझकता हूँ, तो सुधारक होनेके योग्य नही। अपने किसी और काममें लगूँ, जिस योग्य हूँ वह काम करूँ।

ऊपरके फारसीके पद्य पर अपने विचार भी यहाँ बताए देते है। यह पद्य ऐसे मौलानाके है, जिसे मुसलमान पहुँचा हुआ सत समझते है। शब्दार्थ ये है —

मयखुरो—शराब पी और मसहफ बिसोजो—कुरान जला और आतिश अदर काबाजन आग काबे में लगा दे। हर चिखाही कुन जो कुछ चाहे कर वलेकिन मरद्रुम आजारी मकुन—लेकिन आदमियो को सताने का काम न कर

यहाँ शराब पीनेकी बात कहना इस्लाम धर्मके खिलाफ है। आज ऐसे मुसलमान मिल सकते है, जो शराब पीते हो, ऐसे मौलाना भी मिल सकते है, ऐसे राजाओ का इतिहासमें जिक्र है, जो 'नूरूद्दीन' यानी 'धर्मके प्रकाश' का नाम पाये हुए थे। और खूब शराब उडाते थे, पर हजरत मुहम्मदके समयमें ऐसा एक भी मुसलमान नही मिल सकता था कि जिसके कपडे पर अगर शराबकी एक बूंद भी गिर जाय, तो वह उसे उतार कर न फेंक दे और उसमें आग न लगा दे। आज भी शराब पीनेकी बात सुनकर मुसलमान बिगड खडे होगे। कुरान जला डालनेकी बात तो इससे भी बुरी है और काबेमें आग लगानेकी बात और भी बढकर है। यह कहकर तो मौलाना ने हद कर दी कि जो जी चाहे कर। यानी दुनियाका बुरे-से-बुरा पाप, कर लेकिन आदमियोको सतानेका का काम मत कर।

जो आदमियोको सतानेका काम कर सकता है, वह चाहै किसी भी धर्मका माननेवाला क्यो न हो, कोई भी क्यो न हो, वही शराब पीने, कुरान जलाने, काबेमें आग लगाने और जो जी चाहे करनेके लिये तैयार भी हो सकता है। आदमियोके दिल दुखानेवाला आदमी, आदमियोको सतानेवाला आदमी धर्मात्मा हो ही नही सकता।

सुधारकको अपने मनमें यह अच्छी तरह बैठा लेना चाहिये कि किसी भी ग्रथमें ऐसी कोई वात लिखी ही नही जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि झूठ वोलना धर्म है, हिंसा करना धर्म है, चोरी करना धर्म है, परिग्रह धन इकट्ठा करना, धर्म है या शील खो देना धर्म है । कोई वुरी वात किसी धर्मग्रंथमें नही मिलेगी । पद्यवद्ध होने के कारण धर्म-ग्रंथ ऐसी भापामें ज़रूर है, जिनसे स्वार्थी लोग अपने मनके अर्थ लगाकर समाजको अधर्मके लिये तैयार कर देते है । कोई धर्म-ग्रथ लडाई की आज्ञा नही देता । यह आदमीकी अपनी कमजोरी है, जो उसमेंसे यह अर्थ निकाल लेता है । हर भापाके अक्षरोमें यह खूवी है कि जरा इधर-उधर करनेसे कुछका कुछ अर्थ हो जाता है । एक कहावत है—"खुदा वयक नुक्ता जुदा मीशवद," यानी खुदा विंदीके हेर-फेरमे जुदा हो सकता है । फारसीके अक्षर "खे" के ऊपर विंदी लगती है, और "जीम" के नीचे । विंदी अगर ऊपरकी नीचे लिख जाय या लग जाय, तो फारसी अक्षरोमें लिखा हुआ 'खुदा' 'जुदा' पढा जायगा । भापा और लिपिकी इन छोटी-छोटी गुत्थियोसे स्वार्थी लोग फायदा उठाकर समाजको लडवा देते है । सुधारकको इन सव वातोका ज्ञान ही नही होना चाहिये इनसे ऊँचा होना चाहिये ।

सुधारके कर्त्तव्य अनगिनत है । उनपर एक ग्रंथ अलगसे लिखा जा सकता है, पर हमें सुधारकको ग्रंथजालमें नही फंसाना, ग्रथोसे ऊपर उठाना है । हमें तो वताना यह है कि सुधारकके लिये सव ग्रथ वेकार है । ग्रंथोका जानकार वह भले ही हो, पर ग्रंथोको प्रमाण कभी न मानें, ग्रंथोका हवाला कभी न दें । उन्हें प्रमाणमें कभी पेश न करें, प्रमाण तो वह वुद्धि, परम-प्रमाण हृदय और परमोत्तम प्रमाण अंतरात्मा को ही माने । सुधारक जैसे ही समाजका सच्चा हितैपी वना कि उसको सव ग्रथोका निचोड़ इस तरह समझमें आ जायगा जैसे काला लोहा घिसे जानेपर शीशे जैसा साफ वनकर दूसरेके प्रति-विम्वको दिखाने लगता है । आदमी सर्वज्ञ वन सकता है या नही ? पर अपने कामके लिए वहुज्ञ तो वहुत आसानीसे वन सकता है । चोरी करनेके लिये जितना ज्ञान चाहिए शाह वने रहनेके लिये उससे हज़ारोगुना कम ज्ञान की जरूरत है । झूठ वोलनेवाले को अपने झूठ छिपानेके लिये जितने झूठ तैयार करने पडते है और उनमें जितनी मेहनत और वुद्धिलगानी पड़ती है, सच वोलनेमें उससे हज़ारगुना कम वुद्धिसे काम चल सकता है । कहावत हैकि'वुद्धि वहुत खर्च करनेसे वढती और कम खर्च करनेसे घटती है । पर यह हमारी वात और भी ठीक है कि वुरे कामोमें लगकर वुद्धि जितनी ज्यादा वढ़ती है उतनी ही गंदली होती जाती है । वह फैलावमें ही लम्वी-चौड़ी होती है, लेकिन अँधेरे को वढाती ही है, जिसमें फिर टटोलना ही पड़ता है और वुद्धि अच्छे कामोमें जितनी ही कम लगें उतना ही प्रकाश करती है । ज्यादा लगाने पर ज्यादा प्रकाश भी कर सकती है लेकिन जरूरतसे ज्यादा लगनेपर वोझा हो जानेकी संभावना है, दियासलाई मामूली रगड़ खाकर जल सकती है, प्रकाश दे सकती है, दिया जला सकती है और हमेशाके लिए उपकार कर जा सकती है । उसी दियासलाईको अगर वहुत जोरसे रगडा जाय, तो उसका सिर भक्'से एक क्षण ही प्रकाश देकर नीचे गिर जायगा और अपना प्रकाश वेकार वरवाद कर जायगा । अगर दियासलाईका सिर न भी गिरा तो दूर तक हाथ जानेसे प्रकाश होकर भी हवासे वुझ जायगा और दूसरे दिये न जल सकेंगे । इसलिए वुद्धिके

इस्तेमालमें इस वातका वडा ध्यान रखना चाहिये कि वह बुराइयोकी खाद देकर न पोसी गई हो। तभी तो समझदार यह कह गये है कि साध्यके लिये साधन भी भले होने चाहिये। पैसा ईमानदारीसे ही कमाना चाहिये बेईमानीसे नही। सुधारकको यह ध्यान रहे कि उसे जो कुछ समाजमें करना है, उसकी जल्दवाजी न करे। अपने उसूलोंसे हरगिज न डिगें। समझौता कभी न करे। गुरु नानककी तरहसे मरदाना नामका एक साथी वनाकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दे। धर्म और पथ स्थापनामें न लगे। अपनी मेहनतके फल देखनेकी इच्छा न रखे। अपने पुजने की भावनाको पास न फटकने दे। वह तो रूढियोसे अलिप्त शुद्ध मोती वना हुआ समाज सीपके पेटके अंदर जगत सागरके एक कोनेमें पड़ा रहे और अगर उसे कोई निकाले भी तो गलेमें पडनेके लिये तैयार रहे। लेकिन उससे उन्हें पेट फडवाने के लिये मालाके डोरेमें पिरोये जाकर अपनी आज़ादी खोनेको भी तैयार रहे। गुरु नानक और मुहम्मद साहव दोनो याद किये जाते है। दोनो अपने समयमें अपनी सफलता देख गये थे। गाँधीजी तो अपने समय के मालिक वन गये थे। सुधारक इस इतिहासको जानते हुए भी इतिहासके रसमें गोता मारने या डूवनेकी न सोचे। वहाँ दम घुटकर मरनेके सिवाय और है ही क्या ? उसके लिए तो एक ही पाठ है कि वह इस सव पर तैरता रहे और वादल की तरह तैरता रहे। तव और तभी वह देख सकेगा कि सुधार क्या रग लाता है।



पंडित सुखलालजी

शास्त्र और सामाजिक क्रान्ति

समाजके विस्तार और विकासके साथ ही उसके पुराने शास्त्रमे आनेवाली आचार-विचारकी प्रणालियोंको नये युगका सामना करना पड़ता है। तव पुराने और नये विचारोमें कभी कभी देवासुर-संग्राम-सा तुमुल-द्वन्द्व भी मच जाता है। पुरानी प्रणालियोका एकमात्र वल श्रद्धा है। नवीन युग तर्क या वुद्धिवादसे गुरु होता है। उसका कार्य पुरानी मान्यताओकी विश्लेपण-प्रधान परीक्षा करना है। जव केवल श्रद्धाजीवी पुरातनता नवयुगीन-परीक्षाकी कसौटीके सामने ठहरनेमें असमर्थ होती है, तव पुरान पंथी शास्त्र यह मानकर छुटकारा पा लेते है कि आचार-विचारगत मान्यताएँ दो प्रकारकी होती है : पहली अहेतुवादी और दूसरी हेतुवादी। जिसमें दलील या तर्ककी गुजाइश न होकर, मात्र श्रद्धासे ही जिसका अनुसरण हो वह अहेतुवाद; और जिसमें तर्क या परीक्षा की भी गुजाइश हो, वह हेतुवाद कहलाता है।

पुराने और नए युगके संघर्पका फल है—इस अहेतुवाद और हेतुवादका समन्वय या समझौता। शास्त्रके पुराने स्तरके ऊपर समझौतेका यह नया स्तर भी स्थान पाता है। इस तरह शास्त्रके विपयो तथा उनके भावोमें विकास होता रहता है।

पर यह प्रक्रिया यही समाप्त नही होती, क्योकि मानव चेतना इतनी गम्भीर और सजीव है कि वह केवल श्रद्धा या तर्ककी, अथवा यो कहिए कि अहेतुवाद और हेतुवाद की सीमामें, आवद्ध रह नही सकती। चेतनाके उस गहरे भागसे प्रज्ञाका नया वल भी कभी-कभी उदय होता है। तव वह वल मात्र श्रद्धा और मात्र तर्ककी आज्ञाका कायल नही रहता; वल्कि वह प्रज्ञावल श्रद्धा और तर्क दोनोंको अपना सेवक वनाकर उनसे काम लेता है। अतएव प्रज्ञाकी सूझ अहेतुवाद और हेतुवाद इन दोनो शास्त्रीय भूमिकाओं से परे होती है। इसे ही योगियोने 'सामर्थ्य योग' कहा है। सच्ची क्रातिका मूल 'सामर्थ्य-योग' में है, परन्तु अहेतुवादी और हेतुवादी शास्त्रकी भूमिकावाले सामर्थ्ययोग-मूलक क्रातिको ठीक तौरपर समझ नही पाते, तव वे नये उदयोन्मुख सत्यका गला घोटने में कुछ उठा नही रखते। इसीसे हम यहूदी और ईसाई तथा वैदिक और जैन-बौद्ध आदि सभी परम्पराओंके शास्त्रोंको समय-समयपर मानवताकी प्रगतिमें साधक होनेके वजाय वाधक पाते हैं। फिर भी अन्तमें प्रज्ञावादकी ही विजय देखी गई है।

क्राति और परिवर्तन दोनों ही एक नही है। परिवर्तन जड और पुरानी आचार-विचारकी रूढ़ या मात्र श्रद्धाजीवी प्रणालियोका ऊपरसे सुधारमात्र है,। यह सुधार

किन्ही दवावोके कारण लाचारीसे करना पड़ता है। इसे बुद्धिकी लीपापोती या मरहम-पट्टी भी कह सकते हैं। परिवर्तनमें पुरानी श्रद्धाके मूल करीव-करीव ज्योके त्यो रहते हैं और प्रणालियोका ऊपरी लिवास थोडा-बहुत बदल जाता है।

क्रान्ति निराली वस्तु है। क्रान्तिकी प्रेरणा मात्रसे वौद्धिक वैभव नही आ सकता। उसका उद्गम प्रतिभा या सहज सूझमे है। जब कोई अन्तर्नेत्रसे पुरानी प्रथाओ तथा उनकी पोपक अविचारी श्रद्धाका मानवताघाती परिणाम देख लेता है और उसको अपने दर्शनमें सन्देह तक नही रहता तब उसकी प्रतिभा जग जाती है और उसे क्रातिकारी विचारो की ओर प्रेरित करती है।

लोग समझते है कि क्रातिकारी तरगी और अव्यावहारिक होता है, पर सच्चे क्राति-कारी पर यह आरोप लागू नही होता। सच्चा क्रातिकारी वह है, जो अपनी सूझ और मानवताके भविष्यपर पूरा विश्वास रखता है। वह केवल चालू प्रथाओ का या विश्वासो का निपेध करने में ही अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री नही समझता। यह तो उसका प्राथमिक कार्य है। उसका अगला कदम नई परिस्थिति-निर्माण करनेका होता है ऐसी परिस्थिति जिसमें समाज श्रद्धा और बुद्धिका योग्य समन्वय साव सके।

लोग यह भी समझते है कि क्रातिकारी बुद्धिवादी तो होता ही है, पर श्रद्धालु नही। यह धारणा भी गलत है। क्रान्तिकारीमे अन्य सवकी अपेक्षा श्रद्धाका वल अधिक होता है, क्योकि एक तरफ तो उसे अनेक विधि-विरोधोका सामना करना पडता है, तो दूसरी ओर अपनी सूझ और विचारसरणीको कार्यान्वित करनेके लिये उसे अडिग रहना पड़ता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह विचार-विहीन पुरानी श्रद्धाओका निर्भयतासे विरोध करता है, पर पक्का आस्तिक होनेके लिये कुछ अगोमें नास्तिकता भी अनिवार्य हो जाती है। क्रातिकारी सचमुच आस्तिक होता है, क्योकि उसे अखण्ड मानवतापर अटूट श्रद्धा और साथ ही अपनी मौलिक श्रद्धाके सशोधनमें भी पक्का विश्वास होता है।

हम बुद्ध और सुकरातको क्रातिकारी समझते है, ईसाको भी। अन्तमें हम गाँधीजी पर आ टिकते है। क्यो? इस प्रश्नका जवाव उनकी मौलिक सूझ और श्रद्धाके सशोधन-कार्यसे मिल जाता है। बुद्धने विचार और आचार दोनोमें क्रातिकी। विरोध और प्रलोभन कोई उसे तिल-मात्र भी डिगा न सका। सुकरातने विचारमें क्रातिकी। वह अपनी सूझमें कितना पक्का था इसका सवूत तो मौका मिलनेपर भी जेलोसे न भागनेके शौर्यपूर्ण निर्णयसे मिल जाता है। और क्राइस्ट? कितना प्रशान्त, कितना अक्षोभ्य और कितना मृत्युसे निर्भय! उसने अन्त तक सत्यके आग्रहको नही छोडा।

गाँधीजीकी वात तो विलकुल ताजा है। मानव-जीवनका, कोई भी ऐसा पहलू नही है जिसमें गाँधीजीने मौलिक सशोधन किया न हो। केवल विचारमें ही नही, आचारमें भी उन्होने क्राति की।

रूढ-श्रद्धालुका मार्ग सरल है, क्योकि उसे प्रचलित लकीरपर भेडिया-धसानकी तरह ही चलना है। परिवर्तनवादी या सुधारकका मार्ग भी कठिन नही, क्योकि उसे आमूल-परिवर्तन करना ही नही पडता। उसे तो जहाँ जितना अनिवार्य रूपसे हो, सुभीतेके साथ करना है। और उतना ही करके वह कृत-कृत्य हो जाता है। पर क्रातिकारी स्थिति जुदा है। उसे तो जहाँ-जहाँ घुन लगा दिखाई दे, वहाँ ही सर्वत्र काट-

छाँट, कभी-कभी उच्छेद और अन्तमें नई रचना तक करनी पड़ती है। इसीसे समाजमें क्रातिकारी सहसा सुलभ नही होता।

कोई क्रातिकारी आकर समाजको जीवनके नये मूल्य समझाता है। शुरूमें भले ही उसका प्रवल विरोध हो, हत्या तक हो, पर अन्तमें उसके द्वारा सुधार-मार्गको समाज अपनाने लगता है। जव क्रातिकारीकी वात समाजमें जड़ जमाती है, तव शास्त्रकारो को शास्त्र-रचनाकी खूराक मिल जाती है। फिर तो वे नई क्राति को शास्त्रमें स्थान देकर लोक-स्वीकृत करानेका प्रयत्न भी करते है। परन्तु ऐसे शास्त्रकार कम देखे जाते है, जिन्होने खुद ही क्राति भी की हो और खुद ही उसीके आधारपर शास्त्र-रचना की हो। दूसरो द्वारा की गई क्राति की शतमुखसे प्रशसा करना या तर्कवलसे उसकी शास्त्रीयता स्थापित करना अलग वात है, और खुद की गई क्रातिके अनुभवोके वलपर खुद ही शास्त्र-रचना अलग है। फिर भी मानवता ऐसी सामान्य वस्तु नही है कि हमेशा दवी ही रहे। ऐसे व्यक्तिको भी मानवता अक्सर पैदा करती ही है जो खुद ही क्रातिकारी और शास्त्रकार दोनो हो।

यदि समाजकी परिधि या क्षेत्र छोटा है तो क्रातिका कार्य उतना कठिन नही होता। जैसे-जैसे समाजकी परिधि विस्तृत होती जाती है, एक समाज दूसरे समाजके विशेप सम्पर्क में आता है, एक देश दूसरे देशके विशेप निकट आने लगता है; वैसे-वैसे क्रातिका कार्य जटिल और कठिन होता जाता है, क्योकि इस दशा में अनेक देशोके, विविध-समाजके नानाविध आचार-विचारोको देखकर उनके आचार-विचारोके परिवर्तन या सशोधन की वात सोचनी ही पड़ती है और उस विचारको अमली वनानेके लिए पहलेकी अपेक्षा कही अधिक पुरुपार्थ की आवश्कता होती है। आज विश्वकी दशा ऐसी ही है। कोई एक देश या समाज केवल अपनेमें ही सीमित होकर टिक सका हो ऐसा आज सम्भव नही है।

हर देश और हर समाजकी क्रातयो का अपना इतिहास भी है। कोई देश, मानव-यूथ या मानव-कुल ऐसा नही है, जिसने समय-समयपर कमोवेश क्रान्तिका अनुभव किया न हो। जो समाज विलकुल पिछडा हुआ है, या माना जाता है, (जैसे अफ्रीकाके कुछ नीग्रो लोग या भारतके आदिवासी आदि) उसमे भी, सुधार मात्र ही नही, कभी-कभी क्रातिकी लहरें तक आई हैं; भले ही वे तीव्र न हो, व्यापक न हो, गहरी न हो। वरना वे समाज आजतक जीवित ही न रह पाते।

भारत एक पुरानी संस्कृतिवाला देश है। इसमें अनेकविध-समाज हैं; जिनके विचार-आचार अनेक विपयोमें भिन्न भी है। वे सव समाज रूढि, सुधार और क्रातिकी भूमिकासे गुज़रते आए हैं और आज भी कोई एक तो कोई दूसरी भूमिकासे गुज़र रहा है। परन्तु सामान्य-रूपसे कहना हो तो यही कहना ठीक होगा कि आजका भारत कमोवेश क्रातिकी दिशामें ही है। सामाजिक जीवनकी परिधिमें केवल शादी, विरासत आदि जैसे ही प्रश्न नही आते; उसमें तो आर्थिक, राजकीय, धार्मिक आदि सभी प्रश्नोका समावेश होता है। किसी एक पहलूमें सुधार या क्राति उस समय तक सफल सिद्ध नही हो सकती, जव तक कि जीवनके दूसरे सव पहलुओका सुधार या उनमें क्राति न की जाय। उदाहरणार्थ, दाम्पत्य-जीवनमें स्त्री-पुरुपकी समानता सिद्ध करनी हो, तो उनके शिक्षण और आर्थिक-जीवनके विपयोमें भी जड़-मूलसे परिवर्तन करना होगा। यह नही कि

नारी अपढ रहे, कम पढे व आर्थिक रूपसे बिलकुल पराधीन रहे, फिर भी पुरुषके साथ समानतासे बैठ सके।

हमें यदि साम्प्रदायिक या दलमुक्त राज्यप्रणाली स्थापित करनी है, तो यह नही कि हम पण्डित, मौलवी, मुल्ला, बाबा-साधु आदिके वहम और अन्धश्रद्धा-प्रधान अविचारी धर्म-प्रचारको निबाहते जायँ और ऐसी राज्यप्रणाली भी चालू रख सकें।

पतिकी मृत्युके साथ ही उच्च-वर्ण या सवर्ण कही जानेवाली जातियोमें से अनेक स्त्रियाँ सती हो जाती थी। यह एक रूढि थी। जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायोकी धर्म-भावना या आगे जाकर राजकीय शासनसे सती-प्रथापर प्रतिबन्ध लगे। यह सुधार अवश्य है, पर इस सुधारमें वैधव्यके सकटकी जडका मूल-सशोधन नही हुआ। विधवा सती होनेसे अवश्य बच गई, पर बहुधा लाचारी वश कवि श्रीहर्षके कथनानुसार, स्वीकृत वैधव्यकी अग्नि उसे आजन्म, जलाती ही रही। आजकल उसमें क्राति प्रारम्भ हुई है। विधवा भी चाहे, तो विवाह कर सकती है। उसे कानूनी मददके अलावा समाजके एक विशेष भागकी सहानुभूति भी प्राप्त है। फिर भी यह पूर्ण-क्राति या शुद्ध-क्राति नही है। शुद्ध और पूर्ण क्रातिमें तो पुनर्लग्न करते समय या करनेके बाद विधवाके प्रति समाजके किसी भी भागमें अवमाननाका भाव रह ही नही सकता। जैसे पुनर्लग्नके बाद विधुरके प्रति किसीका अवमाननाका भाव नही देखा जाता। यही नही, बल्कि पुनर्लग्न करनेवाले पुरुषकी उस विधवाके प्रति ऐसी दृष्टि भी नही होनी चाहिए कि मै उसका उद्धार कर रहा हूँ। इस दिशामें शुद्ध-क्राति वही कही जा सकती है, जिसमे विधवा और पुनर्वरण करनेवाले पुरुष दोनोका हृदयगत सख्य हो, आजन्म वफादारी हो जो हर प्रकारकी कठिनाइयोमें भी एकसी रहे।

स्व प्रयत्न या पैतृक-विरासतासे मिली सम्पत्तिको पुण्यका फल समझना रूढिवाद है। आगामी पुण्य-उपार्जनकी दृष्टिसे या अन्य प्रेरणाओसे इच्छानुसार सम्पत्तिका दान करना, मात्र-सग्रहमें एव अपने उत्तराधिकारीको ही देनेमें सतोष न मानना, सुधार है। स्वामित्वके बारेमें क्रातिका प्रभाव तब होता है जब व्यक्ति सोचे कि—'जो सम्पत्ति मुझे प्राप्त है वह केवल मेरे प्रयत्नका फल नही है, और मै दूसरोको गरीब या तग स्थिति में रखे बिना धन-सचय भी नही कर सकता। धन-सचयका अर्थ अन्यकी गरीबी होती है। जो व्यक्ति अन्यकी गरीबीको स्वीकार या नजरअन्दाज करके धन-सचय करता है, वह धनसचयके स्वामित्वके नाते पुण्यवान् हो जा सकता है पर साथ ही अनेक व्यक्तियोकी गरीबी और लाचारीके पोषकके नाते पापी भी कम नही है। इस दृष्टिसे वह पुण्यकी अपेक्षा पापका ही भागी अधिक है।' ऐसा सोचकर वह व्यक्ति धन-सचय करनेके बजाय अपनी इच्छा व समझदारीसे उपार्जित धनका विवेकयुक्त बँटवारा करे। जब समाजमें कानून या अन्य दबावके सिवा भी स्वामित्व-त्यागकी भावना और प्रवृत्ति स्थापित होकर जीवनमे घुल-मिल जाय तब ही क्रातिकी पूर्णता मानी जा सकती है।

कभी राजाको देव-रूप मानकर पूजासत्कार किया जाता था। उसके बिलकुल नालायक व अयोग्य उत्तराधिकारीको भी निबाहना धर्म समझा जाता था। यह रूढि-वाद है। राजा वह है, जो सचमुच प्रजापालन कर सके और इस कार्य मे सुयोग्य मन्त्रियो

का भी सहारा ले तथा नालायक उत्तराधिकारीको वारिस वनानेका आग्रह न रखे। तख्त-नशीन नरपतिके नालायक होनेकी स्थितिमें यदि प्रजा उसे पदभ्रष्ट करे, तो यह विचार सुधारवादी है ? इस दिशामें क्रातिका प्रारम्भ वैयक्तिक राजसत्ताके तो त्यागसे होता है, परन्तु राजसत्ताका त्याग कर देनेपर भी यदि वह परिस्थितिका लाभ उठाकर पुराने राज्य देश या समाजका अधिकृत एव उपयुक्त काम किए विना सिंहासनपर मौजमजे उडाता और सावारणत. जनताको निठल्ले आलसीपनेका सवक सिखाता रहे तो समझना चाहिए कि अभी इस वारेमें क्रान्तिका वहुत काम वाकी हैं।

पुराने ग्रंथोमें हैं व्रह्म च क्षत्र च—ब्राह्मण या क्षत्रिय ये दो वर्ण विशेष श्रेष्ठ हैं; वैश्य सेठ है, तो शूद्र सवका सेवक है। यह हुआ रूढिवाद। धार्मिक सुधारसे या अन्य देशोके सम्पर्क से यह विचार आया कि उच्च-नीचका भेद न्यायोचित नही। यह सुधार परिवर्तनवाद है। पर जव इस वर्णभेदकी भावनामें अस्पृश्यताको जड़ मूलसे निवारणका प्रश्न आया, तव क्रातिका वीजवपन हुआ। यह वीज अकुरित तो हुआ। पर अभी उसके फलने-फूलनेमें कई वाधाएँ है। कुछ पक्के सुवारको और राज्य-शासन के वलपर जहाँ अस्पृश्यताके निवारणका प्रयत्न होता है यही दूसरी ओरसे जात-पाँतके मिथ्या अभिमानी, न्यस्त-स्वार्थ साधक, धर्मके ठेकेदार तथा दूसरे नासमझ लोग अस्पृश्यो को आगे आनेसे रोकनेमें कुछ भी उठा नही रखते। उच्च-नीचकी भावनाको पूर्णतः निर्मूल करके अखण्ड-मानवताके नाते समानताकी स्थापना करना ही पूर्ण क्राति है, और सावना अभी वाकी है।

हर सम्प्रदाय अपने-अपने प्रवर्तकोको स्वतत्र ईश्वरकी कोटिका माने तथा अपने अपने शास्त्रोको ही अपौरुषेय, ईश्वरप्रणीत या सर्वज्ञकथित मानकर उनको इतना पूर्ण मान ले जिससे कि उन्हें किसी अन्य के शास्त्रोसे कुछ भी समझने या लेने लायक न लगे ऐसा अतिसकीर्ण धर्मवाद धार्मिक-रूढिवाद कहलाता है। स्वयं जिज्ञासा या अन्य परिस्थितिवश इतर परम्पराओके शास्त्रोके परिचयका मन तो हो पर इसके पीछे मुख्य दृष्टि यह रहे कि इन शास्त्रोके आवार पर जहाँ सम्भव हो वहाँ, केवल अपने शास्त्रके ही मौलिकतत्व स्थापित किये जायँ और जहाँ ऐसा सम्भव न हो, वहाँ इतर शास्त्रोके अभि-प्रायके प्रति, वहुत हुआ, तो तटस्थ रहा जाय यह एक तरहका ढुलमुल धार्मिक सुधार है। धार्मिक क्राति की भूमिका विलकुल निराली है। उसमें अपनी या दूसरेकी परम्पराका विरोधमूलक भेद रह ही नही पाता। परम्परा, सम्प्रदाय, शास्त्र, प्रवर्तक, कोई भी हो, अगर उसमें मानवताके हितकी वात हो, कोई सकीर्णताका भाव न हो, किसी जाति या वर्गके स्वार्थका सम्वन्ध न हो तो वे सव क्रांतिकी भूमिकामें मान्य होती हैं। इतना ही नही, वल्कि क्रातिका सच्चा अग्रदूत अपनी प्रज्ञाके प्रदीपसे ऐसी अनेक वातें नये रूपमें लोगोको समझा जाता है जो शायद कभी किसीने सुनी भी न हो। क्राति की इस भूमिकामें जो धर्मसमन्वय या सर्ववर्म समभाव पैदा होता है, वह मानवताको वहुत ऊँचा उठा ले जाता हैं।

भारत ही नही, दुनियाने इस युगमें ऐसी क्राति की कुछ झाँकी गाँधीजीके जीवन-कार्यमें पाई है। ज़वर्दस्ती, शस्त्रवल या प्रलोभन आदिसे मानवसमाजोमें अनेक परिवर्त्तन होनेका इतिहास तो मिलता ही हैं, पर इतिहासमें ऐसा एक भी पृष्ठ नही है, जिसमें यह

मिले कि किसीने जीवनके यावत्क्षेत्रोंमे अहिंसा और सत्यके बलपर इतने व्यापक प्रमाणमें मौलिक-क्रांति की हो। इसी कारण गांधीजीका धर्म-समन्वय या सर्वधर्म-समभाव पुराने सन्तो या नये सुधारकोसे बिलकुल भिन्न कोटिका लगता है।

अन्तमें, हम श्री विनोबाजीको भी नही भुला सकते। आज चाहे उनके विचार सरलतासे सर्वमान्य न हो, पर उनके विचारकी जडमें एक ऐसा प्रेम-सदेश—एक ऐसा अखण्ड-मानवतावादी भाव है कि अगर मानव जातिको विचारपूर्वक शान्तिसे जीवित रहना है तो सघर्ष, स्वार्थ हिंसा और वैर-प्रतिवैरकी वृत्तिसे थक जानेपर जल्दी या देरसे उसे अपनाना ही पडेगा। ऐसी ही सामाजिक क्रातियाँ विशुद्ध शास्त्र बन जाती है और वे मानव-जीवनकी स्थायी विभूतियाँ हैं।

रूढिका मूल वहममें है और सच्ची क्रातिका प्राण धर्ममें। वहम और धर्ममें अन्तर है। वहम अज्ञानके कारण धर्मसे पैदा होता है और उसका ही नाशक रता है। सच्ची-क्रातिको समझनेके लिये वहम और धर्मका अन्तर अवश्य समझना चाहिए। वहमके नाशसे कोई हानि नही, पर धर्मके नाशसे हानि अवश्यम्भावी है। वहमके नाशसे ही धर्मको बचाया जा सकता है, जो क्रातिमात्रका प्राण है। भावको हम वॉल्तेयरके निम्न शब्दोमें प्रकारान्तरसे पढ सकते है। ये उसने अपने एक मित्रको सम्बोधित करके लिखे थे —

"Religion, you say, has produced countless misfortunes , say rather the superstition which reigns on our unhappy globe This is the cruelest enemy of pure worship due to the supreme Being Let us detest this monster which has always torn the bosom of its mother ; those who combat it are the benefactors of human race ; it is a serpent which chokes religion in its embrace , we must crush its head without wounding the mother whom it devours "

—The story of Philosophy by
Will Durant p 242

—.० ०.—

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

समाजिक क्रान्ति - उसका रूप और प्रतिक्रिया

प्रकृति और पुरुष,—यह दो मुख्य तत्व है, जिनसे इस विश्व का निर्माण हुआ है। यह दोनों तत्व क्रातिके प्रभावसे अछूते नही रह सकते। दोनोके लिए उसकी प्रतिक्रिया भी प्राय. एक सी होती है। दोनोको एक-दूसरेका विरोधी इस रूपमें माना गया है कि प्रकृतिकी कठोरताको सहन न करनेके कारण पुरुषने उसपर विजय प्राप्त करनेका प्रयत्न किया और उस प्रयत्नके कारण दोनोमें एक संघर्ष छिड़ गया। फिर भी दोनो एक-दूसरे के पूरक है और दोनोके पारस्परिक व्यवहारपर ही यह सारा विश्व टिका हुआ है। दोनो का क्रातिके प्रभाव और प्रतिक्रिया (परिणाम) से बच सकना संभव नही है।

प्रकृतिमें होनेवाली क्रातिको आँधी, तूफान, झंझावात, भूकप व प्रलय आदि अनेक रूपोमें देखा जा सकता है और उसकी प्रतिक्रियाको इन परिवर्तनोंसे सहजमें समझा जा सकता है। एक वाक्यमें कहें, तो यह कहा जा सकता है कि क्रांतिका प्राकृतिक रूप अत्यन्त भयानक एवं विनाशकारी है लेकिन उसकी प्रतिक्रिया अथवा परिणाम अत्यन्त सौम्य, सुन्दर, जीवन-प्रद एवं प्राणदायक होता है। हम क्रातिके कालके सारे कष्ट, क्लेश व दुखोको सहसा ही भूल जाते है। मानव-जीवनमें होनेवाली क्रातिका भी यही रूप और क्रिया-प्रतिक्रिया है। प्रतिक्रिया शब्दका प्रयोग हम यहाँ परिणामके अर्थमें कर रहे है। यहाँ उसका अर्थ विपरीत परिणाम किंवा रिऐक्सन नही किया जाना चाहिये। उसके लिए ठीक-ठीक अर्थका सूचक शब्द प्रतिगामी है।

अंकुर पृथ्वीका पेट फाड़कर प्रगट होता है और पौधा सिर ऊँचा किये स्वाभिमानके साथ बढता चला जाता है। पृथ्वीका पेट न फटे, तो वनस्पतिका पैदा होना रुक जाय और पौधा भी संभव न रहे। जीव-जन्तु और प्राणियो के लिये, जीवन निर्वाहकी समस्या का हल कर सकना कठिन हो जाय। इस प्रकार देखा जाय, तो क्रातिके गर्भसे ही जीवन के पोषक तत्व प्रगट होते है। इसीलिए क्रांतिको जीवन एवं प्राण देनेवाली कहा गया है। वह मनुष्यमें स्वाभिमानकी उस भावनाका संचार करती है, जिसके बिना वह अपने मनुष्यत्वको खोकर निरा पशु बन जाता है। मनुष्य जीवनकी सार्थकता छाती फुलाकर, सिर ऊँचा करके जीवित रहनेमें ही है।

मानवकी आत्माका स्वभाव सिद्ध गुण चेतनता है और चेतनता ही जागृतिका चिन्ह है। परन्तु आत्माकी यह चैतन्य शक्ति उस चिनगारीके समान है, जो राखके नीचे ढकी हुई अपने स्वाभाविक रूप एवं गुणको भूल जाती है। इस राखकी तरह मानव-

आत्मापर भी रूढि, परंपरा, अंध-विश्वास, मिथ्या धारणा, भ्रांत-भावना एवं निरर्थक सामाजिक मान्यता आदिसे पैदा हुई जडता मूढताका वास्तविकताको ढँकनेवाली अवास्तविकताका पर्दा पड जाता है। कभी-कभी उसकी तह इतनी मोटी हो जाती है कि उसका हटा सकना, दुस्साध्य हो जाता है। साधारण स्थिति तो यह होती है कि हवाका एक अनुकूल झोका आते ही राख उड जाय और दवी हुई वह चिनगारी प्रज्वलित हो उठे। उसमें ऐसी अदम्य शक्तिका सचार हो उठे कि वह घरो, नगरो भयानक जगलोको भस्मसात करनेवाले दावानलका सा भीषण रूप धारण कर ले। मानवकी आत्मापर पडा हुआ जडता अथाह मूढताका आवरण यदि हट जाय, तो उसकी चैतन्य-शक्ति भी इसी प्रकार प्रज्वलित हो सकती है और वह भी अदम्य वन सकती है। यही क्रातिका काम है कि रूढि, परपरा, अंध-विश्वास, मिथ्या धारणा, भ्रांत भावना और झूठी कल्पना, निरर्थक सामाजिक मान्यता तथा पुराने सस्कारोके विकार को छिन्न-भिन्न कर डाले। अवास्तविकताको दूर कर वास्तविक स्थिति लाना क्रातिका धर्म है।

प्रकृतिको परिवर्तनशील वताया जाता है। उसमें उसका जो चक्र हमारे चारो ओर वना हुआ है, वह सदा ही घूमता रहता है। इस गति अथवा प्रगतिका नाम ही तो परिवर्तन है। दिन-रात, सुवह-शामका परिवर्तन यदि न हो, तो प्रकृतिपर निर्भर रहने वाले प्राणि मात्रका जीवन दूभर हो जाय। दिनमें सूर्य और रात्रिमें चन्द्रमाका यह क्रम सृष्टिके आदिसे चला आता है और सृष्टिके अन्त तक चलता रहेगा। वारह मासकी लडीमें वधे हुए कितने ही वर्ष मानव-जीवनमें निरतर जुडते रहते है प्रकृतिकी इस गति-प्रगति अथवा परिवर्तनका नाम ही तो यह ससार है। यदि कही प्रकृतिका यह स्वभाव मन्द पड जाय, तो ससार निश्चय ही ससार न रहकर असार वन जाय। प्रकृतिके जिन पाँच तत्वोसे इस ससारका निर्माण हुआ है उन सवका यही स्वभाव-सिद्ध धर्म है। पानी हवा व अग्नि आदिके वेगको कौन वाँध सकता है? पानीकी धारा, हवाका झोका और अग्निकी ज्वाला वडेसे वडे अवरोधको भी पार करके अपना रास्ता वना लेती है। आत्माके स्वभावसिद्ध चैतन्यकी भी स्वाभाविक स्थिति यही है। उसकी गतिको भी कोई सदाके लिये रोक नही सकता। अज्ञान, जडता व मूर्खताका परदा उस पर पड सकता है, परन्तु सदाके लिए नही, केवल कुछ समयके लिए।

गतिके इस प्रकार स्वभाव-सिद्ध होनेपर भी हर प्रकारकी गतिको प्रगति नही माना जा सकता। हर परिवर्तन वास्तविकता पैदा करनेवाला नही हो सकता। विनाशकी हर प्रतिक्रियाको क्रातिका रूप नही कहा जा सकता। मशीनका पहिया यदि उल्टा घूमना शुरु हो जाय, तो अनर्थका कारण वन जाता है। पानीकी धारा यदि सीमालाँघ जाय तो जल-प्रलय हो जाती है। हवाकी गतिमें "अति" पैदा होनेपर तुफान या झझावात आ जाते हैं। अग्निकी शिखाएँ प्रज्वलित होनेपर दावानल वन जाती है। वेग यदि उद्वेग वन जाय, तो उसकी सराहना नही की जा सकती। इस कारण प्रगतिके स्वरूप को ठीक-ठीक आँक लेना आवश्यक है। क्राति वीमारीकी औषधिके समान है। निदान और उपचारके विना औषधि अपना गुण नही दिखा सकती।

वौद्ध साहित्यकी भाषामे कहा जाय, तो क्रातिके रूप और उसकी प्रतिक्रियाके लिए 'वोधिसत्व' और 'वुद्ध' दो शब्दोका प्रयोग किया जा सकता है। वोधिसत्वका अभि-

प्राय है पूर्णताकी खोज एवं उसके लिये प्रयत्न करनेवाला। क्रांतिकी प्रक्रियाका उद्देश्य अथवा प्रयोजन भी यही होता है। वह पूर्णता या वास्तविकताका खोज करती अथवा उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करती है। बुद्धका अर्थ है, पूर्णताकी प्राप्तिकी सीढी, जो क्रांतिकी प्रतिक्रिया अथवा उसका परिणाम है। जातक-कथाओमें वार-वार यही समझानेका प्रयत्न किया गया है कि पूर्णताकी प्राप्तिमें कितने ही जन्म-जन्मान्तर लग सकते है। जीवको कितनी ही योनियाँ पार करनी पड सकती है। उसकी खोज व प्रयत्न निरन्तर जारी रहने चाहिये। गौतमको कितनी लम्बी, घोर तपस्याके वाद 'बुद्धत्व' प्राप्त हुआ। आवश्यक नही कि क्रांतिकी एक ही प्रक्रियाके वाद सफलता हाथ लग जाय। कितनी ही प्रक्रियाएँ असफल या विफल हो सकती हैं, परन्तु खोज अथवा प्रयत्नका तारतम्य टूटना नही चाहिये। उनकी श्रृंखला निरन्तर वनी रहनी चाहिये।

वैदिक प्रार्थनाके शब्दोमे क्रांतिके उपासक मानवका ध्येय होना चाहिए कि "असतो मा सत् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय।" असत्यसे सत्य, अंधकारसे प्रकाश और मृत्युसे अमृतकी ओर जाना ही क्रांति की प्रक्रिया अथवा उसका रूप है। असत्य, अन्धकार और मृत्यु वास्तविक नही, बल्कि उस आवरणके समान हैं, जो वास्तविक स्वभावको ढँक लेता है। क्रांतिका काम उसको दूर करना है।

सामान्यतया मानव-जीवनसे सबध रखनेवाले क्रांतिके तीन क्षेत्र है, जिनको हम व्यवहारकी भाषामे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र कह सकते है। दूसरे शब्दोंमें धर्म, समाज और राजनीतिसे भी उन क्षेत्रोको व्यक्त किया जा सकता है। इन तीनो क्षेत्रोमें होने वाली क्रांतियोको धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्रांति कहा जा सकता है। धार्मिक क्षेत्र केवल व्यक्ति तक सीमित न रहकर अत्यन्त व्यापक वन गया है, क्योकि मानव-जीवनके समस्त व्यवहारको धर्मके साथ जोड दिया गया है और धर्म-स्थानोकी स्थापना करके समाजको उनके साथ वाँध दिया गया है। राजनीतिको भी धर्मके साथ बाँधने की निरंतर चेष्टाएँ की जाती रही है। धर्मके प्रतीक पण्डे पुरोहित व पण्डित अथवा मुल्ला-मौलवी व पादरी न केवल व्यक्तिके जीवनपर हावी रहे है; अपितु समाज और राजनीतिको भी उन्होने अपने फौलादी पजोमें रक्खा है। इसमें सदेह नही कि उनका प्रभुत्व वहुत तेजीसे मिटता जा रहा है; फिर भी मिटते हुए समाजकी तरह वे अपनी सत्ता वनाए रखनेमें निरन्तर सलग्न है। राजाओ अथवा सम्राटोकी तरह उन्होने भी अपनी सत्ताकी रक्षाके लिये भयानकसे भयानक सघर्ष किये और कर रहे है। योरपमें कभी पादरियोकी तूती वोलती थी। अनेक देशोंसे उनकी सत्ता मिट चुकी है और अनेक में केवल शोभा व नामके लिये उनका अस्तित्व रह गया है। कभी टर्कीके खलीफा सारे मुस्लिम राष्ट्रोके अथवा समस्त मुस्लिम जगतके धर्म-गुरु माने जाते थे। उनकी खिलाफतकी गद्दीका चारो ओर वोलवाला था। कमालपाशा और उनके साथियोने गद्दीके विरुद्ध विद्रोहका झडा खडा करके क्रांतिका ऐसी चक्र घुमाया, कि उसका अस्तित्व ही मिट गया। मुल्ला, मौलवी दाढी, फैजकैप तथा वुरका आदि धर्मके सारे चिन्ह समाप्त कर दिये गये। मस्जिदोंमें विद्यालय, पुस्तकालय, अस्नानताल, अजायवघर अथवा इसी प्रकारकी अन्य लोकोपकारी संस्थाएँ कायम करदी गई। धर्म स्थानके रूपमें उनका कोई अस्तित्व तथा महत्व नही रहा। कुरानशरीफके अरवी भाषामे लिखे होने

से यह फैसला दे दिया गया कि वह टर्कीके लिये नही हैं। जिस धर्मने जनताको मूढ वनाकर उसमें जडता पैदा कर दी थी, उसकी उन्नति व प्रगतिके सव मार्ग अवरुद्ध कर दिए थे और उसके जीवनपर अवास्तविकताका परदा डाल दिया था, उसका कोई चिन्ह तक टर्कीमें शेप नही रहने दिया गया। धर्मकी आडमें कैसी अनैतिकता पनप रही थी। खलीफाके हरममें सैकडो लडकियाँ अनैतिकताका जीवन वितानेके लिये लाचार की जाती थी। महिलाओकी आजादीका अपहरण किया गया था। वे घरोके वाहर आ-जा नही सकती थी। घरोके दरवाजो और खिडकियोपर मैले-कुचैले परदे टँगे रहते थे। खुली हवा और खुले प्रकाशका उपभोग करना उनके लिए वर्जित था। इस सारी स्थिति को धार्मिक क्रातिने वदल दिया। कमालपाशाकी यह मान्यता थी कि स्त्रियोके रूपमें देशकी आधी जनताको गुलामीमे रखते हुए प्रजातन्त्रके प्रयोगको सफल नही वनाया जा सकता। टर्कीके इस महान परिवर्तनका प्रभाव अन्य मुस्लिम राष्ट्रोपर भी पडा। भले ही अफगानिस्तानमें वादशाह अमानुल्लाको सफलता नही मिल पाई और ईरानमें रजाशाह पहलवीने क्रातिका जो चक्र घुमाया था, वह अपने पूरे वेगसे नही चला, फिर भी इनमें और अन्य मुस्लिम-देशोमें वहुत तेजीसे परिवर्तन हो रहे है। मिश्रमे जिस तेजीसे परिवर्तन हुआ, उसकी किसीको कल्पना तक नही थी। वहाँ राजसत्ता और उसके आश्रित सामन्तशाहीका एकाएक अत ही हो गया। धर्मका नारा वुलन्द करके जनता को मदान्ध वनानेवाली मुस्लिमलीग पाकिस्तानमें लडखडा रही है।

हमारे देशमें राष्ट्रीय-दृष्टिसे धर्म निरपेक्ष आदर्शको स्वीकार किया जा चुका है और जनतामे असमानता, भेदभाव तथा ऊँच-नीचका विस्तार पैदा करने वाला धर्म वडी तेजी से लुप्त होता जा रहा है। अन्य अनेक देशोमें भी प्राय ऐसी ही स्थिति पैदा हो रही है। धर्मके नामपर कायम की गई जडता वमूढताको सर्वथा नष्ट किया जा रहा है। नये चीन और सोवियत रूसकी तो चर्चा ही क्या की जाय? उनको "नास्तिक" कहकर उनकी भर्त्सना की जा रही है। यद्यपि नये चीनमें लोगोके धार्मिक विश्वासो व मान्यताओमें किसी भी प्रकारका कोई हस्तक्षेप नही किया जाता और धार्मिक त्योहार आदि पहलेसे भी अधिक उत्साह एव धूमधामसे मनाये जाते है, फिर भी राज-काजमें धर्मका कोई स्थान नही रहा, जनताके व्यवहारमे भी उसका महत्व कम होता जा रहा है। इस प्रकार चारो ओर जो धार्मिक क्राति हुई है, उसका प्रभाव जनताके केवल व्यक्तिगत जीवनपर ही नही, उसके सामाजिक जीवनपर भी पडा है और सामाजिक-क्रातिका चक्र भी उसी वेगके साथ घूम रहा है। धार्मिक और सामाजिक दृष्टिसे इन सभी देशोमें जनताके जीवनका जो कायाकल्प हो रहा है, वह आश्चर्यजनक है।

इस प्रसगमें राजनीतिक क्रातिकी चर्चा करनेकी आवश्यकता नही है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि धार्मिक व सामाजिक क्राति राजनीतिक-क्रातिकी पूरक है। वह पहले उसके लिये भूमि तैयार करती है और वादमें उसकी कमियोको दूर कर उसको पूर्णतापर पहुँचाती है। जहाँ ऐसा नही होता, वहाँ राजनीतिक-क्राति सफल नही हो पाती। इस प्रकार होनेवाली क्रातिकी प्रक्रिया वहुत लवी होती है, परन्तु उसके परिणाम अत्यन्त शुभ व स्थायी होते है। उदाहरणके लिये हम अपने ही देशकी स्थिति के सवधमें कुछ विस्तारसे विचार करें। अग्रेज जव इस देशमें आये थे, तव हमारे देश

के लोगोमें व्यक्तिगत रूपसे किसी भी वातकी कमी न थी, किंतु अंग्रेजोके मुकावलेमें हमारे सामूहिक चरित्रका विकास नही हुआ था। मुसलमानोके मुकावलेमें भी वह वहुत कमज़ोर था। राजपूत वीरता, त्याग, तपस्या उत्सर्ग एव वलिदानके धनी थे, परन्तु उनका सामाजिक एव सामूहिक जीवन सर्वथा विश्रृंखल था। स्त्रियोकी स्थिति भी समाज में कुछ ऊँची न थी। लड़कीका जन्म एक अभिशाप ही समझा जाता था। ऊँच-नीच के भेद-भावकी खाई वहुत गहरी और चौडी वन चुकी थी। ऊँचे घरानेके राजपूत सरदार युद्धके क्षेत्रमें शत्रुका सामना करनेके लिये भी अपनेसे नीचे माने गये राजपूत सरदारोंके साथ कन्धेसे कन्धा मिलाकर खडे नही हो सकते थे। इस प्रकार वे युद्धके क्षेत्रमें निरन्तर पराजित होते रहे। इतिहासके विद्वानोने स्वीकार किया है कि पेशवाओमें अपने ब्राह्मणत्व का जो अभिमान समा गया था, वह उनके राजनीतिक पतन और मराठाशाहीके विनाश का मुख्य कारण वन गया। हमारी ऐसी ही कमज़ोरियोके कारण पहले मुसलमान और फिर अँग्रेज हम पर हावी हो गये। १८५७ की देशव्यापी प्रचड राज्य-क्रांति भी हमारी इन्ही कमज़ोरियोके कारण सफल नही हो पाई और हम इस तरहसे गुलामीमें जकड दिए गए। इस अत्यन्त निराशापूर्ण स्थितिमें राजा राममोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द तथा स्वामी विवेकानन्द आदिके रूपमें हमारी सामाजिक एवं धार्मिक चेतनाने एक ज़वर्दस्त करवट ली। इसी सामाजिक एव धार्मिक क्रांतिके गर्भसे हमारी राजनीतिक चेतना अथवा राष्ट्रीयताका प्रादुर्भाव हुआ। लोकमान्य-तिलक, तथा अन्य राजनीतिक नेताओने धार्मिक एव सामाजिक मामलोकी उपेक्षा करके केवल राजनीतिक जागृति पैदा करनेमें ही अपनी सारी शक्ति लगा दी। परन्तु राज्य का सघर्ष वहुत लंवा खिंच गया। महात्मागाधीके रूपमें एक वार फिर देशको वह नेतृत्व प्राप्त हुआ, जिसने एक ओर मादक द्रव्य निषेध तथा हरिजनोद्धार, महिला जागरण सरीखे कार्यक्रमोको हाथमे लेकर धार्मिक एव सामाजिक क्रांतिपर वल दिया और दूसरी ओर राजनीतिक क्रांतिमें अपनेको खपा दिया। यह प्रक्रिया इतनी लंवी हो गई कि जिस स्वराज्यको गाँधीजी एक वर्षमें प्राप्त करना चाहते थे, उसे प्राप्त करने में २७ वर्ष लग गये। परन्तु उसकी नीव अनेक दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओके वावजूद कमज़ोर और खोखली नही है। दूसरोने भी उसकी दृढता एव मजवूतीको स्वीकार किया है। स्व-राज्य-प्राप्तिके वाद अव हम फिर सामाजिक एवं धार्मिक-क्रांतिके विभिन्न आदर्शोंको पूरा करनेमें लगे है। सम्यता, समानता और वन्धुत्व भावके आदर्शके सुदृढ-आधारपर प्रजातंत्रकी नीव रखी गई है। ऊँच-नीचके समस्त सामाजिक एव धार्मिक आधार एक-एक करके नष्ट किए जा रहे है। स्त्री और पुरुषकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति और राजनीतिक अधिकारमें जो अतर था, वह दूर कर दिया गया है। सामाजिक व्यवस्थाके लिए समाजवादके आदर्शको स्वीकार करके हम पूरी तेज़ीसे उसकी ओर अग्रसर हो रहे है। यह है सामाजिक एवं धार्मिक क्रांतिका वह रूप, जिसके विना राजनीतिक क्रांति पूरी तरह निखर नही सकती और उस का रग ठीक तरह खिल नही सकता।

रूसकी सोवियत क्रांतिका उदाहरण भी टर्की जैसा ही है। वहांके क्रांतिकारी युवक भी अपनेको उन आदर्शोंमें पूरी तरह ढाल चुके थे जिनमें वे अपने सारे देशको ढालना चाहते थे। नये चीनका उदाहरण इस दृष्टिसे अत्यन्त स्पष्ट है। चीनके राष्ट्रपिता

डा० सुनयातसेन १८६६ में जिस राज्य क्रांतिके प्रयत्न करनेमें लग गये थे और जिसके लिये उन्होंने निर्वासन तककी कठोरसे कठोर यातनाएँ सहन की, वह १६११ में सफल हुई और प्रजातंत्रकी स्थापना होकर वे उसके पहले राष्ट्रपति भी चुन लिये गये थे। परन्तु वह पूरे १२ महीने भी निभ न सकी। प्रतिगामी तत्वोंने उस पर हावी होकर उसे सर्वथा विफल बना दिया। डा० सुनयातसेन और उनके साथियोंने यह अनुभव किया कि सर्व सामान्य जनताको अपने साथ लिये बिना और उसकी सामाजिक जडता एवं धार्मिक मूढता को नष्ट किये बिना उनके प्रयत्न सफल नहीं हो सकते। उनको एक बार फिर अज्ञातवास एवं निर्वासनका जीवन बिताना पडा और बडेसे बडे जोखिमका सामना करना आवश्यक हो गया। ४ मई १६१६ को जिस क्रांतिका सूत्रपात किया गया वह राजनीतिक की अपेक्षा मुख्यतः सांस्कृतिक थी, जिसका सीधा सबंध जनताके सामाजिक व धार्मिक जीवनके साथ था। देशव्यापी महान युवक-आंदोलनके रूपमें उसका सूत्रपात किया गया। इस प्रकार तैयार किए गए सुदृढ आधारपर प्रारंभ की गई क्रांति १ अक्टूबर १६४६ को पूरी तरह सफल हो सकी। आज भी वहाँ चार मईका दिन प्रति वर्ष सांस्कृतिक क्रांतिको सफल एवं व्यापक बनानेके लिए विशेष रूपसे मनाया जाता है। यह वस्तुतः नये चीनके युवकोंका वह महोत्सव है जिसपर वे अपने प्रजातंत्री राष्ट्रको नये सामाजिक एवं धार्मिक आदर्शोंमें पूरी तरह रँगनेका दृढ संकल्प करते है। १ अक्टूबर १६४६ को ही उन्होंने अपने कार्यकी इतिश्री नहीं मान ली, बल्कि उसके बाद और भी अधिक उत्साह एवं विश्वाससे अपने काममें जुट गये। इस प्रकार वे प्रजातंत्री क्रांतिको पूर्णता की सीमापर पहुँचानेमें पूरी तरह संलग्न है।

यह है वह प्रक्रिया जिससे सामाजिक एवं धार्मिक क्रांति द्वारा राजनीतिक क्रांतिके लिये अनुकूल परिस्थितियां पैदा की जाती है और उसके बाद उसीके द्वारा उसको पूर्ण बनानेका प्रयत्न किया जाता है। इस क्रांतिकी लंबी प्रक्रियाके संबंधमें हमको डा० सुनयातसेन के साथ घटी हुई एक बहुत पुरानी घटना याद आती है। वे अपने अज्ञातवास में लंदनके एक होटलमें ठहरे हुए थे। उनके पास के कमरेमें कुछ रूसी क्रांतिकारी युवक ठहरे हुए थे। वे भी उनकी तरह अज्ञातवास कर रहे थे। दोनोंमें परिचय होनेके बाद एक-दूसरेके देशमें संभावित क्रांतिके संबंधमे चर्चा हुई। रूसी नवयुवकोंने डा० सुनयातसेनसे पूछा कि वे अपने देशमें क्रांतिके कितने वर्षोमें सफल होने की आशा रखते है। डा० सुनयातसेनने उत्तर दिया कि ३० वर्षोमें। रूसी नवयुवक उनका यह उत्तर सुनकर कुछ स्तम्भित रह गये। उनके विस्मयका कारण यह ३० वर्षकी अवधि नहीं बल्कि यह था कि वे अपने देशमें तो ३० वर्षोमे भी क्रांतिके सफल होने की आशा नहीं रखते थे। डा० सुनयातसेन अपने देशकी जनताकी स्थितिसे भली प्रकार परिचित थे। किसी राजा या राजवंशके विरुद्ध विद्रोह कर के उसको राज्यच्युत कर देना इतना कठिन नहीं है, जितना कि आम जनतामें किसी क्रांतिको सफल बनाना। रूस में जारशाहीको समाप्त करनेका प्रश्न मुख्य था। जनता उसके अत्याचारोंसे तंग आ चुकी थी। उसके जीवनके समस्त साधनों यहाँ तक कि पानीके स्रोतोंपर भी जार का एकाधिकार था। अनेक प्रकारके टैक्सोंकी भरमार थी। यहाँ तक कि बाजार जाने और घरमें चूल्हा जलाने तक पर टैक्स लगता था। जनताको जान-बूझकर मूढ,

जड और अज्ञानी रखकर उसपर मनमाना शासन किया जाता था। सरा देश बादशाह की जागीर और सारे देशवासी उसके गुलाम समझे जाते थे। ऐसे अत्याचारी शासकको राजगद्दीसे च्युत करना इतना कठिन न था। लेनि चीन और भारतकी स्थिति सर्वथा भिन्न थी। यहाँ आम जनताको एक विशेष प्रकारके सामंती शासन और नौकरशाही शासनसे मुक्ति दिलानेकी समस्या बहुत टेढी थी। भारतकी समस्या और भी अधिक उलझी हुई थी। यहाँ एक जातिपर दूसरी समूची जातिका शासन था। वह ऐसे दो-एक व्यक्तियोपर निर्भर नही था, जिनको हटा देने मात्रसे समस्या हल हो जाती। यहाँ और चीनमें भी इस समस्याको हल करनेके लिये आम जनताके चरित्रके निर्माण करनेका प्रश्न मुख्य था, जिसके बलपर तत्कालीन शासनका अंत किया जा सके। गाधीजी और डा० सुनयातसेनने उसका निर्माण किया। चालीस करोड और साठ करोड़ जनताके चरित्रके निर्माण करनेमें २५ या ३० वर्ष लग जाना मामूली बात थी। वैसा ही हुआ भी। इसी कारण इस क्रातिकी यह प्रक्रिया बहुत लंबी है और उसके लिए अपार धैर्य, अटूट आत्मविश्वास और निस्सीम निष्ठाकी आवश्यकता है। ससारकी सब बड़ी-बड़ी क्रातियोको इसी प्रकार सफल बनाया गया है। सामाजिक एव धार्मिक क्रातिके आधारपर की गई राजनीतिक क्राति सफल हुए बिना नही रह सकती और उसके परिणाम भी प्राय: सदा ही शुभ एव कल्याणकारी होते है। उसका रूप जितना भीषण और लम्बा होता है, उसकी प्रतिक्रिया किंवा परिणाम उतना ही सत्य, शिव एव सुदर होता है।



श्री हरिदत्त वेदालकार

विवाह, कुटुम्ब और समाज

विवाह और परिवार मानव-जातिमें आत्मसरक्षण, वशवर्धन और जातीय जीवन के सातत्यको बनाये रखनेका प्रधान साधन है।

विवाह सस्थाका प्रादुर्भाव

मरण-धर्मा मनुष्यको अमर बनानेवाली विवाह सस्था का मानव समाजमें प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ ? यह एक मनोरजक और रोचक प्रश्न है। उद्‌गम सदैव अस्पष्ट और अनिश्चित होते है। भगवती श्रुतिके शब्दोमें ऐसे उद्‌गमोको निश्चयसे कौन जानता है ? कौन उन्हें बता सकता है ? (को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत् ऋग्वेद १०।१२९।६)। इनपर रहस्य का आवरण पडा हुआ है।

किन्तु मनुष्यकी अदम्य जिज्ञासा इस से सन्तुष्ट नही हो सकती। वह इस पर्देको हटाकर सुदूर अतीतके धुन्धले एव अस्पष्ट कालके सबधमें कुछ जानना चाहती है। तथ्योके अभावमें कल्पनाके पखोपर उडकर उस कालकी झाकी प्राप्त करती है।

कामाचार द्वारा विवाहके प्रादुर्भावकी कल्पना

१९ वी शताब्दीमें समाजशास्त्रियो ने जब सर्वप्रथम इस विषयका अनुसधान किया, तो उन्हें अनेक जातियोमें ऐसी कथायें और प्रथायें मिली, जिनके आधारपर यह कल्पनाकी गयी कि मानव समाजमें विवाह-संस्थाका उदय कामाचार (Promiscuity) से हुआ। इसके अनुसार पहले स्त्री-पुरुषोको स्वच्छन्द सबध करनेकी स्वतत्रता थी। स्त्रियो और पुरुषो दोनो पर विवाहके सम्बन्धमें कोई रोक-टोक या प्रतिबन्ध नही थे। इस निर्बाध और उन्मुक्त स्वतन्त्रताकी दशाको कामाचार या अनावरण (Promiscuity) स्वच्छन्द विवाह (Free marriage), गण विवाह (Group marriage) स्वैरिणीत्व (Hetaerism) आदि विभिन्न नामोसे कहा जाता था और यह माना जाता था कि इस आरभिक कामाचारसे ही बादमें नियमबद्ध वर्तमान विवाहों का जन्म हुआ।

भारतीय साहित्यमे महाभारतकी कुछ कथायें उपर्युक्त मतको सिद्ध करनेवाली बतलायी जाती थी। आदि पर्वमें पाण्डुने कुन्तीको नियोगकी प्रेरणा करते हुए कहा है—"पुराने ज़मानेमें स्त्रियाँ खुली, अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ जानेवाली और स्वतत्र थी (अनावृता किलपुरा स्त्रिय आसन् वरानने। कामचार विहारिण्य स्वतत्राचारु हासिनि ॥१।१२२।३)। वे कौमार्यावस्थासे ही अनेक पुरुषोके पास जाया

करती थीं। ऐसा करना अधर्म नही था। उत्तर कुरु देशमे आज तक इसका प्रचलन है। इसके वाद पाण्डुने यह वताया कि विवाहकी मर्यादा इस लोकमें देरसे प्रचलित नही है। इसे स्थापित करनेवाले उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु थे। एक समय जव उनके पिताके सामने एक ब्राह्मण उनकी माताका हाथ पकड़कर ले जाने लगा और श्वेतकेतुने इसपर आपत्ति की तो उद्दालकने सनातन धर्म कहकर इसका समर्थन किया। श्वेतकेतुको यह धर्म असह्य था, उन्होंने समाजमें स्त्री-पुरुषकी मर्यादाकी स्थापना वलपूर्वक की। इसी प्रकार इसी ग्रथमें अन्यत्र विवाह-प्रथा प्रचलित करनेका श्रेय दीर्घतमा ऋषिको दिया गया है। दीर्घतमा जन्मसे ही अधे थे, प्रद्वेषी नामक कन्यासे उनका विवाह हुआ था, उनकी कई सन्ताने भी थी। पर जव उन्होने 'सुरभिकी सन्तानसे गोधर्म (कामाचार) सीखा और निश्शक होकर यह कार्य करना शुरू किया तो अन्य ऋषि मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले (वितथ मर्याद) दीर्घतमासे वडे रुष्ट हुए। उन्हें आश्रमकी मर्यादा तोड़नेके कारण वहाँ रहने योग्य नही समझा गया। उनकी पत्नीने भी जव दीर्घतमाके आचरणसे ऊवकर उसे छोड़नेका निश्चय किया तो दीर्घतमाने कहा—'मैं आजसे ऐसी लोक-मर्यादा स्थापित करता हूँ कि यावज्जीवन एक ही पति नारी का सहारा होगा। पतिके जीवित रहने या मर जानेपर भी कोई स्त्री दूसरे पुरुषकी शरण नही लेगी।" कहा जाता है कि दीर्घतमाकी व्यवस्थासे पूर्व समाजमें विवाह और परिवारकी सस्था नही थी।

चीनके एक पुराने इतिहासमें कहा गया है कि प्रारम्भमें पुरुष तथा अन्य प्राणियोमें किसी वातमें अन्तर नही था। मनुष्य जगलोमें इधर-उधर घूमते थे। स्त्रियोपर उनका अधिकार समान रूपसे था। वच्चोको अपने पिताका कभी ज्ञान नही होता था, वे केवल अपनी माताको जानते थे।" सम्राट् फौ-हीने इस आदिम कामाचारका अन्त कर विवाहकी सस्थाका श्रीगणेश किया। इसी प्रकारकी कथायें मिश्र और यूनानके प्राचीन इतिहासमें पायी जाती है। मिश्रमें विवाह प्रथा चलानेका श्रेय मेनेसको तथा यूनानमें केक्रोप्सको दिया जाता है।

कुछ समाज शास्त्रियोने आज तक प्रचलित ऐसे रीति-रिवाजोका निर्देशन किया है, जो इस वातका प्रमाण है कि विवाहकी आदिम-अवस्था कामाचार ही थी। इनमें छ. प्रथाएँ विशेप रूपसे उल्लेखनीय है—(१) प्राग्वैवाहिक स्वतन्त्रता, (२) प्रथम राज्य-विकार (Jus Primae Noctis) (३) धार्मिक वेश्यावृत्ति (४) स्त्रियोको उधार देना तथा उनकी अदला-वदली करना (५) कुछ पर्वो पर यौन स्वच्छन्दता (६) मातृक अधिकार (mother right)। इनके अतिरिक्त प्राचीन यूनानी और रोमन लेखकोंके प्रमाणोंके आधारपर कामाचारका समर्थन किया गया।

प्राग्वैवाहिक स्वतन्त्रताका तात्पर्य अनेक, जगली जातियोमें पायी जानेवाली उस परिपाटीसे है, जिसके अनुसार विवाहसे पहले नर-नारी को यौन-संवंध करनेकी स्वच्छन्दता होती है। कामाचारके समर्थकोका कथन है कि पहले यह स्वतत्रता मानव-समाजमें सार्वभौम थी, अव कुछ विशेप जातियो तक ही सीमित रह गई है। कामाचारका दूसरा प्रमाण प्रथम राज्यविकार है। लार्ड एववरीने इसपर वहुत वल दिया है। उसका यह मत था कि पहले समाजमें सामूहिक विवाह (Communal marriages) की

परिपाटी थी और सब स्त्रियोंपर सब पुरुषोंका सामूहिक अधिकार था। किसी स्त्रीपर पूर्ण वैयक्तिक अधिकार प्राचीन परपराका उल्लघन और खण्डन था। कोई व्यक्ति कानूनी रूपसे किसी भी स्त्रीपर तभी ऐसा अधिकार पा सकता था, जबकि वह भूत कालमें माने जानेवाले सामूहिक अधिकारोंको किसी विधिसे थोडे समयके लिये स्वीकार करले। इस प्रकारकी स्वीकृति वह पुरुष प्रथम रात्र्यधिकारकी विधिसे प्रदान करता था। अनेक जातियोंमें यह प्रथा है कि सुहागरातको नववधूका कौमार्य उसका पति नही, किन्तु पुरोहित, राजा या सामन्त भग करता है। एववरी इन्हें समाजका प्रतिनिधि बताते हुए यह कहता है कि पहले जो अधिकार सारे समाजको था, अब उसका उपयोग समाजकी ओरसे ये व्यक्ति करते हैं। उसके बाद ही व्यक्तिको पत्नीपर पूरा अधिकार होता है। कन्याओंको विवाहसे पूर्व मन्दिरमें सेवा और वेश्यावृत्तिके लिये भेजनेकी प्रवृत्ति प्राचीन बेबीलोनिया, यूनान, रोम और मिश्रमे अनेक स्थानोंमें प्रचलित थी। स्विस समाज-शास्त्री वेखोफनने इसका सबध कामाचारसे जोडा है। "विवाह ब्रह्मचारी रहनेके धार्मिक आदेशोंका उल्लघन है, अत विवाहसे पहले देवताको प्रसन्न करना आवश्यक है ताकि विवाह द्वारा ईश्वरीय नियम-भग करनेके दण्डसे बचा जा सके। इसी दृष्टि से मन्दिरोंमें देवताकी कृपा पानेके लिये कुछ समयके लिये वेश्यावृत्तिकी जाती थी।"

अफ्रीका और ग्रीनलैंडकी अनेक जातियोंमें पत्नियोंके विनिमय और उधार देनेकी परिपाटी है। मध्य-अफ्रीकाके वनयन कोलोमें जब कोई व्यक्ति अपनी पत्नीके साथ मित्रके यहाँ जाता है, तो पत्नियोंकी अदला-बदली अवश्य होती है। हवाई द्वीपमे भी यही परिपाटी है। हडसन खाडीके एक्सिमो लोगोंमें अग कौत (पुरोहित) द्वारा मन्त्र पढे जानेके बाद पत्नी-विनिमय अनिवार्य हो जाता है, स्त्रियोंको जिन पुरुषोंके घरोंमें जानेको कहा जाय, वहाँ रात बिताना आवश्यक होता है। यदि कोई स्त्री किसी पर-पुरुषके पास जानेसे इन्कार करती है, तो यह समझा जाता है कि वह अवश्य बीमार पडेगी। इसी प्रकार अतिथियोंको स्त्रियाँ भेंट करनेकी परिपाटी भी कई जातियोंमें मिलती है। ब्रिफाल्टका यह मत है कि स्त्रीका विनिमय या उधार देना यह सूचित करता है कि उस जातिके सब व्यक्तियोंका उसपर समान रूपसे अधिकार है और यह आदिम कामाचारका स्पष्ट सूचक है।

कुछ पर्वोपर मनुष्योंको प्राप्त होनेवाली निर्बाध तथा उच्छृखल यौन स्वच्छन्दता से भी यह परिणाम निकाला गया है कि पहले सदैव ऐसी स्वतत्रता थी। अब उसे कुछ विशेष अवसरो तक ही नियन्त्रित कर दिया गया है। कोकोनोरमें रहनेवाले तिब्बतियो में 'तिआओ माओ हुई (हैट चुननेका पर्व) नामक उत्सवके समय दो या तीन दिन तक मन्दिरकी भूमिमें पुरुषको जो स्त्री पसन्द आती है और जिसका शिरोवस्त्र या हैट पुरुष छीन लेता है, उस स्त्रीको रातके समय उस पुरुषके पास आना पडता है। मैडागास्कर टापूमें राज-परिवारमें सन्तान होनेके अवसरपर सडको और गलियोंमें ऐसी निर्बाध यौन-स्वतत्रता होती थी कि वे विशाल चकलेका रूप धारण कर लेती थी, यह काल आन्द्रो-स्मी मेती कहलाता था, उस समय कानून किसीको दण्ड नही दे सकता था।

मातृ-सत्ता (Mother right) का प्रतिपादन सर्वप्रथम स्विस समाज-शास्त्री वेखोफन तथा इसके बाद मैकलीनानने किया। ब्रिफाल्टने आधुनिक कालमे

इसका प्रवल समर्थन किया है। ये सव विद्वान् यह मानते है कि समाजमें स्त्रियोको प्रधान स्थान प्राप्त था, वे परिवारपर पूरा शासन करती थी, वश-परपरा पुरुषो द्वारा नही किन्तु स्त्रियो द्वारा चलती थी। सन्तान पिताकी नही, माताकी समझी जाती थी। और माताके ही परिवारमें रहती थी। आज तक भारतमें मलावार और आसामकी अनेक जातियो तथा कुछ अन्य देशोमें यह मातृसत्तात्मक व्यवस्था पायी जाती है। वैखोफन तथा मैकलीनान इसे समाजकी सवसे पहली अवस्था समझते थे। मैकलीनानका यह कहना था कि कामाचार के कारण ही यह अवस्था उत्पन्न हुई। विवाहका कोई वन्धन तो था नही सन्तानका पितृत्व भी अनिश्चित था, अत मातृवशी समाजका होना सर्वथा स्वाभाविक था। वादमें इसका स्थान पितृ सत्तात्मक समाजने लिया और वही व्यवस्था सार्वभौम हो गयी। इस समय मातृसत्ताके समाजोके कुछ उदाहरण प्राचीन कालमें इस प्रथाके व्यापक रूपसे प्रचलित होनेका प्रवल प्रमाण है।

प्राचीन यूनानी और रोमन लेखकोने अनेक जातियोमें कामाचारका वर्णन किया है। पश्चिममें इतिहासके पिता समझे जानेवाले हिराडोटसने सीथियन लोगोमें अगाथिरस (Agathyrses) जातिके से संवधनमें लिखा था—वे मनुष्यमें सवसे अधिक नज़ाकत रखते है, उनके आभूषण मुख्य रूपसे सोनेके होते है। उनमें स्त्रियोपर सवका समान स्वत्व होता है ताकि ये सव भाई वने रहें और निकट-सवंधी होनेके कारण वे एक-दूसरेके प्रति घृणा और ईर्ष्याके भाव न रखे। स्ट्रैवोने ट्रोग्लो डाइट (Troglodyte) देशके सवंधमें यह लिखा है कि वहाँ मुखियाकी स्त्रियो और वच्चोको छोडकर वाकी सव स्त्रियाँ और वच्चे सारे समाजके समझे जाते हैं। इसी लेखकने आईरीन या प्राचीन आयर्लेन्डकी कैल्ट जातिके सवधमें इसी प्रकारकी वात लिखी है। संभवत. व्रिटिग द्वीप-समूहमें इस प्रकारके कुछ रिवाज थे, जूलियस सीज़रने पतियो द्वारा १५–२० पत्नियोपर सामान्य अधिकार की वात लिखी है।

अमरीकी विद्वान् लुईसमोर्गन (Lewismorgan) ने संयुक्त राज्य अमरीका के रेड-इंडियनोका अध्ययन करते हुए मानव जातिके सास्कृतिक विकासकी कई अवस्थाओं का उल्लेख अपने "प्राचीन समाज" (Ancient Society) शिकागो १८७७ में किया। इसमें यद्यपि मोर्गनने निश्चित रूपसे तो यह नही कहा था कि विवाहकी पहली अवस्था कामाचार नही है, पर उसने यह मत रखा कि विवाहकी अगली अवस्थाओ से यह तर्कसंगत परिणाम निकाला जा सकता है कि पहली दशा कामाचार रही होगी। इसके वाद दूसरी अवस्था 'संरक्त परिवार (Consanguire Family) की थी, इसमें भाई वहनोके अन्तर्विवाह होते थे, इसके वाद तो तीसरी अवस्था 'पुनलौन' (Punlaun) की थी, इसमें कई भाइयोकी अनेक साझी पत्नियाँ होती थी और कई वहिनोके वहुत से पति। इसके वाद वहु-विवाह (Polygamy) या एक पुरुष या स्त्री के साथ अनेक स्त्रियो या पुरुषोके विवाहकी अवस्था आयी और अन्तमें एकपत्नीव्रत (Monogamy) की। वेखोफन मेंक्लीनान, लार्ड एववरी, क्रोपाट किन, व्लाख आदि विद्वानोने इस सिद्धान्तका समर्थन, और विशद प्रतिपादन किया। इस मतको कार्लमार्क्सके साथी फ्रेडरिक एन्जेल्सने मानव समाजको पारिवारिक तथा राजनीतिक विकास प्रदर्शित करनेवाले अपने जर्मन ग्रथ–'परिवार और राजसत्ताकी उत्पत्तिमें न केवल स्वीकार किया वल्कि अनेक प्रयासोसे पुष्ट भी किया।

विवाह और परिवारका मूल अपनी जातिको सुरक्षित बनाये रखनेकी चिन्ता है। यदि पुरुष कामाचारके मतानुसार स्त्रीसे सबध करनेके बाद पृथक् हो जाय, गर्भावस्थामें पत्नीकी देखभाल न की जाय, सन्तान उत्पन्न होनेपर उनके समर्थ और बडा होने तक उसकी सहायता न की जाय तो अवश्यमेव मानव-जातिका शीघ्र ही अन्त हो जाय। कुछ प्राणियो में अवश्य यह व्यवस्था देखी जाती है कि वे मैथुनके बाद अलग हो जाते है, किन्तु पक्षियोकी अनेक जातियो तथा मनुष्यके पूर्वज कहलाने वाले बन्दरोमें ऐसा नही होता। गोरिल्ला और चिम्पान्जी परिवार बनाकर रहते है। जीवन-विकासकी शृखलामें निम्न जातियोमें बच्चोकी उत्पत्ति सख्या बहुत अधिक होती है। बच्चे बहुत जल्दी बडे होते है, इन जातियोमें अवश्य कामचार है। नर-मादा सयोगके बाद पृथक् हो जाते है, उनको अपनी जातिके सरक्षण की विशेष आवश्यकता नही है। मछलीके अडे लाखो-करोडोकी सख्यामें होते है, उन्हे सेनेकी जरूरत नही होती, बच्चे पैदा होते ही तैरकर भोजन ढूंढने लगते है, अत उनमें स्त्री-पुरुषके स्थिर सबधकी, विवाह और परिवारकी आवश्यकता ही नही है। यही दशा साँप आदि रेंगनेवाले प्राणियो या सरीसृपो (Reptiles) के अण्डो की है। ये धूपकी गर्मीसे स्वयमेव विकसित होते है, अत उनमें माता-पिताको अपने बच्चो की चिन्ता करनेकी आवश्यकता नही है।

किन्तु पक्षियोमें अण्डोको सेनेका काम मादा करती है, यदि वह न बैठे, तो उस जातिका अन्त हो जाय, इस समय नर उसे भोजन लाकर देता है। डार्विनका कहना है कि वैवाहिक सबधकी स्थिरता, सतीत्व और पति-पत्नीमें एक-दूसरेके प्रति प्रगाढ प्रेमके जैसे सुन्दर उदाहरण पक्षिजगत्‌में मिलते है, वैसे मानव समाजमें सुगमतासे उपलब्ध नही होते। माताका दूध पीनेवाले प्राणियो (Mammals) में बच्चो को पक्षियोकी अपेक्षा माता-पिताकी अधिक आवश्यकता होती है क्योकि उनके पूर्व विकासमें अधिक समय लगता है। ओरग-उटाङ्ग ८ से १२ वर्षकी आयुमें युवा होता है, यदि उस समय माता-पिता उसकी शत्रुओसे रक्षा न करें, पिता उसे भोजन न दे, माता उसका अपने दुग्धसे पालन न करे, तो वह जीवित ही नही रह सकता।। अत जातीय सरक्षणकी दृष्टिसे चिर काल तक इकट्ठा रहनेसे बच्चेके प्रति स्नेह आदि मातृ भावनाओ एव रक्षाकी पितृ भावनाओका उदय होता है। इनके बलवती होनेका एक कारण यह भी है कि उनमे बच्चोकी सख्या बहुत कम होती है। इसीलिये वे एक परिवार बनाकर रहते है।

अनेक प्राणि-शास्त्रियोने पशु-पक्षियो—विशेषत मनुष्यके पूर्वज गोरिल्ला, चिम्पाजी आदिमें विवाहके बाद स्थायी सबध बनाये रखने और पारिवारिक जीवन वितानेके पुष्ट प्रमाण दिये है। नई परिस्थितियाँ इन्हें बच्चोके साथ परिवार बनाकर रहनेका कारण होती है, इन परिस्थितियोमें निम्न बातें विशेष रूपसे उल्लेखनीय है—सन्तानकी सख्याका कम होना, गर्भकाल लम्बा होना और उस समय मादाको नरके सरक्षणकी आवश्यकता, उत्पन्न सतानका चिरकालतक मातृदुग्ध पर आश्रित रहना, बच्चोका शैशव-काल लम्बा होना, उसमें असहाय होनेके कारण माता-पिताके सरक्षणकी आवश्यकता, मादाके गर्भिणी होनेपर घर बनाना, रात-भर बच्चोकी चीतोंसे चौकसी करना, मादाके

लिये नरका भोजन लाना, मादा द्वारा बच्चेका पालन-पोषण बन्दरोसे मानव समाजकी जातियो तक सर्वत्र देखा जाता है। माता-पिता और बच्चेका परिवार मानव-समाज में सार्वभौम है, अत विवाह सस्थाकी उत्पत्ति उपर्युक्त नवीन शास्त्रीय परिस्थितियोसे हुई है, कामाचारसे नही।

विवाहका भविष्य

जिस प्रकार विवाह-सस्थाके प्रादुर्भाव और उद्गमके सवध में मनोरजक कल्पनायें की गयी है, उसी प्रकार इसके भावी स्वरूपके विषयमें भी रोचक भविष्यवाणियाँ की जा रही है। इनके अनुसार मानव-समाजमें एक ऐसा युग आनेवाला है, जब विवाह और परिवार-प्रथाका पूर्ण रूपसे अन्त हो जायगा। स्त्री-पुरुष इच्छानुसार कामसुखका उपभोग कर सकेंगे। कामाचारकी दशा अतीत कालमें भलेही कोरी कल्पना रही हो, आने वाले युगमें अवश्य सत्य सिद्ध होगी। गर्भ-निरोधके साधन उन्नत हो जानेसे स्त्री-पुरुष सवधमें बच्चे उत्पन्न होनेकी कोई सभावना नही रहेगी। माँ-बापको बच्चे-पालनका झझट नही उठाना पडेगा। राज्य द्वारा सचालित शिशुशालाओमे अनुभवी धायें सतान-पालनका कार्य करेंगी। सुप्रसिद्ध औपन्यासिक आल्डस हक्सले ने अपने एक उपन्यास 'नवीन साहसिक जगत्' में यहाँ तक उडान ली है कि भविष्य में विज्ञान इतना उन्नत हो जायगा कि प्रयोगशालाओमें वीर्य और रजको मिलाकर कृत्रिम रूपसे बच्चे उत्पन्न किये जा सकेंगे. स्त्रियाँ प्रसूति-व्ययासे मुक्ति पा जायँगी।

ऐसी कल्पनाओको पश्चिमी जगत्में पिछली डेढ शताब्दीमें होनेवाली महत्वपूर्ण क्रातियोंसे बहुत बल मिला है। १८ वी शताब्दीके उत्तरार्धमें होनेवाले दो प्रकार के परिवर्तनोने विवाह और परिवार प्रथाको बहुत प्रभावित किया है—(१) सास्कृतिक (२) आर्थिक। सास्कृतिक परिवर्तनोका आशय समानता, स्वतन्त्रता, और व्यक्तिवादके नये सामाजिक आदर्शोका प्रबल होना है। फ्रेंच राज्य-क्रातिने राजनीतिक क्षेत्रो में ही स्वाधीनताकी भावना उत्पन्न नही की, अपितु सामाजिक क्षेत्र में स्वच्छन्द प्रेमके आदर्श को भी स्पृहणीय बनाया। युवक-युवती अपना जीवन-साथी चुननेमें मातापिताका हस्तक्षेप नापसन्द करने लगे।

आर्थिक-परिवर्तन सास्कृतिक परिवर्तनोसे भी अधिक महत्वपूर्ण थे। १८ वी शताब्दीके अन्तमें योरोपमें औद्योगिक -क्राति हुई,। कताई-बुनाई आदि विभिन्न उद्योग हाथकी बजाय पानी और वाष्पकी शक्तिसे सचालित होने लगे। इस क्रातिकी प्रगति के साथ विवाह और परिवारका आर्थिक महत्व नष्ट हो गया। पहले उत्पादनका केन्द्र परिवार था, अब उसका स्थान कारखानेने ले लिया। इसमे मजदूरी करनेके लिये लोग दूर-दूर से आने लगे। परिवारका विघटन आरम्भ हो गया, स्त्रियाँ भी कारखानो और दफ्तरोमें जाने लगी। आर्थिक दृष्टिसे स्वावलम्बी होनेके कारण वे पितृप्रभुतासे बहुत-कुछ स्वतन्त्र होने लगी।

पश्चिमी जगत्में वैज्ञानिक और यान्त्रिक उन्नतिके कारण अतीत कालमें परिवार द्वारा किये जानेवाले अनेक कार्य अन्य माध्यमो द्वारा अधिक क्षमता और कम-व्ययके साथ किये जाने लगे है। आर्थिक आवश्यकताओकी पूर्त्तिका कार्य कारखानोने ले लिया है। राज्य द्वारा स्थापित विद्यालय पहले घरमें मिलनेवाली शिक्षा देनेका कार्य कर

रहे हैं। प्रसूति और बीमारीमें परिवारकी अपेक्षा अधिक सुविधाजनक चिकित्सालय हैं। पहले वृद्धावस्थामें असहाय होनेपर पुत्रपर भरोसा रखा जाता था, अब बीमेकी पालिसीसे यह कार्य आसानीसे हो जाता है। काम करनेवाली स्त्रियोकी सुविधाके लिये विविध प्रकारकी शिशुशालाओ तथा बालोद्यान (kinder gartens) का प्रचार बढ रहा है। होटलो और उपाहारगृहोने खानेकी दृष्टिसे परिवारकी उपयोगिता कम कर दी है।

इन सब नवीन परिस्थितियोसे पश्चिम तथा उसकी देखादेखी भारतमें विवाह और परिवारके विरुद्ध विद्रोह हो रहा है। न्यूयार्क राज्यके एक अफसरने अपने पितासे २५ हजार डॉलरका उपहार पानेवाली एक युवतीसे पूछा—"क्या इसे आप अपना घर बनानेमें व्यय करेंगी ?" उस तरुणीने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"मैं चिकित्सालयमें पैदा हुई हूँ, शिशुशालामें पली हूँ, कॉलेजमें पढी हूँ, चर्चमें मेरी शादी हुई है, होटलमें रहती हूँ, मुझे परिवार और घरकी क्या आवश्यकता ?"

कुछ विचारक मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विवाह और परिवार प्रथाको हानिकारक मानते है। वाटसनका कहना है कि घर अब अतीत कालकी वस्तु हो रहा है। इस समय इसका उपयोग यही है कि यहाँ कपडे बदल लिये जायँ और कुछ घटे सो लिया जाय। वह दिन दूर नही, जब बच्चे घरकी बजाय उससे अधिक अच्छी सस्थाओमें बाल-शिक्षण-निष्णात व्यक्तियो द्वारा पाले जाया करेंगे, परिवार प्रथाका अन्त हो जायगा।

एक अमेरिकन लेखक श्री कैलवर्टनने विवाह और परिवारका मर्सिया पढते हुए लिखा है—'प्राचीन परिवार पद्धति क्षीण हो चुकी है, पुराने घरका स्थान सिनेमा, क्लब और नृत्यशालाने ले लिया है। घरके दो ही उपयोग शेष रह गये हैं—यह भोजन करनेके लिए और मरनेके लिए है। पेनने बडी भावुकतामें यह गीत बताया था—(इस पृथ्वीपर) घर जैसा कोई (मधुर) स्थान नही है, अब इस गीतका यह रूप हो गया है—भगवान्को धन्यवाद दीजिये कि इस धरतीपर घर जैसी कोई चीज ही नही है (दी बैंकरप्सी आफ् मैरिज लडन १९३१, पृ० २३)।

क्या वास्तवमें भविष्यमें विवाह प्रथाका लोप हो जायगा ? उपर्युक्त भविष्य-वाणियाँ किये हुये चौथाई सदी बीत चुकी है, पर अभी तक इस प्रथाका उच्छेद नही हुआ। फिर भी अनेक विचारक तलाकोकी सख्यामें भीषण वृद्धिको इस बातका सूचक समझते है कि भविष्यमें विवाह-प्रथाका अन्त हो जायगा।

इसमें कोई सदेह नही कि पश्चिममें तलाकोकी सख्या बहुत बढ रही है। सयुक्त-राज्य अमरीकाके कुछ आँकडोसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। १८६७ ई० से वहाँ इस विषयके आँकडे रखे जाने शुरू हुए हैं। उस वर्ष तलाकोकी कुल सख्या ९,९३७ थी, १९०० ई० में यह पाँचगुनीसे भी अधिक बढकर ५५,७५१ हो गयी, प्रथम विश्व-युद्धके अतिम वर्ष १९१८ में १,१६,२५४ और और १९२९ में २,०५,८७६ हो गयी, इसके बाद चार वर्ष तक विश्वव्यापी मदीके दिनोमें यह सख्या कम हुई। १९३३ में १,६५,००० थी, इसके बाद फिर बढना शुरु हुई और द्वितीय विश्व-युद्धकी समाप्तिके बाद १९४६ में ६,१०,००० हो गयी, इसके बाद फिर यह सख्या घटना शुरू हुई और १९४८ में ४,०५,००० थी। यह सख्या १८६७ की सख्यासे चालीसगुना है। इसका यह अर्थ

है कि ८१ वर्षमें वहाँ तलाकोंकी सख्या चालीसगुनी हो गयी है, इस सख्याको यदि वर्ष-भरके समयमें फैलाया जाय, तो मोटे तौरसे यह कहा जा सकता है कि वहाँ प्रति मिनट एक तलाक होता है। क्या यह विवाहके अंधकारमय भविष्यका सूचक नही है?

यो देखनेमें तो ऐसा ही प्रतीत होता है, उपर्युक्त आँकडो और तलाकोकी सख्या वृद्धि वडी भयावह है। ध्यान दिया जाय तो यह वृद्धि इतनी भीषण नही प्रतीत होगी। वह तथ्य यह है कि इसमें जनसख्याकी वृद्धिका विचार नही किया गया। १८६७ में सयुक्त राज्य अमरीकाकी जनसख्या ३ करोड ७३ लाख ७५ हजार ७०३ थी, और १९४८ में यह वढकर १४ करोड ६१ लाख, १३ हजार हो गयी है। यदि जनसंख्याके हिसाव से प्रति हजार व्यक्तियोके पीछे तलाकोकी सख्याका औसत निकाला जाय तो १८६७ मे तलाकोकी दर .३ थी और १९४८ में २ ८। इस हिसावसे तलाकोकी संख्यामें चालीस गुना नही किंतु नौगुना से कुछ अधिक वृद्धि हुई है। इस सख्यासे यह स्पष्ट है कि तलाक देनेवालोकी सख्या तीन तक भी पूरी नही पहुँचती।

अमरीकामें तलाककी भयावहताको एक दूसरे ढगसे भी प्रकट किया जाता है। १९४५ में अमरीकामें जितने विवाह हुए थे, उस संख्याके एक तिहाई तलाक दिये गये। यदि सौ विवाह हुए तो ३१ तलाक दिये गये। इन आँकड़ोके आधारपर यह कहा जाता है कि अमरीकाके प्रति तीन विवाहोमें से एक विवाहकी समाप्ति तलाक द्वारा होती है। पर इसमें भी दो वातोका ध्यान नही रखा गया। पहली तो यह कि १९४५ युद्धका वर्ष था और युद्ध वद होनेके वादसे वहाँ तलाकोकी सख्या घटी है और दूसरी यह कि एक वर्षमें हुए विवाहो और तलाकोंके पारस्परिक अनुमानसे किसी परिणामपर पहुँचना गलत है क्योकि १९४५ में जो तलाक दिये गये, वे स्पष्टत· १९४५ में हुए विवाहोंके तलाक नही, १९४५ से पहले वर्षोमें हुए विवाहोके तलाक हैं। अत कई वर्षोके तलाको और विवाहोकी सख्या का औसत् निकालकर ही दोनोका अनुपात दिखाना चाहिये। १९३० से १९४७ के इस प्रकारके आँकडोका औसत निकालनेसे यह प्रतीत होता है कि वहाँ विवाहो और तलाकोका पारस्परिक अनुपात २० १ है। पर इससे यह परिणाम नही निकालना चाहिये कि वहाँ वीस फीसदी अथवा प्रति पाँचमें से एक विवाहका अन्त तलाकसे होता है क्योकि उपर्युक्त वर्षोमें होनेवाले अनेक तलाक ऐसे विवाहोंके भी है जो १९३० से पहले के है। वस्तुत तलाकोका सही अंदाजा इस वातसे हो सकता है कि विवाहित स्त्रियोके तलाकोकी संख्या तथा अविवाहित स्त्रियो द्वारा किये जानेवाले विवाहोकी सख्या की तुलना की जाय। १९४७ में इन दोनोका अनुपात १ और १० था और १९४८ में यह घटकर एक और ८ ६ रह गया। इसका अर्थ यह है कि प्रति १०० विवाहोके पीछे २० न होकर दस या इससे कम तलाक होते है। इस प्रकार यह कहना सर्वथा भ्रामक है कि वहाँ सौ विवाहोके पीछे ३१ तलाक होते है।*

तलाकोकी सख्या यद्यपि उतनी नही है, जितनी प्राय· कही जाती है। फिर भी इस तथ्यको नही भुलाया जा सकता कि वहाँ तलाकोकी संख्यामें वृद्धि हो रही है। क्या यह वृद्धि विवाहके भविष्यके लिये चिन्ताजनक है? अधिकाश समाजशास्त्रियोका

* इस प्रकरणके सव आँकड़े इलियट और मैरिलके सोशल डिस आरगैनिजेशन पृ० ४३७–४४० से लिये गये हैं।

विचार इसके विपरीत है। तलाक विवाह-प्रथाके अन्तका नही, उसकी उपयोगिता का सूचक है। मैरिलने लिखा है कि तलाकोकी वृद्धिका तात्पर्य यह नही है कि परिवार-प्रथा क्षीण हो रही है, क्योंकि तलाक देनेवाले अधिकाश व्यक्ति पुन विवाह करते है। उनके पुर्नविवाहसे यह सूचित होता है कि विवाह और परिवारको वे एक सामान्य व्यक्तिके लिये स्पृहणीय और उन्नत जीवन पद्धति समझते है। वे अपना उपयुक्त जीवन-सगी न मिलनेपर ही दूसरा जीवन-साथी ढूँढनेके लिये तलाक देते है।

तलाकोमें वृद्धि होते हुए भी पश्चिममें बहुसख्या ऐसे दम्पतियोकी है, जो अपने विवाहोसे पूर्ण रूपसे सुखी और सतुष्ट है। इस विषयमें इग्लैण्ड और अमरीकामें हुए विविध अनुसधान बडा सुन्दर प्रकाश डालते है। अभी हालमें प्रकाशित ६४२ पृष्ठ की एक विस्तृत चैसर रिपोर्टमें ३७०५ विवाहित और २३२९३ ब्रिटिश कुमारी युवतियो से पूछे गये प्रश्नोके आधारपर अग्रजोके वर्तमान वैवाहिक जीवनका विशद प्रतिपादन है। इसके अनुसार प्रति दसमें से सात ब्रिटिश पत्नियोने अपनेको असाधारण रूपसे सुखी या बहुत सुखी बताया है, नौ पत्नियोने अपनेको सुखी बताया है,। लगभग सभी पत्नियोने यह कहा है कि उन्हें दुबारा विवाहका अवसर दिया जाय, तो वे पुन अपने पतियोको ही चुनेंगी। सयुक्त राज्य अमरीकामें बर्जेस तथा कॉट्रेल और टरमैन अपनी गवेषणाओमें ऐसे ही परिणामोपर पहुँचे है। टरमैनकी अनुसधानमे अत्यधिक सुखी दम्पतियोकी सख्या ३० प्रतिशत तथा अत्यधिक दुखी दम्पतियोकी सख्या केवल एक प्रतिशत थी। इन आँकडोमे यह स्पष्ट है कि पश्चिममें विवाहके जल्दी लुप्त होनेकी कोई आशका नही है।

विवाह प्रथाके भविष्यमें बने रहनेका कारण यह भी है कि इससे कुछ ऐसे प्रयोजन पूरे होते है, जो अन्य किसी साधनसे नही हो सकते। विवाहका एक प्रधान और महत्त्व-पूर्ण प्रयोजन वश-वृद्धि है। विज्ञानने अब ऐसी उन्नति कर ली है कि कृत्रिम गर्भाधान होने लगा है, किन्तु अभी तक विज्ञान ऐसा साधन नही ढूँढ सका कि गर्भाशयसे बाहर शिशु का विकास हो सके। इसमें भी कोई सदेह नही कि विज्ञान भविष्यमें ऐसे साधन ढूँढ लेगा। जे० बी० एस० हॉल्डेन प्रभृति जीव-शास्त्रियोका यह कथन कि निकट भविष्यमें ऐसी उन्नति सभव है, जिससे गर्भाशयसे बाहर कृत्रिम रूपसे पैदा किए (Ectogenetic) बच्चोका पालन-पोषण वैज्ञानिक प्रयोगशालाओमें सफलतापूर्वक किया जा सके। पर इसमें सबसे बडा भय यह है कि गर्भाशयका उपयोग न होनेसे उसमे नाना प्रकारकी योनि-सबधी बीमारियाँ उत्पन्न हो जायँगी। इससे मानव-समाजको कृत्रिम रूपसे चलानेवाला रज (ova) बन्द होनेसे मनुष्य जातिके लोप की सभावना है। आजकल विज्ञानने यद्यपि ऐसे भोजन ढूँढ लिये है, जिनमे शरीरके लिये आवश्यक सब तत्वोको गोलियोमें सानुरूप भरा जा सकता है और इन गोलियोके खानेसे मनुष्यकी भूख दूर हो सकती है, पर इनका उपयोग इसलिये सभव नही है कि मनुष्यने विकासकी प्रक्रियामें काफी बडी अन्न प्रणाली (Alimentry tract) आमाशय और आँतोको पाया है,। इनके सम्यक रीतिसे कार्य करनेके लिये यह आवश्यक है कि अन्दर जानेवाले भोजनका परिमाण और मात्रा काफी हो भोजनकी गोलियो मे आवश्यक तत्व भले ही मिल जायँ, पर उन्हें खानेपर अन्न प्रणाली, पाकाशय और आँतें काम करना

वन्द कर देंगी। उनमे अनेक बीमारियाँ हो जायगी, अत ऐसे भोजन विज्ञान द्वारा वन जानेपर भी उनका प्रयोग नही होता। इसी प्रकार विज्ञान द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पन्न शिशुओका विकास सभव होनेपर भी उनका प्रयोग किये जानेकी कोई सभावना नही प्रतीत होती। सन्तानोत्पादनके लिये विवाह और परिवारकी आवश्यकता वनी रहेगी।

विवाहका दूसरा प्रयोजन सन्तानका पालन है। यद्यपि इस सवधमें विज्ञानने वडी उन्नति करली है। पश्चिमी देशोमें राज्य द्वारा वच्चोकी पालनेके लिये शिशुशालाओ का विकास हुआ है, पर इसमें सदेह है कि ये कभी घरका स्थान ले सकेंगे। अमरीकामें शिशुशालाओमें पाले जाने वाले तथा घरोमे पाले जानेवाले वच्चोके सवंधमें अनेक तुलनात्मक अध्ययन हुए है। इन सवमे यही सिद्ध है कि दोनो प्रकारके वच्चो में वडा अन्तर होता है। यह ठीक है कि राज्य द्वारा सचालित शिशुशालाओके कार्यकर्त्ता वाल-मनोविज्ञान और वाल-शिक्षणके प्रकाण्ड पण्डित होते है पर वे वालकको वैसा स्नेह, प्रेम, ममता और सहानुभूति नही दे सकते, जो उसे घरमें मिल सकता है। राल्फ लिन्टनने लिखा है—"शिशुके समुचित विकासके लिये शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्त्ति पर्याप्त नही है ? वच्चो को वैयक्तिक ध्यान, प्रेम और अनुक्रिया (Response) के सतोपकी अधिक आवश्यकता है। शिशुशालाओ द्वारा वच्चोको सतोप नही मिल सकता। शिशु-शालाओके इस थोक उत्पादनकी परिस्थितिमें जिन वच्चोका लालन-पालन होता है, उनमे सामान्य व्यक्तित्वका विकास नही हो पाता। इससे उन्हें युवावस्थामें अपनेको समाजके अनुकूल ढालनेमें वडी कठिनाई होती है। हमारे समाजकी नित्यताके लिये परिवारपद्धतिकी नित्यता आवश्यक प्रतीत होती है"(दी नेचुरल हिस्ट्री आफ् फैमिली पृ० ३७)।

विवाहका तीसरा प्रयोजन दाम्पत्य प्रेम है, और यह मनुष्यको विज्ञानके किसी साधन से नही प्राप्त हो सकता। प्रकृतिने स्त्री और पुरुपको पृथक् रूपसे अधूरा और अपूर्ण वनाया है। शत पथ ब्राह्मणके शब्दोमें उनमें तभी पूर्णता आती है जव वे परस्पर मिलते है। वृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है कि पहले पुरुप अकेला था, वह दु खी था, उसने दूसरा साथी चाहा, तव आत्मा द्विधा विभक्त होकर स्त्री-पुरुप वने. जीवशास्त्रकी दृष्टिसे भी स्त्री और पुरुप पृथक् रूपमें अधूरे है। उन्हे एक-दूसरेकी आवश्यकता रहती है और मिलकर ही वह अपना कार्य अच्छी तरह कर सकते है। यह समझना भूल होगी कि रति सुखके लिये ही उन्हें एक दूसरेसे मिलनेकी आवश्यकता है। रति सुख यद्यपि दाम्पत्य प्रेमका एक महत्वपूर्ण अग है, पर दाम्पत्य प्रेम केवल रति सुख ही नही है। वह इसके अतिरिक्त भी वहुत कुछ है। दाम्पत्य प्रेम में एक-दूसरेके प्रति सहानुभूति और सहायता, कठिनाइयोको एक साथ मिलकर हल करना, एक-दूसरेके सान्निध्यमें सुरक्षा, निश्चिन्तता और सुखकी अनुभूति, एक दूसरेसे प्यार किये जाने और प्रशसित होनेकी तथा अन्य वीसियो भावनायें होती है। भवभूतिने उत्तर रामचरित में दाम्पत्य प्रेमका वर्णन करते हुए कहा है—"यह सुख और दु खमें एक जैसा अपरिवर्तित रहता है, जीवनके ऊँच-नीचमें निरन्तर वना रहता है, जो हृदयका विश्रामस्थल है, इसका उन्माद वुढापेसे भी कम नही होता। यह वहुत दिनो तक साथ रहने तथा हृदयोके

आवरण हट जानेसे परिपाकको प्राप्त हुए प्रकृष्ट प्रेमपर अवलम्बित है।"* रति सुख यौवन ढलनेपर घट जाता है, पर दाम्पत्य प्रेम अवस्था वढनेके साथ वढता चलता है, दोनो अपनेको एक दूसरेका अभिन्न-मित्र और साथी समझते है और एक-दूसरेके प्रति ऐसी घनिष्ठताका अनुभव करते है, जो सभवत ससारके अन्य वहुत कम सवधोमें पायी जाती है।

यह दाम्पत्य प्रेम मनुष्यको विवाहके अतिरिक्त कही नही मिल सकता। लेकिन इसके अलावा यह वडा उपयोगी और सरक्षण दाता है। अमरीकामें विवाहित और अविवाहित पुरुषोके सवधमें एकत्र किये गये आँकडोंसे यह स्पष्ट होता है कि विवाहित व्यक्तियोकी मृत्यु-सख्या अविवाहितोसे कम होती है। न्यूयार्क राज्यमे अभी हालके एक वर्षमें एक वीमा कम्पनी द्वारा एकत्र किये गये आँकडोसे यह ज्ञात होता है कि ३० से ४४ वर्षकी अवस्थामें मरनेवाले अविवाहितोकी सख्या इसी आयुके विवाहितोकी सख्याकी मृत्यु-सख्या से दुगुनी थी। इसका कारण स्पष्ट है, विवाहितोका खान-पान उत्तम तथा जीवन अधिक नियमित होता है उनकी छोटी-मोटी वीमारियोमें अधिक ध्यान दिया जाता है और शुश्रूषा अच्छी होती है। शरावसे होनेवाली मृत्युओमें भी यही अनुमान पाया जाता है क्योकि एकाकी व्यक्ति अपने एकान्त जीवनकी नीरसता और चिन्ताओको दूर करनेके लिये मद्यपान का आश्रय लेते है। आत्महत्या करनेवालोकी सख्यामें भी उपर्युक्त प्रकारका अन्तर दृष्टिगोचर होता है। दाम्पत्य प्रेमका कभी अनुभव न करनेवाले तथा तलाक या साथीकी मृत्युके वाद उसे खो देनेवाले व्यक्ति वन्धनोवाले व्यक्तियोकी अपेक्षा अधिक सख्यामें जान-बूझकर अपना जीवन समाप्त करते है। (मेरिल सोशल डिस आरगैनिजेशन पृ० ३६३)। वच्चोके हितोका सरक्षण भी विवाह तथा परिवार प्रथामें ही सवसे अधिक होता है।

इसमें कोई सदेह नही कि भविष्यमें विवाह और परिवार प्रथामें वडे क्रातिकारी परिवर्तन होगे। प्रणयके तत्वको अधिक प्रधानता दी जायगी। गर्भ निरोधके साधनो को उन्नत करके सन्ताने कम उत्पन्न की जायगी, परिवारके सदस्योकी सख्या कम होगी, नर-नारीके दाम्पत्य और आर्थिक अधिकारोमें पूरी समानता होगी। वैज्ञानिक यत्र और उपकरण गृहस्थीका कार्य वहुत सुगम वना देंगे, स्त्रियाँ घरोसे वाहर अधिक सख्यामें काम करेंगी। वर्तमान कालमें स्त्री-पुरुषोकी तथा विशेष रूपसे स्त्रियोकी जिस प्राग्वैवाहिक पवित्रता और सतीत्वपर वल दिया जाता है, उसका महत्व कम हो जायगा। वच्चोकी शिक्षा स्वास्थ्य और भरण-पोषणकी व्यवस्था राज्यकी ओरसे होगी। मातृत्व ऐच्छिक तथा आयोजित होगा। वाल-विवाह कम होगे, अविवाहित रहने और वडी आयुमें विवाह करनेकी प्रवृत्ति वढेगी, तलाकोकी सख्यामें वृद्धि होगी।

किन्तु इन सव परिवर्तनोके होनेपर भी विवाह सस्थाके लुप्त अथवा उच्छिन्न होने की सभावना नही लगती। अणु-वमोने मनुष्यके अस्तित्वका भविष्य अन्धकारमय कर दिया है, पर जव तक उसकी सत्ता वनी रहेगी, तव तक उपर्युक्त जीव विज्ञानीय और

* उत्तर रामचरित १।३९ अद्वैतं सुख दु:ख योरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत्, विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हर्योरसः। कालेना वरणान्ययात्परिगते यत्स्नेहसारे स्थितं, भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हितत्प्राप्यते॥

मानसिक आवश्यकताओंकी पूर्ति विवाह तथा परिवारसे ही होगी। राल्फ लिन्टनने लिखा है—'इसमें सदेह नही कि माता पिता और बच्चोकी त्रिमूर्त्तिको अन्य मानवीय संबंधोकी अपेक्षा अधिक कठिनाईका सामना करना पड़ रहा है, पर यह त्रिमूर्त्ति सब पारिवारिक संगठनोकी चट्टानी नीव है। कुटुम्बकी अन्य व्यवस्थायें बाहरी शक्तियो द्वारा टूट सकती हैं, पर यह चट्टान सदैव बनी रहेगी। विज्ञान या राजनीति हमारे लिये प्रलयका निर्माण कर रही हैं, उस प्रलयमें भी अन्तिम मनुष्य अपने जीवनके अन्तिम क्षणो को अपनी पत्नी और सन्तानकी खोजमें लगा देगा' (नेचुरल हिस्ट्री आफ् फैमिली पृ० ३८)।



तृतीय खण्ड

भारतीय समाज पर वाह्य प्रभाव

सरदार के० एम० पणिक्कर

हिन्दू समाज पर विभिन्न प्रभाव

भारतीय सविधानमें जिन मूलभूत अधिकारो और नीति-निर्देशक सिद्धान्तोकी घोषणा की गई है, उनपर अमल करानेकीदृष्टिसे यद्यपि न्यायतत्वोंको कोई अधिकार नही दिये गये है पर वे उन आदर्शो पर अवश्य जोर देते है, जिनको राज्यने स्वीकार कर लिया है। इनमें से कुछ मूलभूत अधिकारो और बहुतसे सिद्धातोका समाज सम्बन्धी हिन्दू धर्माधारित परिकल्पनासे सीधा विरोध है। सविधानमे इस बातकी भी स्पष्ट घोषणा की गई है कि राज्य जन-साधारणके कल्याणके लिये अधिकसे अधिक कारगर उपायो द्वारा एक ऐसी समाज-व्यवस्था कायम करनेका प्रयत्न करेगा, जिसमे सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय प्राप्य हो। इसमें चातुर्वर्ण्यके आधारपर रचित समाज-व्यवस्थाका निषेध है। हिन्दुओंके सामाजिक विकारोका इसमें बिलकुल स्पष्ट विरोध है। अवसरकी समानता, और एक सामान्य नागरिक सहिताके निर्माणकी आवश्यकता सम्बन्धी निर्देशक सिद्धातोंके ग्रहण द्वारा यह बात और भी दृढ करदी गई है। सविधान से पहले जो सामाजिक परिवर्तन हो चुके थे, उनको भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है।

वास्तवमें यह कहा जा सकता है कि सविधानने भारतीय जनताको एक प्रकारसे यह दृढ आश्वासन दिया है कि विधान-सभाएँ नये सिद्धातोंके आधारपर समाजकी पुनर्रचना करनेका पूर्ण प्रयत्न करेंगी। अतएव इस बारेमे हमें गौरसे विचार-विश्लेपण करनेकी आवश्यकता है।

भारतीय सविधानके सबधमें निस्सदेह सबसे अधिक महत्वकी बात यह है कि बालिग मताधिकारके आधारपर पूर्ण लोकतत्रके आदर्शको स्वीकार कर लिया गया है। यह देखते हुए कि इस देशमें चार करोडसे अधिक ऐसे लोग है, जिनको पिछडी जातियाँ कहकर सबोधित किया जाता है, और जिनको आजके पहले अस्पृश्यताके आधारपर अनेक तरह की सामाजिक अयोग्यताओंका शिकार होना पडता था, यह स्पष्ट है कि बालिग मताधिकारका राजनीतिकसे अधिक सामाजिक महत्व है। पिछडी हुई जातियाँ सारे हिन्दुस्तानमें फैली हुई है। दरअसल जातियाँ सारे हिन्दुस्तानमे फैली हुई हैं ये जातियाँ हिन्दू समाजका सबसे दबा हुआ निम्न स्तर है। उनको इतने अधिक परिमाणमें राजनीतिक सत्ता प्रदान करना न केवल उनकी समानताका स्वीकार ही है, बल्कि उनके हाथोंमें ऐसा यत्र दे देना है कि जिसके जरिये वे अपने अधिकारोपर अमल भी करा सकते हैं। बालिग मताधिकारके दूसरे परिणाम भी हुए हैं। कई सामाजिक समूहोंको, जिनको पहले

अपनी शक्तिका पता भी नही था और जिनको हालहीमें हुए राजनीतिक परिवर्तनोका स्पर्शमात्र हुआ था पहले पहल इस वातका भान हुआ कि उनकी भी कोई ताकत है। पड़िमाची—एक पिछडी हुई जाति जिसके वारेमें वहुत कम लोगोने सुना भी था—सन् १९५२–५३ के चुनावके वाद मदरासकी विधान सभामें एक वहुत ताकतवर दल हो गया। उन्होने अपने आपको वह्निकुल क्षत्रिय—अग्निकुलके क्षत्रिय—कहना शुरू किया और सख्याधिक्यके वलपर वे राजनीतिक सत्तामे हिस्सा पानेके हकदार हो गये। वास्तवमें उन्होने तामिल अचलमे एक उल्लेखनीय क्रातिकी सृष्टि की है। हिन्दुस्तानमें सभी जगह अल्पाधिक रूपमें यही हुआ है। वालिग मताधिकारके आधारपर स्थापित नई राजनीतिक व्यवस्थामें पुरानी परम्परागत प्रभुत्वशाली जातियोका स्थान नई जातियो को मिल गया है।

सविधानका दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि पहले जिनको रियासतें कहा जाता था, उनमें सामन्तवादी व्यवस्था का गढ टूटा। वर्तमान भारतीय सघके लगभग आधे भागमें पहले देशी राजाओका शासन था। इन रियासतोमें जिस वशका राजा राज्य करता था, उससे सवधित जातियो और समूहोके आधारपर सामाजिक सस्थान वना हुआ था। राजस्थानमें शासन-सत्तामें राजपूतोको ही स्थान मिलता था, और दूसरी जातियोवाले, चाहे जितने भी धनी और ताकतवर हो, नगण्य से थे। मराठा राज्योमें सत्ता मराठोके हाथमें ही होती थी। त्रावणकोर-कोचीनमें सत्ता अधिकतर नायर तथा दूसरी जातियोंके लोगोंके हाथमें थी, जो शासनकर्ता राजाओंसे सम्वन्धित होते थे। राजाओके जाते ही रातो-रात यह सव वदल गया। आज राजस्थानके मन्त्रि-मडलमें एक भी राजपूत नही है। उनकी जागीरें और ठिकाने ले लिये गये है। अव वह राज्य करनेवाली जाति नही रही। जहाँ-जहाँ राजाओका शासन था, वहाँ सर्वत्र ही इस प्रकारका परिवर्तन आ गया है। इस फेर-वदलके सामाजिक महत्वकी सहज ही कल्पना की जा सकती है, खासतौरसे जव हम इस वातको याद करते है कि उत्तरी भारतकी वहुत-सी रियासतें आखिरी दम तक स्थितिपालकता और रूढिवादिताके गढ़ थे।

साम्यवाद

सविधान और उसके द्वारा नित नई राजनीतिक शक्तियोको पनपनेका अवसर मिला, उनका असर निरन्तर वढ रहा है, चाहे उसको हम पूरी तौरसे देख नही पा रहे हो। यह परिवर्तन स्वाभाविक और तर्कसम्मत लगता है, इसलिए इसका कोई तीव्र विरोध नही दिखाई पडता। साम्यवादके प्रसारने हिन्दू समाजको चुनौती दी है, उसके वारेमें ठीक यही वात नही कही जा सकती। साम्यवाद समाजको एक विलकुल नये आधारपर गढना चाहता है; सिर्फ उसकी आर्थिक और राजनीतिक शकल ही नही वदलकर सारे समाजका रूपान्तर करना चाहता है, और नये सिद्धातोपर उसका निर्माण करना चाहता है। साम्यवाद एक ऐसा वर्गहीन समाज वनाना चाहता है, जिसमें सत्ता नीचेके तवके के लोगोंके हाथमें हो। यह सिद्धात हिन्दुओके प्रत्येक विचार, जैसे जाति, संयुक्त कुटुम्व, वैवाहिक प्रतिवन्ध, खान-पान संवधी प्रतिवन्ध आदि सवसे टकराता है। वास्तवमें हिन्दुओंके जीवनका कोई पहलू नही है, जिसको साम्यवाद चुनौती न देता हो। हर साम्यवादी

को अपने व्यक्तिगत और दलगत जीवन-व्यवहारमें ऐसे सिद्धातोको मानकर चलना होता है, जिनका हिन्दुओके सामाजिक जीवनके परम्परागत मूल्योसे सीधा विरोध है। तरुणो और उग्र परिवर्तनवादी विचारोवाले लोगोका साम्यवादके प्रति आकर्षण होनेका एक कारण यह भी है, कि वे देखते है कि जिन सामाजिक विचारो और रूढियोंके खिलाफ वे विद्रोह करते है, उनको तोडनेके लिये साम्यवादसे बढकर और कोई विचार-प्रणाली नही है। गाधीवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद और इस प्रकारके दूसरे राजनीतिवाद हिन्दू धर्मकी मान्यताओ और प्रथाओके साथ समझौता कर लेते है, और एक सुधारवादी दृष्टिकोण रख वे कुछ तो कानून बनाकर और कुछ सामाजिक-आर्थिक कारणोसे सामाजिक प्रथाओमें सुधार कर लेनेकी आशा रखते है। साम्यवाद ही है, जो इस मामलेमें किसी प्रकारका समझौता नही करता, इसका कारण यह है कि हिन्दू समाजमें जो प्रथाए प्रचलित है उनका सर्वथा निषेध साम्यवादका मुख्य आधार है। साम्यवादमें जाति और सयुक्त कुटुम्बके लिये स्थान ही नही है। विवाह-शादीके मामलेमें भी वे हिन्दू-समाजकी मर्यादाओको नही मानते। और सामाजिक प्रश्नो पर उनके क्रातिकारी दृष्टिकोणका असर इसलिये और भी होता है कि भारतवर्षमे साम्यवादके नेता भी तथाकथित ऊँची जातियोंके स्त्री-पुरुषोमें से है।

केवल अपने दलके कार्यमें ही नही, बल्कि दूसरी समस्त कार्यवाहियोमें भी साम्यवादी लोग हिन्दुओकी सामाजिक सस्थाओको चुनौती देनेपर जोर देते है। उनकी नाटक-मडलियाँ इसी आदर्शपर चलकर प्रचारकार्य करती है। उनके साहित्यका भी यही उद्देश्य होता है। वास्तवमें हिन्दू सामाजिक व्यवस्थापर आक्रमण करनेका उनका उद्देश्य उसको जडमूलसे उखाडना ही होता है, जिससे कि एक सामाजिक रिक्तता उत्पन्न हो जाय और उनको निर्बाध रूपसे कार्य करनेका मौका मिले।

चाहे हम मार्क्सवादी दृष्टिकोणकी यह बात स्वीकार न भी करे कि सामाजिक सस्थान आर्थिक कारणोसे बनता और बदलता है, इससे तो इन्कार नही किया जा सकता कि आर्थिक प्रगतिके सोपान सामाजिक जीवनमें नये आधारोकी सृष्टि करते है। शिकारी और मछलीमार लोगोका तौर-तरीका बनजारा जातियोके लोगोसे भिन्न होता है। गाँवोमें सामाजिक जीवन जिन आधारोपर बना होता है, वे व्यावसायिक समाजमें नही चल पाते। पॉल विनाग्राडाफने विश्लेषण करके बताया है कि आर्थिक जीवनके विभिन्न सिद्धातोके आधारपर निर्मित विकसित समाजोकी कानूनसम्बन्धी धारणाओमें अन्तर होता है। सभ्यताके विकासके साथ इन प्रथाओको बौद्धिक रूप मिल जाता है और राज्य सत्ता या धर्म सत्ता द्वारा कानूनका दर्जा दे दिया जाता है। और साथही आर्थिक आवश्यकताओके अनुसार कानूनमें हेर-फेर करनेके लिए भी आवश्यक प्रणालीका विकास हो जाता है। साम्यवादी राज्य-व्यवस्थामे कानून सिर्फ परिवर्तन का ही साधक नही होता, बल्कि पूंजीवादी समाजके सारे सामाजिक सगठनको नष्ट करना उसका उद्देश्य होता है। इस मान्यताके आधारपर कि पूंजीवादी समाजको सामाजिक सस्थान पूंजीवादके हित-रक्षणके उद्देश्यसे बना हुआ है, समाजवादी लोग उसपर सर्वतोमुखी आक्रमण करके उसके मूल्योको हमेशाके लिये मिटा देना चाहते है और एक ऐसे समाजका आदर्श सामने रखते है जो सर्वथा मार्क्सवादके सिद्धातोके अनुसार बना हुआ हो।

यह मान वैठना विलकुल गलत होगा कि चूँकि हिन्दू समाज-व्यवस्थाने आज तक वौद्ध, इस्लाम, और ईसाई वर्म (जिनमेंसे प्रत्येकने धार्मिक और सामाजिक आधारपर हिन्दू समाजकी वुनियादी धारणाओका विरोध किया) के आक्रमणोसे सफलतापूर्वक मुकावला किया है, साम्यवादके आक्रमणसे भी डरनेकी कोई वात नही है ।आज परिस्थितितियाँ विलकुल भिन्न है । इस्लाम और ईसाई मजहवके आक्रमणका हिन्दू वर्मपर कोई गहरा असर नही पडा क्योकि जिन लोगोने उन वर्मोको अगीकार किया, उनको हिन्दूवर्मसे निकल जाना पडा । इस प्रकार उनका आक्रमण वाहरसे ही हुआ और हिन्दूसमाजको उससे अपनी रक्षा करनेमें कठिनाई नही हुई । जो हिन्दू वर्मान्तर करके मुसलमान या ईसाई हो गए, वे समाजके भीतरसे सुवारका आन्दोलन नही चला सके । साम्यवादियोने इस वातको समझ लिया, इसलिये वे हिन्दू समाज-व्यवस्थाकी सारी वातो का विरोध करते हुए भी समाजको छोड़कर अलग नही हुए । उनका तरीका है कि समाजमें रहते हुए जाति, विवाह-सवध, खान-पान आदिके नियम-प्रतिवंध नही मानना । इस स्थितिका मुकावला करनेमे हिन्दू वर्म समर्थ नही है, क्योकि उसके पास ऐसा कोई यंत्र नही है, जिससे सव लोग एक समान व्यवहार करें .

उद्योग प्रधान समाज

हिन्दुओके सामाजिक ढाँचेको वदलनेमें उद्योग प्रधान समाजका असर भी खास महत्व रखता है । जाति-प्रथाका सम्वन्ध वहुत हद तक ग्रामीण उद्योग-वंधो और हाथकारीगरीके कार्यो से है । ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था ही सयुक्त कुटुम्व प्रणाली और पेशेवर जाति-भेदका मुख्य आधार है । आजका उद्योग-प्रधान समाज इन दोनो वुराइयोंकी जडपर ही कुठाराघात करता है । यह देखनेमें आ रहा है कि वड़े-वडे औद्योगिक क्षेत्रो में हिन्दुओका सामाजिक ढाँचा वहुत तेजीसे वदल गया है । अभी तक इन परिवर्तनोका असर सारे समाजपर इसलिए सीमित रहा है कि उद्योगीकरण कुछ ही क्षेत्रो तक परिमित रहा । विगत कुछ वर्षोमें सामूहिक विकास-योजनाओ और राष्ट्रीय विस्तार सेवायोजनाओ द्वारा जो विकासकार्य हुआ है उसके द्वारा शहरोके नये विचार ग्रामीण क्षेत्रोमें भी पहुँच रहे हैं । वास्तवमें इन योजनाओको (जिनका हिन्दुस्तानके गाँवोमें वहुत प्रसार हो चुका है) ग्रामोमें भी शहरी विचारोका वातावरण लानेका प्रयास कहा जा सकता है ।

ग्राम-सभाओकी स्थापनाके द्वारा गाँवोका राजनीतिक रूपान्तर तो लगभग किया जा चुका है जिसके परिणामस्वरूप गाँवोके परम्परागत ढाँचेको वदलने और नई सामाजिक शक्तियोंके विकासमें वड़ा योगदान मिला है । आज गाँव सभाओमें अस्पृश्य कहे जानेवाले लोग भी ब्राह्मण और जमीदार श्रेणीके लोगोके साथ वैठते है । कई स्थानो में उन वर्गोके लोग जो पहले सामाजिक दृष्टिसे पिछड़े हुए समझे जाते थे, गाँव सभाओंके अध्यक्ष भी चुने गये हैं । इसमें खास वात गाँवकी सचालन-सत्तामें इन लोगोका अश ग्रहण करना नही हैं, लेकिन समानान्तर समाजका विच्छेद है, जो हिन्दू ग्राम्य जीवनकी की खास वात रही है । इस समानान्तर सामाजिकता और सवर्ण तथा वर्णहीन जातियो के विभेदके नाते ही, हिन्दुओंके ग्राम्य-जीवनकी उन वातोमें भी परिवर्तन हो गया है, जो हजारो वर्षोसे चली आती थी । हिन्दू समाजकी रूढ़िवादिताका मुख्य आधार

ग्राम्य-व्यवस्था रही है। उस क्षेत्रमें न तो मुसलमान और न अंग्रेज शासक ही कभी पहुँच पाये। पहली दफा आज इस क्षेत्र में रूढिवादितापर आक्रमण शुरू हुआ है।

हाथ-कारीगरीके धधो और वशागत पेशोका विघटन, जो उद्योगीकरणकी ओर बढते हुए समाजमें अवश्यम्भावी है, कई प्रकारसे सामाजिक ढाँचेपर असर डालता है। हरएक गाँवमें वहाँके लुहार, खाती, कुम्हार, तेली, जुलाहा, मोची आदि हुआ करते थे। आज भी कही-कही चाहे वे मिल जायँ पर उनकी आर्थिक स्थिति इतनी बिगड चुकी है कि सगठित जातियोके रूपमें उनका अस्तित्व नही के समान है। आज कुम्हारकी जगह फैक्टरी द्वारा बनाये गये बर्तन उसके दरवाजेपर पहुँच जाते है। चाहे बडे पैमानेपर सरकारी सहायता मिल जानेसे जुलाहोका कारबार चलता रह जाय पर कपडेकी मिलोने जन-साधारणकी आवश्यकताओ की पूर्त्ति करनेका काम ले लिया है। पेशेवर जातियो के विघटनके क्रमको कोई रोक नही सकता।

गाँवोमें बिजलीके प्रसार और चारो ओर बडे-बडे उद्योगोके विस्तारके परिणाम स्वरूप हिन्दुओके सामाजिक जीवनपर कई रूपोमें असर पड रहा है। बिजलीके योगसे कई छोटे-छोटे उद्योग पनपते है और उनसे गाँवोमें शहरी रूप आने लग जाता है। घरसे फैक्टरीकी तरफ कदम उठाना शुरू होते ही जातिका उच्छेद शुरु हो जाता है। छोटी-छोटी फैक्टरियाँ जाति-प्रथाको नष्ट करनेमें सब जातियोके बच्चोके लिए खोले गए स्कूलोसे भी ज्यादा कारगर होती है। इसलिये उद्योगोकी नियोजित तरीकेसे आचलिक आधारपर स्थापना हिन्दुओके सामाजिक जीवनके तौर-तरीकोको एक चुनौती है।

मजदूर सघोका सगठन भी जो उद्योगीकरणके साथ अनिवार्य है, हमारे जाति-विभक्त समाजको बदलनेमें खास तौरसे मदद करता है। अधिकाश मजदूर नीची जातियोके होते हैं। सघोके सघटनके द्वारा जो राजनीतिक और उद्योग-सबधी सत्ता प्राप्त होती है, उसके कारण मजदूरोमें विचारोकी जागृति और उग्रता उत्पन्न होती है। अतएव हिन्दुस्तानमें मजदूरोमें उत्पन्न हुई जागृति सामाजिक दृष्टिसे दलित वर्गोके लोगोकी जागृति और उनकी अपने मानवीय अधिकारोके प्रति जागरूकता है।

उत्पादनके आधुनिक तरीको, मशीनो, यातायात और रहन-सहनके साधनोकी विस्फोटनकारी परिवर्तनशीलताको भी अभी तक हिन्दुस्तानमें पूरी तरह नही कूता गया है। इनके सामाजिक असर बहुत व्यापक होते है। रेलमें जात-पाँत और खान-पानके बधन नही चल सकते, वास्तवमें, छूनेसे गदा हो जानेकी जो बात प्रथम महायुद्धके पूर्व केरलमें मानी जाती थी, वह रेलके आते ही अपने आप खत्म हो गई। अस्पताल (जहाँ हरेक आदमी बिना किसी जातिगत भेद-भावके भर्ती हो सकता है), स्कूल कालेज और दूसरी सार्वजनिक सस्थाओने भी इन भेद-भावोको खत्म करनेमें मदद की है।

विज्ञान

हिन्दू समाजपर विज्ञानका भी बहुत गहरा प्रभाव पडा है। बडी अजीब बात लगती है कि ससारके समस्त बडे-बडे धर्मोमे हिन्दू धर्म ही ऐसा है, जिसपर विज्ञानकी प्रगतिका सबसे कम असर हुआ है। कई यूरोपीय विद्वानोने तो यह भी कहा है कि हिन्दू धर्मके सिद्धातोका आधुनिक विज्ञानकी अति उन्नत विचारधाराओके साथ मेल बैठ जाता है। विज्ञानके जिन विवादास्पद प्रश्नोने ईसाई धर्मकी बुनियादोको हिला दिया है, कापर-

नेगियन प्रणाली, और विकासका सिद्धांत, उनसे हिन्दू-धर्मका विवाद नही हुआ क्योंकि उसमें विचारके ऊँचे स्तरोंपर किसी भी वैज्ञानिक विचारका विरोध नही है। लेकिन हिन्दुओंकी बहुत सी सामाजिक प्रथाओं और सामाजिक जीवन की कुछ मुख्य संस्थाओं के बारेमें यह बात नही कही जा सकती। यह भली भाँति विदित है कि संसारमें सिर्फ हिन्दू जाति ही है, जो ज्योतिषशास्त्रको इतना सामाजिक महत्व देती है और ज्योतिष की गणनाको इतना महत्व देती है। ज्योतिषको हिन्दू-जीवनका एक मूलभूत आधार माना जा सकता है। अच्छे पढे लिखे परिवारों तकमें नक्षत्रोंके स्थानके हिसाबसे शुभ मुहूर्त देखे विना विवाह-अनुष्ठान नही सम्पन्न हो सकता। बहुतसे पढे-लिखे लोग भी नक्षत्रकी स्थितिका पता लगाए विना यात्रा शुरु नही करते। नेपालके हिन्दू राज्यमें सार्वजनिक आयोजन भी नक्षत्रोंका हिसाब देखकर किये जाते है। कुभ मेलेका हिन्दू-त्योहार भी अमुक नक्षत्रोंके एक स्थानपर आनेपर निर्भर करता है। सूर्य और चन्द्रग्रहण कुछ प्राचीन विद्वानोंके आधारपर धार्मिक दिन गिने जाते है। किसी बाहरी आदमीके लिये यह समझ पाना कठिन है कि हिन्दुओंके सामान्य जीवनमें ज्योतिषका किस हद तक असर है। स्वभावत ही इस प्रकारके विचारपर विज्ञानका बहुत असर है। एक शिक्षित व्यक्ति जो अपनी पुत्रीके विवाहकी शुभ तिथिके लिए ज्योतिषीसे पूछता है, अच्छी तरह जानता है कि नक्षत्रोंके स्थानका दाम्पत्य जीवनपर कोई असर नही पड सकता। जिन राजनीतिक नेताओंने कुम्भ मेलेके अवसरपर प्रयागमें गगा-स्नान किया, वे भी यह तो नही मानते होंगे कि उसी दिन स्नान करनेसे कोई खास पुण्य होता होगा। इन सब प्रथाओं और अनुष्ठानोंमें कोई विश्वास नहीं रहा है; जो कुछ होता है, वह अब एक प्रथा मात्र रह गई है। शाकाहारकी प्रथा, जिसका हिन्दू धर्मसे कोई सबब नही है पर जिसको एक धार्मिक प्रथाके बतौर उच्च वर्णकी जातियोंके लोग मानते है, आज अर्थहीन हो गई है, जबसे विज्ञानने यह साबित कर दिया है कि पेड-पौधोंमें भी प्राण होता है और पशुओं की भाँति उनमें भी दुख-सुखकी अनुभूति होती है। इस प्रकार हिन्दुओंके रीति-रिवाज, प्रथा और सस्थाओंपर विज्ञानका बडा दूरगामी असर पडा है और ज्यो-ज्यो वैज्ञानिक ज्ञान बढेगा, उसका असर बढता ही जायगा।

विचार

विज्ञानसे भी अधिक महत्वपूर्ण (क्योंकि उसका ज्ञान बहुत कम लोगोंपर सीमित होता है) विचार होता है। विचारका असर सामाजिक संस्थानपर बहुत जबर्दस्त होता है। जो व्यक्ति अपने विचारके परिणामस्वरूप किसी प्रथाके बारेमें शका करता है या किसी प्रथाकी अवहेलना या विरोध करता है, वह ऐसी शक्तियाँ पैदा करता है, जो कतिपय परिस्थितियोंमें क्रांतिकारी कही जा सकती है। खास तौरसे जो समाज रूढियों से बँधा होता है, उसमें विचार और उसकी अभिव्यक्ति परिवर्तनके बहुत शक्तिशाली साधन होते है और कानूनका काम केवल उन विचारोंको शकल देना और समर्थन प्रदान करना रह जाता है, जिनको जनमतका समर्थन मिल चुका होता है। हिन्दूसमाजमें विचारने अपना कार्य छोड़ नहीं दिया था। वह बराबर हिन्दू सामाजिक संस्थानका परीक्षण करता रहता था, लेकिन जिन कारणोंका हम पहले विश्लेषण कर चुके है, उनसे नये सम्प्रदायोंपर नये सुधारवादी समूहोंकी ही सृष्टि हुई। कानून

वना सकनेकी स्थितिके अभावमें हिन्दू रीति-रिवाजोकी सामान्य सहितामें नये विचारको जगह देनेका कोई जरिया नही था। राजनीतिक अनैक्य, जिसने कई विभिन्न अधिकृत क्षेत्रोकी सृष्टि कर रखी थी, के कारण भी सारे हिन्दुस्तानकी दृष्टिसे कोई सुधार सभव नही हो सका। यही कारण था कि सुधारकोका कार्य अलग-अलग क्षेत्रो (जहाँ आन्दोलन शुरू किया गया) तक सीमित रहा। सत्रहवी और अठारहवी शताब्दियोमें, जबकि विचारके अखिल भारतीय माध्यमके रूपसे सस्कृतका अध्ययन भी नप्ट होने लग गया था, परिवहनकी कठिनाइयो और सास्कृतिक आदान-प्रदानके लिए आवश्यक एक सामान्य भापाके अभावके कारण विचारका देश-व्यापी आदोलन, असभव था। उन्नीसवी शताब्दीके तृतीय चतुर्थांशके मध्य कालमे जाकर इस स्थिमें परिवर्तन हुआ। विचारके एक सामान्य माध्यमके रूपमें शिक्षित समुदायको अँग्रेज़ी भापा मिल जानेसे सारे देशमें अपने विचारोका प्रचार करनेका सावन मिल गया।

वर्तमान शताब्दीके आरभसे तो विचारमें भी वडी क्रातिकारी प्रगति हो गई। पहले जव हिन्दू समाज-व्यवस्थाके मूलाधारके वारेमें भी शका की जाती थी, रुढिवादिता अपनी सव शकलोमें विद्यमान थी, और यही वतानेकी कोशिश की जाती थी कि नया विचार सिर्फ सच्चे अर्थका प्रतिपादन या व्याख्यामात्र था। परन्तु राममोहन राय और केशवचन्द्र सेनने इस प्रकार का दावा न करके हिन्दू समाजपर शास्त्रके आधारपर नही, वल्कि विचारके आधारपर आक्रमण किया। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने अपने सत्यार्थ प्रकाश में इसी परिपाटीका निर्वाह किया कि वे वेदका वास्तविक अर्थ वता रहे थे। मुझे इसमें कोई सदेह नही लगता कि उनकी शिक्षा, जिसने हिन्दुओकी वहुत सी सामाजिक प्रथाओ का विरोध किया, राममोहन राय और वगालके दूसरे सुधारकोके वौद्धिक उदारवादकी अपेक्षा कही अधिक क्रातिकारी थी।

रुढिवादियोका विचार भी गतिशील हो गया था। स्वामी विवेकानन्द, जो वेदान्तके पृष्ठपोपक और सनातन हिन्दू धर्मके पुनरुद्धारक थे, एक उग्र विचारक थे और उन्होने हिन्दुओकी कई सामाजिक सस्थाओकी निन्दा करनेमें कोई हिचकिचाहट नही की। उन्होने यह कहकर दुनियाको अचम्भेमें डाल दिया कि जाति-प्रथाका हिन्दू धर्ममे कोई वास्ता नही है। उन्होने कहा—"वुद्धसे लेकर राममोहनराय तक हरेकने जातिको एक धार्मिक सस्था माननेकी गलती की लेकिन पुरोहितो-पडितोकी सारी चिल्ल-पोके वावजूद जाति अव सिर्फ एक ऐसी सामाजिक सस्था रह गई है, जो अपना काम खत्म कर चुकनेके वाद भारतवर्पके वातावरणमें सडाँध पैदा कर रही है। निस्सदेह विचारका यह अत्यधिक क्रातिकारी रूप है। विवेकानन्दके समयमे जाति प्रथाका कोई समर्थक नही हुआ। प्रश्न सिर्फ कूडे-करकटको साफ कर नई वुनियादोपर इमारत खडी करनेका था, पर जव तक हम स्वाधीन नही हुए, तव तक वैसा करना सभव नही था। अँग्रेज़ी भारतकी व्यवस्थापिका सभा अगर सामाजिक मामलोमे कानून वनानेका विचार करती भी, तो देशका केवल $\frac{3}{4}$ भाग ही उस कानूनके क्षेत्रमे आता। वाकी $\frac{1}{4}$ हिस्सेपर तो वशानुगत देशी राजाओका राज्य था। एक अपवादको छोडकर वाकी सारे राजा लोग वीते हुए अतीतके ही रक्षक थे। अपवाद स्वरूप ये सयाजीराव गायकवाड जो सामाजिक मामलोमें एक सच्चे क्रातिकारी थे और जिन्होने हिन्दू समाजकी समस्याओको समझा

और अपनी छोटी-सी रियासतमे व्यापक रूपसे उनको हल करनेका प्रयत्न किया। लेकिन एक सयाजी राव गायकवाड़के विरुद्ध एक सौ तीस दूसरे राजा लोग थे, जिनमेंसे बहुतसे तो अपनी रियासत में अस्पृश्यताके पालनपर भी कडाई करते थे। राजस्थानकी बहुत-सी रियासतोमें स्वाधीनताप्राप्तिके दिन तक अछूतोको सार्वजनिक स्कूलोमें भी नही जाने दिया जाता था। इन रियासतोमें बाल-विवाह जारी था, जो स्त्री अपने पतिके घरसे चली जाती थी, उसके खिलाफ फौजदारी मुकदमा चलाया जाता था। त्रावण-कोर, कोचीन, मैसूर आदि रियासतोमें समाज-सुधारमें कुछ प्रगति हुई थी, परन्तु साधारण तौरसे यही कहा जायगा कि सन् १९४९ में जब उनका विघटन हुआ, तब तक देशी रियासतें सामाजिक रूढ़िवादिताके सुरक्षित गढ बने हुए थे।

सविधानमें यह सिद्धान्त रखा गया है कि हिन्दू समाजके सुधारके लिये कानून बनाना भारतीय पार्लियामेंटका एक प्राथमिक कर्त्तव्य होगा। सविधानका २५ वाँ अनुच्छेद इस प्रकार है—

"२५ (१) सार्वजनिक शाति एव व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य तथा इस भाग में उल्लिखित दूसरी धाराओको ध्यानमें रखते हुए समस्त नागरिकोको विचारकी स्वतन्त्रता और किसी भी धर्मको मानने, उसपर अमल करने और उसका प्रचार करनेकी स्वाधीनता का हक होगा।

(२) इस धारा में उल्लिखत कोई बात राज्यको निम्न बातो के बारे में कानून बनानेसे नही रोकेगी—

(क) किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक और अन्य गैर-साम्प्रदायिक प्रवृत्ति, जिसका सम्बन्ध धार्मिक मान्यता या व्यवहारसे हो, का नियमन या प्रतिबन्धन।

(ख) सामाजिक कल्याण या सुधार अथवा हिन्दू समाजकी सार्वजनिक धार्मिक संस्थाओको हिन्दुओके समस्त वर्गो और श्रेणियोंके लिए खुली करना।"

इसमें सामाजिक कल्याण और सुधारके लिये कानून बनानेका अधिकार बचाकर रखा गया है। एक प्रकारसे सनातनपथियोको पहलेसे ही विज्ञप्ति दे दी गई है कि धार्मिक स्वतन्त्रतामें उन रूढियों और रीति-रिवाजोको सरक्षण देनेका अधिकार शामिल नही है, जिनको जनताकी सामाजिक चेतनाने पहलेसे ही फेंक दिया है। इस धाराका दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि पहली दफा सहिष्णुताकी सीमाएँ निर्धारित की गई है। जैसा हम पहले कह चुके है, हिन्दू धर्मकी सबसे बडी कमजोरी यह रही है कि धार्मिक विश्वास और रूढ़ियोंमें सहिष्णुताकी सीमा कभी निर्धारित नही की गई थी। इस धाराके द्वारा उस दोषका परिमार्जन कर दिया गया है।

हिन्दू धर्मपर दूसरे धर्मो और समाजोका जो असर पड़ा है, उसके बारेमें यहाँ विवेचन करनेकी आवश्यकता नही है। बहुत हद तक उन्होने भारतवर्षमे विचारकी नई आबहवा बनानेमें मदद की है। ईसाई और इस्लामी समाजोके सहअस्तित्वने हिन्दुओकी समाज-व्यवस्थाके बद दरवाजेके बाहर सामाजिक जीवनमें तो नही, परन्तु विचार-जगत्में बहुत बड़े परिवर्तन पैदा किये, जिनके कारण आन्दोलन खड़े हुए और नये सम्प्रदाय बने। जब इससे परिवर्तनकी क्रिया शुरू हुई और हिन्दुओमें वैचारिक क्राति उत्पन्न हुई, तभी बचारो और संस्थाओमें विरोध प्रकट होने लगा। —अनुवादक—भँवरमल सिंघी

भगवतशरण उपाध्याय

भारतीय जीवन पर इसलाम का प्रभाव

भारतीय सस्कृतिपर इसलामका प्रभाव इतना व्यापक और गहरा पटा है, कि अनेक वार यह कहना कठिन हो जाता है कि इस सस्कृतिमें क्या हिन्दू है क्या मुसलमान। साहित्य, कला और जन-जीवनपर पडनेवाला वह प्रभाव अनेक दूरके छोरोको छू गया है और देशकी सस्कृतिका शायद ही कोई अग हो, जिसमें वह प्रभाव प्रगट न हो। हमारे कबीर, नानक आदि महात्माओने तो उससे इतनी गहरी प्रेरणा पाई है कि स्थानीय धर्मको भी उन्होंने नये विश्वासकी मान्यता दी और उस नये विश्वासकी नई सामाजिक चेतनामे देशके जीवनको फिरसे कूतना और सँवारना चाहा। उस दिशामें उनके प्रयत्न निस्सदेह असफल नही कहे जा सकते। यहाँ हम उसी प्रभावके कुछ प्रकट आँकडे प्रस्तुत करेंगे यद्यपि वे आँकडे केवल उस प्रभावकी सूची मात्र होंगे, कुछ सागोपागीण व्याख्या नही।

साहित्यकी दिशामें तो इसलामका महत्व इतना वडा है कि उसके ऋणसे प्रान्तीय भाषाएँ, विशेषकर हिन्दी, उऋण नही हो सकती। कमसे कम उत्तरी और पश्चिमी भारतपर जो मुसलमान शासनका सदियो प्रभुत्व रहा है, उसका देशके जनजीवनपर गहरा असर सहज ही पडता गया है। शासन, उसके विविध क्षेत्रो, विभागो और महकमो में, कानूनी व्यवहार और अदालतोमें नये शब्दो और एबारतोका उपयोग हुआ है, जो अरबी और, विशेषकर, फारसीसे शासनको मिले थे। यह सही है कि वह चिनगारी जो सहसा इसलामका वैश्वानर बनकर एशिया और दक्षिणी योरोप और उत्तरी अफ्रीका में भडककर उन्हे चाट गई थी पहले पहल अरबकी मरु भूमिमे जिलाई गई, और अरबी रिसलोंने ही पहले उन सारे देशोपर कब्जा किया। पर, जब एकीभूत इसलामी साम्राज्यके शासन की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब अरबोंने ईरानियोका मुँह ताका। ईरानी शासनके कार्यमें सदियोसे प्रवीण रहे थे और प्राय एक सदीके भीतर ही वे इसलामके नये साम्राज्यके शासनके स्वामी बन गये। भारतपर काबुलकी राह इसलाम जो हावी हुआ, तो उसमें अधिकतर हाथ उनका ही था जिनकी मादरी ज़बान फारसी थी या कमसे कम फारसीसे प्रभावित थी। जो फारसीसे दीगर जबान बोलते थे, उन बाहरसे आनेवाले मुसलमानो का भी साहित्य कमसे कम फारसी ही था। अरबीके मुकाबले फारसीके शब्दोंके हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओंमें मिल जानेका एक विशिष्ट कारण यह था कि फारसी और सस्कृत दोनो आर्य भाषाएँ थी, एक-दूसरेसे, चाहे दूरका ही सम्बन्ध रखनेवाली हो।

साहित्यके इस क्षेत्रमें इसलामका पहला प्रभाव इस प्रकार देशकी भाषा और लिपि पर पड़ा। अरबी लीपिको ईरानियोंने नये सिरेसे साज बढाकर फारसी कर ली थी। वस्तुत. ईरानी अत्यन्त प्राचीन कालसे लिपिकार रहते आये थे। स्वय 'लिपि' शब्द का भारतमें प्रयोग प्राचीन पह्लवीसे आया था जहाँ 'लिवि', 'लिविर', 'दिवि', 'दिविर' लेखनके सम्बन्धमें प्रयुक्त होते रहे थे। प्राय सारे एशियामें अरबी लिपिके वजाय फारसी लिपिका व्यवहार होने लगा था, विशेषकर इस कारण कि इसलामके दायरेमें नित्य नई आती-जाती जातियोंके उच्चारणके विभिन्न स्वरोंको अरबी लिपिमें प्रगट कर सकना सम्भव न था, यद्यपि उनके लिये अभिव्यक्तिका माध्यम ढूँढना आवश्यक था, जो अपेक्षाकृत (निश्चय केवल अपेक्षाकृत) माध्यम फारसी लिपिने दिया। वह लिपि भारतमें भी इसलामके प्रचारके साथ, उसके शासनके प्रसारके साथ प्रचलित हुई। आने वाले मुसलमान आपसमें अरबी, फारसी, तुर्की आदि विभिन्न भाषाएँ बोलते थे, पर उनकी लिपि प्राय. एक थी, फारसी। और वे यहाँ वालोंसे जिस भाषामें बोलने लगे, वह अनिवार्यत अरबी, तुर्की, फारसी मिली 'भाखा' थी,—हिन्दी या हिन्दुस्तानी, खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप। परन्तु यह नई बोली लिखनेके लिये भी उसी एक फारसी लिपिका इस्तेमाल कमसे कम उन विदेशियोंके बीच होता था। इस रूपमें फारसी लिपि भाषा और उसके प्रकाशनके लिये समान आधार वन गई। यह न भूलना चाहिये कि वह लिपि मात्र इसी कारण इस देशमें प्रयुक्त हुई कि उसका प्रयोग करनेवाले विदेशी यहाँकी वैज्ञानिक देवनागरी लिपिसे अनभिज्ञ थे और उन्हें बाध्य होकर उस अकेली विदेशी लिपि का उपयोग करना पडा जिसकी उन्हें जानकारी थी।

भाषाके साथ यह बात न थी। भाषा, जैसे उसकी व्युत्पत्तिसे प्रगट है, विचारोंको बोलकर प्रगट करनेकी वाहन है। और उसका समझा जाना उसके प्रयोगके लिये अहम् बात है। आज जिसे हम उर्दू कहते हैं, और जिसे खडी बोली हिन्दीको ऋद्ध करनेवाली उसकी एक विशिष्ट सास्कृतिक शैली मानते हैं, वह मात्र इसी देशकी भाषा है, इसलामी जगत्के किसी दूसरे देशमें यह नहीं बोली जाती। इसलामकी यह देन, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी के लिये बडी ऋद्ध सिद्ध हुई। हिन्दीमें एक नई इबारत, नया एखलाक, नये मुहावरे, नये छन्द—शेर, गजल, रुवाई आदि—आये और उससे हिन्दी समृद्ध हुई। शब्दोंका तो ससार इतना भरा कि गाँवोंकी हमारी नितात निपढ और गँवार नारियाँ तक अरबी, फारसी, तुर्की और (उनसे पहले के, उन्हीके जरिये आये) असीरी-बाबुली-सुमेरी शब्दों तकका अनायास अनजाने स्वाभाविक उपयोग आज कर लेती हैं। 'उजबक', 'कजाक', 'अलाय-बलाय' (अलैया-बलैया) 'रोटी' आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जो इस सम्बन्धमें उद्धृत किये जा सकते है और जो साहित्य और अवामकी बोलचालमें समान रूपसे विना किसी आयासके प्रयुक्त होते है। इस सवधमें मैं उन हजारो शब्दो को छोड देता हूँ जो इसलामके प्रचारके साथ आकर हमारी भाषामें घुलमिलकर सस्कृति के अग बन गये हैं। 'उजबक' शब्दका प्रयोग आज 'वेवकूफ' अर्थमें होने लगा है पर किसी जमानेमें बलखबदख्शासे चीनकी सरहद तक उजबक-तुर्क जातिका दबदबा था और कितनी ही बार उन्होंने आमू दरिया पारकर हिन्दुकुशकी चोटियोंपर अपने झडे फहराए थे। किस प्रकार उनकी ताकतसे बढ़कर उनकी वेवकूफीका द्योतक यह शब्द

वन गया यह सस्कृतिके विस्तारकी स्वतत्र कहानी है। वस इतना ही कह देना काफी होगा कि यह शव्द हमारे गावोमें वडी स्वाभाविक रीतिसे साधारण वोलचालमें, खडी वोलीमें ही नही वल्कि विविध वोलियोमें भी प्रयुक्त होता है। 'कजाक' का अर्थ हमारे यहाँ मुनासिव ही 'क्रूर' और 'कसाई' के अर्थमें होने लगा है, जिस अर्थमें स्वय विहारी ने अपने साहित्यमें उसका प्रयोग किया है, और यह अर्थ रूसकी ज़मीनपर वसनेवाले उन कज्ज़ाकोकी शक्ति और सक्रमणशीलता का अपूर्व प्रकाशक है जिनके रिसालोकी चोट आज भी एशियाई जातियोकी पीठपर गहरी है। कज़ाक मूल रूपमें स्वय एशियाई थे। आज सोवियत रूसके सोलह प्रधान प्रजातान्त्रिक इलाकोमें भारतकी सरहदपर उजवकिस्तान और कुछ पीछे हटकर कज़ाकिस्तान अवस्थित है। 'अलाय-वलाय' शव्दोकी व्युत्पत्ति जननेकी कोशिश सालोसे फारसी और अरवीके पडित कोशकार भी करते रहे है, इसलिये विशेष कि अरव और फारससे भारत तक के गाँवोमें इस पदका नितात आत्मीयतासे प्रयोग हुआ है। अथर्ववेदके प्रसिद्ध मत्र 'आलिगीच विलिगीच पिता च माता च में 'आलिगी-विलगी' उसी 'अलाय-वलाय' के प्राचीनतम रूप है। अगर हम उन 'आलिगी-विलगी' का पूर्वतम और प्राचीनतम रूप ढूँढनेकी फिक्र करें तो वह हमें अथर्ववेदसे कमसे कम हजार वर्ष पहले लिखी उस वावुली-सुमेरी ईटपर मिलेगा जिसे डाक्टर लियोनार्ड वूलीने खोद निकाला है, जो वहाँके राजाओका कुर्सीनामा है और जिसके पाँचवें और छठें राजा 'एलूलू-वेलूलू' है। 'रोटी' के मूलके सम्वन्धमें कुछ कह सकना इस समय सम्भव नही सिवा इसके कि उसका प्रयोग सारे प्रान्तीय भाषाओमें होता है। जिस शव्दका प्रयोग भारतकी प्रान्तीय भाषाओमें समान रूप और अर्थमें होता है, उसका सम्वन्ध अनिवार्यत सस्कृत या प्राकृतोसे होना चाहिये। परन्तु हम जानते है कि रोटी शव्द मूलत न सस्कृतका है, न प्राकृतका। कहाँसे यह आया यह कह सकना कठिन है यद्यपि ईरानसे तुर्की तक इसका इस्तेमाल होता है। कुछ अजव नही जो मूलत यह तुर्की भाषाका शव्द हो। यद्यपि तुर्कीमें अक्षरोका उच्चारण मृदुल होता है, टवर्ग सर्वथा नही होता। उस दशामें इसका उच्चारण 'रोती' होना चाहिये। शव्द यह चाहे जहाँसे आयाहो भारतीय नही है, और आया यह इसलामके साथ ही है क्योकि इसलामके आगमनके पहलेके साहित्य या भाषाओमें इसका उल्लेख नही मिलता। इस शव्दका केवल भारतीय भाषाओसे ही सम्वन्ध नही है वरन् यहाँके जनजीवनसे भी है क्योकि यह एक सास्कृतिक प्रश्न भी खडा करता है कि क्या हमारे यहाँ केवल फुलके और चपातियोके द्योतक इस रोटी शव्द मात्रका प्रचलन हुआ अथवा पहले फुलके और चपातियो का भोजनमें व्यवहार ही नही होता था और यहकि वह व्यवहार इसलामके झडेके नीचे भारत आनेवाली जातियोने इस देशमें आरम्भ किया। चूँकि फुलके और चपातियोके अतिरिक्त इस देशकी जीवित भाषाओ और स्वय सस्कृत और प्राकृतोमें तवेके लिये भी, जिनपर फुलके और चपातियाँ या रोटी वनती है, शव्द नही मिलते, यह निष्कर्ष असगत न होगा कि पहले भारतमें रोटी-भोजनका अग ही न थी। यदि यह विचार वैज्ञानिक हो तो यह महत्वकी वात होगी कि छुआछूतके दुरुह कोट चौकेमे इस शव्द और इससे द्योतित होनेवाली खाद्यविधिका प्रवेश कैसे हो पाया, जहाँ परिवारके वाहरके मानव तकका प्रवेश पा सकना असम्भव रहा है? परन्तु सस्कृतियोके अन्तरावलम्वनकी परम्परामें

ऐमी धटनाओंका प्रादुर्भाव सहज और स्वाभाविक रहा है और उस क्षेत्रमें हमें धोखा विशेप कर वही होता है जहाँके सम्वन्धमें हम सर्वथा निश्चित होते हैं। रोटी शव्द और मास्कृतिक तत्वके रूपमें भारतको इसलामकी देन है।

यह तो हुई भापाकी वात। साहित्यमें भी इसलामका योग कुछ कम नही हुआ। जैसा हम ऊपर कह आये है, यहाँ इसकी सविस्तार व्याख्या तो नही कर पाएँगे पर इस सवधमे सकेत निश्चय कर देंगे क्योकि साहित्य पर इसलाम प्रभावका विस्तार कुछ थोड़ा नही है। सूफी धर्मकी सत्ता धार्मिक सीमाओसे वाहर निकल कर साहित्य पर भी छा गई, देशमें भी विदेशोमें भी। विदेशसे तो वह आई ही थी। उसका उदय और प्रसार पहले फारस और अरवमें हुआ फिर सारे मध्य और पश्चिमी एशियामें और अन्तमें भारतके साथ-साथ उन सारे देशोमें हुआ जहाँ-जहाँ इसलामकी फौजोके वाद सूफी सत और उनके चेले पहुँचे थे। भारतकी हवा सदियोसे शकरके अद्वैतनादसे गूँज रही थी और उसकी ज़मीनपर सहज ही सूफीवादका अनुकूल अंकुर लग गया। कालान्तरमें विश्वास और मान्यताओके जगत्को अपने वाससे सुवासित करता वह साहित्यके क्षेत्रमें उतरा और मलिक मोहम्मद जायसी आदिने उसी परम्पराकी प्रवृत्तियोके आग्रहसे हमें अपने काव्य दिये। 'पद्मावत' उसी परम्पराका, उसी सूफीवादके पौधेका, अभिराम पुप्प है। नानक और विशेपत कवीर तथा उनसे प्रभावित अन्य सतोकी भावसत्ता, इसलाम संवधी शव्दोंके अतिरिक्त, सूफीवादकी महिमासे भी प्रेरित हुई।

शुद्ध हिन्दी-खड़ी वोलीका ठाठ खडा करनेमें तेरहवी सदीके अमीर खुसरोसे लेकर उन्नीसवी सदीके इंशा अल्ला खाँ तक मुसलमान साहित्यकार सहायक हुए हैं। उसी परम्परामें इन दोनो छोरोके वीच रसखान, शेख और आलम, रहीम खानखाना, वाज़ वहादुर, स्वयं अकवर आदि रहे हैं जिन्होने हिन्दीके अगाग सजाये है और उनमें सौरभ भरा है। यहाँ उन उर्दूके रससचारक अद्भुत कवियोका उल्लेख नही करेंगे, जिन्होने हिन्दीकी प्रधान सास्कृतिक शैलीसे उर्दूको समृद्ध किया और जहाँ तक भापा या भापाके व्याकरण और उसकी वनावटका प्रश्न है, वे खडी वोलीमें लिखनेके कारण स्थानीय वोलियोमें लिखने वाले हमारे महान् सूर, तुलसी, देव, विहारी आदिसे भी निकट आ गये।

कलाके क्षेत्रमें इसलामकी देन अत्यन्त असाधारण है। मन्दिरोको छोड़कर वारहवी सदीके वाद वननेवाली प्राय. सभी इमारतोपर इसलाम द्वारा लाई ससानी वास्तुशैलीका प्रभाव पडा। आरम्भमें तो उस हिन्दू-मुस्लिम कला-मेलाका परिणाम वही हुआ, जो गांधारशैलीके विकासके समय हजार वर्प पहले पंजावमें हिन्दू-ग्रीव सयोगसे हुआ था यानी हिन्दू संगसाज़ो, राजो और कलावन्तोने, अधिकतर इसलामके उसूलोसे नये धर्मकी मसजिदें वनाईं। दिल्लीसे काठियावाड़ और मालवासे पूर्वी दकन तक सैकड़ो— इसलामकी धार्मिक इमारतें आज खडी है, जो पुकार-पुकारकर हिन्दू-मुस्लिम संयुक्त वास्तु-क्रियाकी कहानी कहती हैं और आज वे सारी इमारतें मजहवके दायरेसे वाहर आकर धर्मनिरपेक्ष भारतीय जनताकी विरासत तथा गौरवकी शालीन वस्तु वन गयी हैं। फिर उनके अतिरिक्त दिल्ली, आगरा, लखनऊ गौड और अन्य उत्तर भारतीय नगरो और दकनमें जो मुसलमान राजाओकी वनवाई इमारतें आज खड़ी हैं, और जो शुद्ध इसलाम की कलाको व्यक्त करती हैं—उसकी मसजिदें, इमामवाडे, मकवरे और किले—सभी आज

भारतीय कलाके अपने नमूने बन गयी हैं। वे इस देशकी मोहनजोदडोसे आज तककी कोई पाँच हज़ार सालके कार्यप्रसारमें बहनेवाली धाराके अग बने हैं। संसारकी सबसे सुन्दर वास्तुकलाका नमूना 'ताज' आज भारतीय गौरवकी चूडामणि है, जो इसलामकी देन है।

कागज और बारूद दोनोंका आविष्कार चीनियोंने किया परन्तु उनका इस देशमें प्रचार इस्लामने किया, चीनमे मुद्रण और कागजका आविष्कार बौद्ध साहित्य, (जिसकी माँग वहाँकी जनतामें बेहद बढ गई थी) के वितरणके लिए हुआ, भारतमें मुद्रण और कागज़ दोनोंका व्यवहार उनके आविष्कारके बहुत पीछे हुआ, सदियो पीछे। पर कमसे कम आरम्भमें उनका सफल प्रयोग मुसलमान कारीगरो द्वारा सम्पन्न हुआ, आज भी कमसे कम प्रेसके सचालनमें अनेक मुसलमान मजदूर और छापेके फोरमैन, मशीनमेन जिल्दसाजी आदिमे लगे हुए हैं। बारूदका आविष्कार चीनियोंने जीवनको आकर्षक बनानेके लिए आतिशबाजीके अर्थ किया था, यद्यपि मध्य और पश्चिमी एशिया तथा योरुपमें पहली बार उनका उपयोग जीवनको ध्वस्त करनेके लिए किया गया था। इस देशमें बाबरने पहली बार उसका उपयोग १५२६ ई० में पानीपतकी लडाईमें किया, अधिकतर आतिशबाजीके रूपमें जिससे इब्राहिमके हाथी भडक उठे थे, यद्यपि फतेपुर सीकरीके मैदानमें उसका उपयोग तोपोंसे निरन्तर टूटते आते राजपूती रिसालोंके विरुद्ध किया गया। आज भी आतिशबाजी, पटाखो आदिके लिए बारूदी काम अधिकतर मुसलमान कारीगर ही सम्पन्न कर रहे हैं।

धर्मके क्षेत्रमें तो निस्सदेह अनेक रूपोसे इसलामका प्रभाव यहाँके विश्वासोपर पडा। सूफीवादकी ओर ऊपर सकेत किया जा चुका है। भारत और पाकिस्तानकी मानवता की एक बडी विशाल सख्या मुसलमान है, जो चाहे जिस रीतिसे भी मुसलमान हुई हो, इसलामके प्रभावकी परिचायक है और आज इस धराके उत्कर्ष अपकर्षमें उसका किसी न किसी अशमें सम्मिलित योग है। मालाबार और दक्षिण भारतके अनेक क्षेत्रोमें इसलामके उदयसे पहले ही अरबोकी आबादियाँ बस गई थी और धर्म के प्रतिबधोको तोड़कर सहज ही उसकी हदोके बाहर शुद्ध मानवताका व्यवहार करनेवाले अरब मल्लाहो को 'नाखुदा' कहा गया। वह स्वय उस सम्बन्धका परिचायक है, जिसमें इसलामकी मान्यताएँ न केवल सदिग्ध थी बल्कि प्राय सर्वथा अस्वीकृत थी। पर उन बस्तियोमे इसलाम के उदयके बाद उसके उद्गम अरबसे लगातार सबध बना रहना भारतके दक्षिणी समुद्र तटका इसलामके प्रचारके लिये एक मजिल बन जाना था। मुसलमान फकीर, कलन्दर, दरवेश और औलिये लगातार उधर आठवी-नवी सदियोमें एकेश्वरवादकी सत्ता घोषित करते रहे। यह जो कुछ गुननेवाले पडितोने कहा है कि आचार्य शकरके अद्वैत एकेश्वरवादपर इसलामकी उस प्रधान मान्यताका प्रभाव है वह बेबुनियाद नही है। यदि तसव्वुफके बुनियादी उसूलोंपर शकरका वेदान्त हावी हो सकता था तो कुछ अजब नही, जो उस वेदान्तकी मिट्टीसे भी स्वय इसलामके उस प्रधान तत्वका सयोग हो गया हो, यद्यपि यह किसी अश और रूपमें शकरके तर्क-नैपुण्य और महानताको ओछा नही करता। राजस्थानके राजपूत राजा किस हद तक मुसलमानी एखलाक और तहज़ीब के मज़बूत पाए बन गए थे इसका सबूत देनेकी शायद जरूरत न होगी क्योंकि बात यह न तो सदिग्ध

है न विवादास्पद। परन्तु राजस्थानके, कमसेकम राजाओंके, मृतक कर्मसे इसलामकी एक धार्मिक रीतिका स्पर्श हो गया है यह यहाँ वता देना समीचीन होगा। उनकी समाधियोंको 'छतरियाँ' कहते हैं। 'छतरियाँ' मुसलमानी मकवरो की परिचायक हैं। यह सही है कि संतोकी समाधियाँ पहले भी वना करती थी, यद्यपि वहुत पहले या इसलाम से सम्पर्कके पहले नही, परन्तु उनके ऊपर ताजियानुमा या खरवूज़ानुमा गुम्वज कभी नही वनते थे। धार्मिक वास्तुकलाका यह हिन्दू रूप इसलामके प्रभावका ही द्योतक है। स्वयं हिन्दू संतोकी छतरियाँ भी इसी प्रकारकी है और निश्चय वे इस देश में इसलामके उदयके वादकी हैं। अगर कवीर और नानककी समाधिके ऊपर ऐसे गुम्वज हो तो शायद कुछ लोगोको अजव न लगे पर 'सकलागमनिगमपुराण' आदि के पडित और असाधारण स्मार्त गोसाइँ तुलसीदासकी राजापुरवाली समाधिकी ताज़ियानुमा छतरीका गुम्वज उस प्रतिक्रियाको चुनौती निश्चय देगा, जो कला-साधनामें हिन्दू-मुसलमानका भेद करती है।

जनजीवन और सामाजिक व्यवहारपर इसलामका जितना प्रभाव पडा है उसे लिखने के लिये समय और विस्तार दोनो चाहिये। यहाँ केवल कुछ मोटी-मोटी वातोकी ही ओर इशारा कर देना वस काफी होगा। देशके तनखा, आगा, वख्शी, मजूमदार, जागीरदार सरकार आदि कुल नामोसे प्रगट है कि किस प्रकार हमारी सामाजिक व्यवस्था भी इसलाम के प्रभावमें धीरे-धीरे आई। इसलामके उदयके वाद सम्भवत. पहली वार इस देशमें शरीरके ऊपरी भागपर सिला हुआ वस्त्र पहना गया। कुरता और पाजामा इसलामको माननेवाली संस्कृति द्वारा ही इस देशमें प्रचलित हुये। मुगलोने जिन अचकन और पाजामेको अपना दरवारी वेश वनाया उसे लखनऊके नवावोने शालीनता दी और आज वही भारतका राष्ट्रीय वेश वना है। हिन्दू सधवा नारीके वैवाहिक प्रतीकोमें सिन्दूर और चूड़ीके अतिरिक्त नाककी नथ भी है। 'नथ' शब्दका सम्बन्ध भी रोटीकी भाँति ही न संस्कृतसे है न पालीसे और न कभी इस देशमें इसका इस्तेमाल इसलामके आगमनके पहले हुआ है। प्राचीनकालसे लेकर वारहवी सदी तककी हज़ारो-लाखो देवी-देवताओ की मूर्तियोंके आभूषण-परिवारमें कही नथ नही देख पड़ती। उधर नथका इस्तेमाल 'नाकिल' के रूपमे अरवमें वरावर होता था। पशुओकी नाक छेदकर उसमें नाकिल डाल रस्सी पहनाकर उन्हें ले जाया जाता था। वस्तुत· यह प्रथा और भी पुरानी थी, असीरियो या असुरोकी, जो शत्रुको जीतकर उसके होठोको छेदकर उसमें रस्सी पहना कर ले जाया करते थे। उसीका उल्लेख प्राचीन नवियोकी इंजीलकी पुरानी पोथी की ललकारमें हुआ है जव वे यहूदी महात्मा असुर राजाओकी क्रूरतासे अक्रांत जुरूसलममें खड़े होकर कहते है कि एक दिन आएगा जव तुम भी अपने दोनो होठ और नाक छेदाकर पशुओ और गुलामोकी तरह हाँके जाओगे। सो नथ पशुओ और गुलामोपर मानव और विजेता के स्वामित्वका परिचायक है, जैसे कभीकी हिन्दू नारीका वैवाहिक नथ उसके पुरुषके प्रति उसकी अकिंचन स्थितिका परिचायक था।

अंतमें भारतीय संगीतकी ओर अव संकेत करेंगे जिसका उल्लेख किये विना प्रस्तुत विषय सम्वन्धी लेख निस्सदेह अपूर्ण ही रह जायगा। ललित कला होनेके कारण इसका विवेचन तो वस्तुतः वास्तु आदि कलाओंके साथ ही होना चाहिये था परन्तु जीवनके

अत्यन्त निकट होने से इस प्रभावका उल्लेख अन्तमें करना उचित समझता हूँ जिससे इसकी याद बनी रहे। सगीत, कमसेकम अपने अशास्त्रीय अथवा अमार्गीय देशी रूपमें, प्राचीन मार्गीयसे उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार चित्रकलामें मुगल कलम अजन्ताकी शैलीसे। और जिस प्रकार ईरान और मध्य एशियासे चितेरे लाकर मुगलोंने अपने उस सोफियाने सुकुमार मुगल कलमको सँवारा जिसका सा दूसरा कलम आज न देशमें है न विदेश में। उसी प्रकार मुगलो, लखनऊ, जौनपुर और रामपुरके नवावो या उनसे भी पहलेके मुसलमान बादशाहोने अरबी-फारसीके गजल, रुबाई आदि छदोके सयोगसे 'देशी' की अनेक उपेक्षित और गँवार समझे जानेवाले रागोको मार्ग अथवा शास्त्रीय सगीतकी मर्यादा दी। खयाल, ठुमरी आदि अनेक चीजें दरबारोमे गाई गई और उनकी साधना ध्रुपदके साथ-साथ बादशाहो और मुसलमान आचार्योंने भी भरपूर की। सगीत में गायन, वादन और नर्तन तीनोका सयोग होता है। तीनोपर इसलामी सस्कृतिका बडा गहरा असर पडा है। गायनके रागोंके सम्बधमे ऊपर संकेत किया जा चुका है। उसके सहायक बाजोमें अनेक ऐसे है, जो केवल मुसलमानोके ही बनाये हुये हैं। तबला, सारगी, सितार (जिसके गिटार, जिथार आदि अनेक योरोपीय रूप हुये), अलगोजा आदि मुसलमान गवैयोकी खोजके ही परिणाम हैं, वैसे ही शहनाई और रोशनचौकी भी। अगर इन्हें हमारे सगीतसे निकाल दिया जाय तो कहना न होगा कि क्या बच रहेगा। शास्त्रीय नृत्यमें आज एक शैली 'कत्थक' भी है। यह शैली सर्वथा मुसलमान दरबारो में पोषित होकर विकसी और इसने कलान्तरमें अपनी शास्त्रीय मर्यादा पाई।

अत्यन्त सूक्ष्म रूपमें केवल सकेतत , यह निबन्ध उन परिवर्तनोका उल्लेख करता है, जो इसलामके प्रभावसे यहाँ प्रवर्तित हुये। उनका व्यास बडा है जैसे भारतीय सस्कृति की परिधि बडी है। इस महान् सस्कृतिने अपनी राह आये सारे प्रभावोको अगीकार करके आत्मसात कर लिया। उसका गौरव उसकी मौलिक निर्माण-शक्तिमे इस अगीकरणकी दिशामें कही अधिक महान् है।



भवानी शङ्कर शुक्ल

भारतीय समाज पर अंग्रेज़ी शिक्षा और पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव

किसी राष्ट्रके उत्थान-पतनमें शिक्षाका जो महत्व है, उसके सम्बन्धमें कुछ लिखना प्रस्तुत लेखमें अधिक समीचीन नही है। यह तो सभी मानते है कि शिक्षा ही मनुष्यके बुद्धि-प्रकाशका प्रमुख साधन है। वैसे तो सामाजिक क्रांतियोके पीछे अनेक कारण होते है परन्तु राष्ट्रीय पैमानेपर समाजको जिस विशेष प्रकारकी शिक्षा दी जाती है, उसका उनमें सर्वोपरि स्थान है। हमारी सामाजिक अथवा अन्य प्रकारकी विविध मान्यतायें भी शिक्षाकी ही प्रतिफल है। इसीलिए कोई भी उत्तरदायी सरकार, सामाजिक संगठन अथवा समाजसेवी व्यक्ति राष्ट्रीय शिक्षापर सबसे पहले ध्यान देता है। परन्तु भाषा का भी इस क्षेत्रमें कुछ कम महत्व नही है। भाषा हमारे विचारोकी वाहिका है। उसी के माध्यमसे किसी राष्ट्रकी भावनाएँ और आकांक्षाएँ व्यक्त की जाती है। समाज और संस्कृतिसे उसका गहन सम्बन्ध है। इसलिए किसी भाषाके विषयमें विचार करने के अर्थ होते है किसी जातिके विषयमें सोचना। किसी देशमें जिन विभिन्न भाषाओका विकास होता है, वे उस देशके निवासियोकी सस्कृति, रहन-सहन और चिन्तन-शक्तिकी पूर्ण संगतिमें होती है। अत. जब हम किसी भाषाका अध्ययन करते है, तो हमें उसके पीछे जितनी सास्कृतिक परम्पराएँ होती है उनका भी सहज ज्ञान हो जाता है। यही नही उस भाषाके और उसके द्वारा व्यक्त किये हुए विविध विचारोंके माध्यमसे हम उसके बोलनेवालोंसे भी परिचित होते है। यह प्राय॰ असम्भव है कि इस परिचयका सीखनेवाले पर कोई प्रभाव न पड़े। प्रस्तुत लेखमें हम भारतीय समाजपर अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य विचारधाराके प्रभावोपर विचार करेंगे। परन्तु इस विषयमें पहले भाषा और शिक्षाप्रणालीकी महत्तापर विचार करना आवश्यक है क्योकि अँगरेज़ी शासन-कालमें जो शिक्षा भारतीय विद्यालयोमें दी गई उसका माध्यम अँगरेज़ी भाषा थी।

भाषा मनुष्यके विचारोको दूसरे मनुष्यके मस्तिष्क तक पहुँचानेका सर्वोत्तम साधन है। विश्वमें भाषाओकी विविधता इसी तथ्यकी ओर संकेत करती है कि संसारके सभी व्यक्ति समान रीतिसे नही सोचते। किसी भी भाषाका समाजमें दोहरा काम होता है। एक ओर तो वह कुछ विशेष नियमोको जो पूर्वकालसे प्रत्येक पीढ़ीमें प्रचलित है अपनेमें सुरक्षित रखती है और दूसरी ओर व्यक्तिकी आत्मीय कल्पना तथा विचारो का आधार बनती है। अपनी इन्ही विशेषताओंके कारण भाषामें निहित तत्वोका

अध्ययन प्राचीन कालसे ही विद्वानोका प्रिय विषय रहा है। बहुत पहले आइसोक्रेटिस (Isocrates) ने कहा था कि भाषा ज्ञान ही हमें पशुओंसे भिन्न बनाता है और शुद्ध भाषाके बोलनेकी शक्ति व्यक्तिके अच्छे और विश्वसनीय होनेका निश्चित प्रमाणहै। सुकरात, प्लेटो और अरस्तूने भाषाकी सर्जनात्मक, शक्तिकी ओर सकेत किया। स्टोइक विचारधाराके लोगोका तो यहाँ तक कहना था कि केवल भाषाके ही सहारे व्यक्तिके विशिष्ट बौद्धिक गुणोको स्पष्टतया समझा जा सकता है। यह भाषा ही है, जो मनुष्यको मनुष्यतासे परिपूरित करती है। प्राचीनकालके ही नही आधुनिक विद्वान भी भाषाको व्यक्ति और समाजकी सास्कृतिक चेतना एव मानसिक प्रक्रियाओको व्यक्त करनेका उपाय मानते है क्योकि भाषाकी उपादेयता मानव समाजमें केवल पारस्परिक विचार विनिमय मे नही है बल्कि मनुष्योकी 'मानसिक उपज, और एक विशेषकाल और एक विशेष स्थानपर उनका तद्भव सस्कृति-रूपोके आलेखन एव सरक्षण[1] में भी है। किसी जातिकी सास्कृतिक परम्पराएँ कई अशो तक उसके साहित्य की पर्य्याय है। यह साहित्य उस जातिकी मान्यताओको वतलाता है। फलत यह उन परम्पराओ अथवा शिक्षाके रूपको कायम रखनेकी व्यवस्था भी करता है जो सस्कृतिकी गतिको वनाये रखनेके साधन है। [2]भाषाके माध्यमसे सस्कृतिके विविध रूपोमें अन्तर स्थापित किया जा सकता है। यह भाषाका ही गुण है, जो व्यक्तिको न केवल इस योग्य वनाता है कि वह तात्कालिक अनुभूतिको ग्रहण कर सके वल्कि उसको अपने सन्निकट जगत्के परे भी विस्तीर्ण कर सके।

सम्प्रति, मानव समाजमे भाषाकी महत्ताको साधारण रीतिसे सिद्ध करनेके लिए उपर्युक्त विचार पर्याप्त होगे। परन्तु राष्ट्रीयता और उसके जागरणमें भाषाका क्या स्थान है। इसके विषयमें भी कुछ विचार करना असमीचीन न होगा। यद्यपि राष्ट्रीयताकी परिभाषा लिखना कठिन है परन्तु उसका अधिकतम स्पष्ट विश्लेषण जॉन स्टुअर्ट मिलके कथनमें [3] मिल जायगा। उनके अनुसार 'मानव-समाजका एक भाग तव राष्ट्रीयताको जन्म देता हुआ कहा जाता है जव वह सामान्य सहानुभूतिसे परस्पर आवद्ध होता है जो उसमें तथा अन्य दूसरोमें नही पाई जाती और जो लोगोको दूसरोसे अधिक स्वेच्छा और सहयोगमे काम करनेके लिए प्रोत्साहित करती है, जव वह एक ही सरकारके अन्दर रहना चाहता है—ऐसी सरकार, जो उसकी अपनी या उसमेंसे कुछ की पूर्णतया अपनी हो। राष्ट्रीयता की ऐसी भावना विविध कारणोसे उत्पन्न हो सकती है। कभी-कभी यह जाति और जन्मकी समानताका फल होती है। भाषा और धर्मकी समानता भी इसमें वडा योग देती है। भौगोलिक सीमायें भी इनमेंसे एक कारण है'। मिलके इस कथनसे राष्ट्रीयताके विकासमें भाषाका योग भली तरह से समझमें आ जाता है। अत हमें किसी भाषाका अध्ययन करते समय यह निश्चित रूपसे मालूम होना चाहिए कि वह भौतिक, मनोवैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक सूक्ष्म गुत्थियोको सुलझानेकी एक कुजी है जिनसे आज राष्ट्रोका भाग्य निश्चित होता है। मैडेरियागाका यह कथन अक्षरश

१. ई० ई० यूवंकर दि कासेप्ट्स ऑफ सोसाइटी, पृ० १५
२. इग्लैंडके शिक्षामत्रालयकी २६ वीं पुस्तिका 'लैंग्वेज', पृ० ११
३. रिप्रेजेण्टेटिव गवर्नमेण्ट,

सत्य है कि 'भाषायें राष्ट्रीय चरित्रकी सबसे सीधी अभिव्यक्ति हैं। वे मानवीय मस्तिष्क का बाह्य जगत्पर प्रथम प्रभाव हैं। [४] उदाहरणार्थ, एक फ्रेंच दूसरे देशके निवासी से भिन्न केवल शब्दो, योगो तथा ध्वनियोका ही प्रयोग नही करता वल्कि श्रोताके ऊपर अपने व्यक्तित्वकी एक छाप भी डालता है। राष्ट्र-राष्ट्रके बीचके इस अन्तरके चाहे जो कारण हो, परन्तु अन्तत. वे मनके उस रूपसे जुड़े हुए है, जो उसकी भाषागत जातिपर हावी है। [५]

भाषाके विषयमें इतना विचार करना स्यात् पर्याप्त है। अब हम समाजमें शिक्षाके महत्वपर विचार कर सकते है। शिक्षाका उद्देश्य व्यक्तिगत स्वार्थोकी पूर्त्तिके लिए योग्यता प्राप्त करना नही हैं। वैयक्तिक रूपसे शिक्षाका उद्देश्य मनुष्यके जीवनको इस योग्य बनाना है जिससे उसके योगदानसे मानव-समाज सुखी और सम्पन्न हो सके। शिक्षाका प्रतिफल स्वाभाविक रूपसे संस्कृतिका विकास होना चाहिए। संस्कृति मानवीय चिन्तन-क्रियाका फल है। इस उद्देश्यकी पूर्त्ति ज्ञान प्राप्त करनेपर हो सकती है। शिक्षा प्राप्तिका साधन हैं। मनुष्य विचारशील प्राणी है। चिन्ता उसका सहज लक्षण है और इसी चिन्तनके सहारे मनुष्य अपना वौद्धिक और आत्मिक विकास करता है। व्यक्ति समाजकी इकाई है अत किसी समाजका रूप उसके सदस्योके अनुरूप होता है। पुस्तक-पाठ, पाठशालाओंमें अध्ययन, डिग्री अथवा अन्य ऐसी ही वस्तुओ के द्वारा कोई व्यक्ति शिक्षित नही हो जाता। शिक्षित व्यक्तिका समग्र व्यक्तित्व सम्बुद्ध होता है। परन्तु समाजमें शिक्षाका महत्व केवल वुद्धि प्रकाश (Enlightenment) में ही निहित नही है। उसकी उपादेयता समाज और राष्ट्रकी अनेक निजी समस्याओ के हल करनेमें भी है। जैसे, हमारे देशमें दरिद्रता, वीमारी, अनैक्य आदिको दूर करना है जो हमारे राष्ट्रीय जीवनको शताब्दियोंसे क्षीण बनाते आये है। हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो हमें समाज, राष्ट्र और ससारकी प्रगतिके साथ-साथ चलनेके योग्य वना सके।

प्रत्येक समाजकी अपनी समस्यायें होती है और उसकी आकाक्षाएँ भी आवश्यक नही है कि दूसरे समाजकी आकाक्षाओंके समान हो। शिक्षा किसी समाज-विशेषके आदर्शोके अनुकूल होती हैं। प्राचीन यूनानमें शिक्षाके विविध रूप थे। एथेंसमें सुन्दर और सुखी जीवनका उपभोग ही अभीष्ट था। प्रकृतिकी अनुकम्पासे वे सुखी थे भी। फलत. वहाँके निवासियोंमें वैयक्तिकता प्रमुख होती गई। उसके चिन्तक भी तदनुरूप हुए। इसके विपरीत स्पार्टामें शिक्षाका आदर्श हुआ साहस एवं अनुशासन का ऐसा विकास जिससे व्यक्ति राज्यके लिए सर्वस्व वलिदान कर सके। परिणाम यह निकला कि स्पार्टाके लोग वीरकर्मा और शारीरिक शक्तिसे पूर्ण हुए। इसी प्रकार प्राचीन कालमें प्रत्येक देशकी शिक्षा उसकी आवश्यकताओके अनुरूप थी।

शिक्षाके वास्तविक महत्वको समझ लेनेके पश्चात् हम अधिक सुविधाके साथ अपने प्रतिपाद्य विषयपर विचार कर सकते है। समाज-निर्माणमें, समाजकी मान्यताओंको स्थिर करनेमें और राष्ट्रीय आकाक्षाओंकी पूर्त्ति करनेमें जब शिक्षा एक प्रधान कारण

---

४. मैडेरियागा : इंग्लिशमैन, फ्रेंचमेन ऐण्ड स्पैनियार्डस, पृ० १८३

५. कार्ल वोल्सर : दि स्पिरिट ऑफ़ लैंग्वेज इन सिविलीज़ेशन, पृ० ११५

है तव भारतीय समाजपर अँगरेज़ी शिक्षाका असाधारण प्रभाव पडना परम स्वाभाविक ही है। वह प्रभाव व्यापक रूपसे आज हम लोगोके बीच परिलक्षित है। भारतीय समाजका पाश्चात्य शिक्षाके द्वारा यह अभिनवीकरण ससारके इतिहासकी एक विशिष्ट घटना है। परन्तु उक्त अंग्रेजी शिक्षा—फलत पाश्चात्य विचारधारा—के अनेक प्रभावोका विश्लेषण करनेके पूर्व हमें भारतीयोकी अपनी प्राचीन शिक्षा और उनके पाश्चात्य जगत्‌के सपर्कमें आनेके पूर्वतक उसमें अनेक परिवर्तनोका इतिहास तथा भारत और योरप के आधुनिक सम्वन्धोके स्थापित होनेके समय हमारी सामाजिक दशाका सम्यक् ज्ञान भी अपेक्षित है।

प्रोफेसर येफ्० डव्ल्यू० टॉमसके शव्दोमें 'भारतमें शिक्षा विजातीय नही है। कोई भी ऐसा देश नही है, जहाँ विद्यानुराग इतना शीघ्र उत्पन्न हुआ हो या इसने इतना स्थाई एव शक्तिशाली प्रभाव डाला हो।' यहाँकी प्राचीन शिक्षाका नैतिक पहलू तैत्तरीय उपनिषद्‌की शिक्षावल्लीमें देखा जा सकता है जव दीक्षान्तके अवसरपर गुरु शिष्यको अपना अन्तिम उपदेश देता है। शिक्षित व्यक्तिके कर्तव्योमें कुछ वातें अधिक महत्व की हैं, जैसे अध्ययनसे विमुख नही होना चाहिए। (स्वाध्यायान्माप्रमद) अथवा सत्यसे विमुख नही होना चाहिए (सत्यान्नप्रमिदतव्यम्) इत्यादि। शिक्षा यद्यपि कुछ विशेष वर्गोके लिए थी परन्तु उसका सामाजिक महत्व वहुत अधिक इसीलिए था। जीवन का चातुर्थाश पूर्णत अध्ययनमें ही लगाया जाता था। यही नही एक विशेष वर्ग के लिए तो वह अनिवार्य थी। मनुने व्राह्मणके छ कर्मोमें पढना और पढाना सवसे पहले कहा है। समाजमें शिक्षा-प्रसारका दायित्व शासकके हाथमें न था और व्राह्मण ही इसकी व्यवस्था करते थे। राजा और नागरिक इन व्यक्तिगत पाठशालाओकी भूमि और धनसे सहायता अवश्य करते थे। अध्यापकोका वडा सम्मान था। गुरु को साक्षात् 'परव्रह्म' माना जाता था। गुरु और शिष्यके सम्वन्ध पिता और पुत्र के समान थे। उदारता और पारस्परिक सहयोगके वातावरणमें पले हुए एव शिक्षित लोगोका आदर्श था 'सहनाववतु। सहनौभुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। या विद्विषावहै।' (कठोपनिषद्)।

वैदिक कालके प्रारम्भमें स्त्रियो को भी शिक्षा प्राप्त करनेका पूर्ण अधिकार था। इसी शिक्षाके कारण घोषा, अपाला, विश्ववारा प्रभृति विदुषियोने ऋग्वेदकी अनेक ऋचाओ की व्याख्या की। इसी प्रकार उपनिषदोके कालमें भी स्त्री-शिक्षा प्रचलित थी। गार्गी और मैत्रेयीके नाम इस कालमें अग्रगण्य है। परन्तु स्मृतियोके युगसे स्त्री-शिक्षा शिथिल हो गई और धीरे-धीरे वह समय भी आ गया जव वे सभी प्रकारके ज्ञानसे वचित हो गई। भारतके समूचे इतिहासमें उक्त समयके पश्चात् स्त्रियोकी शिक्षापर तवतक कोई विचार नही किया गया जव तक वह समय नही आ गया जिसे हम आधुनिक युग कहते है।

प्राचीन भारतमें मनुष्यके चार पुरुषार्थ माने गए थे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें अर्थ और काम लौकिक महत्वके है। शिक्षाप्रणाली ऐसी थी जिससे मनुष्य योग्य वनकर सभी पुरुषार्थोको कर सके। इसीलिए जहाँ विद्याको मुक्तिका मार्ग वतलाया गया वहाँ उसे अर्थकरी भी कहा गया। प्राचीन भारतमें न केवल व्यापक साक्षरता थी प्रत्युत उच्च शिक्षाका भी उचित प्रवन्ध था। उच्च शिक्षाके प्रसारमें वौद्धोंका भी

बहुत बड़ा हाथ रहा है। तक्षशिला, काशी, नालन्दा, विक्रमशिला, वलभी, कांची और मदुरा आदि स्थान प्राचीन कालमें शिक्षाके प्रधान केन्द्र थे जिनमें विदेशके भी अनेक विद्यार्थी अध्ययन करते थे।

भारतके मध्यकालीन इतिहासमें भी शिक्षा-प्रसारका काम लोग प्राय. व्यक्तिगत रूपसे करने लगे थे। समाजमें शिक्षाका महत्व पहले जैसा न रह गया था। वैसे जाति धर्मके आधारपर लोग अलग-अलग अपनी परम्परागत शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। मुसलमान शासक शिक्षानुरागी थे अतः उन्होने भी देशमें अनेक मदरसो और मकतबोको स्थापित करवाया। इनमें अधिकतर धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। परन्तु विविध विषयोकी शिक्षाका अभाव न था। अकबरने तो इस क्षेत्रमें बहुत ही अधिक उत्साह दिखलाया। उसके विचारसे एक लम्बे समय तक पाठशालाओंमें समय नष्ट करना अनुचित था। अबुल फज्लका कहना है कि अकबरने शिक्षा-सम्बन्धी एक फरमान जारी किया था। उसमें लिखा गया था कि देशके प्रत्येक बालकको नैतिकता, गणित, कृषि, भूमाप, ज्यामिति, ज्योतिष, गृह-विज्ञान, प्रशासनके नियम, आयुर्वेद, तर्क तथा विज्ञानकी शिक्षा अनिवार्यतः दी जानी चाहिए। अकबरके शासन-कालमें शिक्षाको विशेष महत्व दिया गया। उसके दरबारमें देश और विदेशके विद्वान् आपसमें वाद-विवाद करते थे। उसके उत्तराधिकारियोंमें शाहजहाँने दिल्लीमें जामी मस्जिदके निकट एक कॉलिज खुलवाया। परन्तु औरंगज़ेबके शासनकालमें शिक्षणमें राजकीय सहायता केवल एक धर्म तक ही सीमित कर दी गयी। उसकी मृत्युके पश्चात् मुगल साम्राज्यका विशाल प्रासाद जब धराशायी होने लगा तब भारतका ज्ञान-विज्ञान भी इतस्तत. बिखर गया। उचित शिक्षाके अभावमें जैसा स्वाभाविक है हमारा पहली बार सामाजिक पतन प्रारम्भ हुआ। पुराने आश्रम, विश्वविद्यालय, पाठशालाएँ, मदरसे या मकतब बिल्कुल खत्म होने लगे। जो थे भी उनमें सुशिक्षित, उदार और प्रगतिशील अध्यापकोकी कमी थी। समाज स्वयं अंधविश्वासी, विलासी और स्वार्थी हो चला था। उसने भी अपने सुधारकी कोई उचित व्यवस्था न की। वस्तुत इस समय नयी, सामाजिक मान्यताओंकी आवश्यकता थी, वे मान्यताएँ जो समाजको दिक्काल के अनुकूल बना सकें।

अट्ठारहवी शताब्दीका भारत सम्भवत अपने समूचे इतिहासमें सर्वाधिक ह्रासोन्मुख समाजका चित्र प्रस्तुत करता है। मुगलोकी सत्ता बिखर चुकी थी और देश अनेक छोटे-बड़े टुकडोमें ठीक उसी तरह बँट गया था जैसे सिकन्दरके आक्रमणके समय पश्चिमोत्तर भारत। इन राजनीतिक इकाइयोका पारस्परिक संघर्ष समाजके लिए बडा घातक सिद्ध हुआ। राजनीतिक अस्थिरता और अशान्तिके वातावरणमें लोगोको रोज़ी-रोटी कमाना कठिन होने लगा। देशके कलाकार, विद्वान और विचारकोको संरक्षको का अभाव हो गया। हमारा व्यावसायिक ढाँचा विशृंखलित हुआ। सूत, रेशम और ज़रीका उत्कृष्ट काम करना अब बडा महँगा पड़ने लगा। फलतः वह विशेष योग्यता भी नष्ट होने लगी। परन्तु राजनीतिक और आर्थिक पतनसे कही अधिक भारतीयोंका इस शताब्दीमें सामाजिक और सांस्कृतिक पतन हुआ। समाज केवल कुछ रूढ़ियो और अन्धविश्वासोका वाहक ही रह गया। इस पतनका अनुमान इस तथ्य से

ही लगाया जा सकता है कि इस समय हमारे प्राचीन ग्रंथ लुप्तप्राय हो गये। धन्य है वे पाश्चात्य गवेपक जिन्होने अपने विद्यानुरागके कारण अत्यन्त धैर्यके साथ भारतीय वाङमयका पता लगाया जिसके ऊपर आज हम सभी को गर्व है। वस्तुत यह सक्रमण काल था जबकि भारतीय स्वय अपनेको भूलने लगे थे।

परन्तु इस सक्रमणके कारण क्या थे, जिन्होने समाजको ग्रसकर किंकर्तव्यविमूढ वना दिया? इस प्रश्नका विस्तारमें उत्तर चाहे जो हो, पर इतना अवश्य है कि किसी भी सामाजिक क्रातिके जो कारण होते है, वे सभी उक्त संक्रमणके जनक हो सकते है। मनुष्यका प्रधान लक्षण उसकी आत्माभिव्यक्ति है और यही वात समाजपर भी लागू होती है। जव कोई समाज अपने अन्तस्को वाह्य जगत्के सामने नही ला पाता, तो उसे वही व्यग्रता होती है, जिसका दर्शन किसी पार्वत्य सरितामें उसके समुद्र—उस वृहत्तम जलराशिकी ओर जाते समय किसी विशाल अचल शिलाके अवरोधके कारण हम देखते है। यहाँ यह भी न भूलना चाहिए कि परिवर्तन प्रकृतिका एक शाश्वत नियम है। समाज परिवर्तनका कोई अपवाद नही है। १८ वी शतीका भारतीय समाजभी परिवर्तनकी प्रतीक्षामें था—साधारण निमित्तका भी उसके लिए वडा मूल्य था। सामाजिक-परिवर्तनका सवसे वडा कारण मनुष्यकी विचारधारा है। मनुष्य अपने मनोनुकूल समाजका निर्माण करना चाहता है। उसकी यह इच्छा ही सामाजिक क्रातिके पीछे गौण रूपसे काम किया करती है। देश और कालकी परिस्थितियाँ मनुष्यकी विविध इच्छाओकी जन्मदात्री है। परन्तु इन परिस्थितियोसे अवगत होनेका साधन क्या है? हम यह पहले ही कह चुके है कि किसी राष्ट्र, जाति या समाजका शिक्षासे गहनतम सम्वन्ध है। अत हम यह भी कह सकते है कि सामाजिक उत्थान और पतनके पीछे शिक्षाका विशेष स्थान है। जो शिक्षा समाजकी आवश्यकताओकी पूर्त्ति नही करती, और उसकी समस्याओका समाधान प्रस्तुत नही करती वह निश्चित रूपसे समाजको विगलित वनाये रक्खेगी। अत त्राणका उपाय नये विचारोका समाजमें समावेश है। यह समावेश समाजमें प्राय सीधे नही होता। शिक्षा इसका महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

भारतीय समाजकी इसी सक्रमणकालीन दशामें उसका पाश्चात्य जगत्से विशेष सम्पर्क स्थापित हुआ। वैसे तो भारतके सम्वन्ध पश्चिमके साथ अतिप्राचीन है जिनकी सूचना प्राचीन यूनानी और रोमन ग्रथोसे प्राप्त होती है। इस समय भारत मानवीय सभ्यताका एक प्रधान केन्द्र था। वौद्धोने भी मानवताके सार्वभौमिक सिद्धातोके प्रचारके समय भारत और यूरोपके सम्वन्धोको घनिष्ट किया। परन्तु यह पुराना समय था। जैसा के० टी० पालका कथन है इस सम्पर्कके वीच 'पश्चिमका भारतके प्रति वहुत कम या नहीके वरावर योग है। भारतने सिखलाया या दिया और वदलेमें अपेक्षाकृत वहुत कम लिया। सम्पर्क वस्तुत एक पक्षीय था, यह पश्चिमका भारतके साथ सम्पर्क था भारतका पश्चिमके साथ नही।'[६] रोमन साम्राज्यके पतनके पश्चात् परिणामत भारतके साथ व्यापारिक सम्वन्धोका विच्छेद हो जाना, भूमध्यसागरके इर्द-गिर्द ईसाई धर्मका प्रचार, विदेशोमें भारतीयोके प्रभावक्षेत्रके मध्यमे ही इस्लामका आकस्मिक जन्म इत्यादि अनेक कारणोने शताब्दियो तक भारतके साथ पश्चिमको अलग

---

६ के० टी० पॉल; ब्रिटिश कनेक्शन विद इंडिया, पृ० २२

रक्खा।[७] परन्तु जिन सामाजिक परिवर्तनोके सन्दर्भमें हम अभी विचार कर रहे थे, उनकी दृष्टिसे भारत और पश्चिमका सम्पर्क अभी नही स्थापित हुआ था। यह सम्पर्क वास्तव में पहली वार तव स्थापित हुआ जव पुर्तगालियोने भारतके लिए योरपसे एक नवीन समुद्री मार्ग ढूंढ निकाला। यह सम्पर्क तव और अधिक वढा जव १५०० ई० के लगभग पूर्तगाली, डच, डेन, फ्रांसीसी और अंग्रेज आदिने भारतवर्षमें अपनी आवादियां वसाई। इन जातियोका रहन-सहन, विचार, इनकी भाषा और संस्कृति, शासन व्यवस्था तथा शिक्षा प्रणाली सव-कुछ भारतीयोसे भिन्न थी। जिन्होने शनै-शनैः भारतीय समाजपर अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ किया। १७ वी शताव्दी तक इन विदेशी जातियोमें भारत-भूमिपर पारस्परिक संघर्ष होता रहा। अन्तत अंग्रेज सफल हुए। वे मुख्यत. भारत-व्यापारके सम्वन्धमें आये थे किन्तु अवसर पाकर वे यहांके शासक वन वैठे। शासक होनेके नाते उनकी संस्कृतिका व्यापक प्रभाव इस देशके निवासियोपर पड़ना स्वाभाविक था। प्राथमिक दशामें तो इनके सुखी और सम्पन्न जीवनका भारतीय समाजने अनुकरण करना चाहा। उसके वाद शासन इत्यादिके सम्वन्धमें भारतीयो और अंग्रेजोमें निकटता वढी। परन्तु इस निकटतामें एक वाधा थी—वह थी भाषाकी। अग्रेजोको ऐसे लोगोकी आवश्यकता थी, जो उनकी वातोको समझकर उनके अनुसार शासनप्रवन्धमें कुछ सहायता कर सकें। अत. मुख्यत जीविकोपार्जनके लिए भारतीयोने उनकी भाषा अग्रेजीको सीखना प्रारम्भ किया।

भाषाकी अद्भुत प्रकृतिके विषयमें हम प्रारम्भमें चर्चा कर चुके है। अंग्रेजी भाषा के माध्यमसे अंग्रेजोंकी सभ्यता, उनके मानसिक विकास और साथ ही योरपीय संस्कृति का परिचय मिलना भी शुरू हुआ।

१८ वी शताव्दीमें भारतका शासन धीरे-धीरे ईस्ट इण्डिया कम्पनीके हाथोमें जा रहा था। इस समय कम्पनीवालोने प्रथम तो भारतीयोकी शिक्षाकी ओर ध्यान ही नही दिया और जो कुछ दिया भी वह केवल देशी भाषाकी शिक्षाकी ही ओर। इसके पहले ईसाई मिशनरी देशी और पाश्चात्य शिक्षाके सहारे अपने धार्मिक विचारोका प्रचार कर रहे थे। कम्पनीवालोने अँग्रेजी शिक्षाके प्रचारके लिए प्रारम्भमें कुछ भी काम न किया। उनको भय था कि भारतीय समाज उसका स्वागत न करेगा। परन्तु शीघ्र ही उनके विचारोमें परिवर्तन हुआ और उक्त शताव्दीके अन्तिम दशाव्द (१७९२ ई०) में उनके एक प्रमुख डाइरेक्टर चार्लसग्राटने स्वयं लिखा कि भारतवर्षमें पाश्चात्य शिक्षा और धर्मका प्रचार होना चाहिए। इसीके अनुसार १७९३ ई० में ब्रिटिश हाउस आफ कॉमन्सने भारतकी उन्नतिके लिए 'लाभप्रद ज्ञान' और 'धार्मिक तथा नैतिक प्रगति' विषयक् एक प्रस्ताव पास किया। फलत. कम्पनीने मिशनरियोको शिक्षा और धर्म प्रसारके लिए आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया। मिशनरियोका यह आंदोलन भारतमें पाश्चात्य विचारोंके प्रवेशका प्रथम द्वार था। भारतीय शीघ्र ही इन प्रचारकोंके कॉलिजोमें अपने वच्चोको पढनेके लिए भेजने लगे। सर फिलिप हार्टगका कहना है कि माता-पिता इन वच्चोको ईसाई प्रभावमें लानेके लिए ही इन कॉलिजोमें भेजते थे।[८] जहाँ

---

७. के० टी०—पाल ब्रिटिश कन्वेन्शन विद इंडिया पृ० २२

८. सर फिलिप हार्टग : स्टडीज ऐण्ड रिपोर्टस्, नं० ७, (सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन एजुकेशन पास्ट एण्ड प्रेजेंट), पृ० ६.

तक इस समयकी सरकारका शिक्षासे सम्बन्ध है उसकी नीति यहाँ अधिकसे अधिक देशी ज्ञान-विज्ञानका प्रचार करना था। तदनुसार वारेन हेस्टिंग्सने १७८१ ई० में मुसलमानो के लिए कलकत्ता मदरसा और ग्यारह वर्षोके बाद १७९२ ई० में बनारसके रेजिडेंट जोनैथन डकनने उस समयके गवर्नर जनरल लॉर्ड कार्नवालिसकी रायसे हिन्दुओके लिए सस्कृत कालिज बनारसकी स्थापना कराई।

परन्तु इग्लैण्डमें कुछ धर्मानुरागी उत्साही व्यक्ति भारतमें देशी शिक्षासे सतुष्ट न थे। फलत १७९३ ई० में भारतमें पाश्चात्य शिक्षा और धर्मके प्रचारके लिए जो प्रस्ताव पास किया गया, उसका हम पहले उल्लेख कर चुके है।

भारतमें अँगरेजी शिक्षाके प्रचारकी दृष्टिसे १९ वी शताब्दी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भारतकी आधुनिक सम्यताका वस्तुत यहीसे श्रीगणेश हुआ। पिछली शताब्दीमें विश्वके इतिहासमें अनेक महत्वपूर्ण घटनायें घटित हुई थी जिनमे अमरीका और फ्रासकी व्यापक जनक्रातियाँ प्रमुख है। इन्होने ससारका रूप ही बदल दिया था। यह प्रभाव असाधारण था। इस समय योरपमें बौद्धिक क्रातिकी जो लहर दौडी उसने वहाँके निवासियोका जीवन-दर्शन बदल दिया। शिक्षा, साहित्य, विज्ञान, राजनीति, दर्शन और धर्म इत्यादि सभी क्षेत्रोमें नवीन वादोका जन्म हुआ। १९ वी शताब्दी पाश्चात्य जगत्के लिए शान्तिपूर्ण थी। इस समय वहाँके निवासियो में नवीन मान्यताएँ स्वीकृत की जा चुकी थी। इस अभूतपूर्व परिवर्तनसे इग्लैड अछूता न रहा। वहाँ इस शताब्दीके मध्यमें महारानी विक्टोरियाका शासन प्रारम्भ हुआ, जिनके साम्राज्यमें कभी सूर्यास्त नही होता था। साम्राज्यकी विशालताने अग्रेजोके मनको बडप्पन' के भावसे भर दिया। उनके विचारसे कोई भी अँग्रेजी वस्तु महान् थी। उनके कर्त्तव्य भी महान् थे! उस वृहत् साम्राज्यके अग्रेजोसे भिन्न निवासियो को सुसभ्य बनाना उनका परम धर्म था। उनकी शिक्षा थी—'इग्लैडका अनुकरण करो, अग्रेजी राजनीतिक सस्थाओका अनुकरण करो, अग्रेजी खेलोका अनुकरण करो, अग्रेजी भाषा सीखो, अग्रेजी साहित्य, इतिहास तथा दर्शनका अध्ययन करो।' यह उस युगके अग्रेजोकी स्वार्थपरता होती यदि वे केवल नये देशोको जीतते ही जाते और उनको महान् अग्रेजी सभ्यताके सम्पर्कसे वचित रखते।[९] भारत उनका सबसे प्रिय देश था और वहाँ अग्रेजी तथा पाश्चात्य विचारधाराका प्रचार सबसे पहले आवश्यक था।

१९ वी शताब्दीके भारतका सामाजिक इतिहास भी कुछ कम महत्वपूर्ण नही है। इस कालमें यहाँ कुछ ऐसे गवर्नर-जनरल आये जिन्होने विशेष उत्साहके साथ शताब्दियोमे पिछडे हुए समाजका सुधार कर उसको एक सर्वथा नवीन युगमें लानेका प्रयत्न किया। लार्ड विलियम बेंटिक और लॉर्ड डलहौजी इन प्रारम्भिक सुधारकोमें प्रमुख है। ये सामाजिक सुधार मुख्यत १८२८ ई० से १८५७ ई० तक किये गये। सती-प्रथाका अन्त किया गया। सामाजिक समानताके आधारपर सरकारी पद प्रत्येक जाति और धर्मवाले व्यक्तिके लिए उपलब्ध होने लगे। शिक्षामें भी जाति और धर्मके बन्धन हटा दिये गये। लार्ड डलहौजीके शासन कालमें योरोपके जिन वैज्ञानिक आविष्कारोको भारतमें प्रविष्ट किया गया वे भी समाज पर अपना प्रभाव छोडे बिना न रह सके। रेल,

---

९ सर जान० ए० आर० मैरियट : दि इग्लिश इन इण्डिया, पृ० १९६

तार, डाक, ने व्यापार और विचार विनिमयमें विशेष सुविधा प्रदान की। विज्ञानकी अद्भुत प्रगतिने जिस प्रकार योरपके ऊपर प्रभाव छोडा था उसी प्रकार भारतपर भी वह प्रभाव छोड़ने लगी। पहले तो भारतीयोने इन नवीन सुविधाओका विरोध किया किन्तु शासनकी कठोरता, भौतिक सुखका लोभ, एव सद्‌वुद्धिके कारण वादमें ये त्याज्य न रही। देशमें नयी-नयी मशीने स्थापित हुई, जो महीनोका काम दिनोमें कर देती थी। इन मशीनोने देशका आर्थिक ढाँचा वदलना शुरू किया जिसका प्रभाव भी भारतीय समाजपर पड़ा। परन्तु ये सब परिवर्तन वाहरी है और इनका अपने-आप केवल इतना ही महत्व है कि इन्होने हमें अपने वहुतसे पुराने विचारो और मान्यताओंको वदलनेके लिए वाध्य किया। भारतीय और पाश्चात्य सस्कृतियोंके सम्मिलनके वास्तविक प्रभाव अन्यत्र ही थे।

उपर्युक्त सभी सुवारोमें शिक्षा सम्वन्वी सुवारोने वस्तुतः नवीन भारतीय सभ्यताकी नीव डाली। अग्रेज़ी शिक्षाके माध्यमसे पश्चिमके अनेक उदारवादी सिद्धान्तोने आकर अपनी अद्भुत शक्तिसे भारतीय समाजको झकझोर दिया। पुरानी धारणाएँ नई शिक्षाके प्रकाशमें समयके प्रतिकूल मालूम पड़ी। अत आलोचनाकी प्रवृत्ति जाग्रत हुई। अव कोई वस्तु अपने यथारूपमें सहसा नही स्वीकार की जाती थी वल्कि निर्णयात्मक वुद्धि ही उसकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृतिका आवार थी। अडिग वैज्ञानिक सत्योने अन्व विश्वासोंके महलको ढहा दिया। नैतिकता और वर्म विपयक नये विचारोंसे भी समाजका रूप वदलने लगा। समाजमें उत्साह और गतिशीलताकी एक लहर दौड गई। हमने पहले ही देखा है कि १८ वी शताव्दीके अन्तमें पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानकी शिक्षाका प्रसार धर्मप्रचारक कर रहे थे। यही नही प्राच्य विद्वानोका अनुशीलन भी पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रणालीसे होने लगा था जव १७८४ ई० में कलकत्तामें सर विलियम जोन्सने एशियाटिक सोसाइटी ऑफ वेंगालकी स्थापना की।

सरकारकी ओरसे अग्रेज़ी शिक्षाके प्रचारके लिए इंगलैण्डमें १८१३ ई०में एक चार्टर पास किया गया, जिसके अनुसार भारतमें उसके उद्देश्योको शीघ्र पूरी करनेकी अपेक्षा थी परन्तु लापरवाही और उपेक्षाके कारण सन् १८२३ ई० तक कुछ भी न हुआ और तव कलकत्तामें एक संस्कृत कॉलिज खोलनेका निश्चय किया गया। इस समय तक अनेक प्रभावशाली भारतीय पाश्चात्य विचारवाराके पक्षपाती हो चुके थे। उनमें राजा राममोहनराय प्रमुख हैं। उन्होने तत्कालीन गवर्नर-जनरल अमहर्स्टके सम्मुख एक विरोव पत्र प्रस्तुत किया जिसमें उन्होने कहा कि इस प्रस्तावित सस्कृत कॉलिजमें 'विद्यार्थी वही सीखेंगे, जो उन्हें पिछले दो सहस्र वर्पोसे ज्ञात है, हाँ उसके साथ मिथ्या और छिछला ज्ञान और वढ जायगा । यदि ब्रिटिश विवानमंडलकी यही नीति है, तो संस्कृत शिक्षा इस देशको अंवकारमें वनाये रखनेके लिए सर्वोत्तम उपाय है। परन्तु जैसा कि देशी समाज की उन्नति करना सरकारका व्येय है, उसको उदार और प्रगतिशील शिक्षाप्रणालीका संवर्वन करना चाहिए, जिसमें गणित, दर्शन, रसायनशास्त्र एवं शरीर विज्ञान सभी सम्मि-लित हो और साथमें योरपमें शिक्षित प्रतिभा और विद्यासे सम्पन्न व्यक्तियोको रखकर तथा कालिजोमें आवश्यक पुस्तकों और यन्त्रादिकी व्यवस्था करके अन्य लाभप्रद वैज्ञानिक

विपयोकी शिक्षा भी दी जानी चाहिए।' परन्तु सरकारपर इसका विशेप प्रभाव न पडा। अत प्रगतिशील भारतीय शिक्षा प्रसारके कार्यमें धर्मप्रचारकोके साथ सहयोग करने लगे। यह नया आदोलन बगालसे आरम्भ हो रहा था।

सन् १८३३ ई० में चार्टरका सशोधन हुआ जिसके अनुसार भारतीयोको राजकीय सेवाओमें स्थान देनेकी नीति अपनाई गई थी। शासनको अधिक शिक्षित व्यक्तियोकी आवश्यकता थी। इस चार्टर ऐक्टके अनुसार ही लार्ड मैकाले (जिसका नाम भारतमे अग्रेजी शिक्षाके प्रारम्भ करनेवालोमें अमर रहेगा) सन् १८३४ में तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बैंटिकका कानूनी सलाह बनकर भारत आया। उसने आते ही यहाँकी शिक्षा प्रणालीमें परिवर्तन किया। उच्च शिक्षा किस भापाके माध्यमसे दी जाय यह प्रश्न पहलेसे ही बिना हल किया हुआ पडा था। अत मैकालेने उस प्रश्नका स्पप्ट उत्तर दिया। उसका उद्देश्य भारतीयोको पाश्चात्य शिक्षाके द्वारा अपने जैसा ही बना लेना था। इसलिए उसने कहा

"हमें एक जातिको शिक्षित बनाना है, जिसको इस समय उनकी मातृभापामें शिक्षा नही दी जा सकती। हमें उनको कोई विदेशी भापा पटानी चाहिए। हमारी अपनी भापाके अधिकारके विपयमें कुछ कहना व्यर्थ ही है जो कोई भी उसको जानता है उसको वह सब विस्तृत बौद्धिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, जिसको पृथ्वीके समस्त सर्वाधिक बुद्धिमान राप्ट्रोने पैदा किया है और लगभग नब्बे पीढियोसे संचित किया है। यह बडी सुविधासे कहा जा सकता है कि उस भापामें जो साहित्य आज उपलब्ध है, वह उस समूचे साहित्यसे कही बढकर है जो तीन सौ साल पहले सारे ससारकी भापाओ में प्राप्त था। यही सब-कुछ नही है। भारतमें अग्रेज़ी शासक वर्ग द्वारा बोली जाती है। यह सरकारी जगहोपर उच्च वर्गके देशी लोगो द्वारा भी बोली जाती है। यह सम्भवत पूर्वके सभी समुद्रोकी व्यापारिक भापा बननेवाली है। यह योरपकी दो महान जातियोकी भापा है, जो विकासके पथपर है—एक दक्षिण अफ्रीकामें है और दूसरी आस्ट्रे-लियामें, ये वे जातियाँ है, जो प्रत्येक वर्प महत्वपूर्ण होती जा रही है और जो हमारे भारतीय साम्राज्यसे सम्बद्ध है। चाहे हम अपने साहित्यकी अन्तर्निहित गरिमाको देखें और चाहे इस देशकी विशिप्ट परिस्थितियोको हमें सबसे अधिक उचित यह लगेगा कि सभी विदेशी भापाओमें अग्रेज़ी ही हमारी देशी प्रजाके लिए सर्वोत्तम रहेगी। प्रश्न हमारे सम्मुख यह है कि जब उपयुक्त समय होगा तब हम यह भापा पढायेंगे और तब हम स्थानीय भापयें भी पढायेंगे जिनमें, सभी जानते है, किसी विपयकी पुस्तकें नही है जिनकी हमारी पुस्तको से समता की जा सके। क्या जब हम योरपीय विज्ञानको पढायेंगे, हम उन प्रणालियो को भी पढायें, जो योरपसे भिन्न होनेपर और भी अधिक निम्न है, और क्या जब हम गभीर दर्शन तथा वास्तविक इतिहासका सरक्षण करेंगे, तब जनताके धनसे उन चिकित्सा-सबधी सिद्धान्तोका भी सामना करेंगे, ज्योतिप जो किसी अग्रेज़ी बोर्डिंग स्कूलकी लडकियो में हँसी पैदा करदे, इतिहास जिसमें तीस-तीस फीट ऊँचे राजा है तथा जो तीस हज़ार वर्पो तक शासन करते है तथा भूगोल जो खाड और मक्खनके समुद्रोसे निर्मित है।'

ऊपरके वाक्योंसे यह स्पप्ट हो जायगा कि मैकाले भारतीयोंके ज्ञान और बौद्धिक स्तरका कितना बडा निन्दक और आलोचक था। उसकी वास्तविक योजनाका पता

उसके इन शब्दोंसे लगता है कि "हमें भारतमें इस तरहकी एक श्रेणी पैदा कर देनेका भरसक प्रयत्न करना चाहिए जोकि हमारे और उन करोड़ो भारतवासियोंके बीच, जिनपर हम शासन करते है, समझाने-बुझानेका काम करे। ये लोग ऐसे होने चाहिए जो कि केवल रक्त और रंगकी दृष्टिसे हिन्दुस्तानी हों, किन्तु जो अपनी रुचि, भाषा, भावो और विचारोकी दृष्टिसे अँगरेज़ हो।" वह अपनी योजनामें अन्ततः सफल हुआ और सरकारी तौरपर अंग्रेज़ी की शिक्षा देश-भरमें दी जाने लगी। पाठ्यक्रम तथा पुस्तकें सभी पश्चिम की थी। शिक्षाके क्षेत्रमें यह परिवर्तन असाधारण महत्वका था। अंग्रेज़ी भाषाके माध्यम से पाश्चात्य साहित्य और विज्ञानके अध्ययनका जो क्रम इस समय प्रारम्भ हुआ, उसका आज तक कोई अन्त नहीं है, अतः इसके बादके इतिहासका अध्ययन आवश्यक है। इस समय देशके विभिन्न भागोमें अनेक विश्वविद्यालय खुले, जिनका संगठन पूर्णतः योरोपीय-मुख्यत लन्दन, ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालयोंके आधारपर हुआ।

उक्त शिक्षाप्रणालीसे भारतीय समाजपर अच्छे और बुरे जो भी प्रभाव पड़े उनपर अधिक विवाद नहीं है। वे प्रभाव तो स्वाभाविक ही हैं। किन्तु इन प्रभावोंके पीछे कौन-सा सामाजिक मनोविज्ञान काम करता है यह अवश्य रोचक विषय है। हम यह देख चुके है कि अँग्रेज़ोके भारत आगमनके समय भारतीयोंकी क्या सामाजिक दशा थी। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य विचारधारा के प्रभावमें पहले से ही लोग आने लगे थे। यह प्रभाव समय-समयपर नये-नये रूपोमे परिलक्षित हुआ। हम साधारण-तया कह सकते है कि हमारा आजका समाज बहुत कुछ पाश्चात्य ढाँचेमें ढल गया है। पाश्चात्य विचार भी न केवल शहरोमें बल्कि दूर देहातोमें किसी न किसी रूपसे पहुँच चुके है। बहुतोके बारेमें तो हम यह भी नहीं सोच पाते कि वे विदेशी है। वस्तुत. वे विदेशी है भी नहीं क्योकि आजका मनुष्य देश, जाति और धर्मकी दीवारोसे उतना अलग-अलग नहीं घिरा है जितना पहले था। अत. पश्चिममें किये गए अनुसन्धान सारे संसारके हैं। भारतकी किसी वैज्ञानिक प्रयोगशालामें पता लगाया हुआ सत्य सारे ससारमें व्याप्त है।

हमने पश्चिमके साथ मिल-जुलकर रहना, उनकी बातको भी सुनना, समझना और अच्छी समझकर स्वीकार करना एक दिनमे नहीं सीखा। अंग्रेज़ोके सम्पर्कके पूर्व हम अपने ज्ञानको भूल चुके थे। अंग्रेजी शिक्षा और योरपीय विचारधाराकी समता करने के लिए हमारे पास न तर्क था, न बुद्धि थी और न उत्साह था। अत. उन विचारोको जो हमारे विश्वासोकी जड़ हिलायें दे रहे थे हमने बिना सोचे-समझे अपने विचारोसे ऊँचे और शक्तिशाली मान लिया। यह भारतीय समाजकी पराजयकी भावना थी। श्री हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्यायने कहा भी है कि अंग्रेजीकी शिक्षाका कुपरिणाम यह निकला कि भारतीयोमें हीनताकी भावना घर कर गई। 'उन्होंने अपनी कला, अपने साहित्य और अपने इतिहासमें विश्वास खो दिया। वे स्वयमेव यह विश्वास करने लगे कि उनके देशकी किसी भी अच्छी चीज़ का मूल योरपीय है। उनके नाटक-दर्शन और उनकी कलाएं किसी न किसी रूपमें यूनानी साहित्यकी ऋणी है। क्लाइव और वेलेज़ली इतिहासके देवता हैं।. भारतीय बड़ी कुशलतासे 'लूसी ग्रे' और 'दि ले ऑफ दि लास्ट मिंस्ट्रेल' के उद्धरण दे सकता था पर उसने भवभूति और कालिदासका नाम तक न सुना...[१०]

१०. टाइम्स ऑफ इण्डिया, दीवाली सप्लीमेण्ट, १९३८.

परन्तु यह पाश्चात्य प्रभावकी पहली स्थिति थी। एक वार झुक जानेपर पश्चिमकी बौद्धिकता जिस वेगसे भारत आई उसका सामना करना सम्भव न था। हमको लगा जैसे हम कुछ नही हैं। इस धारामें वहनेवालोमें वगाली मुख्य थे जहाँ कहा जा चुका है कि अग्रेज़ी शिक्षा सवसे अधिक थी। वडे और सम्पन्न परिवारके लोग पहले इस प्रभाव में आये। धीरे-धीरे मिशनरियोके भाग्य भी खुले। पाश्चात्य समाजको समझना अव अधिक कठिन न था। उनकी सामाजिक समानता और भारतीय समाजकी असमानता दोनो का साथ-साथ चलना सम्भव न था। भारतीयोने पाश्चात्य धर्म और रहन-सहनको अपनाना शुरू किया।

भारतीय समाजपर पाश्चात्य विचारधाराके प्रभावकी दूसरी लहर भी वडी स्वाभाविक थी। लेकिन वह पाश्चात्य और भारतीय जीवनमें समझौता करानेके प्रयास में थी। राजा राममोहन राय इस आदोलनके नेता थे। वह अट्ठारहवी शताव्दीके तृतीय चरणमें एक ब्राह्मण परिवारमें उत्पन्न हुए थे और भारतीय समाजकी दुरवस्थासे अत्यन्त क्षुब्ध थे। उन्होने पाश्चात्य भाषाओका अध्ययन किया। परन्तु स्वय अपनी जाति और धर्ममें वने रहकर भारतीय समाजका सुधार करना चाहा। उनका ब्रह्म समाज एक ऐसा ही सगठन था जो देशके शिक्षित नवयुवकोको एक ओर तो पश्चिमके ज्ञानसे परिचित करानेके पक्षमें था और दूसरी ओर उनको अपने धर्म और साहित्यमें भी रुचि लेनेके लिए उत्साहित करता था।

परन्तु प्राच्य विद्याओके अध्ययनका जो प्रारम्भ सर विलियम जोसके समयमे हुआ था वह वेकार न था। उससे भारतके अतीतका ज्ञान प्रारम्भ हुआ और फलत समाजमें प्रतिक्रियाकी एक तीसरी लहर दौडी। यह प्रतिक्रिया यद्यपि सतुलित मस्तिष्ककी उपज न थी परन्तु परम स्वाभाविक थी जिसने १९ वी शताव्दीके उत्तरार्धको छा लिया। इस लहरमें पडकर लोग प्रथम पाश्चात्य प्रभावकी विपरीत दिशामे चलने लगे। देशी और विदेशी विद्वानोने मिलकर सस्कृत साहित्यकी अमूल्य निधिका पता लगाना शुरू किया जिसने भारतीयोको पुन आत्म-स्फुरित किया। 'हम, वडे है,' 'भारत सदासे ससारका सिरमौर रहा है।' 'भारत ससारका गुरु है' इत्यादि विचारोने पाश्चात्य दर्शन और विज्ञानके विरुद्ध विद्रोह किया। इस समय भारतीय राष्ट्रीय काग्रेसका भी जन्म हुआ जिसका इतिहास ही आगे चलकर भारतका इतिहास वन गया। १९ वी शताव्दीका उत्तरार्द्ध ऐसे ही आदोलनोसे भरा है। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने आर्य समाजकी स्थापना की जिसके प्रचारके लिए उन्होने अग्रेज़ीके विरुद्ध हिन्दीको चुना। भारतमें पुन वैदिक सस्कृतिको फैलाना स्वामीजीका उद्देश्य था। वेद मानवीय ज्ञानके अमित स्रोत है। जो-कुछ उनमें नही है वह ससारमें कही नही है। इस प्रकारके आदोलनोने एक वार फिर भारतीयोको पाश्चात्य जगत्के प्रति उदासीन वना दिया। इसी शताव्दी में श्रीरामकृष्ण परमहसने अपने उदार धार्मिक विचारोका प्रचार प्रारम्भ किया। परन्तु उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्दके समान भारतीय सस्कृतिको ही विश्वकी सर्वोत्कृष्ट सस्कृति मानते थे। उनके विचारमे पाश्चात्य जगत् पतित और पूर्णतया भौतिकवादी है। यह विचारधारा उसी प्रतिक्रियाके रूपमें उत्पन्न हुई थी जिसका अभी उल्लेख किया गया है।

१९ वी शताब्दीमें भारतमें राष्ट्रीयताकी एक लहर दौड़ गई थी। और तज्जन्य प्रभावको संवर्वन तथा उसको स्थायित्व देनेके लिए एक महासभाका भी जन्म हुआ। इस संगठनमें पाश्चात्य विद्याओमें पारंगत भारतीय विद्वान ही पहले पहल सम्मिलित हुए, जो अपने राष्ट्रका निर्माण और समाजका सुधार करना चाहते थे। उनमें प्राय. अपनी उच्चताका न तो मिथ्या दम्भ था, न पश्चिमके प्रति घृणा थी और न पश्चिमके अन्वानुकरणकी मनोवृत्ति। वैसे इस प्रकारकी उदार विचारवारा राजाराम मोहनराय के समयमें उत्पन्न हुई थी। रामकृष्ण परमहस भी धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रोमें उदार विचारोंवाले थे। ब्रह्म समाजके ही समान बम्बईमें प्रार्थना समाजका जन्म हुआ जिसके प्रशंसकोमें रामकृष्ण भण्डारकर, महादेव गोविन्द रानाडे और गोपाल कृष्ण गोखले प्रभृत्ति लोग थे जिन्होने आगे चलकर भारत सेवक संघ वनाया।

इस प्रकार १९ वीं शताब्दीके भारतीय समाजमें हम दो प्रकारके वर्ग पाते है। पहला जो उग्र स्वभावका था जो पाश्चात्य शिक्षा, धर्म, दर्शन और सस्कृतिको हीन मानता था और दूसरा जो भारतीय समाजको न तो अकारण ऊँचा और न पाश्चात्य समाजको नीचा मानता था वल्कि वुद्धिके द्वारा पूर्व और पश्चिमकी विचारधाराओका अध्ययन करता हुआ अपने सामाजिक उत्थानका मार्ग प्रशस्त करना चाहता था। पहला वर्ग उन लोगोका था जो किसी समय अपने में लघुताकी मनोवृत्ति अपना चुके थे और अव उसकी प्रतिक्रियाके कारण ठीक उल्टी दिशामें चलने लगे थे। दूसरा वर्ग उन लोगोका था जो पाश्चात्य सम्पर्कसे विचलित नही हुए थे तथा जहाँ जो उचित विचार था उसको उन्होने अपना लिया था। इस दूसरे वर्गने अपने रहन सहन, राजनीतिक तथा सामाजिक दर्शनकी अनेक कमियोको ईमानदारीके साथ स्वीकार किया और इसलिए उसने पश्चिमके ज्ञानसे लाभ उठाना चाहा। परन्तु कुछ भी हो एक वात दोनो वर्गोमें मार्केकी है। वह यह कि दोनो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे भारतीय समाजकी अनेक कमियो और कुरीतियोको समझ गये थे। इसीलिए पहले वर्गने भी चाहे वह पश्चिमके प्रति उग्र विचारोवाला ही क्यो न हो उन सामाजिक दोषोको दूर करना चाहा, जिनके कारण पाश्चात्य धर्म और विचारोका भारतमें क्षिप्रतासे प्रचार हो रहा था।

भारतीय समाजपर पाश्चात्य विचारवाराका जो प्रभाव पड़ा उसकी चौथी तथा अन्तिम स्थिति भारतीय और पाश्चात्य सस्कृतियोका समीकरण है। और इसी समीकरणका परिणाम आजका भारतीय समाज है। परिवर्तनकी इस दशाका प्रारम्भ, हम देख चुके हैं, १९ वी शताब्दीमें ही हुआ परन्तु उसके प्रत्यक्ष परिणाम २० वी शताब्दीके दूसरे चरणसे परिलक्षित हुए। महात्मा गावी इस युगके सर्वाधिक प्रभावशाली पुरुष हुए जिन्होने अपने ऊपर पाश्चात्य विचार धाराके ऋणको स्पष्टत· स्वीकार किया।

ऊपर हमने पाश्चात्य प्रभावकी विभिन्न दशाओको देखनेका प्रयत्न किया है जिनसे चलकर आजका हमारा समाज वना है।

आजका भारतीय समाज पाश्चात्य विचारवारा और संस्कृतिमें ही ढला है। समाजके जिस वडे वर्गमें अभी शिक्षाका प्रसार नही हुआ है वहाँ भी अंग्रेजी शिक्षाका और समयके प्रभावसे आश्चर्यजनक सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं। इसमें कोई शक नही है कि समाजके एक वडे भागकी आत्मा अब भी भारतीय है परन्तु पाश्चात्य चिन्तानें हमारे

रहन-सहन और जीवनकी मान्यताओंको वदल दिया है। हम यहाँ भारतीय प्रभावोंको अलगसे भी देख सकते हैं।

यह कहना शायद अनुचित न होगा कि भारतमें राष्ट्रीयताकी विचारधारा पश्चिमकी ही देन है जो अंग्रेजी शिक्षाके द्वारा यहाँ आई। निस्सदेह राष्ट्रीयता शब्दसे हम प्राचीन कालमें अपरिचित न थे। इसके स्तवनमें अनेक सुन्दर वैदिक मन्त्रोंकी रचना भी हुई थी तथापि वर्तमान युगमें भारतीय राष्ट्रीयताका उदय अंग्रेजी शासन और शिक्षाके कारण हुआ। हम इस युगमें वेदोंसे राष्ट्रीयताका भाव कम ले सके किन्तु जान स्टुअर्ट मिलके विचारोंने शिक्षित भारतीयोंको अधिक प्रभावित किया। इन विचारोंके ही प्रभावसे भारतमें स्वाधीनता प्राप्तिका आन्दोलन शुरू हुआ। अंग्रेजी शिक्षाके कारण वर्क, मैकाले, पेन और मैज़िनी, गैरीवाल्डी भारतीय विद्यार्थियोंके निकट आ गये जिनके विचारोंका प्रभाव उनपर पडना स्वाभाविक था। आगे चलकर इगलैण्ड और योरपके राजनीतिक दर्शकोंने भारतके राष्ट्रीय आदोलनमें विचारोंका आधार प्रदान किया। इस प्रभावको आदोलन के पहले उभार में अनेक भारतीयोंने साभार स्वीकार भी किया। दादाभाई नौरोजीने १८६७ ई० में ईस्ट इण्डिया एसोसियेशनके सम्मुख कहा—'देशी लोग अब इसको जानने और इसका अनुभव करने लगे हैं कि मनुष्य-मनुष्यके वीच न्याय किसको कहते हैं। विश्वविद्यालय और शिक्षा सस्थामें इस वातके प्रमाण हैं कि लोगोंका कितना वुद्धि प्रकाश हो रहा है। लोग सर्वोच्च राजनीतिक दशा, जो किसी भी राष्ट्रकी आकाक्षा हो सकती है, का पाठ सीख रहे हैं।' इसी प्रकार गोखलेने कहा—'शान्तिका फल विधि और व्यवस्थाका सस्थापन, पाश्चात्य शिक्षा और भाषण स्वतन्त्रता और फलत उदार सस्थाओंका समुचित सम्मान' अंग्रेजी शासनके लाभ हैं। १९ वी शताब्दीके योरपमें राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्रवादी विचार विकसित हो रहे थे और वही भारत भी आये। २० वी शताब्दीमें रस्किन और टॉल्सटॉय आदिने भारतीयोंको प्रभावित किया। भारतीयोंकी राजनीतिक चेतना पश्चिमके दर्शनका प्रत्यक्ष फल है।

अंग्रेजी शिक्षाने हमारे वैधानिक विचारोंपर भी प्रभाव डाला। देशमें जो नयी न्याय प्रणाली स्थापित की गई, उसका आधार पूर्णत पाश्चात्य था। पश्चिमी न्यायदर्शन के सहारे आजके कानून वने। वैयक्तिक कानूनोंपर भी प्रभाव पडा। प्रारम्भमें तो स्मृतियोंमें लिखित कानूनोंका सुधार धीरे-धीरे हुआ परन्तु वादमें हिन्दू और मुसलमान कानून वहुत कुछ वदल गये। कानूनी सशोधन असाधारण महत्वके थे। विवाह, सम्पत्ति और उसका वँटवारा इत्यादिकी नीव विल्कुल नये सिरे से पडी। हिन्दू कोड ऐक्ट जिसके भावी प्रभावसे प्राय सभी परिचित है, इसका उदाहरण है।

पश्चिमके सम्पर्कसे भारतीयोंकी चिन्तन प्रणाली वदली। स्वतन्त्रता, समानता, नागरिक अधिकार, राज्य व्यवस्था और राजनीतिक दर्शन इत्यादि के विषयमें भारतीय व्यक्ति ससारके अन्य व्यक्तियोंके समान सोचने लगा जिसका फल यह निकला कि भारतीय राष्ट्र संसारके अन्य राष्ट्रोंके निकट आया। भारतीयोंका वौद्धिक पुनर्जागरण पाश्चात्य चिन्तनका सवसे महत्वपूर्ण फल है। इस युगके महानतम व्यक्ति गाधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर और नेहरू इसी जागरणके प्रतिनिधि हैं।

यहाँ यह भी कहना अत्युक्ति न होगी कि भारतीयोंका पाश्चात्य जगत्से सम्वन्ध न जुडता, तो सम्भवत आज भारतमें विज्ञान शब्दसे ही हम परिचित न होते। भारत सदा पश्चिमका इसलिए ऋणी रहेगा कि वर्तमान युगमें पश्चिमने उसको विज्ञानकी शिक्षा दी। एक वार उस सत्यको जानकर भारतीय इस क्षेत्रमें चुप न वैठे।जगदीश चन्द्रवोस, पी० सी० राय, सी० वी० रमन और आजकल के अनेक भारतीय वैज्ञानिको की गवेपणाओने संसारके ज्ञानका संवर्धन किया है। मशीनोसे पहले हम अपरिचित थे और इसलिये डरते थे किन्तु वैज्ञानिक शिक्षाने मशीनोके प्रति हमारे विचारोंको वदल दिया। आज भारतीय समाज वड़ी तेज़ीके साथ अपनी पुरानी कृषक सस्कृतिका त्याग करता हुआ पाश्चात्य मशीनोकी संस्कृतिमें प्रविष्ट हो रहा है। इस नवप्रवेशके फल अच्छे हो या वुरे यह प्रश्न यहाँ विचारणीय नही है परन्तु इतना अवश्य है कि भारत अव योरप-जैसा दिखलाई पड़ने लगा है। रेल, तार, डाक, विजली, रेडियो, हवाईजहाज तथा अन्यान्य आविष्कारोने हमारे प्राचीन विश्वासोकी जडको जिस प्रकार हिला दिया है, उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके है।

पाश्चात्य विचारोने वस्तुतः वर्त्तमान भारतीय समाजकी काया को वदल दिया है। इनका एक प्रमुख प्रभाव धर्मके ऊपर पड़ा। पहले तो धर्म अन्ध विश्वास आदि के साथसे अलग हुआ और फिर उसका सामाजिक महत्व समाप्त हो गया। मानव-समाजको एकसूत्रमें वाँधनेके लिए आजकल धर्म विल्कुल असमर्थ है। यदि ऐसा होता, तो आजकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिकी दशा न जाने क्या होती। भारतके हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा अन्यान्य धर्मावलम्वी और उनके पारस्परिक सहयोगका आधार धर्म कभी नही हो सकता। समानता और वन्धुत्वकी भावनाने सभी धर्मोकी तात्विक एकताकी ओर लोगोको अधिक उन्मुख किया। तत्वत सभी धर्म एक है। वहुतोके लिए तो धर्म व्यक्तिगत पसन्दकी चीज़ वन गई। परन्तु ऐसे लोग समाज-विरोधी नही माने जाते। योगिराट् अरविन्दमें धर्मके दूसरे पहलूका विकास हुआ। इस युग में यदि किसी नये धर्मका जन्म हुआ तो वह मानव धर्म है, जो सार्वदेशिक और सार्वभौम है। आज संसारके किसी कोनेमें जो कुछ होता है, उसका हमारे जीवनपर सीधा प्रभाव पड़ता है। हमारा सामाजिक दर्शन समाजवाद, और साम्यवादके सिद्धातोसे अनुप्राणित हो रहा है। और यह कौन नही मानेगा कि ये सभी वाद पश्चिममें उपजे है ?

यदि पाश्चात्य विचारोका भारतीय समाजपर एक अन्य प्रभाव देखना है तो आधुनिक भारतीय साहित्यका अध्ययन करना पड़ेगा। और यदि यह सत्य है कि साहित्य समाजका दर्पण है, तो यह भी सत्य है कि हमारा शिक्षित वर्ग न केवल पाश्चात्य शिक्षा या विचारो से प्रभावित है प्रत्युत वहुत-कुछ उनके अनुकूल ढल चुका है। भारतीय साहित्यको ठीक समझना आजकल तव तक सम्भव नही है, जव तक कोई पाश्चात्य साहित्यको न जानता हो। वंगालीमें यह प्रभाव सवसे पहिले परिलक्षित हुआ और फिर उसके माध्यम से यह प्रभाव हिन्दीमें आया। पश्चिमकी नयी-नयी मनोवैज्ञानिक खोजोंको आप इस साहित्यमें पायेंगे। साहित्यके पात्रोका समझना उनके जटिल जीवनके समझनेके समान ही कठिन है। काव्यमें नये-नये प्रयोग आलोचनाके नये-नये सिद्धान्त, निवन्ध आदिका विकास पाश्चात्य साहित्यके अध्ययनका परिणाम है।

ये सब परिवर्तन तो हमारे जीवन-दर्शनमें हुए हैं। कुछ प्रभाव अपने मूर्त रूपमें देख पडते हैं। भारतीयोका रहन-सहन अब दूसरा होने लगा है। पाश्चात्य वेश-भूषा, प्रसाधन और शिष्टाचारके नियमोको हम लोगोने अपना लिया है और उनको अपनाकर हम लज्जा या ग्लानिका अनुभव नही करते। भारतीय नगरोमें स्थान-स्थानपर योरपकीसी दूकानें खुलती जा रही है। होटल, रेस्तराँ तथा अन्य ऐसे ही स्थान बिलकुल योरपीय हैं। जाति-पाँतिका इनमें भेद नही है। शिक्षा-सस्थाओमें अब कुर्सियोपर बैठकर पढ़ाई होती है और गुरुकुलकी शिक्षा प्रणाली कुछ स्थानो तक ही एक नये रूपमें सीमित है। स्त्री स्वातन्त्र्यका भाव भी इस युगमें पश्चिमी विचारोका प्रभाव है, जहाँ स्त्रियोको पुरुषोके समान ही अधिकार प्राप्त हैं। आधुनिक भारतीय नारी मध्यकालीन नारीसे बिल्कुल भिन्न है और यदि समाजका इसी प्रकारसे परिवर्तन होता गया (जो अवश्य होगा) तो रीतिकालकी किसी नायिकाका हमें अन्दाज़ तक न मिलेगा।

पाश्चात्य शिक्षा और चिन्ताका भारतीय समाजपर प्रभाव सर्वांगीण है। वह केवल शिक्षित समाज तक ही सीमित नही है, सुदूर गाँवमें जहाँ अशिक्षित, निर्धन अन्धविश्वासी और पिछडी हुई मानवताका वास है, वहाँ भी पाश्चात्य सभ्यताकी किरणें पहुँच रही हैं। क्योकि वहाँके युवक नगरोमें आकर अग्रेजी प्रणालीसे शिक्षित होते हैं। आते है वे दूसरा रूप लेकर और जाते है बदलकर। हमारी लोक-भाषाओमें भी यह पाश्चात्य प्रभाव परिलक्षित है। अग्रेज़ोके शताब्दियोके सम्पर्कमें उनमें अनेक नये शब्द भर दिए है जिनसे विचारोको व्यक्त करनेमें लोगोको सुविधा होती है।

परन्तु आवश्यक नही है कि उपर्युक्त सभी परिणाम शुभ ही हो। जहाँ एक ओर भारतीय समाज पाश्चात्य विचारोसे परिचित होकर अत्यधिक प्रगतिशील हुआ है वहाँ पाश्चात्य समाजके अनेक दोष भी उसमें आ गये। जिन अनेक मनोवैज्ञानिक, शारीरिक और आर्थिक समस्याओके कारण योरपके व्यक्तिका जीवन अशान्त और जटिल हो गया है, उनसे आजका भारतीय छूटा नही है। पश्चिमकी व्यावसायिक बुद्धि, मानवीय सुखोके साधनोका केन्द्रीकरण इत्यादि सभी भारतमें भी प्रवेश पा गये हैं। अग्रेज़ी शिक्षाका आगमन देशमें उन परिस्थितियोके बीच हुआ, जिन्होने भारतीयोकी सर्जनात्मक शक्तिका ह्रास कर दिया क्योकि शिक्षा आजीविका दिलानेका साधन बन गई। प्रारम्भमें जब पढने-लिखनेका कम मात्रामें काम था तब लोगोको पढ-लिखकर बेकार नही बैठना पडता था परन्तु शिक्षाकी प्रगति जिस वेगसे हुई, शिक्षित व्यक्तियोकी आजीविकाके लिए काम उतना न बढा। अत उक्त शिक्षाने आज देशके शिक्षित नवयुवकोमें बेकारीकी विषम स्थितिको पैदा कर दिया है। हमारी उक्त पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली में प्रारम्भसे लेकर अन्त तक विद्यार्थियोको शारीरिक श्रमसे दूर रक्खा जाता है। फलत सुशिक्षित व्यक्ति सिवा कार्यालय अथवा पाठशालाके अन्यत्र जीविको-पार्जनके लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। शिक्षामें सतुलनका अभाव ही इस आर्थिक समस्याका रहस्य है। साकृतिक दृष्टिसे उक्त शिक्षाके परिणामस्वरूप समाजमे मध्यवर्गका विकास हुआ है जो सामाजिक क्रातियोका अग्रदूत है, परन्तु पाश्चात्य शिक्षाने उत्पन्न सामाजिक अथवा आर्थिक समस्याओंसे आजका कोई व्यक्ति बच नही सकता। विभिन्न राष्ट्रोंके परस्पर निकट आ जानेके कारण नवीन समस्याएँ अवश्य उत्पन्न होनी

है। भारतीय समाज जो पिछली कुछ शताब्दियोमें दूसरोसे अलग रह रहा था उसके लिए नवीन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ बड़ी जटिल मालूम पड़ रही हैं। परन्तु वह जटिलता केवल भारतीयोके लिए नही है बल्कि समूचे ससारके लिए उतनी ही नयी है, जितनी भारतके लिए।

भारत और पश्चिमके सम्वन्ध वस्तुत अच्छे ही रहे हैं। आजके युगमें कोई जाति, समाज या राष्ट्र अकेला नही रह सकता। विश्वके अन्य राष्ट्रोंके साथ मिलकर रहना पड़ेगा। यह मिलन यदि आकस्मिक होगा तो आपसमें भ्रम और नासमझदारीके उत्पन्न होनेकी पूरी सम्भावना है। अत अच्छा यही होगा कि लोग पहलेसे ही एक-दूसरेको समझे रहे। इस दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि पश्चिमके साथ भारतीयोका सम्पर्क पारस्परिक सहयोगकी भावनाको वल देनेवाला हुआ है। पश्चिमसे अव डरनेकी कोई वात नही है। योरपीय भाषाओके ज्ञानसे और योरपीय समाजके सम्पर्कसे अव हम वहाँके लोगोको अच्छी तरह समझ गये हैं। उनकी दुर्वलताओ और गुणोसे पूर्णत. अवगत है। इसलिए इधर कुछ वर्षोसे जिस नवीन भारतीय समाज और सस्कृतिका विकास हो रहा है, वह हमारी परम्पराओके अनुकूल तथा भारतीयोंके स्वभाव और आकाक्षाओ का वहन करनेवाला है। इधर हमारे समाजका परिष्कार हो रहा है। पश्चिमकी उन सभी वातोको आत्मसात् करके जिनसे मानव समाज सुखी और सम्पन्न हो सकता है भारतीय पुन: अपने प्राचीन साहित्य, दर्शन, अपनी प्राचीन कलाओ तथा आदर्शोसे अनुप्राणित होने लगे है। इससे एक सर्वथा नवीन भारतीयका जन्म हो रहा है जो पूर्व और पश्चिमके सत्य, शिव और सुन्दरका प्रतीक है। संसार ऐसे व्यक्तिको शीघ्र ही देखने की प्रतीक्षामें है। यह सम्भवत: पश्चिमकी भारतको अन्तिम देन है।

—.o::o:—

चतुर्थ खण्ड

समाजिक समस्याएं और सुधार आन्दोलन

श्री क्षितीश कुमार विद्यालङ्कार

हिन्दू कोड बिल

समाजमें स्त्रीको उचित दर्जा दिलानेके उपायोपर विचार करनेके लिए सरकारने १९४१ में एक कमेटी बनाई जिसके अध्यक्ष थे श्री बी० एन० राव। इस राव कमेटीके सदस्य थे सर्वश्री द्वारकानाथ मित्तर, जे० आर० घरपुरे और बी० बी० जोशी। कमेटी ने उस समय विद्यमान कानूनमें कन्याओंके प्रति होनेवाले अन्याय पर विचार करके सरकारसे सिफारिशकी कि उत्तराधिकारके सम्बन्धमें सारे हिन्दू-कानूनके ही पुनर्निर्माणकी जरूरत है। सरकारने इस सुझावको स्वीकार कर लिया और फल-स्वरुप १९४२ में इस सबंधमें एक बिल भारतीय व्यवस्थापिका सभामें पेश किया गया। व्यवस्थापिका सभा की ज्वाइंट-समितिने बिलपर विचार करके सुझाव दिया कि केवल उत्तराधिकार-संबंधी कानून ही नही, किन्तु पिछली कमेटीको पुनर्जीवित कर समस्त हिन्दू कोडका मसविदा पुनः तैयार किया जाए। इसी सिफारिशका परिणाम था १९४७ का हिन्दू कोड बिल। हिन्दू कोड बिल तैयार करवानेमें भारतके तात्कालीन विधि मंत्री स्व० श्री भीमराव अम्बेडकरने बहुत प्रयत्न किया था।

इतिहास

राव कमेटीने जो हिन्दू कोड बिलका मसविदा तैयार किया उसपर १९४८ में ससदकी प्रवर समितिने विचार किया और विचारके पश्चात् उसमें काफी परिवर्तन कर दिए। इसी प्रकार समितिके सुझावो के अनुसार सरकारने निश्चित किया कि हिन्दू कोड बिल को ४ भागोमें विभक्त कर के प्रत्येक भागपर संसदमें अलग-अलग बहस की जाए। इस प्रकार हिन्दू कोड बिल निम्नलिखत चार भागो में विभक्त हो गया.

चारभाग

(१) हिन्दू विवाह विधेयक (हिन्दू मैरिज बिल, Hindu Marriage Bill १९५५);

(२) हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक (हिन्दू सक्सेशन बिल Hindu succession Bill १९५६);

(३) हिन्दू अल्पवयस्कता व सरक्षणता विधेयक (Hindu minority and Guardianship Bill बिल, १९५६); और

(४) हिन्दू दत्तक ग्रहण और निर्वाह विधेयक (Hindu adoption and mantainance Bill १९५६),

संसदमें इनमे से प्रत्येक विधेयकपर दोनो सदनोंमें वारी-वारीसे वहस हुई । हिन्दू विवाह-विधेयक १८ मई १९५५ को पास हुआ, हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक १७ जून, १९५६ को पास हुआ, हिन्दू अल्प वयस्कता व संरक्षणता विधेयक २५ अगस्त १९५६ को पास हुआ तथा हिन्दू दत्तक ग्रहण और निर्वाह विधेयक १४ दिसम्वर, १९५६ को पास हुआ । जिस-जिस दिन ये विधेयक संसदके दोनो सदनोमे पारित हो गए उसी दिन राष्ट्रपतिने उनपर हस्ताक्षर कर दिए और उसी दिनसे ये विधेयक अधिनियम वन गए और कानूनके रूपमें लागू हो गए । इस प्रकार एक-एक कर उसके स्थानपर उसके उद्देश्य पूरा करनेके लिए ये चार नए कानून आए ।

किनपर लागू होंगे

ये चारो कानून भारत भरके समस्त हिन्दुओपर —जिनमें हिन्दुत्वकी अनेक शाखाएँ जैसे वीरशैव, लिंगायत, ब्रह्मसमाज, प्राचीन समाज और आर्य समाज आदि शामिल है, तथा वौद्धो, सिखो और जैनो पर लागू होगे । दूसरे शब्दोमें मुसलमान, ईसाई, पारसी और यहूदियोको छोड़कर ये कानून भारतवासियो पर लागू होगे ।

हिन्दू विवाह अधिनियम

अधिनियम से पूर्व की अवस्था

विवाह हिन्दू समाजकी एक प्राचीन और आवश्यक प्रथा है । यह एक ऐसा सस्कार है, जो ऐसे प्रत्येक हिन्दूके लिये आवश्यक है, जो ब्रह्मचारी या सन्यासी नही है । हिन्दू विवाहमें कन्यादान और सप्तपदी की विधि आवश्यक मानी जाती है । हिन्दुओमें विधवा-विवाह प्रचलित नही है । किन्तु 'हिन्दू विधवा पुनर्विवाह ऐक्ट १८५६'के द्वारा उसे विहित माना गया । इसी प्रकार एक ही गोत्र और प्रवरके लोगोका विवाह द्विजो अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्योमें प्रचलित नही है, किन्तु 'हिन्दू विवाह अयोग्यता निवारण ऐक्ट १९४६'के द्वारा यह वाधा भी हटा दी गई । अनुलोम और प्रतिलोम विवाहोको भी 'हिन्दू विवाह वैधता ऐक्ट १९४९'के द्वारा वैध माना गया । यद्यपि हिन्दुओमें आम तौरपर एकपत्नी-विवाहका ही रिवाज है, फिर भी वहु-विवाह निपिद्ध नही था । किन्तु कुछ राज्योने कानून वनाकर वहुविवाह को निपिद्ध करार दिया । वम्वईने १९४६ में, मद्रासने १९४९ में और सौराष्ट्रने १९५० मे इस तरहके कानून वनाए । विवाह-विच्छेदकी हिन्दू धर्ममे अनुमति नही थी क्योकि विवाह पति-पत्नीकी आत्माका मिलन माना जाता था, जो तलाकके द्वारा विछिन्न नही हो सकता । अलवत्ता वम्वई, मद्रास, सौराष्ट्र और त्रावनकोर कोचीनमें कुछ अवस्थाओमें तलाककी छूट दी गई थी । शेप भारतमें स्थिति ज्योकी त्यो थी । इसके अलावा देशके सभी भागोमें वाल-विवाहका भी आम रिवाज था । यद्यपि १९२९ में 'वाल-विवाह निवारण क़ानून' द्वारा १८ सालसे कम आयुके लड़के और १५ सालसे कम आयुकी लड़कीका विवाह दण्डनीय माना गया था फिर भी कानूनन ऐसे विवाह अवैध नही माने जाते थे । १९५१ की जनगणनाके समय पता लगा कि केवल उसी एक वर्पमें ९२ लाख वाल-विवाह हुए थे ।

हिन्दू विवाह अधिनियम (१९५५) के द्वारा ही विवाहके सम्बन्धमें पहले पहल एक परिपूर्ण संहिता तैयार की गई। इस अधिनियमके द्वारा वैध विवाहो की सामान्य शर्तें तै करके समस्त हिन्दुओंके लिए विवाह सम्बन्धी नियमोको सरल करनेका प्रयत्न किया गया।

उद्देश्य

इस अधिनियम द्वारा बहु-विवाह निषिद्ध कर दिया गया और कई हालतमें अदालतकी मार्फत तलाक या विवाह-विच्छेदकी अनुमति दी गई। इस अधिनियममें सभी हिन्दुओ के लिए विवाह और तलाकके सम्बन्धमें समान प्रणाली अपनाई गई और साथ ही निषिद्ध विवाहो और तलाकसे सम्बद्ध उन रिवाजोको जो जनताके आचार और संस्कृतिका अभिन्न अंग बन गए है, ज्योका त्यो छोड दिया गया है।

कोई भी हिन्दू स्त्री और पुरुष परस्पर विवाह कर सकते है, यदि —

(१) विवाहके समय कोई और पत्नी या पति जीवित न हो। इसमे एक-विवाह की अनिवार्यता लागू होती है। यह शर्त पूरी न हो, तो विवाह अवैध माना जाएगा और पति या पत्नीके जीवित होनेपर विवाह करनेवाला व्यक्ति दण्डनीय होगा।

विवाह की शर्तें

(२) विवाहके समय दोनो व्यक्तियोमें से एक भी जड बुद्धि या पागल न हो। यह शर्त पूरी न होनेपर विवाह अवैध ठहराया जा सकता है।

(३) विवाहके समय वर १८ सालका और वधू १५ सालकी आयु पूरी कर चुकी हो। यह शर्त पूरी न होनेपर विवाह तो अवैध नही माना जाता किन्तु विवाह करनेवाला लडका या लडकी दण्डनीय होते है।

(४) विवाहार्थी स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध निषिद्ध कोटिमें न आता हो, बशर्ते कि उन दोनोके समाजमें अन्यथा रिवाज न हो। यह शर्त पूरी न होनेपर विवाह अवैध माना जाएगा और विवाह करनेवाले दण्डनीय होगे।

(५) दोनो पक्ष एक-दूसरेके सपिण्ड न हो, बशर्ते कि उनके समाजमें अन्यथा रिवाज न हो। यह शर्त पूरी न होनेपर विवाह अवैध माना जाएगा और दोनो पक्ष दण्डनीय होगे।

(६) वधूकी आयु १८ वर्षकी न होनेपर उसके संरक्षकसे विवाहकी अनुमति ले ली गई हो। इस शर्त के पूरी न होनेपर विवाह अवैध नही माना जाता, किन्तु यदि वधू की शिकायतपर यह पाया जाए कि संरक्षककी अनुमति जबर्दस्ती या छल-कपटसे की गई है, तो विवाह अवैध माना जाएगा। यह शर्त पूरी न होनेपर सम्बद्ध व्यक्ति दण्डनीय होगा।

निषिद्ध कोटिमें आनेवाले सम्बन्ध ये है —

दो व्यक्ति परस्पर विवाह नही कर सकते यदि एक दूसरेका वंशज हो (जैसे पिता, पितामह, माता, मातामह आदि), या यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके वंशजका पति या पत्नी हो (जैसे सौतेली माता, पुत्रवधू, पतोहू आदि), या यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के भाईकी या चाचाकी या मामाकी या दादाके भाईकी या नानाके भाईकी पत्नी हो, या दोनो भाई और बहन हो, चाचा-भतीजी हो, चाची भतीजे हो, या भाई और बहन के बच्चे हो।

निषिद्ध सम्बन्ध

ऊपर कहा गया है कि परस्पर सपिण्ड व्यक्ति विवाह नही कर सकते । यह सपिण्ड सम्वन्व क्या है ? इस अधिनियम के अनुसार मातासे ऊपर की तीन पीढी और पितासे ऊपरकी पाँच पीढी तक सपिण्ड सम्वन्व चलता है । उदाहरणार्थ पुरुषके सपिण्ड सम्वन्वी है उसकी लड़की, माता, वहन, लड़कीकी लडकी, माँकी वहन, मौमीकी लड़की, भानजी, और भानजेकी लड़की । और स्त्रीके सपिण्ड सम्वन्वी है उसका लड़का, पिता, पोता, चाचा, चाचाका लडका और भाईका लड़का ।

सपिण्ड

सपिण्ड और निपिद्ध सम्वन्वो में प्रचलित रिवाजका जो अपवाद रखा गया है, वह महत्वपूर्ण है । पश्चिमी और दक्षिणी भारतमें यह रिवाज है कि वहाँ पुरुप अपनी वहन की लड़की , या अपने मामाकी लडकीसे शादी कर सकता है । भाई और वहनकी सन्तान भी परस्पर शादी कर सकती है । इसी प्रकार पंजावका रिवाज है कि वहाँ पुरुप अपने भाईकी विववा स्त्री से शादी कर सकता है । जिन इलाकोमें ये रिवाज प्रचलित है, वहाँ इस प्रकारके विवाह वैध माने जाते रहेंगे ।

लड़कीकी आयु १८ वर्पसे कम होनेपर सरक्षककी अनुमतिकी जो आवश्यकता वतलाई गई है, उसमें अधिनियमके अनुसार संरक्षकताका क्रम यह रखा गया है :

संरक्षक-क्रम

सवसे पहले पिता, पिता न हो तो माता, माता न हो तो दादा, दादा न हो तो सगा भाई, सगा भाई न हो तो सौतेला भाई—वगर्ते कि लड़की उसीके पास रहती हो और वही लड़कीका पालन-पोपण करता हो, सौतेला भाई न हो तो सगा चाचा, सगा चाचा न हो तो सौतेला चाचा—वशर्तेकि वह लड़कीका पालन करता हो, वह न हो तो नाना और नाना न हो तो नानी ।

इस संवंधमें खास वात यह है कि २१ वर्पसे कम आयुका कोई भी व्यक्ति संरक्षक नही माना जा सकता ।

अधिनियमके अनुसार इस ऐक्टके अन्तर्गत किए गए विवाहो का पंजीकरण (रजिस्ट्रेशन) जरुरी नही है । इस विपयमें राज्योंको छूट दी गई है कि वे चाहें, तो पंजीकरणको अनिवार्य रखें, चाहें वैकल्पिक । किसी भी हालतमें पंजीकरण न करवानेसे इस विवाहकी वैवता पर असर नही पड़ता । किन्तु यदि किसी राज्यमें पंजीकरणको अनिवार्य करार दिया जाए, तो उस राज्यकी सरकार विवाहका रजिस्ट्रेशन न करवानेवाले व्यक्तिको २५ रु० जुर्माना कर सकती है ।

रजिस्ट्रेशन

इस अधिनियममें तलाककी व्यवस्था करके हिन्दू-कानूनमें भारी परिवर्तन किया गया है । इस अधिनियमसे पहले तलाक केवल कतिपय नीच जातियोमें या कुछ राज्योंमें ही , जिनमें इसके लिए खास कानून वने थे, प्रचलित था । परन्तु इस अधिनियममें कुछ अवस्थाओंमें सभी विवाहोंके लिए, चाहे वे इस ऐक्टके वननेके पहले सम्पन्न हुए हो या पीछे, तलाककी व्यवस्था की गई है ।

तलाक या विवाह विच्छेद

पति या पत्नी निम्न आधारोपर विवाह-विच्छेदके लिए प्रार्थना पत्र दे सकते हैं, कि दूसरा व्यक्ति—

(१) व्यभिचारी है, या

(२) उसने मत परिवर्तन कर लिया है और वह हिन्दू नही रहा; या

(३) असाध्य रूपसे पागल है और प्रार्थनापत्र देनेसे पूर्व लगातार तीन साल तक पागल रहा है, या

(४) सक्रामक और असाध्य कुष्ठ रोगसे पीडित है, या

(५) स्पर्शजन्य किसी भयकर त्वचा रोग (जैसे आतिशक या सूजाक आदि) से पीड़ित है, या

(६) ससारसे विरक्त होकर सन्यासी बन गया है, या

(७) लगातार सात वर्ष तक उसके जीवित रहने का कोई समाचार नही मिला है, या

(८) अदालत द्वारा पृथक् रहनेकी डिक्री दिए जानेके बाद दो वर्ष तक सहवास नही हुआ है; या

(९) अदालत द्वारा सहवासके अधिकारकी पुन स्थापना की डिक्री दिए जानेके बाद दो वर्ष तक उनका सहवास नही हुआ है।

यही वे आधार हैं, जिनपर पति-पत्नी एक-दूसरेको तलाक दे सकते हैं। इसके अलावा इस अधिनियमके पास होनेसे पूर्व जिस स्त्रीका विवाह हो चुका है, उसको भी उस हालतमें तलाकका अधिकार दिया गया है जब कि उसके पतिने दूसरी शादी कर ली हो, या स्वय उसके अपने विवाह-सस्कारके समय ही वह दूसरी पत्नीके रूपमें व्याहकर आई हो, भले ही उस विवाहके समय बहु-पत्नी विवाह वैध रहा हो। किन्तु इस व्यवस्था के अनुसार विवाह-विच्छेदकी प्रार्थना करनेवाली पत्नीको यह सिद्ध करना होगा कि दूसरी पत्नी अभी जीवित है। यदि पति विवाहके बाद बलात्कार या अन्य प्रकारके पाशविक एव कुत्सित व्यभिचार का दोषी पाया जाए तब भी पत्नी तलाकके लिए प्रार्थनापत्र दे सकती है।

सामान्यतया विवाह-विच्छेदके लिए प्रार्थनापत्र किसी न्यायालय द्वारा विवाहकी तिथिके तीन वर्ष बाद ही स्वीकार किया जाएगा। किन्तु यदि प्रार्थीको असामान्य कठिनाइयोका सामना करना पड रहा हो, तो न्यायालय तीन सालसे पूर्व भी प्रार्थनापत्र स्वीकार कर सकता है।

तलाकके बाद दूसरा विवाह

जब तलाककी डिक्री दिए जानेके बाद विवाह भग हो गया हो, तो दोनो व्यक्तियो में से कोई भी दूसरा विवाह करनेके लिए स्वतन्त्र है। किन्तु इसके लिए यह पाबन्दी रखी गई है, कि दूसरा विवाह करने से पहले यह देख लिया जाए कि विवाह-विच्छेदकी डिक्री के विरुद्ध अपील करनेकी अवधि भी समाप्त हो चुकी है या यदि कोई अपील की गई है, तो वह रद्द हो चुकी है, यदि अपील करनेका कोई अधिकार शेष है, तो वह रद्द हो चुका है। यदि अपील करने का कोई अधिकार शेष न रहना हो,

तो दोनो पक्ष दूसरे विवाहके लिए स्वतत्र हैं, किन्तु हर हालतमें विवाह-विच्छेद की डिक्री दिए जानेके वाद एक वर्प तक दूसरा विवाह नही किया जा सकता।

नियम भंग पर दण्ड

आयु-संवधी शर्त को तोड़नेपर १५ दिन तक की सादी कैंद या एक हज़ार रु० तक जुर्माना या दोनों दण्ड मिल सकते हैं। निपिद्ध सम्वन्धो या सपिण्डता वाली शर्तको तोडनेपर एक मास तककी सादी कैंद या एक हज़ार रु० तक जुर्माना या दोनो दण्ड मिल सकते हैं। १८ वर्पसे कम आयुकी लड़कीसे उसके संरक्षक की अनुमति लिये विना शादी करनेपर एक हज़ार रु० तक जुर्माना हो सकता है।

तलाकके लिए ऊपर वर्णित आधारोंके अलावा यदि किसी प्रदेशमें कोई और आधार भी कानूनका रूप धारण कर चुके हैं, तो उस कानूनसे शासित होनेवाले लोगोको उस आधारपर तलाक देनेका अधिकार प्राप्त रहेगा। उदाहरणार्थ यह व्यवस्था हैं कि रजिस्टर्ड दस्तावेजके द्वारा या पति और पत्नीमें से किसी एकके अदालतको दरखास्त देने पर विवाह भंग मान लिया जाएगा, चाहे इस प्रकारके तलाकके लिए कोई खास कारण न दिया गया हो। वर्तमान अधिनियम उस व्यवस्थामें वाधक नही होगा।

विशेष विवाह विधेयक

यह अधिनियम विशेप विवाह अधिनियम (Special Marriage Act 1954) के अन्तर्गत हुए विवाहो पर भी कोई असर नही डालता। किन्तु विशेप विवाह अधिनियमके सम्वन्ध में एक खास वात वता देनी यहाँ आवश्यक है। वह ऐक्ट १ जनवरी १९५५ को लागू हुआ था, उसका उद्देश्य यह था कि भारत भरके हिन्दुओके लिए विवाहकी कोई खास और एक जैसा कानून वनाया जाए। स्पेशल मैरिज ऐक्ट जम्मू और काश्मीरको छोड़कर सारे भारत पर लागू होता है और उसके अन्तर्गत कोई भी दो व्यक्ति, चाहे धार्मिक दृप्टिसे भिन्न मतावलम्वी हो, विवाह कर सकते हैं। वह ऐक्ट भारतसे वाहर रहनेवाले भारतीयोपर भी लागू होता है। कोई भी २१ सालका लड़का और कोई भी १८ सालकी लड़की उसके अन्तर्गत विवाह कर सकते हैं, वशर्ते कि उनमें से कोई पागल न हो, उनमें से किसीकी पत्नी या पति जीवित न हो और वे दोनो सगोत्रताकी दृप्टिसे निपिद्ध सम्वन्धवाले न हो।

अव वर्तमान स्थिति यह है कि कोई भी हिन्दू पुरुप या स्त्री चाहे तो उस स्पेशल मैरिज ऐक्ट (१९५४) के अन्तर्गत विवाह करले और चाहे तो वर्तमान हिन्दू मैरिज ऐक्ट (१९५५) के अन्तर्गत विवाह करले। कोई व्यक्ति हिन्दू मैरिज ऐक्टके अनुसार विवाह करके स्पेशल मैरिज ऐक्टके अन्तर्गत अपना विवाह रजिस्टर्ट भी करवा सकता है। परन्तु तव तलाक और विवाहकी अवैंवताके सम्वन्वमें उसपर उसी ऐक्टके नियम लागू होंगे, जो इस नए एक्टसे कुछ अंशोमे भिन्न है। उदाहराणार्थ, उसमें पारस्परिक सहमति से तलाककी खास व्यवस्था है जैसी इस ऐक्टमें नही है। उसमें केवल पत्नीको ही निर्वाह व्यय मिलनेकी व्यवस्था है, पतिको नही, जवकि इस ऐक्टमें पति भी निर्वाह व्यय पानेका हकदार है।

इसके अलावा स्पेशल मैरिज ऐक्टके अन्तर्गत विवाह करनेवाले या उसके अन्तर्गत अपना विवाह रजिस्टर्ड करवाने वालेका अपने परिवारसे कोई सम्वन्व नही रहेगा। इसका

अर्थ यह है कि उसके विवाहके दिन ही संयुक्त परिवारकी सम्पत्तिमें उसकी रुचि समाप्त समझी जाती है। वह या उसकी सन्तान संयुक्त परिवारकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी भी नहीं बन सकते। उनके उत्तराधिकारका फैसला भारतीय उत्तराधिकार ऐक्ट १९२५ के अनुसार होगा न कि हिन्दू उत्तराधिकार ऐक्ट १९५६ के द्वारा। अब क्योंकि वर्तमान हिन्दू विवाह अधिनियममें तलाक आदिकी व्यवस्था हो गई है इसलिए अधिक सम्भावना यह है कि ,अब कोई हिन्दू स्पेशल मैरिज ऐक्ट १९५४ के अनुसार विवाह करने को आकर्षित नहीं होगा।

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम

हिन्दू कानूनकी सबसे महत्वपूर्ण किन्तु साथ ही सबसे अधिक उलझी हुई शाखा है उत्तराधिकार। उत्तराधिकारके सम्बन्धमें दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं—एकका नाम है मिताक्षरा और दूसरीका नाम है दायभाग। दायभाग प्रणाली चलती है बंगालमें और शेष भारतमें चलती है मिताक्षरा प्रणाली। इसके साथ ही भारतके दक्षिण-पश्चिमी तट पर प्रचलित मरुमक्कतयाम्, अलिय-सन्तानम् और नम्बूद्रि प्रणालियोंको भी जोड़ा जा सकता है। मिताक्षरा कानूनके भी कई उपविभाग हैं—जैसे मिथिला स्कूल, बम्बई स्कूल, बनारस स्कूल, मद्रास स्कूल और मयूख स्कूल आदि। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उत्तराधिकार के सम्बन्धमें कानूनकी दृष्टिसे सर्वत्र समानता नहीं है।

इन सब प्रणालियोंमें से किसीमें भी कन्याको सम्पत्तिमें अधिकार नहीं दिया गया।

पूर्वावस्था

मिताक्षरा के अनुसार परिवारकी साझी सम्पत्तिमें कन्याको कोई हक नहीं मिलता और परिवारके बुजुर्ग पुरुषकी मृत्युके बाद बाकी बचे आदमी ही सारी सम्पत्तिके मालिक समझे जाते हैं। १९३७ में 'हिन्दू महिला सम्पत्ति अधिकार' कानूनके जरिए विधवाको पारिवारिक सम्पत्तिमें हिस्सा दिया गया था, किन्तु उसकी स्थिति अस्पष्ट थी। यदि किसी केसमें विधवाके रूपमें महिलाको सम्पत्तिका अधिकार भी दिया गया तो वह अधिकार केवल उसके जीवनकाल तक ही था। महिलाओंका पूरा अधिकार किसी चीजपर था, तो वह था स्त्रीधन। और किसी भी महिलाको उत्तराधिकारमें प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन नहीं मानी जा सकती थी। केवल बम्बई स्कूल ही इसका अपवाद था। किन्तु इस स्त्रीधनकी वसीयतके सम्बन्धमें भी सर्वत्र एक समान व्यवस्था नहीं थी।

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम १९५६ इसलिए बनाया गया ताकि जिस सम्पत्ति

उद्देश्य

की वसीयत नहीं की गई उसके उत्तराधिकारके सम्बन्धमें सब हिन्दुओंमें एक समान प्रणाली प्रचलित की जाए। कन्याओंको भी उत्तराधिकारमें सम्पत्ति प्राप्त करनेका हक दिया जाए और इस सम्बन्धमें पुरुष और स्त्रीका भेद हटा दिया जाए एवं धार्मिक उपयोगिता के बजाय प्रेम और स्नेहके आधारपर सम्पत्तिके वारिसोंका क्रम तैयार किया जाए।

किसी भी मृत हिन्दूकी अचल सम्पत्तिके उत्तराधिकारका निर्णय इसी अधिनियमके

अधिनियमका क्षेत्र

अनुसार होगा, चाहे मृत व्यक्ति कहीं भी रहता हो, किन्तु चल सम्पत्तिके उत्तराधिकारका निर्णय इस अधिनियमके अनुसार तभी होगा जब कि वह व्यक्ति भारतमें ही रहता हो।

इस अपवादको छोड़कर शेप सभी प्रकारकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारके सम्बन्धमें यही ऐक्ट लागू होगा।

हिन्दू पुरुपकी सम्पत्तिमें अपने आप उपार्जित सम्पत्ति भी हो सकती है और अपने वाप-दादो द्वारा उपार्जित सम्पत्ति भी। उपहार, पृथक् उपार्जित, विद्या तथा योग्यताके कारण वेतनादिके रूपमें प्राप्त होनेवाला लाभ और सयुक्त परिवारकी सम्पत्तिके वँटवारे के समय दिया गया हिस्सा पृथक् सम्पत्ति समझी जाएगी और यह सब इस अधिनियम के अनुसार उसके वारिसोके पास जाएगी।

अधिनियमके अनुसार हिन्दू पुरुपके उत्तराधिकारी दो श्रेणियोमें विभक्त किए गए हैं।

उत्तराधिकारियोकी दो श्रेणियां

हिन्दू पुरुपके मरनेपर उसकी सम्पत्तिमें हक पाने वाले जिन उत्तराधिकारियोको तरजीह या प्राथमिकता दी गई है, वे सामान्यतया ये होगे - लड़का, लड़की, विधवा पत्नी और माता—और इन सबको बराबरका हिस्सा मिलेगा। किन्तु यह सम्भव है कि लड़का या लडकी अपने वापसे पहले ही मर जायँ। इसलिए यह व्यवस्था की गई है कि यदि पुत्र अपने पितासे पहले मर जाए, तो मृत पुत्रकी विधवा (अर्थात् पुत्रवधू) और लड़के-लडकियाँ उस हिस्सेको परस्पर समान रूपसे वाँट लेंगे जो हिस्सा मृत व्यक्तिको जीवित रहनेपर मिलता। इसी प्रकार यदि लड़की अपने वापसे पहले मर जाए, तो उसके लड़के-लड़कियाँ उस हिस्सेको परस्पर समान रूपसे वाँट लेंगे जो उस लड़कीको जीवित रहनेपर मिलता। इसी प्रकार यदि पुत्र और पौत्र दोनो पहले मर गए हो, तो पोतेकी विधवा पत्नी और पूर्व मृत पोतेके लड़के-लडकियाँ उस हिस्से को परस्पर बराबर-बरावर वाँट लेंगे, जो पूर्वमृत पोतेके हिस्सेमे पड़नेवाला था।

इस अधिनियमके बननेसे पूर्व कानूनके अनुसार केवल निम्न उत्तराधिकारी बन सकते थे: (१) पुत्र, (२) पोता, (३) पड़पोता, (४) मृत व्यक्ति की विधवा पत्नी, (५) पूर्वमृत पुत्रकी विधवा पत्नी (पुत्रवधू), और (६) पूर्वमृत पौत्रकी विधवा पत्नी (पौत्रवधू)। अब इस अधिनियमके द्वारा इस सूचीमें निम्न वृद्धि की गई है: (१) माता, (२) पुत्री, (३) पूर्वमृत पुत्रीकी पुत्री, (४) पूर्वमृत पुत्रीका लडका, (५) पूर्वमृत पुत्रकी लडकी, और (६) पूर्वमृत पौत्रकी लड़की।

यह बात स्मरण रखनेकी है कि पौत्र और प्रपौत्र प्रतिनिधित्वके अधिकारी तभी होते है जब उनके माता-पिता जीवित न हो। ये १२ के १२ व्यक्ति एक साथ उत्तराधिकारी बनें, यह बात केवल किसी विरले केसमें ही सम्भव है।

उक्त प्रथम श्रेणीके उत्तराधिकारियोंके न होनेपर दूसरी श्रेणीके उत्तराधिकारियों की वारी आती है। इस दूसरी श्रेणीके उत्तराधिकारियोका क्रम इस प्रकार है: (१)

दूसरी श्रेणी

पिता, (२) लड़केकी लड़की का लड़का, भाई, वहन (३) लडकीके लड़केका पुत्र, लडकीके लडकेकी पुत्री, लड़कीकी पुत्रीका पुत्र, लड़कीकी पुत्रीकी पुत्री, (४) भाईका पुत्र, वहनका पुत्र, भाईकी पुत्री, वहनकी वेटी, (५) पिताका पिता, पिताकी माता, (६) पिताकी विधवा पत्नी, भाईकी विधवा पत्नी, (७) चाचा या ताऊ, बूआ या पिताकी वहन, (८) नाना, नानी (९) मामा, मौसी।

स्त्रीकी सम्पत्तिके सम्बन्धमें इस अधिनियमने सबसे अधिक दूरगामी परिवर्तन किया है। हिन्दू महिलाके अधिकारमें जो भी सम्पत्ति हो, वह चाहे उसे उत्तराधिकारमें मिली हो, चाहे बँटवारेके समय प्राप्त हुई हो, चाहे उपहार या दान-दहेजके रूपमें प्राप्त हुई हो, या उसने स्वय खरीदी हो, या अन्य किसी भी प्रकारसे प्राप्त हुई हो, उस सम्पत्तिको वही रखेगी। उस सम्पत्तिको दानमें देने, बेचने या आगे उत्तराधिकारमें देनेका उसका और केवल उसीका अधिकार रहेगा। इस प्रकार स्त्रीकी सम्पत्तिपर स्त्रीका परिपूर्ण (Absolute) अधिकार स्वीकार करनेके बाद अधिनियममें स्त्रीकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारियोंकी सूची दी गई है, जो पुरुषकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारियो की सूची से भिन्न है।

स्त्रीकी सम्पत्ति

हिन्दू स्त्रीकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी निम्न हो सकते है (१) लडके और लडकियाँ और पति—ये सब बराबर के हिस्सेदार होंगे। यदि कोई लडका या लडकी अपने माता-पितासे पहले मर गया हो, तो पूर्व-मृत माता-पिताका हिस्सा पोते-पोतियोंमे बराबर-बराबर बँट जाएगा, (२) पतिके उत्तराधिकारी, (३) माता या पिता, (४) पिताके उत्तराधिकारी, (५) माताके उत्तराधिकारी।

स्त्रीकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी

हिन्दू-स्त्रीको मिली सम्पत्ति उन परिवारोमें न जाने पाए जिन परिवारोमे सम्पत्ति का जाना न्याय और युक्तिकी दृष्टिसे उचित न हो, इसके लिए कुछ खास नियम बनाए गए है ताकि वह सम्पत्ति वापिस मूल परिवारमें ही आ सके। यदि किसी हिन्दू स्त्रीको अपने पिता या मातासे सम्पत्ति उत्तराधिकारमें मिली हो और वह अपने पीछे कोई लडका-लडकी या पोता-पोती बिना छोडे मर जाए, तो भले ही उसका पति पीछे जीवित हो, किन्तु स्त्रीकी सम्पत्ति पतिको न मिलकर वापिस पितृकुलमें लौट जाएगी। इसी प्रकार यदि किसी हिन्दू स्त्रीको अपने पति या श्वसुरसे सम्पत्ति उत्तराधिकारमें मिली हो, और वह स्त्री अपने पीछे कोई लडका-लडकी या पोता-पोती छोडे बिना मर जाए, तो सम्पत्ति पति-कुलमें ही जाएगी, पितृकुलमें नही। ये विशेष नियम चल और अचल दोनो प्रकारकी सम्पत्तियोंके बारेमें लागू होते है।

सामान्य नियम उत्तराधिकारके सम्बन्धमे सामान्य नियम ये है

(१) उत्तराधिकारियोंमें सगे सम्बन्धियो को गैर-सगे सम्बन्धियोंकी अपेक्षा प्राथमिकता दी जाएगी—चाहे अन्य सब दृष्टियोंसे उनका एक ही रिश्ता क्यो न हो। दो व्यक्ति तब सगे सम्बन्धी कहे जाते है जब वे उसी पत्नीसे समान पूर्वजोके वशज हो, और गैर-सगे तब कहलाते है जब उनके पूर्वज समान हो किन्तु वे भिन्न पत्नियोंकी औलाद हो। (२) बिना वसीयत किए व्यक्तिकी मृत्युके समय माँके गर्भस्थ शिशुको भी उत्तराधिकार की दृष्टिसे वही अधिकार प्राप्त होगा, जो उसे मृत व्यक्तिकी मृत्युसे पूर्व जन्म लेनेपर होता।

उत्तराधिकारके अयोग्य

अधिनियममें उत्तराधिकारियोंकी उन अनर्हताओंका भी उल्लेख है, जिनके कारण वारिस बननेका उन्हें अधिकार नही रहता। वे अनर्हताएँ ये हैं

(१) पुत्रकी विधवा पत्नी, पोतेकी विधवा पत्नी और भाईकी विधवा पत्नी उत्तराधिकारके योग्य नही रहते यदि उत्तराधिकारकी घोषणाके समय उन्होने पुनर्विवाह कर लिया हो। (२) हत्या करनेवाला व्यक्ति उस व्यक्ति का उत्तराधिकारी नही बन सकता जिसकी उसने हत्या की है। (३) जो व्यक्ति हिन्दू नही रहा उसके बच्चे उत्तराधिकारके योग्य नही रहते यदि उत्तराधिकारकी घोषणाके समय वे हिन्दू न हो।

मकान और व्यवसाय

कोई हिन्दू स्त्री परिवारके रहनेके पुश्तैनी मकानमे परिवारके अन्य सदस्योके साथ यावज्जीवन रह सकती है, किन्तु उस मकानके बँटवारेकी तब तक माँग नहीं कर सकती जब तक कि पुरुष उत्तराधिकारी स्वयं उस जायदादका बँटवारा न करना चाहे और इसमेंसे अपना हिस्सा न ले ले। जब किसी अचल सम्पत्ति या व्यवसाय का उत्तराधिकार किन्ही दो व्यक्तियोको मिलता है और उनमें से कोई एक व्यक्ति जायदाद या व्यवसायका अपना हिस्सा किसी बाहरी व्यक्ति को हस्तान्तरित करना चाहे, तो दूसरे व्यक्तिको यह अधिकार होगा कि वह उस हिस्से को खरीद ले। यह व्यवस्था इसलिए की गई है ताकि संयुक्त परिवारका पुश्तैनी मकान, जायदाद या व्यवसाय ज्योके त्यो रह सके।

हिन्दू अल्पवयस्कता और संरक्षता अधिनियम

हिन्दू समाजमें सुधारकी दृष्टिसे बनाया गया यह तीसरा अधिनियम है। इस अधिनियम द्वारा अल्पवयस्कता और सरक्षता सम्बन्धी हिन्दू कानूनमें सशोधन किया गया है। इस विषयमे यह अधिनियम पूरा नही है। यह एक तरहसे '१८९० के गार्जियन्स एण्ड वार्ड्स ऐक्ट' का पूरक है। इस अधिनियमको पूरी तरह समझनेके लिए १८९० के अधिनियमका पूरा पारायण आवश्यक है।

पूर्वावस्था व उद्देश्य

इस अधिनियमके बननेसे पूर्व अवस्था यह थी कि किसी हिन्दू नाबालिगके स्वाभाविक सरक्षक को यह अधिकार था कि वह नाबालिग की संपत्ति को गिरवी रख सकता था, बेच सकता था, या मनचाहा उपयोग कर सकता था। परन्तु अब इस अधिनियम द्वारा स्वाभाविक संरक्षकके अधिकारोंको सीमित कर दिया गया है।

परिभाषा

अल्पवयस्कका अर्थ है ऐसा व्यक्ति जिसकी आयु पूरे १८ वर्षकी न हो। और सरक्षकका अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो अल्पवयस्क व्यक्तिकी, उसकी सम्पत्तिकी, या दोनोकी, देखभाल करता हो।

सरक्षक चार तरहके हो सकते है : (१) स्वाभाविक संरक्षक, (२) अल्पवयस्क के पिता या माता द्वारा वसीयतनामेमें नियुक्त सरक्षक, (३) अदालत द्वारा नियुक्त संरक्षक, और (४) कोर्ट आफ वार्डस् द्वारा नियुक्त संरक्षक।

स्वाभाविक संरक्षक

नाबालिग लड़के और अविवाहित लड़कीका स्वाभाविक सरक्षक पिता होता है पिताके बाद माता स्वाभाविक संरक्षक होती है, किन्तु लड़के की आयु ५ वर्षकी होने तक ही माता संरक्षक मानी जाएगी। अवैध लडके या अवैध अविवाहित लड़कीके लिए स्वाभाविक संरक्षक उनकी माता मानी जाएगी और माताके बाद पिता।

विवाह हो जानेपर विवाहित लडकीका स्वाभाविक सरक्षक उसका पति माना जाएगा।

अधिनियमके अनुमार और किमीको भी स्वाभाविक सरक्षक स्वीकार नही किया गया। किन्तु ऊपर वर्णित स्वाभाविक मरक्षक भी स्वाभाविक सरक्षक नही रह सकते यदि वे हिन्दू न रहें, या वानप्रस्थी या सन्यासी वन जाएँ। सौतेला पिता या सौतेली माता स्वाभाविक सरक्षक नही वन सकते।

स्वाभाविक संरक्षक के अधिकार

इस अधिनियमके अनुसार स्वाभाविक सरक्षक अल्पवयस्कके लाभके या उसकी सम्पत्तिकी सुरक्षाके लिए जो कदम आवश्यक समझे, वह उठा सकता है, किन्तु अदालतकी पूर्व-अनुमति लिये विना अल्पवयस्ककी अचल सम्पत्तिके किसी भी हिस्सेको वह न गिर्वी रख सकता है, न वेच सकता है, न हस्तान्तरित कर सकता है, न दान या उपहारमें दे सकता है। ५ वर्ष से अधिक समयके लिए या अल्पवयस्क व्यक्तिके वयस्कता-प्राप्तिके वाद एक वर्षसे अधिक समय तकके लिए वह अचल सम्पत्तिके किसी भी भागको पट्टेपर भी नही दे सकता। अदालत भी इस प्रकार के किमी कदमकी तव तक अनुमति नही देगी जव तक उसे यह तसल्ली न हो जाए कि वह कदम अल्पवयस्क व्यक्तिके हितमे है।

वसीयतनामे द्वारा नियुक्त संरक्षक

हिन्दू पिता अपनी अल्पवयस्क वैध सन्तानके लिए वसीयतनामे द्वारा सरक्षक नियुक्त कर सकता है। किन्तु पिता यदि मातासे पहले मर जाए, तो यह नियुक्ति कार्यान्वित नही होगी। अलवत्ता यदि माता अपने वसीयतनामे द्वारा किसी व्यक्तिको सरक्षक नियुक्त किए विना मर जाय तो पिता द्वारा नियुक्त सरक्षक ही अल्प-वयस्क सन्तानका रक्षक रहेगा। कोई हिन्दू विधवा या हिन्दू माता भी अपनी अल्पवयस्क सन्तानकी रक्षाके लिए वमीयतनामे द्वारा सरक्षक नियुक्त कर सकती है।

इस प्रकार नियुक्त सरक्षकको अल्पवयस्क के पिता और माताकी मृत्यु के वाद स्वा-भाविक सरक्षकके सव अधिकार प्राप्त हो जाएँगे। किन्तु यदि वह अल्पवयस्क लडकी हो, तो उसके विवाहके वाद सरक्षकका अधिकार ममाप्त समझा जाएगा।

अठारह वर्षसे कम आयु का कोई भी व्यक्ति किमी अल्पवयस्कका सरक्षक नही वन सकता।

इस अधिनियमके लागू होनेके वाद कोई भी व्यक्ति केवल सरक्षक होने मात्रमे किसी अल्पवयस्ककी सम्पत्तिके साथ मनचाहा सलूक नहीं कर मकेगा। जहाँ मम्पत्ति मयुक्त परिवारकी हो और वह सपत्ति परिवारके किमी वयस्क मदस्यके प्रवन्धाधीन हो, वहाँ अविभक्त सम्पत्तिमें अल्पवयस्क व्यक्तिके हितोकी रक्षाके लिए कोई मरक्षक नियुक्त नही किया जा सकता।

हिन्दू दत्तक ग्रहण और निर्वाह अधिनियम

हिन्दुओमें गोद लेने और निर्वाह-व्यय आदिके सम्वन्धमें वर्तमान प्रणालियोंके एकीकरणके लिए यह अधिनियम वनाया गया है। इम अधिनियमके वन जानेके

वाद इससे पूर्व के इस सम्बन्धके सभी कानून अकार्यकारी होगे। इस अधिनियमके वनने से पूर्व हिन्दू समाज में लड़कीको गोद लेनेकी या पत्नी द्वारा पतिको निर्वाह-व्यय मिलने की व्यवस्था नही थी।

पूर्वावस्था व उद्देश्य

जव तक कोई व्यक्ति गोद लेनेका अधिकारी न हो, गोद देनेवाला गोद देनेका अधिकारी न हो, और जिस व्यक्तिको गोद लिया जाता है, वह गोद लिए जानेका पात्र न हो, तव तक कोई भी दत्तक ग्रहण वैध नही माना जाएगा।

कोई भी हिन्दू वयस्क पुरुष किसी भी लड़की या लड़केको गोद ले सकता है। पत्नी यदि जीवित हो, सन्यासिनी न वन गई हो और हिन्दू धर्मको छोड़ न वैठी हो तो उसकी सहमति अनिवार्य है। (यदि गोद लेनेके समय किसी व्यक्तिकी अनेक पत्नियाँ मौजूद हो तो सभी पत्नियोकी सहमति आवश्यक है।)

कोई भी हिन्दू वयस्क स्त्री, जो विवाहित न हो, या विवाहित हो तो विवाह भंग हो चुका हो या पति मर चुका हो या सन्यासी वन गया हो या हिन्दू न रहा हो, किसी भी लड़के या लड़की को गोद ले सकती है।

वच्चेके पिता या माता या सरक्षकके सिवाय और किसीको उसे गोददेनेका अधिकार नही है। गोद देनेका मूल अधिकार पिताको ही है और उसे गोद देनेसे पहले पिताको वच्चेकी माताकी स्वीकृति लेनी होगी। पिताकी मृत्युके के वाद माता भी अपने वच्चेको गोद दे सकती है। जव पिता या माता दोनो न रहें, तव वच्चेका संरक्षक भी उसे गोद दे सकता है। किन्तु सरक्षकको इसकी अनुमति देनेसे पूर्व न्यायालय यह देख लेगा कि इस प्रकार गोद दिया जाना वच्चेके हितमें है और संरक्षक किसी रूपमें पैसेके प्रलोभनसे ऐसा नही कर रहा है।

दत्तक देने के अधिकारी

कोई भी गैर-हिन्दू लडका या लडकी गोद नही लिये जा सकते यदि पहलेसे किसीने उनको गोद ले रखा हो। यदि वे विवाहित हो, या उनकी आयु १५ वर्षकी न हुई हो, तव भी वे गोद नही लिये जा सकते। किन्तु यदि समाजके किसी वर्गमें वैसी प्रथा हो और वह प्रथा जन-सामान्यमें प्रचलित हो, तो विवाहित लडका-लड़की या १५ वर्षसे कम आयु के लडका-लड़की भी गोद लिये जा सकते है।

दत्तक बनने के अधिकारी

गोद लेनेकी अन्य शर्तें ये है :—(१) लड़का गोद तभी लिया जा सकता है जव गोद लेनेवाले पिता या माताका कोई लड़का या पोता या पड़पोता न हो। (२) लडकी गोद तभी ली जा सकती है जव गोद लेनेवाले की कोई लड़की, या पोती न हो। (३) यदि कोई पुरुष किसी लडकीको गोद लेता है, तो गोद लेनेवाले पुरुषकी आयु गोद ली गई लडकीकी आयुसे २१ वर्ष अधिक होनी चाहिए। (४) यदि कोई स्त्री किसी लड़केको गोद ले तो स्त्रीकी आयु लडकेकी आयुसे २१ वर्ष अधिक होनी चहिए। (५) एक ही वच्चेको दो या अधिक व्यक्ति एक साथ गोद नही ले सकते। (६) गोद लिए जानेवाले वच्चेके माता-पिता वच्चेको उसके जन्मवाले परिवारमें न रखकर उसे गोद लेनेवाले परिवारको वस्तुत. सौंप देंगे।

अन्य शर्तें

गोद लिया हुआ बच्चा गोद लेनेवाले माता-पिताकी ही सन्तान माना जाएगा और जन्मके कुलसे उसका सम्बन्ध विच्छिन्न समझा जाएगा ।

यदि कोई विधुर या क्वाँरा व्यक्ति किसी बच्चेको गोद ले, तो पत्नी गोद लिये बच्चे की सौतेली माता मानी जाएगी । और यदि कोई विधवा या अविवाहित स्त्री किसी बच्चेको गोद ले और बादमें स्त्री विवाह करले तो उसका पति गोद लिये बच्चेका सौतेला बाप माना जाएगा ।

कुछ प्रतिबन्ध

गोद लेने या देनेके सम्बन्धमें रुपये-पैसेके प्रलोभनको रोकनेके लिए अधिनियममें यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि गोद देनेवाला किसी प्रकार का रुपया-पैसा नहीं ले सकता, न ही गोद लेनेवाला कोई रुपया-पैसा दे सकता है । यदि इस प्रतिबन्धका पालन न किया गया तो ६ मास तक के कारावास की, या जुर्मानेकी, या दोनोंकी सजा मिल सकती है । किन्तु राज्य सरकारकी स्वीकृतिके बिना इस प्रकारकी सजा नहीं दी जा सकती ।

निर्वाह-व्यय

कोई भी हिन्दू पत्नी, चाहे उसका विवाह इस अधिनियम बननेके बाद हुआ हो चाहे पहले, अपने जीवन-कालमें अपने पतिसे निर्वाह-व्यय पानेकी अधिकारी है । इसका अर्थ यह है कि पत्नीके लिए कपडो, निवासस्थान, शिक्षा और बीमार पडनेपर चिकित्साकी व्यवस्था करना तथा इन सब पर होनेवाले व्ययको वहन करना पतिका कर्तव्य है ।

यदि पतिने पत्नीको बिना युक्तियुक्त कारणके छोड़ रखा है, या पतिने उसके साथ ऐसा क्रूर व्यवहार किया हो कि पत्नीका पतिके साथ रहना हानिकारक हो, या पति सक्रामक कुष्ठ रोगसे पीडित हो, या उसकी कोई दूसरी पत्नी जीवित हो, या पतिने इसी घरमें कोई अपनी रखैल रख छोडी हो, या घरके बाहर किसी रखैलके पास वह रहता हो, या उसने हिन्दू धर्मका परित्याग कर दिया हो, तो पत्नी अपने पतिसे अलग रहनेकी और उससे निर्वाह-व्यय पानेकी अधिकारी है । किन्तु यदि पत्नी दुराचारिणी हो या हिन्दू-धर्म छोडकर किसी अन्य धर्मको ग्रहण कर ले, तो वह पतिसे अलग रहने या उससे निर्वाह-व्यय पानेकी अधिकारी नहीं है ।

पुत्रवधू का निर्वाह

लडकेके मर जानेपर उसकी विधवा पत्नी या पुत्रवधूके निर्वाहकी जिम्मेदारी उसके श्वसुरके ऊपर है । किन्तु यदि पुत्रवधूके पास स्वय कोई आजीविकाका साधन हो, या वह अपने पति या पिता या माता की सम्पत्तिमें से अपना निर्वाह कर सकती हो, या उसके पुत्र और पुत्री उसकी सहायता करते हों, और सम्मिलित जायदादसे श्वसुरको इतनी आमदनी न हो कि वह निर्वाह-व्यय दे सके, तो पुत्रवधूको निर्वाह-व्यय नहीं मिलेगा ।

बच्चों और बूढो का निर्वाह

प्रत्येक हिन्दूकी यह जिम्मेदरी है कि वह अपने वैध या अवैध बच्चोंकी और अपने बूढे माता-पिताकी अपने जीवनकाल तक परवरिश करे । प्रत्येक वैध या अवैध बच्चा, जब तक वह १८ सालका नहीं हो जाता, अपने माता-पिता से अपने निर्वाहकी माँग कर सकता है । यदि किसीके बूढे माता-पिता अपनी कमाईसे या किसी अन्य जायदादसे अपना निर्वाह करनेमें समर्थ न हों, तो उनके निर्वाहकी व्यवस्था

करनी होगी। यदि कोई अविवाहित लड़की हो और वह अपना गुजारा करनेमें असमर्थ हो, तो माता-पिताको उसके गुजारेका भार उठाना होगा। लड़कीकी शादी के समय होनेवाला आवश्यक खर्च भी माता-पिताको उठाना होगा और वह खर्च निर्वाह-व्ययमें शामिल माना जाएगा।

सम्पत्तिके उत्तराधिकारियोको मृत हिन्दूके आश्रितोके पालन-पोषणका व्यय भी उठाना पड़ेगा।

ऊपर जिन-जिनके निर्वाहकी जिम्मेदारीकी चर्चा की गई है, यदि उनमेंसे कोई भी अपने निर्वाहके लिए व्ययकी माँग करे तो वह राशि कितनी होनी चाहिए—इसका फैसला अदालत करेगी। परन्तु इस राशि का निर्णय करते समय अदालत दोनो पक्षोंकी आर्थिक और सामाजिक स्थितिका, अलग रहनेके दावेके औचित्यका और दावेदारकी सम्पत्तिके मूल्यका ध्यान रखेगी। अदालतके द्वारा एक वार राशिका निर्णय हो जानेके पश्चात् यदि परिस्थितियोंमें महत्वपूर्ण हेर-फेर हो जाए तो वह राशि भी कम या अधिक हो सकती है।

निर्वाह की राशि

हिन्दू धर्मका परित्याग करनेके बाद कोई भी व्यक्ति निर्वाह व्यय पानेका अधिकारी नही रहता।

भविष्य

हिन्दू समाजमें सुधार करनेकी भावना से प्रेरित होकर बनाए गए उक्त चारो कानूनोका ऊपर हमने विवरण दिया है। इनमेंसे हरेक कानूनके बननेसे पूर्वकी अवस्थाका और कानूनके अमलमें आनेके बाद होनेवाले परिवर्तनका हमने यथास्थान उल्लेख किया है। किन्तु इन नए कानूनोंमें तलाककी व्यवस्था और कन्याको उत्तराधिकार —ये दो मुद्दे ऐसे है जो हिन्दू कानूनमें क्रांतिकारी परिवर्तन करनेवाले है और इनपर लोकसभा में भी गरमागरम बहस हुई हैं। जब एक बार देशके संविधानमें स्त्री और पुरुषको बराबरीका दर्जा दे दिया गया, तो हिन्दू कानूनमें इस प्रकारके परिवर्तन अवश्यम्भावी थे।

तलाकके सम्बन्धमें सबसे बडी आपत्ति यह की जाती है कि इस व्यवस्थासे तलाको की सख्या बढ़ेगी और दाम्पत्य जीवनकी मधुरता नष्ट हो जाएगी किन्तु जिन राज्योमें कई वर्ष पूर्वसे तलाककी छूट थी, उनके अनुभवसे इस बातकी पुष्टि नही होती। इसके विपरीत उन राज्यो के अनुभवोंसे यह पता लगता है कि इस व्यवस्था का अधिकतर उपयोग कष्टपीड़ित स्त्रियोने ही किया है। हिन्दू समाजकी वर्तमान दशामें यह स्वाभाविक भी है। विवाहकी अविच्छेद्यता एक उदात्त आदर्श होते हुए भी जब स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध विवाहकी पवित्रताको कलंकित करनेवाला बन जाए तब भी उन्हें एकत्र बाँधे रखना उनपर जबर्दस्त अत्याचार करना है। जीवनको सुखमय बनाना और दु:खमय विवाहोंसे मुक्ति दिलाना ही इस व्यवस्थाका उद्देश्य है।

तलाक के गुण-दोष

तलाकसे भी कही अधिक क्रांतिकारी व्यवस्था है कन्याओंको उत्तराधिकार देनेकी। यह भी स्त्री-पुरुषकी समानताका जरूरी परिणाम है। जो स्त्री

कन्या को उत्तराधिकार के गुण-दोष

पुरुषकी अर्धांगिनी कहलाती है, उसका पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार न हो, यह कैसी विचित्र बात है ? इसी प्रकार जो माता अपने पुत्रके लिए बडेसे बडा बलिदान कर सकती है, वह पुत्रकी सम्पत्तिमें ज़रा-सा भी हिस्सा न पाए और सदा मुहताज ही बनी रहे, यह कितनी अशोभनीय बात है ? जो अधिनियम बनाया गया है, उसमें लडके और लडकीका हिस्सा बराबर रखा गया है। इस विषयमें मुख्य आपत्ति यह की जाती है कि बहनको सम्पत्तिमें हिस्सा मिलनेसे भाई और बहनका प्रेम समाप्त होजाएगा। परन्तु जो प्रेम हिस्सा बँटानेसे काफूर हो जाता हो, वह भी कोई प्रेम है ? दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि लड़कियाँ अनपढ होनेसे सम्पत्तिका दुरुपयोग करेंगी। परन्तु यही दलील अनपढ लड़कोंके लिये क्यो नही दी जाती ? क्या लडके अनपढ नही होते ? और सब पढे-लिखे भी सम्पत्तिका सदुपयोग ही करेंगे इसकी क्या गारण्टी है ? फिर यदि दुरुपयोगकी बात मान भी ली जाए, तो इसी हेतुसे किसीको उसके अधिकारसे वचित करना न्यायकी बात नही है।

लडकीको पिताकी सम्पत्तिमें, स्त्रीको पतिकी सम्पत्तिमें, और माताको पुत्रकी सम्पत्ति में अधिकार मिलना कुछ भी अनुचित नही है। किन्तु विवाहित लडकीको पतिकी सपत्तिमें अधिकार मिले या पिताकी सपत्तिमें—यह मुख्य विवादका प्रश्न है। और इस विषयमें बनाए गए अधिनियममें विवाहित लडकीको पिता और पति दोनोकी सम्पत्ति में अधिकार दिया गया है। शायद कानून बनानेवालेके मनमें यह बात थी कि जब एक बार लडकीका सम्पत्तिपर अधिकार स्वीकार कर लिया तो फिर सम्पत्ति-सम्पत्तिमें भेद क्यो किया जाए। लडकीका सभी प्रकारकी सम्पत्तिपर अधिकार होना चाहिए —फिर चाहे वह पतिकी हो, चाहे पिताकी।

बहरहाल, इन अधिनियमोके बननेसे हिन्दू-कानूनमें जो सुधार हुए है,उनका परिगणन हम इस प्रकार कर सकते है—जातीयता खत्म हो गई, बाल-विवाह और बहु-विवाहकी समाप्ति हो गई, तलाककी व्यवस्था हो गई, स्त्रीको सम्पत्तिमें अधिकार मिल गया, तथा कन्याको गोद न लिये जानेकी बाधा हट गई। जिन रूढियोंके अभिशापके नीचे समाज सदियोसे कराह रहा था उनपर कठोर कुठाराघात हुआ है। और आगामी एक दशक या चौथाई सदीके पश्चात् आनेवाला समाज वर्तमान समाजसे कई दृष्टियोंमे सर्वथा भिन्न समाज होगा।

—— ०.——

श्री सन्तराम बी० ए०

चातुर्वर्ण्य का इतिहास

यद्यपि इस समय हिन्दुओंमें कई सहस्र जातियाँ और उपजातियाँ हैं पर यह सब चातुर्वर्ण्य विभागका ही दुष्परिणाम है। आर्योंकी सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद है। उसमें कही भी ब्राह्मण वर्ण, क्षत्रिय वर्ण या वैश्य वर्ण लिखा नही मिलता। इन तीनो को बहुत बादमें स्मृतियो ने ही "वर्ण" का नाम दिया है। वेदमें वर्ण शब्द मिलता अवश्य है, पर इसका प्रयोग केवल "आर्य" और दासके साथ ही हुआ है।* जैसे—

यो दास वर्णमधरं गुहाऽक. ।ऋ २ १२.४

अर्थात्—जो दास वर्ण को नीचे गुफामें डालता है।

हत्वी दस्यून् आर्यं वर्णमावत् । ऋ ३ ३४. ९.

अर्थात्—दस्युओ को मारकर आर्य वर्णकी पूरी-पूरी रक्षा करता है।

इतना ही नही वेदमें वर्णोंकी संख्या भी चार कही नही बताई गई। उसमें "चातुर्वर्ण्य" भी लिखा नही मिलता; हाँ, दो वर्ण अवश्य कहा गया है।

जैसे—

उभौ वर्णावृषिरुग्र. पुपोष । ऋ: १ १७९. ६

अर्थात्—उग्र ऋषिने "दोनो वर्णों" को पुष्ट किया।

कुछ लोग ऋग्वेदके दसवें मण्डलका निम्नलिखित मंत्र—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य.कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्य. पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।९०, १२

पेश करके कहते है कि वेदमें चार वर्ण हैं, पर इस मंत्रका अर्थ तो केवल इतना ही है कि उस (प्रजापति) के मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, उरु वैश्य थे और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए। इस मंत्रमें वर्ण शब्द कही है ही नही। ऐतिहासिक पण्डितोका मत है कि ऋग्वेद का दसवाँ मण्डल अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इसके अतिरिक्त उव्वट और महीधर आदि भाष्यकारोंने इसमें समाजका नही, यज्ञका वर्णन माना है।

---

* बौद्धोंके ग्रंथ मज्झिम निकाय ९३ में भी लिखा है— "हे आश्वलायन, क्या तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज और दूसरे सीमान्त देशोंमें दो ही वर्ण होते है—आर्य और दास। आर्य दास हो सकता है और दास भी आर्य हो सकता है।"

इसमें सदेह नही कि वेदमें मनुष्य-समाज कही-कही दो भागोमें वटा मिलता है (जैसे कि आर्य और शूद्र[1] या आर्य और दास[2] या दस्यु[3]), कही चारमें, कही पाँचमें[4], कही छ में[5] और कही वीसियो[6] जातियोमें। पर वेद वर्ण केवल उपर्युक्त दो ही कहता है। कुछ लोगोकी धारणा है कि "पचजना" का अर्थ निरुक्तके अनुसार चार वर्ण और पाँचवाँ निपाद है।

इस संवंधमें एक वातका स्मरण रखना चाहिए। निरुक्तकार यास्क वैदिक काल के वहुत पीछे हुआ है। उसे निश्चित रूपसे पता न था कि यह शव्द वैदिक कालमें किन अर्थोमें प्रयुक्त होता था। इसीलिए उसने इस विपयमें भिन्न-भिन्न प्रचलित मत दे दिये है। निरुक्त का पाठ इस प्रकार है—

गन्ववी पितरो देवा असुरा रक्षामीत्येके
चत्वारो वर्णा, निपाद. पचम इत्यौपमन्यव। (निरुक्त, ३–७)

अर्थात् पचजन के सवव में अनेक मत है। कुछ लोग कहते है कि गधर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस ये पाँच पचजन हैं। पर औपमन्यवाचार्य का मत है कि चार वर्ण और पाँचवाँ निपाद, यह पचजन हैं।

आदि कालमें चार वर्णोका वाँट नही था। यह विभाजन पीछेसे किया गया, इसके प्रमाण महाभारत और पुराणोमें भी मिलते हैं। उनमें से कुछ आगे दिये जाते हैं —

एक एव पुरा वेद प्रणव सर्वागमय।
देवो नरायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥४॥

—श्रीमद् भागवत पुराण स्कंध १।१४

श्रीधर स्वामी इसका अर्थ यह करते है कि पहले सर्ववागमय प्रणव (ओकार) ही एकमात्र वेद था। एकमात्र देवता नरायण थे, और कोई नही। एकमात्र लौकिक अग्नि ही अग्नि और एकमात्र हस ही एक वर्ण था। पुराणमें कहा है कि प्रारभमें मनुष्यकी एकमात्र जाति हस* थी।

महाभारत कहता है —

एक वर्णमिद पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्म क्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात्—हे युधिष्ठिर, इस जगत में पहले एक ही वर्ण था। गुण-कर्मके विभागमे पीछेसे चार वर्ण स्थापित किये गये।

---

१. तयाऽहं सर्व पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः (अथर्व ४–२०–४)
अर्थात्—मैं सवको देखता हूँ जो शूद्र है और जो आर्य है।

२. त्वताइन्द्रोभयांअभिजान् दासवृत्राण्यार्या च शूर (ऋ० ६–३३–३)
अर्थात् —हे शूर इन्द्र, रुकावट डालनेवाले दोनो प्रकारके शत्रुओको, दासको और आर्यको तूने मारा।

३. न यो र आर्य नाम दस्येव (ऋ० १०–४९–३)
अर्थात् जिसने आर्य नाम दस्युको नहीं दिया।

४. जैसा कि वेदके "पचजना." "पंचकृष्टय." और पंचमानव आदि शव्दोसे प्रकट है।

५. यजु २९–२

६. यजु, अध्याय ३० मंत्र ५–६।

* आदौ कृतयुगे नृणा हस इतिस्मृतम्।

वही महाभारत फिर कहता है—

न विशेषोऽस्ति वर्णांना सर्वं ब्राह्म मिदं जगत्
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णता गतम् ।।

अर्थात्—वर्णोंमें कोई भी वर्ण किसी प्रकारकी विशेषता नही रखता क्योकि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है । पहले सबको ब्रह्माने ही उत्पन्न किया है । पीछे कर्मोंके भेदसे वर्णोंकी उत्पत्ति हुई ।

फिर वायुपुराण* कहता है—

"सत्युगमें कर्म-भेद, वर्ण-भेद और आश्रम-भेद न था । त्रेता युगमें मनुष्यो की प्रकृतियाँ कुछ भिन्न-भिन्न होने लगी । कर्म, वर्ण, आश्रम-भेद आरम्भ हुए । तदनुसार शान्त, शुष्मा, कर्मी और दुखी ऐसे नाम पड़े । द्वापर और कलिमें प्रकृति-भेद और भी अभिव्यक्त हुआ । तदनुसार क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र नाम पड़े ।"

महाभारत के शान्तिपर्व मोक्ष धर्म ४२।१७७ में इस प्रकार लिखा है—

प्रश्न—हे भृगु मुनि, काम, क्रोध, लोभ, भय, चिन्ता, क्षुधा और श्रम आदि बातें हम सब में एक सी हैं, तब वर्णका भेद क्यो मानते है ?

पसीना, भूख, शौच, कफ, पित्त और रक्त सबके शरीरमें रहते हैं । तब एक वर्ण दूसरे वर्णसे अलग क्यो माना जाता है ?

उत्तर—इसपर भृगु ऋषि बोले—(पहले) एक ब्राह्मण ही वर्ण था । इसलिए (इस समय दिखाई देनेवाले भिन्न-भिन्न) वर्णोंमें कोई विशेष अन्तर नही । पहले-पहल ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किए हुए एक ही वर्णके लोग विभिन्न कर्मोंके कारण भिन्न-भिन्न वर्णो को प्राप्त हुये है ।

फिर भविष्य महापुराणके ब्रह्म पर्व, अध्याय ४२ में लिखा है—

"यदि एक पिताके चार पुत्र है, तो उन चारोकी एक जाति होनी चाहिये। इसी प्रकार सब लोगोका पिता एक परमेश्वर ही है । इसलिए मनुष्य-समाजमें जाति-भेद है ही नही । जिस प्रकार गूलरके पेडमें अगला भाग, मध्यका भाग और जड़का भाग—तीनोमें एक ही वर्ण और आकार के फल लगते है, उसी प्रकार एक विराट पुरुष परमेश्वरके मुख, बाहु, पेट और पैरसे उत्पन्न हुए मनुष्योमें (स्वाभाविक) जाति-भेद कैसे माना जा सकता है ?"

भविष्य पुराण (अध्याय ४) कहता है—

तस्मान्न गोऽश्ववत् किंचिज्जाति भेदोस्ति देहिनाम्
कार्यभेदनिमित्तेन संकेत. कृत्रिमः कृत ।

---

* अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः शुभ पापयोः
वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च तदाऽऽसन्न संकरः
त्रेतायुगे त्वविकलः कर्मारम्भः प्रसिध्यति
वर्णानां प्रविभागाश्च त्रेतायां तु प्रकीर्त्तिताः ।
शान्ताश्च शुष्मिणश्चैव कर्मिणो दुखिनस्तथा ।।
ततः प्रवर्तमानास्ते त्रेतायां जज्ञिरे पुनः ।
—वायुपुराण ८, ३३, ४६, ५७ आदि अध्याय

अर्थात् मनुष्योंमें गाय और घोडे जैसा कोई जाति-भेद नहीं। यह कामके भेद बनावटी* संकेत किये गये है।

इतना ही नही विष्णु पुराण (अंश ४, ७, १) कहता है।

गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्य प्रवर्त्तयिताऽभूत्।

अर्थात्—गृत्समदके पुत्र शौनकने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रवर्त्तितकी।

इसी पुराणमें दूसरी जगह कहा है—

भार्गस्य भार्गभूमि अतश्चातुर्वर्ण्य प्रवृति। (चतुर्थ अंश ७–९)

अर्थात्—भार्गसे भार्गभूमि उत्पन्न हुए, उनसे चातुर्वर्ण्य प्रवर्त्तित हुआ। महर्षि जैमिनिका कहना है कि सृष्टिके आदिमें पहले चतुर्मुख (ब्रह्मा) ने ब्राह्मण ही बनाए, फिर दूसरे वर्ण उन्ही ब्राह्मणोंके वंशमें अलग-अलग उत्पन्न हुये—

ससर्ज ब्राह्मणावग्रे सृष्ट्यादौ स चतुर्मुख

सर्वे वर्णा पृथक् तेषा वंशेषु जज्ञिरे। पद्मपुराण (उत्कल खंड, ३७, ४४)

हरिवंश पुराणमें भी कहा है—

पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनका।

ब्राह्मणा क्षत्रियाश्चैव वैश्या शूद्रास्तथैव च। (२९ अध्याय १५, १६, २०)

अर्थात् गृत्समदके पुत्र शुनक हुए। शुनकसे शौनक कहलानेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बहुतसे पुत्र उत्पन्न हुये।

इसके विपरीत बृहदारण्यक उपनिषद् कहता है कि पहले क्षत्रिय उत्पन्न हुये। उन्ही के वंशज बादको दूसरे वर्ण हुए।

उपनिषद्के शब्द हैं —

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीद् एकमेव तदेक सन्नव्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्"। (१, ४, ११)

प्रारम्भमें वर्ण-भेद न होनेका पता इस बातसे भी लगता है कि उपनिषद्, रामायण और महाभारत आदि प्राचीन ग्रथोंमें किसी भी नामके साथ शर्मा, वर्मा और गुप्त आदि वर्ण-सूचक शब्द लगे नही मिलते।

महाभारतमें कृतवर्मा और महाभाष्यमें इन्द्रवर्मा नाम मिलता है। पर वहाँ "वर्मा" वर्ण-व्यवस्थाका द्योतक नही, वरन् वह नाम है जैसे—आजकल श्रीराममें "श्री", रामजीदासमें "जी" और भगवानदासमें "भगवान" नामका ही अंश है।

ऐसा जान पडता है कि आदि कालमें मनुष्य-समाज गंगोत्रीके निकट गंगा-जलके समान निर्मल था। लोग सात्त्विक, सरल, सदाचारी और शुद्ध-हृदय थे। पहले मनुष्योंकी संख्या बहुत कम थी और खान-पानकी सामग्री प्रचुर थी। लोग फल-फूल खाकर सहजमें पेट भर लेते थे। कालान्तरमें यह समाज वैसा शुद्ध, निर्व्याज और सरल न रह सका। तब अपनी-अपनी प्रकृति, रुचि और योग्यताके अनुसार लोग विभिन्न कार्य करने लगे। जैसे आजकल नाना प्रकारके व्यवसाय देखनेमें आते हैं, वैसे उस समय नही थे। उस समय कुछ लोग गाय आदि पशु चराते थे, कुछ शस्त्रोंसे समाज की रक्षा करते थे और कुछ बालकोको पढाते थे। इस प्रकार ये सब लोग मिलकर एक दूसरेकी आवश्यकताओंको पूरा करते थे। जो लोग खेती-बाडी करते और पशु चराते

थे, उनको उस समयकी भाषामें वैश्य कहा जाता था। जो शत्रुओंसे लड़ते-भिड़ते थे, वे क्षत्रिय कहलाते थे और जो पठन-पाठनका काम करते थे, उनका नाम ब्राह्मण था। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी यह बाँट जन्मपर नही, कर्मपर थी। वर्तमान हिन्दू समाजमें जो वर्ण-भेद है, वह कामकी बाँट नही काम करनेवालोकी बाँट है। इसमें व्यक्तिकी योग्यताका विचार न करके केवल जन्मसे किसी को ब्राह्मण का काम और किसीको भगीका काम करनेपर बाध्य किया जाता है। इसलिए उस पुरातन कालसे यह बिलकुल उल्टा है। जैसे यूरोप और अमेरिकामें कोई अध्यापक, कोई सैनिक और कोई व्यापारी है और वह जन्मसे नही, वैसे ही उस कालमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि सांकेतिक नाम थे। कामकी बाँट होनेपर भी उन लोगोमें ऊँच-नीचका कोई भाव उत्पन्न नही हुआ था। अतएव वेद कहता है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधु . सौभगाया। ऋग्वेद, ५-५-६०

अर्थात् तुममें न कोई उच्च है और न ही कोई नीच। तुम सब भाई हो। इसलिये भाइयोकी भाति अपने-अपने भागमें उन्नतिशील बनो।

विभिन्न काम करनेवाले लोग एक ही घरमे इकट्ठे रहते थे।

वेद कहता है—

कारूरंह ततो भिषगुपलप्रक्षिणां नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव। ऋग्वेद, ६–११२–३६

अर्थात्—मै एक कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता चक्कीसे अनाज पीसती है। विभिन्न व्यवसायोमें लगकर हम लोग धन और आनन्द खोजते है, जिस प्रकार गौएँ मैदानो में अपना-अपना भोजन खोजती हैं।

आजके हिन्दू समाजमें विभिन्न वर्णो और जातियोंके लोग परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार नही करते। इससे उनका धर्म डूब जाता है और उनकी जाति चली जाती है। पर उस पुरातन कालमें ऐसी बात न थी। व्यवसायके कारण विभिन्न नामोंसे पुकारे जाने पर भी वे आपसमें बेटी-व्यवहार करते थे। ऐसे विवाहोके कुछ उदाहरण आगे दिये जाते हैं। पहले अनुलोम अर्थात् कथित ऊँचे वर्णके पुरुषका कथित नीच वर्णकी स्त्रीके साथ विवाह लीजिए :—

१. शुक्राचार्य ब्राह्मणने राजा प्रियव्रत क्षत्रियकी पुत्री उर्जस्वतीसे विवाह किया।

२. शृंगी ब्राह्मणने राजा लोमपादकी पुत्री (और राजा दशरथकी गोद ली हुई पुत्री) शान्तासे विवाह किया।

३. यमदग्नि ब्राह्मणने सूर्यवंशी राजा प्रसेनजितकी कन्या रेणुकासे विवाह किया। इन्हींके पुत्र परशुराम थे।

४. ऋचीक ब्राह्मणने राजा गाधि क्षत्रियकी कन्या सत्यवतीसे विवाह किया।

५. पिप्पलाद ब्राह्मणने क्षत्रिया पद्मासे विवाह किया (शिवपुराण, उत्तरार्द्ध, अध्याय २०)

६. अगस्त्य ब्राह्मणने क्षत्रिया लोपामुद्रासे विवाह किया।

७. रयिक्व ब्राह्मणने राजा जानश्रुतिकी कन्या से।

८. सौभरि ब्राह्मणने राजा मांधाता क्षत्रिय की कन्यासे।

९ विश्वामित्रने देवलोककी अप्सरा मेनकासे शकुन्तला उत्पन्न की। शकुन्तला का विवाह राजा दुष्यन्तसे हुआ। उनका पुत्र भरत हुआ। इसी भरतके नामसे इस देशका नाम भरतखड पडा। (भागवत पुराण, स्कव ४)

१० भीमसेन ने हिडम्वा नामकी राक्षसीसे विवाह किया। उनका पुत्र घटोत्कच हुआ।

अव प्रतिलोम अर्थात् कथित नीच वर्णके उच्च वर्णकी स्त्रीके साथ विवाहके उदाहरण सुनिए —

१. राजा प्रियव्रत क्षत्रियने विश्वकर्मा ब्राह्मणकी वेटी वर्हिष्मतीसे विवाह किया। वायुपुराण (अध्याय २८) में लिखा है कि कर्दम ऋषि की कन्या काम्या (विष्णु पुराण में इसका नाम कन्या लिखा है) राजा प्रियव्रत (क्षत्रिय) को व्याही गई। काम्यासे प्रियव्रतको दस पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। उन्होने क्षत्रिय-वशका विस्तार किया।

२ राजा नपि क्षत्रियने शुक्राचार्य ब्राह्मणकी पुत्री कृत्वीसे विवाह करके ब्रह्मदत्तको जन्म दिया (भागवत पुराण स्कव ९।२१)। इसी कुलमें मुद्गल उत्पन्न हुआ जिसके नामपर ब्राह्मणोका मौद्गल्य गोत्र चला।

३ राजा ययाति ने शुक्राचार्य ब्राह्मण की पुत्री देवयानी से विवाह किया। इनके पाँच पुत्र हुए।

४ प्रमत्ता ब्राह्मणीका विवाह एक नाईके साथ हुआ। इनके पुत्र मतग महामुनि थे। (महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय २२)

५ कर्दम ऋपिकी कन्या अरुन्वती और वेश्या* के पुत्र वसिष्ठ मुनिका विवाह हुआ। इनके पुत्रका नाम शक्तृ या शक्ति था। इसका विवाह चाण्डाल कन्या अदृश्यन्तीसे हुआ। इनका पुत्र पराशर था। (लिंग पुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय ६३ और शिव-पुराण, पूर्वार्द्ध खण्ड १ अध्याय १३)। पराशरने धीवर कन्या सत्यवतीसे वेदव्यास उत्पन्न किया। वेदव्याससे कौरव और पाण्डव हुए।

हम पीछे लिख आये है कि सत्युगमें कोई वर्णभेद और आश्रम-भेद न था और इस-लिए वर्णसकरता का प्रश्न ही उत्पन्न न होता था। कालान्तरमें ब्राह्मण और क्षत्रिय दो भिन्न-भिन्न वर्ण प्रकट हुए। पर तव भी वे आजकलकी भाँति जन्मसे नही, वरन् कर्म से या चरित्रगत थे। ब्राह्मण कहलानेवाला व्यक्ति क्षत्रिय वन सकता था और क्षत्रिय कहलानेवाला ब्राह्मण। इस प्रकार वर्ण-परिवर्तन करनेवाले अनेक लोगोंके नाम पुराणोंमें मिलते हैं। उनमेंसे कुछ नाम आगे दिये जाते है। कैवंत (कहार) स्त्रीसे व्यासजी का जन्म है। शवपाक (चाण्डाल) स्त्रीसे पराशर मुनिका। शुकीसे शुक, अलूकीसे

* उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः। ऋ० ७।३३।११.
अर्थात्—मित्रावरुणके औरस और स्वर्गकी अप्सरा उर्वशीके गर्भसे वसिष्ठका जन्म हुआ।

गणिका-गर्भ-सम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः
तपस ब्राह्मणोजातः संस्कारस्तत्र कारणम्।
—भविष्य पुराण, १, ४२, ४६

कणाद् और हिरनीसे शृंग ऋषि हुए। गणिका (वेश्या) से वसिष्ठ हुए। पर तपके प्रतापसे वे सब ब्राह्मण बन गये।

वायुपुराणमें भी ऐसे महात्माओंकी एक सूची मिलती है, जिनका जन्म यद्यपि क्षत्रिय वंशमें हुआ पर तपोबलसे वे ब्राह्मण बन गये। हरिवंश पुराण, अध्याय ३२ में कहा गया है—"एक ही भार्गव वंशमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (विभिन्न वर्णोके) पुत्र उत्पन्न हुए। ऐतरेय अहिदास शूद्रीका पुत्र था। आगे चलकर वह वेदका जाननेवाला ब्राह्मण हुआ। उसने वेदके सम्बन्धमें ऐतरेय ब्राह्मण नामक ग्रंथ लिखा। वह इतर अर्थात् अब्राह्मणका पुत्र था। इसीलिए ऐतरेय कहलाया। मालूम नहीं, उसका पिता कौन था।"

व्रजसूची कहती है* कि जन्मसे मनुष्य शूद्र होता है, संस्कारसे ही वह द्विज कहलाता है; वेदाभ्याससे विप्र और ब्रह्मज्ञानसे ब्राह्मण बनता है। इसी प्रकार व्यास स्मृति कहती है—"काठका बना हाथी, चमड़ेका बना मृग और अपढ़ ब्राह्मण ये तीनों नाम मात्रके होते हैं।"

ऊपर दिए वचनोंसे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि आदिकालमें वर्ण-व्यवस्था जन्मसे नहीं वरन् गुण-कर्मसे थी और जैसा आजकल है, वैसा वर्णान्तर तब असंभव न था। तब शूद्र पिताके घर जन्म लेनेवाला बालक अपने उत्तम गुणोंके प्रतापसे ब्राह्मण हो सकता था और ब्राह्मण पिताके यहाँ जन्म लेनेवाला बालक अपने दुर्गुणी होनेसे शूद्र हो जाता था। दूसरी बात यह है कि महाभारत, पुराणों और स्मृतियोंके समयमें वर्णों का लचीलापन नष्ट होता जा रहा था और वर्ण जन्मसे ही माने जाने लगे थे। तभी तो इन पुस्तकोंमें कहनेकी आवश्यकता हुई कि अपढ़ ब्राह्मण काठके घोड़ेके सदृश केवल नाम का होता है या कुल और वीर्यसे कोई ब्राह्मण नहीं होता। बात वास्तवमें यह है कि आजकल के समाजवाद और साम्यवादके सदृश वर्ण-व्यवस्था भी एक प्रयोगमात्र था। खेद है कि वह बहुत बुरी तरह विफल हुआ।

आरम्भमें समाजके सभी प्रकारके काम करने वालोंमें कोई ऊँचा या नीचा नहीं समझा जाता था। सभी काम प्रतिष्ठित और सभी लोग समान समझे जाते थे। बादको धार्मिक कृति और पूजा-पाठ करानेवालोंका पद बहुत ऊँचा समझा जाने लगा। इससे ब्राह्मण भी धीरे-धीरे अपनी उच्च स्थितिका अनुभव करने लगे।

उन्होंने समझ लिया कि अनायास मिलते हुए पद और प्रतिष्ठाका परित्याग करना भी कोई बुद्धिमत्ता नहीं। अतएव अब वे लोग अपने प्रभुत्वकी धाक जमानेका प्रयत्न करने लगे। परन्तु क्षत्रिय लोग भी अपनेको तुच्छ माननेको कब तैयार थे? इसलिए इसी बातको लेकर आपसका एक झगड़ा उठ खड़ा हुआ। जब तक समाजमें जीवन और उत्साह बना रहा, वह पुरोहितशाहीकी जड़ोंपर कुल्हाड़ा चलाने और अपने छिने हुए अधिकारोंको फिरसे प्राप्त करने का बार-बार उद्योग करता रहा। रामायण और महाभारतमें भी ऐसे प्रयत्नोंकी बात पाई जाती है। फिर आगे चलकर बौद्ध धर्मका प्रवर्तन और प्रचार करके क्षत्रियोंने ब्राह्मणोंके प्रभुत्वको बिलकुल जड़से उखाड़ फेंकने का पुन प्रबल प्रयत्न किया। पर ब्राह्मणोंके चातुर्य और बुद्धिमत्ताके सामने उनकी

* जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते,
वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।

एक न चली। अन्तमें सिर नवाना ही पड़ा। ब्राह्मणोंने स्वय बुद्धको विष्णुका अवतार मान भारतमें बुद्ध धर्मकी कमर तोड दी और इस प्रकार ब्राह्मणी सत्ताने सारे भारत पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया।

"महाभारत मीमासा" के लेखकका मत है कि आरम्भमें क्षत्रियोने ब्राह्मणोकी यह बात चलने न दी। वसिष्ठ और विश्वामित्रके विवादने प्रकट होता है कि क्षत्रियोने इसके बारेमें खूब झगडा किया। ब्राह्मणोकी यह माँग थी कि ब्राह्मणका बेटा ब्राह्मण हो और क्षत्रिय का क्षत्रिय। पर विश्वामित्रकी माँग यह थी कि क्षत्रियके बेटेने यदि अपनी बुद्धि एवं योग्यताको बढा लिया हो, तो उसके ब्राह्मण होनेमें क्यो रुकावट है? "महाभारत मीमासा" के मतानुसार यह प्रतिस्पर्धा बहुत प्राचीन कालसे ही आरम्भ हो गई थी। विश्वामित्रकी कथा सूर्यवशी क्षत्रियोंके समय और पजाब प्रदेशकी है। पर फिर भी महाभारत-काल तक ब्राह्मणोकी कट्टरता पूर्ण उन्नतिको प्राप्त नही हुई थी। अभी तक दूसरी जातियोके लोग अपनी योग्यता, शालीनता और सदाचारके द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकते थे। ऐतरेय ब्राह्मणमें वर्णित इलूपपुत्रके कवपकी कथा और छान्दोग्योपनिषद् में दी गई सत्यकाम जाबालकी कथा इस सबधमें ध्यान देने योग्य हैं। महाभारत और रामायणका काल समाप्त होते ही हम जाति-बन्धनको सुदृढ और अटूट पाते हैं। महाभारतके पहले और बादकी सामाजिक अवस्थामें हम आकाश-पातालका सा अन्तर देखते है। धर्मकी बागडोर ब्राह्मणोके हाथमें थी। ये लोग सम्मान और पूजाके आसनपर बैठा दिये गये थे। धार्मिक विषयोसे सबध रखनेके कारण समाज इनको सम्मानकी दृष्टिसे देखने लग गया था। यद्यपि क्षत्रिय लोग किसी प्रकार इनसे कम नही थे वरन् कितनी ही बातोमें बढे-चढे ही थे, पर धर्मकी ध्वजा इनके हाथ रहनेके कारण वे पूरी तरह इनका सामना न कर सकते थे। इसीसे झगडा आरम्भ होनेपर भी क्षत्रियोको मुँहकी खानी पडती थी। ब्राह्मणोके धर्मकी दोहाई देनेपर धर्म-भीरु जनता जीभ नही हिला सकती थी। अब उन्होने इस सदाके रगडे-झगडेको एकदम ही मिटा देना आवश्यक समझा। उन्होने अपने ब्राह्मण वर्णको जनतामें सबसे ऊँचा मनवा लिया। इसीके फलस्वरूप ब्राह्मण ग्रथोकी रचना हुई। उस कालका साहित्य जटिल धार्मिक विधानो और अनुष्ठानोसे परिपूर्ण है। वेदोसे यज्ञोके आवश्यक स्तोत्र चुन लिये गये। वैदिक कालकी सरल धार्मिक पद्धति कठिन और अनावश्यक रूपसे लम्बी बना दी गई। सरल और स्वाभाविक देवपूजा के स्थानमें बडे-बडे आडम्बरयुक्त यज्ञ और अग्निहोत्र प्रचलित किए गये। यज्ञोमें अनेक प्रकारकी जटिलताएँ डाली गई। उन्हें भारी व्ययकी चीज बना दिया गया और एक प्रदर्शनसे बढकर उन्हें समझा जाने लगा। प्रतीत ऐसा होता था मानो आवश्यक और जटिल अनुष्ठानोंके अतिरिक्त धर्म कोई दूसरी शिक्षा ही नही दे सकता था। परिणाम यह हुआ कि धार्मिक बातें सर्व-साधारणकी समझसे बाहरकी चीज हो गई, और जनताको धार्मिक बातोंसे हाथ खींच लेनेपर विवश होना पडा। जब तक सारी आयु न लगा दी जाये, उन धार्मिक विधानो और अनुष्ठानो में पारगत होना असभव था। ये यज्ञ वही करा सकते थे जो जन्मकालसे उन्हें देखते आए हो और इस विषयका मनन और अभ्यास कर रहे हो। इसलिए देखते-देखते ब्राह्मणो का सिक्का जमने लगा। लोग अपनी धर्म-सबधी स्वाधीनता खोने लगे।

सौभाग्यवश इसी कालमें क्षत्रियोमें जनक जैसे ब्रह्मज्ञानी और परम मनीपि पुरुपोका जन्म हुआ। उन्होने ब्राह्मणोके चलाये इन आडम्बरयुक्त लम्बे-चौड़े अनुष्ठानो और यज्ञ-याज्ञोकी नि सारताको देखा। उन्होने गहरे आत्मचिंतनमें निमग्न होकर ऐसे आध्यात्मिक सत्योको खोज निकाला जिनका ब्राह्मणोको ज्ञान तक न था। इन क्षत्रियोने उपनिपदो जैसे उच्च ब्रह्मज्ञानके ग्रंथोकी रचना कर संसारको चकित-स्तभित कर दिया। यहाँ तक कि उनके द्वारा आविष्कृत इन नवीन सचाइयोंको सीखनेके लिए ब्राह्मणोको भी उनके पास आना पड़ा। उपनिपदोमें अनेक ऐसी कथाएँ पाई जाती है जो हमारी उपर्युक्त बातको प्रमाणित करती हैं।

छान्दोग्योपनिपद्के पाँचवें प्रपाठकके तीसरे खण्डमें श्वेतकेतु आरुणेयकी एक कथा पाई जाती है।

जब शवेतकेतु आरुणेय पांचालोकी सभामें गया तो प्रवाहण जैवलिने उससे पूछा—"कुमार, क्या तुम्हारे पिता ने तुमको शिक्षा दी है?"

आरुणेय—"जी, हाँ"।

जैवलि—"क्या तुम जानते हो, यहाँसे मनुष्य कहाँ जाते है?"

आरुणेय—"जी, नही।"

जैवलि—"क्या तुम बतला सकते हो कि फिर वे यहाँ किस प्रकार लौटते है?"

आरुणेय—"जी, नही।"

ऐसे ही और दो-एक प्रश्नोंका उत्तर भी "नही" पाकर वह बोल उठा—"तब तुम अपने आपको सुशिक्षित क्यो कहते हो? जो व्यक्ति इन सब बातोको नही जानता वह सुशिक्षित कैसे कहला सकता है?"

अन्तमें आरुणेय बहुत दु खी होकर अपने पिता के पास लौट गया और कहने लगा—"पिता, मुझे शिक्षा न देकर यो ही आपने मुझसे कह दिया कि मैं सुशिक्षित हो गया हूँ। अन्तमें उस धृष्ट राजाने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे, किन्तु मैं एकका भी उत्तर न दे सका।"

पूछे हुए प्रश्नोको सुनकर पिताने कहा—बेटा, मैं ही इन प्रश्नोमें से एकका भी उत्तर नही दे सकता। इन प्रश्नोने तो मेरी बुद्धि चक्करमें डाल दी। यदि मैं इन विपयोके सबंधमें कुछ भी जानता होता तो फिर भला कहो तुम्हें कैसे न बतलाता?

अन्तमें कुश हाथमें लेकर पिता-पुत्र दोनो दोबारा जैवलिके पास गये। उन्होंने उपर्युक्त ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उससे प्रार्थनाकी।

पहले तो जैवलि टालमटोल करता रहा और घबराया। परन्तु अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर उसने गौतम (श्वेतकेतुके पिता) से कहा—

"महर्पि, आप कुछ दिन मेरे पास ठहरिए, मैं आपको उस विद्याकी शिक्षा दूंगा। पर आजसे पहले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास कभी नही गई थी। अभी तक यह विद्या केवल क्षत्रियोकी ही संपत्ति समझी जाती थी।"

इतना कहकर गौतमको उसने आत्माके स्वरूप, उसका परमात्माके साथ सबध इत्यादि की सविस्तर व्याख्या हृदयंगम करा दी।

किसी व्यक्तिके वर्णका निश्चय करना भी एक टेढ़ी खीर है। समझमें नही आता कि वेदव्यासको ब्राह्मण माना जाय या क्षत्रिय। द्वैपायनका जन्म महाराज शान्तनुकी

पत्नी सत्यवती और पराशर ऋषिके समागमसे हुआ था। और उसीसे उत्पन्न विचित्र-वीर्यकी पत्नी अम्बिका और अम्बालिकाके पुत्र पाण्डु और धृतराष्ट्र क्षत्रिय समझे जाने लगे।

बौद्ध कालमें क्षत्रिय लोग अपनेको ब्राह्मणोंसे अधिक प्रतिष्ठित समझने लगे थे। उस समयका साहित्य ब्राह्मणोकी निन्दासे भरा हुआ है। सब कही क्षत्रियोकी बडाई की गई है और ब्राह्मणोका उल्लेख अपमानजनक शब्दोंमें किया गया है।

तित्तर जातकमें एक कथा है कि एक बार बुद्धदेवने भिक्षुओकी सभामें पूछा कि सबसे अधिक और सबसे पहले किसका सम्मान होना चाहिये? इसके उत्तरमें कुछ भिक्षुओ ने कहा—"खत्तिय कुलापब्बजिते," अर्थात् "क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न हुए भिक्षुओका।" बुद्धके समयमें और उसके बाद भी बहुत दिनो तक सब जातियोके लोग साधु बनते थे और समाजमें उनका बहुत आदर था। भगवान बुद्धने मातग चाण्डालको गले लगाकर भिक्षु बनाया था। बड़े-बडे ब्राह्मण उसकी सेवामें उपस्थित हुआ करते थे। परन्तु अब्राह्मण भिक्षुओका सम्मान समाजमें बहुत दिन टिक न पाया।

जब तक अशोक जैसे लोग रहे, धर्माचरणमें सबका समान अधिकार रहा। परन्तु उनके बाद अवस्था यहाँ तक गिर गई कि लोग बुद्धको भी गालियाँ देने लगे। लोग कहने लगे कि बुद्ध क्षत्रिय था, उसे धर्मोपदेश देनेका कोई अधिकार नही था। कुमारिल भट्टने स्पष्ट कहा है—"जिस बुद्धने क्षत्रिय होकर भी धर्मोपदेश और भिक्षावृत्ति अपनाकर स्वधर्म-त्याग किया वह ठीक-ठीक धर्मोपदेश देगा, इसपर कैसे विश्वास करलें? और रही अहिंसादि जो वेदादि सच्छास्त्रोमें भी हैं, वह भी (बुद्ध या बुद्धके शिष्यके उपदेश से ग्रहण की जाए), तो उसी प्रकार निकम्मी और अविश्वास्य है जैसे कुत्तेकी खालमें पडा दूध (अपवित्र) निकम्मा होता है।"

जैन साहित्यमें भी ब्राह्मणोको क्षत्रियोंसे घटिया बताया गया है। "जैन कल्प-सूत्र" में महावीरके जन्मकी एक विचित्र कथा कही गई है। उसमें लिखा गया है कि महावीर जब पुष्पोत्तर नामके स्वर्गसे जन्म लेनेके लिए उतरे, तो ऋषभदत्त नामक ब्राह्मण की पत्नी देवनन्दाके गर्भमें आये। परन्तु इससे पहले यह कभी नही हुआ था कि किसी महापुरुषने ब्राह्मणकुलमें जन्म लिया हो। इसलिए शुक्रने इस महापुरुषको देवनन्दा के गर्भसे हटाकर रानी तृषलाके गर्भमें रख दिया। ("बौद्धकालीन भारत", तीसरा अध्याय।)

क्षत्रियोके इस सारे प्रयासके रहते भी ब्राह्मणोने चालाकीसे उन्हे मात कर दिया। १८४ ई० पूर्वमें मौर्योके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र सुगने विश्वासघातपूर्वक अपने राजा बृहद्रथको मारकर मौर्य सिंहासनपर अधिकार कर लिया। पुष्यमित्रके सिंहासनपर बैठते ही ब्राह्मण दबदबेकी ऐसी जबरदस्त लहर उठी जिसने सारे भारतीय समाजको दहला दिया। पुष्यमित्र पहला ब्राह्मण था जो कभी किसी राजसिंहासनपर बैठा और इसके बादसे ब्राह्मणोकी गिनती भी शासक वर्णमें होने लगी। ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है कि इस घटनाके स्मारकमें पुष्यमित्रने अश्वमेध यज्ञका समारोह किया। इस यज्ञके आयोजनसे पुष्यमित्रकी इच्छा शायद वैदिक कर्मकाण्डको फिरसे चालू करना रही होगी। "मञ्जुश्री मूलकल्प" का बौद्ध लेखक लिखता है कि सिंहासनपर बैठनेके बाद पुष्यमित्र

ने वौद्ध मठोंको गिरवा दिया, वौद्ध स्मृति-चिन्होंको वरवाद करा दिया और वड़े-वड़े सच्च-रित्र वौद्ध-भिक्षुओका वध करवा दिया।

सुग सेनापतिके नेतृत्वमे ब्राह्मणोकी इस प्रतिक्रियाको स्वर्गीय श्री जायसवालने रूढिवादी प्रतिक्रातिके नामसे पुकारा है। इस प्रतिक्रातिका पूरा चित्र हमें "मानव-धर्म शास्त्र" में मिलता है। इसी मानव-धर्मशास्त्रको "मनुस्मृति" कहा जाता है। जायसवाल के अनुसार यह धर्मशास्त्र पुष्यमित्रके समय लिखा गया। "नारद-स्मृति" के अनुसार इसका रचयिता सुमति भार्गव नामक व्यक्ति था; या कमसे कम उसने पुरानी मनुस्मृतिमें दकियानूसी नई व्यवस्थाएँ सम्मिलित करदी। इस मनुस्मृतिमें नीचेके तीन वर्णों के प्रति घृणा और द्वेप भरा पडा है।

इस प्रकार ब्राह्मणी सत्ताके प्रतिष्ठित हो जानेपर जात-पाँत तोड़कर विवाहोका होना वन्द हो गया क्योकि ऐसे विवाह करनेवालो के लिए घोर दण्डकी व्यवस्था कर दी गई। जो लोग अपने वर्ण या जातिसे वाहर विवाह करते थे, उनको और उनकी सन्तानको समाजसे पतित और भ्रष्ट कर दिया जाता था। इस सामाजिक वहिष्कारके परिणाम-स्वरूप ही अछूत जातियोकी उत्पत्ति हुई है। चन्द्रनगरके फ्रेंच प्रधान न्यायाधीश श्री जकलियट अपनी पुस्तक 'भारतमें वायविल' में लिखते है—

"सुनिए, मनु उनका किन शब्दोमे प्रतिपेध करता है—

"जिन लोगोपर (जाँत-पाँत तोडनेके) कलंकका टीका लग गया हो; उनके सवधियोको, क्या मातृकुल और क्या पितृकुलके, चाहिए कि उनका परित्याग करदें और करुणा एव आदरकी कुछ भी परवाह न करें।"

"हमें उनके साथ रोटी और वेटी सवध नही रखना चाहिए। न उनके साथ मिल कर यज्ञ और पठन-पाठन ही करना चाहिए। सवं सामाजिक वंधनोंसे पृथक् वे पृथ्वी पर दु ख झेलते फिरें.। इस दण्डनीतिसे सारी जातिसे सर्वथा वहिष्कृत कर देनेसे अभोग और सदाके लिए अपमानित अछूत नामके मनुष्यकी उत्पत्ति हुई।

"जव अछूत ब्राह्मणको अपनी ओर आता देखता है, तव उसे चटपट रास्ता छोड़ देना पड़ता है, और दस पगके अन्तर पर, अपनी दीनताको दिखलानेके लिए, धूलिमें लेटकर प्रणाम करना पड़ता है, नही तो ब्राह्मणके नौकर उसे पीट-पीटकर मार डालते है।"

पौराणिक कालमें चालाक ब्राह्मणोको "भूसुर" अर्थात् पृथ्वीके देवताकी उपाधि दी गई। पर अव तक भी ब्राह्मणोको पूजनीय होनेके लिए विद्वान होना आवश्यक था। गरुड पुराणमें तो अशिक्षित ब्राह्मणका श्राद्धमें सम्मिलित होना भी निपिद्ध था। परन्तु आगे चलकर यह अड़चन भी हटा दी गई। ऐसे-ऐसे श्लोक रचकर पुराने और नये ग्रंथोमें डाल दिये गये, जिनमें ब्राह्मण होनेके लिए एक विशेप घरानेमें जन्म लेना ही पर्याप्त वताया गया, उसके आचार-व्यवहार और योग्यताकी विलकुल परवाह नही की गई। अतएव महाभारतमें[१] लिखा मिलता है कि भले या वुरे किसी भी कर्मको करते हुए ब्राह्मण का तिरस्कार नही करना चाहिए। मनुस्मृति[२] कहती है कि ब्राह्मण यदि पूर्णतया पापोमें लिप्त हो, तव भी उसे न मारे।'

---

१. ब्राह्मणो नावमंतव्यः सदसद्वा समाचरन्। आदि पर्व, ९०–१३

२. न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्। मनु, ७–३७०

ब्राह्मण जन्म लेते ही पृथ्वीके समस्त जीवोंमें श्रेष्ठ होता है, सब प्राणियोका ईश्वर होता है और धर्मके खजानेका पोषक होता है (मनु १–९९)। जैसे अग्नि चाहे सस्कारयुक्त हो और चाहे सस्कार रहित, महान देवता है, वैसे ही ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो चाहे मूर्ख, बहुत बडा देवता है। जैसे महा तेजवाला अग्नि मरघटमें शवको जलानेसे भी दूषित नही होता, किन्तु यज्ञमें हवन किये जानेपर फिर वृद्धिको प्राप्त होता है, वैसे ही सब अनिष्ट और पाप कर्म करते रहनेपर भी ब्राह्मण सदा पूज्य ही है क्योकि वह परम महान् देवता है (मनु ९।३१७–३१९)। पराशर स्मृति कहती है* कि ब्राह्मण चाहे बुरे चरित्रवाला भी हो, पूज्य है, पर शूद्र चाहे जितेन्द्रिय हो, पूज्य नही।

गोस्वामी तुलसीदासने तो स्पष्ट ही कह दिया है—

पूजिए विप्र शील गुण हीना। शूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना ॥

ऊपरके वर्णनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्णभेद किस प्रकार गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित न रह कर जन्ममूलक बन गया। फिर भी जात-पाँत तोडक विवाह एकदम बन्द नही हो गये। नवी शताब्दीके आरम्भ तक जात-पाँत तोडक विवाहोकी आज्ञा थी। श्रुतियो और स्मृतियोमें दृढ विश्वास रखनेवाले ब्राह्मण तक जात-पाँत तोडकर विवाह करते थे। दसवी शताब्दीसे समाजका दृष्टिकोण बदलने लगा। स्मृतियो ने घोषणा करना आरम्भ कर दिया कि यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह एक समयमें प्रचलित था पर कलियुगमें उसके लिए आज्ञा नही होनी चाहिये।

बारहवी शताब्दीमें विभिन्न जातियोमें सास्कृतिक भेद-भाव इतना बढ चुका था कि विवाह-सबध सुखदायक नही हो सकता था। निरामिषभोजी ब्राह्मण लडके और मासाहारी क्षत्रिय लडकीका विवाह कैसे साध्य हो सकता था? बारहवी शताब्दीके आरम्भमें हम पाते हैं कि हिन्दू समाज से जातपाँत तोडक विवाहका लोप हो गया।

ऐसी अवस्थामें भी समय-समयपर ऐसे विचारक तथा लोक-सेवक इस देशमें जन्म-ग्रहण करते रहे, जिन्होंने वर्णभेदकी हानियोको देखकर उसे मिटानेका प्राणपणसे यत्न किया। बारहवी शताब्दीमें कर्नाटक प्रान्तके इगलेश्वर बागेवाडी नामक एक गाँवमें मादिराजा नामक एक ब्राह्मणके घरमें बसव नामक एक लडकेका जन्म हुआ। यही लडका बडा होकर लिंगायक सम्प्रदायके आचार्य बसवेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इसने जाति-भेदको मिटानेके लिए घोर आदोलन किया। इसने मधुवय्या नामक एक ब्राह्मण कन्या और हरलय्या नामक एक नीच वर्णके युवकमें विवाह सम्बन्ध कराया जिसके कारण समाजमें बडी भारी खलबली मच गई और बसवेश्वरको अपने प्राणसे हाथ धोने पडे।

सम्राट अशोकके समयमें ही जाति-भेदकी व्याधि कुछ कम हुई थी। इसका कारण यह है कि बुद्ध भीतरी ज्ञान द्वारा अपने दु खोंसे छूटनेका यत्न करने को कहता था। वह सुखकी प्राप्तिके लिए बाह्य सासारिक अवस्थाओका सुधार करने पर बल नही देता था। वह अवस्थाओको वैसीकी वैसी रहने देकर शान्तिपूर्वक सहन करनेको कहता था। इसके विपरीत कई दूसरे सुधारक उपदेश करते थे कि व्यक्तिके दु खको दूर करने

---

* दु.शीलोपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रिय.!
कः परित्यज्यगां दुष्टां दुहेच्छीलवतीम् खरीम् ॥ पराशर स्मृति।

के लिए समाजकी वाह्य रचना या परिस्थितियोंका सुधार करना आवश्यक है। बुद्ध नें वर्णोको मिटानेपर वल नही दिया, वरन् उनको जन्ममूलकके स्थानमें गुण-कर्म-स्वभाव मूलक ठहरानेका यत्न किया। हमारी रायमें यह वुद्धकी वड़ी भारी भूल थी। इसी कारण जाति-भेदका पूर्ण रूपसे उच्छेद न हुआ और बुद्ध धर्मका प्रभाव कुछ कम होते ही वर्णभेदकी विपवेलिका दवा हुआ अंकुर पुन· वड़े ज़ोरसे पल्लवित हो उठा। कारण यह कि गुण-कर्म-स्वभावकी वर्ण-व्यवस्था व्यवहारमें कभी आ ही नही सकती। उसका जन्ममूलक वन जाना अवश्यम्भावी है। आर्य समाज प्रभृति वर्तमान कालकी सुवारक संस्थाएँ भी इस विपयमें वही भूल कर रही है, जो वुद्धने की थी। जव तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदिकी वाँटको नही मिटाया जायेगा, जव तक वर्णभेदकी जड हीको नही उखाड़ा जायेगा', समाजको इस महाव्याविसे मुक्ति नही मिलेगी। सन् १२०० और सन् १६०० ईसवीके वीच कई ऐसे सन्त-महात्मा हुए जिन्होने जाति-भेदके विरुद्ध प्रचार किया। इनमें कवीर, दादू, रैदास, वामदेव और सिख गुरु और सैकड़ो दूसरे महात्मा थे। रामानुज ब्राह्मणने अछूतोकी दशाको सुवारनेका यत्न किया। उसने उनको वर्पमें एक दिन मन्दिर प्रवेश का अविकार दिलाया। हिन्दू धर्मके इतिहास में यह पहला काल था। अछूतोमें वडे-वडे महात्मा उत्पन्न हुए और कट्टरताके केन्द्रोमें रहते रहे, जैसे कि चिदाम्वरममें नन्द, अयोध्यामें रविदास और महाराष्ट्रमें चोखा मेला। शूद्रोमें तो ऐसे सन्तोंकी कुछ कमी ही न थी। ये लोग सिद्धान्त रूपसे वर्णभेदको मानते थे। इन्होने केवल आध्यात्मिक वातोमें ही नीच जातियोको ब्राह्मणी शासनसे मुक्त करनेका यत्न किया। हाँ, एक ऐसा भी आन्दोलन था जिसने जाति-भेदको आमूल नष्ट कर डालनेकी घोपणा की। परन्तु यह उद्योग सफल न हो सका। दूसरे वर्णोके लोग इस सम्प्रदायके लोगोका तिरस्कार और इनसे घृणा करने लगे। मानभाव नामसे इन लोगोकी एक अलग जाति वन गई। इस सम्प्रदायका साहित्य मराठी भापामें है।

ब्रिटिश शासन कालमें भी अनेक सुवारक ऐसे उत्पन्न हुए जिन्होने जाति-भेद पर कुठाराघात किया। इनमें ब्रह्मसमाजके सस्थापक राजा राममोहनराय, आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द, देव समाजके गुरु सत्यानन्द, रावास्वामी सत्सगकेआचार्य साहवजी महाराज और महाराष्ट्रमें समता समाज के मुखिया ज्योतिवा फुले विशेप रूपसे उल्लेख-नीय है। इन लोगोंके मार्गमें एक वडी वावा यह थी कि इन्होने कई प्रकारके काम अपने हाथमें ले रखे थे, जिससे वे जाति-भेदके उन्मूलनपर अपनी पूरी शक्ति न लगा सकते थे। इसलिए नवम्वर, सन् १९२२ में लाहौरमें जातपाँत-तोडक मण्डल नामसे एक संगठन तैयार किया गया, जिसका एकमात्र उद्देश्य जाति-भेदको मिटाना था। मण्डल के पहले प्रवान भाई परमानन्दजी और पहला मन्त्री इन पंक्तियोका लेखक ही था।

इस वातका शीघ्र ही अनुभव होने लगा कि जात-पाँतको मिटानेके मार्गमें उस समय का हिन्दू विवाह अविनियम सवसे वडी रुकावट थी, क्योकि इस अधिनियमके अनुसार दो विभिन्न जातियोंके हिन्दुओमें होनेवाले विवाह अवैध थे और ऐसे विवाहोकी सन्तान अपनी पैतृक सम्पत्तिकी अविकारिणी नहीं हो सकती थी। इसलिए जात-पाँतको तोडकर होनेवाले विवाहोको वैध ठहरानेके लिए सव से पहले सन् १९१८ में श्री वी० जे० पटेलने तत्कालीन विधान सभामें एक विवेयक उपस्थित किया था परन्तु

उसे कई कारणोसे आगे आनेवाली सशोधित विधान सभाके लिए स्थगित कर देना पडा। इसके उपरान्त २७ सितम्बर १९३५ को डाक्टर भगवानदास ने उसी विधेयकको फिरसे पेश किया परन्तु तब भी वह पारित न हो सका। इसके बाद ससद् सदस्य श्री ठाकुरदास भार्गवके प्रयत्नसे आर्यसमाजियोके लिए जात-पाँत तोडक विवाहको वैध ठहराने वाला एक विधेयक पारित होकर अधिनियम बन गया। सन् १९४७ में देशके स्वतत्र हो जानेके पश्चात् हिन्दू कोड बिलका जितना अग पारित हो चुका है, उसके अनुसार सभी हिन्दुओंके लिए जात-पाँत तोडक विवाह वैध हो गये हैं। अब ऐसे विवाहोकी सन्तानके लिए अपनी पैतृक सम्पत्ति पानेमें कोई अडचन नही रही। इसके अतिरिक्त हिन्दुओकी विभिन्न जातियोमे जो रहन-सहन, खान-पान, शिक्षा-दीक्षा तथा सस्कृतिका अन्तर था जिसके कारण उनके आपसी विवाह कठिन प्रतीत होते थे, अब शीघ्रतासे दूर होता जा रहा है। इसलिए देशमें जात-पाँत तोडक विवाह बहुत बडी सख्या में होने लगे हैं। अब हिन्दुओंने अनुभव कर लिया है कि यदि जाति-भेदको मिटाया नही जायेगा, तो हमारा अपना अस्तित्व नष्ट हो जायेगा और देशकी स्वतत्रता भी बहुत दिन तक स्थिर न रह सकेगी। इसलिये अब आशा होती है कि यह वर्ण व्यवस्था, जो हिन्दुओंके लिए मरण-व्यवस्था सिद्ध हुई है, थोडे ही दिनमें पूर्ण रूपसे मिट जायेगी। भगवान करे कि वह दिन शीघ्र आये।

—— ०,——

श्री भँवरमल सिंघी

धर्म और कानून

हमारे देशमें सदा ही धर्मका दवदवा वहुत रहा है। हर प्रश्नको, चाहे वह व्यक्तिगत हो, सामाजिक हो, राजनीतिक हो, शिक्षाका हो, धर्मके साथ जोड़ दिया गया है, यहाँ तक कि खान-पान और रहन-सहनको भी धर्मका प्रश्न वना दिया गया है। वैसे तो धर्मका आधार अध्यात्म को माना गया है, परन्तु वस्तुत सारी सामाजिकता, संस्कृति और साहित्यकी जिन वातोंसे अध्यात्मके साथ दूरदराजका भी सम्वन्ध नही हो सकता, उनको धर्मका चोला पहना दिया गया है। इसलिये साहित्य, कला, नृत्य-संगीत, शासन-सचालन और विवाहादि सामाजिक सवालोंमें धर्मादेश ही सव कुछ हो गए। समूचा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन धर्मके विधि-निषेधोंमें वँध गया। और उसका परिणाम यह हुआ कि जिनके हाथमें धर्मकी चोटी थी, उन्हींके हाथमें सामाजिक और राष्ट्रीय कार्योंकी चोटी भी आ गयी। सारी समाज-व्यवस्थाके सहिताकार और सूत्र-संचालक वे धर्मादेशक ही वन गए। चूँकि धर्मका एकाधिकार लगभग ब्राह्मण वर्गके हाथोंमें सीमावद्ध था, इसलिए सारी प्रभुताका केन्द्र ब्राह्मण वन गया और इस धर्मोपजीवि ब्राह्मण सम्प्रदायने अपनी स्थितिको विल्कुल सुरक्षित वनाकर रखनेके उद्देश्यसे धर्मको ईश्वर-प्रणीत और धर्मादेशोको ईश्वरीय विधान वताकर मानो जन-साधारणसे इनके वारेमें किसी प्रकारकी शंका करने या इनपर अंगुली उठानेका भी अधिकार छीन लिया। ब्राह्मण वर्गमें भी जिन लोगोने संन्यास लेकर साधुत्वका वेश पहन लिया, वे तो मानो हर प्रकारसे अखण्ड सत्ताके स्वामी वन गए और समाजका मामूली व्यक्ति ही क्या, राजा तक उनका मुखापेक्षी हो गया। इस एकछत्र सत्ता-भोगकी स्थितिने निहित स्वार्थोंकी सृष्टि करदी, जो स्वाभाविक ही थी। ये निहित स्वार्थ शासक वर्ग और साधु-संन्यासी वर्गके वीच पारस्परिक हित-लाभके लिए गठवन्धन के परिणाम थे। यह गठवधन हजारो वर्षो तक रहा और आज भी है। इनके हाथमें इतनी सत्ता आ गई थी कि वड़े से वड़े तूफान भी इस गठ-वधनको तोड न सके। अंग्रेजोंके शासन-कालमें यूरोपमें हुई औद्योगिक क्राति और फ्रासकी राज्य-क्रांतिके फलस्वरूप यहाँ भी नई हवाका झोंका आया तो सही, पर धर्मादेशो की कठोर चट्टानोको उन झोंकोंसे क्या होता? वे तो अडिग थी। सन् १८५७ की क्रातिने धार्मिक निहित स्वार्थोंको और मजवूत वना दिया और अंग्रेजोने उनको प्रसन्न करनेके लिए यह ऐलान कर दिया कि इस देशके धार्मिक मामलोंमें वे जरा भी हस्तक्षेप नही करेंगे और इस प्रकार सन् १८५७ की क्रातिकी विफलताने जहाँ एक ओर राजनीतिक

आकाक्षाओको धक्का पहुँचाया, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक सुधारके कानूनी रास्तेको वन्द कर दिया। अग्रेजी शासकोने राजनीतिक और सामाजिक प्रगतिकी कीमतपर राज्य-भक्तिका सौदा कर लिया। उसके वाद कई वर्षों तक सामाजिक जडताके खिलाफ मानो कही कोई आवाज़ ही नही पनप पाई, परन्तु जो आग एक वार जल चुकी थी, वह विल्कुल वुझ तो नही सकती थी। शासन और धर्मका गठवन्धन किस प्रकार जनजीवन के साथ खिलवाड कर रहा था, उसपर शोषण और अत्याचार कर रहा था, यह वात उभरती चली गई। तव सामाजिक सुधारोका अभियान फिर वेग लेकर उठा। धर्म ने, धर्म-गुरुओने ईश्वरका नाम लेकर शासन द्वारा दिये गये धर्ममें अन-हस्तक्षेप के वादेकी दुहाई देकर इस अभियानको थामनेकी, विफल करनेकी कोशिश की। देशके प्रगतिशील एव प्रतिगामी तत्वोमें जोरोका सघर्ष हुआ। समाज-सुधारके मामलो में राष्ट्रीय स्वाधीनताका आन्दोलन करनेवाले और सामाजिक प्रगति और परिवर्तन के हिमायती एक तरफ हो गये और शासक एव प्रतिक्रियावादी धर्मगुरु और धर्मोपजीवि दूसरी तरफ हो गए। यह विभाजन स्पष्ट था।

सन् १९४७ में राजनीतिक चित्र परिवर्तित हुआ और शासनमें उन लोगोका वहुमत हो गया, जो सामाजिक मामलोमें भी प्रगतिशील दृष्टि रखते थे—कमसे कम सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक मामलो में धर्मका हस्तक्षेप और धर्मके दृष्टिकोणको कतई पसन्द नही करते थे। राजनीतिक उथल-पुथलसे उत्पन्न हुई स्थितिके शान्त होनेपर नए शासक दलने वर्षोंसे रुके हुए समाज-सुधार सम्वन्धी कानून का दरवाज़ा फिरसे खोला। वहुत सारे सवालोको तो सविधान वनाते समय ही सुलझा लिया और यह निश्चय करके कि धर्म-निरपेक्ष राज्यका उद्देश्य रखकर शासन किया जायगा, मानो धर्मकी रीढ ही तोड दी। इस चोटसे सारा तथाकथित धर्म-वर्ग तिलमिला उठा और अपने धर्मका महानाश, धर्मपर महान खतरा आदिके नारोसे आकाशको गुजा दिया। पर नये विधान वनानेवालोके भारी वहुमतने इस हो-हल्लेकी परवाह न की और फिर शीघ्र ही हिन्दू कोड विलको पास किया। हिन्दू कोडको प्रधान मत्री श्री जवाहरलाल नेहरूने नयी सरकारका महान् कदम वताकर धर्मके घायल शेरोको पुन चिढा दिया और उस विलके विरोधमें, धर्म-रक्षाके नामपर वहुत कुछ सगठित विरोध हुआ। इस विरोध ने राष्ट्रपतिका आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। एक वार तो ऐसा लगा कि सुधारोकी हार हो गई, पर फिर शीघ्र ही नेहरुजी की धमकने हिन्दूकोडको चुटकियोमें पास करा दिया। एक कानून न होकर उसके अलग-अलग विभाग वनाकर पास किये गये। हमारी समझमें हिन्दू कोडका पास होना सामाजिक क्षेत्रमें कानूनका सवसे वडा कदम है और धर्ममें कानूनका हस्तक्षेप न हो, इस आन्दोलन पर सवसे वडी विजय है। आज किसे विदित नही है कि अगर धर्ममें हस्तक्षेप न करनेके नामपर किसी प्रश्नको छोड दिया जाय, तो फिर भारतमें कोई सुधार और परिवर्तन सभव ही नही है।

सविधान वन गया, हिन्दू कोड वनाकर सामाजिक सुधारोका अगीकार भी हो गया पर धर्म और धार्मिकोके षड्यत्र और उसके नामपर निहित स्वार्थवालोकी पैंतरेवाजी का अभी सर्वथा नाश कहाँ हुआ है ? देशमें ८० लाख साधु-सन्यासी वैठे है, जो सिर्फ विना कुछ काम किए अध्यात्मकी हवाई वारहखडी दोहराते हुए मुफ्त की रोटी खाते है और

आलस्य एवं काहिलीका जीवन व्यतीत करते है। ये ८० लाख साधु प्रगतिके विरुद्ध पुराने धर्मादिगोके सरक्षणके लिए वह सेना है, जिसको पूँजीपति वर्ग मन्दिरोमें, आश्रमोमें विठाकर, खिला-पिलाकर तैयार रखता है। इनका काम हर मौकेपर नए विचारो, नये परिवर्तनोका विरोध कर ईश्वर, धर्म और शास्त्रोकी रक्षा करना है। और, अप्रत्यक्ष रूपसे, अपने अन्नदाता सेठ-साहूकारो और जमीदार-जागीरदारो की सेवा करना है। इनसे जब तक मुक्ति नही मिलेगी, इनकी संस्था को जब तक नेस्तनाबूद नही कर दिया जायगा, तब तक जन-जीवन अज्ञान, अन्धविश्वास और शोषण-उत्पीड़न से बाहर नही निकल सकेगा। पिछले दिनो श्री नेहरूने इन ८० लाख बेकार ढोंगियो को भारतकी छाती पर एक बोझ बताया था। प्रधान मन्त्रीके इन विचारोसे उनकी जमातके कान खड़े हो गए और उनमेंसे कुछ लोगोने पंचवर्षीय योजनाओंके शिविरमें घुसकर पाँचवें दस्तेका काम करना शुरू कर दिया। यह निश्चित है कि ये लोग नव-निर्माणका नाम लेकर नव-निर्माणकी बुनियादो के शत्रु सिद्ध होंगे। ऐसी स्थितिमें यह स्वाभाविक है कि उत्तरोत्तर यह आवाज बढे कि इन लाखो साधु-सन्यासियोपर, उनके मठो-आश्रमो और उपायोपर कानूनी नियन्त्रण रहे, मन्दिरो आदि की धर्मादा सम्पत्तियोपर भी नियंत्रण रहे, और चाहे जैसे साधु मूँड लेनेकी वृत्ति-प्रवृत्तिपर रोक-थाम हो। कुछ दिन पहले वम्बईकी विधान-सभामें और बादमें लोक-सभामें बाल-दीक्षा प्रतिरोधक बिल उपस्थित किया गया था, जिसको लेकर साधु-संस्था और उसके पृष्ठपोषकोमें बहुत हो-हल्ला मचा था। बिलके विरोधमें कतिपय पूँजीपतियो और दलालोके रुपए ही नही उछाले गए वरन् लाठियाँ भी उठाई गई थी। वे बिल अभी विचाराधीन ही है कि संसद्में दिल्लीके सदस्य श्री राधारमणने साधु-संन्यासियोंके पंजीकरण एवं अनुमति-प्रदान विधेयक (दी साधूज एण्ड सन्यासीज रजिस्ट्रेशन एण्ड लाइसेंसिंग बिल) प्रस्तुत किया है जिससे बेचारे धर्मध्वजियोकी फिर नीन्द हराम हो गई। जैसा कि विधेयकके नामसे ही प्रकट है, इसके द्वारा साधु-सस्थाका विच्छेद और विघटन नही हो सकेगा परन्तु चोरकी दाढ़ीमें तिनकेवाली बात है। वे लोग जानते है कि आज पंजीकरण और अनुमति-प्रदान होगा और कल उच्छेदकी माँग आजाएगी। वे सरकारके कानूनमें पडना ही नही चाहते। अगर वैसा हो तो फिर उनके काले कारनामें बहुत दिन तक छिपे नही रह सकते। उनका यह डर ठीक भी है, परन्तु बकरेकी माँ कब तक खैर मनायेगी? भारतके जन-जीवनको भयकर अज्ञान और पीड़नमें रखकर साधु-संन्यासियोंने उनकी प्रगतिके मार्गको अवरुद्ध रखा है और जिस तरहसे शोषक वर्गके हाथोको मजबूत किया है, उसे देखते वे अधिक दिन तक खैर नही मना सकते। इन लोगोने भारतीय सविधान के धर्म-निरपेक्षताके आदर्शकी दुहाई देकर चिल्ल-पो मचाई है कि सरकार इस प्रकार धर्म-संस्था में बाधक क्यो होती है? ऐसा करके वह अपने स्वीकृत आदर्श और विधान का उल्लघन करती है। पर यह तर्क उन्होंने कब नही किया? हर सामाजिक सुधारके विरुद्ध उन्होने धर्मका शस्त्र ही सबसे आसान और कारगर पाया। जब तक हम इस शस्त्रको रहने देंगे, वे इसका दुरुपयोग, विफल ही सही, करते रहेंगे। जिस कानूनसे हम ऐसा कर सकेंगे, वह सौ कानूनो का एक कानून होगा और जिस दिन वैसा हो जायगा, उस दिन देशकी भूमिपर नया आलोक और नया जीवन विकीर्ण होगा।

श्रीमती सुभद्रा देवी

परदे का अभिशाप

हमारे घर और समाजमें सबसे अधिक दूषित, घृणित, पापमूलक और अन्यायमूलक यदि कोई प्रथा है, तो वह परदे, घूंघट अथवा बुरकेकी है। उसका प्रारम्भ कितना भी पुराना क्यो न हो और चाहे किसी भी कारणसे क्यो न हुआ हो, आज उसका बना रहना कुछ भी अर्थ नही रखता है और किसी भी तर्क अथवा युक्तिसे उसका समर्थन नही किया जा सकता है। वह सर्वथा अस्वाभाविक और ऐसी कृत्रिम स्थितिका सूचक है कि उसको और अधिक सहन करना सभव ही नही है। उसके समर्थनमें जो कुछ भी कहा जाता है, उस सबका प्रतिवाद उससे पैदा हुए दुष्परिणामोसे स्वत हो जाता है। जो भी कोई सदुद्देश्य उसके सबधमें बताए जा सकते है, उन सबको उसने स्वत पराजित कर दिया है। इस दृष्टिसे अधिक विनाशकारी दूसरी कोई कुप्रथा नही हो सकती। तर्क, युक्ति, विवेक और बुद्धिकी कसौटीपर वह एक क्षण भी ठहर नही सकती, फिर भी आश्चर्य यह है कि जिन समाजो अथवा प्रदेशोमें वह प्रचलित है, उसमें वह जनताके घरेलू एव सामाजिक जीवनका अनिवार्य अग बन गया है और उसको धर्म, कुलमर्यादा, मान-प्रतिष्ठा तथा शील व सदाचारका अनिवार्य अग माना जाने लग गया है, जात-पाँत, छून-छात तथा ऐसी ही अन्य सामाजिक रूढियो तथा परम्पराओकी तरह उससे भी चिपटे रहनेका दुराग्रह किया जाता है। धार्मिक भावना तथा सामाजिक शासनने अन्य अनेक कुप्रथाओकी तरह उसका भी निरतर समर्थन एव पोषण किया है। अनेक कुप्रथाओको धार्मिक पक्षपात एव सामाजिक पाप अथवा अन्याय मानकर उनका अत शासकीय कानूनोसे किया जा रहा है, किन्तु इसके विरुद्ध शासकीय कानून भी बनाया नही जा सकता। यह व्यक्तिगत जीवन के साथ कुछ ऐसा घुलमिल गया है कि उसको किसी कानूनसे दूर करना अशक्य हो गया है। केवल व्यक्तिगत जागृति, सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय प्रगति ही उसको दूर कर सकते है, परन्तु हमारे देशमें उस सबकी गति बहुत ही मन्द है और इस कुप्रथाके दूर होनेमें अनावश्यक रूपसे बहुत समय लग रहा है। जो जागृति, चेतना अथवा प्रगति हुई या हो रही है, उससे कुछ लाभ अवश्य मिला है, किन्तु इसकी जडें इतनी गहरी जमी हुई है कि उनको हिलाना अत्यन्त दुसाध्य हो रहा है।

परदे का प्रारम्भ

किसी भी बीमारीका उपचार करनेसे पहले उसके मूल कारणकी खोज कर लेनी आवश्यक है। ठीक-ठीक निदानके बिना ठीक-ठीक उपचार नही हो सकता। परदा

प्रथाके विरुद्ध सामाजिक चेतनाको जाग्रत करनेके लिए उसके प्रारंभकी कुछ छानवीन अवश्य की जानी चाहिए और उसके सम्वन्धमें वर्तमान भ्रात धारणाओका निराकरण भी किया ही जाना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे इस विपयकी छानवीन नही की जा सकती और यह नही कहा जा सकता कि किस काल-विशेपमें किन विशेष कारणोसे इसका प्रारम्भ हुआ। सच तो यह है कि ऐसी किसी भी सामाजिक कुप्रथा और धार्मिक अंध-पक्षपातके सम्वन्धमें काल एव कारणकी दृप्टिसे ठीक-ठीक विवेचन नही किया जा सकता परन्तु यदि कोई प्रथा कुप्रथाका रूप धारण कर लेती है, तो सिवा एक रूढिके किसी अन्य आधारपर उसका समर्थन नही किया जा सकता। तर्क, युक्ति अथवा विवेककी कसौटीपर वह पूरी नही उतर सकती और उसके दुष्परिणाम कठोर तथ्य वन कर आँखोके सामने नाचने लगते है। तव वह केवल इसलिए कायम नही रहनी चाहिए कि वह कोई पुरानी प्रथा है अथवा उसको किन्ही कारणो अथवा सदुद्देश्योसे प्रारम्भ किया गया था। फिर यह भी भुलाया नही जा सकता कि अधिक कुप्रथाओका प्रारम्भ मनुष्यकी गर्हित अथवा निन्दनीय कुप्रवृत्तियों, कुत्सित वासनाओ तथा संकीर्ण साम्प्रदायिकताके गर्भमें से हुआ है। परदा प्रथा भी उनमेंसे ही एक है। स्त्रीके प्रति मनुष्यकी भावनाने जव वासनाका रूप धारण किया और जव वह कुत्सित वन गई तव उसके प्रति अनेक पापमूलक एवं अन्यायमूलक परम्पराओका सूत्रपात हो गया। ससारका कोई भी धर्म, सम्प्रदाय, समाज, देश अथवा राप्ट्र उनसे वचा नही रह सका। इसीलिए स्त्रीके प्रति मनुष्यके पाप तथा अन्यायका प्रादुर्भाव भी सवमें समान रूपसे हुआ है। कोई भी धर्माचार्य अथवा धर्म-ग्रंथ ऐसे नही है जिन्होने स्त्रीके प्रति पुरुपकी इस हीन भावनाका प्रतिपादन न किया हो और कोई भी देश अथवा समाज ऐसा नही है, जिसमें उसके प्रति दीन भावनाके कारणही स्त्रीपर पुरुषका साम्राज्य कायम करके उसको पराधीन वनाया गया हो। स्त्रीको अवला एव पराधीन वताकर उसकी स्वतंत्रताका अपहरण सभी धर्मो, समाजो तथा देशोमें समान रूपसे सभी कालोमें किया गया है।

परदा, वाल-विवाह, सती, जात-पाँत, छूतछात और स्त्री-शिक्षाके अभाव आदि सव कुरीतियोके प्रारम्भ होनेका दोप एकाएक मुसलमानो अथवा मुस्लिम-कालपर मढ़ दिया जाता है। इन सवको मुस्लिम-भय और मुस्लिम सभ्यताका दुष्परिणाम कहा जाता है। यह सर्वांशमें सत्य नही है। सच तो यह है कि इसलाम जिस अरव देशकी देन है, वहाँकी देन ये सव रीति-रिवाज़ नही हैं। हजरत मुहम्मद साहवके समयमें स्त्रियाँ पुरुपो के साथ मस्जिदोमें अलग पक्तिमें खडी होकर नमाज पढा करती थी, उनके साथ युद्धोमें सम्मिलित होती थी और खलीफाओके साथ गम्भीरसे गम्भीर विपयोपर चर्चा-वार्ता किया करती थी। कुरानशरीफकी अनेक आयतोका सग्रह स्त्रियोंके पाससे किया गया है। कुरान-शरीफमें स्त्री और पुरुप दोनोंके लिए एक-सी व्यवस्था की गई है और किसी भी प्रकारके भेद-भावसे काम नही लिया गया है। दोनोको एक-दूसरेके प्रति नीची निगाह रखने के लिए कहा गया है। इसके विपरीत हिन्दुओंके रामायण तथा महाभारत सरीखे प्राचीन ग्रंथोमें परदा सरीखी कुप्रथाका उल्लेख मिलता है। रामायणमें सीता और मन्दोदरी दोनोंके लिए "असूर्यम्पश्या" सरीखे शब्दोका प्रयोग करते हुए उनके राजप्रासादो में वन्द रहनेका वर्णन मिलता है। अन्य अनेक संस्कृत ग्रथोमें भी स्त्रीके लिए अवगुठनवती

आदि शब्द प्रयोग किये गए हैं। सच तो यह है कि परदेका प्रारम्भ हुआ है मनुष्यकी उस बुद्धिसे, जिसने स्त्रीके प्रति अन्याय, स्वार्थ और उसपर शासन करनेकी भावनाको जन्म दिया। इसी कारण उसको घरकी चहारदीवारीमें बन्द किया गया। घरोंके दरवाजों पर परदे लगाये गये और उसके लिए खुली हवा और प्रकाश तकको दुर्लभ बना दिया गया। इस पराधीनताके नएसे नए बंधनोंका निरन्तर आविष्कार किया जाता रहा। स्त्रीके प्रति पुरुषके समस्त दुर्व्यवहार और विवाह-संबंधी सारी कुरीतियाँ इन आविष्कारोंका ही दुष्परिणाम है। पुरुषकी स्त्रीके प्रति सन्देहपूर्ण भ्रात धारणासे उसको और अधिक समर्थन मिला। यह धारणा इतनी कुत्सित एव दूषित बन गई कि उसने निरंकुशताका वीभत्स रूप धारण कर लिया। यह सब किसी आपत्कालका भी परिणाम नहीं है, अपितु सदियोंकी परम्परागत और क्रमागत सामाजिक दुर्व्यवस्थाका स्वाभाविक परिणाम हैं। स्त्रियोंके उदार, सरल तथा पुरुषोंके प्रति सर्वतोभावेन आत्मार्पण करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्तिसे भी उसने अनुचित लाभ उठाया है। उनकी श्रद्धा, भक्ति एव मर्यादामें रहनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति, धर्ममें अंध भावना तथा ऐसे ही उनके अन्य सद्गुणोंका दुरुपयोग किया गया है। स्थिति यह पैदा कर दी गई है कि वह घरकी चहारदीवारीमें बन्द रहनेवाली अविश्वसनीय गृहिणी, सदा पराधीनताका दुःख भोगनेवाली दासी, घर परिवार तथा समाजसे त्यागी हुई असहाय विधवा अपने पेटके लिए अपने सर्वस्व सतीत्व तकको बेच देनेवाली समाजसे तिरस्कृत एव निराश्रित वेश्या, धर्माचार्योंकी पोपलीला एवं पापलीलाका शिकार बनी हुई धर्ममंदिरोंमें नाच-गान करनेवाली देवदासी और दुर्व्यसनी तथा विलासी शासकों एव सम्पन्न लोगोंके भोग-विलास व आमोद-प्रमोदका साधन बन राज-प्रासादों, महलों तथा अट्टालिकाओंमें राग-रंग करनेको बाध्य की गई वारांगना ही रह गई। उसका वीरांगनाका रूप सर्वथा विनष्ट कर दिया गया। उसकी आत्मिक मानसिक एवं शारीरिक दुर्बलताओंका अतिरंजित चित्र खींचकर उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं अस्तित्व तककी अवहेलना कर दी गई। आदर्श वैदिक कालमें की गई सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त करके यह विधान बना दिया गया कि "स्त्रियोंका वैदिक कर्मकांड केवल विवाह है, पति-सेवा ही गुरुकुल वास है और घरका चूल्हा चौका ही अग्निहोत्र है।" ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक कालमें स्त्रियोंके प्रति पैदा हुई दीनता, हीनता एव पराधीनताकी कुत्सित भावनाके गर्भमें से परदा सरीखी कुरीतियोंका जन्म हुआ है। ये सब कुरीतियाँ ब्राह्मण धर्मकी अधम देन है जिनका प्रारम्भ पौराणिक कालमें ही हुआ है। यदि वास्तव में ही ये कुरीतियाँ मुस्लिम सभ्यता अथवा आतंकका परिणाम है, तो उनके कम हो जानेके साथ-साथ इनका भी अंत हो जाना चाहिए। परन्तु वैसा हुआ नहीं और न हो रहा है। स्त्री और पुरुष दोनोंके ही स्वभावका परदा सरीखी कुरीतियाँ अंग बन गई है। उनको धर्म एवं समाज दोनोंके लिए अनिवार्य माना जा रहा है। पुरुषने अपनी शूरता, वीरता, साहस एवं पुरुषार्थ आदि सब सद्गुणोंको तिलांजलि देकर स्त्रीके शील, मान-मर्यादा एव प्रतिष्ठा के लिए जिस दिन कपड़े के दो अंगुल परदेपर भरोसा करना शुरू किया वह इसकी कायरताकी घोषणा का दिन था, जिसके लिए उनको आज तो कुछ लज्जा अवश्य अनुभव होनी चाहिये। परन्तु यह निर्लज्जता इस पराकाष्ठापर पहुँच गई कि अनेक हिन्दू नेता इसी आधारपर परदेका समर्थन करते सुने गए।

उपहासास्पद स्थिति

यह भी अत्यन्त विस्मयजनक स्थिति है कि विवाहसे पहले उसकी रक्षाके लिए परदेकी आवश्यकता अनुभव नही की गई और विवाहके बाद भी मायकेमें परदा न करके केवल ससुरालमें ही परदा आवश्यक समझा गया। मानो ससुरालमे जाकर अथवा पतिको पाकर वह सर्वथा असुरक्षित हो जाती है। यह भी कुछ कम उपहासास्पद नही है कि अकेलेमें पतिसे अथवा भाई आदिसे परदा नही किया जाता, किन्तु जहाँ दोनो एक साथ उपस्थित हुए वहाँ सहसा ही परदा कर लिया जाता है। इसका अर्थ क्या है? पति और भाई दोनोमेंसे किससे सुरक्षित रहनेके लिए वह परदा किया जाता है? इसी प्रकार आदिसे अत तक परदा अत्यन्त उपहासास्पद स्थितिका ही सूचक है। माता-पिता समान सास ससुरसे परदा करना सिवाय ढोंग या आडम्बरके और क्या है? स्त्रियो से स्त्रियोका परदा मूर्खताकी पराकाष्ठा है। उसको बडोके प्रति सम्मान प्रदर्शन अथवा उनकी प्रतिष्ठाकी रक्षाका प्रतीक मानना भोलापन नही, तो और क्या है?

स्त्रियोके सौन्दर्यकी रक्षाके साथ परदेका सम्बन्ध जोड़ना और भी अधिक बडी विवेकहीनता है। स्त्री स्वभावत सौन्दर्यप्रिय है। इसलिए उसके साज-शृंगार के साथ परदेका सम्बन्ध जोड़कर उसको गहने-कपडेके साज-शृंगारमें कुछ ऐसा उलझाया गया है कि उसने अपनी इस गुलामी तकको अनुभव करना छोड़ दिया है और वह उसीमें सुख व संतोप व सौन्दर्य मानने लग गई है। दास जब दासताका अनुभव करना छोड़ देता है, तब उसकी दासता पराधीनताकी चरम सीमा हो जाती है। स्त्रियोकी पराधीनता भी इस चरमसीमापर पहुँच गई है। उसने यह अनुभव करना छोड दिया कि उसने अपने स्वतंत्र अस्तित्व और व्यक्तित्वको किस ओछी कीमतपर खो डाला है। कुछ गहने कपड़े और आडम्बरके लिए अपनेपनको सर्वथा भुला बैठना उसके लिए कितना महँगा सिद्ध हुआ है। सोने-चाँदीकी हथकड़ी-बेडीको उसने आभूपण मानकर उनसे अपना साज-शृंगार करना प्रारभ कर दिया। इस पराधीनताके समस्त बन्धनोको काटनेके लिए परदेके साथ-साथ साज-शृंगारकी भावना, वेश-भूपाके आडम्बर और गहने व कपड़ेके लोभ-लालचको भी सम्पूर्ण रूपसे तिलाजलि देनी आवश्यक है। दासता अथवा पराधीनताका आंशिक रूपमें परित्याग नही किया जा सकता। चीनमें भी स्त्रीको भारतीय महिलाके समान पराधीनताके बन्धनोमें जकड दिया गया था और उसके पैरोमें बचपनमें ही लोहेकी जूतियाँ पहनाकर उसको पंगु बना दिया जाता था। पगु बना देनेवाले उसके ये छोटे पैर-सौन्दर्यके चिन्ह माने जाते थे। नए चीनकी नव-जाग्रत महिलाने इन लोहेकी जूतियोके साथ-साथ साज-शृंगारकी सारी सामग्रीको भी तिलांजलि दे डाली है। अन्य देशोकी स्वतन्त्रताप्रिय महिलाओने भी ऐसा ही किया। हमारे देशकी महिलाओको भी ऐसा ही करना होगा। सम्भवत. वह संसारमें सबसे अधिक आभूपण-प्रिय है। इसी कारण उसमें परदेकी कठोरता भी सबसे अधिक पाई जाती है।

परदेकी बेहूदगी

परदेकी बेहूदगी तथा अनौचित्यको दिखानेके लिए बहुत कुछ लिखा जा सकता है; परन्तु यहां उसके विस्तारमें जानेकी आवश्यकता नही है। अपने घरवालोंसे परदा करनेवाली महिलाएँ बाज़ारू लोगोंसे प्राय: परदा नही करती। फेरी-

वाले, खोमचेवाले, चूडीवाले तथा ऐसे ही अन्य लोगोसे परदा नही किया जाता। अवध के रईसो, राजस्थानके वैश्यो तथा राजपूतो, बिहारके सम्भ्रात घरो, बगालके कुलीन कायस्थो तथा गुजरातके बडे परिवारोमें इस प्रथाका अधिक जोर है। उसके विपरीत दक्षिणमें उसका कही नाम भी नही है। परदेके कारण जिन सद्‌गुणोकी रक्षा हुई बताई जाती है, क्या दक्षिणमें उन सबका अभाव है? फिर, जिन गरीब एव साधारण स्थितिके लोगोमें परदा नही है और जिनमें जीवनके हर काम-काजमें स्त्रियाँ पुरुषोका हाथ बँटाती है क्या उनमें भी ये सद्‌गुण नही पाए जाते? पेट नगा कर, दो अँगुलियोंके बीच आँखें निकालकर जो देवियाँ खुले बाजार गीत गाती निकलती है और विवाहके अवसरपर बारातियोपर गालियोकी वर्षा करती नही लजाती उनका परदा सिवाय बेहूदगीके और क्या है? पजाबमें स्यापेके समय स्त्रियाँ अपनी सारी लाजको उठाकर खूँटीपर रख देती है। ऐसे कितनेही उदाहरण परदेकी बेहूदगीके दिए जा सकते है।

परदेका पाप

परदेके कारण समाजमें जिस पापकी सृष्टि हुई है, उसको प्रकट करना अत्यन्त आवश्यक है। केवल कल्पना या अनुमान से काम न लेकर हम यहाँ कुछ अनुभवी लोगो के अनुभव देना चाहते हैं। सामाजिक दृष्टिसे सम्भवत मारवाडी, राजपूत, कायस्थ तथा मुसलमान सबसे अधिक परदेके शिकार है और क्षेत्रीय दृष्टिसे सम्भवत बिहारमें सबसे अधिक कठोर परदा पाया जाता है। पजाबकी एक पुरानी सामाजिक कार्यकर्त्ता श्रीमती पार्वतीदेवी महात्मागाधीकी प्रेरणापर परदा प्रथाके विरुद्ध कार्य करनेके लिए बिहार गई थी। स्वर्गीय श्री मगनलाल भाईको भी गाधीजीने इसी कार्यके लिए बिहार भेजा था, जहाँ कि उनका, यही कार्य करते हुए, स्वर्गवास हो गया था। श्रीमती पार्वती देवीने प्राप्त किए गए अनुभवका वर्णन अत्यन्त कठोर भाषामें किया है, परन्तु परदे सरीखी जघन्य कुप्रथासे पैदा हुए अनर्थोंके लिए नरम भाषा कहाँसे लाई जाय? वे लिखती है कि "स्त्रियोमें भी जीवन है, मनुष्यत्व है, उन्हें भी सूरजकी रोशनी और प्रकृतिकी खुली हवा पानेका अधिकार है,—अभी तक बीसवी सदीमें ये बातें भी जिनको समझानी पडती है, उनकी मूढता और जहालतका भी कोई ठिकाना है? बीस वर्षके अपने सार्वजनिक जीवनके अनुभवसे मैं इस परिणामपर पहुँची हूँ कि परदा जितना व्यभिचारका कारण और आड है, उतना कोई और चीज नही। परदेके पक्षपाती कभी अपने विचारोकी स्पष्ट परीक्षा नहीं करते, क्योकि उनकी बातोमें कोई सम्बद्धता नही है। वे अपने दिलसे पूछें कि वे स्त्रियो को क्या समझते है? जीवनके किसी क्षेत्रमें वे स्त्रियोको आने नही देना चाहते। गृहस्थीकी चिन्ता ही उनके विचारमें स्त्रियोका एकमात्र कार्य है। लेकिन यह भी कहाँ? गृहस्थीकी चिन्ता भी वे उनको स्वतन्त्र प्राणी और मनुष्यकी तरह नही करने देना चाहते। वे उन्हें खुली हवा और रोशनी तकसे वचित कर दासियोकी तरह बन्द रखकर उनसे काम लेना चाहते है! लेकिन दास या कैदी निश्चित दायरेमें बन्द रहते हुए भी उनमे तो स्वतत्र रहते है और अपने नियत कार्य या मेहनत-मजूरीमें लगे रहते है। वे धनी मनुष्य की अर्थ-तृष्णाके मूक और अभागे साधन है। हमारे 'अमीर' और 'कुलीन' समाजमें ही अधिक परदा है। इन 'कुलीन' और 'अमीर' घरोकी परदानशीन स्त्रियोको मेहनत

का कोई काम भी तो नही करना होता। फिर उनके समूचे जीवनका प्रयोजन क्या है? क्या उनका एकमात्र कार्य और प्रयोजन, उनके जीवनका सर्वस्व, पुरुषोकी काम-वासना की तृप्ति करना ही नही है? वे पुरुषकी काम तृष्णाको पूरा करनेकी वैसी ही साधन मात्र है, जैसे कि दास स्वामीकी अर्थ तृष्णाको पूरा करनेके साधन है। विवाहका इस समयका सस्कार इस साधन और सामग्रीको प्राप्त करनेका कानूनी उपाय है। परदा-पक्षपातियोकी विवाह और दाम्पत्य सम्बन्धी कल्पना जड़से ही एकमात्र व्यभिचारकी कल्पना है, स्त्री उनकी दृष्टिमें केवल भोग-विलासकी सामग्री है और उनका दाम्पत्य जीवनका आदर्श केवल कानून और समाजसे स्वीकृत व्यभिचार है। इस मूक प्राणीको उसकी इच्छा पूछे विना एक दूसरे प्राणीके आधीन कर दिया जाय और वह उसे लगातार बन्द रखकर उससे केवल अपनी विषय-वासना की तृप्ति करे मै इसे व्यभिचारके अतिरिक्त कुछ नही कह सकती। भले ही उस व्यभिचारपर समाज, स्त्री-धर्म और कानूनकी मुहर लगी हो।"

श्रीमती पार्वतीदेवीके इस अनुभवपूर्ण कथनके अनुसार परदा पापका मूल ही नही उसको पोषण एवं सरक्षण देनेवाला एक आवरण भी है। इन दिनोमें उससे अधिकतर पापको ढकनेका ही काम लिया जाता है। अपने स्वेच्छाचार, अनाचार एवं निरंकुशताको वह उसमें छिपाए रखना चाहता है।

अवधकी सामाजिक स्थितिका चित्र चित्रण करते हुए एक अनुभवी सज्जन लिखते है कि ""समाज-सुधारमें अवध सब प्रान्तोमें पिछडा हुआ है और उसके सामाजिक जीवन का नैतिक धरातल बहुत गिरा हुआ है। बम्बई और कलकत्ताके बाद लखनऊमें वेश्याओ की सख्या भारतके सब नगरोसे अधिक है। इसका कारण स्पष्ट है। पुरुषका सबसे बड़ा अन्याय स्त्रीको कठोर परदेमें कैद रखना है। व्यवहारमें कुशल न रहनेसे वे अपने पतियोको संतुष्ट नही कर सकती। अपनी स्त्रीके प्रति उसका असतुष्ट हृदय इधर-उधर भटकने लगता है और बाजारू स्त्रियोमें वह फँस जाता है। सामाजिक और नैतिक पतनका यहींसे श्रीगणेश होता है।" पिछले ही दिनोमें समाचार-पत्रोमें लखनऊ नगरके सम्बन्धमें कुछ सख्याएँ प्रकाशित हुई थी, जो उसकी नैतिक स्थितिका नंगा चित्र उपस्थित करनेवाली थी। वहाँकी अदालतोमें एक हजारसे ऊपर ऐसे मामले विचाराधीन थे जिनमें स्त्रियोंने अपने पतियो और कुमारी कन्याओने अपने माता-पितासे अलग किए जाने की माँग इस बिनापर की थी कि उनको अनैतिक जीवनके लिए बाध्य किया जाता है।

राजपूतानाके सम्बन्धमें वहाँके पुराने राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता श्री रामनारायण चौधरीने कभी ठीक ही लिखा था कि "साधारणत. जिन लोगोमें परदेका रिवाज अधिक कठोर है, उनमें बहु विवाहका भी जोर है। मुसलमानो और राजपूतोमें एक से अधिक पत्नी रखना साधारण बात है। राजपूतानेमें एक नरेशके सिवा सबकी अनेक स्त्रियाँ है और जागीरदारोमें भी अधिकांश ऐसे ही है। ऐसी स्थितिमें सदाचार कैसे रह सकता है।? राजपूतानेमें प्रचलित दास-दासीकी कुप्रथाका भी यही कारण है। जब अमीर स्त्रियाँ निकम्मी रहने लगी, तभी ग़रीब स्त्रियाँ दासियाँ बनाकर सेवाके लिये रखी जाने लगी। राजपूतानामें उनकी संख्या १ लाख ६० हज़ार से भी ऊपर बताई जाती है। इनपर मालिकोको पूरा अधिकार रहता है। वे उनको बेच सकते है और

दहेजमें दे सकते हैं। उनको खानेको जूठा और पहननेको उतरा हुआ कपडा दिया जाता है। उनसे कठोरतम और नीचतम काम लिया जाता है। विवाह उनके नाममात्रको होते हैं। दासियोंके अलावा परदेवाले घरोंमें अन्य स्त्री या पुरुष नौकर भी रहते हैं। उनके कारण भी अनाचार बहुत फैलता है।" इस प्रकार परदा अनेक कुरीतियों तथा अनैतिकता और अनाचारका मूल कारण है। कठोर शासनका स्वाभाविक परिणाम पाप और पतन हैं। हमारे घर इसी कारण पाप व पतनके आश्रय स्थान बने हुए हैं।

बंगालमें परदेके ही कारण नारी निर्यातनकी समस्या कभी बहुत भयानक थी। उत्तर भारतके उन सभी राज्योंमें इसका जोर है जहाँ परदेकी प्रथा कठोर है। बंगालमें परदे ने नारी अपहरणकी समस्याको जन्म दिया, राजपूताना में वह नैतिक पतनका निमित्त बन गया, अवधमें उससे अनाचार पैदा हुआ और पंजाबमें वह ढोंगका कारण बन गया।

क्षयका मूल-परदा

परदेके दुष्परिणामकी कहानी भी ऐसी ही भयानक है। सामाजिक पापकी तरह वह व्यक्तिगत रूपसे भी स्त्रियोंके लिए अनेक बीमारियोंका निमित्त बन जाता है। क्षय और गर्भ-सम्बन्धी अनेक बीमारियोंका मुख्य कारण खुले प्रकाश और ताजी हवा का न मिलना है। परदेमें रहनेवाली स्त्री खुली हवा तथा प्रकाशका सुख नहीं भोग सकती। सामाजिक क्षेत्रमें काम करनेवालोंका अनुभव यह है कि एक ही पीढीमें करीब ३२ लाख स्त्रियाँ केवल प्रसवके कारण अपने जीवनसे हाथ धो बैठती हैं। बिहारके देहातों तकमें स्त्रियोंकी मृत्यु संख्या पुरुषोंसे कहीं अधिक है। उनकी औसत आयु भी पुरुषोंसे बहुत कम है। कलकत्ताके सम्बन्धमें वहाँ के स्वास्थ्य अधिकारी डा० क्रेकका अनुभव यह है कि १५ से २० वर्ष की आयुकी लडकियाँ यक्ष्मा रोगसे लडकोंकी अपेक्षा पाँचगुना अधिक मरती हैं। ये लडकियाँ परदेकी कैदमें खुली हवा न मिलनेसे मर जाती हैं।" वे लिखते हैं कि "मुझको विश्वास हो गया है कि खूब घने बसे हुए शहरोंकी गलियोंमें परदेकी प्रथा ही इतनी युवतियोंकी मृत्युका असली कारण है। जहाँ खुले घर हैं और घरोंके साथ खुले आहाते हैं, वहाँ परदा कुछ अंश तक स्वास्थ्यके लिए घातक नहीं होता। बडे शहरोंमें चूं कि आसपासकी गलियोंके कारण एक घर दूसरेसे छिपा नहीं रह सकता इसलिए जबतक हवा और रोशनी भी बन्द न कर दी जाय तब तक एक घर दूसरेसे ओझल नहीं हो सकता। इसलिए घरका बिलकुल भीतरी वह कमरा जनाना रखा जाता है, जिसमें न रोशनी जा सकती है, न हवा और न किसीकी आँखें ही पहुँच पाती हैं।" कलकत्ता की स्वास्थ्य सम्बन्धी एक रिपोर्टमें स्वीकार किया गया था कि वहा की ८२ प्रतिशत बीमार महिलाएँ क्षय रोगसे पीडित थीं। सन् १९२९ में २८ सितम्बरको "यंग वुमैन्स क्रिश्चियन एसोसियेशन हाल" में रेडक्रास सोसाइटीके 'वेल फेयर' वर्कका परिचय देते हुए डा० श्रीमती एडिथ घोषने कलकत्ताके मानिकतल्लाके मकानोंके प्रत्यक्ष अनुभवका वर्णन करते हुए परदेकी बुराइयोंपर भी कुछ प्रकाश डाला था। उन्होंने बताया था कि "अनेक घर ऐसे बने हुए हैं, जिनमें एक-एक कमरेमें २० से अधिक स्त्रियाँ रहती हैं, बच्चों और पुरुषोंकी संख्या उनसे अलग है। मिट्टीका फर्श रहता है। सामने छोटे-से अहातेमें गाय, बकरी और उनके बच्चे बंधे रहते हैं। मुर्गियाँ, बत्तखें वगैरह भी वहाँ ही रखी जाती हैं। घरका कूड़ा करकट भी उसीमें जमा रहता है। बरसातमें ये सब जानवर घरमें

ही वाँधे जाते है और घरके चारो ओर कीचड़का तालाव वन जाता है। मकानोमें हवा और रोशनीके लिए एक भी खिडकी नही रहती।" आगे उन्होने कहा था कि "जिन-जिन वस्तियोमें परदा वहुत कठोरताके साथ किया जाता है, उनमें गर्भावस्थामें हिन्दुओकी अपेक्षा मुसलमान स्त्रियाँ वहुत अधिक कष्ट भोगती है। उन वस्तियोके मकानोमें हवा भली प्रकार नही आती। मुसलमानोके घरोमें तो छोटीसे छोटी खिड़कीको भी वड़े गंदे और फटे टाटोसे ढक दिया जाता है। सामनेका दरवाजा भी इसी प्रकार वन्द कर दिया जाता है। विचारी जच्चाको न तो खुली हवा मिलती है, न प्रकाश और न अच्छा भोजन। परिणाम यह होता है कि उसको भयंकर वीमारियाँ आ घेरती है। क्षय उसको आम तौर पर हो जाता है। विना किसी वीमारीके भी कमजोरी सदाके लिए उसको आ दवाती है। एक मुसलमान स्त्री वच्चेके साथ दवाके लिए मेरे पास आई। वह वीमार और कमजोर थी। मुझको उसपर दया आई। मैंने समझा कि उसको घरसे अस्पताल आने-जानेमें कष्ट होगा। इसलिए मैंने नर्ससे कहा कि उसके वच्चेके लिए दूध और दवा उसके घर ही भेज दिया करो। नर्सने मुझको वताया कि उसके मकानमें एक भी खिड़की नही है। वहाँ उसको खुली हवा और रोशनी नही मिलती। दूध और दवाके वहाने आने-जाने और यहाँ घंटा भर वैठनेमे उसको खुली हवा तो मिलेगी, मैंने देखा कि दो-तीन दिनमें ही उसके चेहरेपर रौनक आ गई। फिर मुझको एकवार एक स्त्रीको देखने के लिए उसके घरपर जाना पड़ा। उसको गर्भकी गड़वड़ीकी शिकायत थी। उसके घरपर जाकर देखा कि उसमे एक भी खिड़की नही थी। दोपहरके समय भी तेलका दिया जलाकर घरमें प्रकाश किया गया था। उसके वदनपर कपड़ेके चिथडे लिपटे हुए थे, मैंने मुश्किलसे उसकी कलाई टटोली और उसकी नाडी देखकर मै हैरान रह गई, वहाँ उसका जीवित रहना कठिन समझ मै उसको ईडन अस्पताल ले आई। वहाँ खुली हवा, खुला प्रकाश और अच्छा भोजन मिलने से विना किसी विशेष दवाके वह तीन-चार दिनमें अच्छी हो गई। मुझको इसमें रत्ती-भर भी संदेह नही कि घरमें हवा-रोशनी आदि न मिलने से उसको गर्भके गड़वड़ होनेकी वह शिकायत हुई थी।" डा० वेण्टली का यह मत है कि क्षय के तीन मुख्य कारण है—पहला आवादीकी अधिकता, दूसरा दरिद्रता और तीसरा परदा। परदेके ही कारण मृत्यु-सख्या हजार पीछे पुरुषोकी जहाँ २४ है वहाँ स्त्रियोकी ३६। डा० डी० एन० मजूमदारके कथनके अनुसार "कलकत्तामें प्रति वर्ष ३० हजार क्षयके शिकार और ३ हजार मृत्युके शिकार होते है, जिसके मुख्य कारण उन्होंने परदा, अज्ञानता तथा लापरवाही वताए है। क्षय-पीड़ित ७५ प्रतिशत में से केवल ५ देहातोमें रहनेवाले होते है और ढाई प्रतिशतको पैतृक कारणोंसे यह वीमारी होती है। शेष शहरोंके निवासी है, जिनको घनी आवादीमें रहनेसे हवा और प्रकाश के अभावमें यह वीमारी होती है।" अनुभवी डाक्टरोकी इन सम्मतियोंके वाद परदे के घातक दुष्परिणामोके सम्वन्धमें कुछ और लिखनेकी आवश्यकता नही।

राजनीतिक दृष्टिकोण

स्वर्गीय देशप्रिय श्री यतीन्द्र मोहन सेन गुप्ताने १६२८ में कलकत्तामें हुई कांग्रेस के स्वागताध्यक्षके पदसे दिए गए भाषणमें देशकी, विशेषत- वंगालकी सामाजिक स्थितिका जो चित्र उपस्थित किया था वह पिछले २८ वर्षोंमें वहुत वदल चुका है फिर भी परदा

प्रथाके दुष्परिणामका राजनीतिक दृष्टिकोणसे जो विवेचन उन्होंने किया था वह आज भी वैसा ही भावपूर्ण और महत्वपूर्ण है। इसीलिये हम यहाँ उनके शब्दोको उद्धृत कर रहे है। उन्होंने कहा था कि "हमको अपनेसे यह पूछना चाहिए कि अपने देशमें वडे-वड़े महापुरुषो द्वारा उठाए हुए आन्दोलन भी क्यो असफल हो गए, जव कि इसी तरह के आन्दोलनोमें टर्की, जापान और चीनको इतनी सफलता प्राप्त हुई। वर्तमान युगके जीवित व्यक्तियोमें सवसे महान् व्यक्ति हमारे नेता है। उनके द्वारा चलाया हुआ अहिंसात्मक असहयोग -आन्दोलन क्यो विफल हो गया, क्योकि अरविन्द सन्यासी वनकर अलग हो गए, जवकि कमालपाशा, रिजाखाँ और चाग काई शेक आदि स्वतन्त्र राष्ट्रोके सचालक वन वैठे। क्यो देशवधु निराश हृदयसे हममें से चल वसे ? क्यो महात्मागाधी अपने आश्रम सावरमतीमें जा वैठे ?" इन प्रश्नोका विवेचन करते हुए आपने यह कहा था, कि "भूतकालपर अधश्रद्धा, साम्प्रदायिकता, जात, पात, परदा, वहु विवाह, वाल विवाह और ऐसी ही अन्य कुरीतियाँ, जिनसे हमारा सामाजिक जीवन विशृ खल हो गया है, हमारी असफलताका कारण है। हमारा सार्वजनिक जीवन टुकडोमें वँटा हुआ है। हमारी राष्ट्रीयता सिवा साम्प्रदायिकताके और कुछ नही है। हमारा आधा राष्ट्र परदेकी कैदमें अपनी जीवन शक्तिका नाश कर रहा है। अपने देशकी इग्लैण्ड या जापानसे भी अधिक आवादी को हम अछूत ठहराकर अपनेसे परे किये हुए है और उसकी छायासे भी अपनेको अपवित्र मानते है। क्या इन कमजोरियोको ज्योका त्यो वनाए रखकर हम इगलैण्डको जरा भी झुका सकते है ? अपनेको जीवित वनाए रखनेके लिए हमको अपने समस्त राष्ट्रको आधुनिक ढाँचेमें ढालना होगा। पुरातनकालीन धनुष-वाणसे आज कलके तोप, वन्दूक आदि शास्त्रास्त्रोका मुकावला नही किया जा सकता। शस्त्रास्त्र सम्वन्धी ऊपरकी सचाई, उनका उपयोग, करनेवाले मनुष्योपर भी लागू होती है। भारतकी सामूहिक जनशक्तिको आजकल के आदर्शोसे सुसज्जित और सुसगठित करना होगा। परदा ही नही, किन्तु स्त्रियोकी दीनता और पराधीनताके सव वधन एक साथ काटने होगे। आधी जन सख्याको निकम्मा वनाकर वाकीका उद्धार आप तीन कालमें भी नही कर सकते। परदेके कारण आधी जनसख्या अथवा देशकी आधी जीवनशक्ति का विनाशकर और वाल्यावस्थामें ही मातृत्वके वोझसे दवी शक्तिका सर्वनाश कर उसके दुष्परिणामसे आप वच नही सकते। उस सव भेद-भावको निर्दय होकर एकदम मिटा देना होगा, जिससे राष्ट्रका सामाजिक जीवन हजारो टुकडोमें वँटा पडा है। जात-पाँत का तो अविलम्व ही नाश होना चाहिए। पहले समयके वे सव आर्थिक लाभ नष्ट हो चुके है, जिनको सामने रखकर जात-पाँतकी रचना की गई थी। इस समय उसका आधार श्रम-विभाग नही है।" राजर्षि प० मोतीलालजी नेहरूने भी तव अध्यक्ष पद से दिए गए अपने भाषणमें समाज-सुधारका विस्तारसे विवेचन किया था और महिला जागृतिके महत्वको वताते हुए, परदा दूर करनेपर जोर दिया था। प्रतीत यह होता है कि देशके राजनीतिक नेताओने तव १६२८ में यह भलीप्रकार अनुभव कर लिया था कि समाज-सुधारके विना वह नैतिक धरातल वन नही सकता, जिसके अभावमें राजनीतिक आन्दोलनकी सुदृढ नीव नही डाली जा सकती। गाँधीजी सदा ही राजनीतिक आन्दोलनके साथ-साथ समाज-सुधारके कामको भी चलाते रहे और उनके कारण सामाजिक

क्षेत्रमें अद्‌भुत प्रगति की गई। महिला जागृतिको विशेष प्रेरणा तब मिली, जब उन्होंने नमक सत्याग्रहके लिए की गई ऐतिहासिक डाडी यात्राके वाद उसका नेतृत्व श्रीमती सरोजनी नायडूको सौंपते हुए महिलाओसे कार्यक्षेत्रमें उतरनेकी अपील की थी और उनसे विदेशी वस्त्रोकी दुकानोपर धरना देनेका विशेष अनुरोध किया था। १९३० के वाद राजनीतिक आंदोलनमें भाग लेनेवाली महिलाओकी वाढ-सी आ गई थी और उनके लिए विशेष जेलखानोकी अनेक राज्योमें व्यवस्थाकी गई थी। गाधीजीने तव विहारमें भी परदा प्रथाके विरुद्ध आन्दोलन करने के लिए कुछ विशेष लोगोको वहाँ भेजा था। ऐसे महिला जागरणका कार्य हमारे देशमें वहुत पहले प्रारम्भ हो चुका था। उत्तर भारतमें आर्यसमाज, वंगालमें ब्राह्म समाज और दक्षिणमें प्रार्थना समाज ने जो कार्य प्रारम्भ किया था, उसमें महिला जागृतिका भी मुख्य स्थान था। लाला देवराज, राजा राममोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, श्री ज्योतिर्वाबा फुले, न्यायमूर्त्ति श्री महादेव गोविन्द रानाडे, महर्षि कर्वे सरीखे अनेक महापुरुष भी ऐसे हुए जिन्होने महिला जागृतिके महान् कार्यमें अपनेको खपा दिया। १९२० के लगभग अनेक समाजोमें सामाजिक चेतनाका विशेष रूपसे प्रादुर्भाव हुआ और अनेक ऐसी संस्थाओका जहाँ तहाँ गठन किया गया जिनका मुख्य कार्यक्षेत्र समाज-सुधार था। प्राय: उन सभी संस्थाओने महिला-जागृतिपर ध्यान दिया और परदेकी कुप्रथा को दूर करनेका आन्दोलन भी उनकी ओरसे किया गया। अग्रवाल महासभाकी ओरसे देवोत्थान एकादशी और महेश्वरी महासभाकी ओरसे महेश नवमीके दिन 'परदा निवारण दिवसके' रूपमें मनाए जाने लगे। ऐसे ही आयोजन अन्य अनेक संस्थाओकी ओरसे भी किए गए। विदेशों विशेषत: टर्की, अफगानिस्तान, ईरान आदि मुस्लिम देशोमें पैदा हुई सामाजिक चेतना तथा परदा निवारणका हमारे देशपर अनुकूल प्रभाव पड़ा।

इस समय स्थिति वहुत वदल चुकी है। हमारे प्रजातंत्रीय संविधानमें स्त्रियोको सभी प्रकारके अधिकार पुरुषोंके समान दिए जा चुके है। हमारे प्रजातन्त्रका आधार वालिग मताधिकार है। वह पुरुषके समान स्त्रीको भी प्राप्त है। उसके समस्त धार्मिक पक्षपात और सामाजिक भेद-भावमूलक वन्धन काट दिए गए है। विधान अथवा कानूनमें उनकी कोई मान्यता नही है। स्त्रीके लिए पुरुषोंके समान प्रगति व उन्नति करनेके समस्त द्वार खोल दिए गए है। आर्थिक विषमताका भी अंत कर दिया गया है, समाजवादके अनुसार कायम की जानेवाली सामाजिक व्यवस्थामें स्त्रीके प्रति किसी भी प्रकारकी सामाजिक दीनता, हीनता अथवा पराधीनता शेष नही रह सकती।

परदा निवारण तो केवल प्रतीक है इस चहुँमुखी महिला जागृतिका। सच तो यह है कि किसी भी ओछे उपायसे कोई भी ऊँचा आदर्श पूरा नहीं किया जा सकता। परदेके पक्षपाती कुछ भी क्यो न कहें परन्तु वास्तविकता यह है कि उनके द्वारा प्रतिपादित तर्कसे समर्थित कुप्रथासे किसी भी सदुद्देश्यकी पूर्त्ति नहीं की जा सकती। परदेकी कुप्रथा उतनी ही निरर्थक सिद्ध हो चुकी है, जितनी कि सीताकी कुटियाके चारो ओर लक्ष्मण द्वारा वनाई गई रेखा सावित हुई थी। वह सीताकी रक्षा नही कर सकी थी और परदाकी यह कुप्रथा हमारे समाजके किसी भी सद्‌गुणकी रक्षा नही कर सकी, अपितु सीताके अपहरणके समान इसके कारण हमारे समस्त सामाजिक सद्‌गुणोंका ह्रास अथवा विनाश

हो चुका है। इस प्रकार परदेकी यह कुप्रथा केवल निरर्थक ही नही है, किन्तु घोर अनर्थकारी भी हैं। पिछले ही दिनोंमें संयुक्त राष्ट्रीय सघके शिक्षा, सस्कृति और विज्ञान-परिषद्के भारतमें हुए अधिवेशनके अवसरपर प्रकाशित हुए अनेक लेखोमें एक लेख देहातोमें प्राथमिक शिक्षाके अनिवार्य करने और प्रौढ़ शिक्षाके प्रसार करनेके सम्बन्धमें लिखा गया था। उसमें यह बताया गया है कि हमारे देशमें देहातोमें प्रौढ शिक्षाके प्रसारमें परदा बहुत बड़ी बाधा हैं। विकासके अनेक कार्यक्रम शिक्षा प्रसारके समान परदेके ही कारण पूरे नही किए जा सकते। इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि वर्तमान जागृति एवं प्रगतिके बाद भी परदा निवारणकी दिशामें अभी हमें बहुत-कुछ करना है और जो कुछ हो गया है उसको बहुत मानकर आत्मवचनाके मायाजालमें उलझना आत्महत्याके समान घातक हो सकता है।

श्री विश्वम्भरनाथ पांडे

वेश्या और समाज

ढाई हज़ार वर्ष पहलेकी वात है।

भगवान बुद्ध अपने उपदेशोका प्रचार करते हुये वैशाली पहुँचे। भिक्षु दलके साथ एक अमराईके नीचे उन्होंने अपना आसन विछाया।

अम्वपाली वेश्याको ज्ञात हुआ कि भगवान वैशाली आये है और उसके अपने आम्र-वनमें विहरते है। अम्वपाली भद्र यानोको जुतवाकर एक सुन्दर रथपर आरूढ हो सुन्दर यानोके साथ वैशालीसे निकली और जहाँ उसकी अमराई थी वहाँ चली। जहाँ तक रथका मार्ग था वहाँ तक रथसे जाकर फिर रथसे उतर पैदल ही जहाँ भगवान थे वहाँ पहुँची। उन्हें अभिवादन कर एक ओर वैठ गई। एक ओर वैठी हुई अम्वपाली को जव भगवान अपने उपदेशोका अमृत पिला चुके तव अम्वपाली गणिकाने कहा :—

"भन्ते! भिक्षु सघके साथ मेरे यहाँ कलका भात स्वीकार करें।"

भगवानने मौन भावसे स्वीकृति दी। अम्वपाली स्वीकृति समझ कर आसनसे उठकर भगवानकी परिक्रमा और अभिवादन करके चली गई।

× × ×

वैशालीके महापराक्रमी लिच्छवियोने भी सुना कि भगवान वैशाली आये हैं और अम्वपालीकी अमराईमें विहरते है। लिच्छविगण अपने भद्र यानोको जुतवाकर सुन्दर रथारूढ हो, सुन्दर यानोके साथ वैशालीसे निकले। उनमें कोई-कोई नील वर्ण, नील परिधान, नील अलंकारवाले थे, कोई-कोई पीत वर्ण, पीत परिधान और पीत अलकार वाले थे, कोई-कोई लोहित वर्ण, लोहित परिधान और लोहित अलंकारवाले थे और कोई-कोई श्वेत वर्ण, श्वेत परिधान और श्वेत अलंकारवाले थे।

भगवानने दूरसे लिच्छवियोको आते देखकर भिक्षुओंसे कहा :—

"देखो भिक्षुओ! लिच्छवि परिपदको देखो! भिक्षुओ, लिच्छवि परिषद को देव परिषद समझो!"

जहाँ तक रथका मार्ग था वहाँ तक रथसे जाकर फिर रथसे उतरकर पैदल ही लिच्छवि भगवानके पास पहुँचे। अभिवादन कर वे एक ओर वैठ गये। भगवान जव लिच्छ-वियोको अपना उपदेश दे चुके तव वे लिच्छवि वोले :—

"भन्ते भिक्षु-संघके साथ हमारे यहाँ कलका भात स्वीकार करें।"

"लिच्छवियो! कल तो मैंने अम्वपालीका भात स्वीकार किया है।"

तब वे लिच्छवि उँगलियाँ चटकाते हुये बोले —

"अरे हम इस वेश्यासे पराजित हो गये ! हमें इस गणिकाने वंचित कर दिया !"

तब वे लिच्छवि भगवानके वचनोंका अभिनन्दन कर, अनुमोदन कर, आसनसे उठ भगवानकी परिक्रमा और उनका अभिवादन कर चले गये।

× × ×

भगवानके प्रमुख शिष्य आयुष्मान आनन्द इस घटनाका मर्म न समझ पाये। जिज्ञासु भावसे भगवानके निकट जाकर अपना कौतूहल प्रकट करके बोले —

"भन्ते ! अम्बपाली वैशालीकी नगरवधू है, गणिका है, वेश्या है !"

"हाँ, आयुष्मान !"

"भन्ते ! लिच्छविगण श्रेष्ठ आर्यकुमार हैं !"

"हाँ, आयुष्मान !"

"भन्ते ! किन्तु आपने लिच्छवियोंके भातसे गणिकाके भातको श्रेष्ठ ठहराया !"

"हाँ, आयुष्मान !"

"भन्ते ! क्या इसलिये कि लिच्छवियोंके हृदयसे अहम्मन्यता मिट सके और समाज के हृदयसे उसकी केन्द्रीभूत अपवित्रताका कलंक धुल सके ?"

"हाँ, आयुष्मान !"

"भन्ते ! क्या वेश्या भी पवित्र हो सकती है ? समाजके अभिशापसे मुक्त हो सकती है ?"

"हाँ, आयुष्मान ! गणिका भी मैत्रीपूर्ण वाचिक कर्मसे, मैत्रीपूर्ण कायिक कर्मसे और मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्मसे निर्वाण भावनमें लगकर शीघ्र ही अपना स्रव हो सकती है। पुरुषकी कामवासनासे अभिशप्त नारीको धर्म-कथासे सदर्शित और समुत्तेजित करना होगा, आयुष्मान !"

× × ×

उस रातके व्यतीत हो जानेपर अम्बपाली गणिकाने अपने आराममें उत्तम खाद्य-भोजन प्रस्तुत कर भगवानको समयकी सूचना दी। पूर्वाह्नके समय परिहित, पात्र, चीवरयुक्त भगवान अम्बपालीके परोसनेके स्थानमें गये और वहाँ बिछे हुये आसन पर बैठे। तब अम्बपाली गणिकाने बुद्ध-प्रमुख-भिक्षु-संघको अपने हाथसे उत्तम खाद्य-भोजनसे जिमाया। भगवानके भोजन कर पात्रसे हाथ खींच लेनेके उपरान्त गणिका अम्बपाली एक नीचे आसनपर एक ओर बैठकर भगवानसे बोली —

"भन्ते ! मैं इस आरामको बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघको देती हूँ।"

भगवानने आरामको स्वीकार किया।

(२)

एक दूसरी घटना।

परम दयालु क्षमावन्त ईसाका जीवनकाल।

फैरिसी और इस्काइब निरन्तर ईसाके उपदेशोंका उपहास करनेमें व्यस्त थे। अहिंसा पर आधारित नये नियम-विधानोंको भला वे कैसे स्वीकार कर सकते थे ? पुराने विधान के अनुसार यदि कोई पुरुष व्यभिचार करते हुए पाया जाता था तो उसे व्यभिचारिणीके

पतिको पाँच दीनार जुर्मानेकी रकम अदा करनी पड़ती थी। किन्तु उसी अपराधपर स्त्रीको पत्थर मार-मारकर मार डाला जाता था। मौतसे बचनेका केवल एक रास्ता था। यदि व्यभिचारिणी वेश्या वनना स्वीकार कर ले।

एक वार ये फ़ैरिसी और स्क्राइव एक व्यभिचारिणी स्त्रीको हज़रत ईसाके पास लाये। पत्थर लिये हुए पीछे-पीछे एक भीड थी। विचारके लिये उन्होने तीन प्रश्न हज़रत ईसाके सामने रखे —

१. व्यभिचारिणीको क्षमा कर दिया जाय, या

२. उसे वेश्या वनने दिया जाय, या

३. उसे पत्थरोंसे मार डाला जाय!

विरोधी समझते थे कि ईसा धर्म-संकटमें पड़ जायेंगे। व्यभिचारिणीको क्षमा करनेकी वात कहेंगे तो लोक-भावना उनके विरुद्ध हो जायगी! वेश्या वननेकी वात कहेंगे, तो नैतिक अपराधके दोषी होंगे और व्यभिचारिणीकी हत्याका समर्थन करके वे अपने अहिंसाके सिद्धान्तसे गिर जायँगे।

विरोधियोने उद्धत और ऊँचे स्वरमें ईसासे फैसला करनेके लिये कहा। क्षमा-वन्त ईसाने करुण दृष्टिसे अपराधिनी नारीकी ओर देखा, जो एक ओर वैठी हुई नतशिर नाखूनसे ज़मीन खोद रही थी। फिर कहा इसे एक शर्त पर पत्थरोंसे मार डाला जाय!

उत्सुक वाणीमें विरोधियोने शर्त जाननी चाही।

ईसाने उत्तर दिया—"इसे पहला पत्थर वह व्यक्ति मारे, जिसने अपने जीवनमें कभी मनसे, वचनसे और कायासे व्यभिचार न किया हो।" यह कहकर उन्होने आँखें वन्द करली।

थोड़ी देर वाद जव उन्होने आँखें खोली, तो वहाँ केवल उसी नारीको वैठे पाया। आपत्ति लगानेवाले सव एक-एककर वहाँसे जा चुके थे।

प्रभु ईसाने अपराधिनी नारीको उपदेश देते हुये कहा—"नारीको पापके पथपर अग्रसर करनेवाला पुरुप है! नारीको जघन्य वेश्या जीवन वितानेके लिये विवश करने वाला पुरुप है। नारीकी विवशतासे समर्थ पुरुपको लाभ उठाना शोभा नही देता। जाओ, मनसा-वाचा-कर्मणा संयमशील वनो। परम पिता तुम्हें क्षमा करेंगे।"

(३)

ईसासे दो हज़ार वर्ष वादकी एक तीसरी घटना!

पूर्वी वंगालमें वरीसालका नगर।

सितम्वर सन् १९२१ का पहला सप्ताह!

अहिंसात्मक असहयोगका प्रचार करते हुये विश्ववन्द्य महात्मागांधी वरीसाल पहुँचे। सार्वजनिक सभाके वाद १४ वर्षकी एक वालिकाने उनकी चरणधूलि लेकर हाथ जोडकर उनसे विनती की :—

"वापू! नरकतुल्य वेश्या-जीवनसे हमारा उद्धार करो! हम वरीसालकी वेश्याएँ आपसे सामूहिक रूपसे वात करना चाहती हैं। आप महात्मा है! क्या आप हम पतिताओंसे वात करेंगे?"

"क्यो नही, जरूर बात करूँगा।" बापूने उत्तर दिया। "तुम लोग कल तड़के प्रात.कालकी प्रार्थनाके बाद मुझसे मिलो। पाँच बजे आ सकोगी?"

दूसरे दिन बरीसालकी एक सौसे अधिक 'पतिता बहिनें' महात्मागांधीसे मिलीं। उस भेंटका वर्णन स्वय गान्धीजीने इस प्रकार किया है :—

"इन बहिनोंके साथ जो दो घंटेका समय मैंने बिताया, उसे मैं कभी नही भुला सकता। उन्होंने मुझे बताया कि बरीसालकी बीस हज़ारकी जनसंख्यामें, जिसमें स्त्री, पुरुष और बालक सब शामिल हैं, वेश्याओंकी संख्या साढे तीन सौ से अधिक है। ये बहिनें बरीसाल के पुरुषोंकी हया और शर्मकी प्रतिनिधि हैं। बरीसाल जितनी जल्दी अपनी इस शर्म को दूर कर सके, उतना ही उसके बडप्पनके लिये फायदेमद है। और जो कैफियत बरीसालकी है वही मैं समझता हूँ, प्रत्येक शहरकी है। बरीसालकी चर्चा तो मैं केवल उदाहरण के तौरपर कर रहा हूँ। क्या बरीसाल इस बातकी शाबासी लेगा कि उसने इस पापको अपने नगरसे धो डाला?"

इन बहिनोकी करुण कहानियाँ सुनकर गान्धीजीकी कोमल आत्मा पीडा और वेदना मे तडप उठी। उनका मन पुरुष वर्गके इस महान अपराधके कारण ग्लानिसे भर उठा। इन शब्दोंमें गान्धीजीकी वह ग्लानि फूट पडी —

"इन सौ बहिनोंके सामने, पुरुष होनेके नाते, लज्जासे मेरा मस्तक ज़मीनमें गड गया। इन बहिनोंमें कुछ प्रौढ थी, अधिकांश बीस और तीस वर्षकी आयुके भीतरकी थी और कुछ बारह वर्षकी आयुसे भी कम की थी। इन बहिनोंके मनकी इस पक्की भावनाको देखकर कि इस नरकतुल्य जीवनमे उनका कभी उद्धार न होगा, मुझे ऐसा लगा कि जैसे किसीने मेरे हृदयमें छुरा भोक दिया। फिर भी ये बहिनें मुझे विनम्र और बुद्धिमान लगी। उनकी बातचीतमें शील और एक मर्यादा थी। उनके उत्तर सीधे और स्पष्ट थे।"

इन बहिनोसे बातें करते हुए गान्धीजीका ध्यान भारतकी आध्यात्मिक महत्ता की ओर गया। तब इस समस्याकी विषमता उनके निकट और भी तीव्र हो गई। उनके मुँहसे बरबस ये शब्द निकल पडे :—

"जिन पापोके लिये पुरुष उत्तरदायी है, कोई पाप इतना कलुषित, इतना हृदय-विदारक और इतना अमानुषिक नही है, जितना मानवताके अर्धाङ्गके प्रति यह दुराचार! पुरुष और नारी दोनोंमें, आज नारी ही अधिक श्रेष्ठ है। इस युगमें भी वही बलिदान, मूक कष्टसहन, विनम्रता, विश्वास और ज्ञानकी साकार प्रतिमा है। पुरुषकी अहम्-मन्यता और ज्ञान-धारणाकी अपेक्षा नारीकी सहज बुद्धि ही बहुधा सच साबित होती है। रामके पहले सीता और कृष्णके पहले राधाका नाम जोडनेमें यही गूढ अभिप्राय है। यह समझकर अपने को धोखा नही देना चाहिये कि सभ्यताकी प्रगतिमें वेश्याओका कोई अनिवार्य स्थान है। वेश्याओंके आधिक्य और सभ्य यूरोपमें उनके वैधानिक अस्तित्वको देखकर हमें भ्रमित नही होना चाहिये। भारतमें इसकी परम्पराये हैं— इस आधारपर भी हमें इस पापको नही चलने देना चाहिये। जिस समय हम पाप और पुण्यमें फरक करनेकी विवेक बुद्धि खो बैठेंगे और उस पुरातनकी, जिसे हम पूरी तरह नही जानते, नकल करते रहेंगे उसी समय हमारी प्रगति रुक जायगी। हम बीते

युगकी सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम विरासतके अभिमानी उत्तराधिकारी हैं। पिछली भूलो को दोहराकर हमें उस उत्तराधिकारका अपमान नही करना चाहिये। आत्मसम्मान-पूर्ण भारत देशमें प्रत्येक पुरुषकी दृष्टिमें प्रत्येक स्त्रीकी अस्मतका वही मूल्य होना चाहियेजो स्वयं उसकी अपनी वहिनकी अस्मतका है। स्वराज्यका अर्थ वह योग्यता है जिसके अनुसार हम प्रत्येक भारतवासीको अपने सगे भाई और वहिनके समान समझ सकें।"

× × ×

गाँधीजीके जीवन-प्रसगके ही एक दूसरे अवसर की वात हैं।

ईसवीका १९२५वाँ साल और अप्रैलका दूसरा सप्ताह।

घटना-स्थल मदुराईका पवित्र तीर्थ-क्षेत्र।

महात्मागान्धी दक्षिण भारतका भ्रमण कर रहे थे। डाक्टर राजन् गान्धीजीकी इस भ्रमण-व्यवस्थाके प्रमुख आयोजक थे। मद्रासमें उन्होने झिझकते हुये गान्धीजीसे मदुराके कार्यक्रमकी ओर सकेत करते हुए पूछा —

"वापू! मदुराकी देव-दासियाँ आपको अभिनन्दनपत्र भेंट करना चाहती है। मैं वेहद पेशोपेशमें हूँ कि उन्हें क्या उत्तर दूं। देवदासियोका अभिनन्दन कार्यक्रम आपको कैसे स्वीकृत होगा?"

"तुमने नही तो नही किया न?" वापूने सौम्य उत्सुकतासे पूछा। मेरे कार्य-क्रममें उनका अभिनन्दन अवश्य शामिल करो। मै इन अभागिन वहिनोंसे अवश्य वातें करूँगा।"

देवदासियोके अभिनन्दन पत्रका गान्धीजीके दयालु हृदयपर जो प्रभाव पड़ा वह यहाँ उन्हीके शब्दोमें उद्धृत है —

"दक्षिण भारतमें मुझे जितने अभिनन्दन पत्र मिले, उनमे सवसे अधिक करुण और हृदयको छूनेवाला देवदासियोका अभिनन्दन पत्र था। यहाँ वेश्याओके लिये 'देवदासी' एक सु-शब्द सज्ञा हैं। चाहे उन्हें वेश्या कहा जाय या देवदासी शब्द परिवर्तनमात्रसे समस्याका समाधान नहीं होता। यह कितनी गहरी शर्म, दुःख और जवर्दस्त जिल्लत की वात है कि अनेको स्त्रियोको पुरुपकी वासना पूर्त्तिके लिये अपने सतीत्वको वेंचना पड़ता है। तथाकथित अवला जातिको पतनके गर्तमें गिरानेके लिये व्यवस्था वनाने वाले स्मृतिकारको भयंकर सजा भुगतना पड़ेगी। जिस दिन नारी छलिया पुराणोंके जालसे मुक्त होकर अपनी पूर्णता प्राप्त करेगी, उस दिन पुरुषोंके वनाये हुये नियम-विधानो और सस्थाओंके विरुद्ध वह सफल अहिंसात्मक विद्रोह करेगी। भारतीय पुरुप अपना दिल थामकर ज़रा सोचे कि उसकी अनियमित और अनैतिक वासनाओंकी पूर्त्तिके लिये लगभग साढे दस लाख वहिनोको शर्मनाक जीवन विताना पड़ता है। अफसोस इस वातका है कि इन नारकीय अड्डोमें जानेवाले पुरुषोकी वहुसख्या विवाहित पुरुषोकी है और इसीलिये वे दोहरे पापके भागीदार हैं। न केवल वे अपनी पत्नियोंके प्रति विश्वासघातके दोषी हैं जिनके प्रति अग्निको साक्षी करके उन्होंने वफादारीकी कसम खाई थी वल्कि उन वहिनोंके सतीत्व भंग का पाप करना है जिनके शील और सतीत्वको उन्हें उसी प्रकार रक्षा करनी चाहिये कि जिस प्रकार वे स्वयं अपनी सगी वहिनोकी रक्षा करते हैं। यदि भारत के पुरुप अपनी मर्यादाको समझ लें, तो भारतमें यह पाप एक दिन भी अधिक नही टिक सकता।"

गांधीजीके ये उद्गार ३१ वर्ष पूर्व प्रकट किये गये थे किन्तु आजके भी वातावरणमे गूंज-गूंजकर भारतके प्रत्येक पुरुषको चुनौती देकर पूछ रहे है कि क्या स्वतन्त्र और पवित्र भारत देश अबला नारीके प्रति इस भयकर पापसे मुक्त हुआ ? मानवता गहरे तकाजे के साथ भारतके पुरुषोंसे यह प्रश्न कर रही है कि जो देश सास्कृतिक प्रगति और आध्यात्मिकताके क्षेत्रमें सारी दुनियाका झडाबरदार होनेका दावा पेश कर रहा है वह नारीके प्रति इस जघन्य अपराधका अन्त करनेमें क्यो नही सफलता प्राप्त कर सका ?

क्या इस समस्याकी जडें इतनी गहरी है कि हमें उन्हे समूल नष्ट करनेमे इतनी कठिनाईका सामना करना पड रहा है ? आयें इन पृष्ठोमें हम समस्याके मूलमें जाकर जरा विचार करें ।

(४)

लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्वका एक दूसरा दृश्य ।

स्थान :—यूनानका प्रसिद्ध नगर एथेंस ।

यूनानके महान दार्शनिक महात्मा सुकरातके परम शिष्य और यूनानकी ज्ञान-गरिमा के आगार और साहित्य अकादमीके अध्यक्ष सन्त अफलातून (प्लेटो) अपने शिष्योंके साथ वार्तालाप कर रहे हैं । अरिस्टोमेन नामक शिष्य गुरुसे जिज्ञासु भावसे पूछता है —

अरिस्टोमेन गुरुदेव समाजमे नारीका महत्व और स्थान क्या है ?

अफलातून वही जो पुरुषोका है, न कम न अधिक । स्त्री और पुरुष दोनो रथके दो पहियोंके सदृश है । यदि एक कमजोर और घटिया हुआ, तो समाज का रथ निर्विघ्न आगे नही बढ सकता । स्त्री और पुरुष नभमें उडने वाले पक्षीके दो डैनोंके समान हैं । यदि एक डैना छोटा या अशक्त रहा, तो पक्षी नभमें उन्मुक्त विचरण नही कर सकता ।

अरिस्टोमेन समाजमें वेश्यावृत्तिके प्रचलनसे क्या स्त्री-पुरुषके पारस्परिक सम्बन्धोकी मर्यादा भग नही होती ?

अफलातून समाजमें पुरुषको कर्त्ताका स्थान प्राप्त है । वही चल और अचल सम्पत्ति का स्वामी है । उत्पादन, वितरण, व्यापार, वाणिज्य सबपर पुरुषका ही अधिकार है । अपनी जीविकाके लिये स्त्री-पुरुषके ही आसरे है । ऐसी परिस्थितिमें यदि स्त्रीको अपनी जीविका-निर्वाहके लिये वेश्यावृत्ति जैसे अशोभनीय उद्यमका सहारा लेना पडता है, तो इससे अधिक लज्जाकी और कौनसी बात हो सकती है ?

अरिस्टोमेन गुरुदेव ! क्या वेश्यावृत्ति केवल मात्र आर्थिक प्रश्नपर ही आधारित एक समस्या है ?

अफलातून यदि अधिक गहराईमें जाकर विचार करोगे, तो तुम पाओगेकि वेश्यावृत्ति की बुनियाद धर्मके साकार तत्वोंमें डाली गई है ।

अरिस्टोमेन . वह कैसे गुरुदेव ?

अफलातून मनुष्यने अपने ही रूपमे देवताओंकी साकार कल्पना की । उसने उनकी प्रशसाके गीत बनाये । उनके भोगके लिए छत्तीसो सुस्वादु व्यजन बनाये । उन्हें रिझानेके लिये गायन-वादन और अपनी नृत्य-कलाका प्रदर्शन किया ।

देवताओंमें भी पिता, माता, पत्नी, पुत्र और पुत्रीकी परम्परा चलाई। उनके सोने, जागने, आरती और भोगके समय निश्चित किये। यही नही, उसने पौराणिक कथाओंमें यदि एक ओर देवताओकी अलौकिक प्रतिभा के गीत गाये, तो दूसरी ओर उन्हें प्रेम-विरह, छल, कपट, और व्यभिचार का भी दोषी बताया। न मालूम जमानेंके धुँधले प्रकाशमें मनुष्यको अपने देवता बिल्कुल अपनी ही तरह प्रतीत हुये।

अरिस्टोमेन गुरुदेव देवताओंका यह इतिहास अत्यन्त दिलचस्प है।

अफलातून : भक्तोको यह बताया गया कि यदि वे इस जन्ममें देवताओको प्रसन्न करेंगे, तो देवता जन्म जन्मान्तर तक उन्हें प्रसन्न और सुखी रखेगा। परिणाम यह हुआ कि देवताओके मन्दिर राजसी ठाठसे जगमगा उठे। राजा देवताका प्रधान सेवक बना। राज्यका समस्त ऐश्वर्य देवताके चरणोपर लोटने लगा। नरमेध, अश्वमेध, गोमेध और तरह-तरहके बलिदानोसे देवताको सन्तुष्ट करनेके प्रयत्न किये जाने लगे। देवताको सिंहासन पर बैठानेका समारोह मनाया जाने लगा। उसके राजसी जुलूस निकाले गये और देवियोके साथ देवताओंके विवाह समारोह रचाये गये। भक्त परम श्रद्धाके साथ इन उत्सवोमें शामिल होते थे। धीरे-धीरे मानव कुमारियोके साथ देवताओके विवाहकी प्रथा चली। राजकुमारी का विवाह देशके प्रमुख देवताके साथ होने लगा। राजाकी देखा देखी सरदारोने भी अपनी रूपवती कन्याओको देवताओकी पत्नीके रूपमें समर्पित किया। अलबत्ता राजकन्या देवताकी पटरानी रहती थी। भला अन्य नागरिक कैसे पीछे रहते? एक-एक देवताकी सैकडों मानव-कुमारियाँ पत्नी बन गईं। मन्दिरोके प्रागण देवताओकी इन मानव-पत्नियोसे भर गये।

अरिस्टोमेन : गुरुदेव! इस प्रथाके दुष्परिणाम आज हमें अपने यूनान देशमें अपोलो, जूसपेनर और दिमित्रिके मन्दिरोमें देखनेको मिल रहे है। इन मन्दिरोकी अगणित देवदासियाँ नारकीय वेश्या जीवन बिता रही है।

अफलातून : हाँ वत्स! अनेक समय तक देवताकी ये विवाहित पत्नियाँ पवित्र ब्रह्मचर्य मय जीवन बिताकर अपनी आयु काट देती थीं; किन्तु धीरे-धीरे देवताओ ने पुरोहितोके माध्यमसे अपनी इन पत्नियोके साथ शरीर-सम्बन्ध क़ायम किया। फिर मन्दिरमें आनेवाले हर अजनबी व्यक्तिको देवताका प्रति-निधि मान लिया गया। धीरे-धीरे देव दासियोकी यह सस्था खुल्लम-खुल्ला वेश्याओकी संस्था बन गई। इनके पेशेसे जो आमदनी होती थी, वह मन्दिरके चढावेमें जाती थी। प्रत्येक यूनानी मन्दिरके साथ इन देवदासियोंके सैंकड़ो आवासगृह जुड़ गये और यह धार्मिक वेश्यावृत्ति मन्दिर की आयका बहुत बड़ा साधन समझी जाने लगी। इस तरह हम देखते है कि वेश्यावृत्तिने देवमंदिरके प्रागणमें ही सबसे पहले जन्म लिया।

अरिस्टोमेन : गुरुदेव! केवल देव-पूजा वृत्ति ही नारीके इस पतनका एकमात्र स्रोत है?

अफलातून : नहीं शिष्य ! विजेताओंकी विजयश्री भी इसके लिये कम उत्तरदायी नहीं है ।

अरिस्टोमेन : वह कैसे गुरुदेव ?

अफलातून : विविध देशोंके उद्धत विजेता प्रतिस्पर्धियोंके देशोंको रौंदते हुये अपनी लक्षवाहिनी सेनाओंके साथ विजयका सेहरा बाँधकर लौटते थे । अपने साथ वे लाते थे हज़ारों ऊँटों और ख़च्चरोंमें लादकर पराजित देशोंकी अपरिमित धन-सम्पदा, सदियोंका सञ्चित कोष, मणियों, मुक्ताओं और हीरोंके अनुपम हार और रत्नजटित आभूषण । साथही साथ वे लाते थे लाखों नवयुवक कैदियोंके जत्थे, जो प्रत्येक सैनिकको इनामके रूपमें बाँट दिये जाते थे और वे इन विजयी नागरिकोंके ज़र ख़रीद गुलाम कहलाते थे । विजय-वाहिनी सेनाएँ और भी लाती थीं अपने साथ पराजित देशोंकी चुन-चुनकर परम सुन्दरी सहस्रों नवयुवतियाँ । रूप और पदकी उत्कृष्टताके अनुसार वे राजाओं, सरदारों और सैनिकोंमें बाँट दी जाती थीं । कालान्तरमें एक-एक सैनिकके अन्तःपुरमें सैकड़ों रूपवती नवयुवती दासियाँ एकत्रित हो जाती थीं जिनके तन-मन-धनपर उसका एकाधिकार होता था । व्यक्तिगत भोगकी एक सीमा होती है । कतिपय सुन्दरियोंको छोड़कर शेषको वेश्याओंका पेशा करना पड़ता था और उनकी आमदनीसे प्राप्त धन उनके स्वामीको मिलता था । इन परिस्थितियों ने दास-दासियोंके क्रय-विक्रय या गुलामोंके व्यापारको जन्म दिया ।

अरिस्टोमेन : गुरुदेव ! तो महान विजेताओंकी विजयश्री लाखों नारियोंके अभिशाप्त वेश्या-जीवनसे कलंकित है !

अफलातून : निश्चय ही ।

अरिस्टोमेन : नारीके इस अभिशप्त जीवनका और कौनसा स्रोत है गुरुदेव ?

अफलातून : वत्स ! वेश्यावृत्तिका तीसरा स्रोत हमारी नगर-सभ्यता है ।

अरिस्टोमेन : वही नगर सभ्यता जिसपर हम यूनानियोंको अनुपम गर्व है ?

अफलातून : हाँ, वत्स !

अरिस्टोमेन : वह कैसे गुरुदेव ?

अफलातून : स्वभावसे मनुष्य प्रकृति-पुत्र है । मानवकी मूल संस्कृति ग्राम-संस्कृति है । सभ्यताने ग्रामोंको उजाड़कर नगरोंका निर्माण किया । नगर विलासिता और सौन्दर्य प्रसाधनके केन्द्र बने । हुजूरोंके साथ-साथ मजूरों का वर्ग बना । समाज श्रीमन्तों और श्रमिकोंमें बँट गया । स्वाभाविक और स्वास्थ्यप्रद वातावरण छोड़कर असंख्य पुरुष अपने परिवारों से विलग, नगरोंमें निवास करने लगे । आहार, निद्रा और रति— मनुष्यके जीवनकी ये तीन प्रमुख आवश्यकताएँ हैं । लाखों परिवारहीन पुरुषोंके लिये इनके प्रबन्धकी आवश्यकता थी । इस प्रबन्धने ही नगरोंमें व्यापारिक वेश्यावृत्तिको जन्म दिया ।

अभिशाप लगा हुआ है ?

अफलातून : हाँ, वत्स ! समाजमें वेश्यावृत्तिके यही तीनो मल स्रोत है । जड़में ही जाकर हमें सभ्यताके इस महारोगका उपचार करना होगा । जब तक नारी इस कलंक-कालिमासे मुक्त नही होगी, तब तक मानव आत्माके समक्ष पुरुष अपना सर ऊँचा नही उठा सकता ।

यूनानके इस प्रकाण्ड दार्शनिक और महान सन्त की वाणीमें नारी जीवनके इस कलंकित अध्यायके दुखदायी पृष्ठ हमारी आँखोंके सामने चमकने लगते हैं । सारी दुनियाकी वेश्या-वृत्तिके इतिहासके लिये अफलातूनका यह निदान अक्षरश॰ सत्य उतरता है।

(५)

पाँच हज़ार वर्ष पूर्वकी सुमेरी सभ्यतामें, जो मध्यपूर्वकी सभ्यताओका आदि-स्रोत थी, इस धार्मिक वेश्यावृत्तिका प्रचलन था । दक्षिण भारतके हिन्दू-मंदिरोकी तरह सुमेरमें भी देवदासियोका रिवाज था । देवताओका स्त्रियोके साथ विवाह किया जाता था । कानूनने इन स्त्रियोको समाजमें वैधानिक पद दे रखा था । देवतासे अपनी कन्याके विवाहके अवसरपर पिताको अपने देवता जामाताको प्रचुर दहेज़ देना पड़ता था, जो मन्दिरके कोपमें जमा होता था । सुमेरी देवदासियोमें कई श्रेणियाँ थी ।

सबसे ऊपर देवताकी पटरानी होती थी, जो 'एन्तु' कहलाती थी । वह देवताकी धर्मपत्नी समझी जाती थी । साधारणतया वह राजा या किसी सरदारकी लड़की होती थी । देवदासियोमें उसका सबसे ऊँचा स्थान होता था । उसे जीवन पर्यन्त निर्दोष और अकलंक चरित्र रखना पड़ता था । उरके मन्दिरकी 'एन्तु' सदा सुमेरी सम्राटकी कन्या होती थी । एन्तुके चरित्रपर इतना ध्यान रखा जाता था कि अगर वह किसी मदिरालयमें दिखाई दे जाय, तो उसे जीवित जला दिया जाता था ।

दूसरी श्रेणीकी देवदासियाँ 'सालमें' कहलाती थी । वे सरदारोकी लड़कियाँ होती थी । वे मन्दिरमें ही रहती थी । मन्दिरकी ओरसे व्यापार वाणिज्य भी करती थी । इनकी 'पितृनामहीन' सन्तानें भी होती थी ।

तीसरी श्रेणीकी देवदासी 'सिक्रु' या 'कदिश्तु' कहलाती थी । वे साफ-साफ़ मदिर की वेश्याएँ थी । वे निकृष्ट देवदासियाँ समझी जाती थी । उनकी वेश्यावृत्तिसे जो आमदनी होती थी उसका एक-एक पैसा मन्दिरके कोपमें जाता था । समझा जाता था कि किसी भी स्त्रीके लिये इससे बढ़कर क्या बलिदान हो सकता है कि वह अपना कौमार्य देवताके चरणोमें चढा दे ।

(६)

साइप्रस, फीनिशिया, कारथेज, फ़लस्तीन, आर्मीनिया और लोकरिस आदि सभी देशोमें यह धार्मिक वेश्या वृत्ति प्रचलित थी[1] ।

इतिहास लेखक हेरोडोटस और स्ट्रैबोके अनुसार रोम और समस्त इटलीमें धार्मिक वेश्या-वृत्तिका प्रचलन था । वहाँ देवताके मन्दिरमें अभिजात वर्ग और साधारण वर्ग

[1] "Contributions to the Etiology of Psychopathia Sexualis", vol. I, pp. 84, 85.

की स्त्रियोको जीवनमें कमसे कम एक वार किसी भी अजनबी उपासकको अपने सतीत्व की भेट देनी होती थी। सम्राट कान्स्टैन्टाइनके समय इस प्रथाको बन्द किया गया[1]।

मध्ययुगीन फ्रासमें यह प्रचलित धारणा थी कि पादरियोके साथ जिन स्त्रियोका यौन सबध हो चुका है वे "पवित्रात्मा" बन गई हैं। पादरियोसे सबधित वेश्याओंको 'सर्मपित देवी' कहा जाता था[2]।

भारतके पश्चिम घाट और कोकण प्रदेशमें "लिंगम" पूजाका बहुत प्रचार था। देवदासियोकी प्रथाके साथ-साथ यह आवश्यक था कि "लिंगम" के साथ अक्षत योनि कुमारियोका सस्पर्श कराया जाय[3]।

सरकारी आँकडोके अनुसार मद्रास प्रान्तमें सन् १९०१ में देवदासियो की सख्या बारह हजारसे अधिक थी[4]। धार्मिक वेश्यावृत्तिकी प्रथा दक्षिण अमरीका, काम्बोडिया वोर्नियो इत्यादि देशोमें भी प्रचलित थी[5]। करसनदास मूलजीके अनुसार वल्लभाचार्य के महाराजा सम्प्रदायकी भी यही प्रवृत्ति थी[6]।

इन अनेको उदाहरणोके आधारपर हम धार्मिक वेश्यावृत्तिको दो समूहोंमें बांट सकते हैं

१ देवताके सम्मानमें जीवनमें केवल एकवार अस्थायी वेश्यावृत्ति, और

२ स्थायी धार्मिक वेश्यावृत्ति।

एक वारकी धार्मिक वेश्यावृत्तिके अन्दर जो सिद्धान्त निहित था, वह यह था कि, स्त्री देवताको अपना 'कौमार्य' सर्मपित करती थी। यह क्रिया ससारके भिन्न-भिन्न देशोमें भिन्न-भिन्न रूपमें वरती जाती थी। दक्षिण भारतमें यह नितान्त जघन्य रूपमें प्रचलित थी। हाथीदांत, चन्दन या पत्थरके 'देवलिंगम' से कौमार्य भगकी प्रथा पूरी की जाती थी। कही-कही कुमारीको देवताके प्रतिनिधि पुजारी या राजा द्वारा कौमार्य भगकी यह धार्मिक क्रिया पूरी करानी पडती थी।

समझा यह जाता था कि देवताके साथ यौन-सबध होनेके बाद पति-पत्नी उस पाप के भागी नही होगे जो यौन-सबधके साथ जुडा हुआ है। इस रिवाजको इतना महत्व दिया जाता था कि गाजे-बाजेके साथ देव-मन्दिरमें जाकर यह क्रिया सम्पन्न की जाती थी। बैबीलोनमें मिलित्तके मन्दिर, मिस्रमें आइसिसके मदिर, यूनानमे 'एफ्रादिते' के मन्दिर, यहूदामें 'वाल' के मन्दिर और रोममें फ्लोराके मन्दिरमें कौमार्य भगकी यह क्रिया बडी धूमधामके साथ सम्पन्न की जाती थी। ऐसी विवाहिता स्त्रियां जिन्होंने

---

1 "The Legend of Tanaquil, an investigation concerning Orientalism in Rome and Italy." P 43.

2 J A Dulaure, "Des Divinites generatrices," etc.

3 "East Indian Journey," P. 161.

4 "Annotations on the sacred writings of the Hindus," P. 3

5 Plos-Bartels, "Das Weile in der Natur-und Volker-Kund," Vol I, P. 580

6 Karsandas Mulji History of the Sect of Maharajas or Vallabhacharjas in Western India," P. 161.

देवताओंको अपना कौमार्य अर्पित नही किया है देवमन्दिरमें अजनवी या पुरोहितोको अपना सतीत्व अर्पित कर प्रारम्भिक गुनाहसे मुक्ति पा सकती थी[1]।

स्थायी धार्मिक वेश्यावृत्तिकी चर्चा हम ऊपर कर चुके है। भारतकी देवदासियो की तरह फिनीशियामें देवदासियोको 'कादें' और यूनानमें 'हाइरोदूल' कहा जाता था। फिनीशियामें वे 'वेनस की पुजारिनी' और यूनानमें 'एफ्रादितेकी दासी' समझी जाती थी। वे मन्दिरोमें ही रहती थी। कोरिन्थके एफ्रादितेके मन्दिरमें एक हज़ार देवदासियाँ मदिरके प्रागणमें ही वेश्यावृत्ति करती थी। उत्तर भारतमें इस प्रकारकी देवदासी 'नायक' कहलाती थी।[2]

(७)

महाकवि गेटे लिखता है—"इसमें कोई सन्देह नही कि धार्मिक वेश्यावृत्तिसे ही आधुनिक वेश्यावृत्तिका जन्म हुआ। हमारी आधुनिक वेश्याओंके समान देवदासियाँ भी अनासक्त भावसे अपनेको किसी भी ऐसे पुरुषको समर्पित कर देती थी जो उनके पेशेकी कीमत चुकाता था। किन्तु वह कीमत देवदासियोको नही वरन् देवता या चतुर पुरोहितोके हाथोमें जाती थी। ये पुरोहित आधुनिक चकलेदारोसे मिलते-जुलते थे।"[3]

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शापनहावर आधुनिक वेश्या वृत्तिके सम्बन्धमें लिखता है— प्रत्येक देशमे आधुनिक वेश्यावृत्ति वडे नगरोकी उन्नतिका ही परिणाम है। आधुनिक वेश्या-वृत्तिका विकसित रूप हमें केवल वडे नगरोमें ही देखनेको मिलता है। मध्य युगमें, जवकि वेश्या वृत्ति सामाजिक जीवनका आवश्यक अग समझी जाती थी, वेश्याओ के चकले हमें छोटे-छोटे नगरो और कसवोमें भी देखनेको मिलते थे। किन्तु यौन रोगोंके आक्रमण स्वरूप कसवोंसे ये चकले घर समाप्त हो गये और आज दिन तो गाँवोमें वेश्याओ का नाम-निशान भी नही है। गाँवोमें उन्मुक्त और मस्ताने प्रेमकी घटनायें होती रहती है किन्तु उनका वेश्यावृत्तिसे कोई सम्वन्ध नही। वेश्यावृत्तिकी समस्या केवल वडे नगरो तक ही सीमित है। नगरोमें पुरुषोकी कामवासनाकी तृप्तिके लिये वेश्याओकी माँग है किन्तु इस माँगके अनुपातमें वेश्याओकी सख्या वडे नगरोमें अत्यधिक वढ़ गई है। नगरोंमें पुरुषोकी सख्याके अनुपातसे वेश्याओकी सख्या कही अधिक वढी है।[4]

आधुनिक वेश्यावृत्तिकी परिभाषा करते हुए प्रसिद्ध फ्रासीसी डाक्टर रे लिखता है:— "वेश्यावृत्ति वह वृत्ति, पेशा या कार्य है, जिसके अनुसार कोई स्त्री धन पाकर या धन पाने की आशामें विना किसी तमीजके हर पुरुषको अपना तन हवाले कर देती है। इस क्रियामें दो विशेषताएँ है—(१) विना भेद-भावके कोई भी पुरुष उसके तनका उपभोग कर सकता है और (२) इस समर्पण क्रियाके एवजमें नारीको पुरस्कार या मेहनताना मिलता है। वेश्यावृत्तिकी एक तीसरी विशेषता और है वह यह कि विविध पुरुषोके साथ यह समर्पणकी क्रिया सम्पन्न हो।[5]

---

[1] "Sexual life of our Time" by Iwan Bloch, P. 100-103.
[2] W. H. Roscher, "Nectar and Ambrosia, P.P. 86-89.
[3] Goethe, "Der Gott und die Bajadere."
[4] Journal for the suppression of Venereal Diseases, Vol II, P.P. 311-312.
[5] Rey, "Public and Secret Prostitution, P. 1

अनेक पाश्चात्य आलोचक वेश्यावृत्तिके लिये नारीको ही दोष देते हैं। उनके अनुसार वेश्यावृत्ति ग्रहण करनेवाली नारियोमें जन्मसे ही वेश्याओंके लक्षण होते हैं[1]। किन्तु फ्रैडरिक हैमर ऐसी विचारधाराका खंडन करते हुए कहता है कि "जिस व्यक्तिने भी वेश्यावृत्तिका गम्भीर अध्ययन किया है, उससे यह बात छिपी नही है कि एक सम्माननीयमहिला किस तेज़ीके साथ परिस्थितियो और वातावरणसे विवश होकर वेश्यावृत्तिकी ओर फिसलती है। कुछ सप्ताह पहले तक वह पवित्र, विनम्र, सम्मानपूर्ण और सादगी से भरी होती है। किन्तु पतनके चक्रमें फँसकर और परिस्थितियोकी चक्कीमें पिसकर उसकी पवित्रता चूर-चूर हो जाती हैं। अपनी असहायतापर वह आँसू बहाती है किन्तु उस नरकसे निकलनेका उसके पास कोई रास्ता नही रहता[2]।"

इस शताब्दीके प्रारम्भमें अनेक देशोके समाज सुधारकोका ध्यान वेश्याओंकी समस्या की ओर गया। यूरोपीय देशोमें वेश्यावृत्तिने अनेको गम्भीर समस्याएँ पैदा करदी हैं जिनमें भयकर यौन रोगोकी एक लम्बी तालिका भी शामिल है। समस्याका हल ढूँढ निकालनेके लिए विविध देशोंके यौन रोगोंके विशेषज्ञो और समाज-सुधारकोंने अपने अनुभवोपर आधारित अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये*।

सन् १८५० के लगभग डाक्टर लिपर्टके ग्रन्थने सबसे पहले वेश्याओंकी हृदयविदारक कहानियाँ यूरोपकी जनताके सामने रखी। डाक्टर लिपर्ट अपने ग्रथमें लिखते हैं —

"वेश्यावृत्तिका दानव सहस्रमुखी है। यह गिरगिटकी तरह अपना रग बदलता है। अगणित कुलवधुओको यह दर-दरकी खाक छनवाता है, असख्य वर्णसंकर सन्तानो का यह जन्मदाता है। मयखानें और नाचघर इसीके सहारे चलते है। इनके चकला घरोंमें हत्याओ और डाकोकी योजनाएँ बनती है। अगणित आत्महत्याओंकी यहाँ भूमिका तैयार होती है। भयकर यौन-रोगोका यहाँ सृजन होता है। जन्मान्धो और जन्म-वक्रोके आगमनकी यहाँ ही दागबेल पडती है। समाजके दानव निर्धन कुलवधू या कुमारीको सहसा अपने नागपाशमें जकड लेते है। मुक्तिके लिये छटपटाकर वह अवश हो जाती है। मत्रमुग्ध-सी ये अबलाये दर्जनोंकी सख्यामें नारकीय चकलाघरोंमें रहने को विवशकी जाती है। इन्हें सजाकर कोठोपर बिठाया जाता है। सम्मोहन अस्त्र देकर इन्हे शिकार फँसानेके लिये सडकोपर घुमाया जाता है। मालिको द्वारा दैनिक मासिक और

[1] C. Lombroso, "Woman as Criminal and Prostitute, P 550

[2] Friedrich Hammer, "The Regulation of Prostitution, P. 380

* कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ ये है —

1 Dr. Michael Ryan, "Prostitution in London"
2 Dr William Tait, "Prostitution in Edinburgh"
3 Rev Ralph Ward Law, "Prostitution in Glasgow."
4. Berand, "Prostitution of Paris"
5 F J. Behrend, "Prostitution in Berlin and the Measures against Syphilis"
6 H Lippert, "Prostitution in Humburg"
7. Joseph Schrauk, "Prostitution in Vicuna"
8 W Acton, "Prostitution in its various Aspects"
9. J. Jeaunel, "Prostitution in Large Towns"
10. C. Strohmberg, "Prostitution a Socio Medical Study."

वार्षिक ठेकोपर उन्हें उठाया जाता है। ३० या ३२ वर्षकी अवस्था तक, जब तक उनकी यौवन-श्री अक्षुण्ण रहती है, उनके खरीदार उनकी कद्र करते है और फिर मरणान्तक बीमारियोंमें ग्रस्त, बेआसरा बेसहारा उन्हें ठोकर मारकर सडकोंपर निकाल दिया जाता है। तुरन्तउनके रिक्त स्थानकी पूर्त्ति कर ली जाती है। घरेलू नौकारानियोका वर्ग, जब तक है तब तक वेश्याओंकी पक्ति क्षीण नही हो सकती।"

उन्नीसवी शताब्दीके अन्तिम चरणमें वेश्याओकी हित चिन्तनाका सर्वाधिक श्रेय डाक्टर अलफ्रेड ब्लाखोको है। सन् १८९२ में उन्होने मेडिकल सोसाइटी, बर्लिनकी ओरसे वेश्यावृत्तिके विनाशके लिये एक विश्व सम्मेलन किया। यूरोप, अमरीका और एशियाके अनेक विद्वानो, चिकित्सको और समाजशास्त्रियोंने समस्याके विवादपूर्ण अध्ययन में भाग लिया। इस सम्मेलनके परिणामस्वरूप दो नारे बुलन्द किये गये :—

१ वेश्या वृत्तिकी वैधानिक मान्यता समाप्त की जाय,

२ चकलाघरोको बन्द किया जाय।

इस शताब्दीके शुरूमें ही संसारके सभ्य देशोमें वेश्यावृत्तिके लिये सुकुमारी लडकियो को फुसलाकर उडाये जाने और बेचे जानेके विरुद्ध जिहाद शुरू किया गया। सन् १९०५ में फ्रैंक-फर्टमें इस सिलसिलेमें एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन (International conference for the Suppression of the Traffic in Girls) बुलाया गया और वहाँ किशोर वयस्का बालिकाओंके इस व्यापारके विरुद्ध रचनात्मक निर्णय किये गये[1]।

फेलिक्स बोमेनके अनुसार सन् १९१२में अकेले न्यूयार्कके नगरमें कमसिन लड़कियो के अनैनिक व्यापारियोकी सख्या लगभग बीस हज़ार थी। ये व्यापारी अँगरेज, जापानी, जर्मन, तुर्क, भारतीय, यूनानी, फ्रासीसी, हंगेरियन सभी प्रकारकी लडकियोको यूरोप और एशियासे फुसलाकर अमरीकी चकला-घरो या कस्बीखानोकी मांग पूरी करते थे[2]। सन् १९२३ के लीग आफ नेशन्स कनवेन्शन के अनुसार विविधि देशोकी सरकारें इस जघन्य राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारको बन्द करनेके लिये काफी प्रयत्नशील है।

प्रसिद्ध अग्रेज़ इतिहास लेखक और चिन्तक ड्रेपरने बड़े मार्मिक शब्दोंमें वेश्यावृत्ति मे समाजकी निवृत्तिकी ओर विचारकोका ध्यान आकर्षित किया है। वह लिखता है —

"विचारकोंमें भी एक वर्ग है, जो इस घृणित व्यापारको 'आवश्यक पाप' बताकर जारी रखनेके पक्षमें है। वह उसपर सरकारी मोहर लगाकर उसे कानूनी छाप देना चाहता है। वह वेश्याओका सूची बद्ध रजिस्टर रखनेकी सलाह देता है। वह कस्बी खानोको भी सरकारी नियत्रणमें चलानेके पक्षमें है। वह वेश्याओंके अनिवार्य और नियमित शारीरिक परीक्षणके पक्षमें है। ऐसे भोले लोगोकी अक्लपर तर्स आना चाहिये। ये लोग दुनियाके हर दुर्गुणको, समाजमें प्रचलित हर बुराईको, सरकारी छाप लगाकर न्याय्य ठहराना चाहते है। वेश्यावृत्ति यदि और पेशोकी तरह एक पेशा है, तो हिन्दुओकी जाति-पाँतिकी तरह ये उसे अपरिवर्तन शील रखना चाहते है। क्या वे अपनी बहिनो

[1] Revelations Regarding the International Traffic in Girls, P.P. 207-208.

[2] "Sexual Life of our Time," by Iwan Block, P. 338

और बेटियोंको नि सकोच वेश्यावृत्तिका पेशा स्वीकार करने देंगे ? इस पेशेमें फँसी बहिनोको स्वस्थ सामाजिक जीवन वितानेका जीवनमें कोई अवसर प्राप्त न होगा—क्या यह हृदयको कँपा देनेवाली स्थिति नही है ? 'समाजकी आवश्यकता' के नामपर लाखो असहाय नारियोको आतशक, सूज़ाक और तपेदिक की नारकीय यंत्रणा भोगनेके लिये छोड़ देना—यह किस प्रकारका न्याय है ? पुरुष इन घृणित रोगोंके कीटाणुओको वेश्याओसे उपहारमें पाकर अपनी भोलीभाली विश्वासी पत्नीको भेंट करता है । इन यौन रोगोंके परिणाम उसकी सन्ततिको जीवनपर्यन्त भुगतने पडते है । वेश्यावृत्तिको आवश्यक बतानेवाले समाजशास्त्री अपने कलेजेपर हाथ रखकर जरा सोचें कि वे कैसा भयानक कुफ्र बक रहे है[1] ।"

वेश्याको सम्बोधन करते हुये प्रसिद्ध इतिहासज्ञ और विद्वान विलियम लैकी लिखता है .—

"कलुष और पतनकी प्रतीक उस एक नारीपर वासनाओंका एक ऐसा केन्द्रीभूत वोझ लदा हुआ है कि जो यदि विखर जाय, तो सारा ससार लज्जासे भर जायगा । धर्म आते है और जाते है, सभ्यताएँ फलती-फूलती है और समाप्त हो जाती है । किन्तु करुणा की वह साकार मूर्त्ति, वेश्या, मानवताकी अमर पुजारिनी पुरुषोकी काम-लिप्साकी लपटों में युग-युगसे ईंधनकी तरह जीवित धाँय-धाँय जल रही है[2] ।"

(८)

संसारके अन्य देशोकी तरह भारतमें भी वेश्यावृत्ति का अभिशाप विविध रूपोमें दिखाई देता है । भारतका कोई नगर ऐसा नही है, जहाँ यह अभिशाप अपने तीव्र रूपमें न हो । उदाहरणके तौरपर हम १९५१ में लिये हुये इलाहाबाद नगरके आँकडे यहाँ पेश कर रहे है ।

चकला घरो की सख्या	सार्वजनिक वेश्याओ की सख्या	गुप्त वेश्याओ की सख्या	आयु श्रेणी			आतशक और सूज़ाक आदि यौन रोगो से पीडित वेश्याओं की संख्या
			११ से १६ वर्ष	१७ से २५ वर्ष	२६ से ३५ वर्ष	
२९	५८७	१३९	२१८	२५४	१०६	४९३

गुप्त वेश्याओमें उन विवाहिता स्त्रियोकी भी गणना है जिनके पतियोकी आमदनी पचास रुपयेके भीतर है या जिनके पति वेकार है । इन बहिनोकी वेश्यावृत्तिसे ही परिवार का भरण-पोषण होता है[3] । ऊपरके आँकडोमे केवल उन्ही वेश्याओका शुमार है जिनके नाम पुलिस स्टेशनो और म्युनिसिपल स्वास्थ्य विभागकी जाँच-पडताल डायरी में दर्ज है ।

भारतकी विविध नगरपालिकाओने वेश्याओको आवासगृहोसे दूर नगरके एकान्त भागमें रखनेकी नीति अपनाई है । किन्तु इसकी उपादेयतापर गम्भीर मतभेद है । पडित जवाहरलाल नेहरू जव इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटीके अध्यक्ष थे,

[1] Draper, "The Social Diseases," P 71
[2] Religion and Science, by William Lecky, P 128
[3] B N. Pande, "Allahabad . Retrospect and Prospect," P. 460

उस समय वेश्याओंके वास स्थानका प्रश्न उनके समक्ष आया । समस्यापर अपने विचार प्रकट करते हुए श्रीनेहरूने लिखा था :—

"वेश्याओंके निवासस्थानका प्रश्न म्यूनिसिपैलिटीके सामने गत कई वर्षोंसे है। मैं चाहता हूँ कि केवल निवासस्थानके सीमित प्रश्नपर ही विचार न किया जाय बल्कि समस्याके व्यापक रूपपर विचार किया जाय। गत वर्ष म्युसिपैलिटीने वेश्यावृत्तिको नगरसे समाप्त करनेका साहसपूर्ण निर्णय किया था। इस प्रस्तावको मूर्त रूप देनेके लिये एक समितिका भी निर्माण किया था। किन्तु वह प्रयास जैसा कि सबको पता था, असफल सिद्ध हुआ। दुनिया कितनी बदल जाय यदि हम प्रस्तावोंके द्वारा बुराइयो और अपराधोको दूर कर सकें। यह दु खकी बात है कि हमें नवनिर्माणके काममें सम्हल-सम्हलकर क़दम रखना पडता है।

"यह एक मानी हुई बात है कि वेश्यावृत्ति एक पाप है और समाजके पहलूमें वह एक नासूरकी तरह है। इतिहासके उषाकालसे वेश्यावृत्ति प्रचलित है और हममें इतनी अहम्मन्यता नही होनी चाहिये कि हम कहें कि हम उसका यकायक अन्त कर देंगे। किन्तु ससारके प्रत्येक देशमें नैतिकता और सार्वजनिक स्वास्थ्यको दृष्टिमें रखकर उसकी बुराई को कम करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। पश्चिमके अनेक नगरोमें वेश्यावृत्तिको नियमबद्ध और सूचीबद्ध करनेका प्रयत्न किया गया किन्तु उससे उद्देश्यकी सिद्धि नहीं हुई। कुछ नगरोमें मान्यताप्राप्त चकलाघर हैं, जिनका नियमित निरीक्षण होता है किन्तु पुलिसके लाख प्रयत्न करनेपर भी अधिकाश वेश्याएँ नियमबद्ध होने या रजिस्ट्री करानेसे साफ इनकार करती हैं। इस प्रश्नको हल करनेका एक दूसरा तरीका है कि क्लिनिक खोले जायँ जहाँ यौन बीमारियोके इलाजका प्रबन्ध हो। इन चिकित्सालयोमें इन बीमारियोंके सम्बन्धमें लोगोको ज्ञान कराया जाय। इनके परिणामोसे वेश्यागामियोको सचेत किया जाय। नियम और अधिनियम बनाकर प्रत्येक देशमें वेश्यावृत्तिको कम करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। अनेक देशोमें कुटनेपनको भी एक जघन्य अपराध समझा जाता है।

"यह एक माना हुआ सत्य है कि वेश्यावृत्तिके दो कारण हैं—एक आर्थिक और दूसरा मानवीय दुर्बलता। यदि हम स्त्रियोको आर्थिक दृष्टिसे अपने पैरोपर खडे होनेमें सहायता पहुँचायें तो हम नियम और अधिनियम बनाकर वेश्यावृत्तिको बन्द करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक सफलतापूर्वक उसे बन्द करनेमें सहायता करेंगे। मानवीय दुर्बलताको दूर करना अति कठिन है, किन्तु स्त्री-पुरुषोकी आर्थिक और सामाजिक बराबरीसे समस्याके सुलझने में मदद मिलेगी। वेश्याओको अपने बीचमें रखनेसे हमें बदनामी महसूस होती है किन्तु वेश्याएँ अपना पुरातन पेशा एकमात्र अकेले नही चला रही हैं। वे वेश्यागमन के अपराधकी केवल एक पक्ष हैं। दूसरे पक्षकी बुराई मेरे कानोंमें कभी नहीं पडती। यह दूसरा पक्ष पुरुषोका है, जो असहाय स्त्रीकी असमत लूटकर सारा दोष उसीके सर मढ़ देता है। यदि वेश्यावृत्ति हमें बन्द करनी है, तो वेश्याओको हम जितना दोष देते हैं, उतनाही दोषी हमें वेश्यागामी पुरुषोंको ठहराना चाहिये।

"यदि हम इस प्रस्तावको स्वीकार करलें कि वेश्याओंको नागरिकोंके रहनेके मुहल्लो से या व्यापारक्षेत्रसे हटाकर अलग कर दिया जाय, तो उसका परिणाम यह होगा कि

वे शहरसे बाहर एक जगह इकट्ठा रहने लगेंगी। इस कार्यको व्यावहारिक रूप देना सरल नही है। वे खुल्लमखुल्ला कोठोपर बैठनेके बजाय चुपचाप अपना पेशा करेंगी। किन्तु यदि हम उन्हें शहरसे बाहर निकालनेमें सफल भी हो गये, तो इसका परिणाम क्या होगा? इस विषयके एक अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञकी राय मैं यहाँपर उद्धृत करना चाहता हूँ। वे कहते हैं —"वेश्याओंकी स्थितिकी जाँच-पडताल करनेमें मैं यूरोपके लगभग सभी बडे नगरोमें गया —ग्लासगोसे बुडापेस्ट तक और रोमसे क्रिस्टिनिया तक। मुझे एक भी पुलिस आफीसर ऐसा नही मिला, जो इस रायका हो कि वेश्याओंको एक ही मुहल्लेमें एकत्रित कर देना चाहिये। उनका इस प्रकार एकत्रित करना अत्यन्त अवाछ-नीय है। अपराधकी तरह वेश्यावृत्ति भी यदि एक जगह सघन हो जाय, तो अत्यन्त खतरनाक हो जाती है। जिस तरह अपराधियोको एक जगह एकत्रित कर देना खतर-नाक है, उसी तरह वेश्याओको एक जगह एकत्रित करना आपत्तिजनक है।"

वेश्यावृत्तिकी हानियोको कम करनेके लिये श्री नेहरूने निम्नलिखित सुझाव पेश किये :—

१. वेश्याओंके आवास-स्थान स्कूलो, कालेजो और होस्टलोंके निकट न हो।
२ कुटनियोकी प्रथा बन्द करदी जाय।
३ वेश्याओका कोठोपर बैठना बन्द कर दिया जाय।
४. अधिक से अधिक महिला कल्याण गृह खोले जायें जहाँ असहाय और विधवा स्त्रियाँ सुरुचिपूर्ण जीवन बिता सकें।
५. यौन रोगोंके सम्बन्धमें लोगोको जानकारी करानेका प्रयत्न किया जाय!
६ चकलेघर या कस्बीखाने कानूनन बन्द कर दिये जायें। स्त्रियोंकी सम्भोग-स्वीकृति आयु (Age of consent) बढा दी जाय।
७ लडकियोको फुसलाकर उडाना और वेचना बडा अपराध समझा जाय और उसके उल्लघनपर अत्यत कठोर दड दिया जाय।

वेश्याओको नगरसे बाहर हटानेका घोर विरोध करते हुए पडित नेहरूने कहा —"वेश्याओको नगरसे बाहर एक अलग मोहल्लेमें बसानेका मैं तीव्र विरोध करता हूँ। यदि आप उन्हें एक अलग मोहल्लेमें बसाना चाहते है, तो फिर वेश्यागामी पुरुषोको भी आप शहरसे बाहर एक दूसरे अलग मोहल्लेमें बसानेका आयोजन करें।"*

यौन रोग वेश्यावृत्तिकी ही औरस सन्तानें हैं। सन् १९१३ में यौन रोगोंके सर्वा-गीण परीक्षणके लिये इगलिस्तानमें एक रायल कमीशन मुकर्रर किया गया। कमीशन की सिफारिशोंके अनुसार उस देशमें यौन रोगोंसे बचने और उनकी चिकित्साके लिये ठोस कदम उठाये गये। भारतीय चिकित्साके इतिहासमें पहली बार मार्च सन् १९१७ में यौन बीमारियोका मुकाबला करनेके लिये बम्बईके चिकित्सकोकी एक लीग कायम हुई। पाश्चात्य देशोकी चिकित्सा प्रणालीको बम्बईके डाक्टरोने भी अपनाया।

भारतके अन्य अनेक नगरोंके समान इलाहाबादमें भी यौन रोग अपनी पराकाष्ठा पर है। म्युनिसिपैलिटीके अपने अध्यक्ष कालमें मैंने सन् १९५१ में अस्पतालों और व्यक्तिगत चिकित्सकोंसे जो आँकडे एकत्रित करवाये उनके अनुसार उस वर्ष इलाहाबाद

* Allahabad Municipal Gazzete 10th June 1923

नगरमें १०,८३७ व्यक्तियांकी यौन रोगोके लिये चिकित्सा की गई,* भारत सरकारके स्वास्थ्य मंत्रालयकी विज्ञप्तिके अनुसार भारतमें इस समय १,३०,००,००० स्त्री और पुरुष आतशक और सूजाक आदि यौन रोगोसे पीड़ित हैं। वेश्यावृत्ति समाजसे जो भयकर वदला चुका रही है ये आँकड़े उसकी करुण कथा सुना रहे हैं ।

(६)

स्वतन्त्रता प्राप्तिके वादसे भारतमें वेश्यावृत्ति निरोवकी ओर जनता और जन-प्रिय सरकार, दोनोका ध्यान शनै:-शनै: आकर्षित हो रहा है। केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित केन्द्रीय समाज कल्याण वोर्डने २४ दिसम्वर सन् १९५४को 'सामाजिक और नैतिक स्वास्थ्य परामर्श समिति' मुकरर की। समितिकी अध्यक्षा श्रीमती धनवन्ती रामाराव थी और सदस्याएँ श्रीमती शान्ति कवीर, श्रीमती विमला देशमुख, श्रीमती मैत्रेयी वोस, श्रीमती पी० पारिजातम नायडू और मंत्री सदस्य श्री वी० वी० शास्त्री थे। समितिने ३० सितम्वर सन् १९५५ को अपनी विचारपूर्ण रिपोर्ट केन्द्रीय समाज कल्याण वोर्डके समक्ष प्रस्तुत की है। अन्य वातोके अतिरिक्त समितिको लड़कियोंके अनैतिक व्यापारकी जाँच पड़तालका काम भी सौंपा गया था और उन्हें यह भी सलाह देनेका काम सौंपा गया था कि स्त्रियो और वालिकाओको नारकीय वेश्या जीवनसे कैसे छुटकारा दिलाया जा सकता है।

समितिकी रिपोर्टसे कुछ अत्यन्त उपयोगी तथ्योका पता चलता है। जैसे भारतमें अकेला एक कुर्ग ही ऐसा राज्य है जहाँ वेश्यावृत्ति नही है। भारतमें चार प्रकारकी वेश्याएँ है—(१) वेश्याओकी अपनी कन्यायें, (२) देवदासियां और धार्मिक वेश्याएँ, (३) सामाजिक परिस्थितियोंसे विवश होकर जिन्होने वेश्यावृत्ति स्वीकार की है और (४) अत्यधिक यौन-भावनाओसे पूर्ण नारियाँ जिन्होने व्यक्तिगत कारणोंसे वेश्यावृत्ति अपनाई है।

पहली श्रेणीकी वेश्याएँ गोआ में 'गौमन्तक' सावन्तवाडीमें 'कोलाती', आध्रमें 'वसावी' और 'कोयी' और उत्तरप्रदेश और विहारमें 'नट' और वेड़िनियाँ' कहलाती है।

दूसरी श्रेणीकी वेश्याओकी परम्परा मद्रास, वम्वई और उडीसा में पाई जाती है। मद्रास और वम्वई दोनो जगह देवदासी विरोधी कानून वनाये गये। मद्रासमें एक वहुत वड़े अश तक देवदासी प्रथाका अन्त करनेमें सफलता प्राप्त हुई है। राजकीय सहायता, जनमत और समाज सेवकोकी सतत चेष्टाओसे उसे इसमें सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु वम्वईमें देवदासियोकी प्रथा अव भी यल्लामा, दुर्गा और मगेशके मन्दिरोंमें प्रचलित है। वम्वईके चकलाघरोंमें कर्नाटक, खानदेश और राज्यके दूसरे क्षेत्रोंसे लाई हुई इस प्रकारकी देवदासियाँ समितिको मिली। चकलाघरोकी मालकिनें जो 'घरवाली' कहलाती हैं इन देवदासियोकी आधी आमदनी हड़प जाती हैं। ये घरवालियाँ इन्हें गहने कपडोंके लिये कर्ज देती हैं और रहनेको कोठरी। इनमेंसे प्रत्येक लड़की यौन रोगो से पीड़ित दिखाई दी। इनमें से अधिकांश स्त्रियाँ पाँच रुपयेसे लेकर १० दस रुपया रोज तक कमाती है। आठ आना प्रति व्यक्तिके हिसावसे ये दससे लेकर वीस आदमियों तक की कामवासना रोज तृप्त करती है।

*B.N. Pande, "Allahabad - Retrospect and Prospect," P.P. 94-95

तीसरी श्रेणीकी वेश्याओंमे, जिन्हें परिस्थितियोने वेश्या बननेपर विवश किया, समितिको ऐसी निर्धन किन्तु सम्माननीय परिवारोंकी स्त्रियाँ मिलीं—(१) जिन्हें बेकारी और भुखमरीने वेश्या बननेपर विवश किया; (२) नवयुवती विधवायें, जिन्हें परिवार वालोने क्रूर व्यवहार करके घरोसे बाहर निकलने और वेश्याएँ बननेपर विवश किया, (३) पतियो, सासो और ससुरालके अन्य सदस्यो द्वारा सताई गई नवयुवतिया जिन्होंने घरके असहनीय अत्याचारोंसे वेश्यालयोका जीवन कहीं कम कष्टकर समझा और (४) वे युवतिया और बालिकायें जो पितृहीना और अनाथ थी और जिन्हें उनके ही अभिभावकोने वेश्या बननेके लिये आजाद छोड दिया। हैदराबाद दक्षिणमें ऋणग्रस्त परिवार साहूकारोको अपने लड़के लडकियाँ सदाके लिये दे देते हैं। यह प्रथा 'परवरदा' कहलाती है। अकेले हैदराबाद और सिकन्दराबाद के नगरोमें इस प्रकार के तेईस हज़ार बच्चे समितिको मिले जिनमें एक तिहाई से अधिक बालिकायें थी। इनमेंसे अधिकाश बालिकायें वेश्याओंके चकलाघरोको आबाद करनेपर विवश की जाती हैं। बगालमें अनेको बालविधवायें हैं। इनके पिता या अभिभावक इन्हे काशीमें विश्वनाथके मन्दिरमें भजन करनेके लिये छोड जाते हैं। इन सुकुमार बंगाली बाल विधवाओंमे से एक बडी सख्या कुटनियो द्वारा दालमडीमें पहुँचा दी जाती है।

चौथी श्रेणीकी वेश्याएँ पूरी-पूरी वेश्याएँ नही हैं। वे सप्ताहमें दो-तीन बार वेश्यालयो, होटलो, या बोर्डिंगोमें जाकर अपनी असाधारण जिन्सी भूख बुझाती हैं। इनके एवज़में इन्हें आर्थिक आमदनी भी हो जाती हैं।

वेश्या वृत्तिके व्यापारको चलानेमें चार प्रकारकी एजेन्सियाँ भाग लेती हैं — (१) लड़कियाँ फुसलाकर उडानेवाले या कुटनियाँ, (२) चकलाघर या कस्बीखानेकी मालकिन जिसे दक्षिणमे 'घरवाली' और उत्तरमें 'नायिका' या 'नायक' कहा जाता है, वेश्याओकी पचास प्रतिशतसे अधिक आमदनी इन मालकिनोके बटुयेमें चली जाती है, (३) दलाल जिनमें टैक्सी ड्राइवर, रिक्सावाले, टाँगावाले या दूसरे लोग शामिल होते हैं और (४) मकान मालिक।

समितिने अपनी रिपोर्टमें एक अलग अध्यायमें उन सब कानूनो, नियमो, अधिनियमो और उपनियमोकी चर्चा की है जो स्त्रियोको भगाने, वेचने, पेशा करानेके लिये किसी एक जगह रखने या उनसे कामवासना परितृप्त करनेसे सम्बन्धित हैं। अपनी विविध धाराओंके अनुसार भारतीय दण्ड विधान (धारा ३६६, ३६६ अ, ३६६ ब, ३७२, ३७३ और ३७६) निम्नलिखित बन्दिश लगाता है —

(१) सोलह वर्षसे कम आयुकी अविवाहित बालिकासे उसकी सहमति के होते हुए भी यौन सम्बन्ध वर्जित है।

(२) किसी भी स्त्रीके साथ उसकी सहमति और मरज़ी के प्रतिकूल डरा धमकाकर फुसलाकर या बेहोशीकी दवा पिलाकर यौन सम्बन्ध वर्जित है।

(३) विवाहिता स्त्रीके साथ उसकी सहमतिसे यौन सम्बन्ध जुर्म नहीं है बशर्ते कि इसमें उसके पति की सहमति हो या वह इससे आँख बचाता हो।

(४) अपहरण अभिभावकके अधिकारोंके विरुद्ध जुर्म है।

(५) किसी स्त्रीका अपहरण इस उद्देश्यसे करना कि उसे दूसरे व्यक्तिके साथ यौन सम्बन्ध करनेपर विवश किया जाय जुर्म है।

(६) नावालिग लडकियोको वेश्यावृत्तिके लिये वेचना या देना क़ानूनी अपराध है।

लड़कियोंके अनैतिक व्यापारको रोकनेके लिये भारतके विविध राज्योमें जो कानून प्रचलित है उनकी तालिका इस प्रकार है :—

१. वम्वई वेश्यावृत्ति निरोधक कानून,१६२३,
२. मद्रास अनैतिक व्यापार निरोधक कानून, १६३०
३. वंगाल अनैतिक व्यापार निरोधक कानून,१६३३,
४. उत्तरप्रदेश अनैतिक व्यापार निरोधक कानून, १६३३,
५ पंजाव अनैतिक व्यापार निरोवक कानून १६३५,
६. मैसूर अनैतिक व्यापार निरोधक कानून, १६३६,
७. जम्मू-काश्मीर अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून, १६३४,
८. विहार अनैतिक व्यापार निरोधक कानून, १६४८,
६. त्रावणकोर-कोचीन अनैतिक व्यापार निरोवक कानून, १६५२
१० हैदरावाद अनैतिक व्यापार निरोवक कानून, १६५२,
११. मध्य प्रदेश अनैतिक व्यापार निरोवक कानून, १६५३,
१२ अजमेर अनैतिक व्यापार निरोवक कानून, १६५३।

मद्रासका कानून आन्ध्रमें प्रचलित है और वगालका दिल्लीमें। वम्वईका देवदासी क़ानून, १६३४, और मद्रासका देवदासी क़ानून, १६४७ विशेष कानून है जिनके द्वारा दोनों राज्योमें वालिकाओको देवार्पित करके देवदासी वनानेकी प्रथा गैरकानूनी करार दी गई है। सन् १६२६ का यू० पी० नायक वालिका कानून १८ वर्ष तक की आयुकी वालिकाओ पर रोक लगानेका अधिकार डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेटको देता है।

समितिने इस वातकी सिफारिश की है कि विविव राज्योके कानूनोमें जो असमानता है उसे दूर करके सव कानूनोको एक-सी-उपविधियोंके अन्तर्गत लाया जाय। समिति की इस सिफारिशके अनुरूप ही नवम्वर १६५५ में भारतीय लोक सभाने इस सम्वन्वमें दो महत्वपूर्ण कानून स्वीकार किये है। वे है :—(१) सप्रेशन आफ इम्मारल ट्रैफिक इन वीमेन एण्ड गर्ल्स विल और (२) चकलाघरोको गैर कानूनी करार देने वाला कानून।

लड़कियोका व्यापार और चकलाघरोको समाप्त करनेके सम्वन्वमें समितिने एक दर्जनसे अविक उपयोगी और व्यावहारिक सुझाव दिये है।

अपनी रिपोर्टके साथ समितिने अनेकों उपयोगी तालिकायें दी है जो वेश्याओकी समस्यापर काफी रोशनी डालती है। कलकत्तामें १३० वेश्याओको अचानक चुनकर उनके जीवनके विविव पहलुओपर उनसे जो जानकारी प्राप्त की गई उन्हें तालिकाओंके रूपमें रिपोर्टमें शामिल किया गया है। ये तालिकायें काफी आँखें खोलनेवाली है। उदाहरणके रूपमें हम यहाँ कुछ तालिकायें उद्धृत कर रहे है।

(१)

वर्ष	आयु समूह	संख्या	प्रतिशत
,,	१५—१८	१	१
,,	१६—२५	६५	५०
,,	२६—३०	३६	३०
,,	३१—४१	१८	१४
,,	४० और अविक	४	३०
		१३० वेश्याएँ	

(२)

विशेष धर्मावलम्वी	सख्या
हिन्दू	१११
मुसलिम	१२
वौद्ध	४
ईसाई	२
अनजान	१
	१३०

(३)

सामाजिक वर्ग	सख्या	प्रतिशत
किसान	२३	३७
निम्न व्यापारी	६	१४ ५
चाकर	६	१४ ५
वेश्या परिवार	७	११ ३
शिल्पी	४	६ ५
क्लर्क परिवार	४	६ ५
ज़मीदार और धनी किसान	२	३ ३
अन्य	४	६ ४
	६२	

(४)

विवाहित स्थिति	संख्या	प्रतिशत
विवाहिता	४३	३३.१
विधवाएँ	४१	३१ ५
अविवाहिताएँ	४०	३ ०८
वेश्यापुत्री	६	४ ६
	१३०	

(५)

कारण	सख्या	प्रतिशत
पुरुपो द्वारा फुसलाई हुई	४२	३२.३
निर्धनताके कारण	३३	२५.५
कुटनियो द्वारा लाई हुई	१८	१४
पतियो द्वारा सताई हुई	१५	११.५
वेश्या पुत्री	८	६
पतियो द्वारा परित्यक्त	६	४.६
घरोमे निकाली हुई	३	२.३
पतिकी चरित्रहीनताके कारण	२	१.५
पति द्वारा वेश्या वनाई गई	२	१.५
विमाताओके अत्याचारो के कारण	१	.८
	१३०	

(६)

आमदनी	सख्या	प्रतिशत
सौ रुपयासे कम	४५	३४.६
सौ और ढाई सौ रुपयाकेवीच	५५	४२.३
ढाई सौ और पाँच सौकेवीच	२०	१५.४
अन्य	१०	७.७
	१३०	

उपरोक्त तालिकाओंसे कई वातें स्पष्ट होती हैं। पहली यह कि उन्नीससे पच्चीस वर्ष तककी आयुकी अधिकसेअधिक वालिकायें वेश्यावृत्तिके लिये इकट्ठी की जाती है। दूसरी यह कि वेश्याओमें सवसे अधिक संख्या हिन्दू स्त्रियोकी है। जिन धर्मावलम्वियो में विधवा विवाह, विवाह विच्छेद और पुनर्विवाहका प्रचलन है उनमें वेश्यावृत्ति नगण्य है। तीसरी वात यह है कि निर्धनताकी प्रतिमूर्त्ति किसानोकी वालिकायें ही सवसे अधिक सख्यामें फुसलाकर वेश्यावृत्तिके लिये लाई जाती हैं। चौथी वात यह कि विधवायें और विवाहिता स्त्रियाँ; इस आकस्मिक सरवेके अनुसार, वेश्याओका लगभग ६५ प्रतिशत

है। पाँचवी बात यह कि २० प्रतिशत स्त्रियोको वेश्या बनानेके लिये पति जिम्मेदार है २५ प्रतिशतके लिए निर्धनता जिम्मेदार है और ३२ प्रतिशतके लिये लम्पट पुरुष ज़िम्मेदार है। छठवी बात यह साफ होती है कि आमदनीके अनुपातसे ५५ प्रतिशत वेश्याएँ उन परिवारोसे आती है जिनकी आय सौ और ढाई सौ रुपयेके बीच है।

समितिने ऐसे अनेक आश्रमोका भी निरीक्षण किया, जो उद्धार की हुई बहिनोकी देखभाल करते है। समितिकी रायमें इनमें से अधिकाश आश्रमोकी व्यवस्था अत्यन्त असन्तोषजनक है। इन आश्रमोका विस्तृत वर्णन पढकर इनके प्रति पाठकको किसी प्रकारकी सहानुभूति बाकी नही रह सकती। इन नारी कल्याण-भवनोकी सन्तोषप्रद व्यवस्थाके लिये समितिने उपयोगी सुझाव दिये है।

समितिने एक अलग अध्यायमें भारतमें यौन-रोगोकी समस्यापर भी अपने विचार व्यक्त किये है। सर जान मेगाके अनुसधानोके अनुसार भारतमें लगभग एक करोड तीस लाख व्यक्ति यौन रोगोसे पीडित है। इनमेंसे केवल ७,७५,००० रोगी इलाजके लिये अस्पतालो और दवाईखानोमें आते है। मद्रास और बगालमें ये रोग सबसे अधिक फैले हुए है। काश्मीरकी उपत्यका और पहाडो पर भी यह रोग बहुत अधिक प्रचलित है। समितिने यौन रोगोसे छुटकारेके लिये कई उपयोगी सुझाव दिये है।

(१०)

यह है सक्षेपमें इन वेश्या बहिनोकी सतप्त और अभिशप्त कहानी। मानवताके सभी प्रेमियोको इस समाचारसे अत्यन्त हर्ष हुआ जब अखिल भारतीय हिन्द-चीन मैत्री सघके अध्यक्ष पण्डित सुन्दरलालने चीनसे लौटकर सूचना दी कि चीनी समाज और सरकार दोनोने मिलकर चीनसे वेश्यावृत्तिका सर्वथा अन्त कर दिया है। आध्यात्मिकता जिसके कण-कणमें है और सदाचार जिसकी साँस-साँसमें है—ऐसा भारत देश क्या अपनी पवित्र भूमिसे वेश्यावृत्तिके इस कलकको समूल नष्ट करनेके लिये ठोस कदम नही उठायेगा? जिस देशका मूल सास्कृतिक मत्र है—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'—वह क्या नारीके इस अशोभनीय रूपको और अधिक समय तक सहन करेगा?

आज हमें प्रौढ वेश्याओकी फिरसे नैतिक सस्थापना करनी है। आज हमें नववयस्क वेश्याओको फिरसे समाजमे स्वीकार कर उन्हें मृदुल गृहस्थ जीवनका सुख प्रदान करना है। आज हमें वेश्या सन्तानोको प्रेमसे गले लगाकर स्वतन्त्र भारतमें आदरणीय नागरिकका पद प्रदान करना है। भारतने पुरातन युगमें ऐसा ही किया है। आखिर ऐतरेय उपनिषद्के महान रचयिता क्या एक निकृष्ट हरजाई स्त्रीके पुत्र नही थे? उनसे जब गुरुने उनका गोत्र और पिताका नाम पूछा तो क्या अपनी मांसे पूछकर उन्होंने यही उत्तर नहीं दिया था कि—"मैं नही जानता कि मेरा गोत्र क्या है? मैं नहीं जानता कि मेरा वर्ण क्या है? मैं नही जानता कि मेरा पिता कौन है।? मेरी माताने नागरिकों की सेवकाई करके न जाने किससे मुझे प्राप्त किया है!" ऋषिने यदि इन वेश्यापुत्र का तिरस्कार किया होता तो भारतीय सस्कृति "ऐतरेय" ऐसे महान उपनिषद् ग्रथकी रचना से वचित हो जाती। भारतीय राष्ट्रके निर्माता चक्रवर्ती सम्राट् भरत अपनी जिन माँ शकुन्तलाके पेटसे जन्मे थे, वह आखिर किसकी पुत्री थी? इन्द्रकी वेश्या मेनका की, जिसे विश्वामित्रको तपभ्रष्ट करनेके लिये भेजा गया था! किन्तु क्या इसके लिये कभी भारतने अपने महान निर्माता का तिरस्कार किया?

भारतीय समाजमें वेश्या वृत्ति का अस्तित्व भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति, भारतीय स्वाधीनता, भारतीय आध्यात्मिकता, भारतीय धर्म—सबके लिये एक लज्जा और कलक का विषय है। देशको शपथ लेकर निकट भविष्यमें ही मानवताके इस कलकसे अपनेको उन्मुक्त करना है।

—०—

श्री पारस दीवान

समाज-सुधार और क़ानून

भारतकी सामाजिक व्यवस्थामें सुधार—क्रांतिकारी सुधारों—की आवश्यकतासे आज कोई इन्कार नही कर सकता है। भारतवासियोंके वैयक्तिक मामलोंमें हस्तक्षेप न करना अंग्रेजी शासनकी नीतिका एक अंग रहा था। फल यह हुआ कि जहाँ-तहाँ एकआध सुधारके कानून पास करनेके अतिरिक्त भारतवासियो — हिन्दू और मुसलमानकी संस्थाएँ, नियम, रीति एव रिवाज वही चलते रहे, जो कि अंग्रेजी राज्यकी स्थापनाके पूर्व थे। अंग्रेजी शासनने सती प्रथापर प्रतिबन्ध लगाया ,हिन्दू विधवा विवाहको कानूनी मान्यता दी। पर ये दो चार उदाहरण ही ऐसे है जहाँ अंग्रेजी शासन ने समाज सुधारकी आवश्यकताको स्वीकार करके कानून पास किए। इसका कारण स्पष्ट है। अंग्रेजी शासक की सर्वप्रथम नीति यह रही कि भारतपर उनका शासन कायम रहे, और इसके लिए उनका मत यह था कि भारतको जितना भी पिछड़ा हुआ रखा जाए उतना ही अच्छा है। इसके साथ यह भी बात थी कि यदि वे समाजसुधारके कानून पास करते तो उन्हें रूढिवादी भारतवासियोंके विरोध से भी टक्कर लेनी पडती। यह स्मरण रखनेकी बात है कि अंग्रेजी शासनकाल के प्रारम्भिक कालमें भारतमे रुढिवादियोका बोलबाला था। अंग्रेजी राज्यके विरुद्ध सर्वप्रथम आन्दोलन राष्ट्रीयता के नामपर न होकर रुढिवादके नामपर हुआ है। प्रथम महायुद्ध तक भारतमें राष्ट्रीय आन्दोलन कभी भी प्रबल नही हो सका। १८५७की क्राति यद्यपि स्वतन्त्रताकी क्राति थी, परन्तु उसमें रुढिवादी एव सामन्तवादी भावनाओका ही बाहुल्य था। सच्ची राष्ट्रीयता का जन्म भारतमें प्रथम महायुद्धके पश्चात प्रथम असहयोग आन्दोलन से होता है।

ऐसी स्थितिमें अंग्रेजी शासनने यही उचित समझा कि भारतमें रुढिवाद को कायम रखा जाए। रुढिवाद और प्रतिक्रियावादका जो सौजन्य है, उसे अंग्रेजी शासक खूब अच्छी तरहसे समझते थे। हुआ यह कि जिन रूढिवादने अंग्रेजी राज्यके प्रारम्भिक दिनोमें उसका विरोध किया था उन्होंने बादमें उनका साथ दिया। रूढिवादका सहारा लेकर हिन्दू मुसलमानोंके बीच विरोधके बीज बोए गए जिन्होने पनप कर, धर्मके नामपर भारत को दो राष्ट्रो में बाँटने पर जोर दिया और अन्तमें भारतके विभाजनको मान्यता मिल ही गई!

अंग्रेजोंके भारतमें आनेके पूर्व भारतकी दोनो मुख्य जातियो के रीति-रिवाज, सामाजिक सस्थाएँ, नियम और वैयक्तिक कानून भिन्न-भिन्न थे। इन भिन्नताका अर्थ यह

निकला कि हिन्दू मुसलमान सामाजिक मंचपर कभी भी नही मिल सके। अंग्रेजोंने इस भिन्नताका लाभ उठाकर हिन्दू मुसलमानोंकी सामाजिक भिन्नताको बढावा देकर उसे राजनैतिक और राष्ट्रीय भिन्नतामें परिवर्तित कर दिया। इस कूटनीतिमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली।

इसका फल यह हुआ कि हिन्दू मुसलमानोंके वैयक्तिक और पारिवारिक कानूनोंके एक होनेका तो प्रश्न ही नही उठ सका, वल्कि हिन्दू एव मुसलमानोकी संस्थाओ, रीति-रिवाज, कानून-नियममें भी पृथक-पृथक रूपसे भी सुधार नही हो सके और रूढिग्रस्त हिन्दू समाज एव मुसलमान समाज रूढियोंके वीच फँसा कराहता रहा और प्रतिक्रियावाद अट्टहास करता रहा।

अंग्रेज़ी शासनने भारतमें दीवानी और फौजदारी Civil एवं Criminal कानूनोको तो वदलकर अपने यहाँके कानून लागू किए, परन्तु वैयक्तिक एवं पारिवारिक मामलोमें हिन्दू मुसलमानोंके पृथक् वैयक्तिक और पारिवारिक कानून जारी रहे।

हिन्दुओंके पारिवारिक एवं वैयक्तिक कानूनोका आवार श्रुति स्मृति एवं हमारे आचार्यों द्वारा की गई टीकाए ही रही। इसी भाँति मुसलमानोकी पारिवारिक एवं वैयक्तिक कानूनोंका आवार शरियत ही रही। परन्तु इन कानूनोको लागू करनेका उत्तरदायित्व अंग्रेज़ी न्यायाधीशोंपर रहा। प्रारम्भिक कालमें अंग्रेज़-न्यायाधीशोंकी सहायताके लिये पंडित और मुल्ले नियुक्त किये गये थे, परन्तु उनकी टीका और व्याख्याको मानना अंग्रेज़ न्यायाधीशोके लिये आवश्यक नही था। यदि उन्हें पंडित और मुल्लोकी व्याख्या और टीका उचित प्रतीत होती थी तो मान लेते थे, अन्यथा नही। स्पष्ट ही है कि अंग्रेजी न्यायाधीश चाहे वे कितने ही न्याय पडित क्यों न रहे हो, भारतके प्राचीन ग्रथोमें वताए गए नियमोको समझने और लागू करनेमें पूर्णतया योग्य नही थे। न तो वे यह समझ सकते थे कि किस वातावरणमें किस तात्पर्यसे अमुक नियम हमारे आचार्योंने वनाया है और नही वे यह निर्धारित कर सकते थे कि वर्तमान समाजव्यवस्थाके अनुकूल वे नियम है या नही। अंग्रेज़ न्यायाधीशोने हिन्दू-कानूनके नियमोको दो भागोमें वाँटा : एक वे जिन्हें मान्यता मिलनी चाहिये और दूसरे वे जो आचार्योंने केवल सिफारिश के लिए लिखे थे। परन्तु वे नियमोको पूर्णतया न समझ ही सके और न ही उनकी अच्छाई-बुराईको आँक सके। फल यह हुआ कि अनेक वातें जिनको मान्यता हमारे आचार्योंने दी थी, अंग्रेज-न्यायाधीशो द्वारा स्वीकार नही की गई और वहुतसे नियम, जिन्हें हमारे आचार्यो ने मान्यता नही दी, स्वीकार कर लिये गये। उदाहरणके लिए हिन्दू आचार्योंने अन्तर्जातीय विवाहको मान्यता दी थी, पर न्यायालयोंने कहा कि हिन्दुओंमें अन्तर्जातीय विवाह गैरकानूनी है। आचार्योंने पागलोकी शादीको निषिद्ध वताया पर न्यायालयोंने यह निर्णय दिया कि पागलोकी शादी हिन्दू-कानूनके अन्तर्गत जायज़ है। आचार्यो ने 'स्त्री-सपदा' की स्थापना नही की, परन्तु न्यायालयोंने उसे स्थापित किया। इस भाँति हिन्दू-कानूनका रूप वहुत अंश तक विगड़ गया। यहाँ यह कहनेका तात्पर्य नही है कि हमारे आचार्योंने ऐसे नियम वनाए थे जो अनन्त तक औचित्यपूर्ण ठहराए जा सकते थे, वल्कि यहाँ कहना यह है कि हिन्दू-क़ानून की प्रगतिशील व्याख्या और टीका की जा सकती थी वह नही की गयी! वहुत अंश तक यह वात मुसलमानोंके क़ानूनपर भी लागू होती

है। सभवत. इसके लिए हम अग्रेज-न्यायाधीशोको दोषी नही ठहरा सकते, क्योकि उनका ज्ञान सीमित था। इसके लिए तो दोष शासन-व्यवस्थाको ही दिया जा सकता है, क्योकि उसकी नीति हिन्दू-मुसलमान समाजके कल्याणकी न थी।

अग्रेजी शासन-व्यवस्थाको कायम रखनेके लिए अग्रेजोके लिए भारतके Civil और Criminal कानूनको बदलकर अग्रेजी कानून लागू करना आवश्यक था, वह उसने किया। यह कहना अनौचित्यपूर्ण नही होगा कि अपनी सत्ता कायम रखनेके लिए उन्होने रूढिवादको पाला-पोसा और रूढिवादको पालने-पोसनेके लिए ही उन्होने हिन्दू मुसलमानोके वैयक्तिक एव पारिवारिक कानूनोको ज्योका त्यो रखनेकी व्यवस्था की।

भारतमें ज्यो-ज्यो राष्ट्रीय आदोलन बढता रहा, ज्यो-ज्यो स्वतत्रताका अर्थ नही मानेमें समझमें आने लगा, त्यो-त्यो समाज-सुधार राष्ट्रीय आन्दोलनका एक अग बनने लगा। स्वतत्रताकी मॉंग, स्वतत्रताके लिए आदोलन, के साथ समाज-सुधारकी मांग समाजसुधार के लिए अन्दोलन भी बढता रहा। भारतके राष्ट्रीय आदोलनने यह समझा कि जब तक रूढिवादको, पिछले पनको त्याग नही दिया जाता है, तब तक सच्चा राष्ट्रीय आन्दोलन पनप नही सकता। रूढिवाद सदैव प्रतिक्रियावादमें बदलकर राष्ट्रीय आदोलन के सन्मुख आ सकता है और राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगतिमें बाधा उपस्थित कर सकता है। यही समझकर समाजसुधारका आदोलन राष्ट्रीय आन्दोलन का अग बना। कभी-कभी यह भी हुआ कि समाज-सुधारका आन्दोल-राष्ट्रीय आन्दोलनसे पृथक रह कर भी पनपा। आर्य-समाज आदोलन ऐसा ही आदोलन था—यह मूल रूपसे हिन्दू समाजमें सुधार और हिन्दू समाज के कल्याण के लिए था, यद्यपि बाद में इसने कुछ ऐसा रूप धारण किया कि वह मुसलिम विरोधी समझा जाने लगा, जिसके कारण राष्ट्रीय एकता को भी कुछ ठेस लगी।

राष्ट्रीय आन्दोलनके साथ-साथ चलनेवाले समाज-सुधार आन्दोलनका अपना महत्त्व है। पर यहाँ एक प्रश्न सामने उपस्थित हुआ। समाज-सुधारके कार्यको क्या कानूनी मान्यता मिलनी ही चाहिए? क्या बिना कानून पास किए समाज-सुधार का काम अधूरा रह जाता है?

इन प्रश्नोका उत्तर तब ठीकसे दिया जा सकता है जब कि हम यह समझले कि समाज सुधारके लिए कानूनका कितना महत्व है। यह तो ठीक है कि कुरीतियो, रूढि ग्रस्त संस्थाओ और नियमो को बदलनेके लिये वैसा कानून पास होना आवश्यक है। पर क्या कानून पास कर देनेसे ही समाज सुधार हो जाता है? सती प्रथाको रोकनेके लिए पास किए गए कानूनकी एक शताब्दी बीत चुकी है, परन्तु फिर भी एक-आध सती होनेका समाचार आये वर्ष हमें मिल ही जाता है। जो बात सती प्रथाके साथ है, वही बात अन्य समाज सुधारके कानूनोंके साथ घटित हो सकती है। किन्ही परिस्थितियो में तलाककी व्यवस्था उचित मानी जा सकती है, यह भी उचित माना जा सकता है कि यदि पति पत्नी पारस्परिक अनुमति द्वारा विवाह-विच्छेद करना चाहें, तो उन्हें कानूनन अनुमति मिल जानी चाहिए। पर फिर प्रश्न यह है कि क्या हमारे समाजका वातावरण ऐसा है, जिसमें पति या पत्नी तलाककी आवश्यकता होनेपर भी तलाककी मांग स्वतत्रता-

पूर्वक कर सकते हैं—यहाँ कानूनी स्वतंत्रताकी या अधिकारोंकी बात नहीं कही जा रही है, बल्कि मनोवैज्ञानिक और मानसिक स्वतन्त्रताकी बात कही जा रही है। क्योंकि आवश्यकता होनेपर तलाककी इच्छा पैदा तो हो सकती है, पर ऐसी कौन-सी नारी है, जो समाज और परिवारके बहिष्कारको सहन कर सकेगी। समाज तलाक लेनेवाली पत्नीको पतित समझकर उसे बहिष्कृत करके क्या उसके साथ अत्याचार नहीं कर सकता है? क्या कानून समाजकी इस प्रतिक्रियाको रोक सकता है? निस्संदेह, नहीं।

इस लेखककी रायमें यही जटिल प्रश्न है। अत कानूनी काररवाईकी आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी जो सबसे बड़ा प्रश्न है, वह समाजके वातावरण का है। समाज का वातावरण ऐसा बन जाये कि कानून द्वारा किए गए समाज सुधारके कार्योंको कार्यान्वित करनेमें सुविधा रहे, ताकि समाज-सुधार यथार्थ रूप ले सके।

यह कार्य, स्पष्ट ही है, कानून द्वारा नहीं किया जा सकता। कानून वातावरण नहीं बना सकता। वातावरण तो समाज-सुधारके आन्दोलन द्वारा ही बन सकता है और समाज-सुधारके आन्दोलनकी सफलताके लिए न केवल सच्चे और त्यागशील कार्य-कर्ताओंकी आवश्यकता है बल्कि जनताकी सुचारु पढ़ाई लिखाईकी भी आवश्यकता है। पढ़ाई-लिखाईके साथ शिक्षाका अटूट सम्बन्ध है; पढने लिखनेपर शिक्षा आ सकती है। तात्पर्य यह है कि समाज-सुधार के आन्दोलनका यह आवश्यक अंग होना चाहिए कि जनताको शिक्षित किया जाए। स्वतंत्र देशोंमें समाज सुधारके आन्दोलनको सरकारी योग और सहायता मिलना आवश्यक है।

अतः समाज सुधारके लिए आन्दोलन और समाज सुधारके लिए कानून पास करना इन दोनोका अपना एक विशेष सम्बन्ध है। समाज-सुधारके लिए आन्दोलन किया जाता है। जनता—विशेषकर रूढ़ि ग्रस्त जनता-आन्दोलन द्वारा समाज सुधारकी आवश्यकता को समझने लगती है, वह सोच उठती है कि समाज-सुधार आवश्यक है, वह यह स्वीकार करने लगती है कि सचमुच वर्तमान समाज-व्यवस्था उसकी समृद्धि और प्रगति में बाधा उपस्थित करती है; वह समझने लगती है कि वर्तमान समाज-व्यवस्थामें सुधार होना उसके कल्याण, उसकी सन्तानके कल्याण, उसके समाजके कल्याण और उसके राष्ट्र के कल्याणके लिए आवश्यक है। जब समाज-सुधारके लिये आन्दोलन इस स्थितिमें पहुँच जाता है, तो समाज-सुधारको मान्यता देनेके लिए कानून पास किया जा सकता है। ऐसी स्थितिमें पास किया गया क़ानून लाभदायक सिद्ध होता है, क्योंकि समाज-सुधारके आन्दोलन द्वारा समाजमें वैसा वातावरण पैदा हो जाता है और जनता उस कानूनसे पूरा लाभ उठानेके लिए तत्पर हो जाती है।

ऐसा भी हो सकता है कि समाजका वातावरण समाज-सुधारके कानूनको स्वीकार करनेके लिए पूर्णतया अनुकूल नहीं है, पर समाजकी स्थितिको देखकर वैसा कानून पास करना आवश्यक है। तो वैसा क़ानून पास किया जा सकता है। हो सकता है जनता उसका विरोध न करे, पर यह भी हो सकता है कि जनता उसका पूरा लाभ न उठा सके। जब इस भाँति क़ानून पास हो, तो फिर समाज-सुधारके आन्दोलनकी आवश्यकता बनी रहती है और यह आवश्यक हो जाता है कि समाज-सुधारके क़ानूनको पूरी तरह समझने

के लिए आन्दोलन जारी रखा जाए। यदि ऐसा नहीं किया जाए, तो कानून तो पास हो जाता है, परन्तु वह कानूनकी किताबोंमें ही सीमित रह जाता है। जनता उसका पूरा लाभ नहीं उठा सकती और रूढ़िवाद दवा-दवा कर अपने पूर्ण अधिकारके साथ, समाजके शरीरको धीरे-धीरे, घुनकी तरह, खाता रहता है, और अधिकार होते हुए भी नर-नारी उस अधिकारका उपभोग नहीं कर सकते। असीम वेदनामें कराहते हुए समाजके कोढको पोसतेही रहते हैं।

अत जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि कानून पास कर देने से ही समाज-सुधार हो सकता है वे भ्रममें हैं। कानून तो किसी कार्यके करने या न करनेमें सहायता ही दे सकता है, वह उस कार्यको न करा ही सकता है और न पूर्णतया रोक ही सकता है। यदि कानून ऐसा कर सकता तो विश्वमें आज एक भी जुर्म (Crime) न होता। परन्तु ऐसा है नहीं, कानूनके होते हुए भी आए दिन जुर्म होते हैं। यह इसलिए है कि कानून केवल एक माध्यम है, एक रोक है, रामवाण ओषधि नहीं है।

सचमें यह भी स्मरण रखनेकी बात है कि कानून यथार्थमें कुछ ही व्यक्तियोंके लिए होता है। दड-विधान दोषियोंके लिये ही है क्योंकि जनसाधारण और दोषियोंकी सख्यामें बहुत अन्तर है। जुर्म कुछ ही लोग करते हैं अत कानून उन्हें सजा दे सकता है, पर यदि समस्त जनता जुर्म करने लगें, तो क्या कानून उसे सजा दे सकता है? अग्रेजी शासन का विरोध करना अग्रेजी शासन कालमें जुर्म था, भारतके अनेक स्वतत्रताप्रेमी उस कानून के अन्तर्गत जेलमें डाल दिए गए, फाँसीपर लटका दिए गए। परन्तु जब समस्त जनता ने उस 'जुर्म' को करना आरम्भ किया और जब भारतकी जनता बगावत कर उठी, तो वह कानून टूटकर छिन्न-भिन्न हो गया।

यही बात समाज-सुधार के कानूनोंपर भी लागू होती है। यदि जनता समाज-सुधारके कानूनको स्वीकार नहीं करे, उसे ग्रहण नहीं करें, तो क्या केवल कानून पास करने से समाज-सुधार हो जाएगा? स्वतन्त्र भारतमें किसी को 'अछूत' मानना कानूनी जुर्म है। पर क्या इस कानून द्वारा भारतसे 'अछूतपने' का रोग मिट गया है?

अत समाज-सुधारके कानूनोंका एव समाज सुधारके आन्दोलनका अभिन्न सम्बन्ध है। दोनो एक-दूसरेके पूरक हैं। स्वतन्त्रता आन्दोलनके कालमें भी इसकी सत्यताको स्वीकार किया गया था। हमारे राष्ट्रीय नेताओंके समक्ष प्रश्न यही था कि किसभाति वे स्वतन्त्रता-आन्दोलनके साथ साथ समाज-सुधारके आन्दोलनकोच लायें।

कुछ भी हो, राष्ट्रीय-आन्दोलनके साथ-साथ समाज-सुधारकी आवश्यकताको स्वीकार किया गया। राष्ट्रीय नेताओंने यह माना की समाज-सुधारके पृथक स्वतत्रताका आन्दोलन अधूरा रह जाता है।

ज्यो ही विधानमडलमें भारतवासियोंको स्थान मिला, उन्होंने समाज-सुधारके कई कानून विधान मंडलमें पारित किए। यही कारण है कि सन १९३० के पश्चात् हिन्दू कानूनमें कई सशोधन विधान पास करके किये गये। १९३७ में मृतकी विधवा, पुत्र की विधवा, एवं पौत्रकी विधवाको सपत्तिमें हिस्सा देनेका कानून पास किया गया। १९३७ में ही आर्यसमाजके अन्तर्गत किए गए विवाहोंको कानूनी स्वरूप देनेका कानून पास किया गया। १९२९ में बाल-विवाहपर प्रतिबन्ध लगानेका कानून पास हुआ।

इसी वर्ष उत्तराधिकारके कानूनमें सशोधन करनेका कानून बना। १९४६ में सगोत्र विवाहको मान्यता देनेका कानून पास हुआ। इसी वर्षमें पत्नीको अदालत द्वारा पृथक होने और भरण-पोषण मिलनेका कानून पास हुआ। १९४९ में हिन्दू अन्तर्जातीय विवाहोको कानूनी मान्यता दी गई। इसी भाँति मुसलमानोंके कानूनोमें भी कुछ सुधार विधान पास करके किया गया।

परन्तु समाज-सुधारके इन कानूनोका आकार बहुत ही सीमित रहा। इसका कारण यह था कि अंग्रेज़ी कालके केन्द्रीय विधानमडल एव प्रांतीय विधान मडलोको पूरे अधिकार नही थे। निस्सदेह परतन्त्र देशके विधान मंडलोको समस्त शक्तियाँ मिल भी नही सकती। अंग्रेज़ी शासनको समाज-सुधारके कानूनो और समाज-सुधारके आन्दोलन के साथ सहानुभूति नही हो सकती थी।

अत: यह आवश्यक था कि समाज-सुधारको कानूनी रूप देनेके लिए भारतके विधान मंडल को पूरी शक्तियाँ प्राप्त हो, और यह तब तक नही हो सकता था जब तक कि भारत का विधानमण्डल पूर्णतया स्वतन्त्र न होता। इस भाँति समाज-सुधारका सम्बन्ध भारतकी स्वतन्त्रताके साथ अटूट था। भारत स्वतत्र होनेपर समाज-सुधारके कानून पास कर सकता था। यही बात समाज-सुधारके आन्दोलनपर भी लागू होती है। परतन्त्र देशमें न तो समाज-सुधारका आन्दोलन पूरे वेगसे चल सकता है और न समाज सुधारके कानून पास किए जा सकते हैं।

भारतके स्वतन्त्र होनेके पश्चात् सबसे जटिल प्रश्न जो राष्ट्रके समक्ष उपस्थित था, वह था भारतकी प्रगति और समृद्धिका। प्रगति और समृद्धिके लिए यह आवश्यक है। कि देशकी आर्थिक दशा सुधरे, देशका पिछडापन समाप्त हो और रूढ़िवाद नष्ट हो जाये।

भारतीय सविधानके चौथे भागमें समाज-सुधारके कुछ नियमोका उल्लेख किया गया है। इस भाग द्वारा भारतकी केन्द्रीय एवं राज्य सरकारोको संविधान यह आदेश देता है कि राज्यकी नीति बनाते समय इन नियमोका पालन किया जाए।

यह भाग मुख्यतया भारतकी भावी आर्थिक एव सामाजिक नीतिके नियमोको निर्धारित करता है। सामाजिक नीतिके कुछ मुख्य नियम निम्नलिखित है :—

१. पुरुष और स्त्रीको एकसे कामके लिए बराबर वेतन दिया जाना चाहिए।
२. बालकोको समुचित शिक्षा दी जानी चाहिये और किसी भी कारणसे या किन्ही भी परिस्थितियोमें उनका शोषण नही होना चाहिए।
३ जिस भाँति भी हो, बेरोज़गारीको दूर करना चाहिए।
४ प्रत्येक नागरिकको अपनी प्रगतिका पूरा अवसर मिलना चाहिए।
५. कारखानो और खानोंमें अमानवीय वातावरणको दूर करना चाहिए।
६ भारतके नागरिकोंके लिए समस्त भारतमें एक ही कानून होना चाहिए।
७ भारतके शोषित वर्गको विशेष रूपसे प्रगति और समृद्धिके साधन उपलब्ध कराने चाहिए।

यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि उपर्युक्त नियम भारतवासियोंके अधिकार (Fundamental rights) नही हैं, जिन्हें भारतका हर नागरिक न्यायालयो

द्वारा प्राप्त कर सकता है; वल्कि वे राज्यकी नीतिके नियम है, जिन्हें हर सरकारको मान्यता देनी चाहिए। यह ठीक है यदि कोई सरकार उन्हें मान्यता न दे तो न्यायालयो द्वारा इन नियमोको मान्यता नही दिलाई जा सकती; परन्तु यह भी ठीक है कि यदि सरकार इनकी अवहेलना करे, तो वह असंवैधानिक कार्य करेगी।

स्वतन्त्र भारतके केन्द्रकी एव राज्योकी सरकारोने कुछ सीमा तक इन सिद्धान्तोको अपनानेका प्रयत्न किया है। आज किसीको अछूत कहना गैर कानूनी है। इन्ही सिद्धान्तोके अन्तर्गत हिन्दू कानूनमें सुधार किए गए है। हिन्दुओका विवाह एव उत्तराधिकारका कानून अब बिलकुल बदल गया है। समाज-सुधारके अन्य कई कानून विधेयक के रूपमें ससद और विधानमडलोमें पारित हो चुके है।

अब भारतको, जहाँतक समाज सुधारके कानून पास करनेका प्रश्न है, पूर्ण शक्तियाँ प्राप्त है। वह चाहे जैसा कानून पास कर सकता है—वह क्रातिकारी समाज-सुधार करनेवाले कानून भी पास कर सकता है। परन्तु समाज-सुधारके कानून पास करना एक बात है और समाज उनसे पूर्ण लाभ उठा सके, यह दूसरी बात है। स्वतन्त्र भारत मे समाज-सुधारका आन्दोलन लगभग समाप्त सा ही हो गया है। बडे-बडे आन्दोलनो की बात छोड दीजिए—जो कानून पास होते है उनका भी पूरा प्रचार नही हो पाता। न पत्र पत्रिकायें ही उनका प्रचार करती है और न उनका प्रचार आकाशवाणी द्वारा ही होता है। फल यह हुआ है कि अधिकाश जनता आज भी हिन्दू-कानूनमें हुए सुधारोको समझनेमें समर्थ नही हो पाई है और जब वह समझ ही नही पाई है, तो उनका पालन भी नही कर सकती है। फिर समाजका वातावरण भी उस योग्य नही बन सका है, जिसमें भारतके नर नारी नए कानूनोका लाभ स्वतन्त्रतापूर्वक उठा सके। गावोकी बात तो जाने दीजिए, शहरोका भी वातावरण उस योग्य नही बन सका है। आज भी कोई विरली ही नारी ऐसी होगी, जो पूर्ण स्वतन्त्रताके साथ विवाह विच्छेदकी माँग कर सके, जो एक-आध तलाक माँगती भी है, वह इसीपर साहस कर सकी है कि जीवनने उनको उस कगारेपर फेक दिया है जहाँसे मुडा नही जा सकता और कूदनेका अर्थ मौत ही है। विवाह विच्छेदका अर्थ, फिर, केवल एक असहनीय स्थिति से ही मुक्ति लेना नही है, वल्कि उसका अर्थ यह भी है कि फिरसे एक सुखी शान्तिपूर्वक जीवनका आरम्भ किया जाये। आज कितने व्यक्ति ऐसे भारतमें मिलेंगे, जो तलाक देनेवाली स्त्रीसे विवाह करनेको स्वेच्छासे तत्पर हो जाएगे, यही बात अन्य समाज-सुधारोके कानूनोके साथ है। किसीको अछूत मानना अब गैरकानूनी है, पर क्या यथार्थमे ऐसा हो सका है कि भारतमें अछूत अब न रहे हो?

अत केवल कानून द्वारा समाज-सुधार होना सम्भव नही है। समाज-सुधारके कार्यको कानून केवल सुविधा दे सकता है। सारा समाज-सुधार तो समाज-सुधारके आन्दोलन द्वारा ही हो सकता है। आर्य समाजके आन्दोलनके अन्तर्गत अन्तर्जातीय विवाह की आवश्यकता, विधवा विवाहकी आवश्यकता, पतित कहलानेवाली नारियोंसे साथ विवाहकी आवश्यकता को प्रोत्साहन दिया गया—आर्यसमाजके नियमको मानने वालोंने उसे ग्रहण किया और आर्यसमाजी प्रथासे ऐसे अनेक विवाह हुए। ऐसे विवाहोंको कानूनी मान्यता मिली है १९३७ में। श्री घनश्यामसिंह गुप्त द्वारा प्रस्तुत विधेयकके पास

भी ऐसे विवाह हुए। दूसरा उदाहरण विधवा विवाहका है। एक शताव्दी पूर्व विधवा पुर्नविवाह कानून पास हुआ था, पर अव तक भी इस कानूनका पूरा लाभ नही उठाया जा सका है। अव तक जिन विधवाओने पुर्नविवाह किया है, उनकी सख्या वहुत ही कम है।

अत समाज-सुधारके लिए अनुकूल वातावरण वनना आवश्यक है और वातावरण समाज सुधारके आदोलन द्वारा ही वन सकता है। जव वैसा वातावरण हो तो कानून तो समाज-सुधारके कार्यकी सहायता ही कर सकता है, उसका पूरक ही हो सकता है, स्वयं एकाकी रूपसे वह अपूर्ण रह जाता है।



श्री दीनानाथ सिद्धान्तालंकार

विधवा-विवाह

"धर्म या रिवाजसे लादा हुआ वैधव्य असह्य जुआ है और वह गुप्त पाप द्वारा घरको अपवित्र और धर्मको पतित बनाता है। यदि हम शुद्ध होना चाहते हैं, हिन्दू धर्मको बचाना चाहते हैं, तो हमें जबरन लादे जानेवाले वैधव्यके इस जहरसे छुटकारा पा लेना चाहिए। यह सुधार उनसे शुरू होना चाहिए, जिनके यहाँ बाल विधवाएँ हैं। वे साहस जुटाएँ और यह देखें कि उनकी देखभालमें रहनेवाली बाल विधवाओका केवल विवाह ही न हो, बल्कि बाकायदा और ,अच्छी तरह विवाह हो। वास्तवमें उनका कभी विवाह हुआ ही नही था।"

युगद्रष्टा महात्मा गाधीके ५ अगस्त १६२६ के "यग इडिया" में लिखे यह शब्द आज लगभग एक चौथाई सदीके बाद उतने ही सत्य हैं, जितने उस समय थे। गाँधीजीने एक बार कहा था कि हिन्दू जाति दो बारूद-घरोपर बैठी है और जब भी इनमें से कोई एक या दोनो फटेंगे, तब जाति तहस-नहस हो जाएगी। यह दोनो बारूद घर अस्पृश्यता और बलात् वैधव्य है जिनके दुष्परिणाम आज भी समाजको भोगने पड रहे हैं। १६३६ में ब्रिटेनके प्रधान मत्री सर रेम्जे मेकडानलने "साम्प्रदायिक निर्णय" (कम्यूनल एवार्ड) दिया था। इसके विरोधमें गाधीजीको यरवदा जेलमे आमरण अनशन करना पडा था। यह पहला प्रबल विस्फोट था जिसका निराकरण गाधीजीको अपने प्राणो की बाजी लगाकर करना पडा। स्वतत्रताके बाद अस्पृश्यताको कानूनन न केवल समाप्त कर दिया गया है किन्तु उसे ऐसा अपराध बता दिया गया है, जिसमें पुलिस स्वयं सीधी कार्यवाही कर सकती है (कागनिजेबल आफेन्स)। इस कानून और सरकार द्वारा उठाये जा रहे अन्य कई कदमोके कारण अस्पृश्यताका सर्वथा अन्त हो गया है, ऐसा तो नही कहा जा सकता पर इस दुर्गकी दीवारें ढह रही हैं—यह नि सदेह कहा जा सकता है।

पर विधवाओ—विशेषत बाल-विधवाओ—का प्रश्न जिन्हें घरकी चहार दीवारी के अन्दर बद रखा जाता है, इससे अधिक टेढा है। अस्पृश्यता निवारण एक सामाजिक दोष है जिसमें अब कानून पूरा आपके साथ है। विधवाका प्रश्न, मूलत. एक पारिवारिक प्रश्न है, एक निजी मामला है। स्वभावत किसीके पारिवारिक और निजी मामलेमें आप सहसा हस्तक्षेप नही कर सकते। किसीके घरके भीतर जानेकी स्वतत्रता तो हर किसीको नही दी जाती। कानून भी इसमे आपका विशेष सहायक नही है। अगर

कोई अपनी विधवा पुत्रीका पुनर्विवाह नही करता तो कानून उसे वाध्य नही कर सकता। कानून तो इतना ही कर सकता है—जैसा कि विधवा पुनर्विवाह एक्टमें कहा गया है—कि अगर कोई पिता-माता व संरक्षक अपनी विधवा पुत्री व पुत्रवधूका पुनर्विवाह करना चाहे, और विरादरी उसके काममे रुकावट डाले अथवा उसका वहिष्कार आदि करे, तव वह उनपर मुकदमा चला सकता है। मुकदमेका फैसला उसके हकमें ही होगा—ऐसा निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता। इसलिए अस्पृश्यता निवारणकी अपेक्षा विधवा-विवाहके लिए अधिक नैतिक साहसकी आवश्यकता है। यही कारण है कि कई प्रसिद्ध समाजसुधारक इस मामलेमें आकर पिछड जाते है।

अव घरमें विधवाके साथ क्या वर्त्ताव होता है? माता-पिता, भाई-भावजका जीवन तो भोग विलासपूर्ण है पर युवती कन्या और पुत्रवधूसे यह आशा की जाती है कि वह सारी आयु व्रत, उपवास और पूजा-पाठमें ही गुजार दे। क्या शरीरको भूखा रखनेसे मनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती है? नही। तभी सर्वथा स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ अपना उपशमन करनेके लिए अन्य मार्ग तलाश करती है। गांधीजीके शव्दोमें विवाह जीवनमें एक स्वाभाविक वस्तु है और इसे किसी भी तरह हेय समझना विल्कुल अनुचित है। (हरिजन २२–३–४२) हिन्दू धर्ममें, इसीलिए, गृहस्थ आश्रमको सन्याससे भी श्रेष्ठतर मानते हुए इसे सागरके समान विशाल, गम्भीर और अन्य आश्रमरूपी सव नदियोको अपनेमें समेटनेवाला कहा गया है। मनुके शव्दोमें "तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृह"—गृहस्थ आश्रम सवसे वड़ा है—ऐसा कहा गया है।

हिन्दू विवाह-संस्था मे परिवर्तन हो

युवती विधवाओको जव वलात् वैधव्यमें रखा जाता है और इस स्वाभाविक और पवित्र गृहस्थ आश्रममें उनके प्रवेशको सर्वथा रोक दिया जाता है, साथ ही उसके साथ परिवारमें दुर्व्यवहार, अत्याचार और उत्पीड़न किया जाता है तव प्रकट और गुप्त व्यभिचार, दुराचार, वेश्या-वृत्ति और गर्भपात सदृश नयी सामाजिक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। इन सव समस्याओका हल करनेके लिए जहाँ एक उपाय युवती विधवाओका विवाह है, वहां हिन्दुओकी विवाह सस्थामें आमूलचूल परिवर्तन भी है। विधवाका प्रादुर्भाव जिन स्रोतोंसे होता है, उनका विरोध भी तो अन्यत्र आवश्यक है। यह स्रोत हैं, वाल-विवाह, वृद्ध विवाह, वहु विवाह, कन्या विक्रय, जातपातके वंधन और दहेजकी प्रथा। गाँधीजीने निम्नलिखित शव्दोमे इन वुराइयोकी कितनी तीव्र निन्दा की है :—

> "मैं वालविवाहसे घृणा करता हूँ। मैं वाल-विधवाको देखकर काँप उठता हूँ और जव किसी पतिको विधुर वनते ही पाशविक उपेक्षाके साथ पुनर्विवाह करते देखता हूँ, तो क्रोधके मारे कांपने लगता हूँ। मुझे उन माता-पिताओंकी अपराधपूर्ण उपेक्षा पर दुख होत है जो अपिनी लड़कियोको सर्वथा अज्ञान और निरक्षर रखते हैं और उनके पालन-पोषण सिर्फ इस गरजसे करते है कि किसी साधन सम्पन्न युवकसे उनका विवाह कर दिया जाए। (यग इंडिया २६–७–२१)
>
> जिन माता-पिताने किसी वच्चीको किसी वूढेके साथ या कुमारअवस्था वाले लड़केके साथ व्याहकर अपनी संरक्षताका दुरुपयोग किया है, वे अपने पापके प्रायश्चित्तके रूपमें कमसे कम यही कर सकते है कि जव वह लडकी विधवा हो जाए,

तब उसका दूसरा विवाह कर दें । इस प्रकारकी शादियाँ शुरूसे ही रद्द मानी जानी चाहिए ।" (यग इडिया ११-११-२६)

स्वतन्त्रताप्राप्तिके बाद कुछ ऐसे कानून बने हैं, जिनसे इस दिशामें सराहनीय पग उठाये गये हैं पर ये दोष केवल शासन बलसे दूर नही किये जा सकते । इसके लिए तो सामाजिक बल और प्रबल जनमत अपेक्षित है । बाल-विवाह रोकनेके लिए शारदा एक्ट बने आज लगभग ३०-३१ वर्ष हो गये हैं पर आज भी खुल्लमखुल्ला बाल-विवाह होते देखे जाते हैं । ऐसा क्यो ? क्योकि जनमत और सामाजिक बल इतने प्रबल नही है कि किसीको ऐसा करनेका साहस ही न हो । बाल-विवाह, वृद्ध विवाह और बहु विवाह कन्याके माता पिता और सरक्षकोके भयकर षड्यत्र, गर्हित अर्थ लोलुपता और अपने कुल और जातिके मिथ्या और दम्भपूर्ण अभिमानके कारण ही होते है । इनके कारण , कुछ ही घटोमें विवाहके ढोगके बाद, बडे पैमानेपर किस प्रकार विधवाओ का प्रादुर्भाव हो जाता था, इसका उदाहरण, प्रसगवश, यहाँ देना अनुचित न होगा ।

वृद्धके युगपत् १०० विवाह

विधवाओकी दयनीय अवस्थाकी ओर ध्यान देनेवाले और विधवा-विवाहके पक्षमें सबसे प्रथम अपनी आवाज उठानेवाले प० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे । विधवा-विवाह करनेकी स्वतन्त्रता देने और उसमें रुकावट डालने वालेको अदालतकी ओरसे दड दिये जाने का कानून बगालके इसी महापुरुषके प्रबल आन्दोलन और प्रेरणासे बना था । कुलीन ब्राह्मण होते हुए भी आप तत्कालीन भारतमे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होने शास्त्रीय प्रमाणो द्वारा विधवा-विवाहकी पुष्टि की यद्यपि रूढिवादियो और पोगापथियोकी ओरसे आप पर विविध प्रकारके अत्याचार और उत्पीडन करनेमें कोई कसर नही रखी गयी । आप के जीवन-चरित्रमें लिखा है कि कुलीन ब्राह्मणसे ही अपनी कन्याका विवाह करनेकी उत्सुकता में वृद्ध और मत्युशय्याग्रस्त ब्राह्मणके साथ दर्जनो दुधमुँही बच्चियोके फेरे दे दिये जाते थे । चूँकि एक कुलीन ब्राह्मणका एक ही समयमें सब कन्याओके घरोमें पहुँचना सम्भव नही होता था, इसलिए उस के प्रतिनिधि स्वरूप कदली खम्भ अथवा बिल्वशाखाके साथ ही विवाह कर दिया जाता था । कुछ ही घटो व दिनोके बाद तथाकथित कुलीन ब्राह्मण देवता तो ससारसे कूचकर जाते थे और अपने पीछे दर्जनो गोदमें खेलनेवाली बच्चियोके माथेपर वैधव्यका आजन्म अभिशाप विरासतमे छोड जाते थे । विद्यासागर महोदय ने अपनी एक पुस्तकमें पूर्वबगाल (अब पूर्वी पाकिस्तान) के बरीसाल, मैमनसिंह, फरीद-पुर, ढाका इत्यादि जिलोके कई कुलीन ब्राह्मणोकी ऐसी विस्तृत और सप्रमाण तालिका दी है, जिन्होने एक सौसे भी कुछ अधिक ऐसे विवाह किये थे और जिनके मरनेके बाद ही बडे पैमानेपर यह सब शिशु-कन्याएँ सारी आयु ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेके लिये वैधव्य के गर्तमें धकेल दी गयी थी । इन तथाकथित विधवाओकी उम्र प्राय ६ माससे लेकर ७-८ वर्षो तक ही होती थी । विभाजनसे पूर्व १९२६ से, १९४० तक हमें कई बार बगालका और विशेषत पूर्वी बगालका दौरा करनेके अवसर मिले । कई स्थानोपर हमें ऐसी बालिकाओको दिखाया गया, जिन्हें सिंदूर लगाने और चूडी पहननेका अधिकार नही था और जिनकी आयु ८-१० वर्षसे कम ही थी । साँपको भी दूध पिलाने और चिउँटीको भी आटा देकर अपनेको उदाराशय और सर्वभूतहिते रता (प्राणिमात्रके

कल्याणमें लगा हुआ) कहलानेवाला हिन्दू अपनी ही सन्तानके प्रति इतना क्रूर और निर्दयी हो सकता है, यह एक विचित्र मनोवैज्ञानिक स्थिति है।

शास्त्रोके प्रमाण

विधवा-विवाहके विरोधमें शास्त्रोकी दुहाई, प्रायः दी जाती है। वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह, भ्रूणहत्या और अन्य प्रकारके कदाचार करते समय तो शास्त्रोको ताकमें रख दिया जाता है, पर जब बिरादरी समाज और कामी, लोलुप पुरुषोके अत्याचारोंसे पीड़िता, अपमानिता और धर्षिता बाल व युवती विधवाके जीवनको सुखी बनानेके लिए कुछ प्रयत्न किया जाता है तब डूबतेको तिनकेके सहारेके समान शास्त्रोको बीचमें लाकर खड़ा किया जाता है। स्मृति और सूत्र ग्रंथ तो अपने समयकी व्यवस्था देनेवाले ही हैं, वह त्रिकालधर्मी तो नही हैं। समयके अनुसार समाजके रीति-रिवाज और स्वरूपमें परिवर्तन आता रहता है। यह शास्त्र अपने समयके मानवके कल्याण और हितके लिए बनाये जाते हैं न कि मानवको सदाके लिए उसकी वेदीपर बलि दे देनेके लिए। फिर भी ऐसे शास्त्र भक्तोका भ्रम दूर करनेके लिए हम यहाँपर वेद और शास्त्रोंके कुछ प्रमाण देते हैं, जिनमें विधवा-विवाहकी स्पष्ट आज्ञा दी गयी है :—

वेद

(१) उदीर्ष्वनार्यभि जीव लोकं गतासु मेत मुप शेष एति। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्त वेद पत्युर्जनित्व मभिसंबभूव ॥अथर्वका १८, सूक्त ३, मन्त्र २, और ऋग् मंडल १० सूक्त १८, मंत्र ८। और तैत्तिरीय आरण्यक ६–१–१४

इस मंत्रका सायणाचार्यने जो अर्थ किया है, उसका भावार्थ यह है—

हे पुत्री तू इस मृत पतिके साथ पड़ी हुई है। उठ और जीते हुए इन प्राणियोंके समूह के आगे आ और तू किसी विधवाका हाथ पकडनेवाले पुनर्विवाहकी इच्छा करनेवाले पतिकी स्त्री हो।

(२) कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्व करतः कुहोषतुः। कोवा शयुभा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥

ऋग्, मडल १०, सूक्त ४०, मन्त्र २

अर्थ—हे स्त्री पुरुषो! तुम दोनो रात्रिको कहाँ रहते हो और दिनमें कहाँ वास करते थे? तुम्हारा शयनस्थान कहाँ है? तुम कौन व किस देशके रहनेवाले हो? जैसे विधवा देवरको और विवाहिता स्त्री अपने पतिके साथ समान स्थान, शय्यामें एकत्र होते हैं, ऐसे तुम भी होओ॥

(३) अदेवृघ्न्य पतिघ्नी हैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती वीर सूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥

अथर्व, काड, १४, अनु २, मंत्र १८

पति और देवरको दुख न देनेवाली हे स्त्री तू इस घरमें पशुओंके लिए कल्याण करने वाली, अच्छे प्रकार नियममें रहनेवाली, रूप और विद्यायुक्त, उत्तम सन्तान सहित, वीर पुत्रोको जननेवाली, देवरके साथ सम्बन्ध रखनेवाली पति व देवरको प्राप्त होकर इस गृहस्थके अग्निहोत्रका सेवन किया कर।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि देवर शब्दका अर्थ पतिका छोटा भाई ही नही होता किन्तु यास्कमुनि कृत निरुक्तके अध्याय ३ खड १५ में कथित वचनके अनुसार "देवर कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते"—अर्थात् विधवाका पति दूसरा होनेसे ही देवर कहा जाता है ।

वेदके निम्नलिखित मत्रमें तो ४ पति और पुरुषके लिये ४ पत्नी तक करनेका विधान है ।

(४) सोम प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तर
तृतियो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा· ।।

ऋ० म १०, सूक्त ८५ मत्र ४०

हे स्त्री तेरा विवाहित पहला पुरुष तेरा पति तुझे प्राप्त होता है, वह सोम है, दूसरा गन्धर्व और तीसरा "अग्नि" है । इसके वाद जो पति है वह मनुष्य है । ऋग्वेदके मडल १०, सूक्त ८५, मत्र ४५के अनुसार "पतिमेकादश कृधि" पत्नी ११ पति तक कर सकती है ।

स्मृति

इस कलियुगमें सवसे अधिक प्रारम्भिक स्मृति पाराशर स्मृति है । "कलौ पाराशर स्मृति" ऐसा स्मृतियोका वचन है । इस स्मृतिका निम्न श्लोक विधवा-विवाहकी कितनी स्पप्ट आज्ञा देता है —

(५) नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवेच पतितेपतौ ।
पचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।।

अध्याय ४, श्लोक २२

पतिके गुम हो जाने, मर जाने, सन्यासी हो जाने, नपुंसक होने और धर्मभ्रष्ट होनेपर नारीको दूसरा पति करनेका अधिकार है । लीजिए, यहाँ तो पतिके जीवित रहते भी पुर्नविवाहकी आज्ञा दे दी गयी ।

मनु स्मृतिका प्रमाण —

(६) या पत्या वा परित्यक्ता विधवावा स्वेच्छया ।
उत्पादयति पुनर्भुर्वा स पौनर्भव उच्यते ।।

(७) साचेदक्षतयोनि· स्यादगत प्रत्यागताऽपिवा ।
पौनर्भवेन भर्त्रासा पुन सस्कार मर्हति ।।

अ० ६, श्लोक १७५–१७६

जिस स्त्रीको पतिने त्याग दिया हो अथवा जो विधवा हो वह अपनी इच्छासे पुनर्विवाह करके जो सन्तान उत्पन्न करे, उसे पौनर्भव कहते हैं ।

यदि वह स्त्री अक्षत् योनि हो (पतिसे जिसका समागम न हुआ हो ।) व पतिको छोडकर दूसरे पुरुपका आश्रय करे और फिर पहले पतिके घर आ जाए, तो उसका फिर सस्कार हो सकता है ।

स्मृतियोके प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूभट्टकी टीकामें यह अर्थ किये गये हैं ।

(८) कन्यैवाक्षत योनिर्वा पाणि ग्रहण दूपिता ।
पुनर्भू प्रथमा प्रोक्ता पुन· सस्कारमर्हति ।।

नारदस्मृति १२/४६

कन्या या अक्षत योनि विधवा—जिसका केवल पाणिग्रहण मात्र हुआ है—वह "पुनर्भू" कहलाती है, उसका पुनर्विवाह होना योग्य है ।

(६) अक्षताश्चक्षताश्चैव पुनर्भू संस्कृतापुन॰ ।।

याज्ञवल्क्य स्मृति, विवाह प्रकरण ३, श्लोक ६७१

अक्षत योनि हो वा क्षत योनि, दोनों दूसरा विवाह करके "पुनर्भू" कहलाती है ।

(१०) यदि सा वाल विधवा पत्यात्यक्ता अथवा क्वचित् ।
तथा भूयस्तु सस्कार्या गृहीत्वा येन केन चित् ।।

वौवायन, प्रश्न ४, अ० १२, श्लोक १६

यदि वह वाल विधवा है, अथवा पतिसे छोड़ी गयी है, या अन्य कोई ऐसी अवस्था आ गयी है, तब माता-पिता व संरक्षकके अभावमें अन्य कोई भी उसके पुनर्विवाहका प्रवन्ध करदे ।

(११) पत्नि नाशेयथा पुंसा भर्तृनाशे तथा स्त्रिय. ।
पुनर्विवाह कर्त्तव्यः कलावपि युगेतथा

व्याघ्रपाद् स्मृति

कलियुगमें पत्नीके मर जानेपर जैसे पुरुषका पुनर्विवाह हो सकता है, उसी प्रकार पतिके मर जानेपर स्त्रीको भी पुनर्विवाह कर लेना चाहिए ।

(१२) ब्राह्मण. क्षत्रिया वैश्या. शूद्राः स्वकुल पोपिताम् ।
पुनर्विवाह. कुर्वीरन्नन्यथा पाप सम्भव. ।।

जावालि ऋषि ।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोको चाहिए कि वे अपने कुलकी विधवा स्त्रियोका पुनर्विवाह कर दें, अन्यथा पाप होनेकी सम्भावना है ।

ऐतिहासिक प्रमाण

ऐतिहासिक प्रमाणोसे भी विधवा विवाहकी पुष्टि होती है ।

रामायणमें लिखा है कि रावणके मर जानेके वाद उसकी पत्नी मन्दोदरीने विभीपण के साथ पुनर्विवाह कर लिया था यद्यपि उससे मेघनाद पुत्र हो चुका था ।

इसी प्रकार श्रीरामने वालीका वध कर उसकी पत्नी ताराका विवाह वालीके छोटे भाई सुग्रीवसे कराया था । ताराका पुत्र अंगद भी था । तारा वह स्त्री है, जो उन पंच कन्याओंमें एक है जिन्हें वडा पवित्र माना जाता है और जिनका स्मरण प्रति दिन हिन्दूको करना चाहिये । "पचकन्यांस्मरेन्नित्यम् ।"

महाभारतके भीष्म पर्वके अध्याय ६ में लिखा है कि अर्जुनने नागराज ऐरावतकी विधवा कन्या उलूपीसे विवाह किया था ।

पद्मपुराणके पातालखडमें लिखा है कि काशीराज देवदासने अपनी कन्या विद्यामती का पुनर्विवाह २१ वार किया । पतिके मर जानेके वाद पिता उसका तत्काल पुनर्विवाह कर देता था । इस प्रकार वह भाग्यके साथ अन्तिम समय तक लड़ता रहा । आखिर उसकी लड़कीने पति सुख प्राप्त किया ।

इस प्रकार वेद शास्त्र और इतिहासके प्रमाणोंसे सिद्ध है कि विधवाविवाह शास्त्र सम्मत है और प्राचीन कालमें इसका चलन खूव था । ऐसा प्रतीत होता है

कि जब मध्य युगमें विदेशियोके आक्रमण हुए, और हिन्दुओमें ऊँच-नीचका भेद तथा जाति-पाँतिके बधन कडे हो गये, उस समय विधवा-विवाहपर रोक लगाना और पत्नीका मृत पतिके साथ सती होना—दोनोको अभिजात्यका चिन्ह मान लिया गया। इसकी देखादेखी अन्य जातियोने भी अपने यहाँ विधवा-विवाह बद कर दिया और कुछ समय बाद इसे छोटी जातियोका ही रिवाज समझा जाने लगा। बगालके प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० सर प्रफुल्ल चन्द्र राय विधवाविवाहके कट्टर पक्षपाती थे। उन्होने अपने एक भाषणमें कहा था कि उन्होने अपनी छोटी अवस्थामें बगाल विशेषत पूर्वी बंगालके हिन्दुओकी कई जातियोमें—जिन्हें प्राय छोटा कहा जाता है—विधवा-विवाहका चलन देखा था पर आज उनमें कुछ बडप्पन का, अभिमान आ जाने से विधवा-विवाहको हेय समझा जाने लगा है।

सामाजिक सन्तुलन रखनेके लिए

सामाजिक सन्तुलन बनाये रखनेकी दृष्टिसे भी विधवा-विवाहका शीघ्र और विस्तृत चलन आवश्यक है। सामान्यत, एक स्वस्थ, योग्य और स्वाश्रित पुरुषको स्त्री और स्वस्थ, नीरोग, और समझदार स्त्रीको पतिकी आवश्यकता है। इसीसे समाज का सतुलन रहता है। यदि स्त्रियाँ अधिक हो और पुरुष कम हो, अथवा पुरुष अधिक हो और स्त्रियाँ कम हो, तब समाजका सतुलन बिगड़ जाता है और गुप्त व्यभिचार तथा अन्य सामाजिक दोषोका प्रादुर्भाव हो जाता है। इस दृष्टिसे भी देखा जाए तो हिन्दुओ का सामाजिक सतुलन बडा अव्यवस्थित है। सारे भारतकी दृष्टिसे, हिन्दुओमें पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ कम है। बच्चे और बूढी निकालकर विवाह योग्य नारिया तो और भी कम रह जाती है। इनमें बाल और युवती विधवाएँ भी शामिल हैं। उनके विवाहपर रोक होनेसे विवाह योग्य नारियोकी सख्यामें और भी कमी हो जाती है। इसका फल यह हो रहा है कि अन्य जातियोके मुकाबलेमें हिन्दुओका क्रमश ह्रास हो रहा है। आजसे आधी सदी पहले भारतके जिन भागो और प्रदेशोमें हिन्दू बहुसख्या में थे, आज वे अल्पसख्यामें हो गये है। राजनीतिक दृष्टिसे यह विषमता कितनी घातक हो सकती है, यह देशके विभाजनसे पूर्व और बादकी लोमहर्षक घटनाओसे स्पष्ट है।

१९५० की जनगणना के आकडे

१९५० की जनगणनाके अनुसार निम्नाकित आँकडोसे हमारे उपर्युक्त वक्तव्यकी पुष्टि होती है। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि १९५० की जनगणनाके समय भारत का विभाजन तो हो चुका था और उसकी सीमा सकुचित हो गयी थी तथा आबादी भी कम हो गयी है।

भारतमें विधवाओकी कुल संख्या २ करोड १८ लाख ११ हज़ार १४ है और विधुरो की संख्या ९० लाख ३३ हजार ४ सौ ५८ है। इनमें ऐसी विधवाओकी जिनकी आयु ५ से १४ तक है सख्या १ लाख ३४ हज़ार है।

प्रति १० हजार व्यक्तियोमें ५,१३३ पुरुष और ४,८६७ स्त्रियाँ है। इनमें २,५२१ (४९ १ प्रतिशत) पुरुष और १,८८६ (३८ ८ प्रतिशत) स्त्रियाँ अविवाहित है।

योंमें ४५.८ प्रतिशत विवाहित हैं और ५.० प्रतिशत विधुर हैं। स्त्रियोंमें ४८.४ तिशत विवाहित और १२.८ प्रतिगत विधवाएँ हैं।

आयुके अनुसार विधवाओंकी संख्या इस प्रकार है :—

आयु	संख्या
५ से १४	१,३३,८२६
१५ से २४	८,२६,५८२
२६–३४	२१,२९,४३६
३५–४४	३,३८,७९,३०९

प्रदेशोंके अनुसार विधवाओंकी संख्या इस प्रकार है :—

प्रदेश	संख्या
उत्तरप्रदेश	३,५५,०५०
विहार	१,९७,६११
पश्चिमी बंगाल	१,६६,३६६
आसाम	४२,३४६
उड़ीसा	९६,५०२
मद्रास	४,२४,१५६
वम्बई	२,२६,२२४
मध्यप्रदेश	१,३८,५६५
मध्य भारत	४७,३४६
राजस्थान	७७,९७६
पंजाव	४०,५९९

——:०:——

श्री रघुराज गुप्त

भारतमें साम्प्रदायिकताका आधार

"युद्ध मनुष्यके मस्तिष्कमें प्रारम्भ होते हैं, अत शान्तिकी सुरक्षाका निर्माण मनुष्य के मस्तिष्कमें ही होना चाहिए "

(संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सास्कृतिक सगठनके सविधानकी भूमिकासे)

अत्यन्त प्राचीन कालसे भारत में विभिन्न सम्प्रदायो, सस्कृतियो और नस्लोका निवास रहा है तथा इस देशके विभिन्न एशियाई देशोसे घनिप्ट सास्कृतिक, व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध रहे है । अत जव अरव, पारसी, पठान, शक या मगोल का इस्लाममें दीक्षित होनेके वाद भारतमें आना जारी रहा, तो उनके प्रति स्थानीय जनताके व्यवहार या धारणाओमें कोई विशेप अन्तर नही आया । न इस्लामने ही किन्ही अशोमें इन भौगोलिक समुदायोके दृष्टिकोणमें कोई विशेप परिवर्तन उपस्थित किया । एक धर्मके माननेवाले हो जानेपर भी इनमें आपसी सघर्प और पार्थक्य की भावना जीवित रही और कभी भी धर्मके आधारपर यह आपसमें नही मिल सके । मध्यकालका समस्त इतिहास इस तथ्यकी ज्वलन्त साक्षी है । फिर भी हमारे अधिकाश इतिहास लेखक आँख मूँदकर, समस्त ठोस तथ्योकी उपेक्षाकर, केवल सस्ती साम्प्रदायिकता या अज्ञान के वशीभूत हो, मध्यकालके इतिहासको हिन्दू-मुस्लिम सघर्पके इतिहासके रूपमें चित्रित करनेके अभ्यस्त रहे हैं । किसी भी साम्प्रदायिक या सामूहिक वैमनस्य को शक्तिशाली और स्थायी रखनेके लिये यह आवश्यक है कि प्रारम्भसे ही यहाँ विद्वेप दिखाया जाए । इस प्रकारका विशिष्ट राजनीतिक उद्देश्योसे गढा गया इतिहास किन्ही भी सामूहिक सम्बन्धो के लिए कितना भयकर सिद्ध हो सकता है, इसका वीभत्स दृश्य हम अपनी आँखो के सामने देख चुके हैं । आज स्वाधीन होनेके वाद भी हमने उस मिथ्या इतिहासको सुधारनेकी चेष्टा नही की हैं । इतिहासज्ञ प्रो० जयचन्द विद्यालकार ने १९३५ के लगभग इस तथ्यकी ओर हमारा ध्यान प्रवल रूपसे आकर्पित करने और अपनी पुस्तक 'इतिहास प्रवेश' द्वारा भारतका साम्प्रदायिक और सच्चा इतिहास प्रस्तुत करनेकी कोशिश की लेकिन तत्कालीन साम्प्रदायिकतापूर्ण वातावरणमें उसे लोगोने अनसुना किया । देश का साम्प्रदायिकतापरक और पोपक इतिहास वर्तमान साम्प्रदायिकताको जाग्रत करने और जीवित रखनेका एक मजवूत हथियार है, इससे इकार नही किया जा सकता ।

साम्प्रदायिकता शव्दका प्रयोग हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्यके अर्थमें रूढ हो गया है । हिन्दू शव्दके वदलते अर्थपर विचारकर हम सरलतासे साम्प्रदायिकताकी जडमें पहुँच

सकते हैं। कमसे कम अग्रेजोके भारतमें शासन स्थापित हो जाने तक हिन्दू शब्द भारत में उत्पन्न समस्त भारतवासियोके लिए प्रयुक्त होता था। हिन्दू नाम भी भारतवासियोको भारतवासियोकी देन है। यही कारण है कि लाखो भारतवासी इस्लाममें दीक्षित होने के वाद भी हिन्दूके हिन्दू ही रहे। हिन्दू धर्मवाचक न होकर स्थानवाचक शब्द था। सिन्धु नदीके परे रहनेवाले सभी भारतवासी चाहे वे किसी भी धर्मके माननेवाले थे, पश्चिमी एशिया, फारस, अफगानिस्तान, और मगोलियाके रहनेवालोकी दृष्टिमें हिन्दू थे। अरव और पश्चिमी एशियाके देशोंमें आज भी भारतके मुसलमान हिन्दू या हिन्दी ही कहे जाते है। आठवी शताब्दीसे लेकर अठारहवी शताब्दी तक भारतके विभिन्न प्रान्तोके करोड़ो भारतवासी इस्लाममें दीक्षित हुए, पर वे हिन्दू ही रहे और देशवासियो और विदेशी मुसलमानो द्वारा हिन्दू ही समझे गये। वस्तुत. यह समस्त हिन्दू भी भारत के मूल निवासी नहीं कहे जा सकते। मानव शास्त्रीय खोजोसे यह स्पष्ट है कि भारतकी जनता नस्ली दृष्टिसे नेग्रिटो, आस्ट्रेलायड, मंगोलायड, भूमध्यसागरीय (द्रविड़) पश्चिमी गोलसिरगले और नार्डिक (आर्य) छ. नस्ली विभागोमें बाँटा जा सकता है। इसमेंसे विभिन्न नस्लोंके लोग विभिन्न समयोमें भारतके विभिन्न भागोमें आकर वसे हैं।

पूर्वी वगालके प्राय समस्त मुसलमान तथा भारतके अन्य भागोके मुसलमान स्थानीय जनसंख्य में से ही इस्लाममें दीक्षित हुए है। दीक्षित होनेवालोमें भी हिन्दुओकी निम्न उत्पीड़ित जातियोंसे अधिकांश लोगोने इस्लामको ग्रहण किया। इस्लामके समानता के सिद्धान्तसे आकर्षित होना, उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक था। भारतमें इस्लाम के प्रसारमें मुसलमान फकीरो और दरवेशोका प्रमुख हाथ रहा है। अत. नस्ली या भौगोलिक किसी भी दृष्टिसे भारतीय मुसलमान कम भारतीय नही है। वल्कि नस्ली दृष्टिसे तो वह, उच्च जातीय वर्तमान हिन्दू जिनपर कि आर्य नस्लकी अधिक छाप है, अधिक पुराने भारतीय है।

हम कह चुके है कि अरव और पश्चिम और उत्तरके विभिन्न देशोका इस्लामके उदय से पूर्व भारतवासियोसे घनिष्ट सम्पर्क था। उस समय ये देश भारतकी तुलनामें अत्यन्त पिछड़े हुए थे और साथ ही भारतवासी आजके समयकी भाँति तव तक उतने समुचित दृष्टि वाले भी नही हुए थे। ऐसी स्थितिमें यह स्वाभाविक ही था, कि इन विदेशियोने भारतके साथ सौहार्दपूर्ण व्यावसायिक, वौद्धिक और सास्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किए। यही नही, अरवके निवासियोका तो यह कहना है कि भारतके साथ उनका सम्बन्ध केवल कुछ हज़ार वर्षो का ही नही है, वल्कि मानव जातिकी उत्पत्तिके आरम्भसे ही यह देश उनका पैतृक स्थान है।

हदीसों और कुरानकी टीकाओ आदिमें जहाँ हज़रत आदमकी कथा है, वहाँ विभिन्न प्रवादोंके आधारपर उल्लेख मिलता है कि जव हज़रत आदम आकाशकी जन्नत या स्वर्ग से निकाले गये, तव वह इसी देशकी जन्नत या स्वर्गमें, जिसका नाम "हिन्दुस्तान जन्नत निशान" या स्वर्गतुल्य भारत है, उतारे गये थे। सरन्दीप (स्वर्ण दीप या लंका) में उन्होंने पहला चरण रखा, जिसका चिन्ह वहाँके पर्वतपर अव तक वर्तमान है। इब्ने जजीर, इब्ने अवी हातिम और हाकिमका कहना है कि भारतके जिस प्रदेशमें हज़रत आदम उतरे थे, उसका नाम दजनाय है। यह दजनाय सम्भवत. भारतका दक्षिण भाग

है। एक और प्रवाद यह भी है कि जन्नत या स्वर्गमें से चार नदियाँ निकली हैं, जिनमें से एक सैंहून है। सैंहूनके सम्बन्धमें कहा गया है कि यह भारतकी नदीका नाम है जो या तो गगा है या सिंधु। मीर आजाद विलग्रामीने "सुवहतुल मरजानफी आसारे हिन्दोस्तान" में भारतवर्षके महत्वके वर्णन में कई पृष्ठ भेंट किए है। उसमें यहाँ तक कहा गया है कि जव हज़रत आदम सवसे पहले भारतमें उतरे और यहीपर उनपर ईश्वरीय आदेश आया, तो यह समझना चाहिए कि यह वह देश है, जिसमें सवसे पहले ईश्वरका सदेश आया। यह भी माना जाता है कि मुहम्मद साहवकी ज्योति हज़रत आदमके मालमे अमानतके तौरपर रखी थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि हज़रत मुहम्मद साहवका आरम्भिक अवतार या प्रकाश इसी देशमे हुआ था। इसीलिए आपने कहा है, "मुझे भारतवर्षकी ओरसे ईश्वरीय सुगन्ध आती है।" इससे यह वात तो भली भाँति प्रमाणित होती है कि साधारणत जो यह समझा जाता है कि मुसलमानोका सम्बन्ध महमूद गज़नवीकी विजयोके क्रममें हुआ और वे इसके उपरान्त यहाँ आकर वसे, वह कहाँ तक मिथ्या या भ्रमपूर्ण है। वल्कि वास्तविक बात तो यह है कि वह इस देशको अपना विजित देश न समझकर अपनी पुरुषानुक्रमिक पैतृक जन्मभूमि समझते थे। ऐतिहासिक दृष्टिसे मुसलमान लोग महमूद से सैकडो वर्ष पहले भारतमें आ चुके थे और जगह-जगह उनके उपनिवेश स्थापित थे। भारतके साथ अरवोका व्यापारिक सम्वन्ध ईसासे कमसे कम दो हजार वर्ष पहलेका है।

दक्षिण भारत अरवी व्यापारियोका मुख्य केन्द्र स्थल था। इब्न वतूताने दक्षिण भारतके समुद्री तटोकी यात्रा करते हुए स्थान-स्थानपर लिखा है कि यहाँके हिन्दू राजा इन अरव व्यापारियोको अप्रसन्न नही होने देते क्योकि कोरो मण्डलके राजा इस समुद्री व्यापारके कारण असीम सम्पत्तिके स्वामी थे।

दूसरी भाषाओंके शास्त्रो आदिका अनुवाद करानेका विचार अरवोमें हिजरी पहली शताब्दीके मध्यमें ही हो चुका था। आनेवाले दो सौ सालोमें सैकडो श्रेष्ठ और उत्तम सस्कृत ग्रथोका अरव विद्वानोने अपनी भाषामें अनुवाद किया। इन अनुवादोके कारण अरवोंके हृदयमें भारतके लिए अत्यन्त आदर भाव उत्पन्न हुआ। प्रसिद्ध अरवी दार्शनिक और तार्किक जाहिजने, जिसका कि सन् २५५ हि० में देहान्त हुआ, ससारकी गोरी और काली जातियोमें कौन श्रेष्ठ है, इस विषयपर काली जातियोंके पक्षमें निर्णय देते हुए लिखा था :—

"परन्तु हम देखते हैं कि भारतके निवासी ज्योतिष और गणितमें वढे हुए है और उनकी एक विशेष भारती लीपि है। चिकित्सामें भी वे आगे है और इस शास्त्रके कई विलक्षण भेद जानते हैं। उनके पास भारी-भारी रोगोकी विशेष ओषध होती है। फिर मूर्तियाँ वनाने, रगोंसे चित्र वनाने और भवन आदि वनानेमें वे लोग वहुत योग्य होते है वे तलवारें वहुत अच्छी वनाते है उनका सगीत भी वहुत मनोहर है। उनके यहाँ सव प्रकारके नृत्य भी हैं। उनके यहाँ अनेक प्रकारकी लिपियाँ है। कविता का भंडार भी है और भाषणोका अश भी। दर्शन, साहित्य और नीतिशास्त्र भी उनके पास है" अस्तु। दूसरा अरव यात्री जिसका कि देहान्त २७८ हि० मे हुआ अपने यात्रा-वृत्तातमें लिखता है, "भारतवर्षके लोग वुद्धिमान और विचारशील है, और इस विचारसे

वे सब जातियोंसे बढकर हैं कि गणित और फलित ज्योतिषमें इनकी बातें सबसे अधिक ठीक निकलती हैं। . चिकित्साशास्त्रमें इनका निर्णय सबसे आगे है। ."

खलीफा मन्सूर और हारूं रशीदके संरक्षणमें और बरामका (एक ब्राह्मण वंश) की गुणग्राहकता और उदारताके कारण भारतके बीसियो पंडित और वैद्य बगदाद पहुँचे और राज्यके चिकित्सा तथा विद्या विभागोमें काम करने लगे।

अरब और भारतके सांस्कृतिक सम्बन्धोको सुदृढ करनेमें जिन सैंकडो अरबी यात्रियो और विद्वानोने अपना योगदान दिया, उनमें अबू रैहान बैरूनी प्रसिद्ध हैं। यह ३८३ हि० में भारत आया और इसने यहाँ ४० वर्ष विताए। भारतमें वह उस समय आया, जब इस देशमें सुल्तान महमूदकी चढाइयोके कारण हलचल मची हुई थी। पर ठीक उसी समय विद्या और गुणका ग्राहक यह सुल्तान शांति और सुखसे अकेला विद्या विषयक विजय प्राप्त करनेमें लगा हुआ था और इस राजनीतिक लड़ाई भिड़ाईसे मन ही मन कुढ रहा था। बेरूनीने बीसियो संस्कृत ग्रंथोका अरबीमें और अरबी ग्रथोंका संस्कृतमें अनुवाद किया और इस प्रकार अरब इरान और भारतके बीच विद्या विषयक दूतका काम किया।

अरबोमें इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेनेपर भी भारतवासियो और उनके सौहार्दपूर्ण सम्बन्धोमें कोई अन्तर न पड़ा। यही कारण था, कि जब सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी की सेनाने गुजरातसे कोरोमण्डल तक उथल-पुथल मचा दी उस समय कोरो मण्डल के राजाकी ओरसे, जिसकी राजधानी बेरबूलमें थी, इराक और अरबके मुसलमानोने आक्रामक तुर्कोंका सामना किया। होयशल वंशके बल्लालदेव राजा के एक लाख सैनिकोमेंसे २०,००० अरबके मुसलमान थे। दक्षिण भारत स्थित अरबी मुसलमानो के सदियो तक अपने पडोसी हिन्दुओके साथ अत्यन्त स्नेह और सहिष्णुतायुक्त सम्बन्धों का ही परिणाम था कि अरब हिन्दुस्तानीने अपनी जन्मभूमिकी प्रशसामें इन पंक्तियोकी रचना की थी, "अपने प्राणोकी सौगन्ध, यह वह भूमि है, जब इसमें पानी बरसता है, तब उससे उन लोगोंके लिये दूध, मोती और लाल उगते है, जो शृंगारसे रहित है यहाँ हथियारोमें तलवारें है, जिनको कभी सिकलीकी आवश्यकता नही होती, और ऐसे भाले है कि जब वे हिलें, तब उनसे सेनाकी सेना हिल जाय।

"तोम्या मूर्खके सिवा कोई ऐसा है जो भारतके इन गुणोको अस्वीकार कर सकता है?"

इतिहास इस बातका साक्षी है कि मुस्लिम अरबोका शासन सिन्ध में अच्छा रहा और शेष हिन्दू राज्योकी भाँति उनका भी अन्त तत्कालीन मुसलमान खैबरकी जातियोने किया। ईरान, तूरानमें इस्लामका प्रचार हो जानेके बाद खैबरसे जो मुस्लिम दल देशमें उतरा, उसने पहले मुस्लिम शासकपर हाथ साफ किया तो फिर हिन्दू राज्यपर। अतएव फातेह मफ्तूह (विजयी और विजित) की दृष्टिसे भारतमें कभी भी मुस्लिम-हिन्दू भेद नही हुआ; यह बात दूसरी है कि आज हमारी इतिहासकी पाठ्यपुस्तको या साम्प्रदायिक प्रचारको द्वारा सर्वत्र प्रचार किया जाता है कि अग्रेजोंके आनेसे पहले यहाँ मुसलमानो फ़ातेह और हिन्दू मफ्तूह थे।

आजकलके अग्रेजी पढे-लिखे पंडितोंके इतिहासमें मुसलमान और हिन्दू का प्रत्यक्ष भेद भले ही दिखाई दे, परन्तु भारतके किसी प्राचीन लेखमें इसका प्रमाण न मिलेगा।

चन्द्रवली पाण्डेने ठीक ही कहा है कि यदि हम खैवरसे अपने चिरपरिचित, परम्परागत सम्वन्धोपर दृष्टिपात करें, तो हमें यह समझनेमें कोई कठिनाई नही होगी। फिर खैवर का सारा दोष इस्लामके सिर मढा जाना कहाँ तक जायज़ है ? क्या महमूद गज़नवी से लेकर अहमदशाह दुर्रानी तक सभी खैवर जातियोने मुस्लिम शासनका कचूमर नही निकाला ? उनकी तलवार हिन्दुओ और अपने धर्मानुयाइयोपर समान रूपसे नही पडी ?

सौ साल पहले तक भारतवासी सदैव यह मानते रहे है कि वस्तुत उनका शत्रु इस्लाम नही सर्वत खैवर है। यही कारण है कि उन्होने कभी हिन्दू-मुस्लिम विवाद नही खड़ा किया, प्रत्युत सदा उनके सामने हिन्दू तुरुकका भेद वना रहा। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि भारतकी किसी भी प्रशस्ति या शिलालेखमें सर्वत्र म्लेच्छ, शक, यवन, पारसीक और तुरुक शव्दोका ही प्रयोग हुआ है, कही भी मुस्लिम या मुसलमानके दर्शन नही होते। इसके अतिरिक्त इसका क्या कारण हो सकता है कि भारत सदासे उक्त जातियोकी नीति से परिचित रहा है और कभी भूलकर भी उसका दोष इस्लामके सिर नही थोपता। और तो और, स्वय मुसलमानोके सस्कृत शिलालेखोमें मुसलमान शव्दका व्यवहार नही होता, वहाँ भी परम्परागत शक दिखाई देता है। उदाहरणके लिए सुल्तानत महमूदके जल्लाल खोजाके गोमठ (वारिहागढ, दमोह) में प्राप्त शिलालेखपर सस्कृतमें जो लेख उद्धृत है, उसका अर्थ है . "शकोका स्वामी कलियुगमें पृथ्वीपति है। वह योगिनीपुरमें समस्त पृथ्वीका योग करता है, और उसने भूपतियोको वशमें किया है। उस महमूद सुरत्राण नामके राजाकी वृद्धि हो।"

यह दृष्टव्य है कि भारतवासियोने कभी खैवर और इस्लामको एक नही किया, प्रत्युत सदा उक्त आततायियोंको जातिगत रूपमें ही लिया। आप भारतके प्राचीन इतिहास में जिन शक, यवन, तुरुक आदि जातियोका आतक देखेंगे, उन्हीका मध्यकालमे उनके मुसलमान वन जानेपर भी आपको किसी प्रशस्तिमें यह नही मिलेगा कि अमुक हिन्दू राजाने अमुक मुस्लिम सुल्तानको पछाडा अथवा अमुक मुस्लिम वादशाहने हिन्दू सामन्तसे अमुक सम्वन्ध जोडा। वहाँ तो सर्वत्र मुस्लिमके स्थानपर शक, तुरुष्क, यवन और पारसीक प्रभृति शव्द दिखाई देंगे। इसका एकमात्र और अकेला कारण यही था कि तव तक इतिहासमें धर्म और सम्प्रदायको नही वाँधा गया था। यही नही, यहाँके तथाकथित मुस्लिम शासकोने भी कभी खैवर और इस्लाममें एकता स्थापित न की और तुर्क और पठानके भेदको कायम रखा।

हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्व अथवा साम्प्रदायिक विचारधारामें महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजीका मुख्य उल्लेख होता है और उन्हें मुस्लिम सत्ताके विरुद्ध विद्रोहका झडा खडा करनेका श्रेय दिया जाता है। किन्तु इन दोनो महानुभावोने भी कभी मुसलमानके विरुद्ध सगठित होनेका उल्लेख नही किया है। १३४२ वि० के आवूके शिलालेखकी प्रशस्ति को ही लीजिए। उसमें कहा है, "जिन्होने तुरुष्क रूपी सागरमें निमग्न गुर्जर पृथ्वीका उद्धार किया " १४८५ वि० के शृगी ऋषिके शिलालेखमें कहा है, "जो अपनी तलवार के वलसे अमीशाहको जीता तथा अशेष यवनोको मार अपनी राजधानीमें लौट आए।" प्रवाद है कि वीकानेरके राजा रामसिहके छोटे भाई पृथ्वीराजके पत्रके उत्तर में

स्वयं महाराणाने कहा; "प्रताप कभी अकबरको बादशाह नही कह सकता वह तो उसे सदा तुरुक ही कहता रहेगा।" यहाँ कही भी मुसलमानकी गंध नही है। इस प्रकार शिवाजीने हिन्दुत्वका झडा खड़ा किया, इस्लामके विरोधमें नही बल्कि मुगलोंके विरोध में। औरंगजेबके बाप-दादोने हिन्दू और तुरुकको अलग-अलग देखा था, तो उनकी मर्यादा भी स्थापित कर दी थी और वेद तथा कुरानकी सीमा भी अलग-अलग निर्धारित कर दी थी। साराश यह कि राजनीति को धर्मनीतिका आसन नही दिया था। परन्तु जब औरगजेबने राजनीति और धर्मनीतिको एकमें साटनेके प्रयत्न किए तब शिवाजीने उसका विरोध किया। यह विरोध इस्लामके विरुद्ध न था। उसने मुसलमानो और कुरान मजीदका आदर किया। यही कारण था उसकी सेनामें ऊँचे-ऊँचे पदोंपर भी मुसलमान विराजमान थे। औरगजेबके खैबरी अत्याचारसे व्यथित हो, शिवाजीके पुत्र सम्भाजीने जयपुराधीश रामसिंहको लिखा कि हमें इस दुष्ट यवनाधिपसे अपने धर्म की रक्षा करनी चाहिए और उसके स्थानपर उसके आत्मज उदार अकबरको स्थापित करना चाहिए। कही यह नही लिखा कि मुसलमानको खदेडकर हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहिए। अत· शिवाजीके समयमें हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्वके खोजनेका प्रयत्न सर्वथा भ्रामक है।

औरंगज़ेबके समयमें हिन्दू-तुरुक ही संघर्ष चल रहा था, किन्तु अंग्रेज़ी शासनकी स्थापना ने उसे भी समाप्त कर दिया और १८५७ में भारतके सभी सम्प्रदायो और सभी देशी और विदेशी मुसलमानोंने कन्धेसे कन्धा भिड़ाकर अंग्रेज़ी राज्यके विरुद्ध संघर्ष किया। यदि साम्प्रदायिक भाषामें ही कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि इस तथाकथित विद्रोहमें हिन्दुओकी तुलनामें मुसलमानोने अधिक उत्साह और बलिदानका परिचय दिया। अभी तक भारतके मुसलमान अन्य भारतीय अमुस्लिमोकी भाँति अपनेको हिन्दू या हिन्दुस्तानी कहनेमें गर्वका अनुभव करते थे। १८८० के लगभग सर सय्यद अहमदखाँ जैसे मुसलमान ने, जो कि अपने अंतिम दिनोमें अंग्रेज़ी प्रभावमें हिन्दू-मुसलमानोंकी पृथकताके पोषक हो गये थे कहा था, "मै इन दोनो कौमोको जो हिन्दुस्तानमें आबाद है, एक लफ्जसे तामीर करता हूँ कि 'हिन्दू' यानी हिन्दुस्तानकी रहनेवाली कौम।"

भारतीय इतिहासके तथाकथित मुस्लिम कालपर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होगा कि खैबरसे जो मुसलमान आये उन्होने पहले मुसलमानको साफ किया और फिर हिन्दू पर हाथ फेरा। शिहाबुद्दीन गौरीसे लेकर अहमद शाह दुर्रानी तक सभी इसकी पुष्टि करते हैं। भारतके मुसलमानोका इतिहास, जिनकी कि जनसंख्या कुल मुस्लिम जन-संख्याका शायद ६० प्रतिशत से कम नहीं है, वस्तुतः पराधीनताका ही इतिहास है। सैयद् अहमद अब्दुल अल्लाह साहबने ठीक ही फरमाया है कि, "ईरानी नज़ाद (वंश) हज़रत हिन्दुओ और हिन्दुस्तानी मुसलमानोको एक ही निगाहसे देखते है।"

भारतीय जनताके एक बड़े भागके इस्लाम अंगीकार कर लेनेसे, उनकी वफादारी में तथा पड़ोसी भिन्न धर्मावलम्बियोंके साथ उनके व्यवहारमें कोई अतर नही आया। यही नही किन्तु अल्पसंख्यक विदेशी, साथ ही प्रबल मुसलमान, जो कि भारतके ही स्थायी निवासी होकर रहने लगे तथा स्थानीय जनताके बीचमें जीवनके विभिन्न क्षेत्रोमें सहयोग और सम्मिलनकी प्रवृत्ति पुष्ट हुई। दक्षिण भारतमें तो प्रथम मुस्लिम सम्पर्क बहुत

ही शातिपूर्ण था । पश्चिमी तट पर उनकी महत्वपूर्ण बस्तियाँ बन गई । भिन्न धर्मी और विदेशी होते हुए भी इनके सम्बन्ध स्थानीय जनतासे अत्यन्त सौहार्दपूर्ण थे । यही कारण था हिन्दू राजाओने उन्हे बडे-बडे पद दिये । सुन्दर पण्ड्याने तकीउद्दीनको अपना मत्री और सलाहकार नियुक्त किया और फखरुद्दीनको कुबलाईखानके दरबारमें अपना दूत बनाकर भेजा । विदेशी मुस्लिम आक्रामकोके हमलाका हिन्दू मुसलमानोने मिलकर सामना किया । मालिक काफूरकी सेनाका राजा वीर बल्लालने मुकाबिला किया । उसकी सेनामें २०,००० मुसलमान थे । वस्तुत भारतमें तथाकथित मुस्लिम शासनका इतिहास विभिन्नदेशीय और विभिन्न वशीय मुसलमानोके परस्पर सघर्षका इतिहास है । पानीपतके ऐतिहासिक मैदानमे बाबरने अपने ही धर्मावलम्बी इब्राहिम लोदीका मुकाबिला किया । इस इतिहासकी पुनरावृत्ति हुई जब अफगान शेरशाहने हुमायूँको नीचा दिखाया ।

दक्षिणकी स्थिति इससे भिन्न न थी । बावजूद इसके कि विजयनगर साम्राज्यका अपने पड़ौसी मुस्लिम राज्योसे निरन्तर युद्ध चलता रहा , वहाँपर अत्यन्त धार्मिक सहिष्णुता और एक-दूसरेकी सस्कृतिके प्रति सम्मानकी भावना व्यक्त होती है । बीजापुरके आदिल-शाही और अहमदनगरके निजामशाही सुल्तान मुक्त हस्त हो मराठा सरदारोको सरक्षण देते थे और हिन्दू अधिकारियो और हिन्दू सेनाओको अपने यहाँ स्थान देते थे । अहमद-नगरकी निजामशाहीने तो मराठी भाषाको अपने सरकारी कार्यकी भाषा बनाकर बहुत ही प्रोत्साहन दिया विजयनगरके हिन्दू राजाओने इन भावनाओका प्रतिदान किया । उन्होने भी अपनी सेनाओमें मुसलमानोको भर्ती किया, मुस्लिम व्यापारियोको प्रोत्साहित किया और उनकी इबादतके लिए मस्जिदोका निर्माण किया । मुगल बादशाहो और दक्षिणके बहमनी राज्योके बीच दीर्घ सघर्ष इन युद्धोके वशीय रूपकी पुष्टि करता है ।

धर्मके क्षेत्रमें भी यह सहयोगकी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है । अकबरसे बहुत पहले काश्मीरका सुलतान जैनुल आबदीन अपनी सहिष्णुता और विद्वत्ताके लिए प्रसिद्ध था । उसने जज़िया समाप्त कर दिया और विभिन्न सस्कृत ग्रथोका स्वय फारसीमें अनुवाद किया । पन्द्रहवी शताब्दीके अतमें गौड़में हुसैनी वशके प्रथम बादशाह अलाउद्दीन हुसैनशाह (१४९३–१५१९) ने बगालमें एक नए युगका सूत्रपात किया । उसके सरक्षणमें विभिन्न सस्कृत ग्रथोके बगला अनुवाद हुए और विभिन्न धर्मो और वर्गोके बीच सौहार्दकी नीति अपनाई गई । शेरशाह (१४८६–१५४५) द्वारा स्वय इसी नीतिका अनुसरण किया गया । उलेमाओकी रायके विरुद्ध उसने अपनी प्रजाके भिन्न वर्गोको समान न्याय प्रदान करने और पूर्ण सहिष्णुता बरतनेकी नीति अपनाई । अपनी हिन्दू प्रजामें शिक्षाको प्रोत्साहन देनेके लिए उसने उन्हें वक्फ किए । उसकी इस उदार नीति का उसकी प्रजाके समस्त वर्गोने स्वागत किया । अकबरकी सहिष्णुता और उदारता की नीति तो सर्वविदित ही है । यह स्मरणीय है कि जिस समय कि योरोपमें रोमन कैथलिक प्रोटैस्टेंट लोगोको जला रहे थे और प्रोटैस्टेंट रोमन कैथलिकोको सूलीपर चढ़ा रहे थे, उस समय अकबरने केवल विभिन्न सम्प्रदायोमें ही नही प्रत्युत विभिन्न धर्मोके बीच शाति स्थापित की । योरोपमें यह वह समय था, जबकि राज्यसत्ता अपनी

प्रजाके धर्मको निर्धारित कर रही थी। इस तथ्यको दृष्टिमें रखते हुए तत्कालीन मुगल एक महत्वपूर्ण अपवाद थे।

सहिष्णुता, सांस्कृतिक समन्वय और असली मिश्रणने धर्म और दर्शनके क्षेत्रमें सम्मिलनकी प्रवृत्तिको पुष्ट किया। आक्रामक देशोमें स्थायी रूपसे वस गए। समय और परम्पराओने विभिन्न समुदायोके वीचकी दीवारोको गिराया। राज्य दरवारोमें समान रूपसे हिन्दू और मुसलमान विद्वानो और कलाकारोका आदर हुआ और इस प्रकार एक सम्मिलित संस्कृतिका विकास प्रारम्भ हुआ। हिन्दुओने फारसी और अरवीमें दक्षता प्राप्त की और मुसलमानोने सस्कृतका अध्ययन किया। अमीर खुसरो और दारा शिकोहका नाम तो इस सम्वन्वमें चिरस्मरणीय रहेगा। इस्लामके एकेश्वरवाद भ्रातृत्व और समानताके सिद्धात ने हिन्दू विचारधारापर अपना अमिट प्रभाव छोडा। कवीर, नानक, तुकाराम और चैतन्य दो धर्मोके संगमका ही सुन्दर परिणाम थे। विदेशी मुसलमानो तकने हिन्दीमें रचनाएँ प्रारम्भ की। अव्दुल रहीम खानखाना और रसखानके नाम तो इस प्रसगमें प्रसिद्ध ही है।

इस प्रकार वास्तुकला, सगीत और चित्रकलाके क्षेत्रमें हिन्दू और मुसलमानोके सपर्क से एक नई समृद्धि और समन्वयात्मक शैलीका विकास हुआ। संगीतके क्षेत्रमें तो समान परम्पराएँ सदियो पुरानी है और एक हिन्दू उस्तादके मुसलमान और मुसलमान उस्ताद के हिन्दू शिष्य होना तो सामान्य सी वात है। यही नही, वल्कि मुसलमानोने तो भारतीय सगीतमें विशेष दक्षता प्राप्त की। आजके भारतीय संगीतके आचार्योमें मुसलमानोका प्रमुख स्थान है।

राजनीतिक क्षेत्रमें भी धर्मके आधारपर संघर्ष या पदोका विभाजन नही हुआ। यहाँ तक कि सोमनाथ मदिरके भंजक महमूद गज़नीने हिन्दू सेनापति तिलकको अपने मुस्लिम सेनापति नियाल्तगीनको कुचलनेके लिए नियुक्त किया। सुल्तानका लड़का मसूद तो उससे भी आगे वढा और उसने उसे अपनी समस्त भारतीय सेनाका सेनापति नियुक्त किया। अकवरके हिन्दू सेनापति तो सर्वविदित है, किन्तु औरंगजेव जैसे तास्सुवी शासकोने भी हिन्दुओको उच्चतम पदोपर रखा। जसवन्त सिंह और जयसिंह मनसवदारीके अतिरिक्त राज्योके गवर्नर पद पर भी सुशोभित हुए। इसी प्रकार शिवाजी की सेनामें भी मुसलमान उच्चतम पदोपर आसीन थे। सिद्धी हलाल और नूरखान सेनापति पदपर नियुक्त हुए। उसकी नौसेनामें कमसे कम तो तीन मुस्लिम नौसेनाधिपति—सिद्धि सम्वल, सिद्धि मिश्री और दौलतखान मुसलमान थे। मालगुज़ारी और वित्त विभागमें तो सदा ही हिन्दुओका प्रभुत्व रहा। यह कोई अपवाद स्वरूप उदाहरण नही है। सर विलियम हन्टरने वहुत छानवीनके वाद लिखा कि अधिकांश मुसलमान उमरा अपनी जमीनोके प्रवन्धके लिए और किसानोसे कर वसूल करनेके लिए हिन्दू-कारकुन ही रखते थे।

इस प्रकार हम देखते है कि किस प्रकार हिन्दू और मुसलमान धर्मके आधारपर नही, किन्तु समान स्वार्थो और समान संस्कृतिके आधारपर एक सहयोगकी परम्पराको स्थापित कर रहे थे। आज अनेक ऐसे प्रचारक है, जो कि इस परम्पराको माननेसे इन्कार करते है, पर भारतके पुराने इतिहासकी साक्षी उनके विरुद्ध है।

पृथक मुसलिम राजनीति का उदय

तव यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि यह साम्प्रदायिक कटुता कहाँसे शुरु हुई ? १८५७ की क्रातिमें मुसलमानोका प्रमुख हाथ था। यह क्राति असफल रही और राष्ट्रीय मुसलमानोपर व्रिटिश सरकारका मजवूत वार हुआ। यो तो गदरसे पहले ही मुसलमानो का दमन शुरू हो गया, पर गदरके वाद इसमें और तेजी कर दी गई और अन्तत स्वाभिमानी और वीर मुसलमान निस्सहाय और अशिक्षित हो गए।

ऐसे समयपर सर सय्यदने उन्हे ऊँचा उठानेका बीडा उठाया। अपने प्रारम्भिक कालमें सर सय्यद पक्के राष्ट्रवादी थे और अपनी कविसुलभ भावुकतामें वह हिन्दू मुसलमानो को भारत-वधुकी दो सुन्दर आँखें कहा करते थे। किन्तु १८८५ के लगभग उनमें हठात् एक परिवर्तन घटित होने लगा। अलीगढ कालेजके अग्रेज प्रिंसिपलोका प्रच्छन्न प्रभाव उनपर काम करने लगा। धीरे-धीरे उनपर यह असर डाला गया कि मुसलमानोकी उन्नतिका एक मात्र और सर्वोत्तम उपाय सरकारका समर्थन है। परिणामत उनके असाधारण प्रभावका उत्तर भारतमे मुसलमानोको काग्रेससे दूर रखनेमें प्रयोग किया गया ? किन्तु ऐसे मुसलमानोकी भी कमी न थी जो कि शुरूसे काग्रेसके साथ थे। यह काग्रेस-समर्थन भावना केवल नवशिक्षितो तक ही सीमित न थी, वल्कि उसे सवसे अधिक समर्थन उलेमाओसे प्राप्त हुआ। पर फिर भी सर सय्यदके प्रवल प्रभावसे वहुत से शिक्षित मुसलमान काग्रेस द्वारा प्रस्तुत भारतीय राष्ट्रवादसे पृथक रहे।

उन्नीसवी सदीके अतमें, सर सय्यदकी मृत्युके ठीक वाद हिन्दी-उर्दूका विवाद छिड गया और इस प्रकार एक नई दीवार खडी हो गई। उस समय तक उत्तर भारतकी अदालतोमें फारसी लिपिका प्रयोग हो रहा था। कुछ हिन्दुओने उसके स्थानपर नागरीकी माँग की। नये मुसलमान नेताओने उर्दू भाषापर इस आक्रमणका विरोध किया। इस आन्दोलनकी इति श्री अजुमन उर्दूकी स्थापना मे हुई। नवाव मोहसिन उल-मुल्क जो कि अलीगढ कालेजके सेक्रेटरी थे, इसके भी सेक्रेटरी वन गये। पर सरकारको यह वर्दाश्त नही हुआ और उनपर यह दवाव डाला गया कि उन्हें इसमेंसे किसी एकको चुनना होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्रिटिश सरकारने मुसलमानो का सगठन तभी पसद किया, जवकि वह उनके हकमें हो। १९०४ में यह स्पष्ट हो गया, जव कि लार्ड कर्जनने वगाल के विभाजनकी योजना प्रस्तुत की और स्वय उसने ढाकामें उसका मुस्लिम प्रान्त कहकर विज्ञापन किया। ढाकाके प्रभावशाली मुस्लिम नेता, नवाव सलीमुल्ला खाँको, जोकि अभी तक विभाजनके विरोधी थे, सरकार अपनी ओर करनेमे सफल हुई। १९०६ मे सरकारी प्रेरणासे आगाखाँ की अध्यक्षतामें कुछ मान्य मुसलमानोका एक प्रतिनिधि-मडल लार्ड मिन्टोसे मिला और उसने पृथक् निर्वाचन की माँग की। उनकी माँग मन्जूर हुई। प्रतिनिधि मण्डलकी सफलताने उसके प्रणेताओको प्रोत्साहित किया और उसी वर्ष मुस्लिम लीगकी स्थापना हुई। मुसलमानो में व्रिटिश सरकारके प्रति वफादारीकी भावनाकी वृद्धि करना उसका एक उद्देश्य था।

१९०८ में लीगने स्थानीय सभाओमें साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वके विस्तारकी माँग की। १९०९-१० में भारतीय मुसलमानोके जीवनमें एक महत्वपूर्ण घटना घटित

हुई। तत्कालीन अलीगढ़ कालेजके सेक्रेटरी, जो कि लीगके भी मंत्री थे तथा कालेजके प्रिंसिपलमें अनवन हो गई और क्रमश. लीग एक स्वाधीन संस्था बनने लगी।

१९११ में बंगालके विभाजनके अंतकी घोषणासे मुसलमानोको काफी धक्का पहुँचा, क्योंकि इसके बारेमें उनकी कोई राय नही ली गई थी। इस धक्केने एक बार मुसलमानो को पुनः राष्ट्रवादी धाराकी ओर धकेला। उस समय योरोपमें होने वाले परिवर्तनो ने भी इस प्रवृत्तिको बल दिया। तरुण तुर्क आदोलनने भी उसे प्रभावित किया और धीरे-धीरे लीगमें रूपान्तरण होने लगा। १९१३ में लीगका उद्देश्य ब्रिटिश ताजके नीचे स्वराज्य प्राप्ति हो गया। लीगके अगले अधिवेशनमें डा० अन्सारी, अबुलकलाम आज़ाद और हकीम अजमलखाँ जैसे व्यक्ति सम्मिलित हुए। उन्होने हिन्दू मुस्लिम सौहार्दपर विशेष ज़ोर दिया।

१९१४ के महायुद्धने पुन. मुसलमानोमें जीवनका सचार किया। शेखुल हिन्द मौलाना महमूद लहसन देवचन्दीने अपने एक शिष्य मौलाना अब्दुल्ला सिन्धीको काबुल स्थित तुर्की और जर्मन राजदूतोसे बातचीत करने तथा वहाँके अमीरको अंग्रेज़ोके विरुद्ध खड़े होनेके लिए प्रेरित करनेको भेजा। राजा महेन्द्र प्रतापके प्रथम राष्ट्रपतित्वमें मौलाना ने स्वाधीन भारतकी कल्पना की। मौलाना और उनके सहयोगी मौलाना हुसेन अहमद नदवी और मौलवी अजीज गुलको मालटामें कैद कर दिया गया। बादमें मौलाना मुहम्मदअली और शौकतअली, मौलाना आज़ाद और हसरत मोहानीको भी नज़रबन्द कर दिया गया।

१९१५ का साल लीगके इतिहासमें महत्वपूर्ण है, जबकि उसका और काग्रेसका वार्षिक अधिवेशन एक ही स्थान और समयपर बुलाया गया। इसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि लीगके स्थायी सभापति आगाखाँने इस्तीफा दे दिया। राष्ट्रवादी मुसलमान शिमला और व्हाइट हालके शिकजेसे लीगको मुक्त करनेमे सफल हुए। १९१७में लीगके सभापति राजा महमूदाबादने घोषणा की कि देशका स्वार्थ सर्वप्रथम है। १९१८ में लीगके स्वागत समितिके अध्यक्ष डा. अन्सारीका भाषण सरकारने जब्त कर लिया।. इस अधिवेशनकी अन्य विशेषता राजनीतिमें उलेमाओका पुनरागमन था। इस अधिवेशन में लीगने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को कार्यान्वित करनेकी माँग की।

१९१९ में जमीयत-उल-उलेमा-ए-हिन्दकी स्थापना हुई। १९२१ में उसने अपना प्रसिद्ध फतवा दिया जिसमें असहयोग और बायकाट मुसलमानोंके लिए धार्मिक कर्त्तव्य बताया गया। जमीयतके प्रथम सभापति मोहम्मदुल हसनकी शीघ्र ही मृत्यु हो गई और उनके बाद मुफती किफायतुल्लाने इसका दायित्व सम्भाला। उनके नेतृत्वमें जमीयतने १९३० और १९३२ के पूर्ण अवज्ञा आन्दोलनका समर्थन किया और उसके नेता अनेक बार जेल गये। जमीयत १९३९ के आज़ाद मुस्लिम सम्मेलनकी सबसे प्रबल समर्थक थी।

१९१९ में लीग, खिलाफत और जमीयत तीनोंने जलियाँवाला हत्याकाडपर विचार करनेके लिए एक साथ अमृतसरमें अधिवेशन किए। लीगके अगले अधिवेशन का सभापतित्व डा० अन्सारीने किया और उन्होने काग्रेसके अवज्ञा आन्दोलनको पूर्ण सहयोग

दिया। १९२१ में भी लीग और कांग्रेसके अधिवेशन साथ-साथ हुए। १९२३ के वाद लीगमें पुन शिथिलता आनी शुरू हुई और १९२३ में तो लीगमें लखनऊ अधिवेशन का कोरम भी पूरा न हो सका। अगले तीन अधिवेशनोमें मुख्यत विगड़ती साम्प्रदायिक अवस्थापर विचार हुआ। वस्तुत वे निर्जीव रहे और उनकी पुरानी आग ठडी हो गई। १९२७ में लीगके प्रतिगामी पक्षने जो अभी तक वाहर पडा था, पुन जोर मारा। इसका तात्कालिक कारण साइमन कमीशनकी स्थापना थी। लीगमें दो दल हो गये। राष्ट्रवादी दलने कलकत्ते तथा प्रतिगामी पक्षने लाहौरमें अधिवेशन वुलाए। अधिकृत अधिवेशनमें जो कि कलकत्तेमें वुलाया गया था, मुहम्मद अली जिन्नाने सभापतित्व किया। उसने साइमन कमीशनके वायकाट तथा विना मुकदमा किए नजरवन्द राजनीतिक वन्दियो की रिहाईके प्रस्ताव पास किए। १९३३ तक लीग पुन नरम दलियोंके हाथमें तथा अपनी १९१०की पूर्व अवस्थामें पहुँच गई। १९३१ में भारतके समस्त भागोंके राष्ट्रीय मुसलमानोने लखनऊमें एक सम्मेलन किया जिसका सभापतित्व सर अली इमामने किया। उन्होने कहा कि "मुझसे पूछा जाय कि क्यो मेरी राष्ट्रवादमें इतनी श्रद्धा है, तो मै यही कहूँगा कि इसके विना स्वाधीनता असम्भव है। पृथक निर्वाचन राष्ट्रवाद का विरोधी है। सम्पूर्ण मुस्लिम वुद्धिवादी वर्ग पार्थक्य की योजनाका विरोधी है।"

१९३४ के वाद लीग पुनर्संगठित की गई और उसने नई लाइन अख्तियार की। मि० जिन्नाने आक्षेप किया कि कॉंग्रेसके वर्तमान नेतृत्वने पिछले दस सालोमें एकान्तत हिन्दू नीति अपनाकर क्रमश मुसलमानोकी सहानुभूति खो दी है। फजलुल हकने इस्लाम के नामपर मुसलमानोंसे एक होनेकी अपील की और धमकी दी कि "अगर थानेश्वर और पानीपत फिरसे दोहराया जाता है, तो मुसलमानोको अपने पूर्वजोंके उज्ज्वल नामको वचानेके लिये तैयार हो जाना चाहिए।" १९३९ में लीगकी प्रेरणापर हैदरावादके डा० अव्दुल लतीफने साम्प्रदायिक आधार पर भारतके सास्कृतिक क्षेत्र निर्माणकी योजना तैयार की। सितम्वर १९३९ में कांग्रेस सरकारोने इस्तीफा दे दिया और लीगको पुन अपनी स्थिति मजवूत करनेका मौका मिला। १९४० मार्चके लाहौर अधिवेशनमें दो राष्ट्रोका सिद्धांत प्रस्तुत किया गया और पाकिस्तानकी माँग की गई। इसके कुछ सप्ताह वाद ही दिल्लीमें खानवहादुर अल्लावक्सकी अध्यक्षतामें अखिल भारतीय आजाद मुस्लिम सम्मेलनका आयोजन हुआ। इसमें पाकिस्तानकी माँगका विरोध किया गया। जमीयतके अध्यक्ष मुफती किफायत उल्लाने मुख्य प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसके प्रारम्भिक शब्द थे "हिन्दुस्तान विना नस्ल और धर्मके भेद के उन सव नागरिको की समान मातृभूमि है, जो कि इसके सावनोके समान रूपसे स्वामी है। वह अपनी अपनी भौगोलिक और राजनीतिक सीमाओके साथ एक अविभाज्य इकाई है।" इसमें अपने अन्य देशवासियोके साथ कन्धा से कन्धा मिलाकर स्वाधीनताके लिये लड़नेकी घोषणा की गई।

मुस्लिम राजनीतिके ब्रिटिशकालीन इतिहासके इस सक्षिप्त अध्ययन से हम अवश्य जान सकते है कि मुस्लिम राजनीतिक चेतना दो विरोधी दृष्टिकोणोमें विभक्त रही है, एक तो भारतके राष्ट्रवादसे अपनेको मिलानेके लिए व्यग्र रहा है, दूसरा उससे पृथक् हो

अपना रास्ता ढूंढना चाहता है। १९१६से १९२४ तक उस पर राष्ट्रवादी प्रवृत्ति का ज़ोर रहा। उसके बादसे भारतके विभाजनके समय तक उस पर पृथकतावादियो का प्रभुत्व वढता गया।

इस विविध प्रवृत्तिको समझनेके लिए उन समाजशास्त्रियो और अवौद्धिक शक्तियो का जानना भी आवश्यक है, जो कि पिछले सौ सालोंसे भारतीय राजनीतिमें कार्य कर रही है तथा जिन्होने समय-समयपर विदेशी सरकारकी नीतिको प्रभावित और परिवर्तित किया है।

साम्प्रदायिकता के विकास मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का हाथ

"फूट डालो और शासन करो" की नीतिमें दक्ष अंग्रेज़ शासकोने भारतमें अपना पैर जमाते ही इस पर अमल करना शुरू किया। माउन्ट स्टुअर्ट एलिफसटनने कहा कि "फूट डालो और शासन करो" रोमन नारा था, यही हमारा भी होना चाहिए।" अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धनके शब्दोमें "अंग्रेजोने हिन्दू और मुसलमानोंके वीच अपने को रखनेका निश्चय किया और इस प्रकार एक साम्प्रदायिक त्रिकोणका निर्माण किया जिसका कि वह स्वयं आधार बने।"

अंग्रेज़ी हकूमतके एक वार समस्त देशको एक केन्द्रीय शासनके नीचे ले आनेसे यह सम्भावना की जा सकती थी कि इस विदेशी और अनुत्तरदायी सरकारके विरुद्ध एक सामान्य चेतना विकसित होती। यह सम्भावना वेवुनियाद न थी। १८५७ के विद्रोहने इसे सत्य कर दिखाया था। इस विद्रोहसे पहले भारतीय सेनाका रूप असाम्प्रदायिक था। वहाँ वर्ग और कवीलेका भेद न था। इसमें मुसलमान, सिक्ख, पुरविए सभी मिले हुए थे और इस प्रकार प्रत्येक ही एक-दूसरेके प्रति अपनी जातीय दुर्भावना को खो वैठता और एक समान भावनासे प्रेरित होता था। यह वर्धमान एकता खतरनाक थी। सर जान लारेन्स, जिसने वादमें विद्रोहको दवानेमें महत्वपूर्ण पार्ट अदा किया, इस वारेमें स्पष्ट था। उसके ही शब्दोमें "विद्रोहसे पहलेकी सेनामें सवसे भयकर दोप वंगाल सेनामें विद्यमान मातृत्व और एकता थी और इसका एक ही उपाय है—भेदनीति पहले तो योरोपीयनो द्वारा और फिर देशीय जातियो द्वारा।" इस प्रकार सेनामें एकता और राष्ट्रीयताकी भावनाको नष्ट करना ब्रिटिश सरकारका मुख्य उद्देश्य वन गया। सेनाके पुन.संगठनकी योजनामें सैनिक टुकड़िया कवीले, सम्प्रदाय और जातिगत आधार पर वनाई गई। यह समूह इस प्रकार वनाये गये ताकि यह अपनी कवायली और साम्प्रदायिक निष्ठाको और एक दूसरेके प्रति भेदनीतिको कायम रख सकें।

भेदनीतिकी नीतिके महत्वपूर्ण परिणाम हुए और दोनो सम्प्रदायोके वीच की खाई निरन्तर गहरी होती गई।

अंग्रेज़ोंके आनेसे पहले सैनिक सेवा ही मुसलमानोका मुख्य पेशा था। नये शासन ने उन्हें उससे पृथक कर दिया। १८७१ में सर विलियम हंटरने लिखा, "सेनाके द्वार अव उनके लिए वन्द है। कोई खानदानी मुसलमान अव सेनामें प्रविष्ट नही हो सकेगा।"

परम्परागत सैनिक पेशा छूट जानेपर अपने को दीवानी वावूगिरीमें रूपान्तरित करना वहुत कठिन था। हिन्दुओने मुसलमानोंसे कही पहले अपनेको अंग्रेज़ी शासनके

अनुरूप ढाल लिया था। यह एक दृष्टव्य तथ्य है कि मुसलमान शासकोंके नीचे भी हिन्दू कर्मचारी ही राज्यके मालगुजारी विभागको चलाते थे। अंग्रेजी शासनके प्रारम्भ में यह ही मुख्य दीवानी विभाग था।

हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करनेमें अग्रणी रहे। पर अंग्रेजी शिक्षाके साथ-साथ उसके माध्यम द्वारा उन्होंने अनेक महान व्यक्तियोंके नेतृत्वमें स्वाधीनता और लोकतंत्र के विचारोंको भी ग्रहण किया। हिन्दुओंमें शीघ्र ही राष्ट्रीय चेतनाका उदय हुआ और वे ब्रिटिश सरकारके लिए एक चिन्ताका विषय बन गए। इस चिन्ताजनक स्थितिका सामना करनेके लिये सरकारने मुसलमानोंको अपनी ओर खींचना आवश्यक समझा। यहाँ पुन भेदनीतिकी आवश्यकता थी। इस महत्वपूर्ण कार्यको नवसंस्थापित केन्द्रीय मुस्लिम सस्था अलीगढ़ कालेजके प्रिंसिपल बेकने सम्पन्न किया।

मि० बेकने जो पहला काम किया वह इस्टीट्यूट गजटको, जिसका कि सम्पादन पिछले पाँच सालसे सर सय्यद अहमदखाँ कर रहे थे, अपने हाथमें लेना था। उन्होंने इस बातके लिए अथक प्रयत्न किया कि वह सर सय्यदको राष्ट्रवाद, हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द की नीति और उनकी उदारवादी विचारधारासे अलग करें और वे इसमें सफल हुए। १८८७ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसके विरुद्ध, जिसको कि स्थापित हुए अभी तीन साल हुए थे, सर सय्यदने उसके विरुद्ध अपना प्रथम महत्वपूर्ण भाषण दिया। लेकिन अभी भी उलेमाओं और मुस्लिम व्यापारियोंका एक बडा वर्ग कांग्रेसका समर्थन करता रहा।.

धीरे-धीरे सरकारने मुसलमानोंके प्रति, जो अभी तक सर्वथा उपेक्षित थे, अधिकाधिक अनुराग प्रदर्शित करना शुरू किया। १९०६ में अलीगढ़के तत्कालीन प्रिंसिपल आर्कबाल्डकी प्रेरणासे मुसलमानोंका एक प्रतिनिधि मण्डल आगा खाँकी अध्यक्षतामें वाइसराय लार्ड मिन्टोसे मिला। १९०९ में उन्हें पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया। इससे पहले ही १९०५में बंगालके विभाजनके रूपमें सरकार हिन्दू-मुसलमानोंके बीच भेद करने का प्रयत्न कर चुकी थी। बंगभंगका स्पष्ट उद्देश्य बंगालियोंकी एकताको तथा राष्ट्रीय भावनाकी राजनीतिक प्रवृत्तियोंको नष्ट करना था।

बंग-भंग मुसलमानोंको साम्राज्यवादी उद्देश्योंके साधन बनानेका चतुर प्रयत्न था। स्वयं स्टेट्समैन जैसे अखबारने लिखा कि इसका लक्ष्य पूर्वी बंगालमें मुस्लिम शक्तिकी भावनाको पोषित करना है, जिससे कि हिन्दू समुदाय भी निरन्तर बढ़ती शक्तिके रोकने की आशा की जाती है।

१९०७ में भारत सरकारके सर होल्ड स्टुअर्टने सुधारकी योजना प्रस्तुत की, भारतीय के विरुद्ध भारतीयका सतुलन जिसका मुख्य आधार था। फिर पृथक् निर्वाचन आया। रैमजे मैक्डोनल्डने स्पष्ट ही लिखा कि सरकारी अधिकारी ही पृथक निर्वाचनकी माँग और उसके कार्यान्वित करनेके लिए उत्तरदायी थे। यही नहीं, सरकारने मुसलमानो को ही हिन्दुओंसे अलग करनेके प्रयत्न नहीं किए, बल्कि हिन्दुओंको भी आपसमें अलग अलग करनेमें कोई कसर नहीं उठा रखी। खीदक्षिणके अब्राह्मण आंदोलनके पीछे सरकारी प्रेरणा थी। १९१९ में सरकारी सेवाओंमें भी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रस्थापित किया गया।

१९३५के एक्टने मताधिकारको पर्याप्त विस्तृत कर दिया। ब्रिटिश भारतमें २७४३ प्रतिशत वयस्कोको मताधिकार प्राप्त हो गया, किन्तु १९१९ में जो मतदाता १० भागोमें विभाजित थे, अब वे १७ टुकडोमें वँट गये। राजाओंको संघमें सम्मिलित होनेके लिए प्रेरित किया गया और रियासतोकी २३ प्रतिशत जनसंख्याके लिए उनके राजाओंको निम्न सदनमें ३३ प्रतिशत और उच्च सदनमें ४० प्रतिशत मत शक्ति प्रदान की गई।

यह सब घटनाएँ उस महत्वपूर्ण सिद्धान्तके अनुरूप थी, जिसे कि लार्ड मिन्टोने सम्मुख रखा था, "किसी समुदायकी स्थिति उसकी सख्या द्वारा नही बल्कि उसने साम्राज्य की कितनी सेवा की है, उस आधारपर आँकनी चाहिए।" दूसरे शब्दोमें किसी भी समुदायका महत्व अंग्रेज़ी सरकारके लिये राष्ट्रवाद के प्रति उसके विरोध और शासको के लिए उसके राजनीतिक महत्वपर निर्भर था। इसके लिए सब प्रकारकी विरोधी युक्तियोका सहारा लिया जा सकता था। उदाहरणार्थ १९१९ में पृथक निर्वाचन इसलिए स्वीकार किया गया कि हिन्दू और मुसलमान उससे सहमत थे, १९३५ में इसलिए कि वह उसपर एक मत न हो सके।

उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि अग्रेजी सरकारका सदा यह उद्देश्य रहा कि वह राष्ट्रवादका विरोध करे और जनताकी एकताको भग करे। अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धनने ठीक ही लिखा था कि तथाकथित हिन्दू मुस्लिम समस्या एक त्रिकोण है। इसमें एक अदृश्य हाथने उनके बीचके संदेह और शत्रुताको बढनेमें महत्वपूर्ण भाग लिया है। इस सम्बन्धमें ब्रिटिश सरकारके भागकी उपेक्षा कर हम उस आधारको ही नही जान सकते, जिसने कि हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धोको यह दुखद दिशा प्रदान की।

बावजूद इसके यदि हम केवल ब्रिटिश सरकारकी फूट डालो नीतिसे साम्प्रदायिक समस्याको समझना चाहें, तो यह ठीक न होगा। ब्रिटिश सरकारको जो इतनी असाधारण सफलता मिली है, इसका यही कारण था कि उसे अनुकूल ज़मीन मिली। हमारे सामाजिक जीवनमें पहलेसे वह दरारें मौजूद थी, जिनका कि वह फ़ायदा उठा सकी। उन सामाजिक शक्तियोपर भी सक्षेपमें विचार कर लेना जरूरी है।

साम्प्रदायिक समस्या का समाज-शास्त्रीय आधार

सर जान सीलेने स्पष्टतापूर्वक स्वीकार किया कि १८५७ के गदरको बहुत हद तक एक भारतीय समुदायको दूसरे समुदायसे लड़ाकर खत्म किया गया और जब तक हम ऐसा करनेमें सफल हैं, हमारे साम्राज्यको कोई खतरा नही और ज्यो ही यहाँकी जनताने एक राष्ट्रका रूप धारण किया हमें अपने साम्राज्यकी आशा छोड़ देनी चाहिये। जिस समय यहाँपर अंग्रेज़ आये, उस समय सत्ता मुसलमान शासकोंके हाथमें थी और इसी सत्ता को अग्रेज़ोंको समाप्त करना था। हिन्दुओंकी सहायतासे अंग्रेज़ इस सत्ताको तोड़नेमें सफल हुए। मि० एस० पी० हिलने अपनी बंगालमें १७५६–५७ पुस्तककी भूमिका में उल्लेख किया है कि ब्रिटिश शासनके सबसे बड़े समर्थक हिन्दू और उनके आश्रित थे। कारण था कि प्राय: समस्त व्यापार इन्हींके हाथोमें था और इन्हीका अंग्रेज़ व्यापारियो के सम्पर्कमें आना अधिक स्वाभाविक था। इस प्रकार इनके तथा अंग्रेज़ व्यापारियोंके बीच आर्थिक स्वार्थोपर मैत्री कायम हुई।

वंगालके मुसलमान जो कि सबसे पहले अंग्रेजी हकूमतके नीचे आये, स्वाभिमानी और सैनिक लोग थे। नई सरकारने इस्तमरारी वन्दोवस्त (१७९२) द्वारा उनपर जवर्दस्त चोट की। लगान वसूल करने वाले हिन्दू कारिन्दे रातो रात खडे-खडे जमीदार वन गए और उन्हें सम्पत्ति सग्रहकी सुविधा प्राप्त हुई, जो कि मुस्लिम शासनमें मुसलमानो को प्राप्त होती। साथ ही साथ सेनाके द्वार मुसलमानोके लिए वन्द कर दिये गये। सैनिक सेवा मुसलमानोको सर्वप्रिय थी। इसका इतना विनाशात्मक परिणाम हुआ कि १८७० में वगालके मुसलमानोके वडे-वडे खानदान तवाह हो गए। विलियम हटर ने अपनी १८७१में प्रकाशित पुस्तक "भारतीय मुसलमान" में इसका प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है। सरकारी सेवाओ, विशेषकर उच्च पदो पर, मुसलमानोकी नियुक्ति असम्भव थी।

१८७१ में जो स्थिति थी उसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है, जहाँ कि वगाल में ११३ हिन्दू डिप्टी कलक्टर थे वहाँ मुसलमानोकी सख्या ३० थी। इसी प्रकार इनकम टैक्स, असेसर विभागमें हिन्दुओ और मुसलमानोकी सख्या क्रमश ४३ और ६, रजिस्ट्रेशन विभागमें क्रमश २५ और २, सवौरडिनेट जजी में २५ और ८, मुसिफपद पर क्रमश १७८ और ३७ पुलिस विभागमें ३३ और ० थी, चिकित्सा विभाग में ६५ और ४, शिक्षा विभागमें १४ और १, जन निर्माण इजीनियरिंग विभागमें १६ और ०, जन निर्माण अकाउन्ट विभाग में ५४ और ० थी। हिन्दुओकी तुलनामें मुसलमानो का अनुपात सातवाँ भाग है। डा० हटरके शब्दोमें कलकत्तामें शायद ही कोई ऐसा सरकारी दफ्तर हो, जिसमें कि एक मुसलमानको एक मज़दूर, हरकारे, दवातोमें स्याही भरनेवाले या होल्डर साफ करनेवालेसे ऊँचा काम मिल सके। सम्मानित खुले पेशोकी भी यही दशा थी। १८५१ तक कानूनके क्षेत्रपर मुसलमानोका एकाधिकार था। किन्तु नये शासनने पुरानी कानूनी शिक्षाको रद्द कर दिया। १८५२ और १८६८ के वीच २४० भारतीयोको हाईकोर्टमें वकालत करनेकी इज़ाजत दी गई। इनमें से केवल एक व्यक्ति मुसलमान था। उस समय मुसलमानोको जान-वूझकर सरकारी नौकरीसे अलग रखा जाता था और हिन्दुओको तरजीह दी जाती थी।

मुसलमानोको आर्थिक दृष्टिसे ही नही कुचला गया, प्रत्युत शिक्षा और सामाजिक दृष्टिसे भी उन्हें जानवूझकर पीछे फेंका गया। सरकारी दफ्तरोमें मुस्लिम त्योहारोके लिए कोई छुट्टी न थी। शिक्षाके क्षेत्रमें अरवी और फारसीका अध्ययन विल्कुल समाप्त कर दिया गया। जव वगालमें अंग्रेजोने पदार्पण किया था उस समय सारे प्रान्तकी लगभग चौथाई जमीन मन्दिरो-मस्जिदो या शिक्षा कार्यके लिए करमुक्त ज़मीनके रूपमें प्राप्त थी, किन्तु १८२८ तक उस जमीनको पुन सरकारने हथिया लिया। ऐसी स्थिति में क्या आश्चर्य था, कि एक सदीके निरन्तर उत्पीडनके वाद मुसलमानोकी हिम्मत न टूटती और वह अपनेको भूखसे पीडित और अपमानित न समझते? डा० हन्टरके शब्दोमें उस समय वह ब्रिटिश शासनके अन्तर्गत एक रौंदी हुई जाति थी।

१८८५ तक मुसलमानोका यह उत्पीडन चलता रहा। इसने स्वभावत भारतके दोनो समुदायोके वीच पर्याप्त असमानता उत्पन्न कर दी। जो मुसलमानने खोया, वह हिन्दुओने पाया। जव कि एक सदीके दमनचक्रने मुसलमान सम्प्रदायकी कमर

तोड़ दी, वहाँ एक सदीके राजाश्रयने हिन्दुओंमें सामूहिक चेतनाके उद्भवका बीजारोपण किया। राजा राममोहन राय, रामकृष्ण, दयानन्द, सरस्वती और रानाडे जैसे लोगों ने इस उदीयमान चेतनाको एक राष्ट्रीयताकी दिशा और रूप प्रदान किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस यद्यपि १८८५ में सरकारके तत्वाववानमें स्थापित हुई, किन्तु वह शीघ्र ही उसके लिए खतरा बन गई। सरकारने इस प्रवृत्तिको रोकनेके लिए अपनी कृपाको मुसलमानोंपर स्थानान्तरित करना आवश्यक समझा।

इस पक्षपातने मुसलमानोंको अंग्रेज़ोकी ओर खींचा और हिन्दुओंको उनसे अलग किया। इस प्रकार अंग्रेज़ी राज्यके प्रति विरोध दो रूपोंमें व्यक्त हुआ। उसका एक रूप साम्राज्य विरोधी था, दूसरा अंतर्साम्प्रदायिक।

साम्प्रदायिक समस्याका अबौद्धिक और भावात्मक पक्ष

पिछले पचास सालकी मुस्लिम राजनीतिका अध्ययन इस बातकी पुष्टि करता है कि मुस्लिम राजनीतिमें भावनाओंने बड़ा भाग लिया है। भावना वह विश्वास है जो कि युक्ति और तथ्य पर आधारित नही होता। वह एक प्रकारका संवेदन और इच्छा है। मुस्लिम नेताओंने मुसलमानोंकी अल्पसंख्याको लेकर उनमें इस बातका पुरज़ोर प्रचार किया कि कोई भी लोकतन्त्रीय व्यवस्था उनके लिए खतरेसे खाली नही, वह केवल हिन्दुओंका राज्य होगी। संरक्षणके विकासमें भी हम इस भावनाको देख सकते हैं। विशिष्ट संरक्षणोंने मुसलमानोंको हिन्दुओंसे अलग कर दिया। पृथक्करण ने उनकी असुरक्षाकी भावनाको और भी प्रबल किया। प्रभावशाली मुस्लिम नेताओं ने इस असुरक्षाकी भावनाको भड़कानेमें कोई कसर नही उठा रखी। कुछ लोगोंका ख्याल था कि आर्थिक दृष्टिको अपनाकर इस समस्याका समाधान किया जा सकता था। पर उन्हें निराश होना पड़ा। साम्प्रदायिकताके इस वातावरणमें जनताके लिए अपने आर्थिक स्वार्थोको समझना भी मुश्किल हो गया। साम्प्रदारिक भावना आर्थिक स्वार्थोंसे अधिक मज़बूत सिद्ध हुई।

१९३६-३७ में कांग्रेसने आर्थिक दृष्टिकोणको कार्यान्वित करनेकी चेष्टा की पर मुसलमानोंके ऊपर कांग्रेसी हिन्दू-राजके जुलुमके प्रचारके सामने सफ़लता न मिली। किसी भी समान वस्तुके प्रति घृणा किसी भी समुदायको एक करनेका अच्छा साधन है। अपनी सफलताके लिए सदा दूसरोंपर दोष डालकर, और भेदनीति पैदाकर किसी भी समुदायको गुमराह किया जा सकता है और फिर ऐसे प्रचारके लिए एक योग्य दैवी गुण सम्पन्न नेता मिल जाय, तो उसकी सफलता भी सुलभ है। हिटलरने इस विधिको सफलतापूर्वक किया था। मि० जिन्नाके रूपमें मुस्लिम लीगको एक ऐसा नेता भी मिला। उसने जब पाकिस्तान का नारा मुसलमानोंके सामने रखा, तो मुस्मि अल्प संख्यक प्रान्तोंके मुसलमानोंने भी बिना यह जाने कि उनके लिए उसका क्या परिणाम होगा, उसका हार्दिक समर्थन किया।

दो राष्ट्रवाद

भारतमें हम दो प्रकारके राष्ट्रवादका उल्लेख कर चुके हैं। एक असाम्प्रदायिक, धर्म-निरपेक्ष और साम्राज्य विरोधी था, दूसरा साम्प्रदायिक। यह सत्य है कि १९३७. और १९४७के बीच अधिकांश मुसलमान साम्प्रदायिक राष्ट्रवादकी ओर आकर्षित हुए,

पर हिन्दू भी इससे अछूते नही रहे । मुस्लिम लीग, और हिन्दू महासभानें, यह एक रोचक तथ्य है कि एक ही प्रकारकी नीति, मनोवृत्ति और नैतिकताका परिचय दिया । १९३७ में श्री सावरकरने घोषणा की कि भारतमें हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र है । १९३८ में मुस्लिम लीग भी इसी सिद्धातको सामने लाई । उसी साल लीगने पूर्णतया राष्ट्रीय और प्रगतिशील होने और मुसलमानोकी एकमात्र प्रतिनिधि सस्था होनेका दावा किया । हिन्दूमहासभाने भी उसी साल घोषणाकी कि वही एकमात्र राष्ट्रीय संस्था हैं ।

अपने उग्र रूपमे धार्मिक या साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद केवल दूसरे समुदायकी पृथक चेतना को ही नष्ट नही करना चाहता, प्रत्युत वह उस समुदायको ही नष्ट करना चाहता है । फजलुल हकने कहा, "जब एक आठ सालका लडका मुहम्मद बिन कासिम १८ सैनिकोकी मददसे सिन्धको जीत सकता था, तो क्या नौ करोड मुसलमान सारे हिन्दुस्तान को नही जीत सकते ।" लाला हरदयाल एक हाथ आगे बढे और उन्होने सलाह दी, "यदि हिन्दुओको अपनी रक्षा करनी हैं, तो उन्हें अफगानिस्तान सीमातके कबीलोको जीतना और उनको हिन्दू धर्ममें दीक्षित करना चाहिए ।'

हर दिशामें लीग और महासभाके परस्पर विनाशात्मक विचार थे । जबकि लीग ने भारतके राष्ट्रभाषा पदके लिए उर्दूका प्रस्ताव रखा, महासभाने सस्कृतनिष्ठ हिन्दीकी माँग रखी । १९३८ में सिन्ध मुस्लिम लीगने मुसलमानोको मुसलमानोसे काम कराने और सामान खरीदनेका आदेश दिया । महासभाने हिन्दुओंके लिए वैसी ही बात कही । लीगने मुस्लिम मन्त्रि मण्डलोके विरुद्ध "जुलुम आन्दोलन" चलाया । महासभानें भी पंजाब और बगालमें हिन्दुओपर अत्याचार का नारा लगाया । दोनो ही सस्थाओने बदी सिद्धात पर बल दिया । हिन्दू सभाने कहा जब कि हम मुसलमानोंसे बदला लेनेकी स्थितिमें होगे, मुसलमानोको एक दिनमें अक्ल आजायेगी । लीगने भी उसी टोनमें बात की । इस प्रकार हम दोनो साम्प्रदायिक दृष्टिकोणोमें विरोधी समानताएँ देख सकते हैं ।

इसका अन्य अच्छा उदाहरण भारतीय रियासतोके बारेमें दोनो दलोकी नीति थी । मुस्लिम लीग उन रियासतोमें जहाँ मुस्लिम शासक थे जन आन्दोलनोका विरोध करती थी, किन्तु उन रियासतोमें जहाँ हिन्दू शासक थे, इनका स्वागत करती थी । महासभा की नीति इससे उल्टी थी । उनके लिए जनताके लोकतन्त्रीय अधिकारोका सवाल नही था । इसी प्रकार दोनोही सस्थाओका हिंसाकी ओर खास झुकाव था । सक्षेप में, उनकी राजनीति मानव-कल्याण-अभिमुखी न हो शक्ति-अभिमुखी थी ।

हिन्दू साम्प्रदायिकता

भारतीय साम्प्रदायिकताके विकासमें हिन्दुओने कुछ कम महत्वपूर्ण पार्ट अदा नही किया है । हिन्दू सम्प्रदायवाद जहाँ एक ओर मुस्लिम सम्प्रदायवादकी प्रतिक्रिया है, वहाँ दूसरी ओर वह उसका बडा उत्तेजक है । प्रत्येकने इसमेंसे एक दूसरेको उद्दीप्त किया हैं और पारस्परिक भोजन जुटाया है ।

यह कहना गलत न होगा कि हिन्दू-मुसलमानोको अलग करनेमें जाति प्रथाका बडा हाथ है । भारतीयोका जब इस्लामसे सम्पर्क हुआ तब तक यह व्यवस्था बडी ही कठोर बन चुकी थी । हिन्दू-समाज मुसलमानोको अपनी जाति व्यवस्थामें सम्भावित स्थान देनेके लिए तैयार न था । उसने उन्हें अपने दायरेसे बाहर कर उनके साथ अछूतोंके

समान व्यवहार किया। किन्तु जब तक मुसलमान शासक वर्गसे अपनेको सम्बन्धित मानते रहे, उन्होने इसे अधिक महसूस नही किया। किन्तु राजनीतिक शक्तिके छिन जाने पर, यह उन्हें बहुत खला। फिर हिन्दुओ और मुसलमानोमें १९ वी शतीके अंतसे प्रारम्भ हुए पुनरुद्धार आन्दोलनने इस प्रवृत्तिको दृढ किया। एक अहरार नेता ने इस पक्षको अपनी पुस्तकमें विस्तारसे हमारे सम्मुख रखा। आर्य नसलके मुसलमान सूफी सम्प्रदायके मुसलमान, ऊँचे खानदानोके मुसलमान, उच्च शिक्षित मुसलमान सभी के साथ हिन्दू समाजका व्यवहार अछूतोका सा था। आप पक्के राष्ट्रवादी और सोलह आने गांधीवादी हो सकते है, लेकिन जैसे ही हिन्दूको यह पता चलेगा कि आप मुसलमान है, वह आपसे अछूतका-सा व्यवहार करेगा। हिन्दू इसकी चाहे कितनी ही कैफियत दें, चाहे वह इसके लिए अपने को कितना ही निरपराध ठहराएँ अगर मुसलमान उनके प्रति दुर्भावनाएँ रखें, तो वह उसकी शिकायत नही कर सकते।

उक्त उद्धरणमें अतिशयोक्ति है, पर सत्यका अंश भी है। हिन्दू यह नही समझते कि इस सामाजिक पार्थक्यसे वह अपना कितना नुकसान करते हैं। यह दुर्भाग्यका विषय है कि मुसलमानोपर इस पार्थक्यकी प्रतिक्रिया उनकी ओरसे पार्थक्यमें व्यक्त होती है।

पुनरुद्धारवाद

पीछे हम भारतमें दो प्रकारके राष्ट्रवादोका उल्लेख कर चुके है। डा० बेणीप्रसाद ने इन दो प्रवृत्तियोको आधुनिकवाद और और पुनरुद्धारवाद कह कर सम्बोधित किया था। उनकी अन्त क्रिया और सहअवस्थित राजनीतिक प्रतिक्रियासे वर्तमान हिन्दू-मुस्लिम समस्याका जन्म हुआ। एक अन्य लेखकने इसी प्रकारका निष्कर्ष निकालते हुए लिखा, "इस स्कूल (पुनरुद्धारवादी) के लिए अपनी राजनीतिक विचारधाराको धार्मिक और साम्प्रदायिक शब्दोमें व्यक्त करना स्वाभाविक था। राष्ट्रवादको आर्यसमाज और आश्रमसे संयुक्त होना था स्पष्ट ही इसमें भारतीय मुसलमानके लिए कोई जगह न थी वह 'वेदोकी ओर लौटो' चिल्लाकर गौरव बोध नही अनुभव कर सकता था उसे एक ऐसे मानसिक यंत्रकी जरूरत थी, जिससे वह अपनी गुलामीपर पर्दा डाल सके। और अपने स्वाभिमानकी रक्षा कर सके। अत उसने इस्लामके कृत्योंका गुणगान प्रारम्भ किया। उसने बगदाद और ग्रन्दाकके गीत गाने शुरू किए। और उस दिनके जब मुसलमान दुनियापर हकूमत करते थे। हरएक अरब और तुर्ककी विजय उसकी थी। रजा और कमालकी विजयपर उसका हृदय उछलता था। उसका विश्वास था कि गुलामी एक अस्थायी अवस्था है और युद्धोका परिणाम है। एक युद्धमें वह हार गया। उसे अगले दिनकी इन्तजार करनी चाहिए। वह गुलाम नही, यह हिन्दू गुलाम है, क्या तुर्की और ईरान उसके वतन नही है? और बादमें उसका भी कारवाँ चला जोकि अभी भी चल रहा है। आप देखेंगे सम्प्रदायवाद तैयार हो रहा है।"

इस प्रकार दोनो समुदायोने समानान्तर दिशाएँ अपनाई। इस प्रकार आप देखेंगे कि सम्प्रदायवादभी राष्ट्रवादकी एक अवस्था है।

मुसलमानोकी तुलनामें हिन्दुओमें यह पुनरुद्धारवाद ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय-कारणोंसे कही आगे बढ गया। हिन्दुओंके लिए अपने सम्प्रदायवादको राष्ट्रवादसे मिला

देना आसान था। किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, कि इस पुनरुद्धारवादने हिन्दू-मुस्लिम समस्याको पर्याप्त जटिल बना दिया। इस जटिलताको हम केवल इसी बातपर ज़ोर देकर सुलझा सकते है कि धर्म और संस्कृति दो भिन्न वस्तुएँ हैं और भिन्न धर्मोके माननेवालोंके लिए भी एक समान सांस्कृतिक दायपर गर्व करना सम्भव है। उदाहरणके लिए ग्रीक ईसाई नहीं थे, किन्तु किसी भी योरोपीयनको उनके सांस्कृतिक ऋणपर गर्व है। बिना एक-दूसरेके धर्ममें हस्तक्षेप कर हिन्दू और मुसलमानोंने इस सामान्य सांस्कृतिक दायका पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किया।

पाकिस्तान की प्रतिक्रिया

१९३७ से १९४७ का समय भारतीय सम्प्रदायवादके विकासमें विशेष महत्वपूर्ण है। जहाँ एक ओर धर्म-निरपेक्ष सच्चे राष्ट्रवादकी शक्ति बढी, वहाँ दूसरी ओर साम्प्रदायिक राष्ट्रवादकी असाधारण प्रगति हुई। पाकिस्तानके नारेने भोले मुसलमानो पर जादूका का काम किया। साम्प्रदायिक हिन्दुओने उसका जितना ही विरोध किया, उससे उतना ही उसमें उनका आकर्षण बढा। ऐसे अविश्वास और अबौद्धिकताके वातावरणमें ठंडे दिलसे पाकिस्तानके हानि-लाभपर विचार करना सम्भव नहीं था। उधर भारतकी स्वाधीनता प्राप्त होती दीखने लगी। विभाजनकी माँग स्वीकार कर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। देशके सामने एक ही विकल्प था—पराधीन अविभक्त भारत और साम्प्रदायिक रक्तपात, अथवा स्वाधीन विभक्त भारत। हमारी रायमें कांग्रेसने उस समय विभाजनकी माँगको मानकर एक समझदारीका काम किया। पाकिस्तानका विरोधकर पाकिस्तानके बुखारको नहीं उतारा जा सकता था। कुछ लोगो का कहना है कि यह पाकिस्तानका ही परिणाम है कि जो इतनी भीषण मारकाट हुई। लेकिन कौन कह सकता है कि पाकिस्तान न बननेपर इससे कहीं अधिक भीषण मारकाट न होती?

पाकिस्तान बननेसे कमसे कम भारतवासी मुसलमानोको तो यह अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि इससे उन्हें कुछ लाभ नहीं हुआ। स्वयं पाकिस्तानवासी मुसलमान भी अब यह समझने लगे हैं कि उनके शत्रु हिन्दू नहीं, जोकि अब वहाँ सर्वथा दुर्बल है, बल्कि स्वयं उनके अपने धर्मावलम्बी हैं। इस प्रकार पाकिस्तानकी हम चाहे कितनी ही हानियाँ क्यों न दिखायें, उसने कमसे कम पहली बार गुमराह मुसलमानोको साम्प्रदायिकता के परिणाम देखनेपर मजबूर किया। वास्तविकता और नारेमें क्या अन्तर है, यह उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया। इसी प्रकार जो साम्प्रदायिक हिन्दू हर समय मुसलमानो की शक्तिका हव्वा बनाकर हिन्दुओको डराते और उनके विरुद्ध भडकाते रहते थे, अब अपनेको निकम्मा पा रहे हैं। हिन्दू यह जानता है कि मुसलमान भारतमें निर्बल है और उसकी कृपाका पात्र है। अत यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पिछले दस वर्षोमें अन्त साम्प्रदायिक संघर्षमें पर्याप्त कमी हुई है। फिर भी जहाँ साम्प्रदायिक संघर्षकी उग्रता शांत हो गई है, वहाँ अभी भी दोनो सम्प्रदायोमें पृथकताकी भावना विद्यमान है, जोकि अभी भी कभी-कभी अपने भोंडे रूपमें व्यक्त होती है। १९५९ में हुए कुत्ते और किताबके आन्दोलन इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

आखिर हिन्दू-मुस्लिम भावना और वैमनस्यके वह कौनसे स्थायी आधार है, जिनका उपकार साम्प्रदायिक सौहार्दके लिए आवश्यक है ?

वर्तमान स्थिति और भविष्य

इस सम्बन्धमें हाल ही में एक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय गवेषणा प्रकाशित हुई है जिसमें कि हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्यके वैज्ञानिक अध्ययनका प्रयास किया गया है। उससे वर्तमान साम्प्रदायिक वैमनस्यको बहुत हद तक समझा जा सकता है।

भारतकी स्वाधीनता और मताधिकार ने देशकी जनसंख्याके समस्त भागोमें नई चेतना उत्पन्न की है। इस चेतनाने नई इच्छाओ और आकाक्षाओको जन्म दिया है। उदाहरणके लिए, हरिजन गाँवमें मरे जानवरोको उठानेसे इन्कार करते है और एक काश्तकारकी हैसियतसे बसना चाहते है। हर कोई सरकारमें अपनी सुनवाई चाहता है। एक वर्गकी अल्पसंख्यक समूहके प्रति आक्रमणात्मक बननेकी प्रवृत्ति है। दूसरे वर्गमें राजनीतिक ताकत हथियाने की हविस है।

चूंकि परिस्थितियाँ बहुतसे वर्गोको अपनी इच्छाओको संतुष्ट करनेके अल्प अवसर प्रदान करती है, उनकी मानसिक शक्ति प्रतिगामी प्रवृत्ति धारण करती है। समस्याओ को अतिसरल रूप दिया जाता है। ऐसी स्थितिमें विभिन्न वादोकी पूजा और काल्पनिक उद्देश्योकी ओर झुकाव होता है और बहुतसे वर्ग, विशेषकर अल्पसंख्यक वर्ग, बिलकुल साहस छोड बैठते है। प्राय. समस्त जनसंख्या अपने वातावरणको अपने अनुकूल ढालने में असहाय अनुभव करती है। जाति, सम्प्रदाय और पुनरुद्धारवादी समूहोकी कड़ियाँ मजबूत हो खतरेकी सृष्टि करती है।

इस प्रतिगमनका सम्बन्ध पर-समूहोंसे होता है। मुसलमानोको हिन्दू आक्रामक लगते है। इसी प्रकार हिन्दू यह महसूस करते है कि सरकार उनके खिलाफ है और विभिन्न राजनीतिक दलोमें विभिन्न गुट एक दूसरेके विरुद्ध विषवमन करते है।

यह प्रतिगमन सामाजिक और भौतिक क्षमता विकसित करनेके स्थान पर निरन्तर राजनीतिक साधनोमें जादुई और सर्वशक्तिमत्ताके विश्वासको दृढ करता है। उदाहरण के लिए, हर शहरमें सैकड़ो किशोर अपने अवकाशको लाठी चलानेकी योग्यता प्राप्त करनेमें व्यय करते नज़र आते है। वे वहाँ पुराने तरीकेपर काल्पनिक किलेपर हमला करनेके खेल खेलते है। लेकिन उनके पास, लोहा, लकडी, कपास, कागज़ द्वारा नये कौशल सीखनेकी सुविधाएँ नही है। कुछ बडा होनेके बाद इनमेंसे कुछको इस बातका पश्चात्ताप होता है कि उनके द्वारा अर्जित कौशलका कोई उपयोग नही है। कालिज-स्तर पर होनेवाले अनेक अपराधोमें किशोरावस्थामें अर्जित कौशल व्यक्त होता है। अनेक साल लाठी-अभ्यासमें गुज़ार देना, एक शत्रुसे घिरे होनेका भान पैदा करता है और एक काल्पनिक शत्रुके विरुद्ध यह कौशल नष्ट होता है। बहुतसे अपर्याप्त रूपसे रोज़गार में लगे हुए लोग, जिनमें नये काम सीखने या पैदा करनेकी क्षमता नही है आन्दोलनकर्त्ता बननेको अग्रसर होते है।

इस प्रकार वह उस पदको प्राप्त कर लेते है, जोकि उपयोगी और रचनात्मक कार्यो में लगे हुए लोगोंके पदसे कही अधिक श्रेष्ठ और सम्मानजनक है। प्राय. यह प्रचारक

और आन्दोलनकर्त्ता अपनी प्रतिष्ठा और अनुयायियोकी वृद्धिके लिए विरोधको पैदा करते और बढाते हैं।

भारतमें व्यक्त नयी चेतना जनताकी उस समान इच्छाको व्यक्त करती है, जिसके अन्तर्गत लोग अपने भौतिक और सामाजिक वातावरणपर अपना अधिकार करना चाहते है। नैतिक पतन और प्रतिगमन इन उद्देश्योमें असफल होनेके नैराश्यका परिणाम हैं।

इस नैतिक पतनसे किस प्रकार बाहर निकला जा सकता है ? इसका उत्तर परसराम ने इस प्रकार दिया है लोगोमें प्राप्त साधनोकी सहायतासे अपनी तात्कालिक परिस्थिति को सुधारनेके लिए अभिरुचि उत्पन्न करना, उनके जीवनकी भौतिक और सास्कृतिक परिस्थितियोका वैज्ञानिक अध्ययन; उनके साधनोके सफल उपयोगके लिए उपयुक्त सामाजिक वातावरण उत्पन्न करना।

परसरामके अध्ययनके कुछ निष्कर्ष बहुत ही विचारणीय और महत्वपूर्ण हैं, जैसे कि ५० मेंसे केवल २ हिन्दू सूचनादाताओने भारतीय मुसलमानोंको अनिवार्यत पाकिस्तान भेजे जानेकी माँग की। उनमेंसे अन्य ४ सकटकालीन व्यवस्थामें मुसलमानो द्वारा गडवड की सम्भावनाका भय करते हैं, लेकिन यह वह नही चाहते कि मुसलमानोको जबर्दस्ती पाकिस्तान धकेला जाये। यह मजेकी वात है कि इन दो अति-मुस्लिम विरोधी हिन्दुओ में कोई भी शरणार्थी नही है। इन दोनो व्यक्तियोका व्यक्तित्व ध्यान देने योग्य है। यह दोनो ही जन समूहमें जोशीला भाषण देना चाहते है। इन दोनोकी आर्थिक स्थिति अरक्षित है, और यह जीविकोपार्जनके लिए कुछ करनेमें असमर्थ है। इनकी मनोवृत्ति उस प्रकारकी है, "अमुककी मिनिस्टर, जिला वोर्ड या म्युनिसिपैलिटीके अध्यक्षसे अच्छी पटती है, अत मुझे उसके लिए काम करना चाहिए।" उन्हें अपने काल्पनिक उद्देश्य के लिए कार्य करनेमें एक विशेष प्रकारकी तृप्ति प्राप्त होती है। कुछ प्रकारके विद्यार्थियो में उनके पर्याप्त अनुचर है। इससे वह अपनेको शक्तिशाली अनुभव करते है। उन्हें यह विश्वास है, कि अगर वे चाहें, तो विद्यार्थियोकी मददसे पुलिसपर हावी हो सकते है। उनके अपने कथनानुसार आर्थिक कठिनाईयोके कारण उनकी विश्वविद्यालय-शिक्षा छूट गई थी। अन्य ४ व्यक्तियोमें से ३ शरणार्थी है, जोकि मुसलमानोसे हानिकी आशका करते है। यह अपने पुनर्वासनमें पूर्णत लिप्त है। १२ हिन्दू सभी स्तरपर मुसलमानो का स्वागत करते है, किन्तु उनके मनमें भी मुसलमानोके गन्दे, गौहत्यारे, क्रूर व्यक्ति होने का चित्र है।

भारतीय समाजके विभिन्न स्तरोपर विरोधके विभिन्न प्रतिमान है। गाय-स्तर विना परिणामकी चिन्ता किए भयकर विरोधको व्यक्त करता है। भाषाके स्तरपर पर्याप्त बहस-मुबाहिसा है। जो लोग मुसलमानोमे विचारधारात्मक स्तरपर लडते हैं, वह इन सभी प्रतिमानोका लाभ उठाते हैं। विरोधके विचारधारात्मक स्तरपर नमीकरण और सशोधनके चिन्ह दृष्टव्य है। राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ और हिन्दूमहासभाने मुसल-मानोके प्रति अपने दृष्टिकोणमें कुछ सशोधन किए हैं। अत विचारधारात्मक स्तरपर मुसलमानोंके विरोधकी सम्भावना बहुत कम हो गई है।

हिन्दुओंके प्रति मुसलमानोंके विरोधसे सम्बन्धित निम्न निष्कर्ष दृष्टव्य है यद्यपि वास्तविक जीवनमें मुसलमानोकी कठिनाइयाँ हिन्दुओंसे अधिक नही है, किन्तु मुसलमान

हिन्दुओंकी तुलनामें कही अधिक नैराश्य अनुभव करते हैं। मुसलमानोंकी तुलनामें शायद हिन्दुओंमें अपना अपमान सहनेकी कुछ अधिक क्षमता है। मजदूर पेशा मुसलमान को अगर रोजगार मिलता रहे, तो वह संतुष्ट है। वह अधिक आशावादी है और वह अन्य वर्गोंके मुसलमानोंकी भाँति उत्पीड़नकी कल्पनाएँ नहीं करता। मध्यवर्ग और उच्चवर्गके मुसलमानोंको उत्पीड़नका अधिक भय है। परिणामतः उनमें हिन्दुओं और सरकारके प्रति अधिक विरोध है।

हिन्दुओं और मुसलमानोंके बीच एक-दूसरेकी अवस्थासे घनिष्ट परिचय का अत्यन्त अभाव है। बहुत ही थोड़े हिन्दू मुसलमानोंकी कठिनाइयों और बेचैनीको समझते हैं। मुसलमानोंकी तुलनामें हिन्दू विभिन्न प्रकारके समाचार पत्र पढ़ते हैं। मुसलमान अखबार हिन्दुओ द्वारा उत्पीड़नकी घटनाओंको अनुचित प्रमुखता देते हैं और इन घटनाओंका अंत असहायता व्यक्त करता है, जिसका कि मुस्लिम जनतापर निराशा-जनक प्रभाव पड़ता है।

मुस्लिम विरोधको समझनेके लिए परसरामने कुछ संकेत सुझाये हैं। वे हैं: सार्वजनिक सेवाओंमें विशेष वेटेज तथा विधान सभाओंमें पृथक प्रतिनिधित्व समाप्त हो जानेसे मुसलमानोंके पद को ठेस पहुँची है। विभिन्न धर्मावलम्बी और विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमिमें पले अधिकार-च्युत जमींदारों, राजाओं और उनके सम्बन्धियोंकी प्रतिक्रियाओंकी मुस्लिम मध्यमवर्गसे तुलना कर, मुस्लिम विरोधके इस प्रतिमानको समाप्त किया जा सकता है।

स्वाधीनता प्राप्तिके पहले दस सालोंमें प्रभावशाली मुसलमान नेताओंने आम मुसल-मानोंमें यह चेतना लानेका प्रयत्न किया कि वह अपने को पृथक वर्ग समझें। पाकिस्तान का लाभ उन्हें हुआ तो भारत छोड़कर चले गये, लेकिन जो यहाँ रह गये उनके लिए, यह सफलता दायित्व बन गई। उनके पुराने कृत्य अब निन्दित हो गये। हिन्दुओंसे पार्थक्य, जो कि एक समय उनके विश्वासका अंग बन चुका था, अभी भी विभिन्न मसलोंपर उनके विचारोंको रंग देता है।

लेकिन हमें साम्प्रदायिक समस्याके कुछ गतिशील पहलुओंसे आँख नहीं मूंद लेनी चाहिए। भारतीय मुसलमानोंके एक बड़े वर्गमें पाकिस्तानके प्रति भीषण प्रतिक्रिया हुई है। वह अच्छी तरह अनुभव करते हैं कि उन्हें उनके नेताओंने बेवकूफ बनाया। इससे उनको कोई लाभ नहीं हुआ। न पाकिस्तान बनता और न यह मुसीबतें आतीं। पाकिस्तानमें उसके लिए जगह नहीं। धार्मिक जोश ठंडा होनेपर प्रान्तीय भेद उभर आये हैं। बंगाली मुसलमान, बिहारी मुसलमानको फूटी आँख नहीं देखता। पंजाबी मुसलमानको यू० पी० के मुसलमान नहीं सुहाते: पाकिस्तानमें उनके लिए कोई सम्मान नहीं, ऐसी स्थितिमें यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि पाकिस्तानके प्रति उनके मनमें भीषण प्रतिक्रिया हो। वास्तवमें ऐसा हुआ भी है। फिर भी जब बहुतसे समझदार हिन्दू हर मुसलमानपर एक पाकिस्तानी एजेंट होनेका संदेह करें, तो क्यों न उन्हें इसका खेद हो और क्यों न वह अपनेको उत्पीड़ित और पृथक अनुभव करें?

साम्प्रदायिक समस्याके कुछ और गतिशील पहलू भी विचारणीय हैं। आज भारतमें यह स्थिति है कि एक हिन्दू सम्प्रदायवादी की तुलनामें मुसलमान सम्प्रदायवादी

अपनेको अधिक अरक्षित समझता है। उसमें स्पष्ट राजनीतिक कारणोसे साम्प्रदायिकता फैलानेका साहस नही रह गया है। मुस्लिम लीग, हिन्दू-मुस्लिम विरोधको गरम रखना जिसका मुख्य अस्त्र था, अब मर चुकी है। ऐसी स्थितिमें मुसलमानोमें साम्प्रदायिक प्रचारके साधन, सस्था, नेता क्रमश समाप्त हो रहे है। नयी पीढीको साम्प्रदायिकता की शिक्षा नही मिल पा रही है, पुरानी पीढीकी साम्प्रदायिकताको निरन्तर ताज़ा नही किया जा रहा है।

यह दुर्भाग्यकी वात है कि मुसलमानोमें अभी तक प्रभावशाली असाम्प्रदायिक नेतृत्व पैदा नही हो सका है। लेकिन परिस्थितिकी यह माँग है कि मुसलमानोको नये ढाँचेमें अपना स्थान वनानेके लिए उसका विकास करना होगा। इसमें अवश्य कुछ देरी लगेगी। लेकिन यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। मुसलमान नवयुवकोका एक वडा वर्ग, हिन्दुओकी तुलनामें कही अधिक धर्मनिरपेक्ष, यहाँ तक कि धर्म विरोधी और समाजवादी सस्थाओकी ओर आकर्षित हो रहा है। हम इस तथ्यसे आँख नही मूँद सकते। भारतमें ही नही, पाकिस्तानमें भी यह प्रतिक्रिया प्रवल और तेजीपर है। भावी साम्प्रदायिक सम्बन्धोकी दृष्टिसे यह एक शुभ चिन्ह है।

पिछले दस सालोमें मुसलमान वच्चोकी एक नयी पीढी तैयार हुई है, जो कि स्वाधीनता से पहलेके साम्प्रदायिक जहर और घृणाके प्रभावसे वहुत कुछ अछूती है। धर्म-निरपेक्षता, लोकतन्त्र और समाजवादकी नई विचारधाराएँ उनसे टकरा रही है। मुल्ला और मस्जिदका दवाव उनसे हट रहा है। यही अवस्था नई हिन्दू पीढीकी है। छूतछात और खानपानके वन्धन टूट रहे है। हिन्दुओ और मुसलमानोके सामाजिक दृष्टिसे मिलने के अवसर वढ रहे है।

पाकिस्तान वननेके सात-आठ साल तक विशेष रूपसे भारत और पाकिस्तानके सवघ वहुत ही तनातनीके रहे है। इस तनातनीने हमारे साम्प्रदायिक सववोपर सीधा प्रभाव डाला है। पाकिस्तानमें साम्प्रदायिकताकी साक्षात प्रतिमूर्त्ति और प्रतिष्ठाता मुस्लिम लीगकी पराजय और धर्मनिरपेक्ष दलोका जन्म और उदय भावी साम्प्रदायिक सवधो के लिए वहुत ही उत्साहवर्धक घटनाएँ है। इससे स्पष्ट है भारतमें ही नही, साम्प्रदायिकताके गढ पाकिस्तानमें भी साम्प्रदायिकता—केवल पडोसी समुदायसे घृणाकी अपील और उसीके विनाशमें मुक्तिका सदेश ढूंढनेकी मनोवृत्ति ममाप्त हो रही है।

अतमें हम इसी वातपर वल देंगे कि धर्म-निरपेक्षता, लोकतन्त्र और समतापरक विचारधाराओका प्रसार साम्प्रदाकिताके विनाश का प्रमुख साधन है। धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्म-विरोध नही। धार्मिक होते हुए भी लोकतन्त्र और समानतामें विश्वास साम्प्रदायिक सौहार्दका स्थायी सिद्धात है। वास्तवमें दूसरे सम्प्रदायके मदस्यके प्रति उस प्रकार न देखनेकी अयोग्यता, जिस प्रकार व्यक्ति अपनी ओर देखता है, विरोधका मूल है। सामुदायिक जीवनके विभिन्न स्तरोपर लोकतन्त्रीय जीवन रीतिको अपनाना इस विरोधके शमनका सवसे प्रभावयुक्त उपाय है। इसके लिए यह जरूरी है कि विभिन्न सम्प्रदायोके सदस्योमें घनिष्ट सचार हो। वह एक-दुसरेकी कठिनाइयोंसे पूर्णत अवगत हो। राष्ट्रके प्रत्येक सदस्यके समान अधिकार और समान कर्त्तव्योमें उनकी आस्था दृढ हो। विभिन्न धर्मोकी पुस्तको और पैगम्वरोका ममान आदर हो। वच्चोमें

साम्प्रदायिक अहंकार न विकसित होने देनेके लिए यह आवश्यक है कि उन्हें दोनों ही सम्प्रदायोके राष्ट्र-भक्तो, विद्वानो, कवियो, कलाकारो और संतोकी जीवनीसे परिचित कराया जाये। हमारी पाठ्य पुस्तको, विशेषकर हमारी इतिहासकी पुस्तकोमें तत्काल सशोधन होना आवश्यक है।

साम्प्रदायिक दृष्टिसे इतिहासका विश्लेषण, जनताका उत्कर्ष और अपकर्ष दिखाना, मिथ्या इतिहास ही नही पढाता, प्रत्युत सदाके लिए बच्चोके दिमागमें साम्प्रदायिकताके बीज बो देता है। इसलिए अपनी पाठ्य पुल्स्तकोसे यदि हम हिन्दू और मुसलमान जातिका ही वहिष्कार कर सकें, तो साम्प्रदायिक सौहार्दमें वडा योगदान कर सकते है।

अतत सच्चा साम्प्रदायिक सौहार्द तभी स्थापित हो सकता है, जब कि हम उन सामाजिक उद्देश्योकी ओर अग्रसर हो जिनकी प्राप्तिके लिए हम विना जाति, वर्ण या सम्प्रदायके भेदके समान रूपसे प्रयत्न कर सकें।



को, दो भाग वैश्य जातीय पत्नीके पुत्रको तथा एक भाग शूद्रा पत्नीके पुत्रको दिया जाना चाहिये ।

स्मृतिकारो द्वारा निन्दित ठहराये जानेके वावजूद भी विभिन्न वर्णोंके मध्य युग तक वैवाहिक सवध होते रहे । प्राचीन साहित्यमें और शिलालेखोमे इनके अनेक उदाहरण मिलते है । दूसरी श० ई० पू० में मौर्योंके उत्तराधिकारी शुगवशी व्राह्मण थे । कालिदासने मालविकाग्नि मित्र नामक नाटकमें व्राह्मण पुष्यमित्रके पुत्र अग्निमित्रका विवाह विदर्भके क्षत्रिय राजा यज्ञसेनकी कन्या मालविकासे कराया है। वाकाटक राजा व्राह्मण थे, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीयकी पुत्री प्रभावती गुप्ता वाकाटकवशी रुद्रसेन द्वितीय (३९५ ई०) की मुख्य रानी हुई । वाकाटक वशी राजा देवसेनके मंत्री सोम नामक व्राह्मणने एक व्राह्मणी तथा एक क्षत्रिया स्त्रीके साथ पाणिग्रहण किया ।

सातवी शती ई० में यद्यपि मुआन च्वांगने लिखा है कि भारतीय अपनी जातिके अन्दर विवाह करते है, पर उस समयमें तथा उसके वाद भी वर्णान्तर विवाहोंके अनेक उदाहरण मिलते है । वाणने हर्षचरितके प्रथम उच्छ्वासके अन्तमें अपने पारशव अर्थात् व्राह्मण पिताके द्वारा शूद्रा स्त्रीसे उत्पन्न चन्द्रसेन तथा भ्रातृसेन नामक दो भाइयों का उल्लेख किया है । हर्षकी वहिन राज्यश्री वैश्यजातीय थी, पर उसका विवाह मैखरीवंशके राजा ग्रहवर्णसे हुआ । दसवी शतीके प्रारम्भमें मायावट व्राह्मण तथा संस्कृतके प्रसिद्ध कवि राजशेखरने चौहानकुलकी गुणवती कन्या अवनिसुन्दरीसे परिणय किया । ९७७ई० का आटपुरका अभिलेख यह वताता है कि गुहिल वंशके सस्थापक गुहदत्र व्राह्मण के वंशज भ्रातृपुत्रने राष्ट्रकूट राज कन्यासे शादी की । विजयनगरके राजा वुक्क प्रथम (१२६८–१२९८) की कन्या निरूपादेवीका विवाह आरग प्रान्तके शासक व्रह्म या वोमन्न वोडेय नामक व्राह्मणसे हुआ था । इससे यह स्पष्ट है कि १३ वी शताव्दी तक विभिन्न वर्णोंके लोगोमें परस्पर विवाह होते थे ।

किन्तु १३ वी शती ई० से निवन्धकारोने असवर्ण विवाहको कलिवर्ज्य अर्थात् कलियुगमें न किया जानेवाला कार्य कहा और इसका निषेध किया । स्मृतिचन्द्रिका (१२००–१५२५) ने इसकी पहले पहल चर्चा की। हेमाद्रि (१२६०–७७) ने चतुर्वर्ग चिन्तामणिमें इन विवाहोंका विरोध किया । वादमें पराशरमाधवीय (१३००–१३८०), रघुनन्दन (१२२०–७५) तथा कमलाकर भट्टने (१६१०–४०) भी इसे कलिवर्ज्य समझा। इन सव निवन्धकारो का आधार वृहन्नारदीय और आदित्य पुराणके कुछ वचन है। इसके वाद अपने वर्ण, जाति और उपजातिमें ही विवाहका नियम हिन्दू समाजमें सार्वभौम हो गया ।

जातीय उच्चता तथा ,अभिमानके अतिरिक्त मध्ययुगमें सतजातीय विवाहोको इस वातसे भी प्रोत्साहन मिला कि उस संकटपूर्ण युगमें शास्त्रकारोने इसलामसे हिन्दू धर्मकी रक्षाके लिये वर्ण व्यवस्था और जातपाँतके वन्धनोको कठोर वनाना शुरू किया । मुसलमानोंके साथ जिन हिन्दुओका कुछ भी सम्पर्क हुआ, उन्हें जाति वहिष्कृत करना शुरू किया और जव इनकी पर्याप्त संख्या होती थी—तो इनकी एक अलग जाति वन जाती थी । कुछ उदाहरणोसे यह वात स्पष्ट हो जायगी । जाटोका एक भेद दरवारी जाट कहलाता है । रोजने इनके उद्भवकी एक मनोरजक कथा दी है । एक वार वादशाह अकवर शिकारके लिये निकले । उनकी फौज अकस्मात् एक कुँए

के पास आ निकली। वहाँ एक जाटिनी सिरपर पानी का घडा लिये खडी थी और उसके एक तरफ भैंस और दूसरी ओर वछडा था। फौजसे भैंस और वछड़ा विदकने लगे। किन्तु जाटिनीने वडी हिम्मतसे एक हाथसे भैंसका एक सीग पकड़ा, दूसरेसे सिरपर पानीके घडेको सँभाला और वछडेको उसकी रस्सीपर पाँव रखकर नियन्त्रित किया। अकवर जाटिनीका यह पौरुष और शौर्य देखकर विस्मित रह गया और उसने कहा कि ऐसी औरततो वहादुरोकी माँ होनी चाहिये। वादमें उसने उस जाटनीसे विवाह कर लिया, उसके सवधियोको मुगल दरवारमें ऊँची प्रतिष्ठा मिली और वे दरवारी जाट कहलाये। इन्होने अपनेको ऊँचा समझना शुरू किया और जाटोके अन्य वर्गोंको अपनी लड़की देना बन्द कर दिया। इस प्रकार जाट विवाहकी दृष्टिसे कई अन्य जातियो में वँटने लगे। अग्रवालो में राजसाही भेद इसी प्रकार शुरू हुआ। इनके पूर्वजोको मुगल दरवारमें वडी प्रतिष्ठा मिली थी, मुसलमानोके साथ सम्पर्क होनेसे ये अन्य अग्रवालो से शादी-व्याह की दृष्टिसे पृथक् वर्ग वन गये। वगालमें यह किम्वदन्ती प्रसिद्ध है कि ठाकुर अथवा टैगोर ब्राह्मणोके एक पूर्वज मुस्लिम वादशाहके यहाँ दरवारमें ऊँचे पदपर थे, एक वार उन्होने वादशाहको यह कहा कि आज उनके यहाँ गोश्त वडा स्वादिप्ट वना है, जव वादशाहने उनसे पूछा कि यह कैसे पता लगा, क्या उन्होने इसे खाया, तो उत्तर मिल, नही, इसकी गन्ध उन्हें वहुत अच्छी लगी थी, इससे उन्हें इसके लजीज होनेका परिचय मिला। दूसरे ब्राह्मणोने सूँघनेको आधा खाना (घ्राणमर्ध भोजनम्) मानते हुए उन्हें अपने वर्गसे वहिष्कृत कर दिया और इस प्रकार शादी-व्याह और खानपानकी दृष्टिसे उनकी एक पृथक् उपजाति वनी। इसमें कोई सदेह नही कि उपर्युक्त कथाओमें कल्पना और गप्पका अश वहुत अधिक है, पर यह एक निर्विवाद तथ्य है कि मुस्लिम सम्पर्क कुछ हद तक हिन्दुओमें जाति भेद वढानेमें सहायक सिद्ध हुआ।

इसके अतिरिक्त मध्य कालमें आवागमनके साधनोके अधिक विकास होनेसे लोगो की परम्पराओ, रूढियो रहन-सहन, रीति-रिवाज, भाषा आदिमें अन्तर वढने लगा। अपनी जातिसे वाहर रीतिरिवाजोकी विभिन्नताके कारण पत्नीको वडा कष्ट उठाना पड़ता था, वह सर्वथा नये वातावरणमें होनेके कारण वडे कष्ट और प्रयत्नसे अपनेको उसके अनुकूल वना पाती थी, अत उस समय यह अच्छा समझा गया कि अपनी ही जाति या उपजातिमें विवाह हो।

हिन्दू समाजमे सजातीय विवाह नियमके कारण अनेक भीषण दुष्परिणाम उत्पन्न हो गये है। पहला दुष्परिणाम यह है कि इससे वर-वधूके चुनावका क्षेत्र वहुत छोटा और सकुचित हो गया है। डा० भगवानदासजी ने लिखा है कि अवधके ज़िलोमें पच-गौडान्तर्गत सरयूपारीण, द्विवेदी और त्रिपाठी पक्ति पावन ब्राह्मणोमे विवाह सवध योग्य व्यक्ति इतने कम रह गये है कि अव सगोत्र विवाह होने लगा है और केवल दूधका वचाव किया जाता है अर्थात् एक माँका दूध पीनेवाले भाई-वहिनमें विवाह नही होता, शेप सवधियोमें विवाह होते है। (पुरुपार्थ पृ० ४६०–१) छपराके सनाढ्य ब्राह्मणोकी भी यही स्थिति है, कई उप जातियाँ इतनी छोटी है कि उनमें केवल आठ व्यक्ति है।

विवाह योग्य व्यक्तियो की सख्या कम होने के कारण दहेज और वेमेल विवाहोकी कुरीतियाँ समाजमें खूव वढ रही है। कन्याका विवाह तो हिन्दू समाजमें रोका नही

जा सकता, वह अवश्य करणीय कर्त्तव्य है। किन्तु साथ ही उसके लिये वर अपनी जातिसे बाहर नही ढूँढ़ा जा सकता, अत अपने वर्ग तक सीमित लड़कोके साथ ही शादी करनी पड़ती है। लड़के कम है और उन्हें चाहनेवाले अधिक है, इस स्थितिमें लडकोकी माँग अधिक होनेसे अर्थशास्त्रके माँग-पूर्त्तिके सुप्रसिद्ध नियमके अनुसार लडकोका मूल्य बढ़ जाता है। लड़कोके माता-पिता लडकियोके मातापिताकी लाचारी खूब जानते है, अत. दहेजके लिये बड़ी-बड़ी रकमें माँगते है।

इस दशामें कन्याके माता-पिताके सामने दो ही विकल्प होते हैं—या तो वे भारी कर्ज़ लेकर कन्याका विवाह करें या फिर ऐसे किसी धनी वृद्धके साथ अपनी लड़कीका व्याह करें, जो दहेज कम माँगता हो या न माँगता हो। पहली दशामें वे जीवन-भर के कर्जदार वन जाते है, उनकी आयु ऋण उतारते-उतारते समाप्त हो जाती है और दूसरी अवस्थामें वे जान-बूझकर अपनी लड़कीको कुँएमें धकेलते है।

किन्तु इसके सिवाय उनके पास चारा भी क्या है? दहेज देनेकी शक्ति नही है और लडकीको क्वाँरी रखा नही जा सकता। माता-पिता बूढ़े ऊँटके गलेमें बकरी बाँधकर भले ही इस वातसे संतोप करलें कि उन्होने कन्याविवाहके धार्मिक कर्त्तव्यका पालन कर लिया है पर वस्तुतः वे अपने गलेसे वला टालते है। पर वे यह भूल जाते हैं या जानते हुए भी उसकी उपेक्षा करते हैं कि उन्होने कन्याके गलेमें वृद्ध पतिकी फाँसी डाल दी है। अव उस कन्याके लिए रोनेके सिवाय और कुछ नही रहता। जो कन्यायें कुछ हिम्मत रखती है, वे स्नेह लताकी भाँति आत्महत्या कर अपने तथा अपने माता-पिताके कष्टोका अन्त करती है।

वाल-विवाहकी बुराईको भी इससे वहुत प्रोत्साहन मिलता है। कन्याके माता-पिता यह चाहते है कि वह किसी वरके साथ जल्दीसे जल्दी अपनी लड़कीको व्याह दें। वे लड़कोंके माता-पिताके पास पहले पहुँचनेका यत्न करते है और उनकी यह कोशिश रहती है कि शादी जितनी जल्दी हो सके, अच्छा है। यदि शादी देर तक टाली गई तो सम्भव है, कि लड़केको कोई दूसरा अधिक दहेज देनेवाला मिल जाय या अधिक योग्य कन्या मिल जाय। अत कन्याके पिताका प्रयत्न यही होता है कि विवाह शीघ्र हो जाय। इससे वाल-विवाहोकी संख्या वढती है और समाजको इससे वड़ी हानि पहुँचती है। छोटी आयुमें विवाह होनेसे कन्याको मातृत्वका वोझ अपने शारीरिक विकासके पूर्ण होनेसे पहले ही उठाना पड़ता है, इससे वह प्रसूतिमें नाना व्याधियोका शिकार वनती है, उसकी सन्तान निर्वल होती है, जातीय ह्रासको प्रोत्साहन मिलता है, वृद्धोके साथ अनमेल विवाहोमें उसके शीघ्र विधवा होनेकी संभावना रहती है और हिन्दू समाज केवल इन वाल-विधवाओंके उत्पादन सामर्थ्य से वंचित होकर अपनी जातीय क्षीणता करता है। किन्तु इन वाल-विधवाओंके वाधित वैधव्यसे समाजमें अनैतिकता, दुराचार, भ्रूण हत्या और गर्भपातोकी संख्यामें वृद्धि होती है।

जातियाँ छोटी होनेसे कई बार युवकोको जवर्दस्ती अविवाहित रहना पडता है। इस दशामें ये युवक अन्य स्त्रियोंसे अनुचित संवध रखते हैं, इन युवकोंके लिये स्त्रियाँ भगा कर लायी जाती हैं और इस तरह समाजमें व्यभिचारकी मात्रा वढ़ती है, स्त्रियोको वेचने, वदला करने और किरायेपर अस्थायी पत्नियोके तौरपर रखनेके समाज-विरोधी तथा घृणित रिवाज़ चल पड़ते है।

जब कन्याओंके विवाहमें सजातीय विवाहके नियमके कारण इतनी कठिनाई हो तो उनकी उपेक्षा होना स्वाभाविक है। इसी कारण पहले हमारे समाजमें कन्यावध की दूषित परिपाटी प्रचलित थी। अब यद्यपि वह बन्द हो गई है, किन्तु कन्याओंके साथ बुरा वर्ताव नहीं बन्द हुआ। हिन्दू समाजमें कन्याओंकी दुर्दशाका प्रधान कारण कन्याके लिये वर ढूंढने तथा दहेज जुटाने तथा जँवाईको सतुष्ट रखनेकी कठिनाइयाँ हैं। कन्या पैदा होते ही घरमें जो शोककी लहर दौड जाती है, उसका मुख्य हेतु कन्याकी विवाह विषयक चिन्ता होती है और इसका प्रधान कारण सजातीय विवाहका कठोर बन्धन है।

सबसे बडी हानि यह है कि यह जातीय एकता, सघटन, सामूहिक चेतना तथा राष्ट्रीय एकानुभूतिका सबसे बड़ा बाधक है। जब तक सजातीय विवाहका नियम है, सब जातियाँ अपने को पृथक् पृथक् समझती रहेंगी, वे अपने वैयक्तिक हितो तथा स्वार्थोंकी अधिक चिन्ता करेंगी। राष्ट्रीय हित अथवा राष्ट्रीय एकताकी कोई परवाह न करेंगी, जातीयता के विषका बीज हमारे यहाँ पनपता रहेगा और सामाजिक सगठन तथा एकताको पुष्ट न होने देगा। डा० भगवानदासजीने यह सत्य ही लिखा है कि "हम आत्म सन्तोषके लिये भले ही यह दावा करें कि भारतमें हिन्दुओंकी बहुसख्या है, किन्तु यह दावा बिल्कुल थोथा और गलत है। वास्तवमें हिन्दू समाज आपसमें लडते हुए अल्प संख्यक समुदायो का—कोई तीन हज़ार जातियो और उपजातियोका—जो सब भोजन और विवाहके विषयमें एक-दूसरेको अस्पृश्य समझती हैं—एक प्रतिक्षण विशीर्णकाय ढेर है।" निरन्तर क्षीण होते हुए भी हम आपसके जातिभेदोको नही भूलते। सगठित होकर उन्नतिके लिये यत्न नही करते। हिन्दू जातिके विभिन्न वर्गोंमें सौहार्द उत्पन्न करनेके लिये और उन्हें एक सूत्रमें ग्रथित करनेके लिये अन्तर्जातीय विवाहोका प्रारम्भ करना अत्यन्त आवश्यक है।

आधुनिक युगमें पिछली शताब्दीमें जब हमारे देशमें नव जागरण आरम्भ हुआ और समाज-सुधार आन्दोलन आरम्भ हुए तो अन्तर्जातीय विवाहोकी ओर विशेष ध्यान दिया गया। ब्राह्म समाज, तथा आर्य समाजके सुधार कार्यक्रमोमें जाति भेद का विनाश और अन्तर्जातीय विवाह एक महत्वपूर्ण अग थे। ब्राह्म समाजियोने अपने अनुयायियोमें अन्तर्जातीय विवाहोको वैध करानेके लिये १८७२ का विशेष विवाह-कानून पास कराया। कांग्रेसके अधिवेशनोंके साथ होनेवाली समाज-सुधार परिषदोके प्रस्तावोमें इसपर बहुत बल दिया जाता रहा। उत्तर भारतमें जातपात-तोड़क-मण्डल तथा अन्य सुधार करने वाली संस्थाओने इन विवाहोको प्रोत्साहित किया।

पर इसमें सबसे बडी बाधा कानूनी थी। वर्तमान न्यायालय प्राचीन शास्त्रोका अनुसरण करते हुए अनुलोम विवाहोको वैध मानते थे पर प्रतिलोम विवाहोको अवैध माना जाता था अर्थात् ऐसे विवाहोमे स्त्री पतिसे गुज़ारेकी माँग नहीं कर सकती थी, उसके पुत्रोको पिताकी सम्पत्तिमें कोई अधिकार नही मिल सकता था। इससे स्त्रियो तथा बच्चोके साथ किस प्रकार घोर अन्याय होता था, यह निम्न लिखित उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। बम्बई हाईकोर्टके सामने आये एक मुकद्दमेंमे १६ वर्षकी एक लडकी काशीने अपनेसे हीन जातिके जमनादास नामक युवकसे शादी की। २५ वर्ष तक दोनो साथ रहे,

इनके आठ बच्चे हुए, इसके बाद पतिने पत्नीको छोड़ दिया। हिन्दू स्त्री होनेसे संकोचवश ६ वर्ष तक वह अदालतमें नही गयी किन्तु अन्तमें बुढ़ापे और भूखसे तग आकर उसने गुजारा पानेके लिये अदालतमें आवेदनपत्र दिया। बम्बई हाईकोर्टने यह फैसला दिया कि वधू ब्राह्मणी है और वर शूद्र। हिन्दू कानूनके अनुसार प्रतिलोम होनेके कारण यह विवाह जायज़ नही, अत काशीको जमनादाससे गुज़ारा पानेका कोई अधिकार नही है। पच्चीस वर्ष तक इकट्ठा रहनेके बाद भी अदालतने शास्त्रीय आधारपर उन्हें पति-पत्नी स्वीकार करनेसे इन्कार किया, पत्नीको कोई सरक्षण नही प्रदान किया, इससे अधिक क्रूर उपहास की क्या बात हो सकती थी?

हिन्दू-कानूनके इस दोपको सुधारनेके लिये सर्वप्रथम श्री विट्ठल भाई पटेलने अन्तर्जातीय विवाहोको वैध बनानेका एक प्रस्ताव १६१८में केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिपद्में प्रस्तुत किया। इसके पेश होते ही रूढ़िप्रिय, अनुदार कट्टरपंथी हिन्दुओने इसका घोर विरोध किया। एक कट्टरपथीके शब्दोमें "यह बिल जाति-बन्धनको टुकड़े-टुकड़े कर देनेवाला और उन कुकर्मियोंके सुभीतेके लिये है, जो हिन्दू-परिवारकी प्रत्येक पवित्र और प्रिय वस्तुको पाँव तले रौंदना चाहते है, जो दुराचार व आवारागर्दीका जीवन बिताना चाहते हैं।" इन शब्दोमें विरोधकी उग्रताका अनुमान किया जा सकता है। तीव्र विरोधके कारण यह बिल नही पास हो सका। इसके १६ वर्ष बाद २८ जनवरी १६३७ को डा० भगवानदासजीने केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिपद्में श्री पटेलवाला बिल पुन उपस्थित किया। उन्होने इसके समर्थनमें प्रबल शास्त्रीय प्रमाण रखे, किन्तु यह सब अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ। १६३७ ई० में श्री घनश्यामसिंहजी गुप्तके प्रयत्नसे आर्य-विवाह-वैधता क़ानून पास हुआ। आर्य समाज प्रारम्भसे जातिभेद तथा सजातीय विवाहोका विरोधी था, आर्यसमाजियोमें ऐसे अन्तर्जातीय विवाह होते थे, बम्बई हाईकोर्टके उपर्युक्त निर्णय के अनुसार प्रतिलोम विवाह अवैध थे। आर्यसमाजियोमें किये गये इन विवाहोको वैध बनानेके लिये यह कानून पास किया गया।

किन्तु अभी तक ब्राह्मसमाजियो तथा आर्यसामाजियोके अतिरिक्त शेप हिन्दूसमाजमें अन्तर्जातीय विवाह वैध नही थे। आर्यसमाज, कांग्रेस तथा विभिन्न समाजसुधार-आन्दोलनोंके कारण अन्तर्जातीय विवाहोकी संख्या बढ़ रही थी। राजनैतिक क्षेत्रमें इस प्रकारका एक प्रतिलोम विवाह वैश्यजातीय महात्मागांधीजीके एक पुत्रका ब्राह्मण-जातीय चक्रवर्ती राजगोपालाचारिकी एक पुत्रीके साथ था। इस प्रकारके विवाहोंके बढनेके साथ इन्हें वैध बनानेका आन्दोलन प्रबल हुआ और श्री ठाकुरदास भार्गवके प्रयत्नो से १६४६ का हिन्दू-विवाह-वैधता कानून पास हुआ। इस क़ानूनकी तीसरी धारा का स्वरूप इस प्रकार है—"इस समय लागू होनेवाले हिन्दू कानूनके किसी ग्रंथ, नियम या व्याख्याके अथवा किसी रूढ़ि और रिवाजके होते हुए भी हिन्दुओमें कोई विवाह केवल इस कारण अवैध नही समझा जायगा कि उसमें वर-वधू विभिन्न धर्मो, जातियो या सम्प्रदायोंसे संबंध रखते थे।" यह क़ानून अनुलोम, प्रतिलोम, दोनों प्रकारके विवाहोको वैध बनाता है। इस क़ानूनने असवर्ण विवाहके शास्त्रीय नियमको बिल्कुल विलुप्त कर दिया है। यह रूढ़िवादपर सुधारवादकी विजयका प्रतीक है। यह कानून भविष्यमें होनेवाले विवाहोको ही वैध नही बनाता अपितु इस क़ानूनके पास होनेसे पहले

किये गये विवाहोको भी जायज बनाता है। नि सदेह वर्तमान युगमें हिन्दू विवाहके क्षेत्रमें यह वडा क्रातिकारी और महत्वपूर्ण कानून है। १९५५ के हिन्दूविवाह कानूनमें इस कानूनको सम्मिलित कर लिया गया है।

वर्तमान कालमें हिन्दू समाजमें जाति भेदकी प्रथाका विघटन करनेवाली अनेक प्रवृत्तियाँ अन्तर्जातीय विवाहोके प्रोत्साहनमें सहायक सिद्ध हो रही हैं। औद्योगिक क्राति, मशीनो द्वारा कारखानोमें वृहत् परिणाममें वस्तुओका उत्पादन, व्यापारके विकास, रेल, तथा आवागमनके अन्य साधनोके अभूतपूर्व विकाससे पुरानी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थामें महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। गाँवोमें पुराने उद्योगोकी समाप्तिसे पुराने पेशोका अन्त हो रहा है। वकालत, डाक्टरी आदिके नये पेशे वढ रहे हैं। इससे वृत्ति, धन्धे अथवा व्यवसायके आधारपर वनी पुरानी जातियोका प्रभाव और महत्व कम हो रहा है। रेलगाडियोमें, होटलोमें तथा वडे शहरोकी भीडभाड़वाली सडकोपर जातीय शुद्धि और पवित्रताके नियमोकी रक्षा सभव नही है। स्वतन्त्रताप्राप्तिके वाद हमारे देशके नये सविधानमें सव नागरिकोके समान अधिकार स्वीकार किये गये हैं। काग्रेस का लक्ष्य वर्गहीन समाजका निर्माण है। जाति-भेद प्रथाको पुष्ट करनेवाली अस्पृश्यता का १९५५के अस्पृश्यता-अपराध-कानून द्वारा कानूनी तौरपर उन्मूलन हो चुका है। जाति-सूचक पदोको अपने नामोंके पीछे लगाना वुरा समझा जाने लगा है और हटाया जाने लगा है। ऐसी दशामें जाति-भेदके आधारपर किये जानेवाले सजातीय विवाहके नियमके पालनमें भविष्यमें पर्याप्त शिथिलताकी तथा अन्तर्जातीय विवाहोकी वृद्धिकी पूरी सभावना है। नि सदेह यह हमारे समाजके उज्ज्वल भविष्यका सूचक है।

—— ० ——

श्रीसत्यपाल शास्त्री

दहेज का पाप

दहेजकी प्रथा हमारे सामाजिक और पारिवारिक जीवनको घुनकी तरह खाये जा रही है। यह कहना कठिन है कि उसका प्रारंभ कब और क्यो हुआ? ऐसा विवेचन किसी भी सामाजिक बुराईके संबंधमें करना कठिन है। सच कहा जाए, तो इस ऐतिहासिक विवेचनकी ऐसी कोई आवश्यकता भी नही, क्योकि किसी भी बुराईका समर्थन केवल इसलिए नही किया जा सकता कि वह बहुत पुरानी है अथवा उसका प्रारंभ किसी ऊँचे आशय अथवा किसी सद्भावनासे किया गया था। देखना तो यह है कि आज समाजको उसका क्या दुष्परिणाम भोगना पड़ रहा है।

ऐसा लगता है कि विवाह संस्कारके समय किये जाने वाले कन्यादानकी प्रथाने दहेज की कुप्रथाको जन्म दिया होगा, क्योकि अकेली कन्याका "दान" कोई अर्थ नही रखता। जब तक "दान" को साज-सँवारकर न दिया जाए, तब तक उसकी ठीक-ठीक क़ीमत नही आँकी जा सकती। कन्यादानके साथ गोदानको जोड़नेसे दहेजके जो बीज विवाह-संस्कार में विद्यमान रहते है, उन्होने सामाजिक व्यवस्था के अस्त-व्यस्त होनेपर वट-वृक्षका-सा रूप धारण कर लिया है। उस गोदानकी ही वे शाखा-प्रशाखाएँ है, जिन्होंने दहेजके नामसे नाना रूप धारण कर लिये है। गोदानके स्थानपर आजकल प्रायः निश्चित धनराशि अथवा सोनेकी अंगूठी आदि दे दी जाती है और गौ खरीदनेकी बात कहदी जाती है। न कोई गौ खरीदता है और न कोई गौ पालता है। बड़े-बड़े शहरोमें तो नगरपालिकाओ की ओरसे ऐसे प्रतिबंध लगे हुए है कि वहाँ साधारणत गौ नही रखी जा सकती। जहाँ रहनेके लिए घर मिलना एक समस्या बन गया है, वहाँ गौ रखनेके लिए स्थान कहाँ मिल सकता है? फिर भी गोदान किया जाता है और गोदानकी इस भावनाने ही दहेजकी कुप्रथाका भयानक रूप धारण कर लिया है। कन्यादान और गोदान दोनो मिलकर समाजके लिए इतने भारी बन गये है कि वे उसकी समामर्थ्यसे बाहर हो गये है। विवाह संसकारमें वैदिक मर्यादाकी लकीर पीटनेवाले भी आँखें खोलकर यह नही देखना चाहते कि कन्यादान और गोदानका प्रतिपादन किसी भी वेदमंत्रमें नही किया गया। स्मृति ग्रथोमें उसका उल्लेख मिलता है, किंतु स्मृति ग्रंथ वैदिक आचार-विचारके आधारभूत ग्रंथ नही हैं। वे तो समय विशेषकी सामाजिक व्यवस्था के निर्देशक हैं। मनु, याज्ञवल्क्य अथवा पाराशर ने अपने-अपने समयकी सामाजिक व्यवस्थाके लिए जो नियम अथवा विधान बनाये थे, वे उनके दिनोमें लागू हो सकते थे। आज भी उन्हें लागू रखनेका आग्रह करना वैदिक

मर्यादाका पालन करना नही माना जा सकता। स्मृतिकारोकी व्यवस्था उनके अपने समयकी व्यवस्था हो सकती हैं। वह वेदकालीन नही है और उसे वैदिक मर्यादाका अंग नही माना जा सकता। इसलिए हमारी मान्यता यह है कि कन्यादान और गोदान न तो वेद प्रतिपादित हैं और न वैदिक मर्यादाका अनिवार्य अंग है। यह स्पष्ट है कि कन्यादान और गोदानकी भावनाके गर्भमेंसे ही दहेजकी कुप्रथाका जन्म हुआ है।

हमारे समाजमें विद्यमान अनेक सामाजिक, विशेपत वैवाहिक, कुप्रथाएँ ब्राह्मण धर्मकी देन हैं। ब्राह्मणधर्मसे हमारा अभिप्राय उस धर्मसे है, जिस पर ब्राह्मण वर्गका एकाधिपत्य था और उनके मुहसे निकले वाक्यको बाबा वाक्यकी तरह प्रमाण माना जाता था। वे श्रुति और स्मृतिके नामसे जो कुछ भी कह देते थे, वह धार्मिक व्यवस्था मानली जाती थी। समाज आँखें मूदकर उसे माननेके लिए बाध्य होता था। स्त्री और शूद्रके प्रति समस्त हीन भावनाओका प्रारभ उनके ही द्वारा किया गया। शासक वर्ग सदा ही भेद नीतिसे काम लेता है। जब समाजपर ब्राह्मण वर्गका धार्मिक शासन कायम हुआ, तब स्त्री और शूद्रको हीन ठहराकर भेदनीतिसे काम लिया गया। स्त्रीको हीन ठहराकर ही ब्राह्मणोने घर-घरमें अपना वर्चस्व कायम किया, क्योकि हीन ठहराई गई स्त्री अपने व्यक्तित्व, अस्तित्व और महत्वके लिए एक मात्र ब्राह्मणोपर निर्भर रह गई। आज भी हमारे समाजकी बहुत-कुछ ऐसी ही स्थिति है। पडो, पुजारियो, पुरोहितो आदिका प्रपच और मायाजाल पुरुपोकी अपेक्षा अधिकतर स्त्रियोके ही सहारे चलता है। दयनीय स्थिति यह है कि जिस धर्म और धर्माचार्योने स्त्रीको नितात दीन-हीन स्थिति में डाल दिया, वे ही उनका आश्रय बनी हुई है और उनके ही सहारे धर्म और धर्माचार्य दोनो फूलते-फलते हैं। स्त्रीकी हीनता असहाय स्थितिकी इस चरम सीमा तक पहुँच गई कि उसने अपनेको पतनकी गहरी खाईमें धकेलनेवालेको ही अपना सरक्षक मान लिया है। जब एक बार कन्या, स्त्री अथवा महिलाको दीन-हीन स्थितिमें डाल दिया गया, तब यह आवश्यक हो गया कि अन्य साधनोसे समाजमें उसकी कीमत अथवा महत्व बढाया जाए। शिक्षासे उसे वचित कर दिया गया और शिक्षाके माध्यमसे उसकी कीमत अथवा महत्व बढाना सभव न रहा था। बाल-विवाहके रहते उसके लिए शिक्षा प्राप्त कर सकना सभव ही न रहा था। इसलिये केवल भौतिक पदार्थ कपडा, गहना और अन्य धन सपदा ही ऐसे पदार्थ रह गये थे, जो उसकी कीमत अथवा महत्व बढा सकते थे। एक कन्या पिताके घरसे ससुराल जाए और वहाँ उसका मान-सम्मान हो, ऐसी भावना प्रत्येक माता-पितामें अपनी पुत्रीके लिए होना स्वाभाविक है और यह तभी हो सकता था, जब उसके साथ ऐसे भौतिक पदार्थ अधिकसे अधिक मात्रामें दिये जाएँ। इस मान-सम्मानकी भावनासे कन्याको स्वाभाविक रूपसे जो-कुछ भी दिया गया, वह अतमें एक बंधन बन गया और वह बधन भी ऐसा बना कि उसके लिए न केवल माँग, अपितु शर्तें भी पेश की जाने लगी।

हिन्दू समाजमें कन्याए सदाही एक भार समझी जाती रही। उनके लिए उस घरमें कोई स्थान न रहना, जहाँ वे जन्म लेती है, एक भयानक सामाजिक अभिशाप है। कहा जा सकता है कि यदि कन्या दूसरे घरमें न जाए, तो समाजका काम कैसे चले? परन्तु इसका अर्थ यह नही समझा जाना चाहिए कि वह पशुओकी तरह दूसरे घरकी सपत्ति

मान ली जाए और अपने मायकेके साथ उसका कोई संबंध ही न रहे । वह एक माध्यम होनी चाहिए दो परिवारोको मिलानेकी। विवाह सस्कार द्वारा दो व्यक्तियोका ही नही, अपितु दो परिवारोका मिलन होना चाहिए । परंतु ऐसा नही होता । दो परिवार एक नही बनते, अपितु वर पक्ष कन्यापक्षपर चढाई करके कन्याका अपहरण करता है और उसे सदाके लिए अपने उपभोगकी वस्तु मान बैठता है । बरात लेकर जाना ऐसा ही है, जैसे सेना लेकर किसी पर चढाई करने जाना हो । पुरुषमें पति होनेका जो झूठा अभिमान घर कर गया है, वही अभिमान कुछ छिपा हुआ बरात ले जानेमें भी विद्यमान है । तभी तो वर पक्ष कन्या पक्ष से शिष्टाचारकी सीमाका उल्लघनकरके भी अपनी आवभगत और आतिथ्यसत्कार करवानेकी इच्छा रखता है और उसके लिए भी तरह-तरहकी शर्त्तें पेश की जाती है । हम यहाँ वर यात्रा और विवाह संस्कारके साथ जुडी हुई अन्य कुप्रथाओके विस्तारमे नही जाना चाहते । हम केवल इतना ही दिखाना चाहते हैं कि कन्या पक्षको हीन मानकर वर पक्ष अपना जो प्रभुत्व अथवा वर्त्ताव उसपर कायम करना चाहता है, वह हमारी अनेक सामाजिक बुराइयोका मूल कारण है । "वर" को राजा कहकर जब कन्यापक्षके यहाँ पहुँचाया जाता है, तब उस राजाका यथोचित मान-सम्मान होना ही चाहिए और उस मान-सम्मानमें वह सब सामान सम्मिलित है, जिसे दान मान लिया गया है । उसका सम्मान और स्वागत-सत्कार कन्या-पक्षकी सामर्थ्य पर निर्भर न रहकर "राजा" की मान-प्रतिष्ठाका प्रश्न बन जाता है । दान कम हुआ कि उसकी नाक कट जाती है और यह समझा जाता है कि कन्यापक्ष वालोने उसे अपने यहांसे अपमानित करके भेजा है । इसलिए उस अपमानको टालनेके लिए अब मनमाना दान माँगने और उसके लिए शर्त्तें पेश करनेमें कुछ भी संकोच नही किया जाता अपितु वैसा करना अपना अधिकार माना जाता है। अधिकारकी कोई सीमा नही रहती । इसलिए दानकी माँग सीमा पार कर गयी है। आश्चर्य यह देखकर होता है कि दान या दहेज भी विशुद्ध व्यापार बन गया है और इस व्यापारको चलानेवाले दलालोकी श्रेणी भी समाजमें पैदा हो गई है ।

दहेजकी यह कुप्रथा प्राय. विना किसी अपवादके भारतके सभी राज्यो, जातियो समाजों और वर्गोमें पाई जाती है । आश्चर्य यह है कि जो समाज या वर्ग अथवा जाति जितनी अधिक सम्पन्न है, उसमें दहेजका उतना ही अधिक प्राबल्य है और उसकी मात्रा भी उतनी ही अधिक है । इतना ही नही वरकी शिक्षा, आमदनी और स्थितिके अनुपात से भी उसमें वृद्धि होती रहती है । कम आमदनीवाला अथवा कम शिक्षित दहेजकी थोड़ी मात्रा से सतुष्ट हो जाता है तो अधिक आमदनी करनेवाला और अधिक शिक्षित उतने ही अधिक दहेजकी माँग करता है और उसके लिए प्राय अड जाता है । दहेजकी मात्राके सामने कन्याकी शिक्षा, उसके गुण अवगुण अथवा रूप रंगको प्राय बिलकुल भी देखा नही जाता । इस दृष्टिसे दहेजके ही कारण समाजमें अनमेल विवाह होकर अनैतिकता को निरंतर आश्रय मिलता रहता है । मैट्रिक पास अथवा १००–१५० कमाने वाला यदि एक हजार से संतुष्ट हो जाता है, तो एफ० ए० पास २००–२५० रुपये वाला ढाई-तीन हज़ारकी और बी० ए० पास ४००–५०० कमानेवाला पांच, दस और १५ हज़ार तककी माँग करनेमें संकोच नही करता । सगाई और विवाहपर नियत रकम

चुकानेके वाद भी पीछा नही छूटता। हर तीज-त्योहारपर वर-पक्षका मुँह भरना ही पडता है और हिन्दू-समाजमें तीन सौ पैंसठ दिनोमें तीन सौ साठ तीज-त्योहार होते ही रहते है, इन सभी पर कन्याके माता-पिताको वर पक्ष और वर महोदयकी आरती और पूजा करनी ही पडती है। तीन-चार लड़कोके पिताका लखपती वन जाना साधारण वात है और तीन-चार कन्याओंके माता-पिताके सिरपर सहसा ही कगाली छा जाती है। सिंधी समाजमें तीन-चार लडकोंके पिताको न कोई नौकरी करनेकी आवश्यकता है और न कोई व्यापार व्यवसाय। लडकोका विवाह उसके लिए सवसे वडा व्यापार होता है और उसीसे वह मालामाल हो जाता है। अपनी ही जातमें अपनी कन्याके विवाहके लिये लाचार होनेसे दहेजको और भी अधिक वढावा मिलता है। जात-पातके सीमित दायरेसे दहेजको वढावा और उत्तेजन मिलता है। जिस समाजमें लडकोकी कमी है, उसमें लडकेवालोकी वन आती है और उनकी मनमानी खूब चलती है।

दहेजकी भीपणता इसीसे प्रकट है कि उसकी माग करनेवालोकी इच्छा और आकाक्षा की कोई सीमा नही रही। रुपया, पैसा, कपडा, गहना, गाडी, मोटर और मकान तक ही यह माँग सीमित नही, अपितु नौकरी दिलाने, व्यापार करवाने, शिक्षाके खर्च और विदेशयात्राके खर्च तककी निर्लज्जतापूर्वक माँग की जाती है। पिछले दिनो दिल्लीका एक समाचार था कि अपने लडकोको कालेजमें प्रवेश दिलानेकी शर्त्त भी दहेजके रूपमें पेश की गई थी, क्योकि कालेजमें प्रवेश मिलना वहुत कठिन हो गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवनकी जो भी कठिनाइयाँ अथवा समस्याएँ सामने आती है, वे सव दहेजके नामपर कन्यापक्षपर लाद दी जाती है। कन्यापक्षसे ऐसी झूठी आशाएँ, मिथ्या आकाक्षाएँ और गलत धारणाएँ वना ली जाती है कि औसतन माता-पिता उन्हें पूरी नही कर सकते। परिणाम यह होता है कि विवाह होते ही "धोखा दिया गया" की भापा का प्रयोग प्रारभ हो जाता है और यह भापा राग, द्वेप, कलह और वैमनस्यका कारण वन जाती हैं। कन्या पर ताने ही नही कसे जाते, अपितु उसके प्रति अत्यन्त कठोर और निर्दय व्यवहार करनेमें भी कुछ उठा नही रखा जाता। वेचारी कन्याओको मारना-पीटना, घरसे निकाल देना, मायके भेजकर वापस न वुलाना और इसी प्रकार का दुर्व्यवहार करना साधारण वात हो गयी है। सास, पति अथवा अन्य ससुरालवालो द्वारा वहूकी नृशस हत्या तकके समाचार पत्रोमें जव तव पढनेको मिल जाते हैं। ऐसी घटनाएँ भी प्राय सुननेमें आती है, जिनमें कन्याओको केवल इसलिए जीवनसे हाथ धोना पड़ता है कि दूसरा विवाह होकर कुछ अच्छा दहेज मिल जायगा, क्योकि लड़कोंके विवाहपर ऐसा कोई प्रतिवध नही है। वे एक पत्नीकी मृत्यु (अपने हाथोकी गई हत्या) के वाद भी वहुत सरलतासे दूसरी और तीसरी शादी कर सकते हैं। हमारा सारा समाज ऐसा निर्लज वन गया है कि वह ऐसे पापीको कोई दड न देकर तुरत पुनर्विवाहकी व्यवस्था कर डालता है। नृशसता और हृदयहीनताकी यह पराकाष्ठा है। साधारण तौरपर समझा जाता है कि दहेजकी कुप्रथा पैसेवालोमें ही अधिक प्रचलित है, परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नही है। मध्य स्थिति और साधारण स्थितिके लोगोमें भी दहेजकी कुप्रथा वुरी तरह घर कर गयी है। आदिवासी, भील, भिलालो आदिमें चरम सीमाकी गरीवी पाई जाती है, किंतु दहेजकी कुप्रथासे वे भी मुक्त नही। उनमें अनेक स्थानोपर लड़की

वाले को कमसेकम १०० रु० तो देना ही होता है और जो नही दे सकता, उसकी लडकी का विवाह होना प्राय: असभव हो जाता है। उड़ीसा और छत्तीसगढमें इसका विशेप ज़ोर है। अन्य गरीव वर्गोमें भी इसी प्रकारकी स्थिति पाई जाती है। कुछ प्रदेशो और जातियोमें कुछ उलटी-सी प्रथा चल पडी है। उनमें लडकीवालोकी अपेक्षा लडके वालोको निश्चित रकम देनी पडती है। इसे आम तौर पर कन्या विक्रय कहा जाता है। जिन प्रदेशोंमें कन्याएँ ससुरालमें आकर खेती-वाड़ी अथवा घर-गृहस्थीके काममें उपजाऊ दृष्टिसे कुछ हाथ वँटा सकती हैं, उनमें उनकी कीमत पैसोमें आँकी जाती है। कुछ पहाडी प्रदेशोमें यह कुप्रथा अधिक पाई जाती है। जिन समाजोमें वृद्ध-विवाहका रिवाज प्रचलित है अथवा कन्याओका विक्रय होता है, उनमें भी पैसा देकर कन्याएँ ली जाती है। इसे भी दहेजका ही रूपांतर समझा जाना चाहिए। परन्तु इस लेखमें हम वर-पक्षकी ओरसे की जाने वाली ज्यादतियोकी ही विशेप रूपसे चर्चा करना चाहते है।

इस कुप्रथाके कारण समाजमें जो अनर्थ छाया हुआ है, वह भी प्राय. प्रति दिन के अनुभवका विपय वन गया है। कितनी ही अनर्थकारी दुर्घटनाओंके समाचार पत्रो में पढने और सुननेको मिल जाते है। एक मध्यम स्थितिका पिता किसी प्रकार दहेजकी कुछ व्यवस्था करता है और वर पक्षके लोग वरात ले आनेके वाद भी दुगुनी-तिगुनी माँग करनेमें संकोच नही करते। उनकी माँग पूरी न की जा सकी, तो वे विवाह किये विना वापस लौटनेमें भी नही शरमाते। कन्याका पिता अपनी किस्मतको कोसकर और माथा ठोककर रह जाता है और उसके दिलपर इतनी गहरी चोट लगती है कि वह वीमारीके विस्तरपर जो पड़ता है, तो फिर उठ नही सकता और कालका ग्रास वनकर सारे परिवार को निराश्रित वनाकर इस संसारसे उठ जाता है। अभी उस दिन ववई विधान-सभा में एक सदस्यने अपने अनुभवकी जो घटना सुनाई, वह कितनी अनर्थकारी है। एक व्यक्तिने अपनी दूसरी कन्याका विवाह किसी प्रकार चार हज़ार रु० दहेज देकर किया, तो चार वर्प पहलेकी विवाहिता उसकी पहली कन्याके ससुरालवाले और पति महोदय इस वुरी तरह विगड़े कि कन्याको यह कहकर घरसे निकाल दिया गया कि चार हज़ार रु० लाओगी, तो घरमें रखा जाएगा। इस प्रकारके हृदयहीन निर्वासनकी जितनी चाहें, उतनी घटनाएँ इकट्ठी की जा सकती है। परिणाम यह है कि घर-घरमें कप्ट, क्लेश, कलह और वैमनस्य छाया हुआ है। सारा समाज इस विद्वेपकी आगमें झुलस रहा है। कितनी ही कन्याएँ जो माता-पिताके इस सतापको सहन नही कर सकती, वे स्नेहलता और हेमप्रभाकी तरह कपड़ोमें आग लगाकर, विप खाकर, कुएँ या नदीमें कूदकर अथवा अन्य किसी प्रकार से आत्महत्या करके समाजके मुखपर कलकका टीका लगा जाती है। कभी तो स्थिति यह थी कि कन्याको एक असह्य भार मानकर जन्मके साथ ही उसका गला घोट दिया जाता था—न रहे वाँस और न वजे वाँसुरीकी कहावत के अनुसार कन्याको अपने निठुर हाथोसे यमलोक पहुँचाकर सारे झंझटसे छुटकारा पा लिया जाता था। यह निर्मम व्यवहार सदियो तक अनेक जातियो और प्रदेशोमें चलता रहा। आज भी कन्याके जन्मको अधिकाश समाजमें अपशकुन माना जाता है और जीवन भर उसके प्रति उपेक्षाका ही व्यवहार किया जाता है।

दहेजका समर्थन करनेवाले प्राय. यह कहते सुने जाते हैं कि कन्याको कुछ तो दिया ही जाना चाहिये और क्या पिताकी संपत्तिमें उसका कुछ भी भाग नही ? यह ठीक है कि कन्याको कुछ मिलना चाहिए, परन्तु वह विवाहके अवसरपर ही वचन अथवा शर्त्त के रूपमे क्यो दिया जाए अथवा माँगा जाए ? उसे देनेके अनेक अवसर, साधन अथवा मार्ग हो सकते हैं। विवाह संस्कारकी मर्यादा अथवा पवित्रताको उससे क्यो नष्ट किया जाता है और क्यो विवाहको एक भार बना दिया जाता है ? कन्या पक्षसे कितना भी धन क्यो न ले लिया जाए, उसके आधारपर वरपक्ष सुखी, सपन्न अथवा निश्चित होता नही देखा गया क्योंकि वर पक्षको भी किसी न किसी कन्याका विवाह तो करना ही होता है और उसके सामने दहेजकी समस्या उसी रूपमें उपस्थित हो जाती है। बहुतसे माता-पिता लडकोंके दहेजसे अपनी पुत्रियोंके विवाहकी व्यवस्था करनेका हिसाव-किताब लगाते देखे गये है, परतु वे सहसा ही यह भूल जाते हैं कि वे अपने पुत्र और बहूको इस प्रकार दुखी बनाकर सारे घरको सदाके लिए दुखी बना देते है। ऐसे पुत्र और बहू बहुत ही कम मिलेंगे, जो स्वेच्छा या दहेजमें मिली सपत्तिका दूसरे के लिए त्याग करनेको तैयार हो। यह जोर-जबर्दस्तीका व्यापार किसी भी घरको सुखी नही रहने देता। अपने हाथोंसे इस संकटको मोल लेनेसे अधिक बडी मूर्खता और क्या हो सकती है ? अब तो कन्याओको पिताकी जायदादमें पुत्रोंके समान हिस्सा पानेका अधिकार कानून द्वारा सम्मत हो गया हैं। इसलिए दहेजके रूपमें चलनेवाला लेन-देन तो सर्वथा बद हो ही जाना चाहिए।

कुछ लोग कानून द्वारा इस प्रथाको वंद कराना चाहते हैं। केवल कानूनको सब बीमारियोका इलाज मानलेना बहुत ही बड़ी भूल है। कानून केवल कुछ अशोमें अनुकूलता पैदा कर सकता है, परन्तु जड मूलसे किसी भी कुप्रथाको नष्ट नही कर सकता। बाल-विवाह और मृतक भोजादिके विरुद्ध बनाये गये कानून इन कुप्रथाओका अत नही कर सके जनताकी भावनाको बदले बिना और विरोधमें लोकमतको जाग्रत किये बिना कानून भी सफल नही हो सकता। फिर भी पजाब और बंबईमें इस कुप्रथाके विरुद्ध कानून बनानेका प्रयत्न किया गया। उन कानूनोके मसविदेमें दहेजपर प्रतिबंध लगानेकी अपेक्षा उसे मर्यादित करनेका ही प्रयत्न किया गया। समझौतेकी इस मनोवृत्तिसे कोई भी सुधार, परिवर्तन अथवा क्राति नही की जा सकती। किसी कुप्रथाको मर्यादामें बाँधना कुछ अशोमें ठीक हो सकता है, परन्तु उस मर्यादाके टूटनेमें अधिक समय नही लगता। इसलिए आवश्यक यही है कि किसी भी कुप्रथाको मर्यादामें बाँधकर संतुष्ट न हुआ जाए और उसे समूल नष्ट करनेके ही प्रयत्न किये जाएँ। क्रातिका यही तकाज़ा है, इसलिए दहेजकी कुप्रथाके नष्ट करनेके लिए आवश्यक है कि कन्याओंके प्रति समाजकी हीनताकी भावनाको जड-मूलसे नष्ट किया जाए। उन्हें भार न मानकर लडको के समान महत्व दिया जाए। उन्हें पालना-पोसना और शिक्षित बनाना निरर्थक न समझा जाए। एक कर्तव्यके रूपमें उनके प्रति अपनी ज़िम्मेवारी पूर्ण की जाए। विवाह-संस्कारमें किये जाने वाले कन्यादान और गोदानकी पद्धतिको सर्वथा समाप्त किया जाए। वह कितनी भी शास्त्रसम्मत क्यो न हो, उसे तुरत बद किया जाए। कन्या के साथ "दान" शब्दका प्रयोग अपमानास्पद और लज्जाजनक समझा जाए। गहने,

कपड़े आदिके सब आडंबर समाप्त किये जाएँ। कन्याके जन्मको पुत्रके जन्मके समान ही माना जाए।

कुछ लोग यह कहते सुने जाते है कि जो कुछ भी दिया जाए, उसका दिखावा नही किया जाना चाहिये। इसका मतलब यह हुआ कि लुक-छिपकर और लोगोंसे अदृश्य रखकर किया गया पाप पाप नही है। दहेज यदि त्याज्य और निंदनीय है, तो छिपाकर देनेसे वह पुण्य नही बन सकता। समाजमें बहुत-सा पाप इस-लिए फैलता चला जाता है कि वह छिपाकर किया जाता है। सच तो यह है कि छिपाव अथवा अंधकारमें ही पाप पनपता और फूलता-फलता है। इसलिए दिखावा न करना दहेजको और भी अधिक बढ़ावा देना है। पापका सर्वांशमें ही अंत होना चाहिए, इस लिए दहेजकी कुप्रथाका अंत भी सर्वांशमें ही किया जाना चाहिए।

कुछ स्थानोपर दहेजके विरुद्ध लोकमत जाग्रत करनेके लिए धरना दिया गया है और वह सफल भी सिद्ध हुआ है। दहेजकी कुप्रथा प्रायः सभी समाजो, जातियो और देशोमें पाई जाती है। पिछले दिनो कान्यकुब्ज समाजमे इसके विरुद्ध लोकमत जाग्रत करनेके लिये स्थान-स्थानपर एक सप्ताहका आयोजन किया गया था। श्रीमती लीलावती मुशीने बबईमें इस सप्ताहके उपलक्षमें की गई सभामें यह सुझाव प्रस्तुत किया था कि लड़कियाँ उन लड़कोंसे विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा करें, जो अथवा जिनके माता-पिता दहेजकी माँग करें। अणुव्रत आदोलनके प्रवर्तक आचार्य तुलसीने भी अणुव्रतोकी प्रतिज्ञामें दहेज न लेने अथवा ठहराव न करनेकी प्रतिज्ञाको सम्मिलित किया है। ऐसी प्रतिज्ञाएँ अथवा धरना आदिके प्रदर्शन लोकमतको जाग्रत करनेके लिये निश्चय ही सहायक हो सकते है और यह एक प्रभावशाली कदम हो सकता है। परंतु इतनेसे ही संतोष करना उचित न होगा।

सौ बातोकी एक बात यह है कि विवाह-संबंधी सारी भ्रांत धारणाएँ एकदम बदली जानी चाहिएँ। कन्याके पितृगृहमें रजस्वला हो जानेको कभी नरकका निमित्त माना जाता था। इसी प्रकार पुत्रकी प्राप्ति नरकसे बचानेके लिए अनिवार्य मानी जाती थी। ऐसी भ्रात धारणाओंसे विवाह और कन्याका बाल-विवाह करना अनिवार्य हो गया था। अब भी ऐसी बहुत-सी भ्रात धारणाएँ विवाहके साथ जुडी हुई है और उनके कारण विवाहका किया जाना अनिवार्य मान लिया गया है। अनिवार्य माने गये व्यवहार के साथ बहुत-से कुव्यवहार अपने आप जुड जाते है। जब विवाह अनिवार्य हो गया, तब उसके साथ दहेज भी जुड़ ही गया और वह अनिवार्य भी बन गया। इसलिए हमारा विनीत निवेदन यह है कि विवाहकी अनिवार्यताका ही अत किया जाना चाहिए। लडके और लडकी दोनोंके लिए विवाहकी समान आवश्यकता है। दोनोमें कोई हीन नही है। विवाहके कारण यदि लड़केके प्रति कोई हीन भावना नही है, तो लड़कीके प्रति क्यो हो? इस दृष्टिसे चीनने एक आदर्श उपस्थित किया है। वहाँ विवाहकी प्रथाके साथ जुडी हुई सारी कुप्रथाओका एकाएक अंत कर दिया गया है और महिलाओंके प्रति समाजकी पुरानी भावना अथसे इति तक बदल दी गयी है। वैसा ही हमें भी करना होगा। तभी हम दहेज सरीखी राक्षसी कुप्रथासे अपना पिंड छूड़ा सकेंगे। बीच का कोई मार्ग नही है। समाज-सुधार और सामाजिक क्रांतिके क्षेत्रमें बीच-बचाव अथवा समझौतेकी नीति काम नही दे सकती।

श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

अस्पृश्यता निवारण की ओर

हिन्दू जातिमें अस्पृश्यता और छूतछातकी जिस प्रथाने सनातन रूप धारण कर लिया था वह वस्तुत. सनातन नही है। प्राचीन कालमें यह प्रथा प्रचलित नही थी। वर्ण व्यवस्थाका सूत्रपात केवल कर्मोका विभाजन मात्र था, इसका जन्मके साथ कोई सवध नही था। भगवान मनुने 'जन्मना जायते शूद्र' कहकर यह स्पष्ट घोपणा की थी कि वेदाम्याससे विप्र होता है। जो जैसे काम करेगा, उसे वैसी सज्ञा दी जायगी। भगवान कृष्णने भी गीतामें यह घोपणा की है कि "चातुवर्ण्य मया सृष्ट गुण-कर्म विभागश।" गुण-कर्मोके भेदसे भगवानने चारो वर्णोकी सृप्टि की है। इन वर्णोका केवल जन्मसे कोई सबंध नही है। यदि ब्राह्मण कुलमें पैदा हुआ कोई व्यक्ति नीच कर्म करेगा, तो शूद्रकी तरहसे उसका वहिष्कार करनेकी भी घोपणा मनुने की थी। चारो वर्णोके काम गिना दिये गये थे और कामके अनुसार उन्हें वर्णकी सज्ञा दी जाती थी। अनेक ऋपि जन्मसे वहुत ऊँचे कुलोमें उत्पन्न नही हुए थे। आदि कवि वाल्मीकिका भगी कुलमें जन्म श्रुति परम्परागत है, किन्तु वे महान् ऋपि कहलाये। अन्य भी अनेक ऋपियोंके जन्मकी कथाएँ यह वताती है कि वे ऊँचे कुलोमें उत्पन्न नही हुए थे। परन्तु जन्मके कारण उनका तिरस्कार नही किया जाता था, वे अपने गुण व कर्मके कारण समाजमें गौरव व सम्मानपूर्ण पद पाते थे।

यह कहना कठिन है कि अस्पृश्यता व जातिपाँतिकी प्रथा कवसे चली, परन्तु इतना निश्चित है कि प्राचीन कालमें यह प्रथा प्रचलित नही थी। वैदिक कालमें तो आर्यो का आदर्श ही 'कृण्वतो विश्वमार्यम्' या सवको आर्य वनाना था। कुछ अनार्य देवगण तक देवताओमें सम्मिलित किये गये थे। छान्दोग्य उपनिपदमें जावालि ऋपि अज्ञात कुल थे, महाभारतमें विश्वामित्र क्षत्रिय वर्णसे और मातग ऋपि चाण्डाल कुलसे ब्राह्मण हो गये थे। अनार्यो के साथ विवाह-सवधोके भी उदाहरण प्राचीन इतिहासमें कम नही मिलते। अर्जुन व भीमने अनार्य जातिकी उलूपी हिडिम्वासे विवाह किये थे। 'म्लेच्छदेशस्त्वत पर" कह कर जिन विदेशियोसे सम्पर्क भी स्थापित न करनेकी घोपणा वादमें की गई दूसरी तीसरी सदी तक उन्हें वौद्ध व हिन्दू धर्ममें दीक्षित किया जाता था। यूनानी, यूची व शक जातियोंने वैप्णव-धर्म स्वीकार कर लिया था। उन लोगोको भारतके वुद्धिमान ब्राह्मणोने आत्मसात कर लिया था। रुद्र दमन या जय दमन मिहिरकुल आदि प्रसिद्ध राजा विदेशी ही थे। भारतीय आचार्य दूसरे देशोमें भी जाते थे और वहाँ वौद्ध या हिन्दू धर्मका प्रचार करते थे।

मुस्लिम काल मे

यह कहना कठिन है कि जन्मना अस्पृश्यताकी प्रथा कवसे प्रचलित हुई, पर इसके उदाहरण इतिहासमें अवश्य मिलते हैं कि १० वी, ११ वी सदीमें और कुछ समय वाद भी मुसलमानोको और मुसलमान बने हुओ को हिन्दू धर्ममें दीक्षित कर लिया जाता था। अलवेरुनीने अपने प्रसिद्ध ग्रंथमें इस प्रकारका उल्लेख किया है। एक निम्बालकर सरदार के मुसलमान वन जानेके वाद भी शिवाजीने उसे हिन्दू धर्ममें सिर्फ दीक्षित ही नही कर लिया, वल्कि उसके साथ अपनी लडकीका विवाह कर लिया था। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इस समय ऐसे उदाहरण अपवाद रूपसे रह गये थे। जन्मसे जातिपाति और छूतछात की प्रथा फैल चुकी थी। विभिन्न स्मृतियोमें, जन्मके कारण अस्पृश्य जातियो की गणना की जाने लगी थी, उनके साथ भेद-भावमूलक व्यवहार रखनेके विधान जारी कर दिये गये थे। मनु स्मृतिमें भी इस प्रकारके श्लोक सम्मिलित कर लिये गये, जिनसे इस कलंकपूर्ण प्रथाको अधिकाधिक प्रश्रय मिला। हम उनसे प्रमाण उद्धृत करके इस लेखका कलेवर नही वढाना चाहते, पर इतना अवश्य कहना चाहते है कि पौराणिक व्राह्मण नेताओंके इसपर निरंतर वल देनेके कारण अस्पृश्यताका कलंक हिन्दू जातिके हृदयमें सस्कार-स्वभावका एक अंग वन गया था। अस्पृश्योकी स्थिति दीनसे दीनतर होती जाती थी। इस पतनकी पराकाष्ठा यह थी कि वे स्वयं भी भगवानका अभिशाप समझकर इस स्थितिको स्वाभाविक समझने लगे थे। उनके हृदय और मस्तिष्कमें यह वात वैठ गई थी कि सवर्ण उनसे कोई अन्याय नही करते, यह तो भगवानका वनाया हुआ नियम है। इसे वदलनेकी कोई इच्छा भी उनके हृदयमें उत्पन्न नही होती थी। अपने से छोटेको हीन व अस्पृश्य माननेकी परम्परा इन जातियोमें भी जड जमाती गई। अस्पृश्य जातियोमें अपनी दयनीय स्थितिके विरुद्ध असंतोप व विद्रोहकी भावना आनेकी संभावना ही नही थी। वे यह कल्पना करना भी भूल गईं कि सव मानव समान रूपसे मंगलमय भगवानकी सृष्टि है और कोई छोटा वडा नही है। केवल शारीरिक रूपसे नही, उनका मन और मस्तिष्क भी इतना परतन्त्र और पतित वन गया था कि वे इसे सनातन धर्मका अंग मानकर जहाँ स्वयं भी इस प्रथाका पालन करते थे, वहाँ इसमें किसी प्रकारका अनौचित्य भी नही देख सके। देखते भी कैसे, वे स्वयं भी अपने से हीन जातियोंके साथ अस्पृश्यताका अमानुप व्यवहार करनेमें कतई असुविधा अनुभव नही करते थे। अस्पृश्यता-युक्त हिन्दू धर्मपर पूर्ण निष्ठा व आस्थाका ही यह परिणाम था कि सदियो तक कुत्तोसे भी वुरा व्यवहार सहते हुए उन्हें हिन्दू धर्म छोडनेकी कभी इच्छा भी नही हुई। वे यह सम्भावना भी नही कर सके। वस्तुत संसारके इतिहास का यह वहुत वड़ा आश्चर्य है कि जिन करोड़ो भाइयोंको सवर्णोंने सदियो तक इस प्रकार पददलित किया, उन्हें मानव तक समझनेसे इन्कार किया, वे सवर्णो की सी और वस्तुतः उनसे भी अधिक आस्थाके साथ राम-कृष्णकी पूजा करते रहे, हिन्दू देवी देवताओकी आराधना करते रहे और उनकी दयनीय स्थितिके एकमात्र कारण भूत व्राह्मणो तथा स्मृतियोको भी अनन्य आदरकी दृष्टिसे देखते रहे, उनके प्रति असंतोपकी चिनगारी भी उनमें पैदा नही हुई। इस प्रकार का उदाहरण इतिहासमें दुर्लभ ही है।

संतोकी शिक्षाएं

समय-समयपर अनेक सन्त व भक्त हुए, जिन्होने छोटे-बड़े व छूत-अछूतका भेद भूल जानेका उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि सब मंगलमय भगवानकी सृष्टि है, उनकी दृष्टिमें कोई बडा नहीं, कोई छोटा नही, सब एक समान हैं। हरिका भजन करनेसे कोई भी हरिका प्यारा बन सकता है। इन सन्तोंके उपदेशोका प्रभाव कुछ समय तक रहता, पर अस्पृश्यताके बद्धमूल संस्कार शिथिल नही हो पाते थे। अस्पृश्य जातियोंकी स्थिति इन सन्तोंके उपदेशोंसे ऊँची न हो सकी। इसका कारण था कि इन संतोंने अछूत-पनके विरुद्ध जोरोंके साथ वैसा आन्दोलन नही किया जैसा सदियोंसे चली आनेवाली इस प्रथाको दूर करनेके लिए आवश्यक था। कही एक चाकूने वृक्षका तना कट सकता है, उसके लिए जबरदस्त कुल्हाड़ा चाहिए था। सन्त उसका प्रयोग नही कर पाये। कुछ सन्त तथाकथित हीन जातियोंमें भी हुए, किन्तु उनकी शिष्य श्रेणीमें सवर्ण सम्मिलित नही हो सके, वे केवल उनका आदर करके रह गये।

अस्पृश्यताकी चरम सीमा

इस तरह छूतछातकी यह कलंकपूर्ण प्रथा सदियो तक अविच्छिन्न भावसे निरन्तर चलती गई और फैलती गई। दक्षिण-भारतमें इसे जो पोषण मिला, वह चरम सीमा तक पहुँच गया। वहाँ अछूतोंके जानेके लिये अलग रास्ते नियत कर दिये गये, ताकि उनकी परछाईं भी ब्राह्मणोपर न पड जाय। वेद मत्रो या गायत्रीका सुन लेना भी असवर्ण जातियोंके लिए पाप करार दिया गया। अनेक दलित जातियोको विवाह या अन्य किसी मौक़ेपर पालकीमें वहूको ले जाने, घोड़ेपर वरके चढने तथा सोने-चाँदीके जेवर पहननेपर भी कठोर प्रतिबन्ध लगाए गए। उत्तर प्रदेश तकमें भगीका कधेपर लाठी उठाना, या चमारिनका पैरोंमें बिछुए पहनना, भी भारी अपराध माना जाता था। यह सब केवल शाब्दिक कानून नही थे, बल्कि इनका उल्लंघन करनेपर हरिजनोको वे कठोर यात-नाएँ दी जाती थी, जिनको देखना या सुनना भी हृदयको कँपा देता था। कुओंपर सवर्णों के साथ पानी भरना एक अक्षन्तव्य अपराध माना जाता था।

पजाब, सिन्ध और सीमाप्रान्त आदि उत्तर भारतके भागोमें अस्पृश्यता इस चरम सीमा तक नही पहुँची थी, इसका भी सभवत एक कारण था। उत्तर भारत तथा विशेष-कर पंजाबके निवासियोको सदियोंसे विदेशियोंके सम्पर्कमें रहना पडा, जो विदेशी आक्रामक आते थे, उनमेंसे बहुतसे वहाँ बस जाते थे। उनके साथ निकट सम्पर्कमें रहने के कारण हिन्दू धर्मके कठोर कर्तव्य, व्रत, जप-तप आदिके अनुष्ठान और पालन उत्तरी भारतमें संभव नही रहे थे। विदेशोंसे आनेवाली आक्रामक जातियो—यूची, हूण और शक और बादमें पठानो व मुग़लोंके आक्रमणोकी परम्परा थोडे या बहुत समयके अन्तर से प्राय. जारी रही। इनके सम्पर्क और व्यवहारके कारण हिन्दू अपने "धर्म" के अत्यन्त सकीर्ण दरवाजोमें बंद नही रह सकते थे। फिर समय-समय पर होनेवाले संतोकी वाणियोका भी कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पडा, ऐसा मानना चाहिए।

उन्नीसवीं सदीमें राजा राममोहनराय और ऋषि दयानन्दने जो क्रातिकारी सदेश दिए, जिसके कारण अस्पृश्यता व छूतछात और जात-पाँतके दृढ संस्कारोको पहली बार चोट लगी। अस्पृश्यताका मूल वस्तुत जन्मसे जात-पाँतमें था। ऋषि दयानन्द

ने उसीपर चोट की। उन्होने प्राचीन धर्मशास्त्रोके आधारपर सिद्ध किया कि जात-पाँतका कोई महत्व नही।

ऋषि दयानन्दकी शिक्षाओको आर्य समाजने अपना लिया। पजावमें अछूतपनके विरुद्ध उसने एक तीव्र आन्दोलन किया और महात्मा मुँशीराम (पीछेसे स्वामी श्रद्धानन्द) ने मेघोको अपनाना शुरू किया। उन्हें शिक्षा देने, उनका उपनयन संस्कार करने, उनके साथ भोजन करने आदिकी प्रथा आर्यसमाजोमें चल पड़ी। हीन जातियोमें उत्पन्न अनेक भाई आर्य कहे जाने लगे और समाजकी वेदीपर उनके धर्मोपदेश होने लगे। गुरु-कुलोमें दलित और सवर्ण वालक विना किसी भेद-भावके एक साथ रहने, खाने और पढ़ने लगे। आर्य समाजने वस्तुत उस कुसस्कारपर चोट की थी, जो जंगकी तरह हमारे हृदयोपर जम गया था परन्तु आर्यसमाजका क्षेत्र पंजाव तक ही सीमित रहा। उत्तर प्रदेश तथा अन्य अनेक समीपवर्ती राज्योमें भी आर्य समाजने इस दिशामें कुछ प्रयत्न किए।

काग्रेसके मंचसे

यह समय था जव भारतमें राजनीतिक चेतना जाग्रत होकर नागरिक अधिकार प्राप्त करनेकी अभिलाषा देशवासियोमें उत्पन्न हो चुकी थी। दक्षिण भारतके दलित वर्गमें और विशेषकर अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त दलितोमें विदेशी दासतासे मुक्त होनेके साथ-साथ सवर्णोकी दासतासे भी मुक्त होनेके लिए असतोष व जागृतिके लक्षण दिखाई देने लगे थे। अंग्रेज़ शासक उनकी इस नई भावनासे लाभ उठानेकी दूर-दर्शितापूर्ण नीतिके महत्वको समझने लगे थे। मुसलमानो और हिन्दुओमें ही नही सवर्णो और दलितोमें भी परस्पर विरोध, घृणा, और द्वेषभाव उत्पन्न करके अपने शासनको मज़वूत रखा जा सकता है, कमसे कम स्वराज्य आंदोलनको अधिक प्रभावशाली होनेसे वचाया जा सकता है, यह विचार अंग्रेजोके हृदयमें उत्पन्न हो चुका था। इस तरह एक नया खतरा देशपर आने लगा था। यह भय था कि करोड़ों भारतीय राजनीतिक स्वराज्य के संघर्षसे अपनेको पृथक कर विदेशी शासनके पोषक वन जायंगे। दलितोके सम्मान-नीय नेता श्री शंकरन नायरके भाषणोसे इसका आभास मिलने लगा था। स्वामी श्रद्धा नन्दकी दूरदृष्टिने इस खतरेको अनुभव किया और उन्होने काग्रेसके राजनीतिक मंचसे पहली वार छूत-छातको मिटानेके लिए अपनी ओजस्विनी वाणीमें राष्ट्रका आह्वान किया। अव तक अस्पृश्यताका यह कलक देश और हिन्दू समाजको वहुत उच्छृखल और कमजोर नही कर पाया था पर अव हमारी इस जाति गत भीषण दुर्वलताको समझकर विदेशी शासक उसका पूरा लाभ उठानेकी चिन्तामें था। ईसाई मुक्ति फौजके वूथटकर ने रिफार्म स्कीम कमेटीके सामने गवाही देते हुए कहा था कि भारतके ६॥ करोड अछूतो को विशेष अधिकार मिलने चाहिए, क्योकि ये भारतमें व्रिटिश सरकार रूपी जहाज़के लगर हैं। स्वामी श्रद्धानन्दने इस घटनाका उल्लेख करते हुए अमृतसर काग्रेसमें एक हृदयस्पर्शी अपील की थी—"इस पवित्र राष्ट्रीय मन्दिरमें वैठे हुए अपने को मातृभूमिके प्रेम-जलसे शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि आजसे वे साढ़े छ: करोड़ हमारे लिये अछूत नही रहे, वल्कि हमारे भाई-वहन हैं।" स्वामीजीने मद्रासके गोखले हालमें भाषण देते हुए गभीर चेतावनी दी कि यदि आपने अछूतोको अपने साथ नही मिलाया, तो वह दिन

दूर नही जब आपके वे दलित भाई, जिन्हें आप पचम कहते है, आपसे सब तरहका सबध तोड़ देंगे ।

स्वामी श्रद्धानन्दने उन्ही दिनो यह सब देखकर महात्मागाधीके पास एक सुझाव भेजा था कि सभी काग्रेसी अपने घरेलू कामोके लिये एक-एक दलित नौकर रखें । स्वामीजीके सन्देशकी गभीरता तथा महत्वको महात्मागाधीने अच्छी तरह अनुभव किया और अपने रचनात्मक कामोमें अस्पृश्यता निवारणको सदा महत्वपूर्ण स्थान दिया । इस तरह महात्मागाधीके से महान व्यक्तित्व का बल पाकर अस्पृश्यता निवारणका सदेश देशमें बल पकडने लगा ।

कम्यूनल एवार्ड

परन्तु अभी तक देश इस सदेशके महत्वको हृदयगम नही कर पाया था । सदियो से लोगोके दिलमें जड जमाये इस कुसस्कारको उखाडनेके लिए एक जबर्दस्त प्रहार की आवश्यकता थी और वह चोट की इग्लैण्डके प्रधान मत्रीके साम्प्रदायिक निर्णय (कम्युनल एवार्ड) ने । उन्होने नए राजनीतिक सविधानमें ६ करोड अछूतोको पृथक् करके अलग जाति बना दिया और उन्हें पृथक चुनाव का अधिकार दे दिया । इसका अर्थ था कि हिन्दू जाति सदाके लिए दो बड़े सघर्षशील भागोमें विभक्त हो जाय । जो दलित जातियाँ सदियोके अमानुष अत्याचार सहकर भी हिन्दू धर्मके प्रति अपनी आस्थाको शिथिल नही कर सकी थी, वे इस निर्णयसे सदाके लिए हिन्दू जातिसे पृथक हो जाती थी । सरकार पजाबमें सिखोको हिन्दुओसे पृथक राजनीतिक इकाई बनानेमें सफल हो चुकी थी । यह नई चोट बहुत बडी और घातक थी । राष्ट्रपिता महात्मागाधीकी दूरदृष्टिने इस खतरेकी गभीरताको समझ लिया और यह अनुभव कर लिया कि समझौतेको मानने का अर्थ है विशाल हिन्दू-समाजकी समाप्ति । उन्होने इस निर्णयको बदलनेके लिए जब आमरण अनशनके व्रतकी घोषणा की, तब समस्त देश इस नए खतरेकी गभीरताको समझने लगा ।

महात्मा गाधीका हरिजन-आदोलन

महात्मागाधीके महत्वपूर्ण उपवास, पूना में निर्णयकी कहानी देनेकी आवश्यकता नही है परन्तु यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस के बादसे हिन्दू जातिमें सामाजिक प्रगतिका नया अध्याय लिखा जाने लगा । महात्मागाधी यरवदा जेलसे ही हरिजन-आन्दोलन अथवा अस्पृश्यता-निवारण-आन्दोलनका संचालन करने लगे । उनके बलशाली व्यक्तित्व का सहारा पाकर यह आन्दोलन देशव्यापी हो गया । सब जगह हरिजनोको अपनाने, उनकी उन्नति करने व उनकी सहायता करने की प्रवृत्तियोने साकार रूप धारण कर लिया । हरिजन-सेवक-सघकी स्थापना हुई, हरिजन बालकोके लिये पाठशालायें खुली, उन्हें छात्रवृत्तियाँ दी जाने लगी, उनकी बस्तियो की सफाई होने लगी, बालकोको साबुन, कपडे बाटे जाने लगे और उनके लिए पानीकी व्यवस्थाकी गयी । सैंकडो कुएँ हरिजन बस्तियोमें खोदे जाने लगे । किन्तु इन सबसे अधिक महत्व दिया गया मदिरोमें हरिजनोके देव-दर्शन अधिकार को । धर्म-प्राण हरिजन जनता जिस तरह सवर्ण हिन्दुओ द्वारा दुरदुराये जानेपर भी राम-कृष्ण या शिवकी भक्ति

करती आ रही थी, उसे मंदिरोंमें प्रवेश और देव-दर्शनका अधिकार जिस तरह संतुष्ट कर सकता था वैसी भौतिक सामग्री नहीं। मंदिरोंमें आकर वे हिन्दू धर्मसे सम्पर्क घनिष्ट कर सकते थे। नानाविध षड्यंत्रोसे उनकी इस आस्थाको शिथिल करके विशाल हिन्दू समाजको ही जिस तरह-दुर्बल करनेका प्रयत्न किये जा रहे थे, उनको तोड़ने के लिए देव-दर्शनका अधिकार एक अमोघ साधन था। देवोंके मन्दिरोंमें ही सबसे घोर अमानुषिकताके कलंक पूर्ण कृत्यको समाप्त होना चाहिए था। वहाँ यदि समानता क़ायम होती है, तो फिर अन्य सांसारिक क्षेत्रोंमें भी उसे प्राप्त करना कठिन न था। देव मन्दिरसे पवित्र स्थान कौन है, वहाँ उनका निर्बाध प्रवेश हिन्दू-जनताके मानसको बदल सकता था। और हरिजनोंमें भी आत्मविश्वास और समानताका गौरवपूर्ण भाव उत्पन्न कर सकता था। फलत बहुत-से मदिर हरिजनोंके लिए खोल दिए गए। कुछ मंदिरो में प्रवेशके लिए संघर्ष भी करना पड़ा। अबतक भी यह संघर्ष कही-कहीं जारी है। महात्मा गांधीने अस्पृश्यता निवारणको सवर्ण हिन्दुओकी शुद्धि और आत्म-सुधारके लिए प्रायश्चित्तका नाम दिया। उन्होंने घोषणा की कि हिन्दुओने मानव जातिके एक बड़े भागको दलित करके अमानुषिक अत्याचारका जो पाप किया है, उसका प्रायश्चित्त उसे करना होगा। हरिजनोके विकास या सुधारका प्रश्न नही, सवर्णोको आत्मोद्धार करना होगा और प्रायश्चित्त स्वरूप हरिजनोंकी उन्नतिके लिए सब प्रकारका त्याग करना होगा। महात्मा गांधीने हरिजन कार्यके लिये देशव्यापी दौरे किए और जनताने मुक्तहस्त होकर उनकी झोली भर दी। इस प्रकार उनके नेतृत्वमें हरिजन सेवा और अस्पृश्यता-आंदोलन का नेतृत्व देशमें जड़ पकड़ने लगा।

धीरजकी सलाह ठुकरा दी गयी

कुछ सनातन धर्मी भाइयोंने महात्माजीको यह सलाह दी कि सदियोके संस्कार एक झटकेमें दूर नही हो सकते। आप बहुत तेज दौड़ना चाहते हैं। यह काम शनैः-शनैः करना होगा, इसके लिए धीरज रखिए, मन्दिर प्रवेशके लिए एकदम आग्रह मत कीजिए। परन्तु अब धीरजके लिए समय नही था। यह हिन्दू जातिके अस्तित्वका, उनके जीवन-मरणका प्रश्न था। अस्पृश्यता निवारण बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था, इसमें देर नही की जा सकती थी। विरोधको सहन किया जा सकता है, परन्तु धीरज और प्रतीक्षा का तत्वज्ञान बड़ा भयंकर है। अमेरिकन स्वातंत्र्य-वीर विलियम लायड गैरिसनने जब कमर कसके गुलामीका विरोध करना शुरू किया, तो व्यवहार-कुशल लोग उससे कहने लगे—"ऐसी बेवकूफी मत करो, जरा सोच-समझकर काम करो।" तब उसने गुस्से में आकर यह जवाब दिया था, कि "धीरे-धीरे कदम रखना मै नही जानता। तुम्हारे घरमें आग लग रही हो, तब तुमसे कोई यह कहे कि नल जरा धीरे-धीरे खोलो और पानी जरा थोड़ा-थोड़ा डालो, तो तुम उसकी बात कितनी सुनोगे? अपना घर लूटनेवाले चोरका विरोध धीरे-धीरे तुम कैसे करोगे? अपनी मातापर अत्याचार करनेमें प्रवृत्त नराधमका प्रतिकार धीरे-से किस तरह कर सकोगे?" सुधार या प्रगति भले ही आराम के साथ हो, परन्तु अन्यायकी जड़ तो एक ही झटकेसे उखाड़ फेंकनी चाहिए, या खुली आँखो उसे देखते रहने वाल हम लोगोंका सर्वथा नाश हो जाना चाहिए। गांधीजीने भी इस आंदोलनको और अधिक तेजीसे चलानेका निश्चय कर लिया।

जनमतके प्रभावमें आकर सरकारोंने भी हरिजनोको अनेक सुविधाएँ प्रदान की। स्थान-स्थानपर हरिजनोके विकास और उन्नतिके लिये प्रयत्न किए गए, इसका प्रभाव भी अच्छा हुआ और हरिजन कार्यकर्त्ताओंमें आत्माभिमान जाग्रत होने लगा। हरिजनोको नौकरियोमें भी तरजीह दी जाने लगी। पूना पैक्टके कारण भी हरिजनोको ऊँचा उठने का अवसर मिला। विभिन्न राज्योमें उन्हें धारा सभाओकी सदस्यता मिली।

दूसरा पहलू

किन्तु इस समस्त हरिजन-आन्दोलनका एक दूसरा पहलू भी है। वस्तुत. इस आन्दोलनमें हरिजन-सेवाका रूप, जात-पाँतकी समाप्ति, अस्पृश्यता निवारणपर अधिक हावी हो गया। लोगोमें यह भावना उत्पन्न हुई कि मानवताका तकाजा है कि कोई वर्ग उपेक्षित, अनुन्नत या हीन न रहे। हरिजन भी हमारे एक अभिन्न अग है, उनके साथ सामाजिक व्यवहार, रोटी-बेटीका सबध भी हमें करना चाहिए, यह भावना हृदयमें घर नही कर सकी। हरिजन सामाजिक और शिक्षा-सबधी उन्नति अवश्य कर रहे थे, पर वे सवर्ण हिन्दुओमें आत्मसात् नही हो रहे थे। असवर्ण और सवर्णका भेद-भाव मिटाकर एकआत्मकता नही आ रही थी। आर्यसमाजने इस दिशामें कुछ काम किया था। गढवालके हरिजन अपनेको आर्य कहने लगे थे। उनके साथ खान-पान भी चलने लगा था, किन्तु गाधीजीके हरिजन-आदोलनमें एक ऐसी पृथक जाति खडी कर दी, जो अपनी एक स्वतंत्र सत्ता और अधिकारोपर जोर देने लगी। अपनी योग्यता बढाकर —अपनी सामाजिक कमजोरीको दूर करके सवर्णोके साथ अपनेको आत्मसात् करनेकी भावना उनमें उत्पन्न नही हुई। सरकारी कानूनने भी उन्हें पृथक विशेष प्रतिनिधित्व देकर आर्यसमाजके किए हुए कामको भी धूलमें मिला दिया। जो दलित शिक्षा प्राप्त करके अपनेको आर्य कहने लग गए थे वे भी कानूनका लाभ उठाकर पुन अपनेको हरिजन कहने और उनका प्रतिनिधि बनकर धारा-सभाओमें जानेका प्रलोभन नही रोक सके। शेष दलित साधारण जन हरिजनोको दी जानेवाली सुविधाओका लाभ उठानेके लिए प्रयत्नशील हुए। यह स्वाभाविक था और इसके लिए हरिजनो या उनके कार्य-कर्त्ताओको दोष नही दिया जा सकता। कुछ हरिजन नेताओने हरिजन जनतामें उत्पन्न आत्माभिमानको हिन्दू सवर्णोके विरुद्ध अपने नेतृत्वके लिए भी प्रयुक्त करना आरम्भ किया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि "हरिजन" नामसे एक पृथक शक्ति सगठित हो गई, जो अपने नागरिक अधिकारोके लिए सघर्षमें प्रवृत्त हो गई। कर्त्तव्यकी अपेक्षा अधिकारकी भावना स्वभावत आकर्षक व प्रबल होती है। यह भी ठीक है कि सवर्ण हिन्दुओने भी हरिजनो व दलितोको सर्वात्मना नही अपनाया।

अस्पृश्यता निवारण का कानून

१९४७ में भारत स्वतत्र हुआ और सबसे पहले उसे अपना सविधान बनाना था। आजकल किसी भी देशमें सविधान बनाते हुए नागरिकके अधिकारोका निश्चय करना होता है। भारतीय सविधान निर्माताओने गाधीजीके नेतृत्वमें हरिजन-आदोलनमें सक्रिय भाग लिया था। सविधानके निर्माणका कार्य डा० अम्बेदकर कानून मंत्रीको सौंपा गया था। वे स्वय हिन्दुओकी इस पापमूलक प्रथाके कटु अनुभव प्राप्त कर चुके

थे। काग्रेसने अस्पृश्यता निवारणकी प्रतिज्ञाको वीसियो वार दुहराया था। परिणामत. सविधानने दो महत्वपूर्ण घोषणाएँ की :—

१—कानूनकी दृष्टिमें सभी नागरिक एक समान हैं। नौकरी, कारोवार आदि में जात-पाँत, लिंग व धर्मकी दृष्टिसे कोई भेद भाव नही किया जायगा।

२—अस्पृश्यताको कानूनी तौरपर अपराध ठहरा दिया गया।

नयी प्रवृत्तियां

इन दोनो घोषणाओका हरिजनोकी दृष्टिसे वहुत महत्व था, हरिजनोकी उन्नति में आनेवाली सव वाधाएँ इससे दूर हो जाती थी। किन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे अस्पृश्यता व छूतछातको दूर करनेके लिए केवल कानून काफी नही है। हृदय या मानस सस्कार केवल कानूनसे ही नही वदलते। इसके लिए दो वातें आवश्यक हैं। एक तो यह कि समस्त समाजका वातावरण वदलना होता है। लोगोमें शनै-शनै निरन्तर प्रचार व परिस्थिति द्वारा ऐसा वातावरण वना देना चाहिये, जिससे लोग छूत-छातके ख्याल तक को दिलमें न लावें ? कानून तो केवल मार्ग साफ करता है, परन्तु उस पर चलनेके लिए विवश नही करता। इसका प्रयत्न किया गया कि दलित जातियोंके प्रतिनिधि ऊँचे स्थानोपर लिये जाय। वे जिन पदोपर पहुँचे, वहाँ उनका सम्मान आवश्यक और अनिवार्य था। अस्पृश्यताका पालन वहाँ संभव ही नहीं था। फिर भी अवनत को उठानेके लिए विशेप सहारेकी आवश्यकता होती है। आखिर सदियोसे पददलित भाई, सामाजिक योग्यता व संस्कृतिमें दूसरे नागरिकोके समान धरातल पर एकदम आ नही सकते थे। उन्हें विशेप सहारा देना आवश्यक कर्तव्य था और ऐसा करनेमे कोई सकोच नही किया गया। चुनाव वालिग मात्र तक व्यापक कर दिया गया था। इससे जन सामान्य तक उम्मीदवारोको पहुँचना पडा और राजनीतिक शिक्षाका प्रसार हुआ। उन्होने दलित जातियोकी भी उपेक्षा नही की और यदि वे ऐसा करते, तो उन्हीके लिए खतरा सिद्ध होता। सवर्ण शिक्षित व सम्पन्नोको वोट लेनेके लिए दलित जातियोका हार्दिक सहयोग अनिवार्य होनेसे छूत-छातकी समाप्तिमें वहुत वडी सहायता मिली। दूसरी ओर उनको सम्मान मिला, जिससे उनका जीवन स्तर भी ऊँचा होने लगा। सविधानमें यो सवको समान अधिकार दिया गया, सम्मिलित चुनावकी प्रथा डाली गई, किसी वर्ग-विशेपको विशेप प्रतिनिधित्व नही दिया गया तथापि दलितोकी स्थिति ऊँची करनेकी दृष्टिसे एक और व्यवस्था की गई और वह यह कि सविधानमें १० वर्षोंके लिए दलितोंके लिए कुछ सीटें सुरक्षित कर दी गईं। चुनाव सम्मिलित होना था, परन्तु सुरक्षित स्थानोपर दलित भाई ही जा सकते थे। इस व्यवस्थासे ससद और राज्योकी विधान सभाओमें दलितोके प्रतिनिधि काफी संख्यामें पहुँच गए। केन्द्र व राज्यके मन्त्रिमडलोमें भी दलित जातिमें उत्पन्न योग्य व्यक्ति लिये गये। इससे न केवल उनका सम्मान वढा, उन्होने अपने नये पदोपर जाकर हरिजनोको सव स्थानोपर प्रोत्साहित करनेके विविध उपाय किये। अनेक नये कानून वनाए गये। इन क़ानूनोंके विस्तारमें जाने की आवश्यकता नही, परन्तु इनका रूप समझनेके लिए सक्षेपमें कुछ पंक्तियाँ लिख देना आवश्यक है।

शिक्षणालयो व उच्च शिक्षणालयोमे हरिजनोके लिए विशेष सुविधाएँ दी गई। जहाँ विद्यार्थियोकी सीमित संख्या हो वहाँ उनके लिए कुछ स्थान सुरक्षित कर दिये गए भलेही वे योग्यताकी दृष्टिसे कुछ नीचे स्तर पर भी हो। उन्हें छोटी-बड़ी छात्र-वृत्तियाँ विशेष रूपसे दी गईं। आयुकी मर्यादाका बन्धन शिक्षणालयो और नौकरियोमें उनके लिए कुछ शिथिल कर दिया गया। सार्वजनिक स्थानो, दुकानो, होटलो, कुओं, शिक्षणालयो, पार्को व मन्दिरो आदिमें उनके प्रवेशको कानूनी तौरपर अधिकार सम्मत करनेकी घोषणा की गई और इसमें बाधा डालना कानूनी जुर्म करार दिया गया। हरिजनोको पढने-पढानेकी सब सुविधायें दी गई। उनके लिए छात्रावास बनाए गए, उन्हें पढने के लिए पुस्तकें व स्टेशनरी आदिकी सुविधाएँ विशेष रूपसे दी गई। हरिजन बस्तियो के सुधारपर विशेष ध्यान देनेके प्रयत्न किये गये। इस प्रकारकी कानूनी सुविधाएँ देनेसे इसमें सदेह नही कि हरिजनोको विकासमें बहुत सहायता मिली। होटलो, दुकानो, बप्पाउओमें उनके लिए पृथक व्यवस्था कानूनी तौरपर जुर्म करार दी गई।

अनेक सार्वजनिक और सामाजिक सस्थाएँ तथा केन्द्र व राज्योकी सरकारें अस्पृश्यो व दलितोकी स्थिति सुधारनेमें लगी हुई हैं। कुछ समय पूर्व भारत सरकारने पिछडी हुई जातियोकी उन्नतिके लिए काका कालेलकरकी अध्यक्षतामें एक उपसमिति नियत की थी। उसने अनेक महत्वपूर्ण सिफारिशें की है, यद्यपि इनपर सरकारका अभिमत अभी तक स्पष्ट नही हो पाया हैं तथापि यह निश्चित है कि इनमेंसे अधिकाशपर अमल किया जायगा। स्वयं दलित भाई भी शिक्षा और आर्थिक स्थितिके सुधारमें लगे हुए हैं। सरकारकी विभिन्न आर्थिक योजनाओकी पूर्त्तिसे भी जन सामान्यको अत दलितोको भी उन्नत होनेका अवसर मिलनेवाला है। समयका प्रवाह भी अस्पृश्यता व छूतछातको समाप्त कर रहा है। यह सब शुभलक्षण है और यह आशा की जानी चाहिए कि निकट भविष्यमें ही अस्पृश्यताका अमानुपिक कलक सदाके लिए इतिहासकी वस्तु बनकर रह जायगा।



पंचम खण्ड

महिला-जागृति



श्री रघुवीरशरण 'दिवाकर'

अबला, तेरी करुण कहानी !

नर और नारी दोनो ही मनुष्य हैं और दोनोमें एक बहुत ही घनिष्ठ नैसर्गिक व प्राकृतिक सम्बन्ध है। एक तरहसे दोनो मनुष्यके आधे-आधे अग है। नर-नारीके अभावकी पूर्त्ति करता है और नारी नरकी कमी पूरी करती है। पूर्ण मनुष्यकी निष्पत्ति नर-नारी दोनोंके सयोग व एकात्मकारमें ही है। शिवजीके विषयमें हिन्दुओंकी जो यह मान्यता है कि उनका आधा शरीर नर-रूप है और आधा शरीर नारी-रूप है, वस्तु-स्थितिकी दृष्टिसे असत्य या काल्पनिक मात्र होते हुए भी यह अनादि-अनन्त या चिरन्तन सत्य है। उससे बहुत ही सुन्दरताके साथ प्रगट होता है कि नर और नारी दोनो मनुष्य के अर्द्धाङ्ग है और दोनोका सयोग ही पूर्ण मनुष्यकी प्रतिष्ठा या स्थापना है। अनेक देव-देवियोकी कल्पना तथा सीता-राम, लक्ष्मी-नारायण व राधा-कृष्ण आदिकी युगल रूपमें प्रतिष्ठा भी यही दृष्टिकोण प्रकट करती है। वैज्ञानिकोकी यह धारणा कि आदि कालमें या सृष्टिके आरम्भमें एक ही व्यक्ति नर और नारी दोनो होता था, अथवा यह कि वस्तुत नर और नारीके शरीर पूर्णत समान है। केवल नरके कुछ विशेष अग और नारीके कुछ दूसरे अग विशेष उन्नत व विकसित हुए है, वह भी इसी सत्यका प्रतिपादन करती है कि नर और नारी मनुष्यके दो रूप है जिनमें परस्पर कोई विशेष या मौलिक अन्तर नही है। यौन-परिवर्तनकी घटनाएँ भी यही प्रतिपादित करती है।

कुछ विशेषज्ञोका मत है कि नर और नारीकी शरीर-रचनामें जो विभिन्नता है, उसके कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी दोनोंके विकासमें अन्तर पडा है। इस मतके अनुसार समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, राज-व्यवस्था आदि अन्य बाह्य परिस्थितियोको नर और नारीके मनोवैज्ञानिक या मानसिक विकासके अन्तरका श्रेय उतना नही है जितना शरीर-रचना-भेद-जन्य सम्पूर्ण स्वभाव व प्रकृतिके मूल या आधारभूत भेद को है। इस तरह भिन्न-भिन्न विशेषज्ञ अपनी खोजसे अलग-अलग परिणामोपर पहुँचे है। यूँ सूक्ष्म विश्लेषण करें तो उनके परिणामोंमें परस्पर विरोध भी दिखाई देगा और ऐसी हालतमें मूल और अमूलका, कृत्रिम व प्राकृतिकका अथवा अतरग और बाह्यका अलग-अलग रूपोमें देखना कठिन ही नही, असम्भव है। साथ ही जिन गुण-भेदोंके सम्बन्धमें मतैक्य है, उनमेंभी ऐसी सीमा निर्धारित करना दु साध्य है जिसके एक ओर स्वभाव हो और दूसरी ओर विभाव हो अथवा जो प्राकृतिक व कृत्रिमके ठीक मध्यमें हो। यही कारण है कि इसके विरुद्ध कुछ विद्वानोका यह भी मत है कि नर-नारीमे शरीर-रचनाकी दृष्टिसे

अन्तर होते हुएभी गुणोकी दृष्टिसे कोई मौलिक अन्तर नही है। जो कुछ अंतर दिखाई देता है, उसका कारण हज़ारों वर्षोसे चले आए हुए सस्कारों तथा परिस्थितियोकी वह विषमता है जिससे नर और नारीको विकासके लिये समान रूपसे सुविधाएँ नही मिल पाती है। अनेक विशेषज्ञोने मानव-प्रकृतिका गंभीर अध्ययन करके यह निर्णय किया है कि वास्तवमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे नर और नारी मूलत. एक है। शरीर-रचनाका भेद परिस्थितियोमें-भेद लाता है और फिर इन परिस्थितियोंके प्रभावसे नर-नारीके विकासमें अतर पड़ता है।

सच यह है कि नर और नारी दोनो मानवके ही दो रूप है जिनमें मौलिक दृष्टिसे कोई अन्तर नही है पर शरीर-रचनाकी विभिन्नता या लिंग-भेदके कारण जो परिस्थितियो में अनिवार्य रूपसे विभिन्नता होनी चाहिए उनके फल-स्वरूप दोनोके मनोवैज्ञानिक व मानसिक विकासमें अन्तर पडना भी अनिवार्य हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप नारीमें कुछ गुणोका विकास नरसे ज्यादा और नरमें कुछ गुणोका विकास नारीसे ज्यादा होता है, जबकि दोनो ही मनुष्य होनेके नाते समान है, एक ही सिक्केके दो बाजू है, एक दूसरेके पूरक है, नर-नारी दोनो मिलकर पूर्ण मनुष्यका निर्माण करते है। नारी नर ही की अर्द्धांगिनी नही है, नर भी नारीका अर्द्धांग है या दोनो नर—नारी पूर्ण मनुष्यके अर्द्धांग है। वास्तवमें दोनोंका व्यक्तित्व अलग-अलग है, स्वतन्त्र है, कोई किसीमें समाविष्ट नही है। नर स्वामी है, तो नारी स्वामिनी है, नारी दासी है, तो नर दास है। दोनोमें न कोई छोटा है, न बड़ा है। दोनो बराबर है।

पर जैसाकि सदैव होता आया है, पाशविक शक्तिने स्वार्थ और अहकारके उन्माद में नर-नारी—समानताके इस ध्रुव सत्यके साथ बुरी तरह खिलवाड किया है। पुरुषने प्रकृति-दत्त शरीर-बल तथा अन्य सुविधाओसे अनुचित लाभ उठाकर नारीको दीन-हीन पराधीन बनानेमें कोई कमी नही की और जब भी जैसा भी मौका मिला है, उसे अपनी सम्पत्ति, दासी, रस-केलि-पुत्तलिका बनाकर, उसे जडतुल्य व स्पन्दनहीन मानकर निर्दयतापूर्वक रौंदा है, भस्मीभूत किया है और उसकी राखपर अपनी प्रभुताका, महत्ताका अपने भोग-विलास व ऐश्वर्यका, अपने आमोद-प्रमोदका महल खडा किया है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि मानव-जीवनका इतिहास अपूर्ण और एकागी हो, यदि उसमें चिर-शोषिता नारीके उत्पीडनकी करुण कहानीकाव र्णन न हो। अतीत के अंधकारको चीरकर जहाँ तक इतिहासकी प्रकाश-किरण पहुँचती है, नारीका स्वतंत्र व्यक्तित्व ढूंढने पर भी नही मिलता है। यूँ नारीकी प्रशसाके नामपर बहुत कुछ लिखा गया है पर यथार्थमें वह स्वत्वशालिनी नारीकी प्रशसा नही है बल्कि उस नारीकी प्रशंसा है, जिसने अपना व्यक्तित्व, अपना सम्पूर्ण स्वत्व पुरुषके चरणोपर समर्पित कर दिया है और इस प्रकार वह नारीकी प्रशंसा नही, नरकी श्रेष्ठता व महत्ताका गुणगान है। खुलकर होनेवाली नारी-निन्दा तक ही नारी-निन्दा सीमित नही है, बल्कि नारी-प्रशंसाकी भूल-भुलैयोमें भी नारी-निंदा का सागर उमड़ रहा है। इतना ही नही जीवन के हर अंगमें नारी-निंदा व्याप्त है। और नारीके वैषम्यकी जड़ें इतनी गहरी उतर गई है और हमारे दैनिक जीवनमें उनको कुछ ऐसा स्थान मिल गया है कि सहज उसकी अनुभूति ही नही होती। हमारी भाषा और मुहावरोंमें, अर्थ-व्यवस्थामें समाजके

ढाँचेमें, धर्म और राजनीतिमें, गरज यह कि जहाँ भी दृष्टि डालिए, नर महोदय अपने पैरोपर, वृक्षके सदृश खडे हैं और बेचारी नारी लताकी तरह उस वृत्तक्षसे लिपटी और टिकी हुई है।

नरका दमन शोषणचक्र इतने ज़ोरोंसे चला है कि उसने दृष्टि ही बिगाड़ दी है, यहाँ तक कि नारीकी सार्वजनिकता ही निन्दनीय मानी जाने लगी है। परिणाम यह है कि नरका सीधा सबध समाजसे है किन्तु नारीका सम्बन्ध समाजसे नरके द्वारा अथवा नरकी अर्धाङ्गिणीके रूपमें ही है। रोज़मर्राकी बोल-चालके मुहावरोको लीजिए, अग्रेज़ीमें सार्वजनिक पुरुष (Public man) गौरव-सूचक शब्द है लेकिन सार्वजनिक स्त्री (Public woman) निन्दात्मक शब्द है, गाली है। विश्व-पुरुष विशेषण गाली नही है, पर विश्व-स्त्री गाली है। बात यह कि पुरुषने व्यापक दृष्टिसे स्वयको देखा है पर स्त्रीको केवल यौन दृष्टिसे, और इसी भेदने नारीको नरकी सम्पत्ति समझी जानेकी वृत्ति-प्रवृत्तिको जन्म दिया है। नरको महान और नारीको हीन माननेकी छाप भाषा व उसके व्याकरणपर तथा मुहावरोपर भरपूर है। स्त्री-सज्ञाका छोटी चीजके लिए प्रयुक्त होना यूँ ही आकस्मिक नही है। पुरुषको ईश्वरकी सज्ञा मानना प्रयोजनहीन नही है। ऐसे सभी शब्द प्रयोगो व मुहावरोका निर्माण व प्रचार पुरुषने अपनी प्रतिष्ठा व महत्ताको स्त्रीपर थोपनेके लिये किया है और उसे पूर्ण सफलता मिली है।

समाज-व्यवस्थापर दृष्टि डालें, तो वहाँ भी नारीकी यही दुर्दशा है। वह चिर-आश्रिता है। बचपनमें पिताके सरक्षणमें, यौवनमें पतिकी छायाके तले और वृद्धावस्थामें पुत्रके सहारे जीना ही उसके भाग्यमें बदा है। कभी भी उसका अपना अलग व्यक्तित्व नही है। न सम्पत्तिमें उसका अधिकार है, न सम्पत्ति-निर्माणपर उसका वश व नियत्रण है। स्वावलबन उसके जीवनसे दूर है, बहुत दूर है। पतन यहाँ तक है कि वह स्वय एक देय पदार्थ है। विवाहमें उसका दान (कन्यादान) होता है। जिसके हाथोमें चाहिए उसे सौंप दीजिए, और वह उसे हाँक ले जायगा, और पाले-पोसेगा। इसी स्थितिको लक्ष्यमें रखकर मैरोने कहा है[1] कि वह नारी, जो वेश्या बनकर अपना शरीर बेचती है और वह नारी जो विवाह-बधनमें बँधकर अपना शरीर बेचती है, दोनोमें मौलिक अतर नही है, अतर केवल मूल्यमें व मुआयदे (Contract) की अवधिमें है। फोरेलने उसी बातको इस तरह कहा है[2] कि विवाह वेश्या-वृत्तिका एक फैशनेबिल रूप है, जिसके द्वारा काम्य पदार्थका खुला सौदा होता है। और भी विचारकोने ऐसी ही चुभती हुई खरी सच्चाईसे काम लिया है। सच यह है कि नारीको जो पद या स्थान समाज व

---

[1] The difference between the woman who sells herself in prostitution and the woman who sells herself in marriage is only a difference in price and duration of the contract.

—*Marro*

[2] Marriage is a more fashionable form of prostitution, that is to say, a mode of obtaining or disposing of, for monetary consideration and sexual commodity

—*Forel*

परिवारमें मिला है, और विवाह-संस्थाको पुरुषने जिस तरह अपने स्वार्थ व अहकारकी पूर्त्तिका साधन बनाया हैं, उससे सचमुच नारी बहुत ही नीचे गिरी है, या गिराई गई है और उससे समाजका सारा ढाँचा तरगित हुआ है।

सम्प्रदाय वाद या धर्मने नारीके इस शोषण व उत्पीडनपर दैवी छाप लगाकर तो गजब ही कर दिया। किसी भी सम्प्रदाय या धर्मका साहित्य देखिए यह स्पष्ट हो जाएगा कि उसने स्त्रीको सदा तिरस्कृत व पददलित किया है।

हिन्दू धर्म वा हिन्दू सस्कृतिको लें तो हम देखेंगे कि यहाँ नारीको निकृष्ट स्थान मिला है। हिन्दू-धर्म-ग्रथोमें स्त्री-निन्दापर जितनी सामग्री है, यदि उसे संग्रहीत किया जाय, तो एक अच्छे-खासे ग्रथका निर्माण हो सकता है। वेदोसे लेकर उपनिषदो, पुराणो, स्मृतिग्रथो और साधारण काव्य ग्रंथो तकमे नारी-निन्दा भरी पड़ी है। मनु, याज्ञवल्क्य, दत्तात्रेय, शंकराचार्य, से लेकर सूर, तुलसी, कबीर सभीने नारी-निंदा की है। उस निन्दापरम्परामें नारीपर बुरेसे बुरे वाक्य व्यवहार किये गये है।

इस तरह हिन्दू धर्म-ग्रथोमे असख्य स्थलोपर स्त्रीकी खूब जी-भरकर निन्दा की गई है और शायद कोई भी ऐसे बुराई, जिसकी कल्पनाकी जा सकती है, स्त्रीसे अछूती नही रखी है। दुनिया-भरके सभी दोष बेचारी स्त्रीपर लाद दिये गये है: हर तरह उसे लाछित किया गया है। यह कहावत "त्रिया-चरित जाने ना कोई, पतिको मारके सत्ती होई"—कितनी प्रचलित है और नारीका यह कितना बड़ा अपमान है? और भी ऐसी बहुत-सी बेहूदी कहावतो व पेटेन्ट गालियोका काफी रिवाज है जिनमें स्त्री निंद्य है। यह तो रही हिन्दू-धर्म व हिन्दू-संस्कृतिकी बात,। पर बौद्ध-धर्म व जैन-धर्ममें अथवा श्रमण-सस्कृतिमें भी नारीको निकृष्ट स्थान ही मिला है, बल्कि शायद इस विषय में हिन्दू धर्मसे बढ़ाँ होड ही की गई है।

जैन-धर्मने नारीको विषकी बेल कहकर त्याज्य कहा है[1]। ज्ञानार्णवमें शुभचन्द आचार्यने कहा है—स्त्रियाँ वाणीमें अमृत रखती है, लेकिन हृदयमें विष भरे हुए है और वे स्वभावसे ही कुटिल हैं। स्त्री-पुरुषोको वज्राग्निकी ज्वालाके समान और साँपकी दाढ़के समान भय तथा सताप देनेवाली है। क्रोधसे फुंकार मारती चलती हुई सर्पिणी का आलिगन करना श्रेष्ठ है किन्तु स्त्रीको कौतुक मात्रसे आलिगन करना भी उचित नही है क्योकि सर्पिणी यदि काटे तो एक ही बार मरण होता है पर स्त्री तो नरककी पद्धतिके समान है। वह एक बार नही, बार-बार मरण कराकर नरकमें ले जानेवाली है[2]।

---

[1] संसारमें विष-बेलि नारी तज गए योगेश्वरा।

[2] धारन्त्यमृतं वाचि हृदि हालाहलं विषम्।
निसर्गं कुटिला नार्यो न विद्मः केन निर्मिताः
वज्र ज्वलनलेखेव भोगिदंष्ट्रेव केवलम्।
वनितेयं मनुष्याणा संतापभयदायिनी।
वर मालिगता क्रुद्धा चलल्लोलात्र सर्पिणी
न पुनः कौतुके नापि नारी नरकपद्धतिः।

(ज्ञानार्णव, अ १२—२, ३, ५)

विधाताने यमराजकी जीभ अग्निकी ज्वाला, विजली और विष, इस सबके सार भागका संग्रह करके यह स्त्री बनाई है, स्त्रियोंके दोष-समूहको कहनेके लिये बृहस्पति समर्थ नही और सुननेके लिये इन्द्र भी समर्थ नही, कोई भी स्त्रियोके दोषोका वर्णन नहीं कर सकता। यही नही, यदि स्त्रियोंके दोष किसी प्रकार मूर्तिमान हो जाएँ, तो निश्चय ही उन दोषो से यह त्रिलोक परिपूर्ण हो जाय। निर्दयता, अनार्यता, अपवित्रता, मूर्खता, अति चपलता, वंचकता और कुशीलता, ये दोष स्त्रियोके स्वाभाविक होते हैं। स्त्रियाँ ऐसी निर्दय होती है कि दान, सन्मान, सभोग, नमस्कार, आदर, शिष्टाचार, आदि खुशामदके कार्योंसे सेवा करनेमें तत्पर पति को भी मार डालती है[1]। यह दोषारोपण स्वय इतना भयंकर है और नारीके प्रति किये जाने वाले अपमानजनक व्यवहारका इतना वीभत्स उदाहरण है कि इसके आगे और कुछ कहनेकी आवश्यकता न थी। परन्तु यही तक विष उगलकर शुभचन्द्रको संतोष नही हुआ। आगे बढकर उन्होने विना किसी अपवादके सभी स्त्रियोको दुराचारिणी कह दिया है। उन्होंने कहा है कि सभी स्त्रियाँ कामदेव सरीखे पतिको परकर भी अन्य पुरुषकी वाछा करती हैं। उन्होने यह भी कह डाला है कि इस जगतमें कोई भी ऐसा मत्र औषधि या विद्या नही है जिससे स्त्री सद्भावको प्राप्त हो या कुटिलता रहित हो[2]। इन शब्दोमें स्त्रियोको कुटिल ही नही कहा गया है वल्कि उनकी कुटिलताको अपरिहार्य भी ठहरा दिया है। अन्य जैन ग्रथोमें भी स्त्री-निन्दा काफी है। सुभाषित रत्न-सदोहमें अमित गति आचार्यने कहा है कि स्त्रियाँ सर्वदा माया करती है, इनका मन कभी स्थिर नही रहता, ये उपकारीका भी कभी उपकार नही मानतीं। ये झूठ बोलनेमें चतुर होती है,

---

[1] यम जिह्वानल ज्वाला वज्र विद्युद्विषंकुरान् ।
समाहृत्य कृता मन्य वेधसेयं विलासिनी ॥
यद्वक्तुं न वृहस्पतिः शतमुखः श्रोतुं न राक्षत्क्षमः ।
तत्स्त्रीणामगुण व्रजं निगदितुं मन्ये न कोऽपि प्रभुः ॥
यदि मूर्त्ताः प्रजायन्ते स्त्रीणां दोषाः कथंचन ।
पूरयेयुस्तदा नूनं नि.शेषभुवनोदरम् ॥
निर्दयत्वमनार्यत्वं मूर्खत्वमतिचापलम् ।
वंचकत्वं कुशीलत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥
दान सन्मान संभोग प्रणति प्रतिपत्तिभिः ।
अपि सेवा परं नार्यं घ्नन्ति नार्योऽतिनिर्दयाः ॥

(सान्तर्णव अ० १२-२०-५४, ५०, ६, ३८)

[2] स्मरोत्संगमपि प्राप्य वांछन्ति पुरुषान्तरम्
नार्यः सर्वा स्वभावेन वदन्तीत्य मलाशयाः
न तदस्ति जगत्यस्मिन् मणि मन्त्रोपवान्वनम्
विद्याश्च येन सद्भावम् प्रयासन्तोह योषित.

(ज्ञानार्णव, अ० १२-३१, २६)

कुलमें धब्बा लगा बैठती है[1]। आगे यहीं उन्होने स्त्रीको 'धर्मारामभंक्त्री' धर्मकी जड़ काटनेवाली, निंदनीय, आदि अनेक पदवियाँ भी दी है। प्रसिद्ध जैन-ग्रंथ सागर-धर्मामृतमें भी स्त्री-निंदा की गई है। दिगम्वर जैन पथने स्त्रीके लिये मोक्षका द्वार ही वन्द कर दिया है। इस तरह हम देखते है कि जैन-धर्म स्त्री-निंदामें हिन्दू-धर्मसे पीछे नही है और व्यावहारिक जीवनमें जैन-नारी हिन्दू-नारीकी तरह ही दवी-पिसी हुई है। यहाँ भी वही शोषण और उत्पीडन है, वही पद-दलन है, वही मरण है।

वौद्ध-धर्मके साहित्यमें भी स्त्री-निन्दाकी भरमार है। वहाँ कहा गया है कि स्त्रियाँ असाध्वी होती है। उनका कोई समय नही होता, जैसे दीपककी शिखा सवको जला देनेवाली होती है, वैसे ही वे रागानुरक्त तथा प्रगल्भ होती है[2]। स्त्रियाँ माया हैं, मरीचि है, शोक है, रोग है, उपद्रव हैं, वंधन है, मृत्यु-पाश है, गुहा आशय है। जो मनुष्य उनका विश्वास करे, वह नरोमें अधम नर है[3]। स्त्री वौद्धाचार्यने उपदेश देते हुए कहा है कि जैसे नदी, महामार्ग शरावखाने, धर्मशालाएँ तथा पियाऊ सवके लिये आम या सामान्य हैं, वैसे ही लोकमें स्त्रियाँ सवके लिये सामान्य होती है। वुद्धिमान लोग उनके विषयमें क्रोध नही करते[4]। यहाँ नारीको कितना नीचा गिरा दिया गया है? और भी काफी स्त्री-निन्दा वौद्ध साहित्यमें है। हिन्दू-धर्म व जैन-धर्मसे स्त्री-निन्दामें वौद्ध-धर्म पीछे नही है।

ईसाई-धर्ममें भी स्त्री-निंदा कम नही है। वाइविलमे नारीको सारे अनर्थोंकी जड कहा है। योरोपके प्रसिद्ध लेटिन धर्म याजक टारटुलियनने नारीको संवोधित करते हुए लिखा है तू शैतानका दरवाजा है और तू दैवी नियम या धर्मका सवसे पहले परित्याग करनेवाली है।

सेन्ट अगस्टिन प्रत्येक स्त्रीमें चाहे वह माँ हो या वहिन हो हौएका निवास मानते थे। और भी ईसाई धर्मके साहित्यमें जगह-जगह स्त्री निन्दाके के वाक्य मिलते हैं। इसी तरह इसलाम यहूदी आदि भी सभी सम्प्रदायो ने कम ज्यादा स्त्रीकी वुराई की है। उसे 'नाकिसउल-अक्ल' मूर्ख कहा गया है। यहूदियोमें तो प्रार्थना की जाती है कि हे प्रभु आपने वड़ी कृपा की कि हमें स्त्री नही वनाया। कुरानमें एक जगह ऐसा लिखा है कि

---

[1] शाश्वन्मायां करोति, स्थिर पति न मनो मान्यते नोपकारं।
या वाक्यं वक्त्यसत्यं, मलिन पति कुलं, कीर्त्ति वल्लीलुनाति॥
(सु० र० संदोह, ११६)

[2] असा लोकित्थियो नाम वेला तासं न विज्जति।
सारत्ता च पगब्भा च सिखो सव्वघसो यथा।
ता हित्वा पव्व जिस्सामि विवेक मनु दूहयं॥

[3] माया चेषा मरिचि च सोको रोगी चुपद्दवो।
खरा च वन्धना चेता मच्चुपासो गुहासयो।
ता सुयो विस्ससे पीसो से नरेस नराधमो।

[4] यथा नदी च पन्था च पाणागारं सभापथा।
एवं लोकित्थियो नाम नासं कुज्झन्ति पंडिताः॥

जव उसने (मुहम्मद साहवने) वहिश्तका नजारा देखा, तो उसे मालूम हुआ कि वहाँ रहनेवालोमें वहुत ज्यादा लोग गरीव है और जव दोजख या नरककी तरफ देखा तो पता चला कि जो कम्वख्त वहाँ वन्द है उनमें ज्यादातर औरतें हैं। चीन देशमें यह कहावत वहुत प्रचलित है कि ज्ञान जिस प्रकार पुरुषोंकी शोभा वढाता है, उसी प्रकार अज्ञान स्त्रियोकी सुन्दरता वढाता है। गरज यह कि जिस धर्म व देशके साहित्यको देखिये, स्त्री-निन्दा वहाँ परिपूर्ण है।

इस तरह हिन्दू-धर्म, जैन-धर्म, वौद्ध-धर्म, इसलाम और ईसाई-धर्म, इन सभी महान धर्मोमें नारीको निकृष्ट स्थान मिला है। और छोटे-छोटे धर्मो या पन्थोमें भी यही रफ्तारेवेढगी है। नारीकी निन्दा सर्वत्र ओत-प्रोत है। स्त्री-प्रशाके वाक्योका जहाँ प्रयोग किया गया है, वहाँ भी छलना है, धोखा है, क्योकि वहाँ भी उसी नारीकी प्रशसा है जो अपना स्वतत्र स्थान नही रखती है वल्कि जो नर-रूपी वृक्षके ऊपर टिकी हुई वेल मात्र है। देशमें, समाजमें, परिवारमें, खुद अपने घरमे स्त्रीको कोई मान प्राप्त नही है। जव तक पुरुपकी कृपा-दृष्टि है वह सव-कुछ है, जहाँ पुरुप महोदय की दृष्टि फिरी कि वह कुछ नही, केवल पगकी जूती है, दासी है, अवला है।



श्री मोहनसिंह सेंगर

गाँधीजी और भारतीय नारी

गाँधीजी केवल एक राजनेता ही नही, एक सच्चे हितू और हृदयवान सखा भी थे। इसीलिये लोग राजनीतिके सिवा उनसे अपने घरेलू, पारिवारिक और सामाजिक समस्याओ की भी चर्चा किया करते थे। उस दृष्टिसे उन्होने जितनी स्त्रियोके मनको जीता, उनकी कष्ट-कठिनाइयोमें मदद की, उतनी शायद ही और किसी भारतीय नेताने की होगी। इसका एक विशेष कारण था और वह यह कि चूँकि गाँधीजीकी राजनीति मानवतावादी थी, वे मानव और उसके भले-बुरे, नीति-अनीतिपर गभीर नजर रखते थे। दूसरे धर्मालु और नैतिकतावादी होनेके कारण गाँधीजी किसी भी अन्याय, अत्याचार या अनीति को सहन करनेको तैयार न थे। और जब उन्होने राष्ट्रीय कार्योके सिलसिलेमें देश के विविध भागोकी नारियोके सम्पर्कमें आकर अनुभव किया कि वे कितनी पराधीन और पिछडी है, तो उन्होने उनकी अवस्था सुधारनेके कार्यको अपने कार्यक्रमका एक प्रमुख अंग बनाया। इसीलिए विशेष रूपसे बहनोके विश्वास-भाजन बन सके।

अपने राष्ट्रीय आन्दोलनके दौरानमें गाँधीजीने अनुभव किया कि जिनका भारतीय सभ्यता और संस्कृतिमें इतना महत्वपूर्ण स्थान और योग रहा है, जो मनुष्यकी सहधर्मिणी रही है, वे आज शिक्षा-स्वत्वहीन पाँवकी जूती-सी बनी हुई है। और जब तक उनकी यह अवस्था है, देश क्या स्वराज्य हासिल कर सकेगा? क्या वह उससे लाभ उठा सकेगा? और यह बात उनके मनमें ऐसी कौंध गई कि न सिर्फ अपनी स्त्रीके प्रति उनका रुख बदला, बल्कि समूचे देशकी नारियोके उद्धार, उनकी समानता और स्वतंत्रताके लिए उन्होने आन्दोलन करना शुरू किया। धर्म और परम्पराके खिलाफ उन्होने आवाज़ उठाई और यहाँ तक कहा कि "यदि धर्मशास्त्र नारीकी समानता और स्वतत्रता के विरोधी है, तो मेरे लिए वे मान्य और पवित्र नही है।" उन्होने बाल-विवाह, जबरन थोपे गए वैधव्य, पर्दा, देवदासी-प्रथा, वेश्यावृत्ति, दहेज, विवाहिता स्त्री की अर्थनीतिक दासता आदिके खिलाफ बोल और लिखकर ज़बर्दस्त आवाज़ उठाई और डंकेकी चोट कहा कि "स्त्री और पुरुष हर दृष्टिसे बराबर है। जहाँ तक स्त्रियोके अधिकारोका सवाल है, मैं कोई समझौता नही कर सकता।" यही कारण है कि अपने आश्रमों और आन्दोलनोमें गांधीजीने स्त्री-पुरुषोमें कभी भेद नही किया। उनके चर्खा-संघमें तो बहनोका ही प्रभुत्व हो गया। उन्होने नारीको त्याग और सहिष्णुताका प्रतीक माना है और कभी भी प्रलोभनमें आकर अपने-आपको न बेचनेका उपदेश दिया

है। वे नारीको 'अबला' या 'दुर्बला' न मानकर सदा उससे अपनी आत्मा और शरीरको बलवान बनाने तथा बिना पुरुषके सरक्षणके रहने लायक बननेका अनुरोध करते रहते थे।

२० फरवरी, १९१८ के बम्बई भगिनी-समाजकी अध्यक्षता करते हुए आपने कहा था—"जब हम नारीके पुनरुद्धारकी बात कहते हैं, तो स्वभावतया उसमें यह बात तो आ ही गई कि उनकी स्थिति बडी खराब है।" इसके बाद आपने अपना अनुभव बताते हुए कहा कि—"देशके विभिन्न भागोमें घूमकर मैंने यह अनुभव किया कि देशकी स्वाधीनताका जो आदोलन चल रहा है, वह केवल १५ प्रतिशतमें ही; बाकी ८५ प्रतिशत इससे एकदम उदासीन है। ये शहरो या गाँवोमें रहते है। कुछ करते भी हैं। एक-दूसरेकी मदद भी करते हैं। पर इनके जीवनमें एक तरहकी अपूर्णता है। इनमें स्त्रियोकी जो दुरवस्था है, वह शास्त्रोकी देन है और जिसे अध-परपराके रूपमें स्त्रियाँ मान रही हैं। हमारी स्मृतियोमें स्त्रियोके बारेमें जैसे आक्षेप हैं, उन्हें पढ़कर लज्जा आती है। पर शायद जल्दी ही हम उन्हें भूल जायेंगे।" पर उन्होने कहा कि इनसे नारियोको मुक्त करनेका काम स्त्रियोको ही करना होगा। इस सम्बन्धमें उन्होने कहा—"इसके लिए पहला प्रयत्न इस बातका करना होगा कि अधिकाधिक स्त्रियोंके मनमें उनकी वर्तमान स्थिति के संबधमें एक जागरूकता पैदा करनी होगी। मैं यह नही मानता कि यह केवल पुस्तकीय शिक्षासे ही हो सकता है। उस दृष्टिसे काम करना इस कार्यको अनिश्चित कालके लिए स्थगित कर देना होगा, क्योकि वैसा होने तक ठहरना कतई आवश्यक नही है। हमारे देशकी स्त्रियोको बिना शिक्षित किए ही उन्हें उनकी मौजूदा दयनीय अवस्थासे परिचित तो कराया ही जा सकता है।" आगे चलकर उन्होने कहा—"नारी नरकी सच्ची सखा है और उसीके समान उसकी दिमागी क्षमता है। उसे भी उतनी ही स्वतत्रता है, जितनी कि पुरुषोको और उसके हर काममें शामिल होनेका उसे भी पूरा अधिकार है। जिस प्रकार आदमी का अपने क्षेत्रमें उच्च स्थान है, उसी प्रकार नारी का भी उसके क्षेत्रमें उच्च स्थान है। यह स्वाभाविक स्थिति होनी चाहिये, पढने-लिखने के बादकी नही। पर दुर्भाग्यवश केवल हानिकर परम्पराके कारण बडे अज्ञ और निकम्मे पुरुष तक स्त्रियोपर ऐसा प्रभुत्व पाए हुए है, जिसके न वे योग्य है, और न जो उन्हें मिलना ही चाहिए। हमारे अनेक आन्दोलन इसीलिए अधूरे रह जाते है कि हमारी स्त्रियोकी स्थिति बडी दयनीय है।"

केवल शिक्षाके अभावके कारण कोई स्त्रियोको दबाकर रखे या उन्हें कोई अधिकार न दे, इस विषयकी चर्चा करते हुए आपने कहा—"मैंने समय-समयपर कहा है कि केवल इसलिए कि स्त्रियाँ अशिक्षित है, आदमीके लिए उन्हें समान स्वतन्त्रता एव अधिकारोंसे वचित रखना उचित नही है, यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि इन नैसर्गिक अधिकारोका उपयोग करने तथा उनका बुद्धिमत्तापूर्वक उपभोग करनेके लिए शिक्षा एक अनिवार्य आवश्यकता है। बिना शिक्षाके करोडोके लिए अपने आपको समझना भी मुश्किल है। अनेक ग्रथ है, जिनसे आनन्दकी उपलब्धि हो सकती है। पर जो शिक्षित नही, वे इनसे वचित ही रहते हैं। ऐसा कहना अत्युक्ति न होगा कि बिना शिक्षाका मानव पशुसे बहुत भिन्न नहीं है।"

स्त्री-शिक्षाका आदर्श

भगिनी-समाजके अपने भाषणके दौरानमें गाँधीजीने स्त्री-शिक्षाके सम्बन्धमें कहा—"शिक्षा स्त्रीके लिए भी उतनी ही जरूरी है, जितनी कि पुरुषके लिए। पर इसका मतलब यह नही कि दोनोकी शिक्षा-प्रणाली भी एक ही हो। हमारी मौजूदा शिक्षा-प्रणाली गलतियोंसे भरी है और इससे स्त्री-पुरुष दोनोको समान रूपसे वचना चाहिए। यदि आजकी शिक्षा-प्रणाली दोषहीन होती, तव भी मैं इसे सव दृष्टियोसे स्त्रियोके उपयुक्त न मानता।" इस विषयको उन्होने और भी अधिक स्पष्ट किया २७ नवम्वर, १९२७ को जाफना (लंका) के रामनाथन गर्ल्स कालेजकी भारतीय छात्राओंके सामने दिए गए अपने भाषणमें, जिसमें उन्होने कहा—"यह कहना आसान है कि आप लोग जरा अधिक सादा और परिश्रमका जीवन वितायें। पर यह स्त्री-शिक्षाके प्रश्नके साथ खिलवाड करना-मात्र होगा। इस कालेजमें आप लोगोको धार्मिक शिक्षा दी जाती है, यह अच्छा ही है। आपके यहाँ एक सुन्दर मन्दिर भी है। आपके टाइम-टेवुलसे पता चलता है कि आपका कार्यक्रम पूजा और प्रार्थनाके साथ शुरू होता है। यह सव अच्छा और व्यक्तिको ऊपर उठानेवाला है। पर यदि इस पूजा-प्रार्थनाको आप लोग नित्य-नैमित्तिक जीवनमें किसी व्यावहारिक कार्यके रूपमें परिणत न करें, तो यह सब एक सुन्दर दिखावे के सिवा और कुछ भी नही है।" आगे चलकर वापूने कहा—"आपके कालेज की पत्रिकामें वडे गर्वके साथ यह विज्ञापित किया गया है कि पुरानी छात्राएँ क्या कर रही हैं। मैंने ४–५ ऐसे नोटिस भी देखे कि अमुकने अमुकसे विवाह कर लिया है। पर इन नोटिसोंमें मुझे एक भी लडकीका उल्लेख नही मिला, जिसने केवल सेवा-कार्यके लिए अपना जीवन दे दिया हो। इसलिए मैं आपसे यह कहना चाहता हूँ कि यदि शिक्षा द्वारा आप लोग गुड़िया वनें और शिक्षण-सस्था छोड़ते ही सार्वजनिक क्षेत्रसे अदृश्य हो जायँ, तो आपकी शिक्षाके लिए जो प्रयत्न हो रहे है एवं जो खर्च किया जा रहा है, उसका कोई बड़ा फल नही निकल रहा। हर लड़की, हर भारतीय लडकी, केवल शादी करनेके लिए ही पैदा नही हुई है। मैं ऐसी कई लड़कियोको जानता हूँ, जिन्होने एक आदमीकी सेविका न वनकर सार्वजनिक सेवाके लिए जीवन उत्सर्ग कर दिया है।"

नारीकी सामाजिक स्थिति

यद्यपि गाँधीजीने नारीके लिए सेवा और पवित्रताके आदर्शकी वात कही है, पर मूलत' वे उसका क्षेत्र घर ही मानते थे। किन्तु इसमें उसकी आजकी-सी पराधीनता या हीन स्थिति वे कदापि स्वीकार करनेको तैयार न थे। उनका कहना था कि "यदि पुरुषके लिए कोई कानूनी अयोग्यता नही है, तो स्त्रीके लिए भी नही होनी चाहिए। स्त्रीके अधिकारोके मामलेमें मैं कोई समझौता करनेको तैयार नही।" पर स्त्रीके सापत्तिक अधिकारोंके वारेमें उनका कहना था—"अधिकाश स्त्रियाँ विवाहिता होती है और (सांपत्तिक अविकार-सवंधी) कानूनी अयोग्यताके वावजूद अपने पतियोकी सत्ता-सुविधाओ में हाथ वँटाती है। अक्सर वे इसी स्थितिमें खुश रहती है और विपमता दूर करनेके लिए उग्र सुधारो-संवंधी गरमागरम वहसोमें चाहे जितना भाग लें, पर इस स्थितिको छोड़ना नही चाहती। इसलिए जहाँ मैं नारियोकी सभी प्रकारकी कानूनी अयोग्यताओ

को दूर करनेकी सदा वकालत करता आया हूँ, मैं चाहूँगा कि भारतकी जाग्रत नारियाँ जड-मूलसे इस समस्याका इलाज करें। नारी चूँकि त्याग और सहिष्णुताका प्रतीक है, अतएव उसका सार्वजनिक क्षेत्रमें आना इसे पवित्र बनानेके लिए होना चाहिए एव उसे अवाध महत्वाकाक्षा और सम्पत्ति बनानेके लोभको सवरण करना चाहिए। उन्हें जानना चाहिए कि लाखो व्यक्तियोंके पास अपने उत्तराधिकारियोंके लिए छोड जानेको सम्पत्ति नही होती। इससे हमें यह नसीहत लेनी चाहिए कि जो इने-गिने लोग बच रहते हैं, उन्हें भी किसी पैतृक सम्पत्तिकी आशा नही करनी चाहिए। असली सम्पत्ति तो वह चरित्र और शिक्षा है, जो माँ या बाप अपनी सन्ततिके लिए समान रूपसे छोड सकते हैं। माँ-बापको अपने लडके-लडकियोको आत्म-निर्भर और अपने पसीनेकी कमाईसे ईमानदारीके साथ जीविकोपार्जन करने लायक बनाना चाहिए। इसके विपरीत जो धनी अपने बच्चोको माकूल शिक्षा न देकर पैतृक सम्पत्तिका गुलाम बना जाते है, वे उनकी प्रेरणाको मारकर उनमें ऐसी अकर्मण्यता पैदा कर जाते हैं, जिससे वे आलसी और आराम तलब ही होते है। आजके धनी घरोके अधिकाश बच्चोके अविकासका यही कारण है। जाग्रत महिलाओ का यह विशेष कर्तव्य है कि वे इस युगातीत बुराईको दूर करें।"

२८ नवम्बर, १९३६ के "हरिजन" में गाँधीजीने बेजवाडासे प्रकाशित "इडियन स्वराज्य" के उस लेखकी चर्चा की है, जिसमें स्मृतियोके आधार पर स्त्रीके सम्बन्धमें कहा गया है–(१) पति चाहे जैसा भी चरित्रहीन, कामुक और दुर्गुणी क्यो न हो, स्त्री उसे परमेश्वर समझे (मनु० ५–१५४)। (२) स्त्रीका सबसे बडा धर्म यही है कि वह अपने पतिकी आज्ञाका पालन करें (याज्ञवल्क्य, १–१८)। (३) स्त्रीके लिये कोई अलग त्याग, तपस्या या व्रत-उपवास नही है। वह तो पतिकी सेवा करने-मात्रसे ही स्वर्ग में जाती है (मनु० ५–१४५)। (४) जो स्त्री पतिके जीतेजी व्रत-उपवास करती है, वह पतिकी आयु कम करती है और नरकमें जाती है। जो स्त्री पतिके पाँव या सारा शरीर धोकर पी जाती है, उसको सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है (अत्रि, १३६–३७)। (५) पतिसे ऊँचा स्थान स्त्रीके लिए और कोई नही है। जो पतिको अप्रसन्न रखती है, वह कभी भी उसके लोक को नही जा पाती। इसलिए उसे कभी भी पतिको अप्रसन्न नही करना चाहिए।(वशिष्ठ, २१–४१)। (६)जो स्त्री अपने पतिकी आज्ञा न मानकर पितृ गृहमें गर्वपूर्वक रहती है, राजाको चाहिए कि उसे जनताके सामने कुत्तोसे नुँचवा दे (मनु० ८–३७१)। (७) पतिकी आज्ञा न माननेवाली स्त्रीके हाथका भोजन किसी भी व्यक्ति को नही करना चाहिए। ऐसी स्त्री दुराचारिणी कही जानी चाहिए (आगीरस, ६९)। (८) यदि पतिकी दुश्चरित्रता या शराबखोरी या बीमारीके कारण स्त्री उसकी आज्ञा न माने, तो उसके कीमती वस्त्राभूषण छीनकर उसे तीन मास तक अलग रखा जाना चाहिए (मनु० १०–७८)।

इसपर टिप्पणी करते हुए गाधीजीने लिखा—"यह दु खकी बात है कि स्मृतियोमें ऐसी बातें है, जिन्हें अपने समान ही नारीको स्वतत्र देखनेवाला तथा उसे जगतजननी माननेवाला कोई भी व्यक्ति इज्जतकी निगाहसे नही देख सकता। यह इससे भी अधिक दु खकी बात है कि पुराणपथियो द्वारा प्रकाशित एक पत्रमें स्मृतियोकी ये बातें ऐसे छपें,

मानो ये धर्मका ही अंग हो। यथार्थमें तो स्मृतियोमें ऐसी बातें भी है, जो नारीको उसका उचित स्थान देती और उसे सम्मानकी दृष्टिसे देखती है। अब प्रश्न यह उठता है कि जिन स्मृतियोमें ऐसी परस्पर-विरोधी बातें हो, और जिनसे आदमीकी नैतिक मान्यताओ को ठेस पहुँचती हो, उनका क्या किया जाय? जैसा कि मैं पहले भी कई बार कह चुका हूँ कि यद्यपि इन्हें धर्मशास्त्रके नामपर प्रचारित किया गया है, हमें इसे ईश्वर-वाक्य या इलहाम ही नही समझना चाहिए। फिर हर एक के लिए यह तय करना भी मुश्किल है कि क्या अच्छा और अविकृत है एवं क्या बुरा और प्रक्षिप्त है। इसलिए अधिकारी विद्वानोकी कोई ऐसी सस्था होनी चाहिए, जो धर्मशास्त्रोके नामपर चलनेवाले इन सब ग्रथोको दोहराये और इनमेंसे जिन बातोका नैतिक मूल्य नही है अथवा जो धर्म और नैतिकताके मूलभूत सिद्धान्तोंके विपरीत हैं, उन सबको निकाल दे और हिन्दुओके मार्ग प्रदर्शनके लिए इनका अविकृत संस्करण तैयार कराये।" एक अन्य स्थानपर उन्होने लिखा— "जो स्त्री सम्यकरूपेण अपने कर्तव्य का पालन करती है, वह अपनी प्रतिष्ठापूर्ण स्थितिसे अपरिचित नही। वह घरकी दासी नही, रानी है।" (हरिजन, १२-१०-३४)

२४-२-१९४० के "हरिजन" में गाँधीजीने स्त्रियोकी स्थितिके सम्बन्धमें एक बहनका पत्र छापकर लिखा है—"जब तक हम यह समझते रहेंगे कि स्त्रीके साथ पुरुषसे भिन्न व्यवहार होना चाहिए, इस समस्याका कोई सही हल संभव ही नही। अतत. यह निर्णय तो अधिकारपूर्वक स्त्रीको ही करना पडेगा कि वह क्या चाहती है? मेरा अपना खयाल यह है कि चूँकि मूलतः स्त्री और पुरुष एक है, सार रूपमें उनकी समस्याएँ भी एक ही होनी चाहिए। दोनोकी आत्मा एक है। दोनोकी भावनाएँ एक है दोनो एक-सा जीवन बिताते हैं। दोनो एक-दूसरेके पूरक है। दोनो एक-दूसरेकी सक्रिय सहायताके बिना नही रह सकते। किन्तु किसी प्रकार युगोंसे पुरुष नारीपर प्रभुत्व करता आया है और इसी कारण स्त्रीमें एक प्रकारकी हीनता की भावना है। उसने आदमीकी इस स्वार्थपूर्ण शिक्षाको ही सच माना है कि वह पुरुषसे हीन है। पर पुरुषोमें जो उच्चात्मा हुए है, उन्होने सदा स्त्री-पुरुषकी समानताको ही माना है।"

महिलाएं और शान्ति

जब गांधीजी पहली गोलमेज़ कार्फ्रेंसमें लदन गए थे, तो लौटते हुए वे इटली आदि यूरोपके कुछ देशोमें भी रुके थे। वहाँ हुई महिलाओकी एक सभामें उनसे पूछा गया कि क्या स्त्रियाँ सैनिकवादके खिलाफ लड सकती है? इसके उत्तरमें गाधीजीने कहा— "यदि स्त्रियां सिर्फ यह भूल जायें कि वे दुर्बल है, तो वे युद्धके खिलाफ पुरुषसे कहीं अधकि काम कर सकती हैं। इस प्रश्नका उत्तर आप लोग अपने मनमें दीजिए कि यदि आपके महान् सेनपतियो और सिपाहियोंकी पत्नियाँ, पुत्रियाँ और माताएँ उनके सैनिकवादमें भाग लेनेका विरोध करें, तो वे क्या कर सकेंगे?"

लूसेनकी एक दूसरी महिला-सभामें बोलते हुए उन्होने कहा—"मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि यूरोपने कभी अहिंसाका महत्व समझा तो वह यहाँकी स्त्रियोंके द्वारा ही संभव होगा। स्त्री आत्मोत्सर्गका प्रतीक है। पर दुर्भाग्यवश आज वह महसूस नहीं कर रही है कि पुरुषके मुकाबलेमें उसकी कितनी अधिक शक्ति है। टाल्स्टायका कहना था कि वे पुरुषके

जादूके प्रभावमें रह रही है। यदि वे स्वयं अहिंसाकी शक्तिको महसूस करलें तो अपने आपको दुर्बल कहलाना भी पसन्द नहीं करेंगी।"

इसी संबंधमें इटलीकी एक अन्य सभामें बोलते हुए आपने कहा—"अहिंसाकी लडाई की विशेषता यही है कि इसमें स्त्री भी पुरुषकी तरह ही भाग ले सकती है। हिंसात्मक युद्धमें स्त्रियोको यह सुविधा नही है। भारतके पिछले अहिंसात्मक सग्राममें पुरुषोकी अपेक्षा स्त्रियाँने अधिक महत्वपूर्ण भाग लिया। इसका कारण बडा सरल है। अहिंसात्मक सग्राममें अधिकतम त्याग करना पडता है और स्त्रियोंसे अधिक शुद्धता और भलमंसाहतसे कौन त्याग कर सकता है? भारतीय महिलाओने पर्दा फाड फेंका और राष्ट्रके लिए काम करनेको घरोसे बाहर आ गईं। उन्होंने देखा कि आज देश उनमे केवल घरोकी देख-भालसे कुछ ज्यादा काम की अपेक्षा रखता है। (यग इडिया, १४–१–३२)

उपर्युक्त बातें गाधीजीने उस समय कही थी जब कि हिटलर, मुसोलिनी और तोजो की दुरभिसधिके कारण युद्धकी आशंकासे यूरोप त्रस्त था। पर कुछ समय बाद जब यह आशका कम हो गयी तब एक अग्रेज महिला मित्रने उन्हें लिखा—"जब मानवता विनाशके किनारे पहुँची हुई थी, आपका इस सम्बन्धमें कुछ कहना सर्वथा स्वाभाविक ही था। पर प्रश्न तो यह है कि क्या दुनिया आपकी बात सुनेगी?—जब यह समाचार आया कि फिलहाल लडाई टल गई है, तो हमें जो राहत मिली, जो खुशी हुई, ईश्वरके प्रति हमने जो कृतज्ञता दिखाई, वह मुझे जीवन-भर न भूलेगी। पर क्या वर्णनातीत विनाश, कष्ट-सहन, अपने कुटुम्बी लोगोको एक देशके दूसरे द्वारा जलील किये जाने का भय ही हमारे युद्धसे घृणा करनेका कारण नही है? क्या हमें इस बातकी खुशी है कि एक दूसरे राष्ट्रको जलील कर युद्ध टाला गया है? यदि हमसे अपना आत्मसम्मान खोनेकी बात कही जाती, तो क्या हम इससे कुछ भिन्न महसूस करते? क्या हम इस लिए युद्धसे घृणा करते हैं कि हम इसे आपसी झगडे तय करनेका एक गलत तरीका समझते है या इसके प्रति हमारे मनमें जो घृणा है, वह हमारे भयका कारण है? यदि ससारसे सचमुच युद्धका विनाश होना है, तो इन प्रश्नोका भलीभाँति उत्तर दिया जाना चाहिए। सकट टल जानेके बाद हम देखते है कि पहलेसे भी अधिक तगडी दौड पुन शस्त्रीकरणके लिए शुरू हो गई है और युद्धकालमे स्त्री-पुरुष, साधनो और ज्ञानका जितना बडा संग्रह नही होता, उतना अब हो रहा है! कोई यह नही कह रहा कि युद्ध नही होगा। क्या इसका यह अर्थ नही कि यद्यपि आज युद्ध टल गया है, पर उसकी सभावना डेमोक्लीजकी तलवारकी तरह हमारे सिरपर लटक रही है? एक स्त्रीके नाते मैं यह महसूस कर रही हूँ कि मेरी जाति अपनी भावना और विशेषाधिकारोंके कारण विश्व-शातिके लिए जितना कुछ कर सकती थी, नही कर सकी।" इस पत्रको बिना किसी सकोचके ५–११–१९३८ "हरिजन" मे प्रकाशित कर गांधीजीने लिखा—"मेरा यह विश्वास है कि स्त्रीका यह मिशन है कि वह अहिंसाका उच्चतम और श्रेष्ठतम रूप उपस्थित करे। लेकिन इसकेलिए यह जरूरी क्यो हो कि पुरुष उनका हृदयमथन करे?—सभव है कि कभी स्त्रियोमेंसे कोई एक ऐसी निकले, जो मेरी कल्पनासे भी आगे जा सके, क्योंकि पुरुष की अपेक्षा स्त्री अहिंसाके क्षेत्रमें अधिक प्रयोग करने तथा अधिक दृढतासे कार्य करनेकी

क्षमता रखती है। आत्म-त्यागके साहसमें स्त्री पुरुषसे कही ऊँची है, भले ही पशु-बलमें पुरुष उससे कितना ही ऊँचा क्यो न हो।" इसी सबधमें जुलाई १९४० में एबटाबाद में हुए महिला-सम्मेलनके प्रस्तावपर टिप्पणी करते हुए आपने लिखा—"मेरी ही तरह इन बहनोका भी विश्वास है कि युद्ध-विरोधी सघर्षमें ससारकी महिलाएँ ही अग्रणी हो सकती है। यह उनकी विशिष्टता है।"

आधुनिक नारीके सम्बन्धमे गाँधीजीकी गलत धारणा

जहाँ गाँधीजीने नारीके युद्ध-विरोधी कर्त्तव्यका जिक किया है, इसके लिए उसकी अद्भुत क्षमताकी दाद दी है . वहाँ उन्होने यह भी लिखा है—"मेरी रायमें यह स्त्री और पुरुष दोनोका पतन है कि स्त्रीसे घर छोड़कर उसकी रक्षा के लिए बंदूक धारण करनेका अनुरोध किया जाय या उसे मजबूर किया जाय। यह तो फिर बर्बरताको लौट जाना और अंतका आरम्भ है। जिस घोड़ेपर पुरुष चढा, उस पर चढनेकी कोशिश कर नारी अपनेको और उसको गिराती है।"

यहाँ हम अपने-आपको गाँधीजीके मतसे सहमत नही पाते। अगर स्त्री और पुरुष में कोई भेद नही, अगर दोनो एक-दूसरेके पूरक और सहायक है, अगर स्त्री पुरुषकी सहधर्मिणी और सहगामिनी है, तो घरकी रक्षाको निरा पुरुषका कार्य और कर्त्तव्य समझकर छोड़ देना अन्याय होगा। फिर आक्रमणात्मक और रचनात्मक युद्धमें अन्तर भी करना होगा। गाँधीजीके हिसाबसे तो पिछले महायुद्धमें जिन महिलाओने अपूर्व कार्य किया, वे सब गुमराह थी ? युद्ध केवल पुरुषको या उसके घरको ही नष्ट नही करता, स्त्रियो और बच्चोको भी ; अत उसकी विरतिका उपाय करना पुरुषके साथ स्त्रियोका भी कर्त्तव्य है।

इसी प्रकार गाँधीजीने स्त्री द्वारा बाहरी काम करनेके सम्बन्धमें भी कहा है—"यदि लाखो स्त्रियाँ मजबूरन घर छोड़कर रोज़ी कमाने लगती है, तो यह भी ग़लत है—यद्यपि बन्दूक धारण करने जितना गलत नही। मूलत परिश्रम करनेमें कोई बर्बरता नही है। स्त्रियाँ घरोकी देख-रेख करती हुई स्वेच्छासे खेतोमें काम करें, इसमें कोई बर्बरता नही देखता। मेरी कल्पनाकी नई व्यवस्थामें सभी अपनी क्षमताके अनुसार काम करेंगे और उन्हें श्रमके अनुपातसे ही पारिश्रमिक मिलेगा। नई व्यवस्थामें स्त्रियाँ अल्पकालिक काम ही करेंगी, उनका प्राथमिक कार्य तो घरकी देखभाल करना ही होगा।" (हरिजन, १२–३–४०)

युद्धमें नारीने बंदूकतो धारण नही की, पर पुरुषकी सहायिकाके रूपमें उसने जो कार्य किया, वह सर्वविदित है। किन्तु देशके विभाजनके फलस्वरूप शहरी अर्थव्यवस्था का जो ढाँचा टूटा, तो अनेकोको घर छोड़कर अथवा घरकी देख-भालके साथ ही अपने और अपने परिवारके जीविकोपार्जनके लिए बाहर आकर काम भी करना पड़ा। अगर किसान-स्त्रीका खेतमें काम करना अनुचित नही तो यह कैसे खराब हो गया ? इस बातको भुलाया नही जा सकता कि कामकाजी स्त्रियोने जाने कितने परिवारोको भूख और दरिद्रताका शिकार होनेसे बचाया है।

शारदा-बिल जब केन्द्रीय धारा सभामें पेश किया गया, तो श्रीमती डोरोथी जिनराजदासने उसके समर्थनके लिए एक पत्र भेजकर गांधीजीसे भी अनुरोध किया। इनके उत्तरमें गांधीजीने लिखा—"मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं बिलसे अनभिज्ञ हूँ, पर लडकियो के विवाहकी उम्र बढाकर १४ नही, १६ करनेके जोरोसे पक्षमें हूँ। विवाहकी तथाकथित रस्म-अदाईसे १४ वर्षकी लडकीके साथ हुए विवाह-रूपी एक अनैतिक और अमानवीय कार्यको कानूनी नही माना जा सकता। जो कार्य अपने-आपमें अनैतिक है, उसे सदिग्ध सस्कृत श्लोकोसे पवित्र नही बनाया जा सकता। मैंने बहुत-सी बाल-माताओंकी तन्दुरुस्ती चौपट होते देखी है और जब बाल-विवाहके साथ बाल-वैधव्यकी विभीषिका भी मिल जाती है, तब तो मानवकी यह दुखान्त कहानी सम्पूर्ण हो जाती है।" (यंग इडिया, २७–८–२५) इसके बाद शारदा-कानून बना, पर १४ वर्षसे कम उम्रकी शादियाँ खुलेआम गाजे-बाजेके साथ जारी रही। हालहीमें पास हुए विवाह-कानूनमें यद्यपि लडकीकी विवाहकी उम्र १८ वर्ष कर दी गई है, तथापि १४ और इससे भी कम उम्रकी लडकियोंके विवाह बदस्तूर जारी है। ग्रामीण क्षेत्रोमें तो १४ वर्षकी कोई लडकी शायद ही कुमारी मिले। इससे देशमें जो अहित हो रहा है, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

श्रीमती मार्गरेट ई० कजिन्सने गांधीजीको मद्रासकी अदालतमें चले एक मुकदमेका विवरण भेजा था, जिसमें १३ वर्षकी बालिकाका २६ वर्षके एक पुरुषसे विवाह हुआ था और जो विवाहके १३ दिन बाद ही कपडोमें आग लगनेसे जल मरी थी। अपने बयानमें लडकीने कहा था कि उसके पतिने उसके कपडोमें आग लगा दी, पर जूरीका निर्णय था कि अपने कामासक्त पतिके अमानुषिक दुर्व्यवहारको सह सकनेमें असमर्थ होनेके कारण लडकीने कपडोमें आग लगाकर आत्महत्या करली थी। इसपर टिप्पणी करते हुए गांधीजीने लिखा था—"कामान्धता कोई विवेक या दया नही जानती। लड़की कैसे मरी यह मुख्य प्रश्न नही है। निर्विवाद तथ्य तो ये है कि (१) लडकीका केवल १३ वर्षकी आयुमें विवाह हुआ, (२) लडकीको कामेच्छा नही थी, इसीलिए उसने अपने 'पति' की जबर्दस्तीका भी विरोध किया, (३) "पति" ने उसके साथ क्रूरताकी और (४) वह मर गई। इस तरहके क्रूर रिवाजको धार्मिक स्वीकृति देना धर्म नही, अधर्म है। स्मृतियाँ परस्पर विरोधी बातोसे भरी पडी हैं। उचित बात यही लगती है कि इसमें जो अश स्वीकृत नैतिकताके—और खासतौरसे स्मृतियोकी नैतिक मर्यादाके—प्रतिकूल हो, उन्हें प्रक्षिप्त मानकर निकाल देना चाहिए। आत्म-सयमकी प्रेरणादायक बातें उसी लेखनीसे कदापि नही लिखी जा सकती, जिससे कि मानवके भीतरके पशुको प्रोत्साहन देनेकी बातें लिखी गई हो। जो आदमी आत्मसयमसे अनभिज्ञ और पापमें डूबा हुआ है, वही रजस्वला होते ही लडकीका विवाह न करनेको बुरा कहेगा। रजस्वला होनेके कई वर्ष बाद भी लडकीका विवाह कर देना पाप समझा जाना चाहिए। रजस्वला होनेके बाद कोई भी लडकी वैसे ही गर्भाधानके योग्य नही हो जाती, जैसे कि रेख निकलने पर कोई भी लड़का पिता बननेके उपयुक्त नही हो जाता। बाल-विवाह-की यह बुराई नैतिक और शारीरिक दोनो दृष्टियोंसे बुरी है, क्योकि इससे नैतिकता तो नष्ट होती ही है,

शारीरिक ह्रास भी होता है। ... सामान्यतया १८ वर्षसे कम उम्रकी किसी लडकीका विवाह होना ही नही चाहिए।" (यंग इंडिया, २६–८–२६)

गाँधीजीके उपर्युक्त विचारोकी आलोचना करते हुए "यंग इंडिया" के एक पाठकने वाल विवाहके समर्थनमें उन्हें एक लम्बा-चौड़ा पत्र लिखा, जिसपर टिप्पणी करते हुए गाँधीजीने लिखा—"पर क्या लेखक यह कह सकते है कि जिन कई मूल स्मृतिकारोने आत्म-संयमपर अत्यधिक ज़ोर दिया है, उन्होने ही छोटी वालिकाओंसे विवाह करने की वात लिखी होगी ? क्या यह समझना अधिक उचित न होगा कि ऋषिलोग अपवित्रता अथवा मानव-शरीरके विकासकी मूल वातोसे अनभिज्ञ नही हो सकते। पर यदि उन्होने वाल-विवाहकी वात लिखी भी हो, तो हमें वैज्ञानिक जानकारी और सुनिश्चित अनुभव के आधार पर उसे अस्वीकार कर देना चाहिए। मै इस कथन को सही नही मानता कि हिन्दू समाजमें सर्वत्र वाल-विवाह प्रचलित रहा है। यह जानकर मुझे दु:ख होता है कि लाखो अबोध वालिकाओका विवाह कर दिया जाता है और वे पत्नी वनकर रहनेको मजबूर होती है। पर हिन्दू-जाति कभीकी खत्म हो चुकी होती यदि उसमें लाखो लडकियो का ११ वर्षकी उम्रमें विवाह हुआ होता।" (यंग इंडिया, ९–९–२६)

वंगालकी एक वहनने एक दस वर्षीय कन्याके दो रात अपने "पति" के साथ रहने के वाद उसके पास जानेसे इन्कार कर देने और फिर एक दिन पति द्वारा मार डाले जानेकी एक घटनाका विवरण भेजा और वंगालकी वाल-विधवाओकी दुरवस्थासे उन्हें अवगत कराया। इसपर गाँधीजीने लिखा—"मै एक ऐसे डाक्टरको जानता हूँ जिसने अपनी लडकीकी उम्रकी एक वालिकासे विवाह किया और अव वे दोनो "पति-पत्नी" की तरह रह रहेहैं। एक और ६४ वर्षीय शिक्षणशास्त्रीने एक ९ वर्षकी वालिकासे विवाह किया। अपनी और अपने मित्रोकी जानकारीके और उदाहरण भी दिए जा सकते है। इसमें कोई शक नही कि मूलत: इस स्थितिकी जिम्मेदारी पुरुषोपर ही है। पर क्या स्त्रियोंके लिए यह उचित है कि वे सारा दोष पुरुषोके मत्थे मढकर अपने मनको सान्त्वना दे ले ? क्या प्रगतिशील महिलाओका यह कर्तव्य नही है कि वे इस स्थितिको सुधारने के लिए कुछ करें ? यदि वे केवल अपने पतिकी गुड़िया ही वनें और समयसे पहले ही वच्चे पालने लगें, तो उनको दी गई शिक्षाका क्या अर्थ ?. ऐसी वीर महिलाएँ कहाँ है, जो वाल-पत्नियो और वाल-विधवाओमें काम करें और उस समय तक न स्वयं आराम करें और न पुरुषोको करने दें जव तक कि वाल-विवाह असम्भव न हो जाय और जव तक कि हर लडकी अपने-आपमें इतनी शक्ति महसूस न करे कि पूरी उम्र हुए विना और अपनी पसंदके आदमीके सिवा किसीसे भी शादी करनेसे साफ इन्कार कर दे।" (यंग इंडिया, ७–१०–२६)

१९३५ में वाल-विवाह-निषेध समितिने एक बुलेटिन प्रकाशित किया था, जिसमें १९३१ की मर्दुमशुमारीसे वालिकाओंके विवाह, वैधव्य, सन्तान-जन्म और मृत्युके आँकड़े उद्धृत किए गए थे। वाल-विवाहोंके परिणामस्वरूप इसमें १ से १५ वर्ष तक की वाल-विधवाओकी सख्या लाखोंमें दिखाई गई थी। इसमें कहा गया था कि वाल-विवाहो की संख्या यदि कम भी मान ली जाय, तव भी दो लाख वाल-माताओंका प्रतिवर्ष मरना तथा १००० में से १८१ वच्चोका पैदा होते ही मर जाना कम चौंका देनेवाले आँकड़े नही

है। इसपर गाँधीजीने लिखा—"इन आँकडोको देखकर हम सबको शर्मसे सिर झुका लेना चाहिए। पर इससे रोगका कोई इलाज तो न होगा। यह रोग गाँवोमें भी उतना ही व्याप्त है, जितना कि शहरोमें। यह काम स्त्रियोका है, यद्यपि पुरुषको भी अपना कर्त्तव्य पालन करना होगा। जब आदमी पशु हो जाता है, वह कोई तर्क नहीं सुनता। यह काम तो शिक्षित माताओका ही है कि वे अपने इस विशेषाधिकार और पुरुष से न कहनेके कर्त्तव्यको भलीभाँति समझें। यह बात स्त्रियोंके सिवा उन्हें कौन सिखा सकता है?" (हरिजन, १६–११–३५)

अनमेल विवाह और उसके दुष्परिणामोपर भी गाँधीजीने काफी लिखा है और लड़के-लड़कियोको लगभग हर अवसरपर कहा है कि वे २०–२५ के होने, स्वावलबी होने और अपनी पसदका साथी मिले बिना विवाह न करें। शिक्षित युवक-युवतियो और विशेष रूपसे स्त्रियोंसे उन्होने बराबर अनुरोध किया है कि वे बाल-विवाहके विरुद्ध आन्दोलन करें और इसे असम्भव कर दें।

दहेज या बिक्री

१९२७ में ८–९ वर्षके दो बच्चोके एक ६० वर्षीय विधुर पिता द्वारा १२ वर्षकी एक लडकीसे विवाह करनेका कारण गाँधीजीको भेजा गया, जिसमें कहा गया कि धन देकर लड़कीको खरीदा गया है। इसी वर्ष बम्बईके एक सुशिक्षित सरकारी अफ्सर ने अपने विवाहमें दहेजके रूपमें २०,००० रुपए लिए। शोलापुरके एक माहेश्वरी युवकने गाँधीजीको लिखा कि उसकी जातिमें अशक्त और अपाहिज बूढे भी रुपया देकर अबोध बालिकाओको खरीदते है। सिंधके एक भाईने गाँधीजीको एक अखबारमें छपी खबर दिखाई, जिसमें एक नौजवानने सगाईके समय ही २०,०००) लिए थे। उसने बताया कि आजकल सिंधमें लडकोकी कीमतें बढती जा रही है। इस पर गांधीजीने लिखा—"दहेजकी पातकी प्रथाके खिलाफ जबर्दस्त लोकमत बनाया जाना चाहिये और जो नौजवान इस प्रकार गलत ढगसे लिए गए धनसे अपने हाथोको अपवित्र करें, उन्हें जाति बहिष्कृत कर देना चाहिये। लडकियोंके माँ-बापको भी अग्रेजी डिग्रियोका मोह छोडकर अपनी कन्याओंके लिए सच्चे और बहादुर वर खोजने अपनी जाति और प्रान्त के बाहर जानेमें भी झिझकना नही चाहिए।" (यग इडिया, २१–६–२८)

इसके कुछ समय बाद "स्टेट्स्मैन" ने अपने पाठकोंके कई पत्र इस सम्बन्धमें छापकर इसपर सम्पादकीय टिप्पणी भी की थी। इसपर टिप्पणी करते हुए गाधीजीने लिखा था—"इसमें तनिक भी सदेह नही कि यह एक हृदयहीन बुराई है। यद्यपि करोडो ग्रामीणोमें यह नही है, पर इसका यह अर्थ नही कि इसकी उपेक्षा की जाय। इस रिवाज का अन्त होना ही चाहिए। विवाह वर-वधूके माता-पिता के लेन-देनका सौदा नहीं रहना चाहिये। पर इस रिवाजका जाति-व्यवस्थाने घनिष्ट सबध है। जब तक वर-वधू का चुनाव जाति-विशेषके कुछ सौ लडके-लडकियोमे से ही होगा, यह रिवाज रहेगा ही—भले ही हम उसके खिलाफ चाहे जो-कुछ कहें। अत यदि इस बुराईको दूर करना है, तो लड़के-लडकियोको या उनके माता-पिताको जातिकी सीमाओको तोड़ना होगा। विवाहकी उम्रको भी बढाना होगा, ताकि योग्य वर न मिलनेपर लडकियाँ कुमारी रह

सकें। यह सब उस चरित्र-निर्माणकी शिक्षासे ही होगा, जो कि देशके युवा समाजमें क्रांति लायगा।" (हरिजन, २३-५-३६)

लड़कियो से छेड़छाड़

वैसे तो भारतमें प्राय. सर्वत्र लडकियोको छेड़ने, आवाजें कसने, सीटियाँ बजाने और इशारे आदि का रिवाज-सा है; पर पंजावमें यह कुछ अधिक उग्र रूप में रहा है। १९३८ में किसी कॉलेजमें पढनेवाली एक लडकीने इसके कुछ उदाहरण देते हुए गाँधीजीको लिखा कि आखिर ऐसी स्थितिमें वे क्या करें? इसपर गाँधीजीने लिखा—"लखनऊकी एक बहनने भी अपनी सहेलियोके कुछ इसी तरहके अनुभवोको लिख भेजा है। सिनेमा-थियेटरोमें उनके पीछे बैठे लड़के उन्हें छेडनेके लिए न सिर्फ गदी भापाका ही प्रयोग करते हैं, बल्कि ऐसी गदी हरकतें भी करते हैं, जिनको मैं यहाँ उद्धृत नही करना चाहता। शरीर-बलका प्रयोग इसका एक इलाज है और आजकल तो लडकियोको आत्म-रक्षाकी शिक्षा देनेका एक फैशन-सा हो गया है। पर क्या यह इस बढती हुई बुराईका इलाज है? जहाँ कही लड़कियोसे गंदी बातें कही जायँ, उन्हें विचलित नही होना चाहिए और न इसकी उपेक्षा ही करनी चाहिए। ऐसे मामले पत्रोमें प्रकाशित करा देने चाहिए जहाँ ऐसे अपराधियोका पता चल जाय, वहाँ उनके नाम भी छपा देने चाहिए। इस प्रकार इस बुराईका पर्दाफाश करनेमें व्यर्थ बदनामीका संकोच नही होना चाहिए।— पर मुझे भय है कि आधुनिक लड़की मनसे आधे दर्जन रोमियोकी जूलियट बननेमें आनन्द का अनुभव करती है। उसे साहसिक कार्योमें आनन्द आता है। आधुनिक लड़की धूप, वर्पा और हवासे बचनेको नही, आकर्पक बननेके लिए कपड़े पहनती है। वह अपने प्रकृत रूपको बना सिंगारकर असाधारण दिखनेवाली बनती है। ऐसी लड़कियोंके लिये अहिंसा का रास्ता नही है। मैंने अक्सर उन निश्चित नियमोका जिक्र किया है, जिनसे हममें अहिंसाकी भावना जाग्रत हो सकती है। यह बड़ी मेहनतका प्रयास है। इससे आदमीके विचारो और रहन-सहनमें एक प्रकार क्रांति हो जाती है। इससे लड़कियाँ देखेंगी कि उनके सामने फिर जो भी युवक आयेंगे, वे उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करेंगे और सद्-व्यवहार करेंगे। पर कभी ऐसा मौका आए कि उन्हें अपनी अस्मत खतरेमें नज़र आए, तो उनमें इतनी ताकत पैदा होनी चाहिए कि वे आदमीकी पशुताको आत्मसमर्पण करने के बजाय मर जायँ। यदि कोई कहे कि अगर किसी लडकीको बाँध दिया जाय, तो वह संघर्पकर या मर भी कैसे सकेगी तो मैं यह कहूँगा कि प्रतिरोधकी तीव्र भावना वाली लडकीमें इतना बल आ जायगा कि वह बधन तोड़ दे और मर जाय।" (हरिजन, ३१-१२-३८)

गाँधीजीने "यंग इंडिया" (२१-७-२१) में कटककी श्रीमती सरलादेवीका एक पत्र प्रकाशित किया था, जो इस प्रकार था—"क्या आप यह नही मानते कि स्त्रियोंके साथ होनेवाला व्यवहार भी उतनी ही खराब बीमारी है, जितनीकी अस्पृश्यता। मैं जिन नौजवान, राष्ट्रवादियो के सम्पर्कमें आयी हूँ, उनमें १०० में से ९० का व्यवहार एकदम पाशविक ह। भारतमें ऐसे कितने असहयोगी हैं, जो स्त्रीको केवल भोगकी वस्तु न समझते हो। क्या उस समय तक आत्म-शुद्धि संभव है, जब तक पुरुपोका स्त्रियोंके प्रति रुख न बदले।" इसपर टिप्पणी करते हुए गाँधीजीने लिखा था—"अपनेआपको

सच्चे स्वराज्यके उपयुक्त बनानेके लिए हमें नारी और उसकी पवित्रताके प्रति अधिक सम्मानपूर्ण रुख अपनाना होगा। यदि एक भी स्त्रीके प्रति हमारा रुख भोग का है, तो सारे मनुष्योका सिर शर्मसे झुक जाना चाहिए। पेश्तर इसके कि हम ईश्वरकी एक सर्वश्रेष्ठ कृतिको अपने भोगका हेतु बनाये, सारी मानव जाति का खत्म हो जाना मैं ज्यादा पसन्द करूँगा।" पर न तो मानव-जाति ही खत्म हुई और न उसकी यह बुराई ही।

गाँधीजीके उपर्युक्त कथनपर आध्रकी एक लडकीने लिखा कि उसकी सहेलियोकी सादी पोशाक भी उनकी रक्षामें सहायक नही होती। पंजाबकी ११ लडकियोने सयुक्त पत्रमें गाँधीजी द्वारा एक आधुनिक लडकीके आध दर्जन रोमियोकी जूलियट बननेकी उक्तिपर आपत्ति करते हुए लिखा कि कुछ लडकियाँ भले ही ऐसी हो, पर सब जूलियट नही हो सकती। उन्होने लिखा कि आज जब स्त्रियाँ बद दरवाजोंसे बाहर आ रही है और जीवनके बोझका अपना पूरा हिस्सा ले रही है, तो यह बडी अजीब बात है कि पुरुषो द्वारा दुर्व्यवहार किए जानेपर भी दोष उन्ही पर मढा जाता है। यहाँ गाँधीजी की उक्तिमें हमे दो कारणोंसे थोडी अत्युक्ति और असगति लगती है (१) भारतीय युवतियोको केवल पोशाक या बनाव-शृंगारके कारण लोग छेडते है, यह यदि सत्य भी हो, तो भी अनुचित और निन्द्य है। स्त्रियाँ कब क्या पहनें, कैसे घरसे बाहर निकलें, यह तय करना पुरुषोका कार्य नही है। फिर विदेशोकी स्त्रियाँ तो भारतीय नवयुवतियोकी अपेक्षा कही अधिक बनाव-शृगार कर निकलती है। पर इस कारण वहाँके पुरुष तो उन्हें छेडनेको लालायित नही होते। फिर जैसाकि आध्रकी बहनने लिखा है, सादी पोशाकवाली लडकियाँ भी पुरुषोकी लुब्ध दृष्टिसे बच नही पाती। (२) अच्छे कपड़े पहनकर निकले किसी सुन्दर पुरुषको किसी स्त्रीने छेडा हो, ऐसा आज तक नही सुना गया तब पुरुषको ही यह अधिकार कैसे प्राप्त है कि वह अच्छे कपडोवाली या सुन्दर आकर्षक स्त्रीको छेडे? फिर १०-१२ वर्षकी बच्चियोका छेडा जाना कहाँ तक समीचीन है?

महिलाएँ और गहने

१९२७ में भारतके भूखो-नगोके लिए चदा करने गाँधीजी लका गए थे। वहाँ कोलबोमें हुई महिलाओकी एक सभामें उन्होने धन-सग्रहके लिए की गई अपीलमें गहने भी माँगते हुए कहा—"गहने माँगनेमें मेरा एक और भी उद्देश्य है और वह यह कि महिलाओ को इनके मोहसे मुक्त करूँ। क्या मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि पुरुषकी अपेक्षा स्त्री अपने आपको अधिक सजाती क्यो है? कई महिला-मित्रोने मुझे बताया है कि वह पुरुषको रिझाने के लिए ऐसा करती है। पर मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि यदि आपको ससारके कार्यो मे अपना कर्तव्य पूरा करना है, तो आप पुरुषको रिझानेके लिए अपने-आपको कभी भी न सजाइए। यदि मैं स्त्री पैदा हुआ होता, तो पुरुषकी इस धारणाके खिलाफ बगावत करता कि स्त्री उसके हाथका खिलौना-भर है। —अपने प्रलोभनो और पुरुषोकी गुलाम न बनिए। अपने आपको इत्र और लेवेण्डर से सजाइए मत। यदि आप कोई खुशबू फैलाना चाहती है, तो वह आपके हृदयमें से निकलनी चाहिए।" (यग इडिया, ८-१२-२७)

तामिलनाडकी एक लेडी डाक्टरने एक राजाके वारिस पैदा होनेपर मिली हीरेकी अँगूठी और कानके बुंदे गाँधीजीको भेजते हुए लिखा—"१२ वर्षसे ये चीज़ें बराबर साथ रही है। पर अब जब मैं इनकी ओर देखती हूँ, मेरे मनमें कटुता पैदा होती है, जो दूसरे ही क्षण उन लाखो भुखमरे भारतीयोके प्रति सहानुभूतिमें बदल जाती है और मैं आपसे कहती हूँ कि क्या ये गहने जनताके धनसे नही बने हैं? फिर मै उन्हें अपना समझकर रखनेकी अधिकारिणी कैसे?" इस तरहकी बहिनें अधिक नही होती। अधिकाश तो पतियोकी कमाईका बहुत बडा अंश इन्हीमें लगाकर अपना शरीर सजानेमें ही सुख और गर्व अनुभव करती है।" (यग इंडिया, ५-४-२८)

एक पत्रने गाँधीजी द्वारा दानमें गहने लेनेकी प्रतिकूल आलोचना की। इसपर उन्होने लिखा—"इस देशमें जहाँ कि करोड़ो आदमी नाम-मात्रका पोषण पाते हो और ८० प्रतिशत पर्याप्त पोषण पाते हो, गहने पहनना अपराध है। फिर अधिकांश गहनो में कलाका कोई आभास नही। बहुतसे देखनेमें बडे भद्दे होते हैं, जिनमें मिट्टी जम जाती हैं। मेरी रायमें कीमती गहने पहनना देशके लिए सरासर हानिकर है। इनके रूप में बहुत बडी रक़म बेकार रुद्ध हो जाती है या धीरे-धीरे छीजती है।" (हरिजन, २२-१२-३३)

गाँधीजी और तथाकथित पतिताएँ

जब गाँधीजी १९२१ में तिलक स्वराज्य फण्डके सिलसिलेमें दक्षिण का दौरा कर रहे थे, तो एक दिन रातको १० बजे कोकनदमें दो वेश्याएँ उनके "दर्शन" करने आईं। जब उन्होनें गाँधीजीको अपना परिचय दिया तो वे बड़े दुःखी हुए और बोले कि क्या तुम कोई और कार्य नही कर सकती? उन्होन कहा कि "हाँ, यदि हमारी जीविकाका प्रबंध हो जाय, तो अवश्य कर सकती हैं।" इसपर गाँधीजीने लिखा—"जब मैं पूरी तरह समझा कि वे कौन है, तो जैसे मै ज़मीनमें धँसने लगा। इस कलंकको दूर किया ही जाना चाहिये। यह उचित नही है कि हमारी विषय-वासनाके लिये किसी एक भी बहनको शर्म और ज़िल्लतकी ज़िन्दगी बितानी पड़े।" (यंग इडिया, ११-५-२९)

कुछ समय बाद एक अँगरेज़ मित्रने गाँधीजीको लखनऊके वेश्याओंके बारमें लिखा—"मेरा हृदय लखनऊकी इन पतिता बहनोके साथ है। उन्हें मजबूरन शर्मकी जिन्दगी बितानी पड रही है और मानवके भीतरके पशुने इस घृणित जुर्मको भी एक कमाईका पेशा बना दिया है।"

आध्रके बाद बरीसालकी १०० से अधिक वेश्याएँ गाँधीजीसे मिली। उनसे मिलनेके बाद गाँधीजीने लिखा—"जिन बुराइयोके लिये आदमीने अपने-आपको जिम्मेदार बनाया है, उनमें से स्त्रियोंके इस दुरुपयोगसे ज्यादा आघात देनेवाली, क्रूर और पतनकी ओर ले जानेवाली और कोई बुराई नही है। हमें इस भ्रममें नही रहना चाहिए कि यह बुराई हमारे विकासका एक आवश्यक अग है। या किसी अन्य उदाहरणसे हमें इसे कायम रखनेकी चेष्टा नही करनी चाहिए। यदि हम बिना बुराई-भलाईका भेद किए मानसिक दासतासे अजाने अतीतका अंधानुकरण करने लगेंगे, तो हमारा विकास रुक जायगा। हमें अतीतकी गलतियोको दोहराकर अपनी सास्कृतिक विरासतका अपमान नही करना चाहिए। आत्म-सम्मानवाले भारतमें क्या हर स्त्री के सतीत्व

की रक्षा, हर आदमीकी अपनी बहनके सतीत्वकी रक्षा की तरह आवश्यक नही है ?" बरीसालकी वेश्याओने बताया कि २० हजारकी आबादीमें ३५० वेश्याएँ है। इसपर गांधीजीने लिखा—"इस हिसाबसे समग्र भारतमें कम से कम १०॥ लाख स्त्रियां ऐसी होगी, जो अपनी इज्जत बेचकर जी रही है। इन बहनोको उनकी पतनावस्थासे उबारने के लिए दो शर्तें पूरी होनी चाहिएँ। हम पुरुषोको अपने आवेगो पर काबू पाना चाहिए और इन बहनोंके लिए ऐसे काम ढूंढने चाहिए जिन्हें करके ये सम्मानपूर्वक अपनी जीविका कमा सकें। इन बहनोको विवाहकी बात नही सोचनी चाहिए। इन्हें तो सच्ची सन्यासिनी बनकर, जीवनकी सब चिन्ताओंसे मुक्त होकर, सेवा-भावसे कातना-बुनना चाहिए।" (यग इडिया, १५–६–२१)

नोआखालीमें इस सम्बन्धमें बोलते हुए उन्होने कहा–"जब तक कोई असाधारण पवित्रता और चरित्र-बलवाली महिला आगे आकर इन पतिता बहनोको ऊपर उठाने का काम अपने हाथमें नही लेती, वेश्यावृत्तिकी समस्या का कोई हल नही निकल सकता। इसी प्रकार जो आदमी अपनी विषय-वासनाकी तृप्ति के लिए अपने-आपको गिराते और कमसिन लड़कियोको अपना शरीर बेचनेपर मजबूर करते हैं, उन्हे रोकनेके लिए आदमी भी बहुत-कुछ कर सकते हैं। यद्यपि वेश्यावृत्ति इतनी पुरानी है, जितनी कि दुनिया पर मुझे भय है कि यह आज की तरह कभी नागरिक जीवनका एक आवश्यक अंग रही हो। पर जो कुछ भी हो, वह समय अवश्य आयगा जब कि मानवता इस बुराईके खिलाफ खडी होगी और वेश्यावृत्तिको अतीतकी बात बना देगी। (यंग इडिया, २८–५–२५)

बरीसालकी जिन वेश्याओंसे पेशा छुडवाकर उन्हें कातनेका कार्य दिया गया था, उनका जब वहांके नौजवानोपर बुरा असर पडने लगा तो गांधीजीने उनकी सस्थाको भग करनेकी सलाह दी। यह पढकर बगालके एक पाठकने उन्हें चटगांव इस आशयका एक पत्र दिया कि बँगलामें अपहरण, भ्रष्टाचार आदि काफी व्यापक हैं। पूर्व, पश्चिम और उत्तर-बगालके जिलोमें इसका बहुत जोर है। जूटके हल्को, बाजारो, मेलों, कचहरी या जमीदारके घरके पास वेश्यालयोका होना एक रिवाज-सा बन गया है। इसपर गांधीजीने लिखा—"मैं जानता हूं कि वेश्यावृत्ति एक बडी और फैलनेवाली बीमारी रही है। कलाके पवित्र नाम या भावुकताकी ओटमें बुराईमें भी भलाई देखने अथवा बुराई को माफ कर देनेकी भावनाने ही इस पातकी प्रवृत्तिको एक प्रकारका सम्मान दे दिया है, जो इस नैतिक कोढके प्रसारका बहुत बडा कारण है। पर मुझे यह नहीं मालूम कि बगालमें स्थिति इतनी भयकर है। मुझे भय है कि कही उन्होने अत्युक्ति तो नही की है। यदि कानूनसे इसका इलाज हो सकता, तो यूरोपके सुव्यवस्थित देशोंने इसका कभी अत कर दिया होता। मेरे जैसे सुधारकोंके लिखने पर भी कोई खास असर नहीं पड़ेगा। मैं यह नही कहता कि ब्रिटिश शासनसे पहले भारतमें वेश्यावृत्ति नही थी, पर उसके कालमें यह बढी है। पहले यह ऊपरके कुछ तबकोंमें थी, पर अब तो मध्य श्रेणीके नौजवानो का भी नाश कर रही है। फिर भी मेरी आशा तो नौजवान ही हैं। जो इस बुराईमें फँसे हैं, वे स्वभावसे बुरे नही हैं। अविचार और असहायावस्था से ही वे इस ओर फिसलते हैं। इससे उन्हें और समाजको जो हानि हुई है, उसे उन्हें महसूस करना चाहिए,

उन्हें यह समझना चाहिए कि कठोर संयमपूर्ण जीवन ही उन्हें और देश को सर्वनाशसे बचा सकता है। "य० इंडिया, ९-७-२५)

दक्षिण-भारतके दौरेमें देव-दासियोके द्वारा दिए गए मानपत्रके उत्तरमें उन्होने कहा था-"ये अभागी बहनें चाहे देवदासी कहलायें चाहे और कुछ, इनकी समस्या तो एक ही है। यह बडे दुःख, शर्म, और ज़िल्लतकी बात है कि इतनी बडी संख्यामें स्त्रियोको पुरुषोकी हविस पूरी करनेके लिए अपनी अस्मत बेंचनी पडे। समाज-व्यवस्थाके कानून बनानेवाले पुरुषको तथाकथित दुर्बल नारीको इस भयंकर गह्वरमें धकेलनेके लिए भयंकर दंड भोगना पड़ेगा। पर दुःखकी बात तो यह है कि बुराईके इन अड्डोपर जानेवाले अधिकाश पुरुष विवाहित होते हैं और इस प्रकार वे दोहरा पाप करते हैं। एक पाप तो वे उन पत्नियोंके प्रति करते हैं, जिनके प्रति वफादार रहनेको वे वचनबद्ध है और दूसरा पाप उन अभागिनोके प्रति करते हैं, जिनकी अस्मत उनके लिए अपनी सगी बहनोकी अस्मतकी तरह ही प्यारी होनी चाहिए। यदि हम भारतीय पुरुष अपनी मर्यादाको महसूस करे, तो यह बुराई एक क्षणको भी नही रह सकती। (यंग इंडिया, १६-४-२५)

विधवाओंकी समस्या

१९२६ में सर गंगारामने विधवाओंके आँकडे प्रकाशित किये थे। इसपर टिप्पणी करते हुए गाँधीजीने लिखा —"इनसे और भी स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू-बाल-विधवाओ की क्या दुरवस्था है? हम गो-रक्षाके लिए तो चिल्लाते है, पर बाल-विधवा रूपी इन मानवी गायोकी रक्षा नही करते है। धर्मके नामपर हम अपनी तीन लाख ऐसी अबोध बालिकाओंपर वैधव्य थोपे हुए हैं, जिनको विवाह-संस्कारका अर्थ तक भी मालूम नहीं। छोटी बालिकाओंपर वैधव्य थोपना एक ऐसा जुर्म है, जिसके लिये हमें नित्य भुगतना पड़ता है। अगर सचमुच हमारी आत्मा जाग्रत होती, तो हम १५ वर्षसे कम की किसी लडकीकी शादीही नही करते और यह घोषणा कर देते कि इन तीन लाख बालिकाओंकी धर्मानुसार शादी ही नही हुई। इनपर इस प्रकार का वैधव्य थोपनेकी अनुमति तो किसी भी शास्त्रमें नही है।" (यं० इं०, ५-८-२६)

एक व्यक्तिके यह लिखनेपर कि यदि सब विधवाएँ शादी करने लगी, तो कुमारियों का मिलना मुश्किल हो जायगा, गाँधीजीने लिखा—"सभी विधवाओंकी शादी होनी ही चाहिए, ऐसा तो मैने कभी नही कहा। सर गंगाराम द्वारा एकत्रित जिन आँकडोकी मैंने चर्चा की, वे बेचारी पतिव्रत धर्म क्या जानें? प्रेमका उनसे कोई वास्ता नही। यह कहना ज्यादा सही होगा कि उनकी कभी शादी ही नहीं हुई। (य० इं०, १९-८-२६) इसी संबंधमें आपने एक और जगह लिखा है—'मेरे कहनेका आशय यही है कि जिन माँ-बापने अपनी लडकियोंको कच्ची उम्रमें व्याह देनेका पाप किया है, वे कम उम्रमें ही विधवा हो जाने पर ऐसी कन्याओंका पुनर्विवाह कर अपने पापका प्रायश्चित्त करें। पर जो बड़ी उम्रमें जाकर विधवा हो, वे फिर शादी करें या विधवा ही रहें, यह उन्हींके तय करनेकी बात है। यदि कोई ५० वर्षका विधुर शादी कर सकता है, तो इसी उम्रकी विधवाको भी ऐसा ही करनेका अधिकार होना चाहिए।" (यंग इंडिया, १४-१०-२८)

स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध और गाधीजी

एक वार एक व्यक्तिने गाँधीजीमे एक प्रश्न पूछा कि हिन्दुस्तानमें धर्मके अनुसार पत्नीको पतिकी अनुगामिनी होना और अपने आपको पतिमें विल्कुल विलय कर देना ही उसका चरमोत्कर्प है। पर यदि किसीका पति माँस खाता हो और पत्नीको वह वनाने और खानेमें मजवूर करे, तो उसे क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर देते हुए गाधीजी ने लिखा—"एक स्त्रीके लिए यह जरुरी नही कि वह अपने पतिके जुर्मोमें भी भाग लेने को तैयार हो। और जव वह किसी चीजको गलत समझे, तो उसमें सही करनेका साहस होना चाहिए।" यहाँ हमें भय है कि गाँधीजीकी सलाह दाम्पत्य जीवनके सुख और शान्तिके लिए शायद वहुत ठीक नही वैठती। उन्होने स्त्रीको गलत समझने और साहसकी जो वात कही है, अज्ञान और अधविश्वासके कारण वह वहुत अशोमें अनेक परिवारोकी अशान्ति और विनाशका भी कारण वनी नजर आती है। यदि वास्तवमें स्त्रीका धर्म पतिकी अनुगामिनी नही वल्कि सहगामिनी और सहधर्मिणी होना है, तो उसे अपने, अपने पतिके और परिवारके सुख तथा शान्तिके लिए दोनोंके विचारो, आदतो और आदर्शोमें सघर्पके वजाय समझौतेके मार्गको ही अपनाना अधिक श्रेयस्कर लगता है। फिर केवल खान-पानके सम्वन्वमें सही और गलत का निर्णय कोई डाक्टर या विज्ञानवेत्ता ही अधिक कर सकता है। धर्म और नीतिको इसमें घसीटना अनावश्यक ही नही हानि-कर भी जान पडता है।

एक वार एक आदमीने गाँधीजीसे पूछा कि मै तो खद्दर पहनता हूँ, पर मेरी पत्नीको वह पहनना इसलिये स्वीकार नही है कि वह उसे मोटा लगता है। एक अन्य भाईने पूछा कि मै तो हरिजनोद्धारके कार्यमें लगा हूँ, पर मेरी पत्नीका इसमें विश्वास नही। इस सम्वन्वमें गाँधीजीने लिखा—"मैंने अक्सर कहा है कि चूँकि पति अधिक शक्तिशाली और शिक्षित है, वह पत्नीके लिए शिक्षकका काम करे और अगर उसमें कुछ कमियाँ हो, तो उन्हें दूर करे। पर आदमी मजवूर करके नही, प्रेमसे पत्नीको जीते।" यहाँ ध्यान देनेकी वात है कि गाँधीजीने यही सलाह खान-पानके वारेमें भी क्यो नही दी ?

विवाह का उद्देश्य

एक वार एक व्यक्तिने गाँधीजीको लिखा कि हिन्दू-शास्त्रोमें जोर देकर कहा गया है कि विवाहका एकमात्र उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है और एक पुरानी कहावतके अनुसार विवाह के समय वडे-वूढे वधूको यह आशीर्वाद दिया करते थे कि तुम आठ वच्चोकी माँ हो। पर आपका कहना है कि विवाहके वाद स्त्री-पुरुपका ससर्ग एकमात्र सन्तानोत्पत्तिके लिए ही नही होना चाहिए वल्कि एक ही सन्तान होना चाहिए—चाहे वह लडकी हो या लडका। इस व्रतका पालन करनेवाले ही ब्रह्मचारी हैं। पर अधिकाश विवाहित लोगोके लिए ऐसा करना व्यावहारिक नही देख पडता। वे केवल एक वार सन्तानकी इच्छासे ससर्ग करें और फिर सन्तान होनेके वाद जीवन-भर सयम एव ब्रह्मचर्यसे रहें, यह आदर्श हो सकता है किन्तु व्यावहारिक जीवनमें कितने इस आदर्शको निभा सकते हैं ? कामेच्छा आदमीकी प्राकृतिक भूख है, जवकि सयम और नियत्रण एक प्रकारका कृत्रिम गुण। अत जो लोग प्राकृतिक कामेच्छाका दमन न कर सकें, उन्हें पतित या दया अथवा कृपाका

पात्र नही समझा जा सकता। वशिष्ठकी पत्नी अरुन्धती के १०० पुत्र होनेपर भी विश्वामित्रने उसे ब्रह्मचारिणी कहकर सम्बोधित किया था। इसपर टिप्पणी करते हुए गाँधीजीने लिखा—"यदि विवाहको पवित्र माना जाय, तो इसमें एक सन्तानके लिए ही स्थान है। इसीलिए शास्त्रोमें पहली सन्तानको "धर्मज" और वाकीको "कामज" कहा गया है। लड़के और लड़कीमें मैं कोई अन्तर नही करता। .. केवल क्षणिक आनन्दके लिए होनेवाला मैथुन तो पशुताको लौटना है। इसलिए मनुष्योका यही प्रयत्न रहना चाहिए कि वे इससे ऊपर रहें।" (हरिजन, ५-६-३७)

इस प्रकार गाँधीजीके विचार विवाह अथवा स्त्री-पुरुपके सम्वन्धोंके वारेमें शायद कोई नया प्रकाश नही डालते। शास्त्रोकी वात मानवके शरीर-धर्मके इतनी प्रतिकूल लगती है कि यौन-विज्ञानका सामान्य ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति उसपर हँसे विना नही रहेगा। दाम्पत्य-जीवनमें यौन-संबंधकी सीमाका निर्धारण एक कठिन और पेचीदा काम जरूर है, पर एक सन्तानके वादके शरीर सम्वन्धको किसी भी युगमें यथार्थमें व्यावहारिक माना गया हो, इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता। इसके विपरीत इस प्रकारके कल्पित आदर्शकी अवमाननाको पाप, अब्रह्मचर्य या जुर्म कहना या समझना भी कम हास्यास्पद नही है। कदाचित इसीलिए गाधीजीने परिवार-नियोजनकी वैज्ञानिकताको स्वीकार नही कर अपने शास्त्रीय धर्मकी ही दुहाई दी है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि देशकी अवाध गतिसे वढती हुई आवादी और उसके साथ ही साथ वढती हुई दरिद्रता तथा सामाजिक असन्तुलनको रोकनेमें उनके विचारोसे जितनी चाहिए उतनी मदद नहीं मिल सकी है।

——:o:——

श्रीमती सावित्री निगम

महिलाओंकी जागृति

स्वातन्त्र्य-सग्रामने युगोकी सुपुप्त नारीके कानोमें जागरण-सन्देश फूका और युग-प्राचीन मानसिक तथा शारीरिक सघर्षोकी रगड़से चिरसतप्त हृदयमें नवचेतनाकी चिनगारी प्रज्ज्वलित हो उठी ।

नारीको जब अपनी स्थितिका ज्ञान हो चुका तो उसे चिन्ता हुई कि वह परदेके मन्दिर में पली हुई पाषाणी देवीके रूपको बदलकर अधिकार, सामाजिक सम्मान और सुख पूर्वक जीनेका अधिकार प्राप्त करनेवाली मानवी बन जाये । उसने जब सचेत होकर अतीत पर दृष्टि डाली, तो उसे लगा कि उसे सब कुछ सुधारना होगा, आगे दृष्टि उठाई, तो देखा कि उसको अभी अनेक मजिलें पार करनी होगी क्योकि वह अभी बहुत पीछे है । और सामने है अनेक सामाजिक कुरीतियोंके ऊँचे टीले, रूढियो और अमानवीय परम्पराओ की गहरी खाइयाँ, पीठपर परिवारका बोझ और सिरपर नवनिर्माणका गट्ठर । उसने कुछ ठहरकर सोचा और सिर पर हाथ रखकर वह कह उठी कि "मुझे स्वयं भी तो युगो का रटा हुआ धार्मिक अन्धविश्वासो एव मान्यताओका और रीति-रिवाजोका पाठ भुलाकर मानसिक दासता तथा हीनत्वकी भावनाका परित्याग करना है । मानवता तथा समानताके नये अध्यायोको पढकर आत्मसात् करना है । इतना ही नही उसे पातिव्रत्य, सतीत्व श्रद्धा एव सदाचारसे अनुरजित भारतीय संस्कृति तथा युगोकी दलित दमित इच्छाओकी प्रतिक्रिया रूपमें उत्पन्न उच्छृंखलता, विकलता, अधिकार-प्राप्तिकी जल्दबाजी, एव देश-विभाजन, तथा आज़ादीकी गुलामीसे उत्पन्न नैतिकतामें समन्वय करना है । तभी वह समाजोपयोगी तत्वोके चयनसे नव युगके स्वस्थ निर्माण का गुरुतम कार्य सफलतापूर्वक कर सकेगी ।

उसे और सभीको यह विदित है कि भाषणो, नसीहतो, आदेशो और सुझावोंसे उनका कल्याण न होगा । उसके सामने ठोस समस्याएँ है, उनका समाधान ही नारी जातिकी सबसे बडे सेवा और उपकार है ।

उसे आज यह ज्ञात हो चुका है, कि शिक्षा, ज्ञानप्राप्ति, प्रशिक्षण तथा आर्थिक स्वावलम्बन और घर तथा बाहरके कानूनोका संशोधन उसकी समस्याओको सुलझानेके नये रास्ते निकाल सकता है ।

पर कितने ऐसे जीवनसगी या संरक्षक और अभिभावक है, जो उसे ऐसे अवसर पानेकी सुविधायें देंगे । चाहे पिता हो, अथवा पति, बडा भाई हो या जेठ, चिरकालसे

अपने और अपने धर्म गुरुओंके द्वारा वर्णित नारीका जो रूप मान चुके उसे वदलना उन्हें उनकी स्वतन्त्रता, सुख और सुविधा तथा जाति और धार्मिक बंधनों और आचार-विचार तथा रूढियो और रिवाजोंके विपरीत प्रतीत होता है।

धार्मिक पक्षपातपूर्ण मान्यतायें उन्हें प्रिय है, नारीका पाषाणवत् गुड़ियाका-सा मनोरंजक रूप उन्हें प्रिय है। पतिव्रता तथा वीरांगना पद्धति दोनो पर उन्हें विश्वास है क्योकि अपने सुख-सुविधाको वे खतरेमें डालना नही चाहते। वे चाहते है वहु-बेटियाँ कुलकी लज्जापर मर मिटनेकी परम्पराको न तोड़ें। चार साड़ियाँ, दो रोटी और कंकड़-पत्थर-से चार सोने-चाँदीके जेवर देकर वे संतोषकी सास लेते है। पर जो लोग आर्थिक कारणोसे इच्छुक है कि स्त्रियाँ वाहर निकलें और शहरकी हवाने उन्हें तय्यार भी कर दिया है कि वे उन्हें पढायें, उनकी समस्यायें दूसरी है। नौकर रखनेके लिये पैसे नही है; रोटी-पानी सफाई करके पत्नी या वेटी स्कूल चली जाये पर उसे भेजने और लानेवाला चाहिये। स्कूलका खर्च यदि मार-पीटकर जुटा भी लिया, तो घरमें वच्चे कौन सँभाले? वीमारी, मेहमान, त्योहार और रिश्तेदार एक बोझ बनकर मध्यम-वर्गीय नारीपर छाये है। भोजन-संवंधी उलझन-भरी आदतें वदलनेका नाम नही लेती। कमसे कम ५-७ चीजें थालीमें न हों, तो चैन कहाँ? चाहे पापड़, कढी, वरी, मुगौरी, सेवई जैसी पोषक तत्वोसे हीन ही वस्तुयें क्यो न हो और पूरा भोजन स्वास्थ्यके लिये न होकर केवल जिह्वादेवीके स्वाद संस्थानको सतुष्ट करनेके लिए ही हो। पर विचारी गृहणीकी तो मुसीवत ही रहती है। स्कूलका काम कव करे, फाइलें कैसे देखे? दोहरा काम, चौगुनी जिम्मेदारियाँ, न घरमें कोई खुश, न आफिसमें ही सन्तुष्ट और जो उद्यमशील महिलापर वीतती है या वह जानती है या उसके भगवान। भोजन सम्बन्धी आदतें तथा अतिथि सत्कारकी प्रथामें सशोधन करना अत्यन्त आवश्यक है।

अगर पति और उसके विचारोमें मेल न खाया, तो मुसीवतोका नया प्रकरण खुल जाता है। बच्चोका बोझ सामाजिक उपेक्षाका भय आदि अनेक ऐसी वातें है, जो सैकड़ो स्त्रियोंको भीतर ही भीतर घुट-घुटकर सब-कुछ सहनेको विवश करती है। आँसू पोछ कर ऊपरसे पाउडर लगाकर दफ्तर या स्कल जानेवाली स्त्रियोकी संख्या लाखोमें है। वच्चोंकी निगरानीको लिये क्रिशे और वालवाड़ी तथा सस्ते भोजनकी सहकारी या सरकारी संस्थायें शीघ्र खुलनी चाहियें।

दफ्तरोका भी वातावरण ऐसा विचित्र है कि जिसपर वीतती है, वही जानता है। अपनी स्त्रियोको सात परदेमें वंद रखकर सहयोगिनी स्त्रियोंका सम्मान करना केवल उँगलियोपर गिननेवाले ही लोग जानते हैं। वेचारी कम उम्र लड़कियोको डरा-धमका कर या तरक्कीका लालच दिखाकर गुमराह करनेकी कोशिशमें लगे रहना साधारण वात है क्योकि जन-साधारणकी दृष्टि इतनी कुंठित है कि वे स्त्रीको महिमामयी माँ या पोषक पालक वहिनके रूपमें नही देखते।

उन्हें आदत पड़ी हुई है "स्त्री" को मनोरंजनका साधन माननेकी। जब तक देशके शिक्षक और विचारक स्त्रीका सम्मान करना सीखनेके तरीकोंपर विचार करके इस दिशा में कुछ नये नियम निर्धारित न करेंगे, लोगोंके दृष्टिकोणमें अन्तर लाना वड़ा ही कठिन होगा। और दफ्तरोमें भी नारी-जीवन अत्यन्त संघर्षमय वना रहेगा। सम्पन्न एवं

विदेशी शिक्षाप्राप्त या ऊँची नौकरियोमें पहुँचनेवाली वहिने या तो वडी नौकरियोवाले पति ढूँढकर नवावो राजाओ और मिल-मालिको तथा राष्ट्रपति भवनकी पार्टियोकी शोभा वढाती है या उन्हें "क्लव" "वाल" और "डिनरोसे" अवकाश नही रहता। अक्सर उन्हें विलासपूर्ण जीवन वितानेके लिये इतने अधिक धनका उपार्जन करना पड़ता है कि वे उसीमें जुटी रहती हैं फिर भला देशकी अशिक्षित वहिनोकी कुटियोके द्वार-द्वार पर जाकर उन्हें कैसे जगायें ? कैसे देशकी करोडो वहिनोमें जागृति फैले ?

अधिकतर देखा जाता है कि मध्यम वर्गकी जाग्रत अर्धशिक्षित महिलाओपर ही सारे नारी समाजके जागरणकी जिम्मेदारी पड जाती है। जो वही भाग्यशाली स्त्रियाँ उठा पाती हैं, जो पत्नीत्व, मातृत्व और गृहणीत्व सभी परीक्षणोको पास करले। जो इतनी सौभाग्यशालिनी हो कि उनको पति तो अच्छा मिले पर नौकर भी विश्वासी मिले। यही वहिनें सस्थाओको सँभालती हैं। यही भाषण तथा आयोजन करनेका भार उठाती हैं। इन्हें सर्वगुण सम्पन्न वनना पड़ता है। सस्थाओके लिये रुपया जुटाने, चन्दा माँगनेके हुनरके साथ ही साथ आफिसका हिसाव-किताव, पत्र-व्यवहार करनेके लिये क्लर्ककी योग्यता, दरी, फर्श तथा माईककी व्यवस्था करनेके लिये चपरासीकी दक्षता और मच वनाने फर्श लगानेके लिये एक कारीगरका चातुर्य भी उनमें होना चाहिये।

इतना ही नही नेताओ, भाषणकर्त्ताओके घरोका चक्कर काटनेके लिये टैक्सीके किराये के लिये पैसोसे भरे वटुएकी स्वामिनी वनना भी उनके लिये आवश्यक है। इनके अन्य सस्थाओके सदस्योकी कटु आलोचना प्रतिक्रियावादी व्यक्तियोके व्यग सुननेके के लिए उनमें कुलवधू के शील का होना भी जरूरी है। अन्यथा विचारी वहुत-सी वहनें कार्य छोडकर इसीलिए घर वैठ जाती है कि सेवाके वाद नाम न मिले, तो न सही पर व्यर्थके व्यग नही सुने जाते। इतना ही नही गान, कविता, व्याख्यान, साथियो की खुशामद चापलूसी व नखरे वर्दाश्त करना अवैतनिक कार्य करनेकी क्षमता उदारता व सच्चाई भी उनमें अवश्य होनी चाहिये। तभी वे महिलाओमें जागृति फैला सकती है। इसलिये विचारकोको ऐसी वहिनोको प्रशिक्षित करनेके लिये सरकारी तौरसे ऐसी योजना वनानी चाहिये, जिससे वहिने सीखकर सिखा भी सकें।



षष्ठ खण्ड

कुछ विशिष्ट समाज-सुधारक



आचार्य शंकरराव जावड़ेकर

महाराष्ट्रकी पहली पीढ़ीके प्रमुख सुधारक

महाराष्ट्रमें सुधारक प्रवृत्तिका प्रारम्भ सन् १८४० के आसपास हुआ था। श्री बालशास्त्री जाभेकरने सन् १८३२ में "दर्पण" नामक साप्ताहिक तथा "दिग् दर्शन" नामक मासिक पत्रोंका प्रकाशन बम्बईसे पहले-पहल प्रारभ किया। महाराष्ट्रके प्रथम सुधारक यही कहे जा सकते हैं। श्री बालशास्त्रीने सन् १८४० मे श्री गंगाधरशास्त्री फडके द्वारा विधवा-विवाहके समर्थनमें एक पुस्तक लिखवा कर विधवा-विवाहके आदोलन को प्रोत्साहित किया। उन्होने श्रीपाद शेषाद्रि नामक ईसाई बने हुए व्यक्तिको पुन हिन्दू-धर्ममें प्रविष्ट करके आधुनिक कालमे पतितोको पुन स्वधर्ममे सम्मिलित करनेकी प्रवृत्तिका पहला उदाहरण प्रस्तुत किया। श्री बाल शास्त्रीने अपने सामयिक पत्रो द्वारा इस बातका भी भान कराया कि पाश्चात्य विद्याओके प्रसारके बिना हिन्दुओका उद्धार नही हो सकता। सन् १८४२ में बालशास्त्री बम्बईके एलफिन्स्टन कॉलेजमें अध्यापक नियुक्त किए गए। श्री बालशास्त्रीका जन्म सन् १८१० में हुआ था और उनका अवसान १८४६ में हुआ। छत्तीस वर्षके अपने छोटेसे जीवनमें उन्होने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञानका प्रसार किया, सामयिक पत्रोका प्रकाशन किया, विधवा-विवाहको प्रोत्साहन दिया और अन्य धर्मोंमें गये हुए लोगोंको पुन हिन्दू-समाजमें सम्मिलित करनेकी प्रवृत्ति को सक्रिय सहायता दी। इन कार्यो द्वारा उनकी प्रतिभा, विचारोकी उदारता, धर्म-निष्ठ सुधार वृत्ति, एव सार्वजनिक हिताकाक्षा आदि सद्गुणोका परिचय मिलता हैं। अल्पजीवी होनेके कारण महाराष्ट्रको उनके गुणो और कार्योका वाछित लाभ नही प्राप्त हुआ।

श्री बालशास्त्रीको उन दिनो मराठीके प्रख्यात व्याकरणकर्त्ता श्री दादोबा पाडुरग तर्खडका भी सहयोग प्राप्त हुआ था। श्रीपाद शेषाद्रिको ईसाई-धर्मसे पुन हिन्दू-धर्म में सम्मिलित करनेके कारण श्री बालशास्त्रीके विरुद्ध बडा उपद्रव खड़ा हो गया था। उस समय उनके बचावके लिए बम्बईमें तत्कालीन नगरसेठ श्री जगन्नाथ शकरसेठ ने अच्छी सहायता की थी। श्री जगन्नाथ शकर सेठकी सरकारी दरबारमें अच्छी प्रतिष्ठा और प्रभाव था। सती-प्रथा बद करनेके लिए उनके पक्षमें अपना विचार प्रकट करके उन्होंने सरकारकी सहायता की थी। परन्तु उन दिनो, महाराष्ट्रमें अर्थात् बम्बई और पूनामें सार्वजनिक जीवनका प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। समाचार-पत्र भी नहीं थे। साम-यिक पत्रो द्वारा सार्वजनिक विचारोपर प्रभाव डालनेका प्रथम श्रेय श्री बालशास्त्रीको

है। उन्होने अपना कार्य प्रारम्भ किया। सती-प्रथा कानून द्वारा बंद हो चुकी थी। उस समय स्त्री-स्वातंत्र्यकी दृष्टिसे विधवाके पुर्नविवाहका प्रश्न, स्वामी रामतीर्थके शब्दोमे कहें तो "जीवित सती" का प्रश्न, समाजके सामने खड़ा था। इस क्षेत्रमे बंगालके सुधारकोकी अपेक्षा महाराष्ट्रीय सुधारकोमें कुछ विशेषताएँ थी।

श्री दादोबा पाडुरंगने सन् १८४० मे ही बम्बईमे "परमहंस मडली" नामक एक गुप्त संस्था जातिभेदके उन्मूलनके उद्देश्यसे बनाई थी। इस सस्थाके विषयमें श्री बाबा पदमजीने अपनी आत्मकथामें इस प्रकार लिखा है—

> "इस मंडलीकी मुख्य मान्यताएँ इस प्रकार थी—जाति-भेद नही मानना चाहिए। विधवाओके पुर्नविवाहका समर्थन करना चाहिए तथा मूर्त्तिपूजा नही करनी चाहिए। इसके सिवाय धर्म विषयक उनका विचार किस प्रकारके होने चाहिएँ, इसका कोई निश्चित निर्णय नही किया गया था। मंडलीके सदस्योकी संख्या खूब न बढ जाय तब तक इन मान्यताओको गुप्त रखना चाहिए। मंडलीके अधिवेशन गुप्त रूपमे किये जाते थे। ."

राजनीतिके क्षेत्रमें तो हमने इस प्रकारके गुप्त मंडलोंकी बातें बहुत सुनी है, परन्तु जाति-भेद ऐसी सामाजिक सस्थाके विनाशके लिए ऐसी गुप्त संस्था स्थापित हुई हो, ऐसा सुननेमें यह पहली बार आया है। इस सभाके सदस्योमें इसाई और मुसलमान भी थे। इसकी शाखाएँ बम्बईसे बाहर अन्य स्थानोपर भी थीं। इस सभाके दिशा-दर्शनके लिए श्री दादोबा पाडुरंगने "पारमहंसिक ब्रह्मधर्म" नामक एक पद्यमय ग्रंथ भी लिखा था।

इस गुप्त मंडलीका काम बीस वर्ष (सन् १८६०) तक चलता रहा। एक सदस्यने संस्थाकी बातें सार्वजनिक रूपमें प्रकट कर दी, तथा उसके सदस्योंके नाम भी प्रकट कर दिए। फलत. सब सदस्य संस्थासे संबंध तोड़कर स्वतंत्र हो गए और सामाजिक बहिष्कारके भयसे अपने -अपने स्थानोपर चुपचाप बैठ गए। नैतिक साहसके बिना समाज-सुधार नही हो सकता था? तथापि इस संस्थाकी राखमें से सन् १८६७ में प्रार्थना समाजका उद्भव हुआ। प्रार्थना समाजको न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द रानाडे और डॉक्टर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर सदृश मनीषी और चारित्र्यके धनी महानुभाव मिले। इस कारण कुछ समय तक यह समाज खूब प्रगतिशील रहा। परन्तु बंगालके ब्राह्म समाजकी तरह इस समाजको महाराष्ट्रके जीवनमें विशेष महत्व नही मिल सका। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सन् १८८० में श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, श्री गोपालगणेश आगरकर तथा लोकमान्य तिलक सदृश महाप्राण तीन विभूतियोने आगे बढकर महाराष्ट्रमें राष्ट्रवाद और बुद्धिवादकी स्थापना की। महाराष्ट्रमें १८८० के आसपास श्री तिलक-आगरकर आदि कर्मवीरोने देशपूजाका व्रत लेनेवाले लोगोका एक संप्रदाय बनाकर, एक अपूर्व प्रथाको प्रारंभ किया। उसकी प्रभाके आगे प्रार्थना-समाजकी सुधारक-मडलीका तेज फीका पड़ गया। महाराष्ट्रके तरुणोके मन अन्य लोगोंने आकृष्ट कर लिए।

सुधारका जो शुभ कार्य सन् १८४० में श्री बालशास्त्री, दादोबा पाडुरंग तर्खड, तथा डॉक्टर भाऊदाजी लाड आदि महानुभावोने प्रारम्भ किया था उसे वास्तविक रूप प्रदान करनेका तथा सर्वांगीण सुधार करनेका सत्कार्य सरदार गोपालराव हरि देशमुख

उर्फ "लोकहितवादी" ने किया। श्री लोकहितवादी बहुमुखी प्रतिभावाले व्यक्ति थे। श्री बालशास्त्री, दादोबा पाडुरंग, श्री डॉक्टर भाऊडाजी आदिमें किसीको भी सच्चे अर्थमें सर्वांगीण सुधारक नही कहा जा सकता क्योकि उन्होने देशकी आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितिकी ओर ध्यान नही दिया। पहली पीढीके लोगोमें इस बातका श्रेय लोकहितवादीको ही देना चाहिए। अगली पीढीके लोगोमे यह मान श्री रानाडेको दिया जाना उचित है। दूसरी पीढीमें न्यायमूर्त्ति रानाडेने जो-जो कार्य किए उनकी भूमिका में विद्यमान तात्विक विचारोके बीज लोकहितवादीके लेखोमें दृष्टिगत होते है। कितने ही विषयोमें तो लोकहितवादी लेखोमें श्री रानाडे की अपेक्षा भी अधिक मूलग्राही दृष्टि और साहसिक वृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

लोकहितवादीने अपने लेखोका प्ररभ सन् १८४८ में किया। उस समय उनकी उम्र २५ वर्षकी थी। उनका जन्म सन् १८२३ में पूनामे हुआ था। तब मराठी राजसत्ताको समाप्त हुए पाँच ही वर्ष हुए थे। लोकहितवादीके पिता श्री हरिपत देशमुख वीरवर बापू गोखलेके हिसाब-नवीस थे। बापू गोखलेने पेशवाईकी रक्षाके लिए अतिम दम तक लडते हुए रणक्षेत्रमें अपना शरीर छोडा था। श्री हरिपत देशमुख एलफिन्स्टन साहबके बुलानेपर भी, उनके पास नही गए थे। इस कारण उनकी जागीर जब्त कर ली गई थी। बादको पेशवा द्वारा सिफारिश करनेपर लौटा दी गई थी, परन्तु उनकी मृत्युके पश्चात् पुन जब्तकर ली गई थी। फलत गोपालराव देशमुख (लोकहितवादी) को विभिन्न पदोपर नौकरी करनी पडी। पहले वे मुन्सिफ बने। बादको सहायक न्यायाधीश और अन्तमें स्माल काज कोर्टमें न्यायाधीश बनाए गए। सन् १८७८ में वे नौकरीसे निवृत्त हुए और सन् १८९२ में उनहत्तर वर्षकी उम्रमें उनका देहावसान हुआ।

इस प्रकार अँग्रेजोके शासनमें शिक्षा-दीक्षा पाए हुए प्रथम पीढीके लोगोंके साथ सार्वजनिक कार्यका प्रारम्भ करके रानाडे, भाडारकर, तैलग आदिकी दूसरी पीढीको तथा चिपलूणकर, तिलक, आगरकर आदिकी तीसरी पीढीको देशसेवा करते हुए देखनेका सौभाग्य लोकहितवादीको प्राप्त हुआ था। वे अपने सम सामयिक सुशिक्षित लोगोंकी तुलनामें अधिक विद्वान्, अधिक तेजस्वी और अधिक दूरदर्शी थे।

ब्रिटिश राज्यके विरुद्ध बलवा करके स्वराज्य प्राप्त किया जा सकेगा तथा हमारे सामान्य सरदार तथा जागीरदार एकत्र हो कर अँगरेजोको यहाँसे हाँक निकालेंगे, इत्यादि बातोको सुनकर लोक हितवादी कहा करते थे कि यह तो ऐसी बात हुई कि सब पशु मिलकर यह सोचने लगें कि हम सब ग्वालेकी सत्ताको नष्ट कर देंगे।

उस समयके ब्राह्मण अग्रेजी राज्यपर गालियोकी वर्षा किया करते थे। इस राज्य के कारण ही हमारी वह अपदशा हुई है, इस प्रकार कहते हुए पेशवाईको याद कर कर के वे रोया करते थे। परन्तु अग्रेजी राज्यका प्रतिकार किस प्रकार किया जा सकता है, इस बातका कुछ भी ख्याल उन्हें नही था। पूनाका पतन हो जानेपर वहाँके ब्राह्मणोंने एक छोटा-सा बलवा किया था, परन्तु एलफिन्स्टनने उसे तुरत ही दबा दिया था। उसके पश्चात् ये ब्राह्मण अग्रेजोंके आगे इस तरह दब गए कि दो पीढियो तक कोई अपना माथा ऊँचा नही कर सका। इस प्रकारके डरपोक, अज्ञानी और व्यक्तिगत स्वार्थमें रसे-पचे

रहनेवाले ब्राह्मणोसे अँग्रेज हार जाएँगे यह सर्वथा असम्भव था। इसलिए इस प्रकारके ब्राह्मणोके शापो और गाली वर्षणोसे अग्रेजोका कुछ भी नुकसान नही हो सका। उन लोगोने के विश्वासो और प्रलापोसे एक लाभ अवश्य हुआ। वह यह कि पूना में रहनेवाले समझदार व्यक्ति यह समझने लगे कि अग्रेज़ोके शासनमें हम कंगाल और सत्ताहीन होते जा रहे है। बगदेशीय हिन्दुओकी तरह पूनाके ब्राह्मण ऐसा नही समझते थे कि मुसलमानोके अत्याचारोसे छुडवानेके लिए परमेश्वरने यहाँ अग्रेजी राज्य भेजा है। यह अनुभव करनेका भी कोई कारण नही था कि इस राज्यमें हम खुशहाल हो रहे है।

हाँ, अंग्रेज़ी विद्याके प्रसार होनेपर, कोकणके पर्वतीय प्रदेशसे कंधेपर झोली लटका कर मैदान (देश) में आने वाले और अंग्रेज़ी पढ़कर तहसीलदारकी नौकरी मिल जानेपर स्वर्ग प्राप्तिका-सा आनन्द अनुभव करनेवाले कतिपय ब्राह्मणोको कुछ समयके लिए इस राज्यकी अच्छाईका आभास अवश्य हुआ था। परन्तु पूनाके सरदार परिवारमें पैदा होकर पिताकी जागीर जब्त हो जानेके कारण, लाचारीमें सरकारी नौकरी स्वीकार करने वाले विचार शील गोपालरावको इस सचाईका अनुभव करनेमें अधिक समय नही लगा कि अंग्रेज़ी शासनमें हमारा देश दरिद्र हुआ जा रहा है और दरिद्रताको दूर करनेके लिए हमें सामाजिक और राजनीतिक सुधारोकी विशेष आवश्यकता है।

लोक हितवादीने पचीस वर्षकी उम्रमे, वम्बईसे श्री भाऊ महाजनके संपादकत्वमें प्रकाशित होनेवाले "प्रभाकर" साप्ताहिक पत्रमें लेख लिखने प्रारम्भ किए। १३ अगस्त सन् १८४८के दिन उन्होने "प्रभाकर" में "राज्य सुधारण" शीर्षक एक लेख लिखा था। उसका निम्नलिखित अश पठनीय है—

देशकी गरीबीको दूर करना हो, तो सर्वप्रथम राज्यको सुधरना चाहिए। उत्तम प्रकारसे राज्यके संचालनके लिए कोई न कोई उपाय खोज निकालना चाहिए। मुझे ज्ञात है कि लोग मूर्ख है और उनमें इस वातके विचारकी शक्ति नही है। तथापि मुझे जो उपाय सूझ पडता है, वह मैं प्रस्तुत करता हूँ। इस समय भारतके एक बड़े भाग पर कपनी सरकारका राज्य है। इस शासनमें जनताका कुछ भी अधिकार नही है। यदि हम अंग्रेज़ोंके अपने देशके शासनपर दृष्टिपात करें, तो पता चलेगा कि वहाँ ऐसा नही है। वहाँकी जनताको शासनमें हिस्सा लेनेका तथा कानून बनानेका अधिकार है। लोगोकी सभा (पार्लमेंट) कानून बनाती है और उसके आधारपर राजा राज्यका प्रवन्ध करता है। भारतवर्षमें भी इसी प्रकारकी शासन-व्यवस्था होनी चाहिए।

इसके बाद कंपनी सरकारको अगले २० वर्षोके लिए शासनको नई सनद प्राप्त होनेपर भी लोकहितवादीने एक लेख लिखकर इस वातका आंदोलन किया था कि हिन्दुस्तान में लोगोके प्रतिनिधियोका शासन शुरू किया जाना चाहिए।

ब्रिटिश भारतमें प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन होनेसे देशी राज्योपर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा इसपर भी लोक हितवादीने उस जमानेमें बड़े सुन्दर और दूरदर्शी विचार प्रकट किए थे।

लोक हितवादीके इन लेखोंसे उनकी बुद्धि, देशप्रेम और प्रतिभाका ठीक-ठीक परिचय मिलता है। यूरोपमें उन दिनो जो क्रातियाँ और मौलिक परिवर्तन हो रहे थे उन सबके विषयमें लोकहितवादी अपने तात्विक विचार लोगोंके सामने मराठी भाषामें व्यक्त किया

करते थे। लोकहितवादीने जिन सर्वांगीण सुधारोका पहले पहल तत्व दर्शन किया वे आगे जाकर फल लाए। लोकमान्य तिलकने उससे प्रेरणा लेकर प्रगतिशील राजनीतिको जन्म दिया। सुधारक शिरोमणि आचार्य आगरकरने महाराष्ट्रमे समाज सुधारका शंखनाद किया। महामना गोखलेने वैधानिक राजनीतिको प्रगति प्रदान की।

लोकहितवादीके युगमें ही महाराष्ट्रमें श्री० विष्णुबुवा ब्रह्मचारीने एक प्रकारके समाजवादका सदेश अपने "सुखदायक राज्य प्रकरण" नामक निबंधमें सुनाया। यह वस्तुत बडे विस्मयकी बात है। श्री विष्णु बुवा ब्रह्मचारीका जन्म सन् १८२५में और देहावसान सन् १८७१ में हुआ था। अपने धर्मपर उनकी दृढ श्रद्धा थी। अपनी तेजस्वी वक्तृत्व-शक्ति द्वारा वे ईसाई धर्म प्रचारकोको ललकारते थे और हिन्दुओमे स्वधर्म की निष्ठा और अभिमान प्रवृद्ध करते थे। उन्होने धर्म-विषयक कुछ पुस्तके भी लिखी है। परन्तु उनके "धर्म" शब्दका अर्थ बहुत व्यापक था। उसमें समाजके ऐहिक अपराधका भी समावेश था। वे कहते थे कि हमारे समाजमें अनेक सुधारोंकी आवश्यकता है। परन्तु साथ ही वे यह भी कहते थे कि उन सुधारोके लिए पाश्चात्य सस्कृतिका आश्रय लेनेकी आवश्यकता नही। अपनी प्राचीन सस्कृतिमें से ही हमें अपनी उन्नतिका मार्ग प्राप्त हो सकेगा। आध्यात्मिक वृत्ति वाले इस ब्रह्मचारीने समाज सत्ताके विषयमें जो विचार पहले पहल मराठी भाषामें व्यक्त किए, वे जानने योग्य है उनका कहना यह था कि "प्रजा द्वारा सारी जमीनकी खेती कराई जानी चाहिए। जहाँ जो फसल हो, सकती हो, वहाँपर वह अनाज बोना चाहिए। अनेक प्रकारके अनाज, फल, कद, शाक तथा आहारकी अन्य वस्तुएँ पैदा करके ग्राम-ग्राममे उनके भडार भरकर रखने चाहिएँ। उन भाडागारोमेंसे सब ग्रामवासियोको वाछित वस्तुएँ देनी चाहिएँ तथा पशुओके लिए घास चारा मिलना चाहिए। इस प्रकार सर्दी-गर्मी और चौमासे में सारी जमीनमें से वाछित फसल लेनी चाहिए। यह सारी साझी उपज एकत्र करके एक व्यक्तिके पास रखनी चाहिए। जिसे जितनी आवश्यकता हो, उसे उतनी वस्तुएँ मिलनी चाहिए। राजा को रूईके, ऊनके, रेशमके और सन के कपडे तैयार रखने चाहिएँ और ग्राम-ग्राममें उनके भण्डार भर कर रखने चाहिएँ। उसमेंसे जिसको जितना कपडा जरूरी हो, उतना मिल जाना चाहिए। गृहस्थोके लडके-लडकियाँ पांच वर्षके हो जायँ, तो वे राजाको सौंप देनी चाहिएँ। राजा उनके लिए सब विद्याओंके सीखनेकी व्यवस्था करे। जिसमें जिस कामकी निपुणता हो, उसे वह काम राजा द्वारा सौंपा जाना चाहिए। स्त्री-पुरुषोंके वृद्ध हो जानेपर उनसे काम-धधा नही कराना चाहिए। उनके लिए विश्वशातिपूर्वक रहने और खानेकी व्यवस्था होनी चाहिए।"

विष्णु बुवा ब्रह्मचारीके साम्यवादसे मिलते-जुलते इन विचारोको पढकर आज कल के शिक्षित जनोको आश्चर्य होगा कि कार्लमार्क्सके ग्रथोके पढे बिना इस व्यक्तिको साम्यवाद (कम्युनिज्म) की बात कहांसे सूझी। परन्तु इसमे आश्चर्य की कुछ बात नही। जो अपने स्वार्थ की होलीकर चुका हो, जिसका सन्यासी हृदय वर्ग स्वार्थसे मुक्त हो, जो व्यक्ति प्राचीन ऋषियो द्वारा अपनी प्रतिभासे सींचे हुए ध्येय को अपने आचरण में उतारनेका सतत प्रयत्न करता रहा हो, ऐसा पुरुष रेलगाडी, तार आदि धनोत्पादक यन्त्रोको देखकर शीघ्र ही वह अनुभव कर सकता है कि इन यंत्रोंने

उत्पन्न मालकी स्पर्धामें स्वदेश के कुटीर उद्योग और शिल्प नष्ट हुए जा रहे है, लोग दिनो दिन बेकार बन रहे है और देशमें दरिद्रता और हीनता बढती जा रही है। यह सब यन्त्रकला और भौतिक-विद्या अन्य देशोको चूसनेके काममें प्रयुक्त हो रही है। इन यन्त्रोकी सहायतासे मुट्ठी-भर लोग स्वय करोड़पति बनकर करोड़ो लोगोको अपना गुलाम बना रहे है। यदि इस यंत्रकला और विज्ञानका उपयोग अपनी संतान की तरह प्रजाका पालन करनेवाली राजसत्ता करने लग जाय और प्राचीन ऋषियो द्वारा साक्षात्कार किए हुए विश्व कुटुम्बके सिद्धान्तका स्थापन किया जाय, तो उत्तम होगा— इस प्रकारकी कल्पनाके लिए कार्लमार्क्सके ग्रथोको पढनेकी आवश्यकता नही है। संन्यासी वृत्तिवाले और लोक कल्याणमें ही आनन्द माननेवाले शुद्ध सात्विक चेता मनुष्य को ऊपर लिखित परिणामोंतक पहुँचनेमें देर नही लग सकती।

लोकहितवादीके जमानेमें ही महाराष्ट्रमें एक बडे सुधारक श्री ज्योतिराव गोविन्दराव फुले हुए है। वे महाराष्ट्रमें ब्राह्मणेतर आदोलनके पुरस्कर्ता कहे जाते हैं। समाज-सुधारके आन्दोलनको सामाजिक वर्गविग्रह का स्वरूप प्राप्त हुआ, इसमें श्री फुले द्वारा स्थापित "सत्य शोधक समाज" की विचारसरणी ही कारणभूत हुई थी।

निचले स्तरके विशाल समाजको साक्षर बनाकर और उनकी गुलाम-वृत्ति मिटाकर उनमें समताका प्रचार करनेके लिए इन्होने बडा प्रयत्न किया।

अपनी इन समाज-सुधार प्रवृत्तियोंको वेग प्रदान करनेके लिए सन् १८७३ मे उन्होने "सत्यशोधक समाज" की स्थापना की। इनके मित्र कृष्णराव पांडुरग भालेकर ने सन् १८७५ में इन सुधार-प्रवृत्तियोंके प्रचारके लिए "दीनबंधु" नामक साप्ताहिक पत्र निकालना प्रारंभ किया। ज्योतिराव फुले इस पत्रमें बराबर लेख लिखकर समाज-सशोधनका काम करते रहे। महाराष्ट्रमें अस्पृश्यता निवारणका आन्दोलन पहले-पहल श्री फुलेने ही प्रारंभ किया। सन् १८६३ में पूनामें सारस्वत जातिमें पुनर्विवाह करानेमें वे अग्रसर थे। प्राथमिक शिक्षा और विशेषत ग्रामोमें तालीमके प्रसारके वे बड़े पक्षपाती थे। ये कहा करते थे कि किसानके सुखी होनेपर ही सारा देश सुखी हो सकता है। दीन दरिद्रको निहार कर इनका हृदय द्रवित हो जाता था। अपना समस्त जीवन इन्होने लोकसेवामें ही व्यतीत किया। महाराष्ट्रमें एक व्यापक आदोलनको इन्होंने प्रारभ किया। ठेठ देहातो तक पहुँचने वाला पहला समाज-सुधारक आंदोलन यही था। समाज-रचनामें मौलिक परिवर्तन लानेके लिए इन्होने रूढिप्रतिपादक शास्त्रो का खूब खण्डन किया। अपने विचारो के प्रसार के लिए इन्होने १०-१२ ग्रंथ भी लिखे। इनकी सेवा, तपस्या और त्यागवृत्तिको देखकर जनता इनको "महात्मा" नामसे आज भी याद करती है। महाराष्ट्रमें समाज-सुधारके इतिहासमें इनका नाम अमर है। महामति रानाडे आदि पुरुषोने भी आपकी प्रवृत्तियोका अभिनदन किया था। इनका अवसान सन १८९० में हुआ। (इनका संक्षिप्त जीवन-परिचय अन्यत्र दिया गया है— सम्पादक)

सन् १८७६में बम्बईमें "प्रार्थना समाज"की स्थापनामें लोक हितकारी का भी हाथ था। श्री दादोबा पाडुरंग तर्खड़ और उनके बंधु डाक्टर आत्माराम पांडुरंग इस समाजकी प्रवृत्तिके अगुवा थे। महामति रानाडे और महाविद्वान डॉ० रामकृष्ण गोपाल

भाडारकर तथा श्री वामन आवाजी मोडक प्रवृत्ति महानुभाव इस समाजके अग्रनायक रहे। उन्हें हम महाराष्ट्रकी दूसरी पीढीके महान समाज सुधारकोमें स्थान दे सकते हैं।

प्रार्थना समाजकी कल्पना यद्यपि बंगालके ब्राह्म समाजसे प्रेरणा पाकर हुई थी, परन्तु यह समाज हिन्दू-धर्मसे पृथक होना नही चाहता था। श्री केशवचन्द्र सेनने ब्राह्म समाजको जो स्वरूप प्रदान किया था, वह ईसाई मतकी ओर बुरी तरह झुक गया था। यह बात महामान्य रानाडे तथा डाक्टर भाडारकरको सर्वथा पसद नही थी। मूर्त्ति-पूजा तथा अवतार कल्पनाका प्रार्थना समाजी खूब खंडन करते थे परन्तु वे इस बात का सदा प्रतिपादन करते रहते थे कि प्रार्थना-समाज हिन्दू-धर्मका ही एक सुधारक पथ है। महामति रानाडे और डा० भाडारकर दोनो ही हिन्दू धर्मके कट्टर अभिमानी थे और अपने "ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति" के सिद्धान्तके लिए वे बहुत गौरव अनुभव किया करते थे। डॉ० भाडारकर एक स्थानपर कहते हैं कि—परमेश्वर हमारे समीप ही वास करता हैं। वह हृदयस्थ हैं। इस अत्युत्तम विचार का हमारे समाजमें विशेष विस्तार हैं। तथापि वे जीवात्मा और परमात्माके अद्वैत तथा "अह ब्रह्मास्मि" के सिद्धान्तको नही मानते थे। वे अव्यक्त परमात्मा की उपासना करते थे और मूर्त्तिपूजा के विरोधी थे, तथापि परमात्मा को सगुण मानते थे। शकराचार्यका निर्गुण परमब्रह्म और "मायावाद" भी उनको मान्य नही था। वे भक्तिमार्गी, सगुणोपासक और द्वैतवादी थे, परन्तु मूर्तिपूजा और अवतारवादके विरोधी थे। उन्हें प्रार्थना आवश्यक प्रतीत होती थी, परन्तु वे प्रार्थना द्वारा भौतिक फलकी प्राप्ति नही मानते थे। उनका विशेष आग्रह था कि प्रार्थना केवल आध्यात्मिक उन्नतिके लिए ही करनी चाहिए। इस प्रकार भौतिक व्यवहारोमें से अशास्त्रीय चमत्कारोको प्रार्थना समाजने दूर कर दिया था।

मूर्त्ति-पूजाके विषयमें डॉक्टर भाडारकरके विचार जानने योग्य हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि—

"अमुक देवता अथवा प्रतिमाको ही भज या उसकी शरणमें जा, यह कहना ठीक नहीं केवल प्रतिमाको दृष्टिके सामने रखकर भजन-पूजन करनेसे अनेक अनिष्ट परिणाम होते हैं। प्रतिमा पुरुषकी हो या स्त्रीकी, सच्चे देवताके स्वरूप और महिमाका विस्मरण तो हो ही जाता है और उस देवके उपासक उसके ऊपर मनुष्यके क्रिया-कलापका आरोपण कर बैठते हैं। देव यदि पुरुष हो, तो उसके लिए पत्नी खोज लाते हैं, यदि देवता स्त्री हो तो उसके लिए पतिकी व्यवस्था की जाती है। फिर उसके लिए मनुष्योकी सी शय्या तैयार की जाती हैं। उपासक यदि तमाकू सेवी हो तो उनके लिए पान, सुपारी तथा तम्बाकूकी पीकदानकी व्यवस्था देवगृहमें की जाती है। इस प्रकार प्रभुकी केवल विडम्बना ही की जाती हैं। ऐसे अनिष्टोका समावेश धर्ममें न होने पाये इसीलिए धर्माचरणमें मूर्तिपूजाको स्थान नही देना चाहिए।"

इस प्रकार महाराष्ट्रके आद्य सुधारकोंके कार्योका विचार करते हुए हम १८७० के समय तक पहुँच जाते हैं। इसके पश्चात् महाराष्ट्रके इतिहासको एक नवीन मोड प्राप्त होता है।

अनुवादक—श्री शकरदेव विद्यालकार

श्री अनन्त हरि जोगी

श्री गोपाल गणेश आगरकर

महाराष्ट्रमें समाज-सुधारकी भावनाका प्रसार करनेवाले इस मनीषी पुरुषका जन्म सन् १८५६ में सतारा जिलेके टेंगृ नामक गाँवमें हुआ था। करहाडमें तीसरी श्रेणी तक अंग्रेजीका शिक्षण करनेके बाद कुटुम्बकी आर्थिक कठिनाइयोंके कारण इनकी पढाई छूट गई तथा इन्होने मुन्सिफ कोर्टमें काम शुरु किया। परन्तु अध्ययन और अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्कट आकाक्षाके कारण वे अधिक समय तक काम नही कर सके और मुन्सिफ नागपुरकर से ७५ रु० की सहायता लेकर अधिक अध्ययन करनेके लिए रत्नगिरि चले गये। वहाँ भी इनको अपने ध्येयमें सफलता नही मिली। ये जिस सद्गृहस्थ के यहाँ गये थे उसकी मृत्यु हो गई। दूसरोंके यहाँ वारी लगाकर भोजन करनेकी भी व्यवस्था नही हो सकी। अत. वे पुन करहाड लौट आये और वहाँके अस्पतालमें कम्पा-उन्डरके रूपमे नौकर हो गये। परन्तु अध्ययनकी लालसासे इनका मन वहाँ भी स्थिर नही रह सका और वे वहाँसे अपने मामाके साथ अकोला चले गए। अकोलामें अनेक पारिवारिक सकटो और विपदाओका मुकाबला करते हुए उन्होने १८७५ में मैट्रिककी परीक्षा उत्तीर्ण कर ली।

एक दिन ये किसी कारणवश स्कूलमें विलम्बसे पहुँचे। इसपर अध्यापकने इन्हें बुरी तरह फटकारा और कहा "तुम इस प्रकार पिछडते जाओगे, तो बडे होकर कुछ भी नही कर सकोगे।" इसपर गोपालने तत्काल उत्तर दिया "यदि मै आपकी तरह ही एम० ए० न करलूँ, तो मेरा नाम आगरकर नही।" बचपनमें रोषसे ही निकले इन उद्गारोको उन्होने पूरा कर दिखाया।

गोपालकी शिक्षणकी अत्यधिक अभिलाषा और प्रवृत्ति देखकर इनके अध्यापकोने स्वयं चन्दाकर ६० रु० एकत्र किये तथा कालेजकी प्रथम तिमाही की फीस इन्हें दे दी। इस राशिको लेकर ये डेक्कन कालेजमें प्रविष्ट हो गये। कालेजमें अपने खाने-पीने तथा पुस्तको आदिको जुटानेके लिए इन्हें घोर परिश्रम करना पडा। समाचार-पत्रो में ये कुछ लिखा करते थे, उससे इन्हें ५) प्रति मास मिलता था। प्रति तीन मास बाद जूनियर छात्र वृत्ति भी मिलती थी। परन्तु इससे भी आर्थिक समस्या हल नही होती थी। कालेजमें इनके पास विस्तरके रूपमें केवल १ चादर ही थी। कालेजकी भाषण व निबन्ध प्रतियोगिताओंमें विजयी होनेपर इन्हें ५०–५० रु० पुरस्कारमें मिले। बहुत मितव्ययी जीवन बितानेपर भी ये एम० ए० की परीक्षाके लिए फीसके पैसे न जुटा

सके। इन्होंने नाटक लिखकर पैसे प्राप्त करनेका उपक्रम किया और इसके लिए रात-रात-भर जगकर लेखन-कार्य करने लगे। इनके एक प्राध्यापक श्री छत्रेको यह बात मालूम हुई और उन्होंने उनकी फीस भर दी। आर्थिक सकटोंके साथ जूझते हुए इन्हें दमेकी व्याधिने भी धर दबोचा। दर्शन व इतिहास लेकर इन्होंने सम्मानपूर्वक एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। मिल और स्पैन्सर जैसे बुद्धिवादी और अज्ञेयवादी दार्शनिकों का इनपर गहरा प्रभाव पडा और ये प्रत्येक बातको बुद्धिकी तुलापर तोलनेके आदी हो गए।

जीवन का नया ध्येय

उस समय इतनी उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवालोंके लिए मोटी तनखाह की नौकरी तथा मान-सम्मान मिलना अत्यन्त सहज था। परन्तु अपने ध्येयवाद और डेक्कन कालेजमें ही तिलकके साथ हुए सम्पर्कके कारण उन्होंने अपने जीवनका मूल्याकन और ही ढगसे किया। इस सम्बन्धमें उन्होंने अपनी माताजीको जो पत्र लिखा था, वह स्मरणीय है। उन्होंने पत्रमें लिखा था—"मेरे पुत्रने बडी ऊँची परीक्षा दी है तथा उसे खूब बडी वेतन वाली नौकरी मिलेगी और हमारे दु खके दिन फिर जायँगे ऐसी आशाएँ तुमने लगा रखी होगी। परन्तु माता! मैं अभीसे ही तुम्हें यह कह देना चाहता हूँ कि विशेष सम्पत्ति और विशेष सुखकी मुझे कोई आकाक्षा नही है। मैं केवल अपनी उदर-पूर्त्तिके लिए ही आवश्यक पैसे रखकर शेष सब परोपकारके लिए ही व्यय कर दूगा।"

१८८० में श्रीविष्णु शास्त्री चिपलूणकरने जिस समय न्यू इगलिश स्कूलकी स्थापना की उस समय उनके सहकारी केवल आगरकर और तिलक ही थे। उनके बाद १८८१ में जब "केसरी" और "मराठा" पत्रोंको शुरु किया गया तब केसरीके प्रथम सम्पादक श्री आगरकर ही थे। अगले वर्ष छत्रपति कोल्हापुर नरेशके पक्षका समर्थन करनेके कारण इन्हें तथा श्री तिलकको १०१ दिनके कारावासका दण्ड मिला। उस समय उनकी मन स्थिति क्या थी, इसका स्पष्ट आभास उसकी "डोगरीकी जेलमें एक सौ एक दिन" नामक पुस्तकसे मिलता है।

न्यू इग्लिश स्कूल बढकर फर्ग्युसन कालेजके रूपमें परिवर्तित हो गया। इस कार्य में भी श्री आगरकर श्री तिलकके साथी थे। जनतामें ज्ञान प्रसारके लिए उन्होंने यद्यपि "केसरी" में तर्क और बुद्धिकी कसौटीके आधार पर बडे विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे तथापि उनका मन निरन्तर सामाजिक सुधार सम्बन्धी बातोंकी ही चिंतना करता था। १८८४ में मलाबारके शेटजीने यह प्रस्ताव रखा कि सरकारी कानूनोंकी सहायतासे बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। श्री आगरकरको यह मत पूर्णतया मान्य था, किन्तु इनके सब सहकारी इनके विरुद्ध थे अत इस बातको दबाया जाने लगा।

श्री तिलक से विरोध

इसी समय 'पहले सामाजिक सुधार या राजनीतिक सुधार'—विवाद उठ खडा हुआ। लोकमान्य तिलक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे। उनका सारा ध्यान इस बातकी ओर था कि विदेशी सत्तासे देशको बाहर निकाल फेंकनेके लिए किस प्रकार चक्रव्यूह रचा जाय। उनका यह विश्वास था कि सर्वप्रथम विदेशी सत्ताको समाप्त

करना चाहिए, इस कार्यको करते हुए यदि सामाजिक सुधारका कार्य कुछ विलम्वित हो जाय, तव भी कोई चिन्ताकी वात नही। लोकमान्यको यह चिन्ता थी कि राजनीतिक आन्दोलनके लिए जनताको साथ लेनेके लिए कोई ऐसा कार्य न किया जाय जिससे उनके अनुयायियोमें ही किसी विपयको लेकर बुद्धि-भेद हो जाय और वे राजनीतिक सघर्पके मार्गसे विचलित हो जायँ। श्री तिलककी यह मान्यता थी कि हम अपने समाज में जो सुधार करना चाहते है उसे हमें स्वय करना चाहिये। इसके लिए विदेशी सरकार अपने क़ानूनोंसे हमें अमृत भी दे, तो वह हमें स्वीकार नही। उनका यही कथन था कि एक वार जव विदेशी सत्ता यहाँसे चली जायगी तव हम जो सुधार करना चाहते है, स्वयं कर लेंगे।

इसके विपरीत श्री आगरकरका यह मत था कि हिन्दू-समाजका यह वट-वृक्ष अनेक स्थानोंसे खोखला हो गया है, उसकी तूफानोंसे मुकावला करनेकी शक्ति क्षीण हो गई है। उसमें विद्यमान अनिप्ट प्रवृत्तियो और घातक रूढियोको निर्दयतापूर्वक काट-छाँटकर निकाल देना चाहिए। इसे नये विचारो और ज्ञानका खाद-पानी मिलना चाहिए। यदि समाजके घटक व्यक्तियोमें आतरिक वल और सामर्थ्य आ जाय, तो विदेशी सत्ताको समाप्त करनेमें अधिक समय नही लगेगा। इसके विपरीत यदि समाज निर्वल और क्षीण रहा, और उसे स्वतंत्रता मिल भी गई, तो भी वह अधिक समय तक टिक नही सकता।

केसरी से त्यागपत्र : नये पत्र का प्रारम्भ

इस विवादमें श्री तिलक और श्री आगरकरके मूल मतभेदके कारण केसरीके अन्य सहकारी जो श्री तिलकके पक्षमें थे, श्री आगरकर की अवज्ञा करने लगे। यह परिस्थिति जव असह्य हो गई तव २५ अक्टूवर १८८७ को उन्होने "केसरी" से त्यागपत्र दे दिया तथा समाज-सुधारके ध्येयसे १८८८ में उन्होने "सुधारक" नामका एक पत्र प्रारम्भ किया।

श्री आगरकरने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि "सुधारक" पत्र उसी वातकी उद्-घोपणा करेगा जो वुद्धि और तर्क सम्मत होगी। इस कार्यके लिये किसी भी पक्षसे आनेवाले विरोधका प्रतिकार करनेके लिए वे पूर्णत: तैयार थे। प्रथम वर्प खर्च निकाल कर "सुधारक" को ३० रु० का लाभ हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रति मास उनका वेतन २॥) रु० पडा।

समाज सदासे ही प्राचीनताका अभिमानी रहा है। इस प्रकारके प्रतिकूल समाजमें भी उन्होने अपने लेखो द्वारा अपने विचारोका निर्भीकतापूर्वक प्रचार किया। इन्हें इस प्रकार के नवीन विचारोका प्रचार करनेके कारण मार देनेकी धमकियाँ दी गई। इतना ही नही इनके विरोधियोने इनके जीवनमें ही इनका पुतला वनाकर अर्थी निकाली तथा उसकी अन्त्येप्टि की। परन्तु श्री आगरकर अपने अगीकृत मार्गसे एक क्षणके लिए भी विचलित नही हुए। उन्होने उस समय विद्यमान सभी अनिप्टकारी रूढ़ियो और अन्य विश्वासोपर निर्मम आक्रमण किए।

उन्ही दिनो होल्कर सरकारने उन्हें ५०० रु० की नौकरीपर वुलाया, किन्तु उन्होने इसे अस्वीकार कर अपने स्वार्थ त्यागके मन्दिरपर स्वर्ण कलश मंडित कर दिया।

१८६२ में प्रिंसिपल आप्टेके निधनके वाद उन्हें फर्ग्युसन कालेजका प्रिंसिपल वनाया गया। कुछ समय वाद ही कालने, जो वहुत समयसे इनकी प्रतीक्षामें था, इनके दरिद्री, दमा-पीडित, मिताहार और समाज-सेवासे जीर्ण शरीरको १८९५ में ग्रास वनाकर ही दम लिया।

उस समयका महाराष्ट्रीय मध्यम वर्गका जीवन-क्रम आर्थिक कठिनाइयोंके कारण परिवर्तित हो रहा था। नवीन परिस्थितिके अनुसार होने वाले इन परिवर्तनोका समर्थन करनेके कारण नवीन पीढी इन्हें अपना मार्ग-दर्शक समझती थी। इस प्रकार यह कहना अत्युक्ति न होगी कि श्री आगरकर उन व्यक्तियोमें अग्रणी थे, जिन्होने समाज-सुधार के कार्यकी नीव रखकर मध्यम वर्गके जीवनमें क्रातिकारी परिवर्तनका समावेश किया।

सामाजिक विवेचना

श्री आगरकरने अपनी लेखनीको समाजके किसी भी विषयसे अछूता नही छोडा। उन्होने समाजमें विद्यमान प्रत्येक रीति-रिवाजको तर्ककी कसौटीपर परखकर उसके गुण-दोप को प्रकट किया। समाज की वेश-भूपा क्या हो इस प्रकार के वाह्यविपयो से लेकर उन्होने परलोक, चातुर्वण्य, ग्रथ-प्रामाण्य, जाति-भेद, अन्धविश्वास जैसे गूढ विपयो पर भी अपनी लेखनी चलाई। इसी प्रकार राजा, प्रजा, कानून, स्वराज्य, स्वतन्त्रता अन्न-वस्त्रकी समस्या आदि प्रश्नोपर भी उन्होने निर्भीकतापूर्वक अपने विचार प्रकट किए। यद्यपि उनकी ख्याति समाज-सुधारकके रूपमें थी तथापि राजनीतिक विचारोमें भी वे सवसे आगे थे। "धर्मशास्त्रोकी आज्ञाके समान सरकारके कायदे-कानून भी किसी मर्यादा तक ही पालन किए जा सकते है। सत्य वोलने वाले व्यक्तियोको रूढि-वादियोंसे या शासकसे भयभीत होनेकी आवश्यकता नही। प्रारम्भमें विरोध होनेपर भी अन्तत जनताको यह मालूम हो जायगा कि सच वोलने वाला कौन है। वाह्य राज्यक्रातिकी अपेक्षा सामाजिक क्राति—अन्त क्रान्ति—अधिक महत्वकी है। सक्षेपमे अन्त क्रातिके विना राज्यक्राति भी निरर्थक हो जायगी।" इस प्रकारके विचार उनके लेखोमें यत्र-तत्र ध्वनित होते हुए देखे जा सकते है।

श्री आगरकर जहाँ दार्शनिक-क्रातिकारी थे वहाँ श्री तिलक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे। अनावश्यक और सहज रूपसे सिद्ध न होनेवाली वातोको कहकर लोगोका व्यर्थमें विरोध क्यो मोल लिया जाय, यह श्री तिलकका कहना था। इसके विपरीत श्री आगरकर को ऐसा लगता था कि जो सत्य है, उसे न कहना, या केवल स्वार्थके लिए ही उसे वोलना सत्यके अपलापका दोपभागी होना है। इसी वातको लेकर इन दोनो महान कर्तव्य-निष्ठोमें मतभेद हो गया।

आज श्री आगरकरके विचारोको सव मानने लगे है। राजकीय परिस्थितियोमे सुधार करनेकी इच्छा होनेपर भी अव सव इन वातको माननेके लग गये है, कि समाजके दोपोको दूर किया जाना चाहिए, तथा लोगोमें व्यक्तिगत गुणोका विकास किया जाना चाहिए।

व्यक्तिका विकास, उसका आचरण, सामाजिक रीति-रिवाज और स्त्रियोकी उन्नति के सम्वन्ध में उनके अनेक लेख अत्यधिक पठनीय और माननीय है। जीवन-दर्शन, कर्म और समाज-सेवाके लिए व्यग्रताके सम्वन्धमें उनके विचार वुद्धिग्राह्य हैं।

श्री आगरकर द्वारा सुझाए गए अनेक समाज-सुधारोको महाराष्ट्र-समाजने आज पूर्णतया स्वीकार कर लिया है। आज सीधी-सादी लगनेवाली इन बातोके लिए इस मनस्वीको कितना कष्ट और अपमान सहना पड़ा यह आजके लोग पूरी तरह नही समझ सकते। समाजका स्वरूप ही आज इतना बदल गया है कि जिस व्यक्तिकी जीवित अवस्थामें अर्थी निकाली गई आज उसे ही लोग अपने भालका गौरव समझने लगे है। हालही में इस महापुरुषकी जन्म शताब्दी मनाकर तथा उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित कर समाजने अपने पूर्व पापोका प्रायश्चित्त किया है।

—:o::o:—

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

लाला देवराज

"लाखोमें एक" ये शब्द स्वर्गीय लाला देवराजजीके सम्बन्धमें १९०५ में पंजाब-सरकारके शिक्षा संचालक श्री डब्ल्यू० बैलने कहे थे और उन दिनोंमें इन्ही शब्दोंमें उनके व्यक्तित्व और कार्यका दिग्दर्शन कराया जा सकता था। लाहोरके क्वीन मेरी कालेज के साथ कन्याओंके लिए बोर्डिंग हाउस कायम करनेका प्रस्ताव सरकारके सामने विचारके लिए उपस्थित था। उसकी सम्भावनाओंकी जाँच करनेके लिए श्री डब्ल्यू० बेलको सरकारकी ओरसे जालन्धर भेजा गया था, क्योंकि सारे पंजाबमें, लालाजी द्वारा संस्थापित जालंधर कन्या महाविद्यालय ही एक ऐसी संस्था थी, जिसके साथ बोर्डिंग हाउस लगभग दस वर्षोंसे कायम था। १८८४ के लगभग कन्या विद्यालयकी स्थापनाकी कल्पना करना एक असाधारण बात थी, सदियों पुरानी यह धारणा कि "स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्" इतनी बद्धमूल हो चुकी थी कि अपनेको जाग्रत और प्रगतिशील माननेवाले आर्य समाजियोंको भी उसके लिए तैयार करनेके लिए लालाजीको बडी मेहनत करनी पडी थी। उनको तैयार कर लेनेके बाद भी दो बार तो विद्यालय इसलिए नही चल सका कि उसके लिए पहली बार अध्यापिका न मिल सकी और दूसरी बार जब अध्यापिका मिली, तब कन्यायें न मिल सकी। लालाजी अपनी जेबमें खिलौने और मिठाइयाँ ले जाते थे और घर-घर जाकर लडकियोंको मिठाई व खिलौना का लालच देकर पटानेके लिए लाते थे। आज एक लडकी आती तो कल कोई भी उसका रिश्तेदार आकर उसको उठा ले जाता अथवा उसको घर पर ही रोक लिया जाता।

लाला देवराजजीने स्वयं अपने एक व्याख्यानमें इन कठिनाइयोंकी चर्चा की थी। १९१० में जालन्धर आर्यसमाजके उत्सवपर उन्होंने कहा था कि "जब कोलम्बसने पाताल देश अमेरिकाका पता लगाया था, तब उसको अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पडे थे। उसके पास किसी प्रकारकी कुछ भी सामग्री नही थी। सबसे बडी दिक्कत यह थी कि उसकी बातपर कोई यकीन न करता था। कोई यह नही मानता था कि कोई पाताल है भी।

"मैं कन्या महाविद्यालयके कामको कोलम्बसके कामसे उपमा दूंगा। अन्तर केवल इतना है कि कोलम्बस ढाई वर्षकी मेहनतके बाद पाताल-देशके तटपर पहुँच गया, मगर विद्यालयके कार्यकर्ताओंको बीस वर्षके अर्सेके बाद अभी सिर्फ किनारा नजर आने लगा है। विद्यालयरूपी पाताल देशके कोलम्बस उसके अधिकारी लाला बद्रीदासजी,

लाला रामकिशनजी, लाला कर्मचन्दजी व लाला जेठामलजी है और हमारी इजावेला वह थी, जिसने उस समय हमें इस महायज्ञका अनुष्ठान करनेके लिये प्रेरित किया था, जबकि उसको शुरू करनेके लिए हमारे पास केवल ८) रु० की पूंजी थी। सदियोंसे गिरी हुई स्त्री-शिक्षाकी ध्वजाको उड़ाकर फिरसे ऊँचे आकाशमें फहरानेवाली वह देवी थी हरियानाकी माई भगवती। आज जमाना बदल चुका है। समाज-सुधारके मैदानमें हम काफी हद तक आगे बढ गए हैं। आज ये देवियाँ बिना चिक व परदेके यहाँ बैठ सकती हैं। मगर हरियानाकी इस इजावेलाने ऐसे समय पर काम करना शुरू किया था, जबकि स्त्रियोंके लिए नंगे मुँह फिरना, कलंकित करनेवाला कार्य था। हम हरियाना को ऐसा ही पवित्र समझेंगे, जैसे हरिद्वारको।

"विद्यालय एक वृक्ष है। इसकी शाखाएँ बहुत-सी हैं। इनमें से किसीमें कुछ लगा हुआ है और किसीमें कुछ। पहली शाखा विद्यालय, स्कूल या कालेज है, दूसरी शाखा आश्रम है। तीसरी शाखा विधवा-भवन और चौथी कन्या अनाथालय।

"सज्जनो, विद्यालय एक आर्यसमाजी सस्था है। इसकी प्रबन्धकारिणी समिति एक रजिस्टर्ड संस्था है, जो कि समस्त आर्य समाजकी है। कुछ लोग एतराज करते है कि विद्यालय सामाजिक सस्था कैसे हो सकता है? विद्यालयकी प्रबन्धकारिणी सभा में आर्यसमाजके प्रतिनिधि आते हैं। जो सस्था अपनी पहली जमातकी लड़कियोंको आर्यसमाजके नियम याद कराती है, और स्वामीजी के ग्रंथोको बाकायदा पढाती है, यदि वह संस्था सामाजिक नही, तो और कौन सामाजिक सस्था हो सकती है? यह समाजका बच्चा है, सामाजिक सस्था है और ईश्वर करे कि यह समाज की ही रहे।

"लोग कहते है कि विद्यालयके अधिकारियोके दिमागमें खलल आ गया है। उन्होंने ऐसी बहुत-सी बातें जारी करदी है, जो शास्त्र विरुद्ध है जैसे गाना बजाना। यदि बाइबिल या कुरानका माननेवाला ऐसा ऐतराज करे, तो क्षमा किया जा सकता है। लेकिन, यदि वेदोका माननेवाला ऐसा कहे, तो उसे क्षमा नही किया जा सकता। उसके लिए निहायत अफसोस है। हमारा तो गानेके साथ सृष्टिके प्रारम्भसे गहरा सम्बन्ध है। यहाँ तक कि चारमें से एक वेद, सामवेद, केवल गान-विद्याके लिए है।

"दूसरी शंका पहरावेपर है। कोई कहता है कि लँहगेको लिबासमें शामिल करो। हमारे यहाँ देश-देशान्तरोसे कन्याओंको आना है। यदि आश्रम या विद्यालय किसी खास प्रान्तके लिए होता, तो हम भी वैसा ही पहरावा नियत कर लेते। मगर, यह सारे देशके लिए है। किसी खास प्रान्तके लिए नही। सारे देशकी प्रतिनिधि कन्याएँ है। इसलिए हमें ऐसा ही पहरावा रखना होता है जिसको अपनाने और पहिननेमें किसी भी प्रान्तकी लडकियोको आपत्ति न हो।

"मातामें पिताकी अपेक्षा सन्तानके लिए अधिक हित होता है। इसलिए माता पिताकी अपेक्षा कुरबानी भी अधिक कर सकती है। यदि किसी संस्थाके छात्रोमें त्याग है, तो वह अमृत देनेवाला है। विद्यालयमें जब आप ड्योढीमें प्रवेश करेंगे, तो आपको इन छात्राओंके नाम देखनेको मिलेंगे, जिन्होने छः मास या उससे अधिक समय, अपने आरामको कुरबान करके, विद्यालयकी सेवा है।

"अभी हमें बहुत काम करने है। लडकियोंके लिए एक टैकनिकल स्कूलकी आवश्यकता है। जिल्दसाजी, घडीसाजी, आदिके काम लडकियाँ घर बैठे कर सकती है। कन्याओको विदेश भेजकर विद्यालाभ करानेके लिए "विदेश-यात्रा फड" कायम करनेकी जरूरत है। 'सिक-नरसिंग' की शिक्षा लडकियोको दी जाती है, इसको अधिक बढाने की जरूरत है। जगह-जगह विद्यालयकी शाखाएँ कायम करना जरूरी है। पहाडपर लडकियोंके लिए 'रेस्ट हाउस' बनानेकी आवश्यकता है। किश्ती चलाने और घुडसवारी सिखानेके लिए सामान जुटाना आवश्यक है। स्त्री प्रचारिकाएँ भी पैदा करनी है।

हम अपनी सारी कन्या पाठशालाओमें एकही पाठ-विधि प्रचलित करके एक "महिला विश्व विद्यालय" की स्थापना करना चाहते है।"

लालाजीने अपनी और अपने साथियोकी कोलम्बससे ठीक ही उपमा दी थी। उनके इस भाषणसे यह प्रकट है कि उनके मार्गकी कठिनाइयाँ १९१० में भी दूर नही हो सकी थी। आर्यसमाजी भी स्त्री-शिक्षाको आर्य समाजके कार्यका अग नही मानते थे। वे लडकियोकी पढाई और पहरावेतक पर आपत्ति करते थे। इस भाषणमे स्त्री-शिक्षा के सम्बन्धमें लालाजीके ऊँचे विचारो और महत्वाकाक्षाकी भी एक स्पष्ट झलक मिलती है। आज देशमें स्त्री-शिक्षाके क्षेत्रमें काम करनेवाली ऐसी सस्थाओकी कुछ कमी नही है जिनका कि स्वप्न लालाजीने १९१० में देखा था, परन्तु उन दिनोमे वह स्वप्न देखना भी कोई साधारण बात नही थी। अन्य प्रदेशोमें स्त्री-शिक्षाका काम करनेवालोको भी ऐसे ही विरोध और बाधाओका सामना करना पडा है, परन्तु लालाजी और उनके साथियोको विशेष विरोध और बाधाओका सामना मुख्यत दो कारणोसे करना पडा है। एक यह था कि जब उन्होने अट्ठारहवी सदीके अन्तिम चरणमें काम किया तब स्त्री शिक्षाके लिए कोई बात तक करनेवाला नही था और दूसरा यह कि जिस प्रदेशमें उन्होने काम शुरू किया, वह परदा सरीखी उन रुढियोका गढ था जो स्त्रियोके प्रति पुरुषोके अन्याय तथा पक्षपातकी प्रतीक थी। महर्षि कर्वेको भी भयानक विरोध और विषम परिस्थितियोका सामना करना पडा था, किन्तु उनसे भी वे परिस्थितियाँ कही अधिक विषम थी, जिनमें लालाजीने स्त्री-शिक्षाका बीजारोपण किया था। लालाजीकी स्त्री-शिक्षाके सबधमें जो महत्वाकाक्षाए थी, वे भी प्राय अधूरी इसलिए रह गई कि जब उनके अनुकूल वातावरण बना तब वे चल बसे, फिर भी उस वातावरणके बनानेका जो काम उन्होने किया, उसका भी महत्व कुछ कम नही है।

यहाँ केवल कुछ घटनाएँ इसलिए दी जा रही है कि उनसे लालाजीके मार्गकी कठिनाइयोके साथ-साथ देशकी उस समयकी परिस्थिति पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है। उनकी चर्चा करते हुए लालाजीकी समाज-सुधार सम्बन्धी कुछ प्रवृत्तियोकी चर्चा करनी भी आवश्यक हो जाती है, क्योकि लालाजीने स्त्री-शिक्षाका कामकाज समाज-सुधारकी भावनासे ही प्रारम्भ किया था। पजाबमें भी स्त्रियोंके सबधमें अत्यन्त गर्हित सामाजिक रूढियाँ प्रचलित थी। परदा, स्यापा, गदे गीत आदि उनमें प्रमुख थे। लालाजी अपनी युवावस्थासे ही अपनी डायरी नियमित रूपसे लिखा करते थे। १८८३ में ७ मार्चको अपनी डायरीमें उन्होने लिखा था कि "वहाँ स्त्रियाँ गदे गीत गा रही थी।

तोवा ! अफसोस !! ऐसा कोई भी नही, जो इन वेचारियोको जहालतके पल्लेसे छुड़ा दे। स्त्रियोंका क्या दोष ? दोष इनके पतियो और रिश्तेदारोंका है। मैं हमेशासे स्त्रियोका तरफदार रहा हूँ। मेरे दिलमें यह खूव अच्छी तरह वैठा हुआ है कि स्त्रियाँ आदमियोंकी निस्वत नेक और रहमदिल होती है। आह ! इनकलावे दौरा !! स्त्रियाँ इतनी जाहिल हो गई है कि गन्दे और अच्छे गीतोमें कुछ फर्क नही कर सकतीं, ऐ आर्यावर्त ! इस गिरोहके इकवालका सितारा कम चमकेगा ?" फिर ११ नवम्वर १८८६ की डायरीमें उन्होने लिखा था कि "हमारे लडके लडकियाँ विद्या नही पढते। मुझे इस ओर ध्यान देना चाहिए और कोई न कोई समय इनकी तालीमके लिए निकालना चाहिए।"

लालाजीने जिन परिस्थितियोमें काम शुरु किया उसका वर्णन महाविद्यालयकी मुख पत्रिका "जलविद सखा"में वहुत सुन्दर शव्दोमें किया गया है। वह लेख उनकी ७४ वी वर्ष गाँठके उपलक्षमें लिखा गया था। उसमें लिखा गया है कि "जव स्त्री-शिक्षा के प्रेमियोपर ईंटो और पत्थरोकी वौछार होती थी, लोग उनपर अनेक लाछन लगानेमें संकोच नही करते थे, शिक्षा पाप कर्म समझा जाता था, किसी कन्याके हाथ "अक्षर-दीपिका" होना इतना वड़ा अपराध समझा जाता था कि उसकी सगाई छूट जाती थी, तव श्रद्धेय चाचाजीने कन्या-महाविद्यालयकी स्थापना कर वड़ी दूरदर्शिताका काम किया। १९६६ विक्रमीकी वात है कि जव मैं वहाँ पढनेके लिये आई, तो विरादरीने घरवालोको सामाजिक वहिष्कारका भय दिखाया। विरादरीवालोको डर था कि मै ऐसे आर्यो में जाकर भ्रष्ट हो जाऊँगी, जो कि विववाओकी शादी करते है। कुलको दाग लगाकर अपने वाप-दादोकी ममर्यादाका उल्लंघन कर डालूंगी।" लालाजीने स्वयं भी एक जगह लिखा है कि "पंडित श्रीपतिने कन्या-शिक्षाका काम तव आरम्भ किया था, जव स्त्री शिक्षाका नाम लेनेवालोको मूर्ख, पागल, धर्मनाशक और देशको तवाह करनेवाले कहा जाता था, । यह उन दिनोंकी वात है, जव हरियानाकी देवी माई भगवतीके सगे भाइयों तकने उनसे स्त्री-शिक्षा और धर्म प्रचारकी वजहसे सम्वन्व तोड़नेमें अपनी कुशल समझी और पूजनीया माईजीको गालिया ही नही दी, किन्तु उनपर फौजदारी मुकदमें चलाकर उन्हें अदालतोमें घसीटा। माईजीको यदि पजावमें स्त्री-शिक्षाकी पथ-प्रदर्शिका कहा जाय, तो अत्युक्ति नही। उन दिनो यदि किसी कन्याके हाथमें कोई पुस्तक होती, तो उसकी सगाई छूट जाती थी, क्योंकि भूली भटकी अज्ञानता-ग्रसित जनता यह समझती थी कि लड़की पढ़ी-लिखी कि हाथसे गई।"

दूसरोकी वात क्या की जाय आर्यसमाजी भी स्त्री-क्षिाके सम्वन्वमें सामान्य जनता के समान ही विचार रखेते थे और महिलाओंके सम्वन्वमें भी उनके विचारोमें विशेष परिवर्तन नही हुआ था। पडित श्रीपतिजीने १८ जून १८८६ को जालन्वर आर्यसमाज में यह सुझाव उपस्थित किया था कि स्त्रियोको भी साप्ताहिक सत्सगमें उपस्थित रहने का अवसर दिया जाय, परन्तु उसको स्वीकार नही किया गया, जव जालन्वरके आर्य-समाजियोकी यह मनोवृत्ति थी, तव दूसरोंकी मनोवृत्तिका अनुमान लगाना कुछ भी कठिन नही होना चाहिए।

आर्य समाजने शिक्षाका जो कार्य किया है उसका मुख्य लक्ष्य शिक्षाके क्षेत्रमें ईसाई पादरियोकी राष्ट्र विरोधी प्रवृत्तियोका सामना करना था। जब भी कभी देशमें राष्ट्रीयताके विचार प्रबल हुए तब सदा ही अँगरेज़ी शिक्षाके विरुद्ध राष्ट्रीय शिक्षाके प्रारम्भ किए जानेकी आवश्यकता अनुभव की गई। दक्षिणमें जो काम शिक्षाके क्षेत्रमें श्री आगरकर, लोकमान्य तिलक, चिपलूणकर और उनके साथियोने किया वही काम उत्तरमें १८५०में लाहौरमें दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेजकी स्थापना करके आर्यसमाजने शुरू किया था। कन्या महाविद्यालयकी स्थापनाके लिए जालन्धर आर्यसमाजको प्रेरित करनेवाली ऐसी ही एक घटना हुई। लाला मुशीराम जी, बादमें स्वामी श्रद्धानन्द की लडकी वेदकुमारी स्कूलसे लौटकर एक दिन यह गा रही थी कि "एक बार ईसा ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल ?" लाला मुशीराम इसको सहन नही कर सके। उसी सप्ताह आर्यसमाजमें इस पर चर्चा हुई और २६ दिसम्बर १८८६को कन्या विद्यालय स्थापित करनेका निश्चय करके एक रुपया मासिक खर्च उसके लिए स्वीकार किया गया। उसी वर्षकी आर्यसमाजकी रिपोर्टमें यह लिखा मिलता है कि अध्यापिका न मिलनेसे वह विद्यालय बन्द कर दिया गया और आर्यसमाजने १) रु० खर्च देना भी बन्द कर दिया। माता काहनदेवी माई लाडी, जो कि मिशन स्कूलमें अध्यापिका थी १) रु० महीना और चार रोटी लेकर किसी प्रकार उसको चलाती रही, परन्तु कन्याओके अभावमें उनका प्रयत्न भी अधिक दिन नही चल सका। ३० अगस्त १८८६ को लाला देवराजजीके प्रस्तावपर आर्यसमाजने एक बार फिर विद्यालयको चलानेका निश्चय किया। उसके लिए बनाई गई कमीटीने कोई काम नही किया तो २४ सितम्बर, १८९० को एक और कमीटी बनाई गई। परन्तु उसने भी केवल कागजी योजना बनाई और यह कहकर उसको कार्यमें परिणत नही किया कि उसके लिए योग्य अध्यापिका मिल नही सकती। ५ जुलाई १८९१ को फिर प्रयत्न किया गया और केवल १०) महीनेका बजट बनाया गया। अध्यापक श्रीपतिजी २) और अध्यापिका ४) रु० महीनेपर काम करने लगी। केवल ८ लडकियोंसे एक कमरेमें काम प्रारम्भ किया गया। यह प्रयत्न सफल हो गया और दो ही वर्षमें कन्याओकी सख्या ५५ तक पहुच गई। यह सारा विवरण केवल यह दिखाने के लिए दिया गया है कि किस प्रकार सर्वथा विपरीत और अत्यन्त विषम परिस्थितियोमें कन्या-शिक्षाका बीजारोपण किया गया था। वह वट-बीज किस प्रकार एक बडा वृक्ष बन गया और किस तेजीसे उस विद्यालयका विकास हुआ इनके विस्तारमे न जाकर यहाँ कुछ आवश्यक बातोका उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा।

१५ अप्रैल १८९२ को उस पाठशालाको विशाल रूप देनेका निश्चय किया गया। यह विचार किया गया कि उसके साथ आश्रम (बोर्डिंग हाउस), अनाथ गृह और विधवाओ के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाय। इस योजनाका सर्वत्र स्वागत होनेपर भी डी० ए० वी० कालेज लाहौरकी ओर से कडा विरोध किया गया। उसके सचालकोने इस योजनाको अपना प्रतिद्वन्दी समझ लिया और उनके पत्र "आर्य गजट" में उनका विरोध ही नही, अपितु तरह-तरहके लाछन भी लगाए जाने लगे। विरोध इतना बढ गया कि पंजाब आर्य-प्रतिनिधि-सभा में भी उनके विरुद्ध प्रस्ताव लाया गया। इतना ही अच्छा था कि

ईसं विरोवी प्रस्तावका समर्थन करनेवाली ६८ समाजोमें से केवल १४ थी और शेष ५४ उसकी विरोवी थी। इसी कारण यह विरोव चल नही सका और विद्यालय समस्त विघ्न-वाधाओंको पार करता हुआ विकास, उन्नति व प्रगतिके पथपर अग्रसर होता रहा। १४ जून १८९६ को विद्यालयको कन्या महा विद्यालय नाम दे दिया गया। १२ अप्रैल, १८९५को आश्रम, छात्रावास अथवा वोर्डिंग हाउसकी स्थापना की गई। इसका प्रारंभ लालाजीने अपने घरमें कई वर्ष पहले कर दिया था। कोई और व्यवस्था न होने से वाहरसे आनेवाली लडकियोको वे माताजीकी निगरानीमें रख लेते थे। आश्रममें रहनेवाली कन्याओकी सख्या निरन्तर वढती गई। पहले वर्षमें ५, दूसरे में १६ और तीसरेमें २२ हो गईं। शहरमें सस्थापित अनाथालयका प्रवन्ध आर्यसमाजके हाथमें आनेसे उसको १२ अक्तूवर १८९८ को कन्या महाविद्यालयकी संचालक सभाके अधीन कर दिया गया और उसकी एक शाखाके रूपमें उसका संचालन किया जाने लगा। महा-विद्यालयकी पहली आचार्या वहन सावित्री देवीजी दक्षिणके दौरेपर गई थी। तव उन्होने पूनामें महर्षि कर्वे द्वारा संचालित विववा आश्रमका निरीक्षण किया था। उनके जालन्वर लौटनेपर उनकी ही प्रेरणासे मार्च १९०९ में महाविद्यालय के साथ "विववा आश्रम" की भी स्थापना की गई। इस प्रकार संस्थाको चतुर्मुखी ब्रह्माका रूप प्राप्त हो गया और वह महिला-उत्थान और महिला-जागृतिके क्षेत्रमें चहुँमुखी कार्य करने लग गया।

१८९१ में विद्यालयमें पढनेवाली लड़कियोकी सख्या केवल ८ थी। १९०० में वह १२० और १९१० में ३०० तक पहुँच गई, आश्रममें भी लगभग २०० लड़किया रहने लगी। इससे भी वड़ी उल्लेखनीय वात यह है कि महाविद्यालय और आश्रममें प्रायः सभी प्रान्तोसे आई हुई लड़किया सम्मिलित थी और वर्मा, फिजी तथा अफ्रीका तकसे उन्होने आना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि आधुनिक अर्थोमें महा-विद्यालय विश्वविद्यालय नही वन सका था, फिर भी अपनी स्वतन्त्र शिक्षा प्रणाली, पाठ्य-पुस्तको और उन पाठ्य पुस्तको के अन्य अनेक कन्या विद्यालयोमें चालू होनेसे निश्चय ही उसको विश्वविद्यालयका रूप प्राप्त हो गया। पंजावमें १२५ से भी ऊपर ऐसे विद्यालय थे, जिनमें महाविद्यालय के पाठ्य-क्रम और पाठ्य-पुस्तकोको स्वीकार किया गया था। इसी कारण महाविद्यालयकी अनेक पुस्तकोंके २०, २५ और ३० हजार तकके कई संस्करण प्रकाशित हुए। यह भी उल्लेखनीय है कि इन पुस्तकोके लेखक स्वयं लालाजी ही थे। उन दिनो कन्याओंके लिए उपयोगी पुस्तकें लिखनेवाले लेखक हिन्दी में कहाँ थे? लालाजीका लक्ष्य कन्याओंको केवल साक्षर वनाना नथा वे उनके चरित्र का भी निर्माण करना आवश्यक समझते थे। उनको वर्तमान अव रूढियो और सामाजिक परम्पराओंसे ऊपर उठाकर उनके जीवनको आर्य-संस्कृतिके ढाँचेमें ढालना चाहते थे। इसलिए उनकेलिए वैसे ही साहित्यकी परम आवश्यकता थी। ऐसे सम्पूर्ण साहित्य और पाठ्य पुस्तकोका निर्माण पहली श्रेणीसे लेकर दसवी श्रेणी तक लालाजीने स्वय किया। १९१३ में शहरसे दो मीलकी दूरीपर महाविद्यालयके अपने भवनकी आधारशिला रखी गई। शहर में शाखाविद्यालय रखा गया। दोनों वहुत अच्छी स्थितिमें फलने-फूलने लग गए। नगरके शाखा-विद्यालयमें लड़कियोकी

संख्या इस समय १००० के लगभग है, और वाहर भी लगभग ५०० कन्याएँ शिक्षा प्राप्त करती हैं। लालाजी को सब लडकिया चाचाजी कहा करती थीं और अध्यापिकाओंके लिए भी छोटी वहनजी तथा वडी वहनजी आदि शब्दोका प्रयोग किया जाता था। अभिप्राय इसका यह था कि महाविद्यालयका सचालन विशुद्ध पारिवारिक भावनासे किया जाता था और उसको एक वडा परिवार कहा जा सकता था। विद्यालयमें अनुशासन तथा नियत्रण कायम करनेका सबसे वडा और प्रभावशाली तरीका यही था कि लालाजी कुछ दिनोके लिए वहाँ जाना वन्द कर देते थे और लडकियाँ स्वय व्यवस्था कायम कर लेती थी। कभी किसी लडकीको कोई दड देनेका प्रसग नही उपस्थित होता था। विद्यालयकी शिक्षाप्रणालीमें कुछ सर्वथा मौलिक वातें अपनाई गई थी और वे लालाजीके अपने ही दिमागकी उपज थी। उनकी सूझ-बूझ, प्रतिभा और कल्पना कमालकी थी। इस समयके किडर गार्डनकी तरह उन्होने "सगीत वालोद्यान" का और कुछ खेलोका ऐसा आविष्कार किया था कि वच्चे गीतो और खेल-कूदके साथ वहुत कुछ सीख लेते थे। अक्षराभ्यास और प्रारभिक शिक्षा प्राय खेल-कूदमें ही दी जाती थी। छोटे-छोटे वच्चोकी 'हो मडली' और वडी लडकियोकी "जलविद माता" उनकी ही सूझ थी। हिन्दी भाषाके माध्यमको शुरूसे ही अपनाया गया था। शारीरिक एव धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ शिल्प, गृहकार्य, स्वच्छता, आरोग्यता एव सगीत शिक्षाके अनिवार्य अग थे। परदा-प्रथा, जात-पाँत साम्प्रदायिकता तथा प्रादेशिकता आदिकी सब सकीर्णताओका महाविद्यालयने अतिक्रमण कर दिया था। लडकियो में स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमानकी भावनाका सचार कर अपने देशके अतीतमें श्रद्धा, वर्तमानमें आशा तथा भविष्यमें विश्वास पैदा करनेका पूरा ध्यान रखा जाता था। दीनता, हीनता तथा पराधीनता की कोई छाया तक उनमें न रहने दी जाती थी। यही महाविद्यालयकी शिक्षाका एकमात्र लक्ष्य था। सादगी, सरलता, सात्विकता और सेवा तो मानो महाविद्यालयके मूलमत्र ही थे। देश-सेवा और सार्वजनिक सेवाकी भावना उनमें स्वाभाविक ढगसे पैदा की जाती थी अनेक अवसरोपर महाविद्यालयकी लडकियोने अपने भोजनादिमें कमी करके चदा किया। गाँधीजीके दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहके लिए उन्होने इसी प्रकार १५०) प्रदान किया। भारतमाताकी वन्दना, राष्ट्रीय ध्वजाके अभिवादन और राष्ट्रीय नेताओंके पुण्य-दिवसके आयोजन महाविद्यालय में नियमित रूपसे किए जाते थे। समाज-सुधार-परिषदो और काग्रेसके अधिवेशनोमें भी लालाजी उनको ले जाया करते थे। गाँधीजीके आन्दोलन, आर्यसमाजके प्रचार और कन्या-शिक्षा के प्रसार में वहा की पढी हुई कन्याओ ने विशेष भाग लिया। ऐसी आदर्श सस्था के सस्थापक लाला देवराज जी का जन्म ३ चैत्र १९१७ वि० तदनुसार ३ मार्च १८६० को पजावके सुप्रसिद्ध शहर जालन्धरमें उस सोधी परिवार में हुआ, जिसको उनके भाई सुप्रसिद्ध वैरिस्टर लाला भक्तराम और सुप्रसिद्ध देश-भक्त लाला हसराजजीको जन्म देनेका सौभाग्य प्राप्त है। उनके पूर्वज अपने पराक्रमसे जालन्धरमें आकर वसे थे। मुस्लिम शासकोंके साथ सघर्षमें लगे रहनेके कारण उनको अनेक वर्ष खानावदोश लोगोकी तरह विताने पडे थे। परन्तु जब वे जालन्धर

में जम गए तव उन्होने शहरके एक वडे हिस्सेपर अपना अधिकार जमा लिया था। शहर के वाहरका कोट तथा उसके आसपासका वहुत सा हिस्सा आज भी उनके परिवारके लोगोंके हाथमें है। माता काहन देवीने वचपनमें उनका लालन-पालन वडे चावसे किया,। वचपनमें वे प्राय वीमार रहते थे और रंग भी उनका दूसरे भाइयोकी अपेक्षा गहरा था। इसलिए सव लोग उनको साँवले शाह कहा करते थे। पिताका नाम सालिगराम था। शहरके वड़े रईसोमें उनकी गिनती की जाती थी। लेन-देन व साहूकारी वश परम्परागत धधा था। कुछ समय उन्होने सरकारी नौकरी भी की थी परन्तु नौकरीकी अपेक्षा स्वतंत्र धंधे और जीवनकी सादगी, सरलता, पवित्रता तथा सात्विकता पर वे वहुत जोर देते थे। सनातन धर्ममें उनकी गहरी निष्ठा थी। यह सव संस्कार देवराजजीमें खूव फले और फूले। उनको तीन भाई, वालकराम, भक्तराम व हंसराज और एक वहन शिवदेवी थी। आयुकी दृष्टिसे वे दूसरे थे। शिवदेवीका विवाह आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध नेता लाला मुशीराम (अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द) के साथ हुआ था।

वे वचपन और कुमार अवस्थामें वहुत चचल और खिलाड़ी वृत्तिके थे। उन्होने अपनी डायरीमें उन दिनोंके सम्वन्धमें लिखा है कि "मैं वड़ा खिलाडी था। मेरे जमानेमें क्रिकेट आदिका रिवाज़ न था। हम गुल्ली डंडा, कोडला जमालशाही, दौड़ लगाना, कुश्तियाँ और तैरना आदि खूव चावके साथ खेला करते थे, कोटके लड़कोने एक फौज वना रखी थी। मैं उसका सेनापति था। हमने लकड़ीकी तलवारें और वाँसकी कमानें वनाईं हुई थी। हमारी फौजका एक झण्डा भी था। फौजमें करीव २० लड़के थे। विगुल वजाते ही सव धावा वोलनेको तैयार हो जाते थे, । लोढ़ीके दिनो में तो धावा वोलकर कोटके पासके पेड भी काट लिया करते थे। ऐसा ही हुड़दंग होली पर भी मचाया करते थे।"

युवावस्थासे ही उनके विचार वड़े उदार और स्वतन्त्र थे। इसलिए उनके साथी उनको मिस्टर लिवर्टी अथवा सत्यप्रकाश के नामसे पुकारा करते थे। उनकी शिक्षा जालन्धर और होशियारपुरमें हुई। अपने उदार और स्वतंत्र विचारोंके कारण उनमें कुछ स्वच्छन्दता भी पैदा हो गई थी। उन्होने स्वय लिखा है कि "कुसंगतिमें पड़कर, छात्रावस्थामें, मेरा कुछ समय ऐसा खराव हो गया था कि उसकी याद मुझे वहुत दु ख देती है। उन दिनो मैं वोर्डिंग हाउसमें रहा करता था। मुझे कुछ अरसेसे शराव पीनेकी आदत पड़ गई थी। यह अरसा मेरे जीवनका "डार्क पीरियड" था। यह "डार्क पीरियड" अधिक दिन नही रहा। छोटी से छोटी घटनाको भी वे वहुत वारीकी से देखा करते थे और उन घटनाओके प्रकाशमें मुमुक्षु दृष्टिसे सदा ही आत्म-निरीक्षण करते रहते थे। आप वीती घटनाओकी गहराईमें जाकर उनका कारण ढूँढ़ने और उनकी पुनरावृत्ति न होनेके लिए वे सदा ही जागरूक रहते थे। इस वृत्तिके कारण वे तुरन्त सँभल गए और जीवनके, उत्कर्पका जो मार्ग एक वार पकड़ा उसपर निरन्तर अग्रसर होते गए।" "कर्म फल" और ईश्वरमें उनकी दृढ़ आस्था थी इस लिए जरा सा पैर फिसलते ही वे एकाएक सावधान हो जाते थे। मातासे प्राप्त हुए संस्कारोंके संवंधमें

उन्होने स्वय लिखा है कि "मै एक हिन्दू परिवारमे पैदा हुआ हूँ। अन्य हिन्दुओकी भाँति मेरा भी ईश्वर-प्रार्थना पर कुछ न कुछ विश्वास था। मैं मूर्त्तिपूजा किया करता था व्रत भी रखा करता था। बहुत छोटी आयुमे भूत-चुडैलोको भी मानता था, मगर था निडर, पन्द्रह वर्षकी आयु तक मैंने गोश्त नही खाया। मेरे पिता और दादा गोश्त खाया करते थे। लेकिन घरके चौकेमे कभी गोश्त नही आया। माताजीने मुझे कई गीत सिखाये थे। मैं उनका पाठ बडे प्रेमसे किया करता था।" स्वदेशी और देश-भक्तिकी भावना भी उनमें विद्यार्थी अवस्थामें ही पैदा हो गई थी। २३ वर्षकी आयुमे सन् १८८३में स्वदेशीका जो व्रत लिया, उसको जीवन भर निभाया। महाविद्यालयकी कन्याओमें भी स्वदेशी और देशभक्तिकी जो भावना पैदा की उसकी चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। अन्य स्थानीय विद्यालयो और आर्य समाजमें भी अपने भाषणोमें वे स्वदेशी और देशभक्ति पर पूरा जोर दिया करते थे।

लालाजी स्वभावत समाज-सुधारक थे। जात-बिरादरीमें फैली हुई कुरीतियो को हटाने, महिलाओके प्रति पैदा हुए धार्मिक पक्षपात एव सामाजिक अन्यायको दूर करने और यथासभव अपने व्यक्तिगत जीवन एव अपने घरमें प्रत्येक सुधारको लागू करने पर सदा ही विशेष ध्यान दिया करते थे। उन्होने अपनी माताजी और धर्मपत्नीको स्वय शिक्षित किया और इसी प्रकार कन्याओ तथा महिलाओकी शिक्षाका सूत्रपात किया, साधारण हिन्दू घरो तथा परिवारोकी तरह उनका विवाह भी दस-ग्यारह वर्षकी आयुमें हो गया था, परन्तु अपने प्रयत्नोसे उन्होने अपने गृहको आदर्श बना लिया। धर्मपत्नी का मायकेका नाम "सुन्दरी" और ससुरालका नाम "टहल देवी" था। वे अपने पतिके हर काममें, यहाँ तक कि कन्या महाविद्यालयके काममें भी पूरा हाथ बँटाया करती थी। स्थानीय स्त्री-आर्य-समाजके काममें भी वे बहुत रुचि लेती थी। कन्या महाविद्यालयमें आश्रमकी स्थापनाका सूत्रपात घरसे ही किया गया था, आर्य समाजके प्रवेश करनेके बाद अपने व्यक्तिगत जीवन और परिवारको भी पक्का आर्यसमाजी बनानेमें आपने कुछ भी उठा न रखा। "सत्य प्रकाश" नाम पूरी तरह सार्थक हो गया और समाज-सुधारकी भावनाएँ भी पूरी तरह विकसित हो गई। पढने-लिखनेका लालाजीको बहुत शौक था। बचपनमें ही तुकबन्दी शुरू करदी थी। छोटी-छोटी कहानियाँ और छोटे-छोटे नाटक भी लिखने शुरू कर दिए थे। १८८० में २० वर्षकी आयु मे डायरी लिखने का नियम बनाया और उसको जीवनके अतिम दिन तक निभाया। इन डायरीमें जीवनके उतार-चढावका इतना सुन्दर चित्र अकित किया गया है कि वह दूसरोके लिए दीपकका काम दे सकता है। स्वाध्यायकी प्रवृत्ति भी कुछ स्वाभाविक थी। चरित्र-निर्माणकी ओर जब ध्यान गया, तो उसके बाद कदाचित् ही कोई भूल की होगी। समाचार पत्रोमें लिखनेकी जो रुचि पैदा हुई उससे शीघ्र ही सफल पत्रकार बन गए। प्रारम्भ में लालाजी "केसरी" के सम्पादक हुए। लाला मुन्शीरामजीके साथ मिलकर "सद्धर्म प्रचारक" निकाला गया। उसका भी काफी समय तक सम्पादन किया, फिर "सहायक" नामसे एक पत्र शुरू किया। "पाञ्चाल पडिता", "भारती" और "जलन्धिद् सता" नामसे मासिक पत्रिकाएँ भी निकाली गई। लालाजीके साहित्यिक रूपकी चर्चा

पीछे की जा चुकी है। उनको निस्सदेह एक सफल और प्रगतिशील लेखक व पत्रकार कहा जा सकता है। वे वक्ता भी अच्छे प्रभावशाली थे।

समाज-सुधारकोको जिस धर्म-संकटका प्राय सामना करना पड़ता है उससे लालाजी भी वच नही सके। १८७९ के फरवरी मासमें धर्मसंकटके ही कारण घरका परित्याग कर वे रगून जानेको निकल पडे। डायमन्ड हारवरसे जहाजसे उतारकर उनको घर वापस लाया गया। । घर तथा जात-विरादरीका विरोध तो इस धर्म-सकटसे दूर हो गया, किन्तु इससे भी वड़ा धर्मसंकट उस विरोधसे पैदा हुआ जो आर्य समाज की ओरसे किया गया गया। उनपर यह आक्षेप किया गया कि वे महाविद्यालयके सर्वेसर्वा वन जाना चाहते है। इस विरोधका सामना भी उन्होने वड़े धैर्य, साहस और आत्म-विश्वासके साथ किया। उन्होने स्वय लिखा है कि "यह मेरा कसूर नही, मेरा मन स्त्री-समाजके अर्पण हो चुका है। इसलिए अधिक काम मुझे अपने हाथसे करना पड़ता है। मै यह काम मुक्तिका साधन समझकर करता हूँ। प्रवन्ध-कर्तृ-सभा द्वारा यह तय हुआ कि मेरी जगह महाविद्यालयके प्रवन्धकर्त्ताका काम लाला रामकृष्ण जी और आश्रमका मास्टर सन्तरामजी करें। जिस समय यह विचार हो रहा था, मैं पागल की तरह महाविद्यालयकी दीवारोकी तरफ देख रहा था। मेरे होश-हवाश गायव थे। मेरे मनमें यही विचार उठ रहे थे कि हाय? क्या मैं विद्यालयसे अलग हो रहा हूँ! विद्यालयका क्या हाल होगा? कन्याओकी देखभाल कौन करेगा? निस्सदेह लाला रामकृष्ण और लाला मुशीराम मुझसे अधिक योग्य हैं, लेकिन मैंने तो इस कामको अपनी जिन्दगीका मकसद वनाया हुआ है। मै तो कन्याओका माता-पिता वना हुआ हूँ। सवके घरोमें चला जाता हूँ। इन साहेवानसे ऐसा न हो सकेगा। इतना समय भी इनके पास कहाँ है? महाविद्यालयका जरूर नुकसान होगा। लगा हुआ पौदा मुर्दा हो जायगा। हाय! यह क्या हो रहा है? मुझे अपनी कन्याओसे अलग किया जा रहा है। ईश्वर इच्छा। सारी रात नीद नही आई। मै रोता रहा। सोचता था कि शायद ये साहवान मेरे कामको नही समझे। ये कन्याओके प्रति मेरे मातहित को नही जानते। कन्याओ! मै जव तक जीऊँगा, तुम्हारी ही सेवा करूँगा।" गृह कलहके कारण जिस धर्म-संकटका सामना लालाजी को करना पडा, उसका परिचय इन पंक्तियोसे मिल जाता है। इसमें भी वे पूरी तरह सफल हुए और महाविद्यालयका सारा कार्य उनको ही सौंप दिया गया। सच तो यह है कि वे उसके कार्यको मुक्तिके लिए की जानेवाली साधनाके रूपमें करते थे और जीवनकी अंतिम घड़ी तक वे उसीमें लगे रहे।

लालाजीके महान व्यक्तित्वके सम्वन्धमें एक वाक्यमें यही कहा जा सकता है कि वे मातृ-जातिके लिए एक चलती-फिरती संस्था थे। पंजावके ही नही, परन्तु समस्त देशके मातृ जातिके कल्याण व उद्धार और समाज सुधारके लिये किए गए उनके महान कार्यका उल्लेख अत्यन्त गर्व एव गौरवके साथ किया जा सकता है। लाहौरमें १९०९ में काग्रेसके साथ हुए समाज सुधार सम्मेलनका उनको अध्यक्ष चुना गया था। उन दिनो की भावनाके अनुसार उनको भी घरवालोंके आग्रहके कारण जेलदारी और ऑनरेरी मजिस्ट्रेटी करनी पडी, किन्तु वे तो अपना मिशन मातृ-जातिकी सेंवा वना चुके थे। उसमें

एकान्त साधककी तरह निमग्न होनेसे उन्होने उनको जल्दी ही तिलाजलि देदी । वित्तेष्णा, लोकेष्णा और बहुत कुछ पुत्रेष्णाको भी उन्होने उसीके कारण त्याग दिया था । ऐसे कर्मशील महान जीवनका अत १७ अप्रैल १६३५की अर्धरात्रिमें हृदयकी गति रुक जाने से एकाएक हो गया । उनका महाविद्यालय उनके स्मारकके रूपमें दिन-दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहा है । महापुरुषोंके वास्तविक स्मारक उनके कार्योंका चहुँमुखी विकास ही है ।



श्री अनन्त हरि जोशी

श्री ज्योतिबा गोविन्द फुले

महाराष्ट्रमें समतावादकी स्थापना करनेवाले इस प्रथम समाजसुधारकका जन्म पूनामें १८२७ में हुआ था। जातिके यह माली थे। १ वर्षकी आयुमें ही इनकी माता का देहान्त हो गया। अत पालन-पोषणका भार इनके पिताको ही सभालना पड़ा।

सात वर्षकी आयुमें इन्होने स्कूल जाना प्रारम्भ कर दिया। स्कूलके वाद वागका काम भी करते रहते थे। वादमें इनके पिताने इन्हें एक अंग्रेजी स्कूलमें दाखिल करा दिया। जहाँ इनकी पाँच वर्ष तक और पढाई हुई। महाराष्ट्रके प्रसिद्ध वंडखोर वासुदेव वलवन्त फडकेके माँग जातिके गुरू लहूजी वुवाके पास रहकर इन्होने लाठी-गतका व पटेवाजीका अभ्यास किया। इन्ही दिनो इनपर ईसाई-धर्म-प्रचारकोकी कार्यपद्धति तथा समाजसेवा की भावनाका प्रभाव पडा और इन्होने भी उनका अनुकरण कर समाज को शिक्षित वनाने व ऊँच-नीचका भेद मिटाकर समता स्थापित करनेका अपना कार्य जोरशोरसे शुरू कर दिया।

लड़कियोंकी शिक्षा

सर्वप्रथम १८४१ में इन्होने कुछ व्राह्मण मित्रोकी सहायतासे पूनेमें एक लड़कियोका स्कूल खोला। इस कार्यमें इन्हें समाजका तथा समाजका विरोध करनेसे डरने वाले अधिकारियोका तीव्र विरोध सहन करना पडा। इनकी पत्नी सावित्री वाईने समाजके मानापमानकी चिन्ता किये विना तथा पुरानी परम्पराका परित्याग कर इस कार्यमें पूरा योग दिया। शीघ्र ही इस स्कूलकी १८४३ में दो शाखाएँ और खुल गईं। संस्थाके दूसरे वर्षके वार्षिक समारोहमें ३००० लोग उपस्थित थे। इस नवीन और अभिनन्दनीय कार्यके लिए इनका सार्वजनिक रूपसे स्वागत किया गया तथा सरकारकी ओरसे २०० रु० मूल्यका शाल भेंट किया गया।

अस्पृश्योके लिए स्कूल

लडकियोकी शिक्षाका प्रवन्ध करनेके वाद इन्होने १८४२ में अपने व्ययसे अस्पृश्यो के लिए भी पूनामें ही दो स्कूल चलाए महार माँग आदिको शिक्षा देनेके लिए इन्होने १८४३ में एक समिति वनाई। स्कूलके लिए जगहकी तंगी होनेपर रा० व० गोवडे ने अपनी जगह स्कूलके लिए देदी। १८४८ में इस स्कूलमें २५८ लड़के हो गए और तीन शाखाएँ खुल गई। लडकोको पानी पिलानके लिए इन्होन एक टंकी वनवाई। तथा अपने घरकी टंकियाँ भी इनके लिए खुलवा दी।

ब्राह्मणादि उच्च वर्णोंमें विधवा स्त्रियोके कष्टोको देखकर इन्होंने विधवा-विवाह का प्रचार किया। तथा इस प्रकारका एक विवाह १८६४ में सम्पन्न भी कराया। इसी प्रकार पथभ्रष्ट होनपर गर्भपात करानेकी स्थिति न आए इसके लिए इन्होने अपने घरके पास ही १८६४ में वाल-हत्या-प्रतिवन्धक गृहकी स्थापना की। यहाँपर गुप्त रूपसे प्रसूतिकी व्यवस्था की गई थी। पढरपुरका सुप्रसिद्ध "वाल-हत्या-प्रतिवन्धक गृह" भी इन्हीकी प्रेरणाका परिणाम था।

इस प्रकार समाजके विरोधका मुकावला करते हुए इनका समाज-सेवाका कार्य जारी रहा। इस कार्यको ठोस आधारपर खडा करनेके लिए इन्होने २४ सितम्बर १८७३ में "सत्य-शोधक-समाज" की स्थापना की। ब्राह्मणादिकोकी दासतासे तथा उनके कृत्रिम व कर्मकाण्डी ग्रथोसे समाजको मुक्त करनेके लिए ही इस समाजकी स्थापना की गई। परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए किसी मध्यस्थकी आवश्यकता नही है—यह इस सस्था का ध्येय वाक्य था। इस समाजमें प्रति रविवारको प्रार्थना व १५ दिनमें १ वार व्याख्यान होते थे। पुरोहितके विना ही विवाह करने व मराठीमें ही मगलाष्टक वोलनेका उपदेश दिया जाता था। इस समाजकी अन्य भी शाखाएँ खुल गई तथा सदस्य सख्या ३०० से भी अधिक हो गई। १८८५ में इस समाजका एक जुलूस निकला। इसमें भाग लेनेवालोमें न्यायमूर्त्ति श्री रानडे भी थे।

कोल्हापुर-प्रकरणमें श्री तिलक और श्री आगरकरपर मान हानिका मुकदमा चला था। उस समय श्री फुलेने ही उन्हें अपने यहाँ छिपाकर रखा, उनकी जमानतकी व्यवस्था की तथा जव वे जेलसे छूटकर आए तव वम्वईमें उनका सार्वजनिक स्वागत किया।

अनिवार्य शिक्षाके विना समाजकी स्थितिमे सुधार सभव नही है—यह इनका दृढ मत था। तथा इन्होने इस वातका प्रचार भी किया। हण्टर कमेटीके सामने दिए गए अपने वयानमें भी इन्होने इसी वातपर वल दिया। रायगढमे स्थित शिवाजीकी समाधिके जीर्णोद्धारका प्रश्न भी इन्होने ही उठाया और उसे सुधारनेके लिए प्रयत्न किया। जिस समय ड्यूक आफ यार्क पूना आए उस समय भारतके किसानोकी वास्तविक स्थिति दिखानेके लिए वे गरीव किसानोकी धोगडी व पचाकी पोपाक पहिनकर ही उनमे मिलने गए।

समाजशास्त्रियोने निरन्तर अभ्यास करके जो सिद्धान्त ढूंढ निकाले, उनका इन्होने आत्मप्रेरणासे प्रतिपादन किया। अन्य सुधारकोकी तरह इन्होने केवल सुधारके लिए उपदेश या मार्ग-प्रदर्शन करके ही अपनी कार्यपूर्त्ति नही समझी अपितु उसके लिए सक्रिय कार्य किया। समाजकी रचनाको मूलसे वदलनेके लिए उस समाजके आधार ब्राह्मणो तथा वेद-पुराणोपर ही इन्होने तीव्र आक्रमण किया। इन्होने इस कार्यके लिए वडी सरल और मनमें वैठनेवाली भाषाका प्रयोग किया। इस खण्डन-मण्डनके कार्यमें आनेवाली विपत्तियोको इन्होने सहर्ष झेला। इन्होने प्रचारका नया ही प्रकार स्वीकार किया। यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही होगी कि इन्होने प्राय सभी समाज-सुधारके कार्योका श्रीगणेश किया और उनकी गणना हम महाराष्ट्रके प्रथम समाज सुधारकोमें कर सकते हैं। इनका देहावसान १८९० में हुआ।

श्री सत्य मिश्र

विधवाओंके बन्धु सर गंगाराम

"मृत्युने सर गंगारामको क्या उठाया, हमारे बीचसे एक सुयोग्य और व्यवहारदक्ष, खेती-शास्त्रके जानकारको, एक महान दाता और विधवाओंके बंधुको उठा लिया। सर गंगाराम यो तो वयोवृद्ध थे, किन्तु उनमें उत्साह युवकोंका सा था। उनकी आशावादिता भी उतनी ही प्रबल थी, जितना कि उनका अपने विचारोंसे आग्रह। इधर मुझे उनसे निकट सम्बन्ध प्राप्त करनेका सुअवसर मिला था और यद्यपि हम अनेक बातो में एक-दूसरेसे भिन्न मत रखते थे, तथापि मैंने देखा कि वे एक सच्चे सुधारक और लगन के महान कार्यकर्त्ता थे।

भारतको हर तरहसे इस बातका अभिमान है कि सर गंगारामके समान पुरुष उसके विख्यात सपूतोंमें से एक हैं। उनकी अकस्मात् मृत्युकी बात सुनकर मुझे कितना दु:ख हुआ होगा—यह पाठक अनुमान कर सकते हैं।"

आजसे लगभग ३० वर्ष पूर्व हिन्दी नवजीवनमें २१ जुलाई १९२७ को लिखे महात्मा गांधीजीके यह शब्द उस महापुरुषका सच्चा चित्र उपस्थित करते हैं, जो देशके ठोस और मौन कार्यकर्त्ता थे तथा बाह्य प्रदर्शन, जलूस, सार्वजनिक सत्कार, मानपत्र, फूलोंके हार, पुष्प-वर्षा इत्यादिसे सर्वथा दूर रहनेवाले थे। सर गंगारामका सारा जीवन सरकारी नौकरी और ब्रिटिश सरकारके साथ सहयोग करनेमें ही बीता। इसका यह अभिप्राय नही है कि उनमें देशभक्तिकी भावना किसी से कम थी। देशकी सेवा केवल राजनीति द्वारा ही नही हो सकती है। बहुधा त्वरित यशप्राप्तिके लिए राजनीतिक क्षेत्र सर्वोत्तम होता है। सर गंगाराम भी सरकारी सेवासे निवृत हो तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्रमें चमक सकते थे। देशकी उस समयकी अवस्थाके अनुसार यह शायद, सहज होता।

पर उन्होने ऐसा नही किया। आप जानते थे कि विदेशियोंको गाली देकर देशभक्त बनना आसान है, किन्तु अपने घरके फोड़ोकी चीर-फाड़ करना दुष्कर है। इसमें यश मिलना तो दूर रहा, घरवालोंसे ही निन्दा और भर्त्सना सुननी पड़ती है। सर गंगाराम का यह दृढ़ विश्वास था कि सामाजिक सुधारके बिना राजनीतिक उन्नति और स्वतंत्रता लँगड़ी है। इसलिए उन्होने सामाजिक सेवाको अपना क्षेत्र चुना और इसमें भी उस समस्या को हाथमें लिया, जो सबसे अधिक नाजुक है, अर्थात् विधवाओंका प्रश्न। उस समय वाचाल समाज-सुधारकोंकी कमी नही थी, पर ऐसे साहसी बहुत कम थे, जिन्होने विधवाओं के प्रश्नोंको हाथमें लिया हो। इस समस्याका सम्बन्ध, प्रधानत: हिन्दू समाजके साथ

है। यही ऐसा समाज है, जिसमें ६ माससे लेकर ९० वर्ष तककी विधवाएँ हैं और जिनकी संख्या उस समय लगभग दो करोड़ थी। इन विभिन्न आयुकी विधवाओंकी समस्याका हल एक साथ नहीं हो सकता। बाल विधवाओंकी समस्याका यदि एक हल है, तो दीर्घायुकी विधवाओंकी समस्याका हल दूसरा है।

सौ हाथ से कमा, हजार हाथ से दे

सर गंगाराम बड़े दूरदर्शी, कालज्ञ और स्थिति परीक्षक थे। इसके साथ, वह समृद्ध और साधनसम्पन्न भी थे। जहाँ एक ओर उनका कोमल हृदय विधवाओंके करुणा क्रन्दनसे द्रवित होता था, वहाँ साथ ही उनका यह दृढ विश्वास था कि भारतकी दरिद्रता की अमोघ औषधि उद्योग और कृषिके विकासमें है। सर गंगाराम पहले पंजाब सरकारके चीफ एग्जेक्यूटिव इंजीनियर थे, वहाँसे निवृत्त होकर पटियाला रियासतमें चीफ एग्जेक्यूटिव इंजीनियर नियुक्त हो गए। वहाँसे विमुक्त होकर आपने जिला मिंटगुमरीके रेनालाखुर्द गाँवके पास पंजाब-सरकारसे कई सौ बीघे जमीन ठेकेपर लेली जिसे बंजर घोषित कर दिया गया था। सर गंगाराम पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने आजसे ३५ वर्ष पूर्व वैज्ञानिक ढंगसे खेतीके परीक्षण किए, कृषि साधनोंमें यन्त्रोंका प्रयोग किया और उनमें सफलता प्राप्तकी। उन दिनों पंजाबकी मंडियोंमें "गंगाराम फार्म" के गेहूँ, कपास, चना, तोरिया इत्यादि आदर्श समझे जाते थे और मँहगे बिकते थे। गंगारामने अपने पुरुषार्थ और बाहुबलसे कृषिसे खूब धन कमाया और उसका प्रयोग विधवाओंके कष्ट निवारणकी दिशामें किया।

अपने समयके अनोखे इस समाज-सुधारकने विधवाओंको चार श्रेणियोंमें बाँटा।

(१) बाल विधवाएँ अथवा ऐसी युवती विधवाएँ जिन्हें पुनर्विवाहके लिए प्रेरित किया जाना चाहिए।

(२) ऐसी युवती विधवाएँ, जो किसी कारणसे पुनर्विवाह नहीं करना चाहतीं परन्तु शिक्षा प्राप्त करके अपना निर्वाह करना चाहती हैं।

(३) मध्यम आयुकी विधवाएँ जो किसी प्रकार दस्तकारी आदिसे अपना और अपनी सन्तानोंका पालन करना चाहती हैं।

(४) निराश्रिता विधवाएँ, जिनके पालन-पोषणका कोई प्रबन्ध नहीं है अथवा अत्यन्त वृद्ध होनेसे अभाव ग्रस्त हैं और उन्हें कोई पूछनेवाला नहीं है।

सर गंगारामने अपनी विशाल सम्पत्तिमेंसे लगभग १ करोड़ रु०का ट्रस्ट "सर गंगाराम ट्रस्ट सोसाइटी" के नामसे स्थापित किया। यह ट्रस्ट एक दिनमें ही कायम हो गया हो, ऐसी बात नहीं है। इसकी भी एक दिलचस्प कहानी है और प्रभुकी कृपासे शुभ कार्य करने वालोंकी किस प्रकार श्री वृद्धि होती है, इसका एक सुन्दर उदाहरण है।

विधवा-विवाह का कार्य

सर गंगाराम जिस समय १९१३ में पटियाला रियासतसे कार्यमुक्त हुए उससे पहले ही आर्यसमाजके साथ सम्बन्ध होनेके कारण, आपके हृदयमें हिन्दू विधवाओंका कष्ट निवारण करनेकी प्रबल भावना थी। १९१४ में आपने लाहौरमें अपनी कोठीके एक कमरेमें आंशिक समयके लिए काम करनेवाले एक सज्जनके साथ "विधवा-विवाह-सहायक सभा" कायम की। उसी वर्ष आपको जिला मिन्टगुमरीके रेनालाखुर्द गाँवके पास

सरकारकी ओर कई मुरब्बे जमीन ठेकेपर खेतोके लिए मिली। इधर, विधवाविवाह का काम ज्यो-ज्यो बढता गया त्यो-त्यो आपको इन मुरब्बोसे अधिक आमदनी होने लगी। आपने और भी जमीन ले ली और लाहौरमें कई अच्छी इमारतें खरीद ली। यह सब अचल सम्पत्ति और कई लाख रु० नकद देकर आपने "विधवा-विवाह-सहायक-सभा" सहित "सर गंगाराम ट्रस्ट सोसाइटी" स्थापित की। "माडर्न रिव्यू" कलकत्ताके सम्पादक श्री रामानन्द चैटर्जीने सर गंगारामकी मृत्युपर उन्हें श्रद्धाजलि भेंट करते हुए कहा था कि इस सामय भारतमें इसके सदृश सुव्यवस्थित, नियमित और सदुद्देश्य युक्त ट्रस्ट बहुत कम है। १९२६ में स्थिति यह थी कि जहाँ यह ट्रस्ट लगभग १ करोडकी सम्पत्ति—(चल-अचल)—का मालिक था वहाँ विधवा-विवाह-सहायक-सभाका कार्य सारे भारतमें फैल गया था। इसके कार्यालयमें दर्जनसे अधिक व्यक्ति काम करते थे, लगभग २५ उपदेशक और प्रचारक थे, १० विधवा-आश्रम थे और लगभग सभी प्रान्तोके मुख्य नगरो व राजधानियोमें उप-कार्यालय थे तथा अवैतनिक कार्यकर्ताओ सहित लगभग ६०० विधवा-विवाह-सहायक-सभाएँ सारे देशमें थी। हिन्दीमें "विधवा बन्धु" और अग्रेज़ीमें "विडोज फ्रेंड" दो मासिक पत्र निकलते थे। इसके अतिरिक्त लाखोकी सख्यामें प्रति वर्ष हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजीके अतिरिक्त प्रांतीय भाषाओमें पैम्फलेट और पुस्तिकाएँ मुफ्त बाँटी जाती थी। प्रारम्भमें विधवा-विवाहका बडा विरोध होता था। सर गगाराम रुग्ण होते हुए भी, लाहौरमें, प्रत्येक विधवा-विवाहमें उपस्थित होते थे। बादमें उनका आदेश था कि प्रत्येक विधवा-विवाहमें देवीको एक साड़ी और कुछ रुपया उनकी ओरसे भेंट दिया जाए। जब विधवा-विवाहका अधिक प्रचार हो गया तब इस की आवश्यकता नही समझी गई।

अन्य प्रकार की विधवाओ के लिए

दूसरी प्रकारकी विधवाएँ जो पुनर्विवाह न करके शिक्षा प्राप्त कर अपनी जीविका चलाना चाहती थी, उनके लिए आपने लाहौरमें एक "विडोज होम" स्थापित किया, जिसमें एस० ए० बी० और जे० ए० बी० की ट्रेनिंग दी जाती थी। सर गंगारामने इस संस्थाका सारा प्रबन्ध, बादमें सरकारको दे दिया था। इस सस्थाकी इमारत आपने खरीदकर सरकारको दे दी इससे प्रत्येक विधवाको छात्रवृत्ति दी जाती थी।

तीसरी प्रकारकी विधवाओके लिए आपने लाहौरके बच्छोवाली मुहल्लेमें एक "इडस्ट्रियल स्कूल" खोला जहाँ अपने पाससे मशीने इत्यादि देकर सिलाई, कटाई आदि सिखाई जाती थी तथा वहाँ जो सामान तैयार होता था, उसे बेचनेके लिए आपने एक दूकान खोल रखी थी।

चौथी प्रकारकी विधवाओंके लिए जहाँ एक ओर मासिक सहायताका प्रबन्ध था, वहाँ दूसरी ओर लाहौरमें छोटी रावीके पास एक "अपाहज आश्रम" खोला गया था जिसमें एक ओर निराश्रित और अभावग्रस्त पुरुषोका और दूसरी ओर विधवाओका प्रबन्ध था। यहाँ भोजन वस्त्र, औषधि, दूध, फल सब मुफ्त मिलता था। खाली समयमें चर्खा, निवार इत्यादि कातने-बुननेकी व्यवस्था थी। इस आश्रमके साथ विशाल बाग, बिजलीसे पानी खीचनेवाला स्नानानागार, तालाब इत्यादि सब सुख-सुविधाएँ थी और एक प्रार्थना-स्थान था, जहाँ प्रति दिन प्रातः सायं कथा-सत्संग आदि होता था।

जन्म, शिक्षा और वसीयत

सर गगारामका जन्म १३ अप्रैल १८५१ ई० वैशाखीके दिन जिला शेखपुराके माँगटावाला गुरुद्वारेमें हुआ था। आपके पिता अमृतसरमें थाना-मुँशी थे। मैट्रिक पास करनेके वाद आपने रुडकीसे इंजीनियरी पास की। पहले आप लाहौरमें ही नियुक्त हुए।

आपने जो ट्रस्ट कायम किया था, उसमें सारा धन आपका ही था। जनतासे किसी भी रूपमें एक पैसा भी नही माँगा गया। विधवा-विवाह-सहायक-सभाके अतिरिक्त इस ट्रस्टके आधीन निम्नलिखित सस्थाएँ थी।

(१) सर गगा राम फ्री अस्पताल, वच्छोवाली, लाहौर

(२) लाइब्रेरी और हिन्दू-छात्र-सहायक-समिति (इस लाइब्रेरीमे केवल वैज्ञानिक और टेकनिकल पुस्तकें थी और इसीकी पढाईके लिए हिन्दू छात्रोको सहायता व कर्ज दिया जाता था।)

(३) सर गंगाराम गर्ल्स स्कूल—सर गगारामके पुत्रोने आपकी मृत्युके वाद इस स्कूलको कालेज वना दिया और साथ ही लडकियोके लिये ट्रेनिंगकी कक्षाएँ खोल दी।

(४) टेली कालेज आफ कामर्स (आन्तरिक प्रवध सरकार को दे दिया)

१९२१ में पंजावमें "गुरुके वाग" का प्रश्न आया, जहाँ अकाली आदोलन चला था। अकालियोके सत्याग्रह से सरकार वडी परेशान थी क्योकि गाँधीजी का वहिष्कार आदोलन भी जोरोपर था। सर गगारामने अपनी उदारतासे दोनोकी महायता की। वह सारा वाग मोल लेकर अकालियोको दानकर दिया।

सन् १९२६ में भारत सरकारने लार्ड लिनलियगो—जो वादमें वायसराय हुए—की अध्यक्षतामे एक कृषि कमीशन नियुक्त किया था। सर गगारामजी इसके सदस्य थे। पर आपने सदस्य होनेके नाते सरकारसे भत्ता, मार्ग व्यय तथा अन्य खर्च कुछ भी नही लिया और सारा व्यय अपने पाससे किया। इसी सम्वन्धमें आप अप्रैल १९२७ में इगलैण्ड गए थे। आपके स्वास्थ्यको देखते हुए आपके पुत्रो और सम्वन्धियोने आपको रोका पर आपने कहा—"मेरा निश्चय अटल है पर साथही मै वापस नही आऊँगा। प्रस्थान करनेसे पूर्व आप अपनी वसीयत एक मोहरवन्द लिफाफेमें पजाव नेशनल वकमें जमा कर गए थे और मरनेके वाद खोलनेका आदेशदे गए थे। १० जुलाई १९२७को लदन में ७५ वर्षकी आयुमें आपकी मृत्यु हृदयगति रुक जानेसे हुई। आपके स्वर्गवासके पश्चात् जव वसीयत खोली गई, तव उसके ट्रस्ट सोसाइटीको १० लाखकी अतिरिक्त राशि देनेके साथ-साथ अपने निकट व दूरके सम्वन्धियो और घरके चापलूसियो तथा खानसामो तक के लिए आजीवन पेंशन इत्यादि की व्यवस्था कर गए थे।

दानी पिता के दानी पुत्र

सर गगारामके तीन पुत्र थे और वे भी अपने पिताके समान दानी थे। प्रत्येक कुशल व्यवसायी और सम्पन्न था। सवसे वडे राय वहादुर सेवक राम थे। उन्होंने अपने नामसे एक अलग ट्रस्ट कायम किया। उससे भी विधवा-अनाथोंको सहायता मिलती थी। दूसरे लाला वालकराम थे। इन्होने लाहौरमें लगभग २० लाख रु० से "वालकराम मेडिकल कालेज" स्थापित किया था, जो सरकारने मजूर हो गया था।

सरकारकी ओरसे कई मुरब्बे जमीन ठेकेपर खेतोंके लिए मिली। इधर, विधवाविवाह का काम ज्यों-ज्यों बढता गया त्यों-त्यों आपको इन मुरब्बोंसे अधिक आमदनी होने लगी। आपने और भी जमीन ले ली और लाहौरमें कई अच्छी इमारतें खरीद ली। यह सब अचल सम्पत्ति और कई लाख रु० नकद देकर आपने "विधवा-विवाह-सहायक-सभा" सहित "सर गंगाराम ट्रस्ट सोसाइटी" स्थापित की। "माडर्न रिव्यू" कलकत्ताके सम्पादक श्री रामानन्द चैटर्जीने सर गंगारामकी मृत्युपर उन्हें श्रद्धांजलि भेंट करते हुए कहा था कि इस समय भारतमें इसके सदृश सुव्यवस्थित, नियमित और सदुद्देश्य युक्त ट्रस्ट बहुत कम हैं। १९२६ में स्थिति यह थी कि जहाँ यह ट्रस्ट लगभग १ करोड़की सम्पत्ति—(चल-अचल)—का मालिक था वहाँ विधवा-विवाह-सहायक-सभाका कार्य सारे भारतमें फैल गया था। इसके कार्यालयमें दर्जनसे अधिक व्यक्ति काम करते थे, लगभग २५ उपदेशक और प्रचारक थे, १० विधवा-आश्रम थे और लगभग सभी प्रान्तोंके मुख्य नगरों व राजधानियोंमें उप-कार्यालय थे तथा अवैतनिक कार्यकर्त्ताओं सहित लगभग ६०० विधवा-विवाह-सहायक-सभाएँ सारे देशमें थी। हिन्दीमें "विधवा बन्धु" और अंग्रेजीमें "विडोज कौज" दो मासिक पत्र निकलते थे। इसके अतिरिक्त लाखोंकी संख्यामें प्रति वर्ष हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजीके अतिरिक्त प्रांतीय भाषाओंमें पैम्फलेट और पुस्तिकाएँ मुफ्त बाँटी जाती थी। प्रारम्भमें विधवा-विवाहका बडा विरोध होता था। सर गंगाराम रुग्ण होते हुए भी, लाहौरमें, प्रत्येक विधवा-विवाहमें उपस्थित होते थे। बादमें उनका आदेश था कि प्रत्येक विधवा-विवाहमें देवीको एक साड़ी और कुछ रुपया उनकी ओरसे भेंट दिया जाए। जब विधवा-विवाहका अधिक प्रचार हो गया तब इस की आवश्यकता नही समझी गई।

अन्य प्रकार की विधवाओं के लिए

दूसरी प्रकारकी विधवाएँ जो पुनर्विवाह न करके शिक्षा प्राप्त कर अपनी जीविका चलाना चाहती थी, उनके लिए आपने लाहौरमें एक "विडोज होम" स्थापित किया, जिसमें एस० ए० वी० और जे० ए० वी० की ट्रेनिंग दी जाती थी। सर गंगारामने इस संस्थाका सारा प्रबन्ध, बादमें सरकारको दे दिया था। इस संस्थाकी इमारत आपने खरीदकर सरकारको दे दी इससे प्रत्येक विधवाको छात्रवृत्ति दी जाती थी।

तीसरी प्रकारकी विधवाओंके लिए आपने लाहौरके बच्छोवाली मुहल्लेमें एक "इडस्ट्रियल स्कूल" खोला जहाँ अपने पाससे मशीनें इत्यादि देकर सिलाई, कटाई आदि सिखाई जाती थी तथा वहाँ जो सामान तैयार होता था, उसे बेचनेके लिए आपने एक दूकान खोल रखी थी।

चौथी प्रकारकी विधवाओंके लिए जहाँ एक ओर मासिक सहायताका प्रबन्ध था, वहाँ दूसरी ओर लाहौरमें छोटी रावीके पास एक "अपाहज आश्रम" खोला गया था जिसमें एक ओर निराश्रित और अभावग्रस्त पुरुषोंका और दूसरी ओर विधवाओंका प्रबन्ध था। यहाँ भोजन वस्त्र, औषधि, दूध, फल सब मुफ्त मिलता था। खाली समयमें चर्खा, निवार इत्यादि कातने-बुननेकी व्यवस्था थी। इस आश्रमके साथ विशाल बाग, बिजलीसे पानी खींचनेवाला स्नानानागार, तालाब इत्यादि सब सुख-सुविधाएँ थी और एक प्रार्थना-स्थान था, जहाँ प्रति दिन प्रातः सायं कथा-सत्संग आदि होता था।

जन्म, शिक्षा और वसीयत

सर गगारामका जन्म १३ अप्रैल १८५१ ई० वैशाखीके दिन जिला शेखपुराके माँगटावाला गुरुद्वारेमें हुआ था। आपके पिता अमृतसरमें थाना-मुंशी थे। मैट्रिक पास करनेके बाद आपने रुडकीसे इजीनियरी पास की। पहले आप लाहौरमें ही नियुक्त हुए।

आपने जो ट्रस्ट कायम किया था, उसमें सारा धन आपका ही था। जनतासे किसी भी रूपमें एक पैसा भी नही माँगा गया। विधवा-विवाह-सहायक-सभाके अतिरिक्त इस ट्रस्टके आधीन निम्नलिखित सस्थाएँ थी।

(१) सर गगा राम फ्री अस्पताल, बच्छोवाली, लाहौर

(२) लाइब्रेरी और हिन्दू-छात्र-सहायक-समिति (इन लाइब्रेरीमें केवल वैज्ञानिक और टेकनिकल पुस्तकें थी और इसीकी पढाईके लिए हिन्दू छात्रोंको सहायता व कर्ज दिया जाता था।)

(३) सर गंगाराम गर्ल्स स्कूल—सर गगारामके पुत्रोंने आपकी मृत्युके बाद इस स्कूलको कालेज बना दिया और साथ ही लडकियोंके लिये ट्रेनिंगकी कक्षाएँ खोल दी।

(४) हेली कालेज आफ कामर्स (आन्तरिक प्रबध सरकार को दे दिया)

१९२१ में पंजाबमें "गुरुके बाग" का प्रश्न आया, जहाँ अकाली आदोलन चला था। अकालियोंके सत्याग्रह से सरकार बडी परेशान थी क्योकि गांधीजी का बहिष्कार आदोलन भी जोरोपर था। सर गगारामने अपनी उदारतासे दोनोकी सहायता की। वह सारा बाग मोल लेकर अकालियोको दानकर दिया।

सन् १९२६ में भारत सरकारने लार्ड लिनलियगो—जो बादमें वायसराय हुए—की अध्यक्षतामें एक कृषि कमीशन नियुक्त किया था। सर गगारामजी इसके सदस्य थे। पर आपने सदस्य होनेके नाते सरकारसे भत्ता, मार्ग व्यय तथा अन्य खर्च कुछ भी नही लिया और सारा व्यय अपने पाससे किया। इसी सम्बन्धमें आप अप्रैल १९२७ में इगलैण्ड गए थे। आपके स्वास्थ्यको देखते हुए आपके पुत्रों और सम्बन्धियोंने आपको रोका पर आपने कहा—"मेरा निश्चय अटल है पर सायही मैं वापस नही आऊँगा। प्रस्थान करनेसे पूर्व आप अपनी वसीयत एक मोहरबन्द लिफाफेमें पजाब नेशनल बैंकमें जमा कर गए थे और मरनेके बाद खोलनेका आदेशदे गए थे। १० जुलाई १९२७को लदन में ७५ वर्षकी आयुमें आपकी मृत्यु हृदयगति रुक जानेसे हुई। आपके स्वर्गवासके पश्चात् जब वसीयत खोली गई, तब उसके ट्रस्ट सोसाइटीको १० लाखकी अतिरिक्त राशि देनेके साथ-साथ अपने निकट व दूरके सम्बन्धियों और घरके चापलूसियों तथा खानसामों तक के लिए आजीवन पेंशन इत्यादि की व्यवस्था कर गए थे।

दानी पिता के दानी पुत्र

सर गगारामके तीन पुत्र थे और वे भी अपने पिताके समान दानी थे। प्रत्येक कुशल व्यवसायी और सम्पन्न था। सबसे बडे राय बहादुर सेवक राम थे। उन्होंने अपने नामसे एक अलग ट्रस्ट कायम किया। इससे भी विधवा-अनाथोंको सहायता मिलती थी। दूसरे लाला बालकराम थे। इन्होंने लाहौरमें लगभग २० लाख रु० से "बालकराम मेडिकल कालेज" स्थापित किया था, जो सरकारसे मजूर हो गया था।

तीसरे लड़के लाला हरिराम थे। वह भी अपने दोनो भाइयोंके सार्वजनिक कार्योंमें पूरा साथ देते थे। इस समय इन तीनों पुत्रोंका देहान्त हो चुका है।

गीतामें आदर्शदानीका लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्विकं स्मृतं ।।१७।२०

कर्त्तव्यकी भावनासे और उपकार न करनेवालेके लिए भी तथा देश, काल और पात्र को देखकर जो दान दिया जाता है, वह सात्विक दान कहलाता है।

सर गंगाराम इस प्रकार एक आदर्श दानी और सच्चे समाज-सुधारक थे। गाँधीजी के शब्दोंमें वह, वस्तुत. "विधवाओंके बधु" थे।

—:०:—

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

कल्याण-मार्ग के पथिक स्वामी श्रद्धानन्द

"कल्याण-मार्गके पथिक" के नामसे स्वामी श्रद्धानन्दजीने अपनी आत्मकथाका कुछ अंश लिखा है। उसको वे पूरा नही कर सके उसमें आपने अपनेको जिस रूपमें उपस्थित किया है, वह आपके यथार्थ स्वरूपको प्रगट करता है। अन्य अनेक महापुरुषोकी तरह आपने भी जब पतनकी ओरसे विमुख होकर आत्मोन्नतिकी ओर अपनेको लगाया, तब आप सदा उसी मार्गपर अग्रसर होते गए। वास्तवमें ही आपकी जीवन-गाथा कल्याण मार्गके पथिककी सफल यात्राकी स्फूर्त्तिदायक कहानी है। वह किसी भी विवेक भ्रष्ट व्यक्तिको शतमुखी पतनसे बचा सकती है और कल्याण-मार्गकी ओर अग्रसर होनेके लिए प्रेरित कर सकती है। मालूम नही कि आपमें कबके सस्कार थे, जो इस प्रकार खिल उठे और जिनके कारण आपका कायाकल्प होकर आप महात्मा पदपर प्रतिष्ठित होनेके बाद आदर्श सन्यासीके रूपमें प्रकट हुए। अपने चरित्रसे आपने यह सिद्ध कर दिया कि अपने यौवनमें भोग विलास और ऐश्वर्यके उपभोगमें फँस जानेवाला व्यक्ति भी ब्रह्मचर्यका उद्धारक, महात्मा और आदर्श संन्यासी बन सकता है, गुरुकुल सरीखी महान शिक्षा-सस्थाकी स्थापना करके अट्ठारह वर्ष तक उसके आचार्यपद पर सुशोभित रह कर ब्रह्मचर्य प्रधान राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणालीके पुर्नरुद्धारका यश सम्पादन कर सकता है। एक तहसीलदारके घरमें जन्म लेकर और नायब तहसीलदारीके साथ जीवनमें प्रवेश करनेवाला सरकारी नौकरीका परित्याग कर अतमें सत्याग्रही एव राजद्रोही बनकर जेल तकमें जा सकता है। नास्तिकता की लहरमें वह जानेवाला भी धर्मके लिए सर्वमेध यज्ञका अनुष्ठान कर आदर्श धर्म वीर बन सकता है। गहरे पतनके बाद इतने महान उत्कर्षमय आदर्श जीवनकी प्राप्ति आप के जीवनकी लम्बी कहानी का सार है, जो ज्योति स्तम्भकी तरह दिव्य प्रकाशको फैलाकर दूसरोंके लिए पथ-प्रदर्शन कर सकता है।

अपका जन्म फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी सवत १९१३ विक्रमीको जिला जालन्धरमें तलवन ग्राममें उस परिवारमें हुआ था जो अपने ही परिश्रमसे असाधारण स्थितिको प्राप्त हुआ था। भगवत भक्ति, सज्जनता, वीरता, निर्भीकता, स्पष्टवादिता और सत्य परायणता आदि गुण आपको विरासतमें मिले थे। पिता लाला नानकचन्द बहुत ही स्पष्टवादी थे इसीलिए नौकरीमें कही टिक नही सके। कपूर्थलामें थानेदार थे कि त्यागपत्र देकर चले आए, फिर सियालकोटमें फौजदारीमें खजाची नियुक्त हुए। वहांसे अफसर

से लड़कर चले आये। अमृतसर और लाहौरमें की गई सरकारी नौकरी भी निभ न सकी। १८५७ की राज्य क्रांतिमें उनका भाग्य भी खिल उठा। निराश हो उन्होंने दिल्लीका रास्ता पकड़ा और हिसार पहुँचे थे कि दिल्लीमें विद्रोहका शंख फूंक दिया गया। हिसारमें गोरी फौजका साथ देने और एक चौधरीके यहाँसे ब्रह्मभोज के लिए तैयार की गई भोजन-सामग्री लेकर गोरी फौजकी भोजन-व्यवस्था कर देनेके फलस्वरूप उनको हिसारका कोतवाल नियुक्त कर दिया गया। उसके बाद मेरठ, सहारनपुर तथा नैपाल में मेलाघाटमें हुई लड़ाईमें अंगरेज़ोका साथ देनेके कारण उनको बाँस बरेलीकी पुलिस लाइन्सका चार्ज दे दिया गया। इन्ही दिनोमें छठी सन्तानके रूपमें चरित्रनायकका जन्म हुआ। जन्मका नाम बृहस्पति रखा गया, जो व्यवहारमें नही आया। व्यवहार का नाम मुंशीराम था। पिताजीकी बदायूं, बनारस, मिर्ज़ापूर फिर बनारस और बलिया आदिमें पदवृद्धि होकर बदली होती रही। मुंशीरामकी पढाईका सिलसिला कही न जम सका। बनारस और बलियामें कुछ नियमित पढाई हो सकी। बलियासे पिताजी ने बनारस भेजकर क्विंस कालेजमें भरती करा दिया। तब लगातार साढे चार वर्ष तक पढ़ाई का क्रम जारी रह सका। कुछ समय आवारागर्दीमें भी बीता। इन्हें दिनोमें कुछ दुर्गुण भी आवारागर्दीके कारण लग गए। एक आध घटना चरित्रकी निर्बलता सम्बन्धी भी घट गई, परन्तु सहसा ही सावधान हो गए। विचारोमें पहले कुछ नास्तिकताका संचार हुआ फिर एक बार इसाई बन जानेका भी निश्चय किया गया। मांस, मदिरा, जुआ तथा हुक्का आदिके दुर्व्यसनोका प्रारम्भ भी इन्ही दिनोमें हुआ।

आपका विवाह पंजाबमें स्त्री शिक्षाके प्रवर्तक लाला देवराजजीकी बहनके साथ हुआ। उस समयकी सामाजिक स्थिति और आपकी मनोदशाका कुछ पता आपके अपने शब्दोसे लगता है। अपने विवाहकी चर्चा करते हुए आपने लिखा है कि "मैं विवाह के धूम-धड़क्केसे निवृत होकर बहुत निराश हुआ। मैंने समझा था कि वधू युवा मिलेगी परन्तु अभी वह बाल्यावस्थामें ही थी। फिर यह निश्चय किया कि मैं उसे स्वयं पढ़ाऊँगा और इस विचारने मुझे बहुत संतोष दिया। मैंने उसी समय बाल-विवाह कुप्रथाके भयकर परिणाम अनुभव किये थे और इसीलिए आर्यसमाजमें प्रवेश करते ही मैंने इसके संशोधनमें बड़ा भाग लिया। मेरा निश्चय है कि यदि उस समय विवाहका ख्याल ही मेरे अन्दर न डाला जाता, तो काशीसे ग्रेजुएट बनकर मैं किसी अन्य ऊँची दशामें चला जाता। कमसे कम यदि धर्मपत्नीकी आयु सोलह वर्षकी होती और परस्पर की प्रसन्नतासे आँखें खोलकर विवाह होता, तो मैं उस अन्धकूपमें गिरनेसे बच जाता, जिसमें आगामी दो-ढाई वर्ष गिरा रहा।"

विवाहके बाद डेढ वर्ष तलवनमें बिताकर पिताजीके बरेली चले जानेसे आप भी वहाँ चले गए। इलाहाबादमें एफ० ए० की परीक्षामें बैठे। किन्तु सफल न हो सके। बरेलीका डेढ़ वर्षका जीवन नाच, रंग, तमाशोंके अन्धकूपमें बीता। मदिरापानका दुर्व्यसन चरमसीमापर पहुँच गया। उन दिनोकी मानसिक स्थितिका चित्र चित्रण करते हुए आपने फिर लिखा हैं कि "मैं अपने जीवनमें मुझे दूसरी बार ऐसा पतित हुआ कि पुरानी गिरावटका संस्कार फिर जाग उठा। घंटो बेहोश सा पडा रहा, परन्तु आत्मामें कोलाहल मचा हुआ था। प्रात.काल भ्रमणार्थ दूर निकल गया और एकान्तमें बैठकर अनुताप

करता रहा। उस दिन शामको ही लौटकर भोजन किया। दूसरे दिनसे ही काया फिर पलट गई। नाच, तमाशे, दावतोंमें जाना बन्द हुआ और फिलासफीका स्वाध्याय शुरू हो गया। बोतल और गिलास भी कुछ कालके लिये विदा हो गये।" इस वारके पतनमें आशाकी झलक केवल वह अनुसताप था, जो आत्मा अनुभव करती रहती थी। पश्चात्तापकी यह भावना परीक्षा देनेके लिए अलीगढ जानेपर कुसगतिके कारण फिर मन्द पड़ गई।

बरेलीके इस घोर अन्धकारमय जीवनमें १४ श्रावण सवत् १९३६ को स्वामी दयानन्द सरस्वतीके बरेली आनेपर उनका जो सत्सग मिला, वह कुछ ऐसे सस्कार छोड़ गया कि उसके बादमें आपका कायाकल्प हो गया। आप दुपहरके समय शका समाधान और रातको व्याख्यानके समय सबसे पहले उपस्थित होते और अत तक बने रहते। जीवनका यह उतार-चढाव निरन्तर बना रहा। पत्नीकी सेवा-भावनाने भी कुछ जादू किया, परन्तु धूप-छायाका सिलसिला काफी समय बना रहा।

पुत्रका मन पढाईमें लगता न देख पिताजीने अपने प्रभावसे आपको नायब तहसीलदार बनवा दिया। एक ही मास बाद स्थानापन्न तहसीलदारका पद मिल गया। परन्तु अंग्रेज अफ्सरोंके साथ मेल नही बैठ सका। तीन ही मास चाकरीका यह क्रम चल सका। पिताजीके सामने सिवाय पुलिसकी नौकरीके दूसरा कोई विचार न था परन्तु आपका मन उधर से फिर चुका था। पिताजीने अतमें घरका कामकाज सँभालने और लाहौर जाकर वकालतकी परीक्षा देनेके लिए घर भेज दिया। घरका काम-काज और परीक्षा की तैयारी साथ-साथ चलने लगी। दो बार असफल होनेके बाद तीसरे वर्ष मुख्त्यारी की परीक्षा पास की जा सकी। इस बीच उत्थान-पतनका सिलसिला भी बना रहा। पिताजी भी पेंशन लेकर घर आ गए। आपने जालन्धरमें मुख्त्यारीका धंधा शुरू कर दिया। १३, कार्त्तिक सवत् १९४० को स्वामी दयानन्दका देहान्त होनेपर आपके ही प्रयत्नोंसे जालन्धरमें शोक सभा का आयोजन किया गया, परन्तु जालन्धरमें भी पुराने व्यसनोंने आ घेरा और मदिरा-मासका अव्याहत दौर चलता रहा। इस बीच कुछ समय फिल्लौर में वकालत करनेमें भी बिताया। जालन्धरमें अपने एक मित्रके मदिरापानमें चूर होकर वेश्यागमन करनेकी घटनाकी हृदयपर कुछ ऐसी चोट लगी कि घर आकर शराबकी बोतल को पासकी गलीमें जो फेका, तो उस व्यसनसे सदाके लिए छुट्टी मिल गई और एक नए जीवनका सूत्रपात हो गया। इसी कारण दूसरे दिन सवेरे ही आप लाहौर चल दिए। वहाँ वकालतकी परीक्षा पास की। जालन्धरमे हृदयने जो चोट खाई थी उसने जब गहरा रग पकडा, तब आपका झुकाव ब्राह्म-समाज और उसके बाद आर्य-समाजकी ओर हुआ। ब्राह्म-समाजके सारे साहित्यको पढनेके बाद भी जब आत्माको सन्तोष न हुआ, तब "सत्यार्थ प्रकाश" का अध्ययन किया और आर्य-समाजके विधिवत सदस्य बन गए। पहले ही दिन आर्य-समाजमें आपका जो व्याख्यान हुआ, उसका सार यह था कि "हम सबके कर्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहिए। जो वैदिक धर्मके एक-एक सिद्धान्तके अनुकूल अपना जीवन नही टाल सके, उसको उपदेशक बननेका साहस नही करना चाहिए। भाडेके टट्टुओंसे धर्मका प्रचार नही हो सकता। इस पवित्र कार्यके लिए स्वार्थत्यागी पुरुषोंकी आवश्यकता है।" इन शब्दोंमे उनके भावी नव-

जीवनका स्पष्ट चित्र देखा जा सकता है। मांस और हुक्के आदिका भी परित्याग उन्होंने उसी प्रकार किया जैसे शराबका किया था और वह केवल इसलिए किया था कि स्वामी दयानन्दने उनका निषेध किया है। अपनेको सच्चा आर्यसमाजी बनानेकी भावना का हृदयमें संचार होना था कि सारे दुर्व्यसन छूट गए और जीवन सहसा ही एक नए ढाँचेमें ढल गया।

जीवनके उत्थान-पतनकी लम्बी कहानीका यह संक्षिप्त विवरण केवल यह दिखानेके लिए दिया गया है कि स्वामीजी सुधारकी पहली सीढी आत्म-सुधारको मानते थे और आत्म-सुधार प्रारम्भ होता है व्यक्तिगत जीवनसे। उस व्यक्तिगत जीवन का निर्माण स्वामीजी ने जिस रूपमें किया वह निराशसे निराश हृदयमें भी दिव्य आशाका संचार कर सकता है। इस प्रकार लाला मुंशीरामने कल्याण-मार्गका पथिक बनकर महात्मा पदकी प्रतिष्ठा प्राप्त की और बादमें संन्यासी बनकर लोक कल्याणके महान कार्यपर अपनेको न्योछावर कर दिया। उसकी जीवन-कहानी भी अत्यन्त प्रेरणाप्रद और स्फूर्त्तिदायक है।

आर्यसमाजकी स्थापना तो स्वामी दयानन्दने की, किन्तु उसका वर्तमान रूपमें निर्माण और संगठन आपने ही किया। प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओ और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाके रूपमें उनका संगठन स्थापित करने वाले आप ही हैं। स्वयं दृढ आर्य बननेकी जो धुन आपमें समाई, तो कितनोको ही दृढ आर्यसमाजी बना डाला। आर्य समाजमें डी० ए० वी० कालेजकी शिक्षा पद्धतिके सम्बन्धमें जो चर्चा शुरू हुई उसने सहसा ही मासाहारके विवादका रूप धारण कर लिया और उसके कारण दो दल बन गए। आप स्वभावत कट्टर आर्यसमाजी बन जानेसे मासाहारके विरोधी थे और विरोधी दलके अगुवा थे। इस नाते सारे पंजाबमें और बादमें समस्त भारतमें आप आर्यसमाजके अद्वितीय नेता माने गए। आर्यसमाजियोको आर्यसमाजके आदर्शो तथा सिद्धान्तों और कार्य-क्रमपर सुदृढ रहनेकी आप हमेशा ही प्रेरणा देते रहते थे। बीसवी सदीके पहले चरणमें १९०७ में लाला लाजपतराय तथा भाई परमानन्द आदिके कारण सारे ही आर्यसमाज को राजद्रोहका मूल कारण बताया जाता था और यह कहा जाता था कि जहाँ आर्य-समाज का जोर है वहाँ राजद्रोह भी प्रबल है इसी कारण आर्यसमाजियोंके घोर दमनका सिलसिला शुरू किया गया, अनेक आर्य समाजियोपर जहाँ-तहाँ मुकदमे चलाए गए। "सत्यार्थ प्रकाश" को जब्त करनेके लिए राजद्रोही ग्रन्थ बतानेको भी कुछ मामले दायर किए गए और पटियालामें आर्यसमाज मन्दिरपर ताला लगाकर सभी सदस्योपर राजद्रोहका मुकद्दमा चलाया गया। ऐसे कठिन अवसरपर आर्य समाजको अपनी नैतिकतापर कायम रखकर आर्य समाजियोमें कोई दीन-हीन भावना न पैदा होने देनेका सारा श्रेय एकमात्र आपको है। पंजाब-केसरी लाला लाजपतरायकी १९०७ में माडलेमें की गई नजरबन्दी पर जब कुछ क्षेत्रोमें उनके आर्यसमाजी न होनेकी बात कही गई तब लाहौर पहुँचकर आपने बहुत महत्वपूर्ण भाषण दिए। आर्यसमाजपर कही कोई संकट आता, तो वहाँ सबसे पहले आप पहुँचते। पटियालाके मुकद्दमेकी पैरवी की सारी व्यवस्था आपने ही की। वर्षो आप पंजाब-आर्य-प्रतिनिधि-सभा और सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि-सभाके अध्यक्ष रहे।

आर्य समाजकी दृष्टिसे गुरुकुल की स्थापना आपका सबसे बडा काम है और शिक्षा के क्षेत्रमें भी वह अपने ढगका एक अद्भुत प्रयोग था। विक्रमी १९५३में आपने उसके सम्बन्धमें अपने पत्र "सद्धर्म प्रचारक" में चर्चा प्रारम्भ कर दी थी। नवम्बर १९५८ तक यह चर्चा चलती रही। तब पजाब आर्य-प्रतिनिधि-सभाने गुरुकुल स्थापित करने और स्वामी दयानन्दके वेद भाष्यको पुरा करनेका निश्चय किया। जो बोले सो कुडा खोले वाली बात हुई। अगस्त १८९८ को आपने ३० हजार रुपया जमा करनेका संकल्प करके यह घोषणा कर दी कि यह धनराशि जमा होने तक मैं घर नही लौटूंगा। ८ अप्रैल १९०० को केवल नौ मासमें आपने ४० हजार रुपया जमा कर लिया। इन्ही दिनोंमें आपको आर्य जनताने महात्मा पदसे विभूषित किया। २ मार्च १९०२ को गुजरान्वाला से ३४ ब्रह्मचारियोको लेकर हरिद्वारके उस पार गगाके किनारे कागडी गाँवके समीप गुरुकुलकी स्थापना की गई और होलीकी छुट्टियोमें २१ से २४ मार्च तक विशेष उत्सव मनाकर उद्घाटन-विधि सम्पन्न की गई। दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करते हुए गुरुकुल एक स्वतत्र राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बन गया, जिसके लिए स्वामीजीने सर्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर न केवल अपना तन किन्तु मन और धन भी अर्पित कर दिया। अपना पत्र, प्रेस, पुस्तकालय और जालन्धरकी कोठी आदि सब कुछ उसकी भेंट कर दिया। आर्य जनताने भी प्रति वर्ष हजारो लाखोकी भेंट करते हुए धनकी कमी नही रहने दी। कुरुक्षेत्र, दिल्ली, मटिं, गुजरातमें, सूपा आदिमें उसकी शाखाएँ स्थापित की गई। आप बंगाल और मद्रासमें भी उसकी शाखाएँ स्थापित करनेके यत्नमे रहे। बहुत वर्षो के बाद स्त्री-शिक्षाके लिए भी गुरुकुलके ढगपर कन्या गुरुकुल स्थापित किया गया, जो इस समय देहरादूनमें चल रहा है। विक्रमी १९८० मे जब गुरुकुलका रजत-जयन्ती-महोत्सव मनाया गया तब उसमें विद्यार्थियोकी सख्या १००० से ऊपर थी और २० लाख से भी अधिक रुपया जनता उसके लिए दे चुकी थी। गुरुकुलके स्वरुप-महत्व और विशेषताओके सम्बन्धमें जितना लिखा जाय थोडा है। यहाँ हम केवल दो-एक सम्मतियाँ ही उद्धृत कर रहे हैं। इगलैण्डके भूतपूर्व प्रधान मत्री मि० रैमजे मैकडानल्ड १९१४ में गुरुकुल आए थे। उन्होने इगलैण्ड लौटकर 'डेली क्रानिकल' में जो लेख लिखा था वह उसके राष्ट्रीय स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालता है। उन्होने लिखा था कि "भारतके राजद्रोहके सम्बन्धमें जिन्होने कुछ थोडा सा भी पढा है, उन्होने गुरुकुल नाम अवश्य सुना होगा जहाँ कि आर्य समाजियोंके बालक शिक्षा ग्रहण करते है। आर्योंकी भावना और सिद्धान्तोका यह अत्यन्त उत्कृष्ट मूर्त्त रूप है। इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्यसमाजके सम्बन्धमें जितने भी सन्देह किए जाते हैं, वे सब इस गुरुकुलपर लाद दिए गए हैं। इसीलिए सरकारकी इसपर तिरछी नजर है, पुलिस अफसरोने इसके सम्बन्धमें गुप्त रिपोर्टें की हैं और अधिकाश ऐंग्लो इडियन लोगोंने इसकी निन्दा की है सरकारी लोगोंके लिए गुरुकुल एक पहेली है, अध्यापकोंमें एक भी अँगरेज़ नही है। अगरेजी साहित्य की पढाई और उच्च शिक्षाके लिए पजाब युनिवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तके भी यहाँ काममें नही लाई जाती, सरकारी विश्वविद्यालय की परीक्षाके लिए यहाँ से किसी भी विद्यार्थी को नही भेजा जाता और विद्यार्थियोको विद्यालयसे अपनी ही उपाधियाँ दी जाती है। सचमुच यह सरकारकी अवज्ञा है। घबराए हुए सरकारी अधिकारीके मुँहसे

इसके लिए पहली बात यही निकलेगी कि यह स्पष्ट राजद्रोह है। परन्तु गुरुकुलके विषयमें यह अन्तिम राय नही हो सकती। सन् १८३५ के प्रसिद्ध लेखमें मैकालेके सम्मति प्रकट करनेके बाद भारतके शिक्षाके क्षेत्रमें यह पहला ही प्रशस्त प्रयत्न किया गया है। उस लेखके परिणामोंसे प्राय: सभी भारतवासी असन्तुष्ट है, किन्तु जहाँ तक मुझको मालूम है गुरुकुलके संस्थापकोंके सिवा किसी औरने उस असंतोषको कार्यमें परिणत करते हुए शिक्षाके क्षेत्रमें नया परीक्षण नही किया।"

उसके क्रातिकारी सामाजिक स्वरूपका परिचय लन्दनके एक और पत्र "दि न्यू स्टेट्स-मैन" के २० जून सन् १९१४ के लेखसे मिलता है। उसमें लिखा गया था कि "भारतीय दृष्टिसे इस सस्था की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण विशेषता जात-पातके भेद व अंतरको मिटाना है। उसमें ब्राह्मणसे लेकर मेहतर तक सभी जातियो के बालक शिक्षा पाते है। सबका एकसा जीवन और रहन-सहन है। जात-पांतका भेद भारतमें खूब गहरी जड़ें पकड़े हुए है, पश्चिमकी शिक्षा और आदर्शोके सहारे भी उसकी जड़ोको खोदना कठिन है। परन्तु यहाँ गुरुकुलमें उसकी जड़ें बडी सफलताके साथ काट दी गई है, पश्चिमके नामपर उसके अनुकरणपर नही किन्तु पूर्वके पुराने और सुन्दर आदर्शोको पुन-र्जीवित करनेकी दृष्टिसे। आर्य समाजके शिक्षाके कार्यका यह नमूना है और शिक्षाका यह कार्य उस महान समाज-सेवाके कार्यका छोटा-सा हिस्सा है, जो आर्य समाज उत्तरी भारतमें कर रहा है। आध्यात्मिकता एवं नैतिकतासे प्राय. रहित प्रतिभाशून्य ब्रिटिश अधिकारी एकाएक घबरा जाते है। वे नही समझ सकते कि ये लोग क्या कर रहे है। इसलिए वे उसमें राज-द्रोहका का सन्देह करनेके आदी हो गए हैं।"

गुरुकुलके आकर्षण और विशेपताओंके सम्बन्धमें इन दो सम्मतियोके बाद कुछ और कहनेकी आवश्यकता नही रहती। हिन्दीके माध्यमसे सम्पूर्ण शिक्षा देनेवाली वह पहली संस्था है। मेहनत मजदूरी करके और भोजनमें कमी करके गुरुकुलके ब्रह्मचारियो और कर्मचारियोने १५००) दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके लिए भेजा था। उसी समय से गाधीजीका गुरुकुलने प्रेम सम्पादन कर लिया था गांधीजीके लिए महात्मा शब्द का प्रयोग सबसे पहले गुरुकुल द्वारा दिए गए मानपत्रमें ही किया गया था। गाँधीजीने गुरुकुलके उत्सवकी व्यवस्था को काग्रेसके लिए अनुकरणीय बताते हुए उसकी अनेक बार प्रशसा की थी, यहाँ यह बतानेकी आवश्यकता नही कि शिक्षाके प्राचीन वैदिक आदर्श को पुनर्जीवित करनेके लिए गुरुकुलकी स्थापना की गई थी और उन आदर्शोको मूर्त्त रूप देनेका पूर्ण प्रयत्न आपके ही कारण किया जा सका।

१२ अप्रैल १९१७ को सम्वत् १९७४ की पहली वैशाखको आपने हरिद्वार और कनखलके बीच स्थित मायापुर वाटिकामें सन्यास आश्रममें प्रवेश किया और यह कहते हुए स्वयं अपना नाम श्रद्धानन्द रखा कि मेरे सम्पूर्ण जीवनमें मुझे एकमात्र श्रद्धाका ही सहारा रहा है। गुरुकुल और आर्यसमाज तक अपनेको सीमित न रखकर विस्तृत कार्य-क्षेत्रमें पदार्पण किया। प्रत्यक्ष राजनीतिसे पृथक रहते हुए भी आपकी वृत्ति राष्ट्रीयता से ओत प्रोत थी। धर्मको आप जिस व्यापक दृष्टिसे देखते थे राजनीति उसका एक अग थी। गुरुकुलकी स्थापना और उसका सचालन भी मुख्यत: राष्ट्रीय दृष्टिकोणसे किया गया था। अपनी धर्म प्रधान वृत्तिके कारण ही आप गांधीजीके सत्याग्रहको धर्मयुद्ध

कहकर उसमें सम्मिलित हुए थे। गुरुकुलसे अलग होते हुए आपने उनके प्रधानको २५ सितम्बर १९२० को लिखे गए पत्रमें लिखा था कि "इस समय मेरी सम्मतिमें असहयोग की व्यवस्थाके क्रियात्मक प्रचारपर ही मातृभूमिका भविष्य निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृतकार्य हुआ और महात्माजीको सहायता न मिली तो देशकी स्वतंत्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जातिके जीवन व मृत्युका प्रश्न हो गया है। इसलिए मैं इस काममें शीघ्र ही लग जाऊँगा। यदि आपकी सम्पत्तिमे इस काममें लगने के लिए मुझे गुरुकुल व आर्य-समाजके अन्य कामोसे अलग हो जाना चाहिए, तो जैसा पत्र आप तजवीज करेंगे, मैं पब्लिकमें प्रकाशित करूँगा। मैं इस कार्यसे रुक नही सकता, मुझे यह काम इस समय सर्वोपरि दीखता है।"

इस पत्रसे स्पष्ट है कि स्वामीजीको गाधीजी के आन्दोलनने कुछ स्वाभाविक रूपसे ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। गुरुकुल और आर्यसमाजमें रहते हुए भी आप राजनीति सेपृथक नही थे, परन्तु उसमें कोई प्रत्यक्ष भाग नही लेते थे। सूरत काग्रेसके भग होनेपर राजर्षि गोखलेने आपको अत्यन्त मर्मस्पर्शी पत्र लिखा था और आपके साथ उनका बहुत ही निकटका सम्पर्क बना रहा। गुरुकुलसे आकर दिल्लीमे स्वामीजी गाधीजीसे मिले। स्वामीजीकी योजना यह थी कि देशमें कुछ क्षेत्र ऐसे तैयार किए जायँ, जिनमे असहयोगको पूर्ण बनाकर लगानबन्दीका सत्याग्रह शुरू किया जाय और आन्दोलनको कही भी केन्द्रित न रखा जाय। आपने पजाबमें पॉच जिले इस प्रकार तैयार करनेका दायित्व लेनेकी इच्छा प्रकट की और गाधीजीसे गुजरातमें पाँच जिले तैयार करने को कहा। दिल्लीमें रहकर रौलेट एक्टके विरुद्ध हुए आन्दोलन का सचालन, घटाघरके नीचे गुरखोकी नगी किरचोके सामने हजारो लोगोंका नेतृत्व करते खड़े होना, जामा मस्जिदकी वेदीसे वेद मत्रोंके उच्चारणके साथ भाषण देना और कई सप्ताह तक दिल्लीसे अग्रेजी राजको समाप्त करके सच्चा स्वराज्य कायम करना आदि ऐसी घटनाएँ है जो इतिहासमें स्वर्णाक्षरोमें अकित हो गई है। पजाब जब फौजी शासनके भीषण अत्याचारो तथा अमृतसरके जलियानवाला बागमें हुए हत्याकाड सरीखे नृशस दमनसे कराह रहा था और बाहरसे किसीका भी वहाँ आना-जाना निषिद्ध था तब सबसे पहले अमृतसर और लाहौर पहुँचनेवाले स्वामीजी थे। समाचार पत्रो में वहाँ की स्थिति पर आपने प्रकाश डाला और काग्रेसपर जोर डालकर जाँच समिति की नियुक्ति करवाई, जिसमें गाधीजी, देशबन्धु दास और पडित मोतीलाल जी नेहरू सरीखे नेता सम्मिलित थे। अमृतसरमें काग्रेसका अधिवेशन होना असभव बना दिया गया था। वह आपके ही प्रयत्नसे हो सका और आपही उसके स्वागताध्यक्ष चुने गए। मुहावरेदार ठेठ हिन्दीमें काग्रेसके मचसे दिया गया वह पहला ही भाषण था और उसमें आपने राष्ट्रके नैतिक जीवन के निर्माण और हरिजनोके उद्धार आदि विषयोकी काग्रेस के मचसे पहली ही बार चर्चा की थी। राजनीतिक दृष्टिसे तब पहली ही बार समाज-सुधारके महत्वका प्रतिपादन किया गया था। फिर आपको 'सिखोंके गुरुका बाग' सत्याग्रहके कारण अमृतसरमें कारावासका दड भी दिया गया। कलकत्ताके काग्रेसके विशेष अधिवेशन और नागपुर तथा अहमदाबादके अधिवेशनोमे भी आप गांधीजीका समर्थन करनेके लिए उपस्थित हुए थे।

यह देशका दुर्भाग्य ही था कि आप कांग्रेसमें अधिक दिन न रह सके—कारण इसका यह था कि आप समाज-सुधारको राष्ट्रनिर्माणके लिये अनिवार्य मानते थे। एक करोड़ की तिलक-स्वराज्य-निधिके विनियोगका प्रश्न जब लखनऊमें कांग्रेस महासमितिके सामने विचारके लिए उपस्थित हुआ तब आपका सुझाव यह था कि पाँच लाखकी धनराशि हरिजनोंके उद्धारके लिए अलग रख देनी चाहिए। कांग्रेसके दूसरे नेता इससे सहमत नहीं हुए। उन्होंने आपके इस प्रस्तावका कुछ उपहास भी किया। बस, आपने कांग्रेस छोड दी और दिल्ली लौटकर दलितोद्धार सभाकी स्थापना करके हरिजन सेवाका काम शुरू कर दिया। कुछ मुस्लिम नेताओंसे दलितोंके सबंधमें जो मतभेद, विवाद तथा वितंडा प्रारम्भ हुआ, उसके कारण आपने शुद्धि तथा संगठनका आन्दोलन भी प्रारम्भ किया और हिन्दू महासभामें एक नया जीवन फूंक दिया। कुछ वर्ष बाद समाज-सुधार के दूसरे प्रश्न विधवा-विवाहपर हिन्दू नेताओंके साथ आपकी पटरी बैठ नहीं सकी। महामना पंडित मदनमोहनजी मालवीयने कांग्रेस-स्वराज्य-पार्टीके विरुद्ध नेशनलिस्ट पार्टीका संगठन करके हिन्दू महासभाका उपयोग कांग्रेसके विरुद्ध अपनी पार्टी और चुनावके लिए करना चाहा, तब आपने विधवा-विवाह और चुनावके प्रश्नपर हिन्दू महासभाको भी छोड दिया। चुनाव में आपने प० मोतीलाल नेहरू का साथ दिया। हिन्दू-समाजमें नव-जीवन पैदा करनेकी आकांक्षा रखते हुए और उसके लिए प्रयत्न करते हुए भी आप हिन्दू महासभाकी साम्प्रदायिकतासे कभी सहमत नहीं हुए और साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे आपने मुसलमानोंका विरोध नहीं किया।

दो विषयोंकी चर्चा करनी आवश्यक है। एक तो यह कि जब आपने आर्य-समाजमें प्रवेश किया तब पिताजी और घरवालोंके कट्टर सनातनधर्मी होनेसे आपको भी भीषण धर्म-संकटका सामना करना पड़ा। जात-बिरादरीवालोंके विरोध और बहिष्कारकी धमकियाँ भी आपको अपने मार्गसे विचलित नहीं कर सकीं। गुरुकुलके उत्सवसे लौटते हुए आर्यसमाजियोंपर हरिद्वारमें कुछ पंडोंके बहकानेपर एक उत्तेजित भीड़ने हमला कर दिया। बलवेके अपराधमें अनेक हिन्दू गिरफ्तार किए गए। आपने उस मुकदमें में सरकारका साथ न देकर सब मुकदमें वापस लेनेके लिए उसको मजबूर किया। जब भी कभी इस प्रकारके प्रसंग उपस्थित हुए तब आपने सदा ही सत्याग्रही वृत्तिसे काम लिया। देशमें कहीं भी अकाल, बाढ तथा भूकम्प आदिके दैविक संकट उपस्थित होते तब गुरुकुल से सदा ही एक अच्छी धनराशि जमा करके भिजवाते और यथासंभव स्वयं भी वहाँ पहुँच जाते।

दूसरे जिस विषयकी चर्चा करना आवश्यक है, वह है आपका हिन्दी-प्रेम, सम्वत् विक्रमी १९४६ में आपने कुछ साथियोंके साथ मिलकर आर्य समाजके प्रचारके लिये उर्दू में "सद्धर्म प्रचारक" पत्र निकालना प्रारम्भ किया। यह अनुभव होते ही कि आर्य-समाज का सारा काम हिन्दीमें होना चाहिये आपने १ मार्च १९०७को अपने पत्रको एकाएक हिन्दी में प्रकाशित करना शुरु कर दिया। आर्य-समाजमें हजारों लोगोंने केवल "सद्धर्म प्रचारक" के हिन्दीमें किए जानेसे हिन्दीका अभ्यास किया। आर्यसमाजकी छोटी-बड़ी कन्या पाठशालाओं में हिन्दीको ही अपनाया गया था किन्तु गुरुकुलमें आदिसे अंत तक सारी शिक्षाका माध्यम हिन्दीको रखकर जो परीक्षण किया गया था वह अपने ढंगका पहला था। गुरुकुलसे १९१८–१९ में "श्रद्धा" नामसे साप्ताहिक पत्रिका आपने निकाली।

दिल्लीसे १९१९--२० में "विजय" और १९२४--२५ में "अर्जुन" दैनिक पत्र प्रारम्भ किए गए थे। हिन्दीपर आपका पूर्ण अधिकार था। अमृतसर कांग्रेसके स्वागताध्यक्षके पदसे मुहावरेदार ठेठ हिन्दीमें आपने जो भाषण दिया था उसका अँगरेजीमें अनुवाद करना कठिन हो गया था। अनेक ग्रंथ भी आपने लिखे। उर्दूके गढ दिल्लीमें हिन्दीको रोपनेका श्रेय आपको ही है। आपके ही कारण दिल्लीमें हिन्दी और हिन्दी पत्रकारिता प्रतिष्ठित हुई है। दक्षिण भारत तथा मद्रासमें आपने १९१९में हिन्दीका प्रचार गुरुकुलके कुछ स्नातकोको भेजकर सबसे पहले शुरु किया था। आपकी इस हिन्दी सेवाके कारण विक्रमी सवत् १९७० में भागलपुरमें हिन्दी साहित्य सम्मेलनके चौथे वार्षिक अधिवेशनका आपको अध्यक्ष चुना गया था। सम्भवत: वह पहला ही अवसर था जब कि साहित्यिक योग्यताकी अपेक्षा हिन्दी-सेवाको प्रधानता दी गई थी।

यह भी आपके जीवनकी समाज-सुधारकी दृष्टिसे एक उल्लेखनीय घटना है कि ३१ अगस्त १८९१ में केवल ३६ वर्षकी आयुमें धर्मपत्नीका देहान्त हो जानेपर घर, परिवार तथा जात बिरादरी वालोके अत्यन्त आग्रह पर भी आपने विवाह करनेका विचार तक नही किया। समाज-सुधारकी दृष्टिसे इससे भी अधिक बड़ी बात यह है कि अपनी सतानोका विवाह जात-बिरादरीके बन्धन त्यागकर किया। कन्या अमृतकलाके विवाहपर काफी तूफान खडा हो गया, परन्तु आप अपने विचारसे टससे मस नही हुए। गुरुकुलमें जात-बिरादरीके सामाजिक भेदभाव और धार्मिक पक्षपात आदिको जडमूलसे मिटा दिया गया था। कांग्रेस और हिन्दू महासभामें समाज-सुधारकी आवाज बुलन्द करनेका श्रेय आपको ही है।

एक धर्मान्ध मुसलमान अब्दुल रशीदको २३ दिसम्बर १९२६ को (४ पौष सम्वत् १९८३) मृत्युने अपना निमित्त बनाकर आपके साथ बहुत बडा विश्वासघात किया और उससे आपके महान व्यापक जीवनपर सकीर्ण साम्प्रदायिकता का एक काला परदा पड गया। महीनोंसे आप बीमार चले आ रहे थे और आपके पारिवारिक चिकित्सक डा० अन्सारी आपकी चिकित्सा कर रहे थे। उनको पूरा विश्वास था कि वे आपको मृत्यु से बचा लेंगे। लेकिन, अब्दुल रशीदने बीमारीके बिस्तरपर पडे हुए आपकी छातीपर गोलियाँ दागकर ७१ वर्षकी आयुमें आपकी इहलीला समाप्त कर दी। सच तो यह है कि आपकी मृत्यु ने डा० अन्सारी और अब्दुल रशीदके रूपमें मानवके दो रूप उपस्थित किए। एक वह है जो स्वामीजीको बीमारीके मुँहसे बचानेके लिए मृत्युके साथ जूझ रहा था। और दूसरा वह जिसने उनको मृत्युके घाट उतार दिया। एक मानव-हृदयमें विद्यमान प्रकाशका प्रतीक है, तो दूसरा अधकारका। सभी देशो, जातियो, समाजो, सम्प्रदायो और समयोमें ऐसे देव और असुर पाए जाते है। उनका सम्बन्ध किसी विशेष देश, जाति, समाज, सम्प्रदाय अथवा समयके साथ नही है।

स्वामीजीकी इस गौरवमय जीवनगाथाके बाद उनके महान् व्यक्तित्वके सम्बन्धमें कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नही। आप ने अपने जीवनको प्राचीन वैदिक प्रणालीके ढाचे में ढालकर जो आदर्श उपस्थित किया वह हमें सदैव कल्याण मार्ग की ओर प्रेरित करता रहेगा। देशके सार्वजनिक जीवनका कोई क्षेत्र ऐसा नही है जिस पर पडे हुए आपके पद चिन्ह हमारा पथ प्रदर्शन नही कर रहे है।

श्री चन्द्रानन्द वानप्रस्थी

श्री हरविलास शारदा

बाल-विवाहपर प्रतिवन्ध लगानेके लिए शारदा कानूनके प्रस्तुतकर्ता दीवान वहादुर श्री हरविलासजी शारदाका जन्म अजमेरमें उनके पूर्वजोके 'गणपत पुरा' मुहल्लेके पुराने मकानमें ३ जून सन् १८६७को हुआ था। वे वचपनसे ही वड़े कुशाग्र बुद्धि, सुन्दर, स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट थे। अपनी कक्षामें हमेशा पहले रहते थे। १८८८ में उन्होने कलकत्ता विश्वविद्यालयसे वी० ए० आनर्स की परीक्षा पास की थी। १८८९–९१ के वीच वे देश विदेश की अनेक साहित्यिक तथा अन्य संस्थाओके सदस्य वन गए। उनमें रायल एशियाटिक सोसाइटी, रायल सोसाइटी आफ लिटरेचर, रायल स्टैटिस्टिकल सोसाइटी, टीचर्स गिल्ड, रायल आर्कियोलोजिकल इंस्टिट्यूट मुख्य हैं। ८८ वर्षकी आयुमें सन् १९५५ में जव उनका देहान्त हुआ तव उनके परिवारके सदस्योकी संख्या १०० से ऊपर थी। उनके निधनपर केन्द्रीय एसेम्वलीके पुराने सदस्य होनेके कारण संसदमें शोक प्रकट किया गया और अजमेरके वाहर राजस्थान तथा समस्त भारतमें भी अनेक स्थानोपर शोक साभाएँ की गईं। समाज-सुधारके क्षेत्रमें उनका अभाव विशेष रूपसे अनुभव किया गया।

१९२४ में वे अजमेर-मेरवाडा से केन्द्रीय एसेंवलीके सदस्य चुने गए थे और १९३६ तक उसके सदस्य रहे। अजमेर नगरपालिकाके वे १८९४ में सदस्य नियुक्त किए गए थे। १९३४ से १९३७ तक उसके उपाध्यक्ष रहे। १९२५ में उन्होने केन्द्रीय एसेम्वलीमें शारदा-कानून उपस्थित किया था। विधवाओ को पतिकी जायदादमें हिस्सा देने और वच्चोंके धूम्रपान निषेधके लिए भी विधेयक उपस्थित किए थे। १९३३ में वे केन्द्रीय एसेम्वलीमें महामना मालवीयजीकी नेशनलिस्ट पार्टीके उपनेता चुने गए। अजमेर तथा पश्चिमोत्तर प्रदेशोकी प्रारम्भिक शिक्षा कमेटी के सदस्य नियुक्त किए गए।

आर्य समाज की सेवा

शारदाजीका आर्य समाजके साथ वहुत घनिष्ठ सम्वन्ध रहा। अजमेरमें उनको आर्यसमाजका निर्माता कहना चाहिए। स्वामी दयानन्दके वे अन्यतम भक्त थे। सन् १८८८में उन्होने अजमेरमें आर्यसमाजकी स्थापना की। आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवाकी भी उन्होने १८८९ में स्थापना की और उसके प्रथम सभापति चुने गए। उसी वर्ष उन्होने अजमेरमें दयानन्द हाई स्कूल स्थापित किया जो आजकल

दयानन्द कालेजके रूपमें चल रहा है। सन् १८६० में वे परोपकारिणी सभाके सभासद और १८६३ में उसके मत्री चुने गए। ६२ वर्ष तक वे मत्रीपदका काम करते रहे। दयानन्द निर्वाण अर्धशताव्दी सन् १६३३ में वडी धूमधामसे अजमेर नगरमें उनके ही कारण मनाई गई। उसके साथ अखिल भारतवर्षीय औद्योगिक प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया।

साहित्य-सेवा

शारदाजीकी साहित्य सेवा भी बहुत अधिक है। उन्होने निम्नलिखित पुस्तके लिखी —

१—हिन्दू सुपीरियोरिटी २—अजमेर हिस्टोरिकल एड डिस्क्रिपटिव, ३—महाराणा कुम्भ ४—महाराणा गग ५—हम्मीर आफ रणथम्वौर ६—दयानन्द सरस्वती स्मृति ग्रथका सम्पादन ७—स्पीचेज एड राइटिंगस ८—वर्कस आफ महर्षि दयानन्द एड परोपकारिणी सभा। ९—शकराचार्य एड दयानन्द १०—लाइफ आफ विरजानन्द सरस्वती, गुरु आफ स्वामी दयानन्द सरस्वती। ११—दि परोपकारिणी सभा एड सत्यार्थ प्रकाश। १२—लाइफ आफ स्वामी दयानन्द सरस्वती। १३—रिकलेक्शन्स् एड रेमिनिसेंसेज १४—महात्मा गाधी हिज पर्सनालिटी एड हिज टीचिंगस

स्वामी दयानन्दके अन्यतम शिष्य सुप्रसिद्ध क्रातिकारी श्री श्यामजी कृष्ण वर्माके साथ भी आपका पुराना सम्वन्ध था। उनकी जीवनी लिखनेकी आपकी प्रवल इच्छा थी। वर्माजीने लन्दन तथा वर्मामें अनेक वर्ष रहकर भारतीय क्राति के लिए जो कार्य किया है उसपर इस जीवनीसे अच्छा प्रकाश पडा होता।

सन् १८८६ में शारदाजी गवर्नमेंट कालेज अजमेरमे तृतीय अध्यापक, १८६२ में अजमेर राज्यके कमिश्नरकी कचहरीमें अनुवादक १८६४ से १६०२ तक हिज हाइनेस महारावल साहव जैसलमेरके गार्जियन व अध्यापक, १६०२ में अजमेरके कमिश्नरके दफ्तरमें सुपरिण्टेण्डेण्ट, १६०८ में व्यावरके सव जज, १६०६ मे स्माल काज कोर्ट (खलीफा कचहरी) के रजिस्ट्रार, १६१२ में अजमेरके फर्स्ट क्लास स्पेशल सव जज और जज खलीफा, १६१६ में व्यावरके डिप्टी मजिस्ट्रेट व सव जज, १६२१ में फिर अजमेरके जज खलीफा और १६२३मे अजमेर मेरवाडाके डिस्ट्रिक्ट और सेशन जज रहे। सन् १६२४ में उन्होने सरकारी नौकरीसे अवकाश ग्रहणकर लिया और सार्वजनिक कार्य करनेमें लग गए। १६२५–२६ में वे जोधपुर हाईकोर्टके जज नियुक्त किए गए। १६२४ में वरेलीमें हुई अखिल भारतीय वैश्य महासभा और १६२६ मे लाहौरमें हुई काग्रेसकी अभिन्न भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सेवा-सभाके भी वे सभापति मनोनीत हुए। शारदाजीका जीवन देश-सेवा, समाज-सेवा तथा सरस्वतीकी उपासनामें ही व्यतीत हुआ। भारतको विशेषकर राजस्थानको अपने ऐसे सपूतपर गर्व है। वे अपने ढगके निराले व्यक्ति थे और अपने देशकी विभूति थे। वे सदा लोकप्रिय वने रहे। यह उनके जीवनकी विशेषता है।

—..००.—

श्री शंकरदेव विद्यालंकार

महर्षि अण्णा साहब कर्वे

सन् १८७४ की एक भयकर रात्रि। सितम्बरका महीना। आकाश भी डरावना सा हो रहा था और शीतल पवन वेगसे वह रहा था। सतारा जिलेकी पर्वतमाला और भी अधिक भयावह प्रतीत हो रही थी। ऐसे समय में सत्रह वर्षका एक ब्राह्मण कुमार अपर्याप्त कपड़ोंके कारण एक चट्टान पर बैठा हुआ शीतसे काँप रहा था। यह कुमार कोकण प्रदेशके मुरुड गाँवसे ११० मील पैदल चल कर आया था। सत्रह वर्षका यह विप्र-कुमार मैट्रिक की परीक्षा देनेके लिए सतारा नगरमें पहुँचा था। अगले दिन यह युवक परीक्षा भवन में प्रविष्ट हुआ। उमर ठीक होने पर भी डील डौल में छोटा प्रतीत होनेके कारण इसको परीक्षामें नही बैठने दिया गया। इस घटनाके समय इस कुमार के कोमल मनको कितना धक्का लगा होगा—इसकी कल्पना करना कुछ कठिन नही। दुर्भाग्यके कठोर आघात को धीरतासे सहन करके यह युवक पुन. अपने गाँव मुरुडको वापस लौटने लगा। इस तरुणके जीवनकी इस प्रारभिक घटनासे उसकी वीरता और ध्येय-निष्ठा का सहज ही भान हो सकता है। इसी तरुणने आगे जाकर पूनामें "हिन्दू विधवा-आश्रम" और "भारतीय महिला-विद्यापीठ" की स्थापना करके भारतके महान समाज-सेवक और सुधारकका गौरव प्राप्त किया। यही युवक संप्रति अपनी त्यागवृत्ति, तपस्या, सेवा, भावना और ध्येय-निष्ठाके कारण महाराष्ट्र और भारत-राष्ट्रमें महर्षि अण्णा साहव धोंडो केशव कर्वे के रूपमें पूजित हो रहा है। इसी तपस्वीने भारतकी विधवाओ के करुणक्रंदनको सुनकर, उनके उद्धारको ही अपने जीवनका ध्येय बनाया था।

१८ अप्रैल, सन् १८५८ में कोकण प्रदेशके मुरुड़ नामक गाँवमें कर्वेका जन्म हुआ। उन दिनों गाँवकी पाठशाला मदिरमें ही लगा करती थी। वहींपर ग्राम-शिक्षक द्वारा इनका शिक्षण प्रारभ हुआ। उन दिनो गाँवोमें लकडीकी पटियापर धूल बिछाकर अक्षर ज्ञान कराया जाता था। ऐसी लकड़ीकी पटियापर ही बालक कर्वेने मराठी अक्षरोंका परिचय प्राप्त किया। प्राथमिक शिक्षण तथा अँग्रेज़ीकी चार कक्षाएँ मुरुड़में ही पूरी हुई। इसके बाद वे बम्बई आ गए और आगेकी शिक्षा वही प्राप्त की। सन् १८८४ में एल-फिन्स्टन कॉलिजसे बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। गणित इनका प्रिय विषय था। कॉलिजमें महामना गोपालकृष्ण गोखले इनके सहपाठी थे। बी० ए० पास करके बम्बई में ही रहकर यह आई० सी० एस० की तैयारी करनेवाले दो छात्रोको गणित पढ़ाया करते थे।

उन्ही दिनो पूनाके सुविख्यात फरग्यूसन कॉलेजमें महामना गोखले अध्यापन-कार्य कर रहे थे। उनके निमत्रणपर ये पूना आ गए और उक्त कालेजमें गणित शास्त्रके प्राध्यापक बन गए। और कालेजकी स्वामिनी सभा "दक्षिणशिक्षा-समिति" के आजीवन सदस्य बन गए। वहाँ बीस वर्ष तक यशस्वी रूपमें सेवा-कार्य करके सन् १९१४ में निवृत्त हुए। फरग्यूशन कॉलेजमें अध्यापन करते समय ही आपका वहाँ के कई त्यागी, तपस्वी लोक-सेवको और समाज-सुधारकोसे परिचय हुआ। आपके अतिनिकटके आत्मीय जन डॉक्टर रघुनाथ पुरुषोत्तम पराजपे (गणित केसरी) ने भी आपकी छत्रछायामें ही विद्या और लोक-सेवाकी शिक्षा और प्रेरणा प्राप्त की।

उस कालकी प्रथाके अनुसार चौदह वर्षकी उम्रमें ही आपका विवाह हो गया था। उस समय पत्नीकी उम्र आठ वर्षकी थी। महाराष्ट्रमें वह जमाना घोर रूढ़िवादका था। अपने गाँव मुरुडमें रहते हुए तरुण कर्वेने अपने सगे सबधियोंके घरमें विधवाओ के प्रति होने वाले असह्य अत्याचारोको अपनी प्रबुद्ध आँखोसे निहारा था। हिन्दू-विधवाओ के दु खभरे चीत्कारोको सुनकर कर्वेका हृदय काँप उठता था। वैधव्यकी यातनाओको निहार-निहारकर उनकी मनोव्यथाका कोई पार नही रहा।

पूना आकर प्राध्यापक बननेके दूसरे वर्ष में ही आपकी पत्नीका देहान्त हो गया। उस समय द्वितीय विवाहके लिये आपके पास अनेक कुलीन कुटुबोकी कुमारी कन्याओके अभिभावकोके प्रस्ताव आए। परन्तु आपका निश्चय था कि विवाह करूँगा, तो विधवा से ही करुगा।

उस युगमें विधवा-विवाह करना कोई मामूली बात नही थी। सगे-सबधियोका क्रोध और बिरादरीका बहिष्कार सहन करना पडता था। माता-पिता और भाई-बहनोसे भी सबध छोडकर अकेला और असहाय हो जाना पडता था। इन सब सकटो की सभावना होते हुए भी आपने विधवाके साथ ही विवाह किया। विवाह के पश्चात् दोनो अपने माता-पिताके पास गए। उस समय माता-पिताने एक दरीपर उनके साथ बैठनेसे इन्कार कर दिया। बहुत दिनो तक बोलने चालनेका सबध भी नही रखा। अन्तमें बहुत दिन बीत जानेपर उनके हृदय परिवर्तित हुए। तथापि आपकी बिरादरी वालोने आपका सामाजिक बहिष्कार कर दिया जो अब तक चालू है। आपका यह विवाह आपके द्वारा उठाये हुए विधवा-विवाह आन्दोलनके लिए मार्गदर्शक हो गया। विवाहके कुछ समय पश्चात् आपने विधवाओके विवाहकी व्यवस्था के लिए एक सस्था स्थापित की। इसके प्रथम सभापति महाविद्वान रामकृष्ण गोपाल भाडारकर बने। अपने साहस त्याग तपस्या और निष्ठाके कारण इस प्रवृत्तिमें श्री कर्वेको अनेक गण्यमान्य महानुभावोका सहयोग और स्नेह प्राप्त हुआ। समय बीतनेपर श्री कर्वे ने अनुभव किया कि विधवाओंकी सेवा और सहायताका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उनको शिक्षा दी जाय तथा स्वावलबी बनाया जाय। तभी वे समाजमे अपना जीवन मानपूर्वक बिता सकेंगी। यही सोचकर सन् १८९६ में आपने "हिन्दू विधवा-आश्रम" की स्थापना पूनासे चार मील दूर हिंगणें नामक एकात स्थानमें की। आज इस आश्रम में भवनोकी कीमत कोई दो लाख रुपया है। परन्तु प्रारम्भमे एक छोटी सी पर्णशालामें इसका श्रीगणेश किया गया था। वहाँ तक पहुँचनेके लिए कोई अच्छा रास्ता नही था।

अनेक वार आश्रम कुटीरके छप्परोसे वर्षाका पानी टपकता रहता था और वालिकाओंके शरीरको पानीसे बचानेके लिए घासकी चटाइयाँ ओढानी पड़ती थी। वर्षा ऋतु में तो आश्रम तक पहुँचना भी वहुत कठिन था। परन्तु श्री कर्वे प्रति दिन आश्रम जानेमें चूकते नही थे।

कॉलेजमें दिन-भर कठोर परिश्रम करनेके वाद आप प्रति दिन आश्रम जाने के लिए आठ मीलकी यात्रा पैदल तै किया करते थे। घरमें गृहिणी अथवा वालकोंकी वीमारी होनेपर भी आश्रममें जाना उनके लिए देव-मन्दिरमें जानेके समान आवश्यक था। इस आश्रमके विकासका सम्पूर्ण श्रेय आपको ही है। यह दु:साध्य और महान कार्य आपकी साधना और तपस्यासे ही हुआ है। आजकल इस आश्रममें कुमारी, परिणीता और विधवाओको मिलाकर ढाई सौ से ऊपर विद्यार्थिनियाँ हैं। इस आश्रममें इन दिनो एक हाई स्कूल, एक ट्रेनिंग स्कूल, एक प्रेक्टिसिंग स्कूल और एक छात्रावास चल रहा है। अनेक स्त्रियोको उच्च शिक्षाके लिये विदेश भी भेजा गया है। पूना ही नही वरन समस्त महाराष्ट्रमें यह सस्था अपना विशेष स्थान रखती है।

आपने स्त्री-शिक्षापर अपना सारा जीवन लगा दिया है। आपमें वस्तु स्थितिको भाँपकर शीघ्र ही निर्णयपर पहुँच जानेकी अद्भुत क्षमता है। आपके विचारके अनुसार स्त्री-शिक्षाका उद्देश्य सुयोग्य गृहिणी, प्रेममयी माता और उत्तम पड़ोसी वनाना होना चाहिए। प्रकृतिने स्त्रियोको जो विशेष शक्ति, क्षमता और कार्य सौंपे है, उनका सुन्दर विकास स्त्री-शिक्षाका सच्चा ध्येय है। इस दृष्टिसे जापानमें चलनेवाली स्त्री-शिक्षाकी प्रणाली आपको वहुत पसंद आई। आपने एक महिला विद्यापीठ स्थापित करनेका निश्चय किया। आपके इस विचारकी पहले वड़ी कटु आलोचना और विरोध किया गया। परन्तु आप धीर, गंभीर और वीर पुरुष हैं। विरोधियोकी टीकाओ की कुछ भी परवाह न करके आपने सन् १९१६ में विधिवत् महिला विद्यापीठकी स्थापना की। इसके प्रथम कुलपति डॉ० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर तथा उप कुलपति डॉक्टर रघुनाथ पुरुषोत्तम पराजपे वनाये गए। शीघ्र ही इसकी एक नियामक सभा वनाई गई और वम्वईकी राष्ट्रीय सामाजिक परिषद्में विद्यापीठकी घोषणा की गई।

आपकी यह सम्पूर्ण योजना और कार्यशैली वम्वईके प्रसिद्ध उद्योगपति सर विट्ठल दास ठाकरसीको वहुत पसद आई। उन्होने इस महिला-विद्यापीठको पंद्रह लाख रुपये का एक वड़ा दान दिया। सर विट्ठलदासजीकी माताजीके नामपर संस्था का नाम श्रीमती नाथी वाई दामोदर ठाकरसी महिला विद्यापीठ रखा गया। आपने स्वयं भी समस्त देशमें घूमकर वहुत द्रव्य एकत्र किया। महाराष्ट्र और गुजरातमें इसकी कई शाखाएँ खोली गई। इस प्रकार संप्रति हजारो कन्याएँ और महिलाएँ इन संस्थाओमें अपने जीवनोत्कर्षकी सर्वांगीण तालीम प्राप्त कर रही है। यह संस्था अपने स्वरूपमें पूर्ण राष्ट्रीय रही है। पचास वर्ष पूर्व एक मामूली-सी झोपड़ीमें केवल ४–५ विधवाओं और कुमारी कन्याओको लेकर जिस कार्यका सूत्रपात किया गया था वह आज एक महान वट-वृक्षकी तरह फैल गया है।

इन सव संस्थाओंको आपने अपने खूनसे सीचकर वड़ा किया है। आज भारतका कोई भी शिक्षित व्यक्ति ऐसा नही है, जो इस यशस्वी संस्थाके नाम और कार्यसे परिचित न हो।

७१ वर्षकी वडी उम्रमें श्री कर्वेने अपने इस आदर्श शिक्षणालयका परिचय देनेके लिए तथा उसके लिए आर्थिक सहयोग प्राप्त करनेके लिए विश्वका परिभ्रमण किया।इस विश्व यात्रामें आपको पर्याप्त सफलता मिली। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुरने पत्र द्वारा सस्था का अभिनन्दन किया और महात्मा गाधीजीने स्वय हिंगणें जाकर अनाथ बालिका और महिला विद्यापीठको आशीर्वाद दिाय। महिला उन्नतिके किसी भी कार्यकी आपने उपेक्षा नही की। आपके शिक्षणालयमें शिक्षा पाई हुई महिलाओंमें एक विशेप प्रकार का आत्मविश्वास पैदाहो जाता है। कुटुवमें, समाजमें और विश्वमें स्वावलम्बन और स्वातत्र्यके साथ अपना कर्तव्य पूर्ण करनेकी क्षमता और दृष्टि उनमें समा जाती है। सन १८१८ से १८२७ तक इस विद्यापीठने २३ ऐसी महिलाए तैयार की जो सर्वथा स्वावलम्वनके आधार पर लोक-सेवा का कार्य कर रही थी। यह विद्यापीठ महिलाओके लिए वरदान सिद्ध हुआ है और अतर्भारतीय सस्कृति का सगम वन गया है। महाराष्ट्रमें इसने महिलाओ की उन्नतिके क्षेत्रमें जो कार्य किया है वह उसके सामाजिक समुत्थानमें विशेप महत्व रखता है। महर्षि कर्वे आदर्श समाज-सेवक है। आपकी भावना सकीर्ण राष्ट्रवादी नही है, आप तत्त्वत मानवतावादी है। मानवता और समताके उपासक है। सवके सुखमे सुखी होना और दु खमें दुखी होना यही आपका धर्म है।

आपने अपने जीवनकी इन सारी क्रातिकारी गाथाओको मराठीके "आत्म वृत्त" नामक ग्रथमें विस्तारसे लिखा है। "यह आत्म वृत्त" भारतीय साहित्यके आत्मचरित्रोमें विशेप महत्व रखता है। इसमें महाराष्ट्रके लगभग एक शतीके सामाजिक समुत्थान, महिला जागरणकी स्फूर्त्तिदायक कहानी दी गई है। इसको पढकर अनेक पुराणमतवादियोके विचारोमें अद्भुत परिवर्तन आया है। इस परिपक्व वृद्धावस्थामें भी आपका जीवन अतिशय नियमित, सयत और परदु खकातर है। आपके ज्येष्ट सुपुत्र डा० रघुनाथ कर्वे वम्वईके विल्सन कालेजमें प्राध्यापक थे और कामशास्त्रमे विशेपज्ञ थे। द्वितीय अफ्रीकामें चिकित्सा-व्यवसाय करते है और तृतीय पुत्र डॉक्टर दिनकर कर्वे पूनाके सुप्रसिद्ध फरग्यसन कॉलेजके प्रधान आचार्य है। आधुनिक युगके इस महर्षिको हमारा शतत प्रणाम है।

— ०० —

श्री विष्णु प्रभाकर

स्वामी दयानन्द

फर्डिनेण्ड लासेलने लिखा है . "शासन पद्धति सम्बन्धी प्रश्न मुख्यत अधिकारका प्रश्न नही वरन् शक्तिका प्रश्न होता है। किसी देशकी वास्तविक शासन-पद्धतिका अस्तित्व उस देशमें पाई जानेवाली शक्तिकी वास्तविक दशामें ही होता है। इसलिये राजनीतिक रचनाओका मूल्य और स्थिरता तभी होती है जब वे समाजमें कार्यत विद्यमान शक्तियोकी अवस्थाओको ठीक-ठीक प्रकट करती है। . इसलिए जो भी शक्ति अपनी सफलता चाहती है उसे पहले समाजकी शक्ति को माप लेना जरूरी है। जिन देशोने गुलामीके बन्धन तोड़े है, या किसी और रूपमें प्रगति की है, उन्होने सबसे पहले ऐसी ही सामाजिक शक्तिका सचय किया था। अरब जातिकी अद्भुत राजशक्तिका कारण हजरत मोहम्मद का इस्लाम मत था जिसने उस क्षीण जाति में सामाजिक क्रांति पैदा करके उसे ऊपर उठा दिया। लूथरने जिस सुधार घोषणाका स्वर उठाया था उसीने आगे चलकर सारे यूरोपमें राजनीतिक उथल-पुथल मचा दी। प्राचीन भारतमें तथागत बुद्धकी सामाजिक क्रांतिकी नीवपर ही चन्द्रगुप्त और अशोकके साम्राज्य स्थापित हुये थे। गुरु नानककी सामाजिक विचारधारा गुरु गोविन्दसिंहके समयमें आकर राजनीतिक शक्तिका कारण बनी। हमारी वर्तमान मुक्तिका आधार भी पिछली शताब्दीकी सामाजिक क्रांति ही थी। उसीकी नीवपर बादमें स्वतन्त्रता-संग्रामका महल खड़ा हुआ।

वैसे तो भारतमें यह क्रम ऐतिहासिक रूपसे तथागत बुद्धसे आरम्भ होता है। परंतु तेरहवी शताब्दी और उसके आसपास जितने सुधार-आन्दोलन का जन्म हुआ उनका कारण मुस्लिम सम्पर्क था। उसी प्रकार १९ वी शताब्दीमें जितने सुधार-आन्दोलनो का जन्म हुआ उनका कारण यूरोपियनों विशेषकर अग्रेजोका आगमन था। मुगल साम्राज्य यो तो सन् १८५७ तक चलता रहा किन्तु वास्तवमें उसका अन्त १७५७ में ही हो गया था। १९ वी शताब्दीकी द्वितीय दशाब्दीमें मराठोकी शक्तिका अन्त भी हो गया और चौथी दशाब्दीमें (१८३९) सिक्ख साम्राज्यके नेता महाराज रणजीतसिंह की मृत्यु हो जानेपर अग्रेज भारतके वास्तविक शासक बन गए। जैसा कि सदा होता है इन विजेताओके साथ इनकी सभ्यता और सस्कृति भी इसदेशमें आई। शुरू-शुरूमें ईसाई धर्म प्रचारकोने हिन्दू धर्मपर खुले हमले किये। उस समय दोष चुन-चुनकर उसकी खिल्ली उड़ाना ही पादरियोका धर्म रह गया था। इसलिये इस कालमें सुधार-आंदोलनो उसकी के जन्मका एक कारण इस आक्रमणका प्रतिकार करना था। परन्तु मात्र यही कारण

नहीं था। आक्रमणके बावजूद पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा ने भारतवासियोंको बहुत प्रभावित किया। ब्रिटिश शासन और ईसाई प्रचारकोंके सम्पर्कसे उनमें नई चेतना उसी प्रकार पैदा होने लगी कि जिस प्रकार द्वार बन्द हो जानेपर भी सूर्यका प्रकाश अन्दर पहुँच ही जाता है। राजा राममोहन राय (१७७४–१८३३) ने सन् १८२८ में ब्राह्म समाजकी स्थापना और सन् १८२९ में सती और बाल हत्या जैसी बर्बर प्रथाओंको राज्य के कानून द्वारा बन्द करवानेकी चेष्टा की। आचार्य जावडेकरके शब्दोंमें, "हिन्दू धर्ममें सुधार किए जाएँ, एकेश्वरी धर्मका सर्वत्र प्रचार करके यह बताया जाए कि सब धर्मोंका अंतरंग एक ही है और इस तरह ससारके धर्मभेदोंका अन्धकार दूर करनेवाले सार्वत्रिक विश्व-धर्मके सूर्यका प्रकाश सर्वत्र फैलाना उनकी बडी महत्वाकाक्षा थी।" (आधुनिक भारत पृष्ठ ५२) वे ईसाई धर्मको हिन्दू धर्मसे किसी प्रकार अच्छा नहीं मानते थे। परन्तु वे मानते थे कि ईसाइयोंमें बहुत से अच्छे लोग हैं।

ब्राह्म समाजी पश्चिमी शिक्षासे बहुत प्रभावित हुए और आगे चलकर ब्रह्मानन्द केशव बाबूके समयमे तो वे वेदोंके 'ब्रह्म' से बहुत दूर हट गए। ब्राह्म समाजका प्रभाव केवल बंगाल ही तक सीमित रहा। लेकिन बम्बई और अहमदाबादमें इसीसे मिलते-जुलते एक और सुधार-आन्दोलन का आरम्भ हुआ। महाराष्ट्रमें सुधार-आंदोलन १९ वीं शताब्दीके आरम्भसे ही चल पडा था। इन्हींकी नींवपर सन् १८६७ में प्रार्थना समाजकी स्थापना हुई। लेकिन इसके नेता हिन्दू धर्मके बड़े नेता थे और प्रार्थना-समाज को उसका एक सुधारक पथ मानते थे। यह समाज भी बहुत जोर नहीं पकड सका, क्योंकि सन् १८८० में तिलक और आगरकरने आजन्म देश-सेवाकी दीक्षा लेने वालो का दल खडा करने की जो अपूर्व प्रथा डाली उससे प्रार्थना-समाजकी सुधारक-मडली का तेज फीका पडने लगा। इस कालके दूसरे समाज-सुधारक-आंदोलनोंमें ईश्वरचन्द विद्यासागर का विधवा-विवाह-आन्दोलन उल्लेखनीय है। रामकृष्ण परमहस यद्यपि इस प्रकारके सुधारक नहीं थे लेकिन उन्होंने विवेकानन्दका निर्माण करके लोक-सेवा और राष्ट्रीयताको प्रमुखता दी। "भौतिक प्रगति को और प्रवृत्ति-परताको प्रधानता देकर वेदान्तको कर्म-प्रबल बनाना, ईसाई पादरियोंकी तरह धर्माचरणमें लोक-सेवाको प्रधानता देना और धर्मके आधारपर राष्ट्रभक्ति और स्वाभिमानकी ज्योति जलाकर लोगोंमें स्वाधीनताके विरुद्ध क्रातिका भाव फैलाना स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशनका उद्देश्य था।"

स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इसी कालमें आर्य समाजको लेकर सामने आए। कई रूपो में यह आन्दोलन सबसे व्यापक था। यद्यपि पजाब इनका मुख्य केन्द्र माना जाता था परन्तु इसका प्रभाव आजके उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बंगाल, बिहार आदि पर भी पडा था और खूब पडा था। स्वामी दयानन्द एक बातमें भिन्न थे। दूसरे आन्दोलन किसी न किसी रूपमें पश्चिमी सभ्यतासे प्रभावित थे परन्तु स्वामी दयानन्द प्राचीन सभ्यताके प्रबल समर्थक थे। वे संस्कृतके प्रकाण्ड पडित थे और अंग्रेजीसे अनभिज्ञ तथा संन्यासी होनेके कारण पश्चिमी सभ्यताका उन पर कोई सीधा प्रभाव नहीं था। उन्होंने मथुराके दण्डी स्वामी विरजानन्दसे शिक्षा ग्रहण करके उन्हींकी आज्ञासे तत्कालीन भारतमें फैले हुए पाखण्ड और अविद्याके विरुद्ध जहाद बोल दिया। इनकी समान

शिक्षाये वेदोपर आधारित थी। इन्होने वेदोंसे प्रमाण देकर सिद्ध किया कि परमेश्वरके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान वेदोमे है। वेदाध्ययनका अधिकार सब मनुष्योको है। मूर्त्ति-पूजा, वेद-विरुद्ध हैं। श्राद्ध भी वेद-विरुद्ध हैं। चातुर्वर्ण जन्म सिद्ध नही किन्तु गुण और कर्म पर अवलम्बित है। समुद्र-यात्रा, खान-पान और अतर्जातीय विवाह वर्जित नही हैं। विधवा-विवाह भी उचित है। अस्पृश्यता त्याज्य है।

स्वामी दयानन्दकी विचारधारा कुछ अंशोमें राजा राममोहनरायकी विचारधारा से मिलती थी। लेकिन वादमें उनमें बहुत अन्तर आ गया। आज बीसवी शतीके उत्तरार्धमें इन सुधारोका मूल्यांकन करनेमें बेशक हम समर्थ न हों सकें लेकिन आजसे १०० साल पहलेकी स्थितिमें अपनेको रखकर यदि हम उनपर विचार करेंगे, तो निस्सदेह इस निर्णयपर पहुँचेगे कि स्त्री शिक्षाका व्यापक प्रचार तथा अछूतपन और वर्जनशीलता का घोर विरोध करके ही स्वामी दयानन्दने भारतकी राजनीतिक क्रातिका मार्ग प्रशस्त किया था। उस कालमें जब विवाहित स्त्री पुरुषका दिनमें एक-दूसरेका मुँह देखना पाप समझा जाता था, तब स्वामी दयानन्दने यह घोषणा की—"प्राचीन कालमें स्त्रियो को विद्या प्राप्तिका अधिकार था। वे आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत धारण करती थी और साधारण स्त्रियोके भी उपनयन और गुरुगृहमें वास आदि सस्कार होते थे।" उन्होंने 'स्त्री शुद्रौना-धियाताम' का खडन करके "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" इस मत्रकी घोषणा की। वस्तुत' एक नेताके शब्दोमें "ऋषि दयानन्द १९ वी शताब्दीमें नारी जातिको अपने गौरव-शाली पूर्व पदपर स्थापित करानेके लिए मसीहाके रूपमें अवतरित हुए।"

हमारे समाजके जिस दूसरे अंगके लिए स्वामी दयानन्दने अपने जीवनकी बाजी लगाई वह तथाकथित शूद्रोका था। तथागत बुद्धके कालसे लेकर अनेक सन्त और महात्मा इस बुराईको मिटानेकी चेष्टा कर रहे थे लेकिन उसका कोई विशेष प्रभाव समाज पर नही पड़ सका था। इसका प्रमुख कारण यह था कि ये लोग धर्म और समाज-व्यवस्था को एक मानकर चलते थे। वे धार्मिक अधिक सुधारक कम थे। दयानन्द पहले सुधारक थे जिन्होने इस ओर सक्रिय कदम उठाया। उन्होने अपनी ओजस्वी वाणीमें उनके लिए समानाधिकार का प्रतिपादन किया। बतलाया "यदि परमेश्वरका अभि-प्राय शूद्रोको पढानेके विषयमें न होता तो उनके शरीरमें वाक और श्रोत्र इन्द्रियाँ क्यो रचता। जहाँ कही निषेध किया है उसका अभिप्राय यह है कि जिसको पढने-पढाने से कुछ नही आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होनसे शूद्र कहाता है।" श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने ऋषि दयानन्दके प्रमाणोंके आधारपर ही शूद्रोको वेद पढानके अधिकारकी व्यवस्था की। 'यथे माम वाचनम् कल्याणी मा वदानि जनेभ्य' आदि मंत्रोका ठीक-ठीक अर्थ समझाया। किसानोको वास्तविक राष्ट्र निर्माता बतलाते हुए स्वामीजीने लिखा—"राजाओका राजा किसान आदि परिश्रम करनेवाले है और राजा उनका रक्षक है।" अपने जीवनके अन्तिम कालमें तो उन्होने तत्कालीन वर्ण व्यवस्थाको मरण व्यवस्था कहा। उनका मत था कि प्राचीन कालमें एक वेदोक्त धर्म होनेके कारण खान-पान और विवाह आदि व्यवहार सारे भूगोल में परस्पर होते थे। जबसे ईसाई मुस्लिम आदिके मत मतान्तर चले, आपसमें वैर-विरोध हुआ, उन्होने मद्यपान और मांस आदि का खान-पान स्वीकार किया उसी समयसे भोजनादिमें बखेड़ा हो गया।"

इस प्रकार समुद्र यात्राका समर्थन करते हुए उन्होने कहा—"प्रथम आर्यवर्त देशी लोग व्यापार, राजकार्य और भ्रमणके लिए सब भूगोलमें घूमते थे। और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होनेकी शंका है, वह केवल मूर्खोके बहकाने और अज्ञान बढनेसे है। . धर्म हमारी आत्मा और कर्तव्यके साथ है। जब हम अच्छा काम करते है, तो हमको देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर जानेमें कुछ दोप नहीं लग सकता। दोप तो पाप करनेमें लगता है।"

इस प्रकार सहस्रो वर्षोंसे रूढियो और अन्धविश्वासोंसे ढके हुए हिन्दू धर्मको स्वामी दयानन्दने उसके सच्चे रूपमें प्रकट किया। उन्होने धीरे-धीरे चलनेकी नीति नही अपनाई। बल्कि घनकी चोट की। इस दृष्टिसे वे अपने समकालीन सुधारकोंसे बहुत आगे है और इसी कारण वे उग्र भी मालूम देते है। उन्होने नीर्भीकताके साथ या कह सकते है किसी सीमा तक क्रूरताके साथ जो कुछ उन्हें बुरा लगा उसे स्पष्ट रूपमें कहा। उन्होने वेदोंके अतिरिक्त किसी भी धर्मग्रथको माननेसे इन्कार कर दिया। उन्होने मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ और पौराणिक कर्मकाण्डको एकदम निपिद्ध घोपित किया। उनकी इन बेलाग और उग्र वातोका एक परिणाम यह हुआ कि उनका विरोध अति प्रवल हो उठा। वे प्रचण्ड तार्किक थे। विद्वान भी थे। लेकिन जिस समय वे उग्र हो उठते थे उस समय भारतीय सन्त परम्परासे बहुत दूर दिखाई देने लगते थे। उन्हीके समकालीन रामकृष्ण परमहस जब उनसे मिलनेके लिए गए तो उस भेंटका उन पर जो प्रभाव पडा उसका वर्णन उन्होने इस प्रकार किया है· "दयानन्दसे भेंट करने गया। मुझे ऐसा दिखा कि उन्हें थोडी बहुत शक्ति प्राप्त हो चुकी है। उनका वक्षस्थल सदैव आरक्त दिखाई पडता था। वे वैखरी अवस्थामें थे। रात दिन लगातार शास्त्रोकी ही चर्चा किया करत थे। अपने व्याकरण ज्ञानके बल पर उन्होन अनेक शास्त्र वाक्योके अर्थमें उलट फेर कर दिया है। मै एसा करूँगा। मै अपना मत स्थापित करूँगा? एसा कहने में उनका अहकार दिखाई देता है।"

एक सन्त पर दयानन्दका यही प्रभाव पड सकता था। परन्तु ऊपरसे दिखाई देनेवाले इस रूपके भीतर वह कुछ और भी थे। अहकार उनमें भले ही रहा हो, पर अपनेको उन्होने बडा कभी नही माना। उन्हाने बहुत बडा दावा भी नही किया। वे तो अपने चारो ओर फैले हुए पाखण्ड को देखकर तिलमिला उठे थे और उसको दूर करनेके लिए उन्होने चारो ओर प्रहार करना भी आरम्भ कर दिया था। पर इस प्रहार में द्वेप नही था, घृणा नही थी। बेशक उनका मूल्याकन सही न हो लेकिन उद्देश्य खरा था। उन्होने कहा है —"मेरी कोई नवीन कल्पना या मत मतान्तर चलानेका लेश-मात्र भी अभिप्राय नही है। किन्तु जो सत्य है उसे मानना मनवाना और जो असत्य है, उसको तोडना-तुडवाना अभीप्ट है। यदि मै पक्षपात करता, तो आर्यावर्तके प्रचलित मतो में से किसी एक मतका आग्रही होता। किन्तु जो-जो आर्यवर्त व अन्य देशोमें अधर्म-युक्त चाल चलन है, उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें है, उनका त्याग नही करता, न करना चाहता हूँ, क्योकि ऐसा करना मनुष्य-धर्मके बाहर है।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य क्या था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उन्होने वेदोंके अतिरिक्त किसी भी धर्म-ग्रथ को माननेसे इन्कार कर दिया था। इसी

मान्यताके परिणामस्वरूप उनका वह एकता सम्मेलन विफल हो गया था, जो उन्होने जनवरी सन् १८७१ के कैसरी दरवारके अवसरपर वुलाया था। वर्तमान भारतमें विभिन्न धर्मावलम्बियोको एक मंचपर लानेवाला वह पहला सम्मेलन था। स्वामीजी ने इसमें यह प्रस्ताव रखा था कि यदि हम सव लोग एकमत हो जाएँ और एक ही रीति-से देशका सुधार करें, तो आशा है, देश शीघ्र सुधर जाएगा।

लेकिन ऐसा हो न सका। इस सभाके एक सभासद वावू नवीनचन्द्ररायके शव्दो में "इस विषयमें वहुत वात-चीत हुई। पर मौलिक विश्वास में हम लोगोंका उनसे मतभेद था इसलिए जैसा वे चाहते थे एकता न हो सकी।" वावू केशवचन्द्र सेन की जीवनीमें भी इस घटनाका स्पष्ट उल्लेख है—वावू केशवचन्द्र सेन जव फिर दिल्लीमें स्वामीजीसे मिले, तो उन्होने कहा कि वे वहुत वातोमें उनसे सहमत है लेकिन एक वात उनकी समझमें नही आती कि विना वेदका सहारा लिए धर्म शिक्षा कैसे दी जा सकती है।" इन वातोसे और उनके तमाम जीवनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वेदोको ही सव कुछ मानते थे। आज वेदोंको अपौरुपेय कहना वेशक हँसीकी वात जान पड़ती हो लेकिन उस कालमें इसीके आधारपर उन्होने अपने आन्दोलनको चलाया। इससे जान पडता है कि व्यावहारिकतामें वे वहुत निपुण नही थे। लेकिन वात ऐसी ही नही है। तसवीरका एक और पहलू है जिसे उनके अनुयायी देखनेसे इन्कार कर देते है। हमने उनके जीवनको और भी कई लोगोकी दृष्टिसे देखनेका प्रयत्न किया है। उसमें कई अद्भुत वातें मालूम हुई हैं। वावू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्यायने अपने जीवनके २० वर्ष खपाकर स्वामी दयानन्दकी जीवनी के सम्वन्धमें वहुत सी सामग्री इकट्ठी की है। वे आर्यसमाजी नही थे लेकिन जिस अपूर्व श्रद्धासे उन्होने स्वामीजीके जीवनपर प्रकाश डाला वह उनकी लगनको प्रमाणित करता है। उन्होने लिखा है कि "इस सम्मेलनके तीन साल वाद दिसम्वर १८८० में स्वामीजी आगरा गए और सेंट पीटर्सके विशप महोदयसे उन्होने कहा—"यदि हम और आप तथा अन्य धर्मोके वुद्धिमान नेता केवल उन वातो का प्रचार करें, जिन्हे सव मानते हैं, तो एकता स्थापित हो सकती है। हमारे मुकावले पर फिर नास्तिक ही रह जाएँगे।"

इस वातसे जान पडता है कि स्वामीजीने उस समय वेदोपर जोर देना छोड़ दिया था। अहमदावादके सामाजिक नेता रायवहादुर भोलानाथ सारा भाईके जीवन चरित्र में एक और अद्भुत घटनाका वर्णन मिलता है। स्वामी दयानन्दको उसमें डिप्लोमेटिक रिफोर्मर कहा है। "एक समय भोलानाथने दयानन्दसे कहा, 'स्वामीजी आप वेदोको ईश्वर प्रणीत वतानेका प्रयत्न करते हो सो वुद्धिमान लोगोके सामने तो व्यर्थ है।' इस पर दयानन्दने कहा—"यह सव वात तो सच है परन्तु भोलानाथजी ऐसा समझाए सिवाय लोग सव अपने संग कैसे आने वाले और अपनी गाडी चले कैसे।"

इसी सम्वन्धमें एक और वातका पता चला है। कहते है कि स्वामीजी ने देहरादून के वावू ज्योति प्रसादजीको एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होने स्वीकार किया था कि वेदोमें अनेक गलतिया है। पहले मैं उन सवका अर्थ कर लूं फिर उसके वाद उन गलतियो को छाटूंगा। एक समय आर्य समाजमें उस पत्रको लेकर वडा आदोलन उठा था। पर वादमें कहते हैं, वह पत्र नष्ट कर दिया गया। हमें इस विवादमें पड़नेकी जरूरत

नही है लेकिन उनके जीवनका अध्ययन करनेपर हम इस निश्चयपर पहुँचते है कि स्वामी दयानन्दका निरन्तर विकास हुआ है। हमारा अनुमान है कि प्रारम्भमें वे वेदोपर बहुत जोर देते थे परन्तु अन्तमें वे इस बातको समझने लगे थे कि यह बात इतनी आवश्यक नही है। सत्यार्थ प्रकाश लिखते या लिखाते समय उनकी जो मान्यताएँ थी पूनाके व्याख्यानमें वह उनसे बहुत आगे बढ गए है। उन्ही व्याख्यानोमें उन्होनेविधवा-विवाहको स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया हैं।

स्वामीजी समयको भी देखते थे। खानपानमें भेद न मानकर भी उन्होने सर सैयदके घर भोजन नही किया। ऐसा करेंगे, तो लोग हमें मुसलमान कहेंगे और हमारी बात न सुनेंगे। ऐसा उनका मत था। हमारा विश्वास है कि यदि वे कुछ दिनो और जीवित रहते, तो वेदोपर उनके नए मन्तव्योका हमे लाभ मिलता। उन्होने पडित हरिश्चन्द्रसे कहा था —मेरा उद्देश्य सबको आपसमें मिलाना है। जैसे जुडे हुए हाथ। मै कोलसे लेकर ब्राह्मणतकमें जातीयताकी ज्योति जगाना चाहता हूँ। मेरा खडन हित सुधारके लिए है।" इस कथनमें उनके सारे जीवनका उद्देश्य समा गया है। क्या यह आश्चर्यजनक बात नही है कि उन्हें मुसलमानोका सबसे बडा विरोधी कहा गया है लेकिन आर्यसमाजकी नीव एक मुसलमानके बँगलेपर ही रखी गई थी। उनकी मृत्युके उपरात सर सैयद अहमदने जिन शब्दोमें उन्हें याद किया था वह इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि स्वामीजी किसीके विरोधी नही थे। वे सबके मित्र थे। सबका सुधार चाहते थे।

स्वामीजीने किसी नए धर्मका न प्रचलन किया और न किसी नए दर्शनका ही प्रतिपादन किया है। बल्कि उनकी मान्यताका आधार विशुद्ध वेदान्तही है। वैसे उन्हें विशिष्टाद्वैतका प्रतिपादक माना गया हैं। आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, वे तीनोको स्वतत्र रूपमें स्वीकार करते थे। लेकिन बहुतसे विद्वान मानते है कि वे मूलत अद्वैतके ही उपासक थे। वस्तुत एक महान समाज-सुधारकके रूपमें उनका जो योगदान है, दर्शनके क्षेत्रमे उनकी वैसी कोई मौलिक मान्यता नही जान पडती। उनके 'एकेश्वरवाद' को पैगम्बरी एकेश्वरवादके विरोधमें वैदिक एकेश्वारवाद कहा जाता है। पर हमारी मान्यता है कि ऐसी कोई बात नही थी वे द्वैतवादके समर्थक थे या अद्वैतके इस वाद-विवादमे पडकर हम तो यह मानते है कि वे परम आस्तिक थे। यहाँ तक कि उन्होने छहो दर्शनोको एक समान आस्तिक माना। इस क्षेत्रमे उनका सबसे बडा योग वेदोके अर्थ करनेकी रीतिमें है। उन्होने महिधर, सायण और दूसरे पाश्चात्य विद्वानोकी प्रचलित मान्यताओं का खडन करके निरुक्त प्रणालीको स्वीकार किया। उन्होने कहा—वेदमें केवल धर्म की ही बातें नही है, उसमें विज्ञानकी भी सारी बातें प्रच्छन्न है। इस क्षेत्रमें उन्हें सबसे बड़ा समर्थन मिला योगी अरविन्दसे। उन्होने लिखा "वेदोंके भाष्यके विषयमें मेरा पूर्ण विश्वास है कि अन्तमें चाहे वेदोका कोई भाष्य प्रामाणिक माना जाए, परन्तु स्वामी दयानन्दकी प्रतिष्ठा सबसे बढकर ही की जाएगी। क्योकि उन्होने सत्य अर्थोको खोज निकाला। अर्थात् धातुका अर्थ यौगिक शब्दोंसे निकालना उन्हींका काम था।"

"जब भारतमें गडबड और अविद्या तथा अन्धकारके घोर बादल छाए हुए थे और सदियोंसे जनता भ्रम जालमें फँसी हुई थी तब दयानन्दके चक्षुओंने दीर्घ दृष्टिसे उन दृश्यको देखा जिसने सत्यको प्रकट किया और जो कुछ भारतके लिए आवश्यक था उसपर वह

चट्टान के समान दृढ हो गए। उसने उस द्वारकी कुजीको पा लिया जो सहस्त्रो वर्षोंसे वन्द पड़ा था। और वन्द पड़े हुए स्रोतको तोड़कर शुद्ध पवित्र जलकी धारा वहा दी।

इस प्रकार स्वामी दयानन्दमें सतोकी नम्रता और निरहंकारिता भले ही न हो (और तत्कालीन हिन्दुत्वको निन्दित और आक्रान्त देखकर उनसे ऐसी आशा करना दुराशा ही थी), लेकिन इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उन्होने जो मार्ग अपनाया था, उसीपर चलकर नए भारतके निर्माताओने एक ऐसे तत्रका निर्माण किया जिसकी परिणति हमारी राजनीतिक ही नही मानसिक मुक्ति में भी हुई। ऊपरसे देखनेपर ऐसा लगता है कि स्वामीजीने देशमें कई नूतन अंधविश्वासोको जन्म दिया और उनके अनुयायियोकी संकीर्णता के कारण ऐसा हुआ भी तो नही, आर्यसमाज निर्जीव होकर क्यों रह जाता। लेकिन फिरभी यह दोप लगानेवाले इस वातको भूल जाते है कि उन्होंने ही आत्मविश्वासकी वह ज्योति जगाई थी, जिसके प्रकाशमें हमने आगे वढना सीखा। विकास-क्रममें वह एक अनिवार्य कडी थे। जनतंत्र और तर्कके इस युगमें जिसके सस्थापकोंमें वह स्वय थे, सवको मत प्रकट करनेकी स्वतन्त्रता है लेकिन इस तथ्यसे कोई भी इन्कार नही कर सकता कि जिस सत्य की खोजमें दयानन्दने राजसी वैभवको त्यागकर फकीरीका वाना पहना था वह आज प्रकट हो चुका है कि मनुष्य सव समान हैं। जन्मसे न कोई वडा है न छोटा।



श्री विनय घोष

राजा राममोहन राय

सन् १७७२ ई० मे राजा राममोहन रायका जन्म, वर्तमान हुगली जिलाके आराम-बाग महकमेके खानाकूल-कृष्णनगरके निकटवर्ती राधानगर गाँवमें हुआ था। उनके दादा कृष्णचन्द्र वन्दोपाध्यायको तत्कालीन नवाबकी ओर से 'राय-रायान्' उपाधि मिली। तभीसे वे लोग 'वन्दोपाध्याय' की जगह राय उपाधि धारण करने लगे। नवाबी शासन के कर्मचारी, विशेषकर राजस्व विभागके कर्मचारी अर्थोपार्जनकी विशेष सुविधा पाते और इसी कारण अपने नामसे वे जमीन्दारी आदि खरीद कर जमीन्दार और ताल्लुकदार बनते। राजा राममोहन रायका परिवार भी इसी प्रकारसे बना हुआ जमीन्दारी घराना था। नवाबी शासनके कर्मचारी स्वभावत ही अरबी और फारसीका अध्ययन कर मुसलमानी अदब-कायदा बरतते। राममोहनरायके परिवारमें भी नवाबी अदब-कायदेका प्रचलन था। कुलीन ब्राह्मणोका घराना होते हुए भी उनके परिवारमें सकीर्णता को स्थान नही था।

राजा राममोहन रायके बाल्य-जीवनका पूरा विवरण नही मिलता। फिर भी कुछ इधर-उधरकी बातोके आधारपर पता चलता है कि आरभमें उनको गुरु पाठशालामे भेजा गया। घरमें वे फारसी पढते थे। साधारणत उस समय उच्च हिन्दू परिवार के बच्चोको फारसी पढानेके लिए मुशी नियुक्त किए जाते। इसके बाद उनको पटना और काशीमें अरबी तथा सस्कृत पढानेके लिए भेजा गया। बाल्यकालमें ही राममोहन रायके तीन विवाहोकी बात बताई जाती है। कुलीन ब्राह्मण घरानेमें जन्म ग्रहण करके उन्होने बाल-विवाह, बहु-विवाह और सती-प्रथाके विरुद्ध बातें जान ली थी। बडे होने पर उन्होने उक्त सामाजिक कुसस्कारोके विरुद्ध सग्राम छेडा।

जीवनका अधिक समय अर्थात् प्राय पचीस वर्ष परिवारके कार्योमें ही बीत गया। उस समय तक उनके कार्यकलापोसे रवीन्द्रनाथके शब्दोमें 'भारत पथिक राममोहन राय' के लक्षण दृष्टिगोचर नही हुए थे। अग्रेज कलेक्टरोके साथ दीवान, मुख्तार आदि बनकर उनको भारतवर्षके अनेको स्थानोमें जाना पडा। प्राय १८०० ई० में उनका कलकत्ता आना-जाना आरभ हुआ। यहाँ धीरे-धीरे अग्रेजी राज्यके कर्मचारियो और व्यवसायियोंसे उनका परिचय बढने लगा। स्थायी रूपसे उन्होने कलकत्तेमें १८१४ ई० के आसपाससे रहना आरभ किया। उस समय वे एक धनी व्यक्तिके रूपमें थे। स्वाधीन रूप से जब वे तिजारत करने और कम्पनीके कागजोकी खरीद बिक्री करने तथा भू-सम्पत्तिकी

आय-वृद्धि करने लगे थे एव बीच-बीचमें सरकारी काम अथवा सरकारी नौकरी करने लगे थे उस समय उनकी वार्षिक आय बारह हजार रुपया थी । अर्थोपार्जनकी दृष्टिसे उनकी प्रवृत्ति आधुनिक यूरोपियन वणिकोंकी सी थी । अर्थ और विद्याका समन्वय एक साथ हुआ था ।

मध्ययुगमें सामाजिक प्रतिष्ठाका मानदण्ड वंश गौरव और स्थायी सम्पत्ति अथवा जमीदारी था । आधुनिक अर्थयुगमें आरम्भसे ही इस मापदण्डका गौरव क्षीण होने लगा और उसके बदलेमें चल सम्पत्ति अर्थात् रुपए और विद्याने स्थान ग्रहण कर लिया । राममोहन रायने युग धर्मके अनुरूप यथेष्ट धन और विद्याका अर्जन किया था । अरबी फारसी और सस्कृतके अलावा उन्होने अग्रेजोंके सम्पर्कमें आकर अंग्रेजीका भी अच्छा अभ्यास कर लिया था । अत कलकत्तेमें जब उन्होने अपना कारोबार आरंभ किया उस समय उनके पास धन तो था ही विद्याकी कमी भी नही थी । फलस्वरूप कलकत्ते के सामाजिक जीवनमें उनकी प्रतिष्ठा अच्छी थी ।

राजा राममोहन रायके कर्म-जीवनके कुल सोलह वर्ष हम कह सकते हैं । यह अवधि १८१४ ई० से १८३० ई० हैं । उम्रकी दृष्टिसे विचार करने से हम कह सकते हैं कि वे जीवनके सक्रिय क्षेत्रमें ४०–४२ वर्षकी उम्रमें उतरे और ५६–५८ वर्ष तक काम करते रहे । १९ नवम्बर १८३० ई० को उन्होने विलायत यात्रा की और २७ सितम्बर १८३३ ई० को उनकी मृत्यु हो गई । काफी परिपक्व अवस्थामें उन्होने जीवन-क्षेत्रमें प्रवेश किया था—यह उनके जीवन-चरित्रसे प्रकट है । इसके पूर्व वे धर्म-संस्कारकी ओर आकृष्ट हुए थे और इसपर उन्होने गंभीर चिन्तन भी किया था । पटनासे लौटने के बाद उन्होने अरबी और फारसीमें एक पुस्तक लिखी । सम्भवत. इसी पुस्तकका नाम 'मनाजेरातुल आदियान' था, जिसमें विभिन्न धर्मोपर गभीर आलोचना थी । उनकी 'तुहफातुल मुवाहीदीन' नामक पुस्तकमें इसका उल्लेख है । इस पुस्तकके रचना कालके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद माना जाता है । मिस कलेटका कहना है कि इस पुस्तककी रचना १८०३ ई० में हुई थी और डॉ० कार्पेन्टरका कहना है कि १८११ ई०में इस पुस्तकका मुद्रण मुर्गिदाबादमे हुआ था, किन्तु रचना कब हुई, इसके बारेमें उन्होने विशेप कुछ नही बताया । किन्तु इसमें कोई सदेह नही कि यह पुस्तक एक प्रौढ रचना है । इस पुस्तककी भूमिका अरबीमें है और मूल फारसीमें । अरबी और फारसीके विद्वानोका कहना है कि उनका इन दोनो भापाओके ऊपर असाधारण अधिकार था और उसका प्रमाण उनकी यह पुस्तक है । सायही इस पुस्तकमें वाल्टेयर और वलनी आदि प्रमुख यूरोपीय दार्शनिकोंके विचारोका प्रभाव भी दिखाई देता है । इसी प्रकारकी बातें इस पुस्तकके सम्बन्धमें आचार्य ब्रजेन्द्रनाथ शीलने भी कही है । ढाका गवर्नमेंट मदरसेके सुपरिन्टेन्डेन्ट मौलवी अब्दुल्लाने सर्वप्रथम १८८४ ई० में इस पुस्तकका एक 'ए गिफ्ट टू डीस्ट' नामसे अनुवाद किया । भूमिकामें राजा राममोहन रायने यह लिखा है कि उन्होने कई देशोका भ्रमण किया और सभी जगह उन्होने देखा कि जगतका पालनकर्त्ता एक ही है । लेकिन उसके स्वरूप और स्वभावके सम्बन्धमें सभी जगह एक ही मान्यता नही है । उक्त पुस्तकके अन्तमें हाफिजके दो दोहोंका उल्लेख है—जिनका भाव यह है—

"अत्याचारी मत बनो । मनुष्य-जीवनमें इससे बढ़कर कोई दूसरा पाप नही है ।"

इसी प्रकारका एक फारसी दोहा भी उन्हे बडा प्रिय था—जिसका भाव है—

"जीवनमें सेवा धर्मसे बढकर कोई धर्म नही है। जपमाला और आसान धर्म नही दिखावा है।"

इस पुस्तकके अलावा भी राजा राममोहन रायने प्राचीन हिन्दू शास्त्रो (वेद-वेदान्त) और अंग्रेजोंके धर्म-शास्त्रोकी आलोचना-प्रत्यालोचना की है। सभी स्थानोमें उन्होने स्वतंत्र चिन्तनपर जोर दिया है। जोर-जबर्दस्तीसे वे किसी पर धर्म लादनेके पक्षमें नही थे। धर्म प्रचारको लेकर वे केवल हिन्दू-समाजके ही कोप भाजन हुए हो सो नही, क्रिश्चियन मिशनरियोका कोपभाजन उन्हें बनना पडा था। राममोहन रायके ऐकेश्वर-वादमें प्राचीन हिन्दू धर्म, मुसलमान धर्म और ईसाई धर्मका सार तत्व समन्वित हुआ था। स्वदेशकी सभी वस्तुएँ खराब है और विदेशकी सारी चीजें अच्छी है—ऐसा उन्होने कभी भी स्वीकार नही किया। मातृभूमिके धरातलपर खडे होकर उन्होने नए विदेशी भावादर्शको विचार-विश्लेषण करके ग्रहण किया था।

शिक्षा और सामाजिक संस्कारके क्षेत्रमें श्री राममोहन रायने इसी आदर्शका पालन किया। अपने इसी आदर्शको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए उन्होने 'ब्राह्म समाज' की स्थापना की। बादके समाज-सुधारकोने उनके कामको कितना आगे बढाया—इस पर विचार करना अपना काम नही। उनके द्वारा प्रतिष्ठित 'ब्राह्म समाज' के द्वारा समाजमें जो प्रगति आई और एक नई रोशनी दिखाई दी वह आज भी याद करने लायक वस्तु है।

इसी प्रसगमें राममोहन रायके एक और अवदानकी बात कह देनी है। बँगला गद्य-साहित्यके वे पहले महारथी थे। काव्यकी भाषा तो अनुभूति और आवेशकी भाषा समझी जाती है लेकिन गद्य-भाषाका विकास धरातल युक्तियाँ और विचारबुद्धि को कहा जायगा। सामाजिक जीवनमें युक्ति और विचार-बुद्धिकी प्रतिस्थापना होने के बाद गद्य भाषाका विकास हुआ है—जब कि काव्यगत-भाषाका बहुत पहलेसे ही विकास हो गया था। भारतवर्षकी सभी भाषाओंके सम्बन्धमें यही कहा जाता है और देखा भी जाता है कि १९ वी शताब्दीसे उनके गद्य-साहित्यका विकास-कार्य आरम्भ हुआ। उन्होने मातृभाषापर भी जोर दिया है और उसके सबधमें भी काफी काम किया है। उनकी युक्तिवादी रचनाओंमें बगला भाषाके गद्यका आरंभिक विकास देखा जा सकता है।

इन्ही सब कारणोको देखकर और उनके द्वारा देश, समाज और साहित्यमें की गई सेवाओंके कारण ही उन्हें नवीन भारत का प्रवर्तक कहा जाता है। कवि गुरु रवीन्द्र नाथकी भाषामें हम कह सकते है—"आज जिस नवीन भारतको हम देख रहे है, उसके निर्माणमें काम करने वालोमें से राजा रायमोहन राय भी एक थे। उन्होने समाजमें नए विचारोकी क्रांति सर्वप्रथम फूंकी थी। वे विचार कोई नए नही थे। बल्कि प्राचीन ऋषि-महर्षियोके विचार थे, जिन्हें आधुनिक जामा पहनानेका काम उन्होने किया था। भारतवर्षकी यह वाणी कि 'अपावृनु' ही सत्य है—"अपना आवरण अनावृत्त करो' केवल भारतके लिए ही नही थी—सारे विश्वके लिए थी। और सभी कालोंके लिए थी। इसीलिए जिन किसी ने इन मनीषियोंकी वाणीका प्रचारकार्य किया है वे सर्वदेशीय और सर्वयुगीन है और राजा राममोहनराय भी उन्हींमें से एक थे।"

श्री विनय घोष

पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

जब राजा राममोहन राय कलकत्ता महानगरीमें अपने धार्मिक विचारोका प्रचार कार्य कर रहे थे, ठीक उसी समय २६ सितम्बर, सन् १८२० ई० को पश्चिम वगालके एक छोटेसे ग्राममें पं० ईश्वचन्द्र विद्यासागरका जन्म हुआ। उस वक्त राममोहन रायकी उम्र ४६–४८ के लगभग थी। इससे मालूम होता है कि राममोहन रायकी और ईश्वर चन्द्रजीकी उम्रके वीच काफी व्यवधान था। लेकिन दोनोके जन्म स्थानोमें अधिक व्यवधान नही है। दोनोका जन्म हुगली नदीके जहानावाद (आरामवाग) परगनेमें हुआ था। दोनो ही वन्द्योपाध्याय वशके कुलीन व्राह्मण परिवारके थे। विद्यासागर जीका जन्म वर्तमान मेदिनीपुर जिलेके घटाल परगनेके वीरसिंह ग्राममें हुआ था। सचमुच १९ वी सदीके इन दो महापुरुषोके जन्मका सादृश्य आश्चर्यमें डाल देनेवाला है। यदि दोनोके वीच कही फर्क था, तो वह केवल पारिवारिक मर्यादाओमें था राजा राममोहन राय उस ज़मानेके अभिजात वशमें पैदा हुए थे जिस पर नवावी (मुसलमानी) शिक्षा-संस्कृतिका यथेष्ट प्रभाव था। दूसरी तरफ विद्यासागरजीका जन्म एक दरिद्र व्राह्मण परिवारमें हुआ था, जिस पर तत्कालीन व्राह्मणवादका पूरा प्रभाव था। ऐसे परिवारमें जन्म लेकर विद्यासागरजीमें उदारता, सहिष्णुता, तेजस्विता और दृढताका जो अपूर्व समन्वय देखा गया, यह आश्चर्यमें डाल देनेवाली वात है।

गाँवकी पाठशालामें पढ़ लेनेके वाद विद्यासागर ८ वर्षकी अवस्थामें अपने पिताके साथ कलकत्ता चले आये। यहाँ सस्कृत कॉलिजके व्याकरणकी तृतीय श्रेणीमें उनको भरती किया गया। इस समय प्रसिद्ध हिन्दू कॉलेज और संस्कृत कॉलेज पाश्चात्य और प्राच्य विद्याके दो ऐतिहासिक केन्द्र थे। कलकत्तेके गोलदिघी (वर्तमान कॉलिज स्क्वायर) अंचलके एक ही हातेमें ये अवस्थित थे। एकही इमारतके एक भागमें संस्कृत कॉलज था और दूसरी तरफ हिन्दू कॉलेजके जुनीयर और सीनियर विभाग थे। हिन्दू कॉलेज में धनियोंके वच्चे पढते थे और सस्कृत कॉलेजमें गरीव व्राह्मणोके लड़के। शिक्षा-पद्धतिकी दृष्टिसे दोनोमें विभिन्नता थी। सन् १८२९ सालके जून महीनेसे सन् १८४१ के दिसम्वर महीने तक अर्थात् १२ वर्ष ५ महीने तक विद्यासागरजीने सस्कृत कॉलेजमें अध्ययन किया। इन १२ वर्षोके एक युगको वंगालके सामाजिक सुधारके इतिहासमें जागरण काल कहना चाहिये। १८२९ ई० में राजा राममोहन राय कलकत्तेमें थे। १८२९ ई० में वेंटिंगने सती-प्रथाको कानून वनाकर वन्द किया। हिन्दुओने धर्मसभा

की स्थापना करके वेंटिंगके विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया। दूसरी तरफ हिन्दू कॉलेजके शिक्षित छात्रोंने शासनके विरुद्ध बगावत की घोषणा करदी। इस समय एक तरफ मिशनरियोंके द्वारा धर्म परिवर्तनकी चेष्टा भी चल रही थी। कहनेका तात्पर्य यह कि इस समय बंगालमें वाद-विवाद, तर्क-वितर्क, आन्दोलन-प्रतिआन्दोलनोंकी एक बाढ-सी आई हुई थी। संक्रमण कालके इन सुदीर्घ १२ वर्षोमें विद्यासागरजीने अपना छात्र-जीवन व्यतीत किया। सघर्षके इन दिनोमें उनका व्यक्तित्व प्रस्फुटित होने लगा। सामाजिक और राजनीतिक घटनाओके इन घात-प्रतिघातोमें ही उनके भावी जीवनका निर्माण हुआ।

छात्र-जीवन शेष होनेके बाद विद्यासागरजीकी नियुक्ति सस्कृत-कॉलेजके अध्यापक पदपर हुई। हम यह भी कह सकते है कि बगालके शिक्षा विद्का जीवन विद्यामन्दिर से प्रारभ हुआ। इसके बाद १८४६ में उनकी नियुक्ति संस्कृत कॉलेजके सहायक मंत्रीके के पदपर हुई। किन्तु कॉलेजकी पठन-पाठन व्यवस्थामें परिवर्तन करनेके विषयमें उनका कॉलेजके मत्री श्री रसमय दत्तसे मतभेद हो गया और उन्होनें १८४७ ई० में के जुलाई महीनेमें अपने पदसे इस्तीफा दे दिया। बादमें वे फोर्ट-विलियम कालेजके कोषाध्यक्ष बने पुन साहित्यके शिक्षककी हैसियतसे उनकी नियुक्ति सस्कृत कॉलेजमें हुई। उस समय उन्होने पठन-पाठनमें शिक्षा-पद्धतिमें परिवर्तन सम्बन्धी जो रिपोर्ट शिक्षापरिषद् में उपस्थित की उसका बडा ही ऐतिहासिक महत्व है। इस वक्त विद्यासागरजीकी उम्र ३०–३२ वर्षकी थी।

१८५१ से १८५३ तक के शिक्षापद्धतिमें आमूल परिवर्तनके महान कार्यमें जुटे रहे। सचमुच उस समय प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा-पद्धतिका सयोग सस्कृत कॉलेजमें हुआ। बादमें मातृभाषाके माध्यमसे शिक्षाके प्रचलनमें, गांवोकी मिडिल स्कूलोकी स्थापनामें स्वतत्र विद्यालयोकी स्थापनामें (मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट), स्त्री-शिक्षाके प्रसारमें और पाठ्य पुस्तकोकी रचनामें विद्यासागरजीका पूरा हाथ रहा। इन कार्योमें उन्होने अपनी कुशाग्र बुद्धिका परिचय दिया। राजा राममोहन रायने धर्मके क्षेत्रमें जो काम किया, जिस रास्तेको अपनाया उसी रास्तेको अपनाकर विद्यासागरजीने सामाजिक क्षेत्रमें काम करके आदर्श उपस्थित किया। धर्मके सम्बन्धमे विद्यासागरजीनें इसीलिए कभी कुछ नही कहा, न किसी धार्मिक आन्दोलनमें उन्होने योगदान ही दिया। उन्होंने शिक्षाके द्वारा समाजके कल्याण, सस्कार और प्रगतिका काम किया। बगालकी शिक्षाकी उन्नति का जो अजस्र स्रोत विगत एक सौ वर्षोसे बहता चला आ रहा है, उनके प्रवर्तक थे पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासागर।

व्यक्तित्वकी दृष्टिसे विद्यासागरजीके समान उदार व्यक्ति बहुत कम सख्यामें पाए जाते हैं। बंगालके अधिवासियोंके लिये वे 'विद्यासागर' के रूपमें जितने परिचित है, उतने ही या उससे भी अधिक वे 'दया सागर' के रूपमें परिचित है। उनकी आयका अधिकाश भाग गरीबो और असहायोकी सेवामें खर्च होता। सैकडो विद्यार्थियोकी शिक्षाका भार वे अपने खर्चसे चलाते। अनेको विधवाएँ उनके दानसे अपना प्रतिपालन करती। विधवा-विवाह कानूनके बन जानेपर उन्होंने अनेको विधवाओका पुर्नविवाह

कराया और इस पुनीत कार्यमें उनको इतना खर्च करना पडा कि वे ऋणी हो गए। वे कभी भी प्रकाश रूपमें दान नही करते। उनका दान गुप्त होता था।

एक वार माइकेल मधुसूदनने विदेशसे पत्र द्वारा विद्यासागरजीसे आर्थिक सहायता माँगी थी—"आप हमारे देशके प्राचीन ऋषियोकी तरह ज्ञानी हैं एवं यूरोपियन लोगो की भाँति संयमी और दृढ़व्रती है तथा माँके समान आपका स्वभाव स्नेहयुक्त एव कोमल है। अत: आपको छोड़कर मैं अपनी व्यथा किससे कहूँ?" माइकलके उक्त वर्णित गुणोका सम्मिश्रण विद्यासागरजीमें था।

वगाल गद्य-साहित्यमें विद्यासागरजीका अवदान वड़े महत्वका है। उनके द्वारा ही वँगला भाषाकी वहुत-कुछ वुनियाद रखी गई। वे साहित्यमें नई पद्धति अथवा नई स्टाइलके प्रवर्तक के रूपमें अमर हैं। इसीलिए तो रवीन्द्रनाथने उन्हें वँगला गद्य साहित्यका आदि गद्यकार वताया है।

वंगला सन् १२९८ के १३ श्रावणको उस शिक्षा-विशारदकी मृत्यु हुई। १३०२ में विद्यासागरजीकी चतुर्थ मृत्यु वार्षिकीके अवसरपर कविगुरु रवीन्द्र नाथने कहा था—"विद्यासागरका समाज-निर्माण में वहुत वड़ा हाथ रहा है। जहाँ उन्होने शिक्षाके क्षेत्रमें वड़ा काम किया है, वही साहित्यमें भी उनका वड़ा महत्व है। उन्होने निर्धनो और अनाथोको आर्थिक दान देकर समाजका जो कल्याण किया, उसे भी भुलाया नही जा सकता। आज वे इस संसारमें नही हैं—लेकिन उनके महत् चरित्रका जो अक्षयवट समाजमें फैला हुआ है—उसके नीचे वैठकर आनेवाली संतानको एक नया संकेत मिलता है—एक नई दीक्षा मिलती है।"



श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

हिन्दीके संत-कवियोंकी क्रांतिकारिता

'क्रांतिकारी' शब्दके अनेक अर्थ हैं। सामान्यत. स्वीकृत विचार व व्यवहारकी अस्वीकृतिका नाम क्रांति है। इस सामान्य अर्थमें तो सुधार भी क्रांति ही है यहाँ तक कि आज तो आदर्शवादी, यथार्थवादी सभी अपने-अपने अर्थोमें 'क्रांति' शब्दका प्रयोग करते है। यहाँ तककि सामन्य अशान्ति हलचल आदिको भी लोग क्रान्तिके नामसे पुकारने लगते है। वस्तुत प्रकारके परिवर्तन या उसके प्रयत्नका नाम ही 'क्रान्ति' है।

परन्तु भारतीय मेधा अपनी स्थिर-चित्तता तथा परोक्षपरकताके कारण 'क्रांति' शब्दका प्रयोग राजनीतिक-अशान्तिके प्रसगमें ही करती है, विचारोंके क्षेत्रोमे नही। इस विचार-धारासे जब १६वी शताब्दीमें सर्वप्रथम योरोपीय विचारधाराका परिचय हुआ, तब योरोपीय विचारधाराको क्रांतिकारी और भारतीय आस्थावादको 'परपरावाद' का नाम मिला। भारतीय परम्पराके रक्षकोंमें दो प्रकारके दल पुनर्जागरणकालमें दिखाई पडे। एक—वे विचारक, जो योरोपीय विचारधाराको पूर्णरूपेण अस्वीकारकर भारतीय परम्परावादके गुण गाते थे और सभी स्थितियोमें प्राचीन वैदिक व्यवस्थाका पुनरुत्थान चाहते थे, दूसरे—वे विचारक जो प्राचीनकी धूल झाडकर, उसके केवल तात्कालिक परिस्थितियोंमें उपयोगी रूपको स्वीकार करते थे और योरोपीय विचारधारा को भी एक सीमा तक अपनी रुचि व दृष्टिकोणसे अपनाते थे। इनमें प्रथम परम्परावादी कहलाए। आजके "सनातन धर्म समाज" इसी गतानुगतिक परम्पराओमें है और दूसरे वर्गमें थियोसोफी, बुध-समाज, आर्य-समाज, आदि आन्दोलन आते है। इस दूसरी विचारधाराको उस समय क्रांतिकारी कहा गया क्योकि वह कुछ आवश्यक परिवर्तनो की समर्थक थी। परन्तु आज उसे क्रांतिकारी नही सुधारवादी कहा जाता है। क्योकि आज सबसे अधिक आमूल परिवर्तन करनेकी पुकार लगानेवाला दर्शन है मार्क्सवाद। अत मार्क्सवादकी दृष्टि से समाजमें, अब तक छोटे-मोटे परिवर्तनोकी पुकार मचानेवाले लोग सुधारवादी है। मुख्य परिवर्तन तो आर्थिक व्यवस्थामें होना चाहिए। आर्थिक व्यवस्थाको यथावत् रखकर केवल ऊपरी बातोमें (Super structure) छोटे-मोटे परिवर्तनोकी पुकार 'सुधारवादी' प्रयत्न है अत समाजके सम्मुख आज प्रश्न है कि आर्थिक क्रान्तिका, पूंजीके समान वितरणका, आज प्रश्न है परोक्षप्रियताके स्थान पर अर्थात् प्राचीन धर्म-दर्शन, तथा आचार-व्यवहार (Pattern of life) के स्थानपर एक सर्वहारा संस्कृतिके विकासका, जनवादी संस्कृतिके निर्माणका।

तव क्या सन्त कवि-कवीर, दादू, नानक, रज्जव, सुन्दरदास आजके अर्थमें ही क्राति-कारी थे ?

यदि उस समयकी परिस्थितिको व्यानमें रखा जाय, तो पता चलेगा कि यद्यपि सन्त कवियोके सम्मुख भविष्य अस्पष्ट था, एकान्त चिन्तक होने से समाजकी व्यवस्था-सवधी प्रश्न उनसे दूर थे और उन्होने "मसि कागद छूयो नही, कलम गही नहि हाथ"। इसलिए निश्चित रूपसे सन्त उस कालमें किसी ऐसी स्थितिमें नही ले जा सकते थे जिसमें हमारे सारे आजके सामाजिक प्रश्न हल हो पाते परन्तु तो भी सन्त कवि तात्कालिक समाजको आलोचककी दृष्टिसे तो देख ही सकते थे। और सन्तोने ऐसा किया भी है।

परन्तु पुन. प्रश्न उत्पन्न होगा कि आलोचककी दृष्टिसे तो भक्त कवियो—सूर, तुलसी, आदिने भी समाजको देखा है, विशेषकर तुलसीने अनेक सम्प्रदायोकी तटस्थ आलोचना की है अत सन्तकवियोके साथ भक्त कवियोंका अतर स्पष्ट होना चाहिए।

थोड़ा-सा पीछे से देखें, तो स्पष्ट होगा कि इस देशमें देव-सम्यताके विनाशके पश्चात् जो आर्य-सम्यता स्थापित हुई, वह विपम-उत्पादन व विपम-वितरणके सिद्धान्त पर स्थापित हुई थी, अपने प्रारम्भिक आदिम रूपमें —कवीलेके भीतर अवश्य आदिम साम्य दिखाई पडता है, उदाहरणत ऋग्वेद के प्रारम्भिक सूक्तोमें। परन्तु ऋग्वेदके दशम मण्डलके निर्माण तक अर्थात् मध्य देशमें आर्य सम्यताका केन्द्र स्थापित हो जानेपर समाजका विभाजन वर्णोमें हो चुका था जो कि हमें सर्वप्रथम पुरुप सूक्तमें मिलता है। पुरुप सूक्तके समय आर्य सम्यताका रूप इस प्रकार था :—

(१) यज्ञवाद
(२) वर्णवाद—(पुरोहित, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, दास, असुर-राक्षस आदि)
(३) पुरुप-प्रधान पारिवारिक प्रथा
(४) उत्पादनका आधार—पशुचारण तथा कृपि
(५) शासनका रूप—सभा, समितिके परामर्शसे राजाओका शासन।

ये तत्व आर्य सम्यताके मुख्य आधार है, ब्राह्मण-कालमें ये तत्व-स्थिर हो गए और वर्णो व वर्गोकी अतर्भुक्ति जो पहले सहज थी, वह समाप्त हो गई। ब्राह्मण कालमें समाजका सचालन पुरोहितो व विजेताओंके हाथमें आ गया और वर्णोको जातिके रूपमें स्वीकार कर लिया गया। आरण्यक व उपनिपद् कालमें एक परिवर्तन या कहें क्राति दिखाई पड़ी, जो सन्त-साहित्यकी क्रातिकारिताका रूप निश्चित करनेमें हमारी सहायता करती है। यह क्राति थी क्रिया व योगकी क्राति, आचार व चिन्तनकी क्राति, व्यवहार व परमार्थकी क्राति।

उपनिपद् युगमें तत्वज्ञानी ऋपि दिखाई पड़े। यहाँ तत्व शब्द हमारे कामका है क्योकि आगे सन्त इसी शब्दसे अपना व्यक्तित्व स्पष्ट करते हैं। तत्त्वज्ञानका अर्थ यह है कि कोई भी क्रिया, आचार या व्यवहार ज्ञानरहित होनेसे व्यर्थ है। यह एक महान् आश्चर्य था, जिसे आर्योने—आर्योमें ब्राह्मणों व विजेताओने सहज ही स्वीकार कर लिया। सहजका अर्थ यह है कि क्रियाप्रधान यज्ञवादके स्थानपर संन्यासधर्म—परिव्राजकतावाद का प्रचार सहज ही हो गया। शायद योरोप होता तो यज्ञवादियो व ब्रह्मवादियोमें रक्तक्रांति हो गई होती और इस सहजताका कारण था शायद अनार्यप्रभाव। अथर्ववेद

में जिस 'माया' की इतनी महिमा है, उसी 'माया' को शक्तिके रूपमें स्वीकार कर तथा व्रात्योंकी तपस्या व अनार्य-दर्शन (सांख्य) के योगको ग्रहीतकर ब्रह्मऋषियोंने ब्रह्मवाद व परिव्राजकतावादका प्रचार किया और अपरोक्ष व परोक्ष चेतनाको एक माना, उसे नित्य शुद्ध-बुद्ध अविभाज्य, अनन्त और निर्विकार कहा। इस चेतना (चैतन्य) से अपरिचित रहकर वाह्य क्रिया व्यवहार, आचार सब व्यर्थ है और केवल मूर्खोंके लिए हैं इस प्रकार कर्मकाण्ड गौण हो गया और ज्ञान-योग, तपस्या-सन्यास मुख्य हो गए और विचारकके क्षेत्र में ये बातें मुख्य हो गईं —

(१) जीवनके प्रति तटस्थता

(२) चेतनाकी उच्चतम्, अद्वय, अवाङ्‌मनसगोचर स्थितिकी कल्पना

(३) गौण रूपसे कर्मकाण्डकी स्वीकृति।

(४) वर्णव्यवस्था, जातिवादका व्यावहारिक जीवनमें समर्थन परन्तु साधनात्मक जीवनमें खंडन।

(५) आश्रम व्यवस्थाका विकास।

(६) जीवनका उद्देश्य आत्यन्तिक मुक्ति।

जो जाति व्यावहारिक जीवनमें जितने ही अधिक बन्धनों, द्वन्द्वों, विरोधों व दु खोंसे पीड़ित रहती है, वह उतनी ही अधिक बंधन-रहित, द्वन्द्वरहित, तथा आनन्दमय मानसिकता की कल्पना कर लेती है। इस जीवनका क्रूर दमन पारलौकिक जीवनकी उन्मुक्त उछालमें बदल जाता है। भारतीय दर्शन व साधनाके क्षेत्रमें यही हुआ अत उपनिषद्-युगमें इस जीवनके द्वन्द्वों व दु खोंके दर्शनने आध्यात्मिक आनन्दमय, निर्विकल्प स्थितिकी कल्पना की और उस स्थितिकी एक झलक, एक आभास मात्र पाकर ही ऋषियों, साधकों, व दार्शनिकोंने कवित्वपूर्ण भाषामें उसका वर्णन प्रारम्भ कर दिया। जीवनका यही ध्येय स्वीकृत हो गया। विषमसे समकी ओर, द्वन्द्वसे निर्द्वन्द्वकी ओर, विकल्पसे निर्विकल्पकी ओर, और इसलिए भोगसे, रागसे, सन्यासकी ओर समाजकी गति हो गई। यदि गति है, तो गतव्य कहाँ है? यदि इति है, तो अथ कहाँ है? यदि मिति है, तो अपरिमित कहाँ है, सीमा है तो नि सीमा कहाँ है, अशांति है, तो शांति कहाँ है, मर्त्य है तो अमरता कहाँ है, धागे क्यों है? अँगुली क्यों है? चरखा क्यों है? कैसे यह सब चल रहा है? क्यों? इन प्रश्नोंमें समाजका एक वर्ग—अवकाश प्राप्त वर्ग लग गया और दूसरी ओर यज्ञवाद चलता रहा, सामन्तभोग करते रहे, वर्ण-व्यवस्था कसती गई, जातियाँ बनती गई। दास, शूद्र तथा वैश्य कमाते रहे, और २५ वर्ष तक आश्रमोंमें पढकर, २५ तक संतान उत्पन्न कर लोग सन्यास लेते रहे वैसे जन्मसे ५० पचास वर्ष भी सन्यासकी तैयारी थी, मुक्तिके लिए बंधनको स्वीकार करना था क्योंकि पिता व गुरुका ऋण जो चुकाना था।

इस पारिव्राजकतावादमें भी वैदिक यज्ञवाद अखण्ड रहा, बौद्धों व जैनियोंके प्रयत्न से यज्ञ अहिंसात्मक होने लगे क्षत्रियोंकी जगह वैश्योंका प्रभुत्व बढ़ता गया। और गणोंमें ब्राह्मण विचारकोंकी जगह क्षत्रिय साधकोंने ले ली और वैश्योंने उनका समर्थन किया। उपनिषदयुग कल्पनाकी चरमसीमापर पहुँच चुका था उससे आगे जानेकी गुंजाइश न थी अत बौद्ध जैन साधकोंने 'चेतनाकी अन्तिम स्थिति' को स्वीकार किया

परन्तु उसे ब्रह्म नाम न दिया और चेतनाको मानकर भी उसे आत्मा नाम नही दिया। तथा बौद्ध-जैन-सघोने ब्राह्मण-पुरोहितोका स्थान ले लिया।

परन्तु समाजका मूल-ढाँचा न बदला जा सका। जातिवाद, वर्णवाद कुछ नरम हो गया। ब्राह्मणोका एकाधिकार ढीला हो गया और पौराणिक धर्मके रूपमें, जो आगे वैष्णव धर्मके रूपमें विकसित हुआ, ब्राह्मण धर्मको अपना वेश बदलना पड़ा परन्तु मूल बातें—वर्ण व्यवस्था, कर्मकाण्ड, ब्राह्मणोकी प्रधानता आदि वैसीकी वैसी ही रही। बौद्धोने कठोर ब्राह्मण-व्यवस्थाको नरम कर दिया परन्तु मूल सामाजिक ढाँचा न हिला क्योकि आर्थिक व्यवस्था अपरिवर्तित रही। कृषक व शिल्पीकी दृष्टिसे ब्राह्मणो व बौद्ध-भिक्षुओमें केवल वेशमें अंतर था दोनो उपजीवी थे। हाँ इतना अंतर अवश्य था कि बौद्ध सघोमें कर्जदारोको छोड़कर सम्पन्न निम्न जातियोको भी 'निर्वाण' का अधिकार मिल जाता था।

इस प्रकार बौद्ध, जैन, ब्राह्मण तथा अन्य सम्प्रदायोमे अपने-अपने शास्त्रोंकी मान्यताओ के अनुसार विभिन्न प्रकारकी साधनाएँ चल पड़ी। शास्त्रकी मान्यता अतिम थी, उसे स्वीकार करनेको सब बाध्य थे। शास्त्रमें क्या था ? जो व्याख्याकार समझा दे। अतः एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई।

परिस्थितिमें परिवर्तन हो जानेसे नाना सम्प्रदायोके अनेक शास्त्र बन जानेपर प्रत्येक सम्प्रदायमें अपने प्राचीन शास्त्रोंकी व्याख्या करनेके प्रयत्न हुए और दिलचस्प बात यह है कि ये सब व्याख्याएँ भी अलग-अलग सम्प्रदाय बनाती गई उदाहरणके लिए आर्योंमें षड्दर्शनका विकास हुआ। जिसमें एक-एकमें अनेक अवान्तर मतोका प्रतिपादन हुआ। बौद्धोमें प्रथम दो मत हीनयान व महायान चले और फिर उनमें शतशः भेद होते गए। प्रत्येक प्रबल व्याख्याकारने अपना मत अलग बना लिया। अश्वघोष, नागार्जुन, वसु-बधु, असंग जैसे विद्वानोंके प्रयत्नोसे यही कहना कठिन हो गया कि अंततः गौतमबुद्धका वास्तविक कथन क्या था।

इस सब शास्त्रीय प्रयत्नोंके समानान्तर बहुत प्राचीन कालसे ही योगियोकी परम्परा चलती आ रही थी। इन्हें "अशास्त्रीय योगी" कह सकते है। अथर्ववेदके युगमें 'व्रात्य' यही थे परन्तु चतुर ब्राह्मणोंने 'व्रात्यस्तोम' यज्ञ कर जब इन्हें स्वीकार कर लिया तब ये आर्योंमें ही मिल गए। उपनिषद् युगके ऋषि इसी योगधारा से प्रभावित थे परन्तु उपनिषद् कर्मकाण्डको स्वीकार कर लेती है अतः उपनिषद् युगके इन ऋषियोंके समानान्तर योगियोमें शैव या शाक्त योगी स्वीकार किये जा सकते है। रुद्र, शिव, शर्व मूलतः अनार्योके देवता थे, वेदोमें रुद्रको स्वीकार कर ब्रह्मके साथ ऋषियोने उनको एक कर दिया था परन्तु अशास्त्रीय योगियोने अपने योगका सम्बन्ध रुद्रसे ही जोडा।

श्वेताश्वर उपनिषद्में शैव योगियोकी उपासनाको भी स्वीकार कर लिया गया। इस युगके पश्चात् अनार्य-परम्परामें विकसित अशास्त्रीय योग व उपासनाके दो रुप दिखाई पड़ते हैं (१) स्वतंत्र योगी विचारक (२) ऐसे शैव या शाक्त साधक जो अनार्य तत्वोको स्वीकार करके भी अपना सम्बन्ध वेदसे स्थापित करते हैं और किसी न किसी प्रकार अपनेको वैदिक मतके अनुकूल ही सिद्ध करनेपर तुल जाते है। इनमें वैष्णव पाँच रात्र मत तथा वैदिक कहलानेवाले शैव व शाक्तमत स्वीकृत किए जा सकते हैं। उदाहरण

के लिए शाक्त-उपासनाका सम्बन्ध दत्तात्रेयसे जोडा जाता है (देखिए परशुराम तंत्र) तथा पाँचरात्र-उपासनाका सम्बन्ध नारदसे है। नारद वैदिक युगमें वामदेव कहलाते थे और सारे अनार्य तत्वोंके आर्य-धर्ममें सन्निवेश को स्वीकार करते थे इसीलिये वे वामदेव (वामधर्मका समर्थक) कहलाते थे। अब रह गए शैव सो वे स्पष्ट ही अवैदिक रुद्रके उपासक थे और शैव स्पष्टत वामाचारके समर्थक हैं यद्यपि उसे वे वैदिक सिद्ध करते हैं। इस प्रकार रुद्र, नारद व दत्तात्रेय ये तीन प्राचीन तथा गौतम बुद्ध-युगीन अनेक अन्य अवैदिक विचारोने योगकी एक विशिष्ट पद्धतिको स्वीकार किया जिसमें जान-बूझकर अवैदिक आचारकोको साधनाका माध्यम माना जाता था और जिसमे योगके साथ-साथ भावनाका भी पर्याप्त स्थान था। आगे चलकर नारदका सम्प्रदाय अपनी भावनाके लिए प्रसिद्ध होकर वैदिक परम्परामें पूर्ण रूपेण स्वीकृत हुआ। और शैवो व शाक्तोंके साथ बौद्ध साधकोका एक वर्ग सघोकी शास्त्रीयता व कठोर सयमसे क्लान्त होकर आ मिला जिन्हें तान्त्रिक बौद्ध कहते है और जिसमें वज्रयान व सहजयान स्वीकार किया जाता है।

इसका अर्थ यह नही कि वैदिक मतोमें योग स्वीकृत नही हुआ। वैदिक मतोमे योग स्वीकृत तो हुआ पर उसका जो प्रारम्भमें कर्मकाण्डसे वैर था, ईश्वरसे वैर था (यथा कपिलके योगमें) वह मिटा दिया गया।

इस प्रकार ईसाके पश्चात् सारे देशमें वैदिक व अवैदिक सम्प्रदायोका पुष्कल विकास हुआ। अवैदिक मत वर्णव्यवस्था, यज्ञ, जाति तथा ब्राह्मणोके एकाधिकारको स्वीकार न करते थे। और वैदिक मतमें अनार्य तत्वोको इस प्रकार मिलाया गया था कि मूल आर्य-सभ्यता जिसमें वर्णव्यवस्था, जातिवाद, वेदवाद आदि मुख्य तत्वोंकी प्रधानता रहती थी, वैदिक मतावलम्वी कभी-भी साहसके साथ स्मृति, सूत्र, व वेदोका खडन नही कर सकता था। पारमार्थिक सत्यके क्षणोमें इनकी आवश्यकता नही थी परन्तु व्यवहारमें इनका मानना अनिवार्य था इसीलिए हिन्दीके वैष्णव कवि—सूर-तुलसी-नन्ददास, हरिदास, आदिमे से किसी कविने मूल आर्यसामाजिक व्यवस्थाका जिसमें वेद-ब्राह्मणकी प्रधानता थी, स्मृतियोकी प्रधानता थी, सूत्रकारोकी प्रधानता थी, खडन नही किया किन्तु वर्ण-व्यवस्थाके व्यवस्थापक शकराचार्य जिस प्रकार आध्यात्मिक अनुभूतिमें सभी प्रकारके भेदोका खडन करते थे उसी प्रकार तुलसी भी "हरिको भजै सो हरिको होई, जाति-पाँति पूछै नहिं कोई" की भावनाको मानते थे। फिर साथ ही भक्तिमें सबका अधिकार मानकर भी यज्ञ व वेदमें ब्राह्मणोकी प्रधानता वल्लभ भी मानते थे और तुलसीदास भी। अत वह सामाजिक व्यवस्था जिसका आधार विभाजन व विषमता था, जिसमे कुछ वर्गोंका एकाधिकार था, जिसमें करोडो मनुष्योको धन, बुद्धि, विद्याकी योग्यता, होनेपर भी केवल वर्ण व जातिके नामपर अपमानित होनेको विवश कर दिया गया था उन अशास्त्रीय अवैदिक साधकोकी आलोचनाका विषय सदा रही है। यह बात हमें स्मरण रखना चाहिए और यही इन अवैदिक साधको व सन्तोकी की क्रातिकारिता है।

अवैदिक शैव व शाक्तो व तान्त्रिक बौद्ध-धर्मका सम्बन्ध ईसाकी छठी शताब्दीसे नवी शताब्दी तक स्थापित हो चुका था। और इस सामजस्यकी प्रतिध्वनि वैदिक शैव-मतोमें भी मिलती है? जिसका अकाट्य प्रमाण है काश्मीरी शैवमत। इसपर नाथ मतका भी प्रभाव था तथा इसने भी नाथ मतको प्रभावित किया था। काश्मीरी शैव-

मतका अविशिष्ट प्रभाव स्पष्टत सन्तों व नाथोंमें दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त अवैदिक शैवमतों व बौद्धतांत्रिकोंके वामाचार विशेषत: योनिपूजा, योगिनीरमण, मदिरा पान आदिका विरोधकर नाथ पंथने शंकरके अद्वैतवाद व नागार्जुनके शून्यवादसे मायाका सिद्धान्त शंकर से ब्रह्मका सिद्धान्त लेकर तथा उसमें पातंजलि हठयोगका मिश्रण कर एक प्रबल योगमत तैयार किया था जिसका अविकल अनुवाद सन्त-कवि अपनी कवितामें करते दीखते हैं। परन्तु १० वी शताब्दीके पश्चात् काश्मीरी शैवो व सूफियोंके प्रेम तथा आवेश सिद्धान्तो तथा वैष्णवोकी भक्ति भावनाने भी सन्तोंको प्रभावित किया था। अत: सन्तोमें ब्रह्म व आत्माकी एकता, जगतके मिथ्यात्वके सिद्धात, शकराचार्य व बौद्धो के हैं, परन्तु अलौकिक अनुभूति व सत्ताके वर्णनकी पद्धति बौद्धो व नाथोंकी है अर्थात् पूर्णतया अवैदिक है, जिसमें सर्वत्र सत्ताको भावात्मक मानने वाले ब्राह्मणोको नीचा दिखानेकी प्रवृत्ति है क्योकि सन्त कवि सत्ताको भाव व अभावकी कोटियोंके परे मानते है। शैवोका आवेश सिद्धान्त वेदान्तियोके तर्ककी जगह सन्तोमें प्रतिष्ठित हुआ, जब कि सन्तोपर सूफियोकी मस्ती व भक्तोकी विह्वलताका भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। सन्तो तक आकर योग अपने अवैदिक रुपको भूलता गया क्योकि नाथोने उसमें बहुत-सा वैदिक अश स्वीकार कर लिया था।

सिद्धांतकी दृष्टिसे उपनिषद्में जिस अवाङ्मनसगोचर स्थितिका वर्णन मिलता है, वही अनुभूति सन्तोकी भी प्राप्तव्य है। और यहाँ एक बात समझ लेना आवश्यक होगा कि यह रहस्यमय परोक्ष अनुभूति समाजके साथ लड़नेका एक दृढ़ माध्यम रही है ? बात विचित्र सी लगेगी किन्तु है सही। भारतमें सर्वदा रहस्यसाधकोने ही समाजके बाह्य कठोर अनुशासनका विरोध किया है। सगुणवादी भक्त यह कार्य नही कर सके। यह दूसरी बात है कि जीवनके नाना पक्षोंका समावेश कर लेनेके कारण आगे चलकर उसका प्रचार अधिक हुआ और गोपितोने भी उसे स्वीकार कर लिया क्योकि मुसलमानों के आते ही भक्तिका अधिकार सर्वसाधारणको दे दिया गया था परन्तु हिन्दू इस्लाम दोनो धर्मोंके बाह्याचारोके विरुद्ध खडे होनेवाले, पंडित व मुल्ला दोनोकी गत बनानेवाले कौन लोग थे ? उत्तर होगा योगी और रहस्यवादी सिद्ध-सन्त-कवि। उपनिषत्का सूक्ष्म चिन्तन यदि यज्ञवादको गौण रूपसे स्वीकार न कर लेता, तो शायद बौद्ध धर्मकी भयकर प्रतिक्रिया वैदिक धर्मके लिए इतनी दारुण प्रमाणित न होती परन्तु उपनिषद् के रहस्यवादी समझौतावादी निकले। आगेके अवैदिक शैवो, शाक्तो व बौद्धोने बौद्ध थेराओ, विहारपतियों तथा ब्राह्मण कर्मकाण्डियो, महन्तो आदिके विरुद्ध एक सर्वदेश व्यापी आन्दोलन छेड दिया! हमें धैर्यके साथ बौद्धसिद्धान्तो, नाथो, शैवो, शाक्तो व सन्तो के साहित्यको पढ़ना चाहिए। आपको एक ही बात मिलेगी कि ये सारे सिद्ध सन्त समाजके विधि-निषेधके भयंकर विरोधी हैं। जो समाज मानता है, उसके ये विरुद्ध चलते हैं। विरोध प्रदर्शनकी चरमसीमा बौद्धसिद्धो व कापालिको तथा शाक्तोंके वामाचारमें दिखाई पड़ती है। ये सिद्ध नाथ—सन्त ७ वी शताब्दीसे लेकर संगठित रूपमें १४ वी शताब्दी तक ब्राह्मण व्यवस्था तक टकराते रहे अत: वैष्णव धर्मको भी उदार होना पड़ा था। इनकी क्रांतिका आधार तब मार्क्सवाद न होकर "अज्ञेय अनुभूति" थी, आप चाहें इसे ईश्वर का नाम दे सकते हैं। तब कहना होगा कि अज्ञेय सत्ता (ईश्वर) के माध्यमसे

सिद्धों व सन्तोंने समाजमें क्रांतिका स्वर-सन्धान किया। ईश्वर ऐसी वस्तु है कि उसके माध्यमसे क्या नहीं हुआ? यदि उसके माध्यमसे सन्तो व नाथो आदिने क्रांतिकी, तात्कालिक व्यवस्थाको चिनौती दी तो यह स्वाभाविक ही था।

विरोध निराधार नहीं चल सकता। सन्तोंको राम (निर्गुण राम) का बल था अपनी सहानुभूतिके आधारपर ही उन्होंने सारे सम्प्रदायो व उनके नेताओंको देखा। वह अलौकिक अनुभूति वही थी जिसे उपनिषद् "मुक्ति", कपिल "कैवल्य", बौद्ध "निर्वाण" शैव "समरसता" तथा सूफी "वस्ल" कहते है। असीमको आधार बनाकर, पिण्डमें ही ब्रह्माण्डकी झाँकी पाकर अपने अंतरमें अपरिमित शक्तिका भण्डार देखकर सन्तोंने ज्ञान-गर्दभ, वाचाल, विलासी, विषमतावादी, जातिवादी, पाखण्डी वेद-कुरान, मूर्त्ति, चन्दन, चोटी, रोजा, नमाजको ही धर्म समझनेवालोको आडे हाथो लिया और उन उच्चतम दिव्य मानसिक राज्यमें सर्वत्र समता, सुख, अनहद नाद तथा अमर वारुणी का अपनेको अधिकारी पाया।

आप कह सकते है यह तो पलायन था परन्तु तब सन्त क्या करते? अतत बाह्य जीवन की व्याकुलताका समाहार वे कहाँ करते? समाजशास्त्रसे अपरिचित सामाजिक रूपने असगठित सन्तोका कार्य यह कुछ कम नही कि उन्होंने बडे साहससे सभी धर्मो व सम्प्रदायो के दम्भको तोड दिया और अनजाने ही ऐसे धर्मकी ओर सकेत किया जो धर्म मानवीय मूल्योमें है, निरपेक्ष मनमाने सिद्धांतोमें नही। मानवीय गुण ही धर्म है। धर्मका बाह्याचार से कोई सम्बन्ध नही।

कुछ विचारक यह देख ही नही पाते कि रहस्यवादियोका भारतीय सांस्कृतिक इतिहासमें यह उपर्युक्त रूप कितना महान रहा है। यह ठीक है कि अवैदिक मतावलम्बी बहुतसे बहक गए। आचारोका विरोध करते-करते अनाचारोमें फँस गए परन्तु सवाल तो अत्याचारके विरोधका है, वह वहाँ है उस युगमें उनका एकातिक साधनाके आधार पर स्थित विरोध समाजको झकझोर ही सकता था और वह बराबर हुआ है।

कुछ लोग इस शताब्दियोकी क्रांतिकारिताको दो रूपोमें देखते है (१) परोक्ष अनुभूति, द्रविडोंके सम्पर्कसे आई अत ब्राह्मणोके विरुद्ध यह द्रविड या अनार्य विद्रोह था

(२) सिद्ध सन्तो व नाथोका विरोध केवल निम्न जातिका विद्रोह था जो सवर्णों के विरुद्ध था।

स्पष्ट है कि दोनो तथ्य भ्रमात्मक है। प्रथम तो आर्य द्रविड वादके पक्षपात से पीडित है। अनार्योमें द्रविडोंके सिवा नाग, किन्नर, गधर्व, वानर, ऋक्ष, असुर आदि अनेक थे। और फिर भारतमें शताब्दियोके बाद जो अतर्भुक्त समाज मिलता है, उसमें जातियोंके आधारपर वैमनस्यकी खोज करना अपराध है।

(२) दूसरे सिद्धातमें ऐतिहासिक सत्याश अवश्य है। यह ठीक है कि निम्न जातियां रहस्यानुभूतिके आधारपर सवर्णोंके विरुद्ध खडी हुई थी परन्तु जातीय आधार इसे बहुत बादमें मिला था। दूसरे अनेक रहस्यवादी व मर्मी सन्त सवर्णों से भी आए है। यहां तक कि प्रथम सिद्ध सरहपाद ब्राह्मण था। अनेक ब्राह्मण जो बौद्ध हो गये थे, वे सच्चाई की खोजमें बौद्ध हुए थे, जातिका प्रश्न नही था अत इस क्रांतिकारी परम्पराको मैंने समझने राष्ट्रीय ऐतिहासिक परम्परा मानना चाहिए जिसमें अन्यायका विरोध लोग

बराबर करते रहे है, वर्ण व जातिसे ऊपर उठकर भी । यह माननेपर भी सवर्ण रहस्य-वादियोकी संगति आप अछूत रहस्यवादियोके साथ विठा सकते है ।

अब सन्तोकी क्रातिकारिताका रूप देखिए—

ब्रह्मणो हिम जाणन्त भेउ
एवइ पढ़ि अउ एच्चउ वेउ ।
मही पाणी कुस लइ पढ़न्त
घर्रहि वइसी अग्गि हुणन्त
कज्जे विरहइ हुअवह होंमें ।
अक्खि डहाविअ कडुएँ धुम्में

सरहपाद

अर्थ—कहते है ब्राह्मण ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न हुए थे । पहले कभी हुए होगे । किन्तु आज प्रत्यक्षमें तो वे भी दूसरे लोगोकी तरह योनिसे ही पैदा होते है । तब फिर ब्राह्मणत्व कैसा ? और यदि संस्कारसे ब्राह्मणत्व होता है, तो अन्त्यज भी संस्कार लेकर ब्राह्मण हो सकता है । अत इससे जाति सिद्ध नही होती ।

वे चारो वेद पढ़ते है, जातिभेद मानते हुए । वेदोको अन्त्यज चाण्डाल भी तो पढ सकते है ।

फिर ये ब्राह्मण हाथमें कुश-जल लेकर घर वैठे हवन कराते है । आगमें घी इत्यादि डालनेसे मोक्ष मिलता है, तो क्यो नही सवको, अंत्यजोको भी डालने देते ? होम करने से मोक्ष मिले या नही, कड्वा धुंआ लगने से आँखा को पीडा अवश्य होती है ।

एहु धम्म जो आयरइ, बंभणु सुद्द विकोई ।
सो सावउ कि सावयहँ, अण्णु कि सिर मणि होई ।। —मुनिदेवसेन

धर्मका जो भी आचरण करता है, फिर चाहे वह ब्राह्मण ही हो, चाहे शूद्र, कोई भी हो वही श्रावक है । श्रावकके सिरपर क्या कोई मणि लगी रहती है ?

समताका उद्घोप जैसा इन पंक्तियोमें मिलता है, वैसा क्या कही और मिल सकता है ?

कासु समाहि करउँ को अंचउँ
छोप अछोप भणिवि को वंचउँ
हलसहि कलह केण सम्माणउं
जहिं जहिं जोवउँ तहिं अप्पाणउं

—मुनि रामसिंह

समाधि किसकी लगाऊँ ? पूजूँ किसे ? छूत-अछूत कहकर किसे छोडूँ ? भला कलह किसके साथ करूँ ? जहाँ भी देखता हूँ, सर्वत्र अपनी ही आत्मा दिखलाई पड़ती है ।

हिन्दू पूजै देहुरा, मुसलमान मसीत ।
नामा सोई सेविया, जहँ देहुरा न मसीत ।

—नामदेव

संतन जात न पूछो निरगुणियाँ
साध ब्राह्मन, साध छत्तरी, सावें जाती वनियाँ।
साधुन माँ छत्तीस कौम हैं, टेढ़ी तोर पुछनियाँ
हिन्दू तुरक दोउ दीन वने हैं, कछू नहीं पहचनियाँ।

—कबीर

साधो, पांडे निपुन कसाई
वकरी मारि भेंड़िको धाये, दिलमें दरद न आई
वेद-कितेव छाँड़ि देउ पाँड़े, ई सव मनके भरमा।
कहहिं कवीर सुनहु हो पांडे, ई तुम्हरे हैं करमा।

मेरा तेरा मनुवां कैसे इक होय रे।
मैं कहता आँखिनकी देखी, तूं कागदकी लेखी रे।
मैं कहता सुरझावनहारी, तूं राख्यो अरुझाइ रे।

—कबीर

कृष्ण करीम राम हरि राघव, जवलगि एक न देखा।
वेद कितेव कुरान पुरानन, सहज एक नहिं देखा।
जोइ-जोइ पूजिय, सोई-सोइ कांची, सहजभाव सति होई!
कहि रैदास मैं ताहिको पूंजूं, जाके ठांव नांव नहिं होई।

—रैदास

सन्तोने शास्त्रोकी सर्वज्ञता पर कैसा वज्र प्रहार किया है—

कवणु सुवेला वखतु कवणु
कवणु तिथि कवणु वारु,
वेल न पाइया पंडती
जि होवे लाखु पुराणु
वखतु न पाओ कादीआ
जि लिखनि लेखु कुराणु

—नानक

वह कौन सा समय था, जव सृष्टि रची गई? वह क्या तिथि थी? और कौन सा दिन था? पडितोको यदि पता होता तो पुराणोमें अवश्य लिखते और काजियोको पता होता, तो कुरानमें वे अवश्य लिखते—कोई नही जानता।

नाम फकीरैं पातिसाहु मूरख पंडित नाउ।
अंधे का नाउ पारखू, एवैं करे गुआऊ॥

—गुरु अंगद

लो भिखमगेको तो कहा जाता है वादशाह, और मूर्खको दे दिया है नाम पण्डित। अधेको कहते है पारखी—ऐसी वातें ही जगतमें चलती है—

हिन्दू तुरक न जाणों दोई।
साईं सवनका सोई है रे, और न दूजा देखौं कोई—

दादू

संतों ऐसा यह आचार।
पाप अनेक करं पूजामें, हिरदै नहीं विचार।
पाती फूल सदाही तोड़ूँ, पूजन कूँ पाषाण।
छार पतंगा होहि आरती, हिरदै नहीं विनाण
सगले जनम जवि संहारे, यह खोटे खटकर्मा।
पाप प्रपंच चढ़ै सिरि ऊपरि, नाम कहावै धर्मा

—रज्जब

वड़ा भया सो कहा वरस सौ साठका।
घणा पढ़्या तो कहा चर्तुर्विध पाठका।
छापा तिलक वनाय कमंडल काठका
हरि, हाँ, वाजिद एक न आया हाथ पसेरी आठका

—वाजिद

चिन्ह विना सव कोई आए, इहाँ भये दोइ पन्थ चलाए
हिन्दू तुरक उठ्यो यह भर्मा, हम दोऊका छाड्या धर्मा—

—सुन्दरदास

पंडित ! काह करे पंडिताई
त्यागदे वहुत पढ़व पोथीका, नाम जपहु चितलाई
पढ़व पढ़ाउव वेधत नाहीं, वकि दिन रैन गँवाई

—जगजीवनदास साहव

भीतर महल चहलकै लागी, ऊपर तनका धोवै है
अविगत मुरति महलकै भीतर, वाका पंथ न होवै है

—दरियासाहव (विहारी)

पंडित ग्यानी वहुत मिले, वेद ग्यान परवीन।
दरिया ऐसा ना मिला, राम नाम लवलीन
वक्ता स्रोता वहु मिले, करते खेंचातान।
दरिया ऐसा ना मिला, जो सम्मुख झेलै वान—

—दरिया (मारवाड़ी)

व्राह्मन तो भयें जनेऊको पहिरि कै
व्राह्मनीके गले कुछ नाहीं देखा
आधी सूद्रिनि रहै घरंके वीचमें—
करैं, तुम खाहु यह कौन लेखा

—पलटूसाहव

इन कुछ उदाहरणोंसे ही स्पष्ट है कि यह कोरा दोष-दर्शन नहीं है। इस आलोचना के पीछे सन्तोका स्वत. अनुभूत रामरस है जो अनिर्वचनीय है। अत डा० नगेन्द्र का यह विचार गलत है कि हीनताकी भावनाने सन्तोंसे ऐसे वचन कहलवाए है। सन्तों को दु:ख यह है कि व्ययंका वितंडवाद धर्मके नामपर हो रहे है और समताके सच्चे सिद्धान्त

को लोग भूल गए है। सन्त आजके कोरे आलोचकोकी तरह अहवादी नही है न परपक्ष खडन वे अपनी विजय-दुन्दुभी निनादित करनेके लिए करते है। सन्त सर्वप्रथम सन्त है, सहज है, मानवताका सहज रूप चाहते है, उस मनुष्यताके ऊपर शोषण, वर्ण, वर्ग, जाति, यज्ञ, रोजा, नमाज और न जाने किन-किन कुत्सित पदार्थोकी धूलि जमा हो चुकी है। धूलिको झाडनेके लिए ही सन्त धक्का देते है, किसी भी व्यक्ति या समाजकी योही खीचतान जैसा कि आजका स्वभाव है, उन्हें इष्ट नही है। शताब्दियोसे मनुष्य अपनेको धोखा देता आ रहा था, उस आत्मवचनासे सावधान करनेवाले मर्मी सन्त ही है। सन्तोका लक्षण ही है कि वे किसी भी प्रकारका कोई अत्याचार सहन नही कर सकते, जो अनुभव करते है वही कहते है, तोतोकी तरह दूसरोके उद्धरण सुनकर पाडित्य बघारना और महन्त बन जानेको वे बुरा समझते है। जबकि वे जीवोके प्रति सहज प्रेम, गृहस्थ जीवनका सहज रूप ही उनकी साधना है। न सन्यास है, न चमत्कार, न विद्याका देन है न गरीबी व शूद्रता-जन्य हीनता। बस जैसे पूर्ण व्यक्तित्व अपूर्णताके विरुद्ध क्राति करता है, वैसी ही क्राति इन सतो ने की है। इन्हें कुछ नही चाहिए, केवल प्रेम व सद्भाव चाहिए। आजके युगमें भी इन सतोकी वाणी सम्यता प्रभुता व समृद्धिमें मदोन्मत्त, विनाशतत्पर जनतत्र व फ्री वर्ल्डके अभिमानी राक्षसोके विरुद्ध हमारे शाति-पथको प्रशस्त कर रही है। सन्तो की खरी और प्रेमसे भीगी वाणी हमारा आज भी पथप्रदर्शन कर सकती है।



श्री प्रभातकुमार जोशी

मध्यकालीन सन्तोंकी सामाजिक क्रांतिकी परम्परा

मानव इतिहासमें दो परम्पराएँ स्पष्ट दीख पड़ती हैं। वे दोनो रेलकी पटरीकी तरह समानान्तर चलती हैं। एकका सम्बन्ध उन प्रतापी राजाओ व सम्राटोंके साथ है, जो अपनी लालसा और महत्वाकाक्षाके वशीभूत हो छोटे वड़े राज्य तथा साम्राज्य कायम करनेके प्रयत्नोमें लगे रहते है। दूसरीका सम्वन्ध उन साधुओ, संतो और महात्माओ के साथ है, जिन्होने समस्त सासारिक लालसा तथा महत्वाकाक्षापर विजय प्राप्त करके अपनेको लोक कल्याणके महान मिशनपर न्योछावर कर दिया और अपना सारा जीवन उसमें खपा दिया। यहाँ हम केवल दूसरी परम्पराके सम्वन्धमें अपने देशके मध्यकालीन इतिहासकी दृष्टिसे कुछ विचार करेंगे। हमारे देशका ही नही, किन्तु समस्त मानवका भी इस परम्परासे सम्वन्ध रखनेवाला इतिहास ऐसा है जिसपर आजका मानव उनका उत्तराधिकारी होनेसे कुछ गर्व और गौरव अनुभव कर सकता है। उस परम्पराके प्रवर्तक संतो महात्माओने अपने जीवन-कालमें मानव हृदयोंको एक करके सुख शान्ति एवं समृद्धिकी वर्पा करनेवाले मानव-धर्मकी स्थापना करनेका प्रयत्न किया।

ऐतिहासिक दृष्टिसे मध्यकालके सम्वन्धमें काफी मतभेद है। इतिहासके विद्वान उसकी गणना भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे करते हैं। हम यहाँ इतिहासके इस विवादमें न पड़कर गौतमवुद्ध और महावीर स्वामीके समयसे मध्यकाल मान लेते है, क्योकि उससे पहलेका काल रामायण, महाभारत तथा अन्य वैदिक ग्रंथोकी दृष्टिसे अति प्राचीन माना जाता है। हम यहाँ जिस विपयका विवेचन करना चाहते है, उसका सम्वन्ध इतिहास के साथ नही है, किन्तु हमारे धार्मिक एवं सामाजिक जीवनके साथ है और हम यह वताना चाहते है कि समाज सुधार अथवा सामाजिक क्रातिकी प्रवृत्ति उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि संत परम्परा। इस परम्पराका संवध श्रीकृष्णके साथ भी जोड़ा जा सकता है। गीता समाज-सुधारकी दृष्टिसे एक अपूर्व ग्रंथ है। महाभारतके समय भारतका धार्मिक एवं सामाजिक जीवन अनेक दृष्टियोंसे वहुत गिरा हुआ था। यह कुछ कम आश्चर्यकी वात नही कि कुल-धर्म और जाति-धर्मके नाना भेद जात-पाँतके समान उस समय भी समाजमें घर कर चुके थे। जन्मगत वर्गका अभिमान भी विपैला रूप धारण कर चुका था, ऊँच-नीचकी भावना सर्वत्र व्यापी हुई थी। स्पर्शास्पर्श अथवा छूतछात का रोग भी आरम्भ हो चुका था। स्त्रियों और शूद्रोको अत्यन्त हीन दृष्टिसे देखा जाता था। पतिके अंधा होनेके कारण गांधारीको आजन्म आँखोपर पट्टी वाँधकर रहना

पडा। द्रौपदीको पाँच पतियोकी पत्नी वननेको लाचार होना पड़ा था। विवाहके लिए कन्या अपहरणकी घटनाएँ भी उन दिनोमे शुरू हो गई थी। कर्णको सूत-पुत्र कहकर अपमानित किया गया। एकलव्यको द्रोणाचार्यने शस्त्रास्त्र विद्या सीखनेका अनधिकारी केवल नीच जातिके कारण माना गया और उसका अंगूठा उस विद्याके सीख लेनेके कारण छल-कपटसे कटवा दिया गया। जुआ राज दरबारमें खेलना, हारे हुए पाडवोका अपनी पत्नीको दाँवपर लगा देना और उसके हारनेके बाद कौरवोका दरबार तकमें उसको नंगा कर उसके सतीत्वके अपहरण करनेकी कुचेष्टाएँ बुरी नही मानी जाती थी। धोखेसे किसी राजाके राज्यका अपहरण करना वड़ा पौरुष माना जाता था। महाभारतके कदाचित ही कोई पात्र ऐसे होगे, जिनका जन्म वैध अथवा जायज कहा जा सकता है। धृतराष्ट्रके १०० सन्तान होना वहु-विवाहका द्योतक है। श्रीकृष्णके अपने शब्दोमें धर्मकी ग्लानि और दुष्कृत्य किंवा अधर्माचरण करनेवालोकी सख्या इस चरम सीमापर पहुँच चुकी थी कि उनके लिए अवतार लेना आवश्यक हो गया था। इस सारे अनर्थको दूर करने अथवा सामाजिक एव धार्मिक क्रातिका सुदर्शन चक्र हाथमें लेकर श्रीकृष्ण अवतरित हुए थे और अपने उस महान मिशनकी पूर्त्तिके लिए ही उन्होने गीतामें "सर्व धर्म-परित्याग और "चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट गुणकर्म विभागश" का शखनाद किया था। आज धर्म परित्यागकी बात सहन नही की जा सकती और जन्मगत जात-पाँतकी मर्यादा का उल्लघन धर्मके विरुद्ध माना जाता है। लेकिन अवतारी महापुरुष श्रीकृष्णने उनका प्रतिपादन करनेमें सकोच नही किया।

मध्यकालीन सत और महात्मा इसी मिशनको सामने रखकर कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए थे। उन सभीने जन्मगत जाति-पाति, स्पर्शास्पर्शकी सकीर्णता, रोटी-बेटीके व्यवहार की ऊँच-नीचकी भावना और ऐसे ही सब धार्मिक एव सामाजिक रूढियो, परम्पराओ तथा अध धारणाओंके विरुद्ध सक्रिय कदम उठाया था। मानवको मानवसे अलग करनेवाली समस्त धार्मिक एवं सामाजिक दीवारोको गिराकर मानव-धर्मके सम्पादन करनेका महान् कार्य किया था। धर्मको सैद्धान्तिक रहस्यवाद और कर्मकाडके प्रपचसे मुक्त करके उसको लोक जीवनका सीधा-सादा एव सरल स्वरूप प्रदान किया था। वंशानुगत धर्म और जन्मगत परम्पराओका अंत करके उन्होने जीवनके विकासका सरल मार्ग प्रदर्शित किया था। पोथी-पुस्तक, पूजा-पाठ, पंडे-पुरोहित-पुजारीके बन्धन-परक धर्मसे उन्होने समाज को स्वतत्र किया था। तीर्थ-मठ, मदिर तथा व्यक्ति पूजाके अंधकारसे उद्धार किया था उन्होने श्रीकृष्णके "ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तान्तथैव भजाम्यहम्" के आदर्शका प्रतिपादन "जात पात पूछे न कोई हरिको भजे सो हरिका होई" के रूपमे किया था। वे उस लोकधर्मके प्रवर्तक थे जो लोकाचारकी रूढियो और शास्त्राचारके बन्धनोंसे सर्वथा रहित था।

गौतम बुद्ध और महावीर स्वामीसे पहले हमारी धार्मिक एव सामाजिक स्थिति श्रीकृष्णके समयसे भी कही अधिक बिगड चुकी थी। धर्मके नामपर सब तरहका दुराचार, अनाचार और भ्रष्टाचार समाजमें व्याप चुका था। धार्मिक कर्मकाडो तक में पशु-बलि और नरबलि दी जाने लगी थी। धर्म विकृत होकर केवल विकार पैदा करनेका निमित्त बन गया था। दोनो महान सतोने उन सबके विरुद्ध प्रबल विद्रोह किया।

सामाजिक अपमान और तिरस्कारकी तनिकभी परवाह नही की। जाँप-पांत, के भेद को समूल नष्ट कर दिया। पोथी-पत्रेके सिद्धान्तवादी शास्त्राचार एवं वंशानुगत लोकाचारपर आधारित धर्म कर्मका सम्पूर्ण अंत करके लोक जीवनपर आधारित धर्मका प्रतिपादन किया। इसी कारण अत्यन्त प्रचड वेगके साथ दोनो संतोके सदेशने भारतीय जनताको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अशोक तथा कनिष्क को पाकर बौद्ध धर्म ने अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कर लिया और वह प्राय समस्त एशियापर छा गया और महावीरके संदेशको भी भारतीय जनताके जीवनमें समरस होनेमें अधिक समय न लगा। ब्राह्मण धर्मका रूढिगत और परम्परागत माया-जाल सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया।

भागवत धर्मका प्रादुर्भाव भक्तिप्रधान धर्मके रूपमें हुआ। उसमें जाति-पाति परक रोटी-बेटी-व्यवहारकी सकीर्णताओके लिए कोई स्थान नही था। वे यह मानते थे कि "विप्राद्धिपड् गुणयुताम—चण्डालो अपि द्विज श्रेष्ठ हरि भक्ति परायण।" भक्ति परायण होना ही उनमें श्रेष्ठतम द्विज बननेके लिए आवश्यक समझा जाता था। चैतन्य महाप्रभुको प्रेम-भक्तिके सामने जाति व सम्प्रदायका भेद स्वीकार नही था। अद्वैताचार्य ने यवन हरिदासको श्राद्धपात्र दिया था। श्री नित्यानन्द तो भक्तोके हाथका जूठा खानेमें सकोच नही करते थे। उनको इसी कारण अवधूत कहा जाने लग गया था; क्योकि अवधूतोके लिए धर्म-कर्म अथवा जात-पातका कोई बन्धन नही था। चैतन्य महाप्रभु शूद्रादिहीन जातियोको ब्राह्मणादिके समान मंत्र-दीक्षा का अधिकारी मानते थे। इसी कारण वैष्णव समाजमें यह आवश्यक नही कि गुरुके पदपर केवल ब्राह्मणको प्रतिष्ठित किया जाय। अब्राह्मण भी उस पदपर प्रतिष्ठित किए जाते है और ब्राह्मण उनके प्रति वैसी ही श्रद्धा भक्ति रखते है।

महाराष्ट्रमें हरिजन सत, साधु और महात्मा ब्राह्मणोकी अपेक्षा भी कही अधिक पूजे गए। नामदेव और तुकाराम ब्राह्मण नही, शूद्र थे। गोस्वामी तुलसीदास सामाजिक दृष्टिसे कुछ अधिक प्रगतिशील नही थे, परन्तु ब्राह्मण-कुलोत्पन्न होते हुए भी उन्होंने क्षत्रिय-कुलोत्पन्न रामको आराध्यदेवके रूपमें स्वीकार किया।

दक्षिणमें श्री बसवदेव चन्नबासव और एकान्त रमय्या आदि शिव-भक्ति-प्रधान जिस परम्पराकी नीव डाली थी उसमें भी जातिभेदपर भीषण आक्रमण किया गया था। शकराचार्यको गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी द्वारा की गयी धार्मिक एवं सामाजिक क्रांति के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी एवं प्रतिगामी और वैदिक धर्मको पुनर्जीवित करनेवाला कहा जाता है। परन्तु उन्होंने हिन्दू समाजमें फैले हुए सभी धर्मोके स्थानमें वेदान्तके नामसे जिस विचारधाराको जन्म दिया, उसका द्वार बिना किसी धार्मिक एवं सामाजिक भेदके सबके लिए समान रूपसे खुला हुआ था। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक एव सामाजिक भेदभावको जडसे मिटानेका प्रयत्न किया। उनका वेदान्त ब्रह्म और मनुष्यमें भी विद्यमान अन्तरको स्वीकार नही करता था। वे "अहं ब्रह्मास्मि"के माननेवाले थे। इसी कारण उनके वेदान्तको नास्तिक तक कहा गया है और उनको प्रच्छन्न बुद्ध कहकर उनकी भर्त्सनाकी गई। उन्होंने संन्यासका विधान भी ब्राह्मणसे शूद्र तक सबके लिए समान रूपसे किया। उनका कहना यह था कि "कोई भी तत्वदर्शी मेरा गुरु हो सकता है भलेही

वह ब्राह्मण हो या चाडाल।" रामानुज आदि आचार्य भी एकेश्वरवाद, भक्ति, प्रपत्ति, गुरुभक्ति तथा जाति भेदका ढीलापन मानते थे।

इन आचार्योंके वाद कवीर, दादू तथा नानक आदिका प्रादुर्भाव होता है। इन सबको हम जनताके संत कह सकते हैं। इन्होंने जनताकी भाषामें अत्यन्त सरल तरीके से धार्मिक एवं सामाजिक क्रांतिके आदर्शका प्रतिपादन किया। कवीरकी गणना महान समाज-सुधारकोंमें की जानी चाहिए। वे सर्वथा स्वतत्र विचारक थे। वे मतमतान्तरो के भेद और हरतरहके कर्मकाड और रूढियोंके कट्टर विरोधी थे। हिन्दू-मुस्लिम एकताके वे अन्यतम समर्थक थे। दोनोंके बीचकी दूरीको वे एकदम मिटा देना चाहते थे। वे अन्धविश्वासके ऐसे विरोधी थे कि गोरखपुरसे १५ मील पश्चिममें मगहरके बारेमें यह कहा जाता था कि वहाँ मरनेवाले को गधेकी योनिमें जन्म लेना पडता है और उन्होंने वहाँ जाकर ही अपनी इहलीला समाप्त की। उनके मरनेके बाद उनको दफनाने या जलानेके सम्बन्धमें उनके अनुयायी हिन्दू मुसलमानोंमें सघर्ष पैदा हो गया। वे जाति-भेदके कट्टर विरोधी थे। वेद या कुरान किसीको भी इलहाम नहीं मानते थे। उन्होंने पूरी निर्भीकतासे दोनोंमें प्रचलित रूढियो, परम्पराओं और अधविश्वासोंका जोरदार खडन किया। उनका यह पद्य बहुत मशहूर है कि—

मोको कहाँ ढूंढे बन्दे, मैं तो तेरे पासमें।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना कावे कैलासमें॥
खोजी होय तो तुरते मिलिहौं, पल भरकी तालाशमें।
कहें कवीर सुनो भई साधो, सब स्वासोंकी स्वाँसमें।

जात पांत, छूआछूत और ब्राह्मणोंके प्रभुत्वपर आधारित समाज व्यवस्थाके वे कट्टर विरोधी थे। वे अवतार वाद तथा मूर्तिपूजा आदिको भी नहीं मानते थे। वेद तथा अन्य ग्रथोंमें अधश्रद्धा नही रखते थे। उन्होंने हज्ज, रोजे, नमाज कुरान और मोहम्मद साहबमें अधविश्वासका भी उसी कठोरतासे खडन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर और दक्षिणमें उनके बाद हुए हिन्दू-मुस्लिम सतोंने उनकी विचारधारासे प्रेरित होकर ही मानव धर्मका प्रतिपादन कर एव सामाजिक दृष्टिसे लोक-जीवनमें क्रांति अथवा उथलपुथल परिवर्तन करनेका प्रयत्न किया।

गुरु नानकने भी धार्मिक और सामाजिक क्रांतिका इसी प्रकार शखनाद किया। उत्तर भारतमें उनके द्वाराकी गई विचार-क्रांति अपने समयका सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रयत्न है जिसने जनताकी मूढ अध भावनाओंको झकझोर दिया। अपने सुप्रसिद्ध शिष्य मरदाना के साथ फकीर बनकर वे ३० वर्षकी आयुमें घरसे निकल पडे। दक्षिणमें लका और पश्चिममें अरब तककी यात्रा उन्होंने की। अनेक साधु सतों, फकीरो और सूफी महात्माओं का सत्सग किया। वे भी कवीरकी तरह हिन्दू मुसलमानके भेदसे ऊपर उठे हुए थे और उनके देहावसानके बाद भी उनको दफनाने या उनका दाह सस्कार करनेके सम्बन्धमें हिन्दू-मुसलमानोंमें मतभेद पैदा हो गया था। रावीके किनारे समाधि और कब्र के रूपमें उनके दो स्मारक बनाए गए, जो कि बादमें बह गए। उनका धर्म भी सम्प्रदायातीत था जो एकता और प्रेमपर आधारित था। मक्का और हरिद्वार आदि जब वे गए तब वहाँ उन्होंने किसी भी सम्प्रदायकी रूढिका पालन नहीं किया। तीर्थयात्रा, मूर्ति-

पूजा, जप-तप, पूजापाठ और गंगास्नान तथा वेदशास्त्र आदि उनकी दृष्टिमें सब व्यर्थ थे अवतारवाद, जात पांत, छूतछात आदिको वे नहीं मानते थे। उन्होने दोनोके सम्बन्धमें यह कहा है कि—

वन्दे इक्क खुदाय दे, हिन्दू मुसलमान।
दावा राम रसूलकर, लड़ते बेईमान।

× × ×

ना हम हिन्दू ना मूसलमान
दोनों विच्च वसै शैतान।
एकं, एकी, एक सुभान,
गुरुजी कहिया सुन अब्दुर्रहमान
दावा मूलो तां इक्क पिछान।

× × ×

हिन्दू जपते राम-राम, मुसलमान खुदाय,
इक्को राम रहीम है, मनमें देखो लाय।

× × ×

तग्ग न हिन्दू पाइया, तग्ग न मुसलमान
दोए भूले राह ते, ग़ालिब भया शैतान॥

धन्ना जाट, पीपा, सेना नाई और रैदास चमार आदि भी संतोमें गिने गए और उन सबने कबीर तथा नानकके पद-चिन्होका अनुकरण किया। इन सबने मूर्त्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा जात-पाँत आदिका उसी प्रकार खंडन किया।

गुरु नानकके बाद सभी सिख गुरुओने उनकी विचार क्रांतिको बल प्रदान करनेका सराहनीय काम किया और वे हिन्दू-मुसलमानके साम्प्रदायिक भेद भावसे ऊपर उठकर निरन्तर सम्प्रदायातीत मानव-धर्मका प्रतिपादन करते रहे। हिन्दू-मुसलमान दोनोको रूढिवाद, परम्परावाद तथा अंधविश्वासोंसे मुक्त करनेका प्रयत्न करते रहे। और तो और अमृतसरमें गुरुद्वारेकी स्थापना की आधारशिला रखनेके लिए उस समयके लाहौर के महान मुस्लिम संत मियाँ मीरको निमंत्रित किया गया और उनके हाथोंसे वह सम्पन्न कराया गया। औरंगजेबकी धर्मान्धताकी वेदीपर नौवें गुरु तेगबहादुरकी महान बलि हो जानेके बाद भी गुरु नानककी परम्पराको छोड़ा नहीं गया। दसवें गुरु गोविन्दसिंह जी महाराज ने उस परम्पराको जब धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थाका मूर्त्त रूप प्रदान किया, तब पहले गुरुजी द्वारा प्रवर्तित धार्मिक एवं सामाजिक क्रांतिको चरम सीमा पर पहुँचा दिया। पचप्यारोंको दी गई दीक्षा द्वारा उन्होंने एक नए मानवको जन्म देकर नए समाजकी स्थापना की। वह मानव और वह समाज पुराने धार्मिक एवं सामाजिक अंध विश्वासो और रूढिगत सामाजिक विचारोंसे सर्वथा निर्लिप्त था। उसके नाम रूप और शक्ल सूरत तक को उन्होंने बदल दिया था। उनका खालसा पंथ उस समय की समस्त धार्मिक एवं सामाजिक बुराइयोंसे मुक्त था। उनके अकालियोको काल खा नहीं सकता था। क्योंकि अमृत छकाकर वे उनको मृत्येसे सर्वथा निर्भय कर देते

थे। उन्होने पुराने नाम वदलकर सिंहपरक नाम रखनेकी प्रथा इसीलिए डाली कि जीवनमें पराजित होनेकी दीन हीन भावना जडमूलसे नष्ट हो जाय कडा, कच्छ, कृपाण, केश और कघेकी व्यवस्था मानव-जीवनकी आवश्यकताओंको सीमित कर उसको भौतिक दृष्टिसे निर्मोही वनानेवाली थी। गुरु गोविन्दसिंहजीका वह नव-निर्माण-किसी भी दृष्टिसे मुस्लिम-विरोवी नही था। मुसलमानोकी अपेक्षा पहाडी हिन्दू राजा उससे अधिक भयभीत और उसके वैसे ही विरोवी थे, जैसे कि पुरातन पथी सदा ही नई विचारघाराके विरोवी रहे है। उन्होने ही औरंगजेवको भी उनका विरोधी वना दिया था। सरहिन्दमें पराजित होकर जव उन्होंने अज्ञातवास किया तव अनेक मुसलमानो ने उनको अपने यहाँ पनाह दी थी। उनको माननेवालोमें मुसलमानोकी सख्या काफी थी।

अकवरके समय हुए सतोमें दादू प्रमुख है। उन्होने भी कवीर और नानककी विचार-परम्पराको आगे वढाया। वे धार्मिक सकीर्णताके विरोवी, हिन्दू मुस्लिम एकताके हामी और सम्प्रदायातीत सार्वभौम धर्मके उपदेशक थे। उन्होने लिखा है कि—

सव घट एकं आत्मा, हिन्दू मुसलमान।
× × ×
अलह राम छूटा भ्रम मोरा।
हिन्दु तुरक भेद कछु नाहीं, देखौं दरसन तोरा॥
× × ×
दोनो भाई हाथ पग, दोनो भाई कान।
दोनो भाई नैन है, हिन्दू मूसलमान॥
× × ×
ना हम हिन्दू होहिंगे, ना हम मूसलमान।
षट दरशनमें हम नहीं, हमराते रहिमान॥

पडितो, मुल्लाओ, जातपाँत, मूर्त्तिपूजा, तीर्थस्थान, हज्ज इत्यादिके विपयमें दादूके विचार ठीक वैसे ही थे, जैसे कवीरके। वावा मलूकदास मत्तनामी, वावालाल, दारा शिकोह, प्राणनाथ और धरनीदास, जगजीवनदास, वुल्ला साहव, केशव, चरनदास, सहजोवाई, दया वाई, गरीवदास, शिवनारायण, रामसनेही इत्यादिके उपदेशोका भी ठीक यही सार था। उनके शिष्योमें व्राह्मण, ठाकुर, चमार और मुसलमान सव जातियोंके लोग शामिल थे, मुसलमान फकीरो के हिन्दू शिष्य और हिन्दू फकीरो के मुसलमान शिष्य उन दिनो वहुत अधिक सख्यामें पाए जाते थे। अठारहवी सदीमें सहजानन्द दुल्हन दास, गुलाल, भीका और पलटूदास काफी प्रसिद्ध थे, पलटूदास का यह पद कैसा भावपूर्ण है -

पूरवमें राम है पच्छिम खुदाय है,
उत्तर औ दखिन कहो कौन रहता।
साहिव वह कहाँ है, कहाँ फिर नहीं है,
हिन्दू और तुरक तोफान करता॥
हिन्दू और तुरक मिलि परे है खेंचि में,
आपनी वर्ग दोउ दीन वहला।
दास पलटू कहै साहिव सवमें रहैं,
जुदा ना तनिक मैं सांच कहता॥

इस तरह उत्तर भारत में इन संतो ने सदियो तक धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति का जो दिव्य सदेश सुनाया था उसकी लहरें वंगाल, महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारतमें भी दूर-दूर तक जा फैली थी। वंगालमें बारहवी सदीमें हिन्दुओका मुसलमानोकी दरगाहोमें मिठाई चढाना कुरान पढ़ना और मुसलमानोके त्योहार मनाना और इसी तरह मुसलमानो का हिन्दुओंके धार्मिक रिवाजोकी ओर क्रियात्मक आदर दिखाना आम वात थी। इसी मेल-मिलापसे वगालमें 'सत्यपीर' की पूजा शुरु हुई। गौड़का वादशाह हुसेनशाह इसका प्रवर्तक था। दोनो हिन्दू-मुसलमान उसको पूजते थे। चैतन्य महाप्रभु पन्द्रहवी सदीमें हुए। श्री दिनेशचन्द्र सेनने ठीक ही लिखा है कि "चैतन्यके जन्मसे पहले ब्राह्मणो का प्रभुत्व बहुत कष्टकर हो गया था। कुलीनताकी भावनाके साथ-साथ जाति-भेद और भी कठोर होता गया। ब्राह्मण लोग कहनेके लिए अपने धर्ममें ऊँचे आदर्शो का वखान करते थे, किन्तु जाति-बन्धनके कारण मनुष्य-मनुष्यमें अतर वढता जा रहा था। नीची जातियोके लोग ऊँची जातियोके लोगोके स्वेच्छाचारके नीचे आहें भर रहे थे। इन ऊँची जातिके लोगोने नीची जाति वालोंके लिए शिक्षाके दरवाजे वन्द कर रखे थे। इन लोगोंके लिए अधिक ऊँचे जीवनमें प्रवेश करनेकी मनाही थी और नए पौरा-णिक धर्मपर ब्राह्मणोका ठेका हो गया था, मानो वह कोई वाजारी चीज थी।" चैतन्य ने इस स्थितिको वदलनेके लिये सेवा और भक्तिका उपदेश दिया, जातिभेदका कड़ा विरोध किया और ब्राह्मणोंके कर्मकाण्डको त्याज्य वताया। उनके शिष्योंमें हिन्दू मुसलमान दोनों समान रूपसे शामिल थे। उनके सम्प्रदायके आचार्योमें भी दोनो समान रूपसे मिलते है।

दक्षिण अथवा महाराष्ट्रमें भी यह लहर पहुँच गई थी। न्यायमूर्त्ति श्री महादेव गोविन्द रानाडेने लिखा है कि "इस्लामका कठोर एकेश्वरवाद कवीर, नानक इत्यादि सन्तोंके चित्तमें साफ घर गर गया था। हिन्दू त्रिमूर्त्ति दत्तात्रेयके उपासक अक्सर अपने देवताको मुसलमान फकीरके से कपडे पहनाते थे। यह प्रभाव महाराष्ट्र जनता के चित्तपर और भी जोरोके साथ काम कर रहा था। ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनो तरहके प्रचारक वहाँ लोगोको उपदेश दे रहे थे कि राम और रहीमको एक समझो, कर्म-काड और जातिभेदके वन्धनोको तोड़ दो और ईश्वरमें विश्वास और मनुष्य मात्रके साथ प्रेमसे सव मिलकर अपना एक समान धर्म वनाओ।"

लोगोको जातिभेद, कर्मकाड और धार्मिक सकीर्णताके वधनोसे मुक्त करके स्वतंत्रता, प्रेम और भक्तिका उपदेश देनेवाले महाराष्ट्र सतोमें नामदेवका वही स्थान है, जो उत्तर में कवीरका है। नामदेवके गुरु खेचर थे। वे मूर्त्ति-पूजाके कट्टर विरोधी थे। उनका कहना यह था कि "पत्थरका देवता कभी नही बोलता, तो फिर वह हमारे इस जीवनके दु.खोको कैसे दूर कर सकता है? पत्थरकी मूर्त्तिको लोग ईश्वर समझ वैठते है, किन्तु सच्चा ईश्वर विलकुल दूसरा ही है। यदि पत्थरका देवता हमारी इच्छाएँ पूरी कर सकता, तो गिरानेपर वह टूट क्यो जाता? जो लोग पत्थरके वने हुए देवता की पूजा करते हैं, वे अपनी मूर्खतासे सव-कुछ खो वैठते हैं। जो लोग यह कहते है, और जो यह सुनते है कि पत्थरका देवता अपने भक्तोंसे वातचीत करता है, वे दोनो मूर्ख है।"

नामदेवके शिष्यो और अनुयायियोमें स्त्री और पुरुष, हिन्दू और मुसलमान, ब्राह्मण और मराठा, कुनवी, दरजी, कुम्हार, अन्त्यज, महार और वेश्याएँ तक सम्मिलित थी।

चोखा मेला नामदेव के शिष्योमें बहुत प्रसिद्ध हुए है। वे जातिके महार (चमार) थे। उनकी आज तक भी बड़ी मान्यता है। बहिराम भट्ट, शेख मुहम्मद और तुकाराम भी बहुत प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। तुकाराम सर्वमान्य सन्त थे। वे कबीर आदि की तरह जात-पाँत, मूर्त्ति-पूजा, यज्ञ, हवन आदि कर्मकाडके कट्टर विरोधी थे। इन सतोके उपदेशकी महाराष्ट्रमें जो प्रतिक्रिया हुई उसके सम्बन्धमें न्यायमूर्त्ति श्री रानाडे ने लिखा है कि "नामदेव और दूसरे सतोके उपदेशोका नतीजा यह हुआ कि मराठी भाषा के साहित्यकी उन्नति हुई, जाति-भेद ढीला हुआ, स्त्रियोका पद ऊँचा हुआ, उदारता और दयालुता फैली, इसलामके साथ हिन्दूमतका एक दरजे तक मेल हो गया। कर्मकाड, तीर्थयात्रा इत्यादिका महत्व घटा, प्रेमका महत्व बढा, अनेक देवी-देवताओकी पूजा कम हुई और विचारो तथा क्रियाओ दोनोंके क्षेत्रमें राष्ट्रकी ताकत बढी।"

यह कहनेकी आवश्यकता नही कि अकबरका 'दीने इलाही' इन सतो महात्माओ द्वारा की गई धार्मिक एव सामाजिक क्रातिका ही परिणाम था। औरगजेबकी घोर धर्मान्धता के अधकारमें भी दारा शिकोहके रूपमें सत परपराकी धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति की एक किरण विद्यमान थी। उनीके कारण उसको औरंगजेबके भीषण प्रकोपका शिकार बनना पडा था। उनके दो महान ग्रथ 'मजमेउल बहरैन' (दो महासमुद्रोका सगम) और 'सिर्रे अकबर' (महान रहस्य) अनन्तकाल तक दाराके क्रातिकारी स्वरूपकी साक्षी देते रहेंगे।

निस्सदेह इस महान सत परम्पराके कारण हिन्दू, बौद्ध और इस्लाम आदिके मथनके लिए की गई धार्मिक एव सामाजिक क्रातिके फलस्वरूप समस्त भारतमें उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिममें एक सुन्दर सार्वजनिक सम्प्रदायातीत धर्मकी नीव रखी जा रही थी जिसका मूलमत्र एकता, प्रेम, भक्ति और सबकी उन्नति था और जिसका मूल उद्देश्य समस्त रूढियो, परम्पराओ और अधविश्वासोका अत करके एक नए समाज और सामाजिक जीवनको जन्म देना था। इन धार्मिक एव सामाजिक नवनिर्माणके साथ-साथ भाषा, साहित्य तथा सस्कृतिके क्षेत्रमें भी मिला-जुला नव-निर्माण बहुत तेजीसे हो रहा था। यह हमारा सबसे बडा दुर्भाग्य है कि इन सभी सतो, साधुओ और महात्माओंके अनुयायियोने उनकी इच्छाके सर्वथा विपरीत उनके नामसे कितने ही नये पंथ व सम्प्रदाय चालू करके नए गिरोह और नई हदबन्दिया कायम कर ली और इन महापुरुषोके एकताके सारे स्वप्न एव प्रयत्न छिन्न-भिन्न कर दिए गए। उनकी धार्मिक एव सामाजिक क्रातिका महान स्वप्न भी सर्वथा भग कर दिया गया। उनके द्वारा प्रवाहित पवित्र धारा बाढकी तरह उतनी गदी, मैली और दूषित कर दी गई कि उसका वास्तविक स्वरूप सर्वथा नष्ट हो गया। उसके कारण उसके किनारोपर एक-दूसरेपर जमनेवाली मिट्टीकी परतोकी तरह समाजमे नए जाति-भेद, छूतछात तथा स्पर्शास्पर्शकी नई रूढियो और कर्मकाड के नए प्रपच तथा अध-विश्वासोके नए मायाजालकी तहें बुरी तरह जम गई। पुराने बधन टूटे नहीं और उन पर नई गाठें बाँध दी गई। इस प्रकार हुई प्रतिक्रियाके विस्तारमें जानेका यह स्थान नही है।

अँगरेजी राज्यके प्रारम्भके साथ मध्यकाल समाप्त हो गया। परन्तु मध्यकालीन सत परम्परा समाप्त नहीं हुई। वर्तमान कालीन क्रातिकारी

समाज-सुधारक उसीकी देन हैं। राजा राम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, ज्योति बाबा फूले और श्री आगरकर आदिने उन्हीकी परम्पराको आगे बढानेका सराहनीय प्रयत्न किया। ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाजका जन्म भी इस परम्पराके गर्भमें सेही हुआ। लेकिन, दुख यह है कि जो दिव्य-ज्योति प्रकाश-स्तम्भके रूपमें प्रस्थापित की गई थी वह टिमटिमाते दिएकी तरह छोटे-छोटे सकीर्ण सम्प्रदाय बन गई। साम्प्रदायिकता मानव-समाजकी सबसे बडी दुर्बलता और सबसे बडा अभिशाप है, जो कि इन सब महापुरुषोके क्रातिकारी प्रयत्नोंको राहु व केतुकी तरह ग्रस गया है फिर भी निराश होने या हार माननेका कोई कारण नही है। जब कि मानवने किसी भी अन्य क्षेत्रमे निराशा अथवा पराजयको स्वीकार नही किया तब समाज सुधारके ही क्षेत्रमें क्यो निराश अथवा पराजित हुआ जाय। मानवकी आत्मा स्वभावत चैतन्य स्वरूप और प्रगतिशील है। प्रगतिमें ही मानव-जीवनकी शोभा और सार्थकता है। पिछले डेढ दो सौ वर्षोके बाद फिर वह समय आया है जब कि राजनीतिक एवं शासकीय दृष्टिकोण भी समाज-सुधार अथवा सामाजिक क्रातिके सर्वथा अनुकूल है। इसीलिए यह समय है, जबकि पूरे निश्चय, विश्वास और श्रद्धाके साथ समाज-सुधार अथवा धार्मिक एव सामाजिक क्रातिको सम्पन्न करनेमें हमें जुट जाना चाहिए। मध्यकालीन सतोके स्वप्नको पूरा करनेका यही अनुकूल अवसर है।

—:o:—

श्री सत्यदेव विद्यालकार

स्वामी विवेकानन्द

उन्नीसवी सदीके मध्यमें १८५७की राज्यक्रांतिके सर्वथा विफल हो जानेके बाद प्रत्यक्ष रूपमें भारतीय राष्ट्रीयताका प्रकट अथवा विकसित होना सम्भव न रहा। इसलिए वह स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय सरीखे महापुरुषोंके रूपमें अन्तर्मुखी होकर प्रकट हुई। अँगरेज कूटनीतिज्ञोंने इस देशमें अपने साम्राज्यको सुदृढ बनानेके लिए भारतीयोंके स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमानको सर्वथा कुचल डाला था और उनके लिए उन्होने जिन उपायोंका अवलम्बन किया था, उनमें ईसाइयतका प्रचार और पश्चिमी शिक्षाका प्रसार मुख्य थे। दोनोका लक्ष्य एक ही था। वह यह कि भारतीयोमें अपनी किसी भी चीजके लिए गर्व एव गौरवकी अनुभूति नही रहनी चाहिए और पश्चिमी लोगोकी तुलनामें उनमें दीनता व हीनता व्याप्त जानी चाहिए। इसी दृष्टिसे लार्ड मेकालेने भारतीय, भाषा, साहित्य, ज्ञान,-विज्ञान, इतिहास इत्यादि सभीको अत्यन्त तुच्छ ठहराकर पश्चिमकी भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान तथा इतिहास आदिकी अँगरेजी शिक्षा पद्धति द्वारा प्रतिष्ठा की थी। ईसाई पादरी भी भारतीय धर्म, सस्कृति तथा इतिहाससे भारतीयोको विमुख कर उनमें ईसामसीहके प्रति श्रद्धा व प्रतिष्ठा पैदा किया करते थे और उनकी तुलनामें भारतीय सतो, महापुरुषो तथा धर्म सस्थापकोंके प्रति अश्रद्धा एव अनादर पैदा किया करते थे। इन सबका प्रतिकार करके देशवासियोमें स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमानकी भावनाका सचार करने और राष्ट्रीयताको पुन जाग्रत एव प्रस्थापित करनेके लिए ही स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्द सरीखे महापुरुषोका जन्म हुआ था।

स्वामी विवेकानन्दने जो कार्य अमरीका और योरोप जाकर किया वही कार्य स्वामी दयानन्दने देशके कोने-कोनेमें घूमकर किया। वेद और वेदान्तकी प्रतिष्ठा कर दोनो ने यह सिद्ध किया कि पश्चिमकी तुलनामें भारतकी भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, सस्कृति तथा धर्म कही अधिक उन्नत और समृद्ध है। किसी भी बातके लिए भारतको इगलैण्ड, अमरीका तथा योरपपर निर्भर रहनेकी आवश्यकता नही है। स्वामी दयानन्द अँगरेजी भाषा और साहित्यसे सर्वथा अनभिज्ञ थे इसलिए उनपर यह सदेह नही किया जा सकता कि उन्होने अपने विचारोंके लिए कुछ भी किसी विदेशी विद्वानके ग्रथोंसे लिया हो। स्वामी विवेकानन्दका अँगरेजी भाषा एव साहित्यपर पूर्ण अधिकार था, परन्तु उन्होने अपने किसी भी विचारके लिए पश्चिमके किसी भी विद्वानसे मान्यता प्राप्त

नही की। अमरीका और योरप जाकर उन्होने उनकी ही भापामें उनको जो चुनौती दी उसका वे कुछ भी उत्तर नही दे सके। ईसाइयतकी लहरके विरुद्ध दोनोने जो आवाज उठाई, उसका भी कोई उत्तर उनके पास न था। थियोसोफीकी प्रवर्तक मैडम ब्लेव-त्स्कीको स्वामी दयानन्दने लिखा था कि मेरे देशमें किसी भी वातकी कमी नहीं है और अमरीकाके लोग हमें कुछ भी नई वात नही सिखा सकते। इसलिये यह प्रश्न पैदा ही नही होता कि मै तुम्हारे साथ मिलकर काम करूँ। तुमको चाहिए कि तुम मेरे साथ मिलकर कार्य करो। स्वदेशवासियोमें उन्होने कूट-कूटकर यह भावना भरी थी कि हमें विदेशियोंसे कुछ भी लेनेकी आवश्यकता नही है। नकल करने वालेको बुद्धिमान नही कहा जा सकता। ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाजकी उन्होने पश्चिमकी नकल करनेके कारण ही तीव्र आलोचनाकी थी। वे विदेशी आचार-विचार वेश-भूपा, रहन सहन, तथा खान पान आदिके कट्टर विरोधी थे। अपने देश और देशवासियोकी दीनता व हीनता वे किसी भी रूपमें सहन नही कर सकते थे। उन्होने लिखा है कि लोहेको सोना वनानेवाली पारस-मणिकी वात तो झूठी हैं परन्तु एक पारसमणि अवश्य है और वह है मेरा देश आर्यावर्त, जिसको छूनेके साथ ही दरिद्र विदेशी मालामाल हो जाते और सोना वन जाते है। उनका रोम-रोम इसी प्रकारकी उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावनाओंसे ओत-प्रोत था।

यही स्थिति स्वामी विवेकानन्दकी थी। जव वे शिकागोके सर्व-धर्म-सम्मेलनमे वोलनेके लिए खड़े हुए, तव उन्होने समानताके नाते उपस्थित जनताको भाइयो और वहनो कहकर सम्वोधित किया और स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमानकी भावनासे ओत-प्रोत शब्दोमें कहा कि मै संसारके सवसे युवा देशको विश्वके महानतम देशकी पुरातन संन्यासी परम्पराका प्रतिनिधि वनकर उसका आशीर्वाद देने आया हूँ। दीन-हीन और प्राचीन भारतके स्वाभिमान और स्वदेशाभिमानकी विदेशियोपर अमिट छाप लगानेवाले पहले व्यक्ति स्वामी विवेकानन्द थे। एक और अवसरपर सिंह गर्जना करते हुए उन्होने कहा था कि मेरे देशवासी यदि भारतीय महासागरका सारा कीच अपने हाथोमें लेकर पश्चिमपर फेंकना शुरू करें तो उनका वह कृत्य इतना जघन्य नही होगा, जितनी जघन्यता तुम्हारे यहाँके ईसाई पादरी मेरे देशमें जाकर करते हैं। क्या तुम उनको इसी कामके लिए मेरे देशमें भेजते हो और उनपर इतना खर्च करते हो? पेरिसके सर्व-धर्म-सम्मेलन में उनको इसी कारण वोलने की स्वतंत्रता नही दी गई थी कि वे ईसाई धर्मकी तुलनामें भारतीय धर्मको श्रेष्ठ महान और पुरातन वनाते थे। मनुष्यको पापी माननेके ईसाई धर्मके सिद्धान्तकी निन्दा करते हुए जव वे यह कहते थे कि मनुष्यकी आत्मा दिव्य प्रकाशके पुँज परमात्माकी ही प्रतीक है और वह अपनी साधनासे परमात्मा पदको प्राप्त कर सकता है तव ईसाई धर्मके वड़ेसे वड़े विद्वान भी यह माननेको वाध्य हो जाते थे कि ईसाई धर्मके अलावा भी ससारमें कोई दूसरा धर्म है, जो उस की अपेक्षा कही अधिक प्राचीन, महान तथा उन्नत है। पेरिस, इंगलैण्ड तथा योरपके अन्य देशोमें भी उन्होने यह वार-वार कहा कि योरप और इंगलैंण्डमें भी जव जगल खड़े थे, तव मेरे देशमें ज्ञान-विज्ञानका सूर्य अपने पूरे तेजके साथ प्रकट हो चुका था इसलिए उनका यह दावा था कि योरोप व अमरीका भारतसे आज भी वहुत कुछ सीख सकते हैं। इस प्रकार अपने देशकी दीनता व हीनता और पश्चिमकी श्रेष्ठताके विरुद्ध जो विद्रोह उन्होने किया, वह उनकी देशभक्तिका सवसे

वडा प्रमाण है और वह ही उनकी सवसे वडी देश-सेवा है। अमरीकाके लोगोके हृदयमे उन्होने यह भावना सुदृढ करदी थी कि हमें ईसाई पादरी भारत न भेजकर वहाँसे ही मिशनरी अपने देशमें बुलाने चाहिए। उनकी इस भावनाकी पूर्तिके लिए स्वामीजीने अमरीकाके वड़े-वडे शहरोमें वेदान्तके प्रचारका आयोजन किया था और अनेक विद्वान सन्यासियोको उसके लिए वहाँ भेजा था। यह कहा जा सकता है कि पश्चिमके कूट-नीतिज्ञोने धर्म और सस्कृतिके प्रसारकी जो धारा पश्चिमसे भारतकी ओर वहाई थी, उसके प्रवाहको स्वामीजीने वदल दिया था और भारतसे पश्चिमकी ओर एक नई धारा का प्रवाह शुरू कर दिया था। पश्चिमपर भारतकी महत्ता की छाप लगानेवाले पहले देशभक्त राष्ट्रमहापुरुष स्वामी विवेकानन्द थे।

उनका जन्म ९ जनवरी १८६२ को एक कायस्थ परिवारमे हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके परिवारके लोग वश-परपरासे ही धार्मिक एव सात्विक वृत्तिके थे। उनके दादा, कहते हैं, कि जीवनके अतिम दिनोमें सन्यासी वन गये थे। उनके पिता श्री विश्वनाथ दत्त कलकत्तामें एटोर्नी-एट-ला थे। उनकी माता अप्रतिम प्रतिभाशाली महिला थी। उनमें गहरी साधना, मुमुक्षु दृष्टि और तीव्र प्रतिभाके वीज वश परम्परा से ही रोप दिए गए थे। उनका जन्म-नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था और वचपनमें ही उनमे सहानुभूति-सहृदयता, सात्विकता, श्रद्धा, साधना, ईश्वर-भक्ति और आध्यात्म-वृत्ति के गुण पैदा हो गए थे, जो कि जीवनमें उत्तरोत्तर विकसित होते गए। स्वभावत उनमें श्रद्धा, भक्ति एव दार्शनिक दृष्टि विद्यमान थी। युवावस्थामे उन्होंने पूर्व और पश्चिम के दर्शन शास्त्रका तुलनात्मक अध्ययन किया था। हर्वर्ट स्पैन्सर और जान स्टुअर्ट मिल आदिको उन्होने कालेजके दिनोमें अध्ययन किया था। हर्वर्ट स्पैन्सरको उन्होंने एक आलोचनात्मक तर्कपूर्ण पत्र लिखा था जिसकी यथार्थताको उसने भी स्वीकार किया था। उनके प्रिंसिपल मि० हेस्टीकी यह सम्मति थी कि "वे वास्तवमें ही अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न है। मैंने जर्मनीके विश्वविद्यालयोमें भी उन जैसा गुणी दार्शनिक युवक नही देखा। वे जीवनमें अवश्य ही अपूर्व ख्याति प्राप्त करेंगे।"

युवावस्थामें उनका झुकाव नास्तिकवादकी ओर हुआ परन्तु वे तुरन्त सँभल गए। इसपर उन्होंने स्वय ही एक व्याख्यानमे कहा था कि "मैं यह नही मानता कि कोई हिन्दू अनीश्वरवादी वन सकता है। पश्चिमका साहित्य पढकर वह भौतिकवादी वन सकता है परन्तु पाँच माससे अधिकके लिए नही, क्योंकि वैसा वनना उसके खूनमें नही है।" वह स्वभावत भावुक, आस्तिक एव ईश्वरवादी थे। इसके वाद उनका झुकाव ब्रह्म-वादियोकी ओर हुआ, किन्तु उन्होंने अनुभव किया कि वे अत्यन्त सकीर्ण हैं और उनकी आत्माको उनसे सतोष नही मिल सकता। इसके वाद उनको उस मानसिक स्थितिमें से गुजरना पडा जिसमेंसे प्राय प्रत्येक महापुरुष और क्रातिकारी सुधारक को गुजरना पड़ना है। उस समय ही उनमें अध्यात्म क्षुधा जाग्रत होती है जो सत्यकी खोजमे उनको लगा देती है। वी० ए०पास करनेके वाद उनके पिता उनको कानून पढाना चाहते थे, परन्तु उन दिनोमें अपनी इस मानसिक स्थितिके ही कारण वे कानूनका अध्ययन नही कर सके और उस गुरुकी खोजमें लग गए जो उनकी अध्यात्म-क्षुधाकी तृप्ति कर सकता।

इन्हीं दिनोंमें उनको श्री रामकृष्ण परमहंस वैसे ही मिल गए जैसे स्वामी दयानन्द को प्रज्ञाचक्षु गुरु विरजानन्द मिले थे।

कहते हैं कि पहली ही भेंटमें गुरु और शिष्य दोनोंने एक-दूसरेको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। गुरुने शिष्यकी योग्यता और शिष्यने गुरुकी योग्यताको भाँप लिया। शिष्य गुरुसे वेदान्तका नियमित अध्ययन करने लग गया और अपनी आशंकाओंका उनसे उत्तर पाकर सत्यकी खोजमें गहरा उतरता चला गया। श्री रामकृष्ण परमहंसका १६ अगस्त १८८६ को निधन हो गया। उनके सभी शिष्योंने संन्यास आश्रममें प्रवेश करके उनके कार्य और मिशनकी पूर्त्तिमें अपनेको खपा देनेका संकल्प कर लिया। और रामकृष्ण मिशनकी स्थापना की, जिसकी इस समय ११० से अधिक शाखाएँ सारे संसारमें विद्यमान हैं। निःसंदेह श्री नरेन्द्रनाथदत्त भी उनमें एक थे, जो संन्यास धारण करनेके बाद स्वामी विवेकानन्दके नामसे प्रसिद्ध हुए। जिस व्यक्तिने विवेकके प्रकाशमें अपने जीवनका निर्माण करना प्रारम्भ किया था उसको विवेकमें ही लोकोत्तर आनन्दके दर्शन हो सकते थे,। इसी कारण उनका यह नाम सर्वथा सार्थक सिद्ध हुआ।

सन्यास धारण करनेके बाद वे हिमालयकी ओर चल दिए और तिब्बतमें रहकर उन्होंने तपस्या एवं अध्ययनमें अपनेको लगा दिया। कुछ समय बाद वे वहाँ से दक्षिणकी ओर कुमारी अन्तरीप अथवा दक्षिणेश्वर चले गए। वहाँसे मद्रास आए जहाँ कुछ मित्रोंने उनको शिकागोके सर्व-धर्म-सम्मेलनके लिए अमरीका भेजनेका निश्चय किया। कुछ चन्दा करके ३१ मई १८९३को उनको जापानके रास्ते वहाँ भेज दिया गया।

वहाँ पहुँचकर उनको भयानक आर्थिक तंगीका सामना करना पडा। घर-घरसे भीख माँगकर वे अपना काम चलाने लगे। एक दिन एक वृद्धा स्त्रीने कौतुहलवश उनको अपने यहाँ भोजनके लिए निमंत्रित किया और अपने कुछ साथियोंको भी इस विचारसे बुलाया। वे उस युवा संन्यासीको देखकर प्रसन्न हुए। यह कौतुक उनके लिए बडा कीमती सिद्ध हुआ। जो वहाँ आए थे उनकी विद्वत्ता, वक्तृता, तर्कशक्ति, युक्ति तथा गम्भीर अध्ययनसे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने दर्शनके एक उपाध्यायसे उनकी चर्चा करवाई। वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उनको सर्वधर्म-सम्मेलनके अध्यक्ष डा० बैरोजके पास ले गया। कठिनाई यह भी थी कि स्वामीजी न तो किसी धर्म विशेषके प्रतिनिधि थे और न किसी धार्मिक संस्थाने ही उनको अपना प्रतिनिधि बनाकर वहाँ भेजा था। इसी कारण सम्मेलनके सयोजकोंने उनको उसमें सम्मिलित नही होने दिया। केवल अपनी योग्यता विद्वत्ता और वक्तृत्व-शक्तिके सहारे जब उनको उसमें प्रवेश मिला तब वे सहसा ही सबके आकर्षणके केन्द्र-बिन्दु बन गए और ११ सितम्बर, १८९३ को अपने पहले ही भाषणसे सब पर छा गए। सम्मेलनमें सबकी आँखें उनपर लगी रहती थी। सब उनका भाषण सुननेके लिए आतुर रहते थे। सम्मेलनके अध्यक्ष उपस्थितिको बनाए रखनेके लिए उनको सबके बाद समय देते थे और बीच-बीचमें उनके भाषणकी सूचना देते रहते थे। वे जादूकी तरह सबको मोह लेते थे।

"न्यूयार्क हेरल्डने तब लिखा था कि "उस सर्व-धर्म-सम्मेलनमें बिना किसी सन्देहके स्वामी विवेकानन्द सबसे महान व्यक्ति थे। उनका भाषण सुननेके बाद हमें यह अनुभव हुआ कि ऐसे विद्वान् के देशमें ईसाई मिशनरी भेजना कैसी भयानक भूल है?" "न्यूयार्क

क्रिटिक" ने लिखा था कि "वे दैवी शक्ति प्राप्त वक्ता हैं। उनकी मनोहर वेष भूषामें उनका प्रतिभा सम्पन्न चेहरा कुछ कम आकर्षक नही है, किन्तु उनकी वाणीमें जो तेज व ओज है, वह और भी अधिक आकर्षक है।"

सर्वधर्म-सम्मेलनमें उनकी उपस्थितिका सारे अमरीकापर अद्भुत प्रभाव पड़ा। स्थान-स्थानसे निमत्रण प्राप्त होनेपर उन्होने अमरीकाका व्यापक दौरा किया, कई स्थानो पर भाषण दिए और वेदान्तके प्रति जनतामें आस्था पैदा की। इसमें उनको तीन वर्ष लग गए।

वहाँसे वे इंगलैण्ड आए और लन्दनमें दो मास रहकर उन्होने वेदान्तपर अनेक व्याख्यान दिए। तब समाचार-पत्रोमे लिखा गया था कि लन्दनमें सभी तरहके लोग रहते है, परन्तु इन दिनोमें वह महत्वपूर्ण व्यक्ति यहाँ आया हुआ है जिसने शिकागोके सर्वधर्म-सम्मेलनमें हिन्दू धर्मका प्रतिनिधित्व किया था। उनके व्याख्यानोका ऐसा प्रभाव पडा कि अनेक उनके शिष्य वन गए। उनमें मि० मैन्डन्वर्ग (जो वादमें स्वामी कृपानन्द कहलाए), मैडम लुई (वादको स्वामी अभयानन्द), मिस मार्गरेट नोवल (वादको सिस्टर निवेदिता), जे० जे० गौडविन और कैप्टेन सीवियर आदि थे।

१६ दिसम्वर १८९६ को वे स्वदेश लौट आए। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होने पश्चिम के भौतिकवादी लोगोके सम्मुख भारतके अध्यात्मवादका ऊँचा, महान और पुरातन आदर्श उपस्थित करके अपने देशकी महानताका चित्र उनके सामने रखा था। जो भारतको अत्यन्त दीन हीन दृष्टिसे देखते थे उनको उसके वास्तविक स्वरूपका पहली बार परिचय मिला और वे उसपर चकित रह गए।

श्रीलकामें जहाजसे उतरकर वे स्वास्थ्य लाभके लिए अलमोड़ा गए। जगह-जगह पर जनताने उनका विजयी वीर महा सेनापतिकी तरह स्वागत एव अभिनन्दन किया। वे केवल कोरे वक्ता ही नही थे, अपने विचारकोंके प्रति उनमें वडी गहरी निष्ठा और आस्था थी। उनको क्रियात्मक रूप देनेके लिए वे अत्यन्त आतुर रहा करते थे। उनको यह हार्दिक अभीलाषा थी कि वेदान्त सारी मानव जातिका धर्म वन जाय और नैतिक, आध्यात्मिक एव दैवी गुणोमें हिन्दू जातिका सिक्का सारे विश्वपर एक बार फिर लग जाय। उन्होने इसी दृष्टिसे हिन्दू-जातिकी अतरात्माको जगानेका प्रयत्न किया। उसके जीवनके व्यवहार और धार्मिक आदर्शोके वीच जो गहरी खाई वन गई थी, उसको पाटनेका भी उन्होने यशस्वी प्रयत्न किया। उन्होने पुरानी रूढियो, कुप्रथाओ और अधविश्वासोको भी दूर करनेके लिए आवाज उठाई। रामकृष्ण मिशनका नए सिरे से सगठन करके उसकी शाखाएँ जहाँ-तहाँ स्थापित की। १८९७ के भयानक प्लेग और दुर्भिक्षमें सेवाका कार्य भी सगठित किया।

उनका स्वास्थ्य एकाएक विगडना शुरू हो गया। डाक्टरोकी सलाहपर वे जून १८९९ में इगलैण्ड होते हुए फिर अमरीका गए। सान फ्रासिसकोमें इस यात्रामें उन्होने 'शान्ति आश्रम' और 'वेदान्त सोसाइटी'की स्थापना की, जो इस समय खूब फल-फूल रही है। वहाँसे वे फ्रासमे सर्वधर्म सम्मेलनमें सम्मिलित होनेके लिए आए। लौटते हुए उन्होने योरोपके कई देशोका दौरा किया। स्वास्थ्य कार्यका इतना भार सहन नही कर सका और जानेकी अपेक्षा कही अधिक गिरा हुआ स्वास्थ्य लेकर वे स्वदेश वापस

आए। यहाँ आकर स्वास्थ्यकी परवाह किए विना ही फिर अपने काममें जुट गए। बनारसमें संस्कृत और वेदान्तके अध्ययनके लिए उन्होने एक पाठशाला कायम की और कलकत्ताके सामने हावडाके नीचे वेलूरमें श्री रामकृष्ण परमहंसकी स्मृतिमें एक मठ कायम किया। इसी मठमें जुलाई १९०२ को उनके इस नश्वर देहको उनकी आत्मा सदाके लिए छोड गई। वहुत सवेरे ही उन्हे अपने शरीरान्त होनेका आभास मिल गया था। कुछका कहना यह भी है कि वहुत पहले ही उन्होने उसके सम्वन्वमें भविष्य-वाणी कर दी थी। बड़े सवेरे सदाकी भाँति वे समाधि अवस्थामें ध्यानमग्न रहे। फिर अपने साथियोके साथ संस्कृतमें कुछ चर्चा-वार्त्ता की। दोपहरको भी वैदिक विषयोपर चर्चा-वार्ता की गई और शामको वे फिर समाधिस्थ हो गए। उसके वाद कुछ थोड़ा सा टहलने गए और लौटकर फिर ध्यानमग्न हो गए। यह उनकी अंतिम समाधि थी, जव कि रातको नौ वजे उनकी जाग्रत दिव्य आत्माने नश्वर शरीर का यह चोला छोड दिया।

पश्चिमके लोगोपर अपने देशकी महत्ता व प्राचीनता और उसके धर्म, संस्कृति, साहित्य तथा ज्ञान विज्ञानकी गहरी छाप लगानेके साथ-साथ उन्होंने स्वदेशवासियोमें स्वाभिमान और स्वदेशाभिमानकी जिस भावनाका संचार किया, वह उनकी वहुत वडी सेवा है। उसीमें उनका देश-प्रेम और राष्ट्र-भक्ति समाई हुई है। वे वचपनसे ही सुधारक और प्रगतिशील विचारके थे। अपने देशके युवकोको वे प्राय· यह कहा करते थे कि किसी भी वातको इसलिए मत मानो कि वह किसी महापुरुषने कही है अथवा किसी महापुरुषके नामसे लिखे गए ग्रथमें पाई जाती है। हर वातको तर्क और विवेककी कसौटीपर कसनेके वाद ही स्वीकार करो। इसी प्रकार वे यह भी कहा करते थे कि नाक पकड़कर लम्वे सास लेने अथवा आँखें मूंदकर कोरा जाप करनेसे फुटवालके मैदान में घंटा भर खेल लेना कही अधिक अच्छा है। उस खेलसे पैदा होनेवाली शक्ति की देशको कही अधिक आवश्यकता है। वचपनमें ही उन्होने भूत-प्रेत आदिके मिथ्या विश्वासोको माननेसे इनकार कर दिया था। अपने पासके मकानमें लगे हुए एक पेड़ पर चढ़कर वे और उनके साथी वडी धूम मचाया करते थे। मकान-मालिकने लड़को को डराने और भगानेके लिए भूतका भय वताना शुरू किया। वाकी सव साथियोने डरकर वहाँ आना छोड़ दिया, परन्तु नरेन्द्र वहाँ जाता, सिर नीचे करके पेड़पर लटक जाता और कहता कि वताओ वह भूत कहाँ है? पढनेमें इतने कुशाग्र वुद्धि थे कि कहते हैं कि पुस्तकके पन्नेकी एक एक पंक्ति न पढकर सारा पन्ना एक साथ पढ लेते थे और अध्यापको जो पाठ पढाना होता था उसको वे पहले से ही स्वयं तैयार कर लेते थे। कालेजमें उनको प्रवेश नही मिल सका, तव उनके पुराने अध्यापकने उनकी योग्यतापर मुग्ध होकर उनको विना पढ़े हुए ही ऊँची कक्षामें दाखिल करवा दिया और परीक्षामें भी वैठनेका अवसर दिला दिया! यही वह प्रतिभा थी, जिसने योरप व अमरीकाके लोगोको भी मंत्रमुग्ध कर डाला।

उनकी दृष्टिमें धर्म साधनाका विषय था और इसीको वे लोगोंके दिल व दिमागमें वैठा देना चाहते थे। वे इस विचारको जड मूलसे नष्ट कर देना चाहते थे कि धर्म ग्रंथ श्रद्धाका विषय है और उसमें तर्क अथवा युक्ति के लिए कोई स्थान नही है। इसके

विपरीत वे यह बताना चाहते थे कि "यस्तर्केणानुसन्धात्ते स धर्मम् वेद नेतर" अर्थात् जो तर्कके अनुकूल है वही धर्म है। आत्माकी प्राप्ति उनकी दृष्टिमें धर्मका लक्ष्य था। दूसरा उनका विचार यह था कि आत्मा अनन्त है। उसका कोई ओरछोर नहीं है। कुछ लोगोका यह कहना था कि ऐसा माननेसे नैतिकताका आधार नष्ट हो जायेगा। उनका उत्तर यह था कि ऐसा सोचना पाशविक वृत्तिका सूचक है, जिसको कि केवल चाबुकसे काबू में रखा जा सकता है। वे नैतिकताका अर्थ दूसरोकी भलाई करना किया करते थे, जो कि सभी धर्मोका सार है। अद्वैतमें इस विचारकी सर्वोत्तम व्याख्या की गई है। उसकी मान्यता यह है कि जो भी कोई दूसरेकी हानि करता है, वह अपनी ही हानि करता है। वे इसाई धर्मके इस विचारको बिलकुल भी नही मानते थे कि प्रत्येक मनुष्य पापी है। इसके विपरीत वे यह मानते थे कि प्रत्येक मनुष्यमें आत्माकी दिव्य ज्योति विद्यमान है। अमरीकामें जब उन्होंने इस विचारका प्रतिपादन किया था तब वहांके लोग स्तब्ध रह गए थे। पापात्मा होनेके विचारसे जो निराशा मानवमें छायी रह सकती है, उसको दूर करनेवाला यही विचार है कि वह अपनेको तेजोमय भगवानका अंश या उसका प्रतिनिधि माने। उनका तर्क, तथा युक्ति अत्यन्त सरल उदाहरणोंसे स्पष्ट की जाती थी। वे प्रायः कहा करते थे कि बिजलीका बटन दबाते ही उसकी जो लहर दौड पड़ती है और उससे जो प्रकाश होता है, उसका स्रोत कही दूर बने हुए बिजलीघरमें है। बिजलीघर वह भगवान है और हम सबकी स्थिति भिन्न-भिन्न बत्तियोंके समान है। स्विच ठीक हुआ कि हम सबमें सहसा ही प्रकाश का सचार हो जाता है।

वे किसी व्यक्ति-विशेष अथवा पदार्थ-विशेषको परमात्मा मानकर पूजनेके सर्वथा विरुद्ध थे। उनका कहना यह था कि जिस पूर्ण व्यक्तिमें परमात्माकी कल्पना की जाती है, वह परमात्मा नही हो सकता; केवल उसकी प्रतिमा ही हो सकती है। मूर्तिपूजामें निहित भावना यही है कि हम उसको परमात्मा नही किन्तु परमात्माकी केवल प्रतिमा मानकर पूजते है।

उन्होंने सहिष्णुताका भी निरन्तर उपदेश दिया। जोर जबर्दस्ती तथा बलात्कार उनकी दृष्टिमें धर्मके विरोधी थे। धर्मको साधनाका विषय मानते हुए विभिन्न सम्प्रदायो को वे साधन मात्र मानते थे। एक मनुष्य मुसलमान, ईसाई अथवा बौद्ध होते हुए भी पूर्ण हो सकता है, क्योंकि एक ही बिजली घरको जोड़नेवाले अनेक तार हो सकते है और एक ही शहरको जानेवाली अनेक सडकें भी हो सकती है। इसी आधारपर वे सहिष्णुताका प्रतिपादन किया करते थे।

वे सार्वभौम धर्मका प्रतिपादन करते हुए यह कहा करते थे कि वह विध्वंसात्मक नहीं, निर्माणात्मक है। उसको प्राप्त करनेका मार्ग यह नही है कि किसी एक धर्मको अपनाकर दूसरोकी निन्दा की जाय। हर एक धर्ममें अपना-अपना दर्शन, पुराण और कर्मकाण्ड है। सबका अपना-अपना महत्व है। फिर यह भी नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्योंके स्वभाव भी भिन्न-भिन्न है? कोई विचारक अथवा दार्शनिक है, तो दूसरा भक्तिवादी, तीसरा रहस्यवादी और चौथा कर्मकाण्डी हो सकता है। इसीलिए योगके ध्यानयोग, राजयोग, हठयोग, भक्तियोग, और कर्म योग आदि कितने ही भेद बताए गए है। लक्ष्य सबका एक ही है और वह है आत्माकी प्राप्ति।

समाज-सुधारके सम्बन्धमें भी उनके विचार बिलकुल स्पष्ट थे। उन्होंने धर्मान्धता, रूढ़िवाद और मिथ्या-विश्वासोंको दूर करनेपर पूरा जोर दिया। वे लोगोंके कूप-मंडूक न बने रहकर खुली आँखोंसे दुनियाको देखनेके लिए कहा करते थे। पीछेकी ओर न देखकर आगे बढ़नेके लिए प्रेरित किया करते थे। वे कहा करते थे कि जीवन प्रगतिशील है और आजका हमारा जीवन पिछली अनेक सदियोंमें की गई प्रगति एवं विकासका परिणाम है। उनका यह भी कहना था कि समाज-सुधारका कार्य आम जनताके जीवनसे प्रारम्भ होना चाहिए। उसको केवल कुछ ऊँचे लोगों तक सीमित रखनेसे कोई लाभ नहीं मिल सकता। पिछली एक सदीमें किए गए समाज सुधारके कार्यको वे केवल शोभाकी वस्तु कहा करते थे, क्योंकि उनकी दृष्टिमें उसका सम्बन्ध केवल उच्च वर्णके लोगोंके साथ था और आम जनता तक उसकी पहुँच नहीं हो सकी थी, उनका यह भी कहना था कि ये सुधार केवल विदेशियोंके सामने बन ठन कर आनेके लिए किए जाते हैं। ये वास्तविक सुधार नहीं है, समाज-सुधारका आधार उनकी दृष्टिमें विदेशियोंकी नकल करना न था, अपितु वे राष्ट्रीय जीवनको उसका आधार बनाना चाहते थे। अपने जीवनमें विदेशी जीवनकी कलमें लगाना उनको बिलकुल भी पसन्द न था। वे यह भी कहा करते थे कि जो दूसरोंके लिए अमृत है, वह हमारे लिए विष हो सकता है। उनकी सामाजिक संस्थाएँ आचार, विचार, रहन, सहन आदि उनके लिए उत्तम हैं, परन्तु हमारे लिए वह ग्राह्य नहीं हैं। वर्तमान जात-पांतके सम्बन्धमें उनका कहना यह था कि ब्राह्मणोंको नीचे गिरानेकी अपेक्षा स्त्रीको उनके धरातलमें ले आना चाहिए। ब्राह्मणोंके एकाधिकारके दिन लद गए। संस्कृतके अध्ययनका वे सबको समान रूपसे अधिकारी मानते थे। उनका कहना यह था कि हर जातिको अपनेको ब्राह्मण घोषित करके संस्कृतका अध्ययन शुरू कर देना चाहिए और अपनी सामाजिक-प्रतिष्ठा उनके समान बना लेना चाहिए। ब्राह्मणोंको वे अपनी अव-धारणाओंसे ऊपर उठनेकी प्रेरणा दिया करते थे और कहा करते थे कि अपनेको ऊँचा माननेवालोंको अपने ही हाथोंसे अपनी उच्चताकी कब्र खोद डालनी चाहिए। वे जितनी जल्दी ऐसा कर सकेंगे, उतना ही उनका भला है।

वर्तमान शिक्षाप्रणालीके भी वे विरुद्ध थे। उनका कहना यह था कि यह शिक्षा मानव और उसके चरित्रका निर्माण नहीं करती। यह ऐसी निषेधात्मक शिक्षा है कि उससे तो मृत्यु कहीं अधिक अच्छी है। शिक्षाका अर्थ अपने दिमागमें सब तरहकी जानकारी भरकर उसको वाटरलूकी लड़ाईका मैदान बना लेना नहीं है। जीवन-निर्माण चरित्र-निर्माण और मानव-निर्माण उसका लक्ष्य होना चाहिए, जिसका कि उसमें सर्वथा अभाव है। सारे पुस्तकालयको दिमागमें भर लेनेसे किन्हीं भी पाँच बातोंको लेकर अपने जीवनका निर्माण कर लेना कहीं अधिक सच्ची शिक्षा है। उनका यह भी कहना था कि हमारी इस समयकी हालत बिलकुल पशुओंके समान है और समाजके चाबुकका हमपर नियन्त्रण है। हमारी नैतिकताका आधार पुलिस है। यदि कहीं समाज और पुलिसका भय न हो तो कौन सा ऐसा कुकर्म है जिसको करनेमें हम न लग जायँ।

अमरीकामें अपने व्याख्यानोमें में वे प्राय यह कहा करते थे कि "मेरे देशवासियोको तुम्हारे धर्मकी आवश्यकता नही है। रोटीकी आवश्यकता है और तुम रोटी न देकर उनको पत्थर दे रहे हो।" अपने देशवासियोंसे वह कहा करते थे कि "हमारी कोमलता ने हमें रुईका गाला वना दिया है। अब हमारे देश और जातिको जिन चीजोंकी जरूरत है, वह है—लोहेके हाथ-पैर फौलादके पुट्ठे और दृढ सकल्प शक्ति, जिसको दुनियाकी कोई शक्ति रोक न सके।" अपने देशके सुधारकोंके सम्वन्धमें उनका यह कथन कितना प्रेरणादायक था कि "क्या भारतमें कभी सुधारकोकी कमी रही है? क्या कभी तुमने भारतका इतिहास पढा है? रामानुज कौन थे? शकर कौन थे? नानक कौन थे, ? चैतन्य कौन थे? दादू कौन थे? क्या रामानुज नीची जातियोकी ओर से लापरवाह थे? क्या वह आजीवन इस वातका यत्न नही करते रहे कि चमारो को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित करलें? क्या उन्होंने मुसलमानोको अपनी मडली में मिलानेकी कोशिश नही की थी? क्या गुरु नानकने हिन्दू-मुसलमान दोनो जातियो को मिलाकर एक वनाना नही चाहा था? इन सव महापुरुषोने सुधारके लिए यत्न किए, और उनका नाम अभी तक कायम है। अन्तर इतना है कि वह लोग कटुवादी न थे। उनके मुँहसे जव निकलते थे, मीठे वचन ही निकलते थे। वह कभी किसीको गाली नही देते थे, किसीकी निन्दा नही करते थे। निस्सदेह सामाजिक जीवनके इन गुरुतर और महत्वपूर्ण प्रश्नोकी हमने उपेक्षा की है और प्राचीनोने जो मार्ग स्वीकार किय था, उससे विमुख हो गए है।"

स्वदेशाभिमानसे ओत-प्रोत उनके ये शब्द प्रत्येक भारतवासीको अपने हृदयपर अकित कर लेने चाहिए कि "प्यारे देशवासियो! पुनीत आर्यावर्तमें वसनेवालो! क्या तुम अपनी इस तिरस्करणीय भीरतासे वह स्वाधीनता प्राप्त कर सकोगे, जो केवल वीर पुरुषोका अधिकार है? हे वीर पुरुषो! मर्द वनो और ललकारकर कहो, मैं भारतीय हूँ। भारतका रहनेवाला हूँ। हरएक भारतवासी चाहे वह कोई भी हो, मेरा भाई है। अपढ, निर्धन, ऊँची जातिके और नीची जातिके सव भारतीय मेरे भाई है। भारत मेरा जीवन और मेरा प्राण है। भारतके देवता मेरा भरण-पोषण करते है। भारत मेरे वचपनका हिंडोला, मेरे यौवनका विलास-भवन और वुढापे का वैकुठ है।"

स्वामीजीके विचार सर्वथा मौलिक थे। वे अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। उनकी तर्कशैली कमालकी थी। दृष्टि वडी पैनी थी। उनका व्यक्तित्व हिमालयके समान महान, पाडित्य सागरके समान अगाध और वक्तृत्व शक्तिमें गगाकी धाराका-सा अजस्र प्रवाह था। इसी कारण उनके तेजमय और त्यागमय जीवनमें एक विचित्र आकर्षण था। जो कि हर किसीको मन्त्रमुग्ध कर लेता था। उनकी साधना व तपस्या चरमसीमापर पहुँची हुई थी। उनकी सच्चाई और ईमानदारी सदेहसे सर्वथा रहित थी। उनका चरित्र स्फटिक मणिके समान पवित्र था। उन्होंने अपना सर्वस्व अपने देश और मानव-समाज की सेवामें अर्पित कर दिया था। उनका तेजस्वी जीवन और ओजस्वी विचार आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकते है। सामाजिक जडता तथा धार्मिक मूढता को दूर

करनेका उन्होंने वैसे ही प्रयत्न किया जैसे किसी तालावके सड़े हुए पानीको साफ किया जाता है। ऐसे आदर्श एवं महान जीवनका केवल ४० वर्षकी आयुमें अंत हो गया। महापुरुषोके जीवनकी ज्योति के इतनी जल्दी बुझ जानेके सम्बन्धमें उन्होंने स्वयं ही एक वार कहा था कि "उनका जीवन उस मोमवत्ती जैसा होता है, जो दोनो ओरसे जलती और जल्दी ही समाप्त हो जाती है।"

---:o:---

श्रीमती निर्मलारानी तनेजा

श्रीस्वामी रामतीर्थ

"बाहरी रीति-रिवाज पूरा करना, तीर्थयात्रा करना, ब्राह्मणोको दान देना, मंदिर, स्कूल, अस्पताल, आदि बनाना धर्म नही है। सिर्फ पूजा-पाठमें ही समय बिताना धर्म नही है। यह सब बातें पाखड, दिखलावा और दूसरोको ठगनेका जरिया भी बन सकती है। सच्चा धर्म समाज-सेवा और सामाजिक उन्नतिमें है। जिस समाजकी जडमें कुरीतियो और सामाजिक दोषोका घुन लगा हुआ है, वह धर्मका ठीक पालन कैसे कर सकता है। धर्म तो नि स्वार्थ-सेवा, समबुद्धि, निर्भयता और दलित तथा अत्याचारसे पीडितोके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार में है। इस प्रकारके उच्च नैतिक-जीवनका अटूट आभास ही धर्मकी निशानी है।"

"जब राम अछूतोका ख्याल करता है, तब उसका दिल बहुत दुखी हो जाता है।"

"जात-पाँतकी भावना बराबरीकी दुश्मन है और मानसिक उन्नतिको रोकती है। उपनिषदो और वेदान्तकी शिक्षा बहुत अच्छी है, पर आज कलके हिन्दू तो क्या खायें, कैसे खाएँ, क्या पहिनें—इत्यादिके दलदलमें ही फँसे हुए हैं। हिन्दुओमें गायकी पूजा का भाव भी अक्लकी सीमासे गुजर चुका है।"

ये धार्मिक और सामाजिक क्रांतिकारी शब्द १९ वीं और २० वीं सदीके सधिकालमे भारतमें हुए एक महान सुधारक स्वामी रामतीर्थ के है, जिन्होने १९०२ से १९०४ तक जापान अमेरिका और मिश्रकी यात्राके बाद भारत वापस आनेपर कहे थे। शिकागोके सर्वधर्म-सम्मेलनमें आप भारतके प्रतिनिधि बनकर गये थे। स्वामी विवेकानन्दके बाद आप दूसरे सन्यासी थे, जो भारतीय व संस्कृति विद्या और आध्यात्मिक ज्ञानका प्रचार करनेके लिए विदेशोमें गए। अमेरिकाके प्रमुख नगरोमें आपके व्याख्यानोकी धूम मच गई थी। आपके युक्तिसगत प्रभावोत्पादक और तर्कपूर्ण भाषणोका अमेरिकी जनतापर गहरा प्रभाव पडा। वहांकी भौतिकवादी जनता वेदान्त और आध्यात्मिक तत्वोकी ऐसी विशद, हृदयग्राही और दैनिक जीवनमें कार्यान्वित की जा सकने वाली व्याख्या सुनकर दग रह गई।

अमेरिका जाते हुए स्वामी रामतीर्थ जापान भी दो सप्ताह तक ठहरे थे। आपको जापानकी तीन चीजोने सबसे अधिक प्रभावित किया। आपने अपने प्रिय शिष्य प्रोफेसर पूर्णसिहको एक पत्रमें लिखा—

"जापानकी तीन बातें विशेष तौरपर जिक्र करने योग्य है। एक तो यह कि वहाँ दस्तकारी ऊँचे दर्जेकी थी। बड़ी-बड़ी मिलोंके अलावा घरेलू धंधे इतने विस्तृत पैमाने पर थे कि मानो हर घर कारखाना बन गया था। पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे अपने हाथों से बडे शौकसे काम करते थे। वे हम भारतीयोकी तरह सुस्त नही है और न ही शारीरिक मेहनतसे दूर भागते है। दूसरी बात यह है कि वहाँ धार्मिक पागलपन नही। उन्हें ऐसी बातोंपर झगड़ा करनेकी फुरसत नही। भारतमें तो लोग निकम्मी बहसमें बडी दिलचस्पी लेते है। तीसरी बात यह कि जापानी फूलोसे बहुत ही प्यार करते है।"

भगवे कपड़े का त्याग

इस विदेश यात्रासे स्वामीजीके विचारोपर गहरा प्रभाव पडा। देशकी परतंत्रता और सामाजिक कुरीतियोको देखकर हृदयमें बड़ी ग्लानि हुई। भगवे कपड़ोकी आड़ में होनेवाले पापोको देखकर वह बड़े उद्विग्न हुए और एक दिन पूर्णजीसे बोले—

"रामको यह कभी मालूम न था कि यह भगवे-कपड़े इस देशमें अब आजादीकी निशानी नही रहे। गुलामोने भी भगवे कपडे पहनना शुरू कर दिया है। यह ऐसी दिखलावेकी चीज बन गई है कि अब जी नही चाहता कि इन्हें पहनूं। आजादीकी पोशाक न होनेसे मै इन भगवे कपडोको एक आम सभामें फाड़ डालूंगा।"

इस निश्चयके अनुसार स्वामी रामने भगवी पोशाकका त्याग कर दिया।

स्वामी राम के समाज का स्वरूप

स्वामी रामतीर्थ एक ऐसे भारतका स्वप्न देखते थे जिसमें जात-पात, ऊँच-नीच और छूत-अछूतकी विषमता न हो, जहाँ बाल विधवाएँ न हो और जहाँ स्त्री-पुरुषके बीच सर्वथा समानता हो। आपने एक व्याख्यानमें कहा था—

"जब तक भारत सामाजिक दोषोसे मुक्ति नही पाता है, तब तक वह विदेशी शासनसे भी छुटकारा नही पा सकता है। वही समाज उन्नत है, जिसमें निर्धन बच्चे और स्त्रियाँ सुखी है। समाजके यह तीनो अग उसकी उन्नतिके माप-तौल हैं। भारतमें विभिन्न आन्दोलन इसीलिए विफल हुए क्योकि समाजकी इन जडोको ठीक प्रकार सीचा नही गया। देशभक्तोकी ताकत समाजके ऊपर के अंश राजा, अमीर-उमराव जमीदार इत्यादिकी सेवामें ही खर्च हुई। यह तो समाजके पत्ते और शाखाओंके समान ही है।"

स्वामी रामके निम्नलिखित शब्द कितने सारपूर्ण है –

"किसीको बढिया दान देना हो, तो उसे ज्ञानका धन दान करो। तुम किसीको आज खाना खिला दो, कल फिर वह वैसा ही भूखा होगा। उसे कोई हुनर सिखा दो वह उम्र भरके लिए रोटी कमाने लायक हो जाएगा।"

"पहले जाओ गरीब, पतित, दलित, अछूत और अज्ञानियोकी सेवा करो। फिर आकर मुझसे वेदान्तपर बहस करना।"

"ब्राह्मणोने शूद्रोपर अत्याचार किये इसीका फल यह अछूत है। गीता और वेदान्त को माननेवाले हिन्दुओंके माथेपर यह कलंक ही है।"

स्वामी रामतीर्थ धर्मकी आड़में, निरर्थक रीति-रिवाज और रूढ़ियोंके कट्टर विरोधी थे। यद्यपि उनका जीवन, अधिकाश, भक्तिमय और ब्रह्म-साधना तथा वेदान्त-चर्चामें

लगता था, पर हिन्दू समाजमें घर किए हुए दोषोके निराकरण में आप किसीसे पीछे नही थे। धर्ममें दम्भ और छल-कपटके और किसी पुस्तक-विशेषको ही ज्ञानका एकमात्र स्रोत माननेके स्वामी राम कट्टर विरोधी थे। आप अनुभव और स्वतंत्र विचारको प्राथमिकता देते थे। आपके व्याख्यान-सग्रहमें निम्नलिखित शब्द वडे मार्केके हैं—

"जो बात हमने अपने अनुभवसे आजमाकर देखली है, उससे वढकर और क्या सवूत हो सकता है ? भारतकी वेवसी और गिरावटकी वजह यह है कि यहाँ लोग जीवनके अनुभवसे लाभ उठानेके वजाय पुरानी पुस्तकोकी व्याख्याके दास वन गये हैं। धर्म-शास्त्रोमें सच्चाइयाँ भरी पडी हैं लेकिन वह सवकी सव तव तक वेकार है, जव तक कि हम उनकी छान-वीन न करलें और निजी अनुभवसे उनके सत्य होनेकी गवाही न दे दें।"

"भारतमें विचारोकी स्वतत्रता एक महापाप माना जाता है। जैसे वन्दरी मरे हुए वच्चेको चिपटाए रहती हैं, ऐसे ही भारतवासी निर्जीव, भ्रान्त और निरर्थक सामाजिक रीति-रिवाजोको चिपटाए हुए हैं। हम यही समझते है कि जो कुछ मुर्दा भाषासे आता है, वही पवित्र है।"

"अपनेको धार्मिक कहनेवाले लोग न अपनी आँखोसे देखते है, और न ही अपने कानो से सुनते है। अपनी वुद्धिको तो वह धार्मिक वातोमें इस्तेमाल करते ही नही। वह धर्म, जिसका आधार किसी औरकी गवाहीपर निर्भर हो, धर्म ही नही। सत्य वही है जिसका आधार तुम्हारी अपनी गवाही पर हो।"

"समाज ऐसा हो, जो युक्तिहीन और ऊटपटाग नियमोकी कैदमें न हो।"

"किसीपर अपने विचार ठूसना मूर्खता है क्योकि अगर आजादीकी हमें जरूरत है, तो दूसरोको भी उन्नतिके लिए मानसिक स्वतत्रता चाहिए। हर नर-नारीका यह अधिकार है कि वह किसी दूसरेके सत्यको स्वीकार करे या न करे और अपने अनुभवोसे सीखे।"

गिरावट के कारण

देशकी गिरावटके कारणोपर प्रकाश डालते हुए स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—

"भारतके लोगोमें उद्योगसे घृणा पाई जाती है। धार्मिक विश्वास और जात-पाँतके आधारपर फिरके देखे जाते हैं। विदेश-यात्राको वुरा समझा जाता है। वचपन में शादी हो जाती है। स्त्रियोको अज्ञानतामें रखा जाता है। इन वातोसे साफ प्रकट होता है कि लोगोमें अक्लकी कमी है। सुधारका काम करनेसे लडाई होगी। लकीर के फकीर होना और अपनी आँखोपर पट्टी वांधकर चलना मौतकी राह है। . एक औसत दर्जेके हिन्दुस्तानी घरका ख्याल करें। आमदनी कम है पर हर साल नया वच्चा घरमें आ जाता है, जिसे पालना होता है। साथ ही वेकार रीति-रिवाजोपर सामर्थ्यसे ज्यादा खर्च करना पडता है। यह जहरीला नियम भुला दो—कि व्याह करो, अज्ञानतामें सन्तान पैदा किए जाओ और गुलामीमें मरो। पति पत्नीका सवध सवसे पवित्र है। पर हम वेपरवाहीसे इस अति पवित्र कर्त्तव्यको गदा वना लेते हैं और वडी सख्यामें कमजोर और नालायक वच्चे पैदा कर देशकी आवादीको वढाते हैं। इन अन्धाधुन्ध छोटी आयुकी शादियोको वन्द कर देना चाहिए। इन छोटी आयुकी शादियोंसे ही विधवाएँ वनती हैं, जो हिन्दू समाजका एक और कोढ है।"

"हिन्दुओंमें भोजनके प्रश्नपर हद से ज्यादा जोर दिया जाता है। हिन्दू धर्मको इसीलिए कुछ लोग तानेमें रसोईका धर्म कहते है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी रामतीर्थ भारतके एक प्रमुख समाज-सुधारक थे। आध्यात्मिक उन्नतिके शिखरपर पहुँचकर भी वह समाजमें प्रचलित दोषोकी उपेक्षा नही कर सके। इनके निवारणके लिए वह सदा प्रयत्न करते रहे।

प्रारम्भिक जीवन

आपका जन्म जिला गुजरावाला (अब पश्चिमी पाकिस्तानमें) के मुरालीवाला ग्राममें २२ अक्टूबर सन् १८७३को गोस्वामी हीरानन्दके घर हुआ था। माताका वचपनमें ही देहान्त हो गया था। उस समय आपका नाम तीर्थराम था। धार्मिक कथाओंमें आपकी विशेष रुचि थी। पिता निर्धन थे और अधिक पढानेमें असमर्थ थे। तीर्थराम वडा कुशाग्रवुद्धि परिश्रमी और तपस्वी वालक था। मैट्रिक पास करनेके वाद अपने ही पैरोपर आप खडे होकर लाहौरके मिशन कालेजसे गतिणमें एम० ए० पास किया। वहाँ आपने अत्यन्त कष्टसे दिन गुजारे पर अपने लक्ष्यसे विचलित नही हुए। वी० ए० में प्रथम रहे, जिससे आपको वजीफा मिलने लगा। एम० ए० में भी पजाव विश्वविद्यालयमें प्रथम रहे। उसी कालेजमें गणितके प्राध्यापक हो गए।

२ वर्षकी आयुमें ही आपकी सगाई हो गई थी और १० वर्षकी आयुमें विवाह हो गया। पिताने दूसरा विवाह करके आपकी उपेक्षा वचपनसे ही करदी थी। पर आप अपने वजीफे और वेतनमें से सदा माता-पिताकी सेवा करते रहे।

आपका जीवन प्रारम्भसे ही वैराग्यपूर्ण था। स्वामी विवेकानन्द लाहौर आये थे। उनके सत्सगसे आपपर गहरा प्रभाव पड़ा। १९०१ में २८ वर्षकी आयुमें आपने सन्यास ले लिया और तीर्थ रामसे रामतीर्थ वन गये। १९०२ में शिकागो और टोकियोमें विश्व-धर्म-सम्मेलनमें गए। सन्यास लेकर आप उत्तराखडकी गुफाओ में ही ध्यानमग्न रहते थे। महाराजा टिहरीकी विशेष प्रेरणापर आप इन विश्व-धर्म-सम्मेलनोमें भारतकी ओरसे गए। विदेशोमें आपके भाषणोका गहरा प्रभाव पडा।

अव आप ऋषिकेशमें आश्रम वनाकर रहने लगे और साथ ही सारे देशमें प्रचार-यात्रापर भी जाते। आपके भाषण वडे मधुर, अनुभूतिपूर्ण और हृदयस्पर्शी होते थे। हजारोकी सख्यामें जनता मत्रमुग्ध हो आपके भाषण सुनती। देशमें सर्वत्र आपके उपदेशो और व्याख्यानोकी धूम थी।

आश्रममें आप कई दिन तक अस्वस्थ रहे। स्वास्थ्यमें तनिक सुधार होते ही आपने गंगामें जाकर स्नान करनेका निश्चय किया। १७ अक्टूबर १९०६को दीवालीके दिन ऋषिकेशमें गंगा-स्नान करते हुए आपका पैर फिसल गया और आपका शरीर गंगाकी जलधारामें ही विलीन हो गया।

आपकी इच्छा ऋषिकेषसे ऊपर किसी एकान्त और रम्य स्थानमें प्रकृतिकी गोदमें वेदान्तके लिए अंतर्राष्ट्रीय सस्था कायम करनेकी थी। उसीका स्वप्न देखते हुए आप इस ससारसे अकस्मात ही विदा हो गए।

पं० श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

सुधार-क्षेत्रमें आर्य्य-समाज

सुधारके क्षेत्रमें महर्षि दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाजकी जो विशिष्ट देन है, उसका इस लेखमें दिग्दर्शन करानेसे पूर्व उस समयकी धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति का निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है।

वैसे तो महाभारत युद्धसे लगभग १ हजार वर्ष पूर्वसे आर्यावर्तकी अवनति प्रारम्भ हो गई थी। वेदादि सत्य शास्त्रोकी शिक्षाको क्रियात्मक रूप देने और जीवनमे परिणत करनेकी ओर लोगोका पर्याप्त ध्यान न रहा था, ईर्ष्या द्वेष तथा पारिवारिक कलहोसे हमारा यह पवित्र देश रसातलमें जा रहा था, किन्तु महाभारतके पश्चात् तो भयकर अन्धकारयुग प्रारम्भ हो गया। एक सत्य-सनातन-सार्वभौम-वैदिक धर्मके स्थानमे सैकडो मतमतान्तर चल पडे। एक परमेश्वरके स्थानपर सैकडो पौराणिक देवी-देवताओ, स्वार्थी गुरुओ और मूर्तियोकी पूजा प्रारम्भ हो गई। वैदिक अध्वरो अर्थात् अहिन्सात्मक यज्ञोके स्थानपर घोर हिसात्मक यज्ञ प्रारम्भ हो गए जिनमें घोडो, बकरो,भेडो तथा अन्य पशुओ यहाँ तक कि गौओकी बलि कल्पित देवताओंकी तृप्तिके लिए दी जाने लगी। गुण कर्म स्वभावपर आश्रित वेदोक्त चार वर्णों का स्थान जन्म पर आश्रित हज़ारो जाति उपजातियोने ले लिया जिसने आर्योका सगठन छिन्न-भिन्न हो गया। सर्वत्र परस्पर घृणा, ईर्ष्या-द्वेष और वैर-विरोधका ताण्डव नृत्य दीख पडने लगा। शूद्र कुलोत्पन्न सब पुरुषो और सभी स्त्रियोकी ब्रह्मचर्यादि आश्रमोकी वेदोक्त मर्यादा सर्वथा लुप्त हो चुकी थी और बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विषम-विवाह, बहु-विवाह आदि कुरीतियोने प्रचार पा लिया था। दो तीन वर्ष तक की कन्याओंके विवाहको धर्मशास्त्रियोंने धर्मानुमोदित और रजस्वला विवाहको सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध और घोर पाप रूप घोषित कर दिया था। ब्रह्मचर्यकी प्रथा लुप्तप्राय हो जानेसे शारीरिक, मानसिक आत्मिक शक्तियोका ह्रास हो रहा था और विधवाओकी सख्या दिन प्रति दिन बढ रही थी। छूआ-छूतका भयकर रोग सर्वत्र फैला हुआ था और लगभग ६ करोड व्यक्तियोको सदाके लिए अस्पृश्य वा अछूत कह कर सवर्ण लोगोने अपनेसे घृणापूर्वक सर्वथा पृथक कर रखा था। स्वामी विवेकानन्दके शब्दोमें हिन्दुओका धर्म Kitchen Religion अथवा रसोईका धर्म रह गया था। माम, शराब, अफीम, गाजा तथा अभक्ष्य पदार्थोका सेवन करते और व्यभिचार करते हुए कोई भी आदमी जातिमें अपनी प्रतिष्ठा बनाये रह सकता था पर चौकेसे बाहर अथवा अन्य जातिके लोगोंके साथ एक पक्तिमें बैठकर खानेपर उसे जातिसे

वहिष्कृत कर दिया जाता था। इस प्रकार जातिसे निकालनेके सव द्वार हिन्दुओंने खोल रखे थे पर किसीको अपनेमें मिलानेकी प्रवृत्ति उस समयके हिन्दुओंमें न थी। वेद-शास्त्रोका स्थान अधिकतर पुराणो और तन्त्रोकी साम्प्रदायिक तथा अनेक अशोमें कुत्सित शिक्षाने ले लिया था और वड़े-वड़े धुरन्धर सस्कृतके विद्वान् भी वेदोंके अर्थोको समझने में असमर्थ थे। ऐसी शोचनीय धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति थी जव आर्य-समाज केप्रवर्तक वैदिक धर्मोद्धारक महर्षि दयानन्दने कार्यक्षेत्रमें पदार्पण किया। चारो ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था।

अन्य आचार्य और सुधारक

मेरे कथनका यह तात्पर्य कदापि नही कि महर्षि दयानन्दसे पूर्व सस्कृतके धुरन्धर विद्वान् आचार्य तथा सुधारक—महाभारतके पश्चात्के अन्धकारयुगमें हुए नही थे। श्री शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, (स्वा० आनन्द तीर्थ) वल्लभाचार्य, निम्वार्काचार्य आदि कई सुप्रसिद्ध आचार्य इस मध्य युगमें हुए जिन्होने प्रस्थानत्रयी (वेदान्तशास्त्र, उपनिषदो और गीता) पर अपने-अपने सम्प्रदायकी दृष्टिसे भाष्य किये किन्तु, दु ख इस वातका है कि इनमेंसे मूल वेदोकी ओर श्री मध्वाचार्य, स्वामी आनन्दतीर्थको छोडकर अन्योका ध्यान वहुत कम गया और वे भी अपने समयके पौराणिक विचारो तथा वैष्णव साम्प्रदायिक विचारोसे वहुत अधिक प्रभावित रहे। वाल्य-विवाह, वृद्ध तथा विषम-विवाह, जन्मसिद्ध जातिभेद, वाधित-वैधव्य, दहेज-प्रथा इत्यादि कुप्रथाओके विरुद्ध इन आचार्योंने कोई प्रवल आन्दोलन किया हो ऐसा इतिहाससे प्रतीत नही होता। अद्वैत-वाद, विशिष्टाद्वैत, द्वैतवाद और शुद्धा द्वैतवाद इत्यादि दार्शनिक वादोके समर्थन और विरोधी मतोंके खण्डनमें ही अधिकतर ये आचार्य लगे रहे। प्राय: ऐसे ही विचार अन्य मध्यकालीन आचार्यो और कवीर, तुलसीदास, आदि साधु सन्तोने प्रकट किये। मध्यकालीन सन्तो से स्वामी रामानन्दजीके शिष्य कवीरजी और गुरु नानकजी आदिकी गणना सुधारकोमें में की जासकती है क्योकि इन लोगोंनें मूर्त्तिपूजा, तीर्थयात्रा, मृतक-श्राद्ध और तर्पण, जाति-भेद आदिका प्रवल खण्डन करके समाजमें प्रचलित अंधविश्वासोको दूर करनेका प्रशंसनीय प्रयत्न किया किन्तु इनके सुशिक्षित विद्वान न होनेके कारण शिक्षित मण्डलीपर उनका प्रभाव न पड़ा। सर्वसाधारण उनकी वाणियोसे अवश्य प्रभावित हुए।

गत शताब्दी का अंग्रेजी शिक्षित सुधारक

उन्नीसवी शताब्दीमें भी कई सुधारक हुए जिनमें ब्राह्म-समाजके प्रवर्तक राजाराम मोहनराय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर श्री राजनारायण वोस, श्री केशवचन्द्र सेन आदिका नाम विशेष उल्लेखनीय है। राजा राममोहन रायने क्रूर सती-प्रथाको कानून द्वारा वन्द करवाकर विशेष ख्याति प्राप्त की। जाति-भेद, वाधित वैधव्य, वहुविवाह, मूर्ति-पूजादि कुरीतियों कुप्रथाओ और अन्धविश्वासोंके विरुद्ध भी उन्होने आन्दोलन किया किन्तु खेदकी वात यह है कि वे पाश्चात्य सस्कृति, सभ्यता और भाषासे अत्यधिक प्रभावित होकर उन्हींके प्रवाहमें स्वयं इतना वह गये कि संस्कृत शिक्षाके प्रोत्साहनके विरुद्ध सरकारको आवेदन पत्र देकर उन्होने अंग्रेजी शिक्षा पद्धतिको देशमें प्रचलित करानेमें उत्साहपूर्वक भाग लिया।

ऐसी अवस्थामें श्री राजाराममोहन राय श्री केशवचन्द्र सेन तथा उनके अनुयायियो द्वारा यद्यपि समाज-सुधारका कुछ कार्य हुआ जिसके लिये वे प्रशसाके पात्र है किन्तु पाश्चात्य सभ्यता और ईसाइयतकी ओर उनका अधिक झुकाव होनेके कारण आर्य सभ्यता और प्राचीन पवित्र आर्य धर्मोका उद्धार करनेमें वे असमर्थ रहे।

महर्षि दयानन्दको अग्रेजी शिक्षित युवक वर्गका अपने देशकी सभ्यताको तिलाजलि देकर पाश्चात्य सभ्यताके प्रवाहमें वहते जाना और समाजसुधार तथा स्वतन्त्रताके नामकी दुहाई देकर उनका अन्धाधुन्ध अनुसरण बहुत बुरा लगा। उन्होने इस नवशिक्षित वर्गके अन्दर स्वदेशभक्तिकी न्यूनता और पाश्चात्योकी मानसिक दासताको तीव्रतासे अनुभव करते हुए बडे दु खके साथ लिखा 'जो कुछ ब्राह्मसमाज और प्रार्थना समाजियो ने ईसाई मतमें मिलनेसे थोडे मनुष्योको वचाया और कुछ पाषाणादि मूर्त्तिपूजाको हटाया, अन्य जालग्रथोके फन्देसे भी कुछ को वचाया, परन्तु इन लोगोमें स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयोके आचरण बहुतसे लिये है।'

इस प्रकार हम देखते है कि महर्षि दयानन्दको सत्यके एक वीर सैनिकके रूपमें चौमुखी लडाई लड़नी पडी। एक ओर जहाँ मूर्त्ति-पूजा, मृतक-श्राद्ध और तर्पण, यज्ञादि में पशुहिसा, जन्मसिद्ध जाति-भेद, अस्पृश्यता पाप मिटानेके उद्देश्यसे तीर्थयात्रा बाल्य विवाह विषम-विवाह, पर्दा और दहेजकी प्रथा, वाधित-वैधव्य आदि धार्मिक और सामाजिक मिथ्या विश्वासो तथा कुप्रथाओके विरुद्ध उन्हे प्रवल आन्दोलन करना पडा वहाँ दूसरी ओर जो उस समयका अग्रेजी शिक्षित वर्ग प्राचीन आर्य सभ्यताके प्रवाहमें वहता जा रहा था तथा मास मद्य सेवनादिको उच्च सभ्यताका चिन्ह समझकर कल्पित समाज-सुधार में तत्पर था उसका भी उन्हे विरोध करना पडा। ईसाई मुसलमान आदि जो विधर्मी भारतीयोको अनेक प्रलोभन देकर तथा उनकी आन्तरिक त्रुटियोका लाभ उठाकर अपने जालमें फँसानेका दिन-रात प्रयत्न कर रहे थे उनका भी महर्षिको डटकर मुकाबला करना पडा।

महर्षि दयानन्दने मृतप्राय आर्य जातिमें नव जीवनका सचार कर दिया, इनको सभी स्वीकार करते है यद्यपि कईयोका सैद्धातिक विषयोमें उनसे मतभेद भी हो सकता है। दलितोद्धार और अस्पृश्यता-निवारणका कार्य आर्य-समाजके अतिरिक्त अन्य कुछ सस्थाओ ने भी किया। जगद्वन्द्य महात्मा गान्धीजीके नेतृत्वमें इस विषयमें जो कार्य हुआ उसको कभी भुलाया नही जा सकता किन्तु दु खकी बात यह है कि हरिजनोकी एक पृथक जाति सी बन गई है जिसको विशेषाधिकार प्राप्त है। विधानसभाओ, लोक-सभा और राज्य-सभा इत्यादिमें सर्वत्र इसका पृथक प्रतिनिधित्व है। ये लोग इस प्रकार हिन्दुओमें घुल-मिलकर एक नही हो गए किन्तु उनकी एक पृथक सत्ता सर्वत्र दिखाई देती है, जो एकतामें साधक नही, वाधक ही है। महर्षि दयानन्दजी और उनके पीछे स्वामी श्रद्धा नन्दजी, लाला लाजपतरायजी आदि के नेतृत्वमें अस्पृश्यताको पूर्णतया समाप्त करनेका कार्य किया गया। उन्हें आर्योमें सर्वथा समानताके आधारपर सम्मिलित कर लिया गया। गुरुकुलादिमें जब उनके बालक प्रविष्ट हुए, तो किसी प्रकारका भेद-भाव न रखा गया, न किसीको उनकी जन्मगत जातिका ज्ञान तक होने पाया। उनमेंसे अनेकोने विद्यालकार, वेदालकार आदिकी उपाधियाँ प्राप्तकर समाजमें अन्योंके समान, बल्कि उनसे

भी वढकर गौरव प्राप्त किया। यह आर्यसमाजकी इस क्षेत्रमें विशिष्ट देन है जिसकी कभी उपेक्षा नही की जा सकती। वेदोंको पढने, पढाने, यज्ञो और सस्कारोके करने कराने आदिके सव अधिकार उनको प्राप्त हो गये। उनमें हजारो पण्डित और पुरोहित उपदेशक आदि प्रतिष्ठित पदोको प्राप्त हुए और अब भी हो रहे हैं।

जाति-भेदके निवारणके सम्वन्धमें भी आर्य-समाजकी एक विशिष्ट देन है जो उल्लेखनीय है। अन्य सुधारकोने भी जातिभेदके विरुद्ध आन्दोलन किया। किन्तु उनको वह सफलता प्राप्त न हो सकी जो आर्यसमाजको इस क्षेत्रमें प्राप्त हुई। आर्यसमाजके कार्यकर्ताओने यज्ञोपवीतको ब्राह्मण जातिका चिन्ह नही समझा अपितु शरीर, वाणी और मनकी पवित्रता, शारीरिक मानसिक, और आत्मिक शक्तियोका विकास, ज्ञान, कर्म और भक्ति तथा उनके प्रतिपादक वेदोंके अध्ययनका चिन्ह समझकर उसे स्वयं धारण किया तथा अस्पृश्य कहे जाने वाले नर-नारियोको भी आर्य धर्मकी दीक्षा देकर धारण करवाया। इससे जात्यभिमानकी भावनाको सर्वथा समाप्त करनेका आर्यसमाजने अत्यन्त प्रशसनीय और महत्वपूर्ण कार्य किया। अन्य कुछ सुधारकोने जातिभेदके साथ शास्त्रीय वर्णाश्रम धर्मका भी विरोध करके अपनेको सामान्य हिन्दू जनतासे पृथक् कर लिया किन्तु आर्यसमाजने जहाँ जन्मसिद्ध जाति-भेद वा जात-पाँतका घोर विरोध किया और उसके विरुद्ध प्रवल आन्दोलन किया वहाँ शास्त्रोक्त गुण कर्मानुसारिणी वर्णाश्रम व्यवस्थाका उन्होंने प्रवल समर्थन किया और उसे कार्य रूपमें परिणत करनेका सदा प्रयत्न किया। जात-पांत-तोड़क-मण्डल और जाति-भेद निवारक आर्य-परिवार संघ द्वारा जहाँ युवको और युवतियोको जान वूझकर जात पाँत तोडकर विवाह करनेकी प्रेरणा दी गई वहाँ शास्त्रीय वर्ण-व्यवस्थाका (जो केवल गुण कर्म स्वभाव पर ही आश्रित है जिसका जन्मसे कोई सवव नही) मौखिक और लिखित रूप में समर्थन किया गया जिसका प्रभाव हिन्दू जनतापर भी यहाँ तक पडा कि काशी आदि स्थानोकी विद्वन्मण्डलीने यह घोपणा की कि परम्परागत जन्मपरक वर्णव्यवस्थाके समान ही 'कर्मणावर्ण' का सिद्धान्त भी भारतीय आर्य हिन्दू धर्मको मान्य है (भारतीय सस्कृति सम्मेलन प्रधान कार्यालय काशी द्वारा प्रकाशित।) यह इस जाति-भेद और अस्पृश्यताके निवारणके क्षेत्रमें आर्य-समाजकी अद्‌भुत देन है।

वाल्य विवाहकी कुप्रथाके निवारणमें आर्यसमाजके एक उत्साही नेता, महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा सस्थापित परोपकारिणी सभाके मन्त्री स्व० श्री हरविलास शारदाने सन् १६२६ में वाल्यविवाह निरोधक विधान वनाकर समाज-सुधारके क्षेत्रमें अपना नाम अमर कर दिया। वृद्ध-विवाह, वहु-विवाह, विपम-विवाह आदि कुप्रथाओके विरुद्ध भी आर्यसमाजने सर्वत्र आन्दोलन किये जिनसे इनके विरुद्ध प्रवल जनमत जाग्रत हो चुका है। दहेजकी घातक प्रथाके विरुद्ध जिसकी वेदीपर स्नेहलता जैसी कई कुमारियोने अपने जीवन की वलि देदी आर्यसमाजो और कुमार परिपदोने प्रवल आन्दोलन करके उसे भी दूर करनेमें पर्याप्त अश तक सफलता प्राप्त की यद्यपि अव भी इस विपयमें वहुत कुछ करना शेप है। शिक्षा-सुधारके क्षेत्रमें आर्यसमाजके मान्य नेता महात्मा मुन्शीरामने गुरुकुल खोलकर जो अद्‌भुत कार्य किया और शिक्षाके क्षेत्रमें एक क्रांति करके दिखाई वह सर्वविदित है। सवसे पूर्व महर्षि दयानन्दने ही आर्यभापा (हिन्दी) को राष्ट्रभापा

बनानेके लिये आन्दोलन किया था और गुरुकुलोमें उसे समस्त विषयोकी उच्च शिक्षा का भी माध्यम बनाया था जिसके महत्वको अब भारतीय सविधानमें हिन्दीको राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करके स्वीकार किया गया है। इस विषयमें अभी अधिक उत्साह और तत्परताके साथ कार्य करनेकी आवश्यकता है। संस्कृतके प्रचारका भी सर्वप्रथम और सर्वोत्तम प्रयत्न आर्यसमाजकी गुरुकुलादि सस्थाओ द्वारा ही किया गया। स्त्री-शिक्षाके लिए सर्वोत्तम प्रबन्ध आर्य कन्या पाठशालाओ और गुरुकुलोकी स्थापना द्वारा आर्यसमाजने किया। वेदादिशास्त्रोकी शिक्षाका उन सस्थाओमें विशेष प्रबन्ध करके महिलाओमें धार्मिक भावना भरने और अपनी प्राचीन भारतीय आर्य सस्कृतिकी रक्षा करनेका आदर्श अपने सामने सदा रखनेका यत्न किया गया जिसके अभावमें प्राय अंग्रेजी शिक्षित महिलाएँ पाश्चात्य महिलाओका अन्धाधुन्ध अनुसरण करनेमें ही अपना गौरव समझती हैं।

आर्यसमाजके शिक्षाविषयक कार्यकी निम्नलिखित तालिका जो The Arya Samaj & International Aryan League Delhi सन् १९४७ में सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तिकासे ली गई है उसके एतद्विषयक कार्य पर प्रकाश डालनेमें पर्याप्त है।

बालकोके लिये गुरुकुल	३०
कन्या गुरुकुल	१०
आर्यमहाविद्यालय	१५
बालकोके लिये प्रारम्भिक पाठशालाएँ.	१९२
,, माध्यमिक ,,	१५१
उच्च माध्यमिक ,,	२००
कन्याओंकी प्रारम्भिक पाठशालाएँ	७००
कन्या उच्च माध्यमिक विद्यालय	१०
रात्रि पाठशालाएँ	१४२
दलित विद्यालय	३२२

शिक्षा कार्यके अतिरिक्त आर्यसमाजकी सस्थाओकी तालिका इस प्रकार है

दलितोद्धार सभाएँ	४३
शुद्धि सभाएँ	३७
प्रकाशनालय	१००
आर्य प्रेस	३०
धर्मार्थ औषधालय ,,	१४
विधवाश्रम	४१

अनाथालयोकी सख्या इस तालिकामें नही दी गई किन्तु उनकी सख्या सैकड़ोकी होगी। प्राय प्रत्येक मुख्य आर्यसमाज के अधीन अनाथालय विद्यमान हैं। सबसे पहले महर्षि दयानन्दजीने ही फिरोजपुरमें आर्य अनाथालयकी स्थापना कराई थी जिससे पूर्व केवल ईसाइयोके अनाथालय होते थे।

इस प्रकार समाज-सुधारके क्षेत्रमें आर्यसमाजकी बहुत बड़ी देन है।

—.०::०·—

सप्तम् खण्ड

प्रान्तीय सुधार-आन्दोलन

श्री गणेश लक्ष्मण चन्दावरकर

बम्बई प्रांतमें समाज-सुधार आन्दोलन

सन् १८१८ ई०में किरकीके मैदानमें हुई मराठोंकी पराजयने, अंग्रेजोंको वहाँका एकमात्र शासक बना दिया और मराठा राज्य सदाके लिए विलीन हो गया। उसके बादके ४०–५० वर्षोंमें आनेवाली पीढ़ियोंने नई सत्ताके अधीन एक नई रोशनीका अनुभव किया। यह रोशनी और कुछ नहीं, अंग्रेजी शिक्षा थी, जो देशके नवयुवकोंको प्राप्त हुई। बम्बईके तत्कालीन गवर्नर माउन्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टनने शिक्षा-सम्बन्धी अपने १० मार्च, १८२४ के प्रतिवेदनमें अंग्रेजी शिक्षाके उद्देश्यको दर्शाते हुए कहा था —"हमें अंग्रेजी शिक्षाके द्वारा आफिसोंके लिए क्लर्क नहीं तैयार करने हैं, बल्कि भारतीयोंमें वे विशेषताएँ भरनी हैं और उस ज्ञानके दीपकको प्रदीप्त करना हैं, जिसके आलोकमें वे यूरपके अन्य लोगोंके समकक्ष खड़े हो सकें।" एलफिन्स्टन साहबकी इस आशाको बहुत हद तक नई पीढ़ीने साकार किया। १८५०–५१ ई० में शिक्षा-बोर्डने अपनी रिपोर्टमें कहा—"एलफिन्स्टन इन्स्टीट्यूशनके शिक्षत नवयुवकों द्वारा सचालित बालिका विद्यालय, आवश्यक ज्ञान-प्रसार सम्बन्धी, साहित्य और विज्ञानपर मातृभाषामें दिए जानेवाले भाषण आदि तथ्य ऐसे हैं, जिनकी एकबारगी उपेक्षा नहीं की जा सकती।" इन सब बातोंसे यह साफ जाहिर है कि उन नवयुवकोंने अपने कधोंपर समाजकी बौद्धिक और नैतिक उन्नति का बडा काम ले रखा था और इस दिशामें वे काफी प्रयत्नशील थे। नवयुवकोंके इस दलमें दादा भाई नौरोजी, जगन्नाथ शकर सेट, डॉ० भाऊ दाजी और मगलदास नाथू भाई आदि थे। १८४५ ई०में शिक्षा परिषद्ने एक ट्रेनिंग कॉलेजकी स्थापना की जिसके प्रथम डाइरेक्टर प्रतिभाशाली शिक्षित नवयुवक बालशास्त्री जम्भेकर बनाये गये। जम्भेकरका शिक्षित समाजमें काफी नाम था और उनका चारित्रिक व्यक्तित्व भी अद्भुत था। तीन वर्षके बाद उन्होंने कॉलेजका कार्य शुरू किया और तभी उक्त नवयुवक दलके प्रयत्नसे छात्रोंकी साहित्य और विज्ञान परिषद की स्थापना हुई। इन परिषदोंका उद्देश्य छात्रोंमें शिक्षा और समाज सम्बन्धी सुन्दर वातावरण तैयार करना था। ट्रेनिंग कॉलेजने रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर और वामन आबाजी मोदक जैसे शिक्षाविदोंको उत्पन्न किया। इसी वर्षके सितम्बर मासमें छात्रोंकी ओरसे दो मातृभाषा सम्बन्धी संस्थाओंको जन्म दिया गया। पहली संस्थाका नाम था मराठी ज्ञान-प्रसारक सभा, और दूसरीका गुजराती ज्ञान प्रसारक मण्डली। वैसे इन संस्थाओंका उद्देश्य ज्ञानका प्रसार करना था, किन्तु शिक्षित नवयुवकोंके दलकी प्रधानताके कारण इन संस्थाओंके द्वारा समाज-सुधार सम्बन्धी कार्य काफी बडे परिमाणमें होने लगा।

उस समयके भारत-प्रसिद्ध समाज-सुधारक सर नारायण चन्द्रावरकरके शब्दोमें कहा जा सकता है कि "शिक्षाने समाज-सुधारके कार्यको सबसे आगे बढ़ाया, अंग्रेज़ शासको ने कई सामाजिक कानून बनाकर समाजमें परिवर्तन लानेमें बडी मदद की। हिन्दू-समाज, जो कई पुरानी रूढियोसे ग्रसित था, सुधारकी ओर प्रवृत्त होने लगा। १८२९ में सती प्रथा बन्द कर दी गई। १८३२ ई० में एक कानून बना, जिसके द्वारा नवजात बच्चियोको मारा जाना बन्द कर दिया गया। यह प्रथा कुछ राजपूतोमें उस समय बड़ी घर कर गई थी। बादमें १८५६ ई० में विधवाओके पुनर्विवाहका कानून पास हुआ। तथा इसी प्रकारके अन्य सामाजिक कानूनोंके द्वारा समाजमें जबर्दस्त परिवर्तन दीखने लगा। इस कार्यमें न्यायालय भी पीछे नही रहे। जैसा कि सर चन्द्रावरकर ने कहा है, "हमारे न्यायालयों और न्यायाधीशोका समाजकी बदलती हुई मान्यताओंमें बड़ा प्रमुख हाथ है।" साथ ही रेलके प्रचलनने भी हमारे समाजको आगे बढ़ानेमें बड़ी मदद की। रेलके द्वारा सारा भारत सिमटकर एक इकाईमें आ गया। दूर-दूरके निवासी एक-दूसरेके काफी नजदीक आने लगे। इन रेलोने भाईचारेको बढानेमें और छूआछूत तथा जाति-पाँतिके बंधनोको काफी ढीला करनेमें बड़ा काम किया। लोग जाति-धर्म और फिरके का खयाल बिना किए ही एक ही डब्बेमें बैठकर सफर करने लगे। घण्टों भिन्न-भिन्न स्थानोके रहनेवालोको एक जगह बैठनेका ज़रिया मिल गया और इस तरह बन्धुत्वकी भावना तो बढ़ी ही, एक-दूसरे के रीति-रिवाज़ो, आचार-व्यवहारो और रहन-सहनसे परिचित होने का अवसर भी मिला। परोक्ष रूपसे इन सब बातोका बड़ा असर होना लाज़िमी था और फलस्वरूप समाजके ढाँचेमें युगान्तर उपस्थित हो गया। एक अंग्रेज़ लेखक, जो उस वक्त पत्रकारकी हैसियतसे बड़ा प्रसिद्ध था, ने अखबारोमें इस बात की बड़ी तारीफ की कि पारसी लोगोने विभिन्न स्टेशनोपर सोडा वगैरह बेचकर जात-पाँत के बन्धनोको शिथिल करनेमें बडा हाथ बँटाया है। ईसाई मिशनरियोने भी समाज-सुधार के काममें बडा पार्ट अदा किया है। उनका उद्देश्य तो था भारतीयोमें ईसाई-धर्मका प्रचार करना, किन्तु अनजानेमें ही उनके कुछ काम ऐसे हो रहे थे, जिनके द्वारा समाज-सुधारके कार्यको प्रगतिकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा मिल रही थी। उनके इस प्रकारके प्रचार-कार्योसे बुद्धिमान जन-समुदायमें सामाजिक बुराइयोंके प्रति जागरूकता बढ़ी और वे दुगुने जोशके साथ समाज-सुधार आन्दोलनमें जुट गए। सचमुच यह काल हिन्दू-समाजके लिए परिवर्तनका काल था।

बदलता हुआ जमाना

यहाँ उस समयकी कुछ मज़ेदार घटनाओका वर्णन कर देना अनुचित नही होगा, जिससे यह पता चल जाएगा कि समाज किन-किन दायरोंसे गुज़र कर नवीनताका ज़ामा पहननेमें कामयाब हुआ। पूनाके एक ब्राह्मण गंगाधर दीक्षित फड़केने बम्बईमें कुछ आफिसरोको मराठी पढ़ानेके उद्देश्यसे यात्रा की। उसे वहाँ ५–६ वर्षके अर्से तक रहना पड़ा। जब वह बम्बईसे पूना लौटा, तो समाजके व्यक्तियोंने उसका यह कहकर बहिष्कार कर दिया कि बम्बई जानेपर उसने सामुद्रिक यात्रा की है। बादमें प्रायश्चित्त करने

के पश्चात् उसे समाजमें पुन सम्मिलित कर लिया गया। उसकी मृत्युके उपरांत जब सरकारने उसके उत्तराधिकारियोको पेन्शनके रुपए देने चाहे, तो लोगोने यह कह कर रुपए लेना स्वीकार नही किया कि वे 'म्लेच्छो' के हाथसे रुपया नही लेंगे। कुछ समय बाद उनके विचार बदले और वे उस रकमके लिए सरकारके पास मिन्नतें करने लगे, जिसको उन्होने पहले लेनेसे इन्कार कर दिया था।

इसी प्रकारकी एक घटना और है कि १८५२ ई० में एक पारसीने अपनी जातिकी एक लड़कीसे शादी की। शादीके कुछ ही दिन बाद नवदम्पती गाडीमें बैठकर बाजार में घूमने लगे और बम्बईकी अग्रेजी दूकानोमें जाने लगे। सरे आम भला समाज इस प्रकारकी निर्लज्जताको कैसे बरदाश्त करता? और पारसियोके अखबारोंमें नव-दम्पतीकी कडे शब्दोमें निन्दा की जाने लगी।

तभी एक घटना और घटी, जिसको लेकर विशेष हो-हल्ला नही हुआ। उस समय एक सर्का फ्रांसरकस आया हुआ था। इसका आयोजन बम्बईके उस विशाल मैदानमें हुआ, जहाँ आज सेंट जेवियर्स कॉलेजका भवन अवस्थित है। बडी सख्यामें हिन्दू-समाजके लोग इसे देखनेके लिए गए। बहुतसे लोग सपरिवार सरकस देखने गए। यह बडे ताज्जुबकी बात थी—उस समयके लिए।

दादाभाई नौरोजीके सम्बन्धमें भी एक घटना बडी दिलचस्प है। एक बार उनकी इंटरव्यू लेनेके लिए सर जमशेदजी जीजी भाई ने उनको बुलाया। यह इटरव्यू पारसी पंचायतके कार्यालयमें हुई। श्री दोसाभाई सोराबजी मुन्शी, जो उस समयके प्रतिष्ठित और पुराने खयालातके व्यक्ति थे, वहाँ उपस्थित थे। दादा भाई नौरोजी स्त्री-शिक्षा के बडे हिमायती थे। उनसे इसी विषयपर बात कर चुकनेके बाद सर जमशेदजीने मुन्शीजीसे कहा—"मुन्शीजी, यह नवयुवक लडकियोमें शिक्षा-प्रचारके लिए कहता है—आपकी क्या राय है?" मुन्शीजीने कहा—"लेकिन मैं नही समझता हूँ कि आखिर लडकियोको शिक्षित करके हम क्या करेंगे? मेरे खयालसे शिक्षाके द्वारा उनका फायदे के स्थानपर नुकसान ही होगा। हमें इसे याद रखना चाहिए कि दीपकमें उतना ही तेल डालें, जितना उसमें समाए। अगर हम ऐसा नही करेंगे तो परिणाम स्पष्ट है।"

जमशेदजीने जवाब दिया—"यह नवयुवक लडकियोको उतनी शिक्षा नही देना चाहता, जो उनकी आवश्यकतासे अधिक हो।"

महिला जागृति

उक्त घटनाएं बताती है कि समाज-सुधारकी प्रगतिमें रूढिवादी दलने किस तरह रोडे अटकाए और सुधारप्रेमियोको कितनी कठिनाइयोका सामना करना पडा। लेकिन इन सब बातोंसे सुधार-प्रेमी अपने पथसे विचलित नही हुए। वे तो दूने जोशके साथ समाज-सुधारके कार्यको अग्रसर करते रहे।

छात्रोकी परिषदोकी ओरसे २१ अक्टूबर, १८४७ को बालिकाओंके तीन स्कूलोंकी स्थापना की गई। साथ ही अन्य और चार स्कूल पारसी बालिकाओंके लिए खुले। बम्बईमें बालिकाओंका सर्व प्रथम स्कूल स्वनामधन्य नाना शंकर सेठकी प्रेरणासे १८४७

ई० में खुला। इस प्रकार स्त्री-शिक्षाकी प्रगतिमें इन विद्यालयोने काफी मदद पहुँचाई। फिर भी शिक्षा-प्रेमी व्यक्ति शिक्षा-प्रचारकी दृष्टिसे और अधिक ठोस काम चाहते थे। धीरे-धीरे उन्हें महसूस हुआ कि समाजमें फैले वाल-विवाहके कारण स्त्री शिक्षामें वड़ी वाधा पडती है। वहुत कम उम्रमें ही उस समय लड़के-लड़कियोकी शादी हो जाती थी। अत. उन लोगोने इस प्रथाके विरुद्ध आवाज उठाई। साथ ही विधवाओं का प्रश्न भी वड़ा जटिल था और विशेपकर छोटी उम्रमें हो जानेवाली विधवा लड़कियो का सवाल तो प्रमुख था। समाज-सुधारकोने इन प्रश्नोको एक साथ लेकर भारी आन्दोलन का सूत्रपात किया और परिणामस्वरूप १८५६ ई० में विधवा-विवाह-कानून वना। इस आन्दोलनको सफल वनानेमें विष्णुशास्त्री पंडितने वडा काम किया, जिनके ऊपर महादेव गोविन्द रानाडेकी वडी कृपा थी। वम्वईमे सवसे पहला विधवा-विवाह सन् १८६२ में हुआ, लेकिन इसको गुप्त रखा गया। वादमें १८६५ ई० में विधवा-विवाह को वल देनेके लिए—"विधवा-विवाहोत्तेजक मण्डली" का गठन हुआ। इस मण्डलीको श्रद्धेय माधवराव विनयुटकरका पूर्ण सहयोग प्राप्त था। मण्डलीके सेक्रटरी विष्णु-शास्त्री पंडितको वनाया गया और महादेव गोविन्द रानाडे इसके प्रमुख सदस्य रहे। रूढिवादियोको यह वुरा लगा और उन्होने विधवा-विवाहके विरुद्धमें 'हिन्दू-धर्म-व्यवस्थापक सभा' की स्थापना की। उनके इस कार्यकी शकराचार्यने हृदयसे सराहना की। वर्षो तक इन दोनो दलोमे काफी प्रतिद्वन्द्विता होती रही, लेकिन विष्णुशास्त्री और उनके मित्र अपने पथपर दृढ रहे। १८६९ ई० में विधवा-विवाहोत्तेजक मण्डलीकी ओरसे हजारो आदमियोकी उपस्थितिमें एक विधवाका विवाह कराया गया।

विवाह योग्य आयु

१८८६ ई० में श्री वैरमजी एम० मालावारीने इस वातपर जोर दिया कि वाल-विवाह को रोकनेके लिए विधान सभाएँ हस्तक्षेप करें। इस सम्वन्धमें उन्होने अपने विचारो को प्रचारित करनेके लिए एक पुस्तिका भी लिखी। इस पुस्तिकाका वडा असर हुआ और उनके विधान सभा द्वारा हस्तक्षेप करनेके सुझाव के विरुद्ध वम्वईके माधव वागमें महती जन-सभा हुई और उनके विचारोका खुलकर विरोध किया गया। श्री मालावारीका ज़वर्दस्त विरोध करनेवालोमें एलफिस्टन कॉलिजके प्रो० वर्ड्सवर्थ और श्री के० टी० तैलंग थे। वादमें उक्त दोनो महानुभावोने महसूस किया कि उनके इस प्रकार विरोध करनेपर प्रगतिमें काफी वाधा हुई है। वास्तवमें वे खुद भी श्री मालावारी के सुधारात्मक विचारोंके अनुयायी थे और उन लोगोने रखमावाईके केसमें मदद दी, जिसमें उसने पुनर्विवाहकी इच्छा प्रकट की थी। श्री मालावारी अपने उद्देश्यमें लगे रहे। अंतमें १८९१ ई०में गवरनर जेनरल की—लेजिस्लेटिव कौसिलमें वाल-विवाह वन्द करने के सम्वन्धमें एक विल पेश हुआ। इसका विरोध करनेके लिए पूना और वम्वईमें सभाएँ हुईं। इधर श्री मालावारी और उनके साथियोके प्रयत्न स्वरूप स्त्रियोमें जागृति पैदा की गई और पूना तथा वम्वईकी प्राय. दो हज़ार महिलाओंके हस्ताक्षर युक्त एक प्रस्ताव गवरनर जेनरलके पास विलके समर्थनमें भेजा गया। और उसी वर्ष वाल-विवाहको वन्द करनेके निमित्त विल पास हो गया।

जाति-प्रथाके विरुद्ध अभियान

अन्य क्षेत्रोमें भी समाज-सुधारका कार्य आगे बढा । जाति-पाँतिकी बुराईको समाप्त करनेकी दिशामें भी काम हुआ । श्री पाडुरगके द्वारा एक ऐसी संस्थाकी स्थापना हुई, जिसने जाति-प्रथाके विरुद्ध आवाज उठाई । १८४०में ई० पाडुरंगके द्वारा परमहस सभाकी स्थापना हुई । इस सस्थाके वे ही व्यक्ति सदस्य बन सकते थे जो वास्तवमें जाति-प्रथामें विश्वास नही करते थे और इसके लिए उनको सभाकी कुछ शर्तोको पूरा करना पडता था । सदस्य होनेवाले व्यक्तिको ईसाई रसोइएके द्वारा बना हुआ टोस्ट और मुसलमानके हाथका पानी पीना पडता था । इस सभाके द्वारा कुछ दिन तक कार्य होता रहा बादमें सभाका कार्य बन्द हो गया और सभाके भग्नावशेषोमें से २० वर्ष के बाद एक ऐसी सस्थाका उदय हुआ, जिसने इस क्षेत्रमें क्रांति उपस्थित की । यह मस्था थी—'प्रार्थना-समाज' । ४० वर्षके बाद इसी प्रकारके कार्यको अग्रसर करनेके लिए बम्बईमे कस्मोपोलिटन क्लबकी स्थापना हुई । १८९५ ई० में क्लब द्वारा एक भोजका आयोजन हुआ । सभी जमातके लोग इकट्ठे हुए । किसी सदस्य ने भोजमें सम्मिलित होनेवालोके नामोको अखबारोमें प्रकाशित करा दिया । बडा हगामा हुआ और क्लब भी समाप्त हो गया । १७ वर्ष बाद 'आर्यन ब्रादरहुड' नामक संस्थाकी स्थापना हुई । बम्बईके सालीसीटर श्री दफ्तरी और सर नारायण चन्द्रावरकर ने इसमें काफी काम किया । इस सस्थाके द्वारा कई वर्षो तक जाति-प्रथाके विरोध में ठोस कार्य हुआ ।

अस्पृश्यता-निवारण

सन् १८५५ ई० में कुछ शिक्षित नवयुवकोने अछूतोद्धारका कार्य शुरू किया । १८७० ई० में ब्रह्म समाजके नेता श्री केशवचन्द्र सेन जब लन्दन से लौटे, तो बम्बईमें वे कुछ दिन रुके । इस अवधिमें उन्होने फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूटमें भाषण दिये । उन्होने अपने भाषणोमें इसी समय गठित प्रार्थना समाजके सदस्योंसे इस बातकी प्रार्थना की कि वे अछूतोकी स्थिति सुधारनेमें अपना पूरा योगदान दें । प्रार्थना-समाजने पूरे जोशके साथ इस कार्यको करनेका बीडा उठाया । समाजकी ओरसे कई रात्रि पाठशालाओ को प्रारभ किया गया, जिनमें से दो पाठशालाएँ अछूतोके लिए खुली । १८९१ ई० में श्री दामोदर दास सुखादवालाने अपने खर्च से एक तीसरी पाठशालाकी स्थापना वाइकुलामें की । इसके कोई १५ वर्ष बाद श्री विठल रामजी शिण्डेने अछूतोद्धार समिति नामक एक अखिल भारतीय सस्थाको जन्म दिया । जिसके प्रथम सभापति सर नारायण चन्द्रावरकर निर्वाचित हुए । इस सस्थाके द्वारा अछूतोद्धारके कई रचनात्मक कार्य हुए ।

महाराष्ट्रमें हुए समाज-सुधारके इतिहासमें श्री ज्योतिराव फुले द्वारा की गई सेवाएँ स्वर्णाक्षरोमें अंकित रहेंगी । उन्होने १८७३ में सत्यशोधक समाजकी स्थापना की ।

भारतीय राष्ट्रीय समाज-सुधार-सम्मेलन

शुरूमें जब बम्बईमें १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसकी स्थापना हुई तो उस समय यह सोचा गया था कि इस सस्थाका मुख्य उद्देश्य केवल राजनीतिमें ही काम करना

नहीं होगा—वल्कि समाज-सुधारकी दिशामें भी अपना काम करती रहेगी। किन्तु वादमें कांग्रेस पूरी राजनीतिक सस्था हो गई। अत सुधारकी इच्छा रखनेवालोको समाज-सुधारका अभाव खटकने लगा। इसलिए भारतीय राष्ट्रीय समाज-सुधार सम्मेलन नामक सस्थाको जन्म दिया गया। इस संस्थाका वार्षिक अधिवेशन कांग्रेस के मण्डपमें ही काँग्रेस अधिवेशनोके समाप्त होनेपर शुरू हो जाता था। महादेव गोविन्द रानाडेके तत्वाववानमें इस संस्थाने अखिल भारतवर्षीय पैमानेपर समाज-सुधारके कार्य को अग्रसर कर दिया। इसके द्वारा स्त्री-शिक्षाका प्रचार और वाल-विवाह, जाति-प्रथा आदिके विरुद्ध आन्दोलन किए गए। साथ ही अछूतोंके हितार्थभी आन्दोलन हुए। श्री रानाडे अपनी मृत्यु पर्यन्त—संस्थाके कार्योमें प्रमुख भाग लेते रहे और संस्थाके कार्यको आगे वढाते रहे। उनके स्वर्गस्थ होनेपर संस्थाके प्रवान मत्री का भार वम्वईके ही श्री एन० जी० चन्द्रावरकरको सौंपा गया। चन्द्रावरकरने भी रानाडेकी भाँति ही कार्य किया और समाज-सुधारके कार्यको प्रगतिशील किया। वादमें लोगोने वम्वई प्रान्तमें समाज-सुधारके कार्यको अग्रसर करनेके निमित्त, मद्रास हिन्दू समाज-सुधार एसोसिएशनके अनुसार वम्वई प्रेसिडेंसी समाज-सुधार एसोसिएशनकी स्थापना की। सर नारायण चन्द्रावरकर इसके सभापति वने और यह संस्था आज भी समाज-सुधारके काममें पूरा हाथ वँटाती है। इसने शारदा विल, १९३५के हरिजन प्रवेश विल आदिका समर्थन किया और हिन्दू कोडविलका समर्थन अभी भी करती है। विधवाओंके लिए भी इस संस्थाने काफी काम किया है। सोसल वेलफेयर लीग नामकी भी एक संस्था १९११ ई० में स्थापित हुई। इस सस्थाने भी वम्वईमें पिछले ४०–५० वर्षोमें समाज-सुधारका खूब काम किया है। इसके प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री एन० एम० जोशी, जो ट्रेड यूनियन आन्दोलनके जन्मदाता थे, ने मृत्युपर्यन्त अपनी सेवाएँ इस संस्था को अर्पित की।

आर्य-समाज और प्रार्थना-समाज

पुरानी सस्थाओंमें, जिन्होने अपनी सारी शक्ति समाज-सुधारके कार्योमें लगाई, आर्य-समाज और प्रार्थना समाजका नाम आदरके साथ लिया जा सकता है। दोनो ही संस्थाओने पद-दलित जातियोंके उद्धारके प्रयत्न किए। प्रार्थना-समाजके संस्थापको और नेताओंमें रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, माधव गोविन्द रानाडे, नारायण गनेश चन्द्रा-वरकर, सदाशिव पाण्डुरंग केलकर और वासुदेव वावाजी नवरंगका नाम आदरके साथ लिया जा सकता है, जिन्होने वम्वई शहरमें सवसे पहले निम्न वर्णकी शिक्षाके लिए रात्रि पाठशालाओंको आरंभ किया। इनके कार्योसे प्रोत्साहित हो कर वादमें भारतीय पिछड़ा वर्ग-मिशन-सोसाइटीकी स्थापना हुई। इस सस्था के जन्मदाता थे—श्री विट्ठलरामजी शिण्डे। प्रार्थना समाजके प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री लाल शकर उमीयाशकरने १८७५ ई० में पण्ढरपुरमें अनाथालयकी स्थापनाकी। इस संस्थाके द्वारा पिछले ८० वर्षोमें समाज की वहुत वड़ी सेवा हुई। यह भारतवर्षकी प्रमुख संस्थाओमेंसे एक है, जिसमें हजारो-लाखो अनाथ वच्चोको आश्रय मिला है। साथही इस संस्थाने हजारो अनाथ लड़कियों और महिलाओको आश्रय देकर उन्हें शिक्षा आदि देनेमें वड़ा काम किया है। इस अनाथ

आश्रम और इसके अन्तर्गत और सस्थाएँ १८८१ ई० से प्रार्थना-समाजके सरक्षणमें में है।

आचार्य कर्वे और भारतीय महिला-विश्वविद्यालय

पश्चिमी भारतके समाज-सुधार आन्दोलनमें दोडो केशव कर्वेका नाम अमर रहेगा। प्रो० कर्वे अभी भी जीवित हैं और अपने सौवें वर्षमें प्रवेश कर रहे है। आपने १८९३ में एक विधवासे विवाह किया था। उसके तीन वर्ष वाद आपने पूनामें वाल-विधवाओ और अनाथ वच्चोंके लिए अनाथ वालिकाश्रमकी स्थापना की। धीरे-धीरे इस सस्थाकी कई शाखाएँ खुल गईं और इसके वडे विभागोके रूपमें महिला-विद्यालय और भारतीय महिला-विश्वविद्यालय वादमें प्रो० कर्वेके द्वारा आरभ हुए। प्रो० कर्वेकी शिक्षाके प्रति की गई सेवाओको देखकर आज लोग उन्हे महर्षिके नामसे पुकारते है।

सेवा–सदन

दूसरी सस्था जो वडा अच्छा काम कर रही है—वह है सेवा-सदन—जिसकी स्थापना १९०८ में वम्बईमें श्री वी० एम० मलावारी द्वारा हुई थी। इस सस्थामें एक महिला छात्रावास है तथा एक महिला प्रशिक्षण कॉलेज है और अन्य कई औद्योगिक कार्य भी स्त्रियोके लिए होते है। पूनाके सेवा-सदनकी स्थापना श्रीमती रमावाई रानाडे और उनके साथियोके द्वारा १९०९ ई० में हुई थी। पूनाकी यह सस्था भी अपने-आपमें अद्वितीय है।

पत्र-पत्रिकाएँ

समाज-सुधारके इतिहासमें अगर प्रेसके सम्वन्धमें कुछ नही कहा जायगा तो शायद यह लेख पूर्ण नही होगा। १८४९ ई० में पूनासे एक समाचार-पत्र मराठीमें प्रकाशित हुआ, इसका नाम था—ज्ञान प्रकाश। इसके वाद प्रभाकर और धूमकेतु निकले। इन तीनो पत्रोंने समाज-सुधारके कार्यमें वडा हाथ वँटाया। इन्होंने पुरानी रूढियो और सामाजिक वुराइयोके विरुद्ध प्रशसनीय कार्य किया। इन्होंने शास्त्रोक्त उक्तियाँ देकर विरोधियोका मुँह वन्द कर दिया। इसी प्रकारके कार्यको मदद देनेमें वम्बईके 'इन्दु प्रकाश' का काम भी नही भुलाया जा सकता। यह पत्र मराठी और अग्रेजीमें एक साथ ही छपता था। गोपालहरि देशमुखको जो विशेषकर लोकहितवादीके नामसे विख्यात है, नही भुलाया जा सकता, जिनके सतत प्रयत्नसे वम्बईके इन्दुप्रकाश और पूनाके ज्ञान प्रकाशका प्रकाशन हुआ। उनकी मनशा थी समाज-सुधार और समाज-सुधारको के प्रचारमें हाथ वँटानेकी। और इस दिशामें उन्होंने अभूतपूर्व काम किया था। वादमें दोसाभाई फ्रामजी कामाके प्रयत्नसे 'स्त्री-वोध' निकला। इस पत्रमें दादा भाई नारोजीने १८५१ ई० में पारसी और गुजराती, जनताके लिए 'राष्ट्र गोफ्तार' का प्रकाशन किया। गोपाल गनेश आगरकर और वालगगाधर तिलकने १८८१ ई० में पूनासे दो पत्रोका प्रकाशन किया, जिनके नाम है—केसरी (मराठी) और मराठा (अग्रेजी)। वादमें श्री आगरकरका अपने साथियोंसे मतभेद हो गया और उन्होंने इन दोनों पत्रों से सम्वन्ध विच्छेद करके अपना साप्ताहिक 'सुधारक' निकाला। श्री आगरकर पर

निकालनेके वाद केवल ७ वर्ष ही जिन्दा रहे—लेकिन इस वीचमें ही उनका पत्र वडा प्रसिद्ध हो गया था और समाजसुधारके कामोमें तो उसने युगान्तर ला दिया था। इसके वाद प्रार्थना-समाज तथा क्रिश्चियन मिशनरियोकी ओर से क्रमश· 'सुवोव पत्रिका' (मराठी अंग्रेज़ी) और 'ज्ञानोदय' (मराठी-अंग्रेज़ी) पत्र निकले। यहाँ श्री के० नटराजन का नाम भी श्रद्धाके साथ लिया जा सकता है जिन्होने अपने साप्ताहिक के द्वारा लगातार ५० वर्षो तक समाज-सुधारके काममें हाथ वँटाया।

कार्य और लक्ष्य

विगत सौ वर्षोमें वम्वईमें समाज-सुधारकका कार्य वहुत कठिनाइयोका रहा। किन्तु एक महान् लक्ष्यको सन्मुख रख अदम्य साहस और आशावादिताके साथ वह उसे करता रहा। समाज-सुधार-आन्दोलनके एक महान् नेता रानाडेने ठीक ही कहा है कि" वाल-विवाह, वाधित-वैंधव्य, दुर्व्यसनको दूर करनेकी दिशामें किये गये सुधार, अन्तर्जातीय विवाह, अछूतोद्धार, धर्म और जातिसे वहिष्कृत लोगोको पुन. समाजमें मिला लेने और धर्मादा सम्पत्ति सम्वन्वी नियमोमें सुधार आदिके आन्दोलनोने पुराने विचारोकी जगह नयी चेतना और प्रवृत्तिको जन्म दिया। वास्तवमें सुवारकको अपने आपको और अपने चारो ओरके समाज को सुधारनेका कार्य निरन्तर करते रहना, उसे अपने परिवार, गाँव और जाति तथा देशको नये साँचेमें ढालना है और इसलिए समाज-सुधार एक कर्तव्य और साधना है न कि मात्र शौककी चीज।

अनुवादक—श्री शक्तिकुमार शर्म्मा

—:०:—

डॉक्टर सुमन्त मेहता

गुजरातमें समाज-सुधारकी प्रवृत्ति

हिन्दी भाषामें "संसार" शब्द बडे व्यापक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। उसका अर्थ है—समस्त जगत्। गुजराती भाषामें कौटुंबिक तथा बिरादरी (जाति) के अदर प्रचलित जीवन-व्यवहारको "संसार" कहते हैं। एक व्यक्तिको परिवार तथा जातिके घेरेमें रहकर जिन रीति-रिवाजो और रूढियोका पालन करना पडता है, तथा जिस प्रकार का जीवन व्यतीत रना पडता है, उसे गुजराती लोग "ससार" कहते हैं। उक्त "ससार" में सुधार करनेकी प्रवृत्तिके लिए गुजरातीमें "संसार-सुधार" शब्द चलता है।

समस्त हिन्दू-समाज अथवा सारी भारतीय प्रजाकी सामाजिक और आर्थिक जीवन व्यवस्थाका सुधार करनेकी प्रवृत्तिके लिए गुजरातीमें "समाज-सुधारण" शब्द व्यवहृत होता है। इसके अतिरिक्त दीनो, दरिद्रो, दु खियो, रोगियो, पिछडी हुई जातियो, शोषितो और दलित जनोंके कल्याण व उत्कर्षके लिए जो कार्य किए जाते हैं, उन्हें गुजराती में "समाज-सेवा" कहा जाता है। ऊपर लिखित तीनो शब्दोकी कार्यसीमा बहुत स्पष्ट तो नही है, तथापि तीनो शब्दोका प्रयोग बहुलतासे होता है। अपने देशकी प्रजाओके नवजागरणके प्राथमिक युगमें गुजरातमें केवल "ससार-सुधार" शब्द ही प्रयुक्त होता था, उसका स्पष्ट अभिप्राय "सामाजिक सुधारण" था।

× × ×

इस प्राकृतिक नियमकी ओर हमें ध्यान देना चाहिए कि प्रत्येक जीवित वस्तु (प्राणी अथवा वनस्पति) में सदा कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। आस-पासके वातावरण के प्रति अनुकूलता स्थापित करनेके लिए ऐसे परिवर्तन आवश्यक होते हैं। निर्जीव वस्तुओमें इस प्रकारके परिवर्तन नही होते। मानवीय सस्थाओमें भी यह नियम लागू होता है। जब तक किसी सस्थामें परिवर्तित होते हुए वातावरणके साथ अनुकूलता स्थापित करनेकी वृत्ति रहती है, तब तक वह उपयोगी रहती है। उन वृत्तिके नष्ट हो जानेपर सस्थाओमें जडता और सडाँद प्रविष्ट होने लगती है। सडाँद प्रविष्ट होने और उसके बढनेका स्पष्ट यही अर्थ है कि उस सस्थाकी सजीवनी शक्ति समाप्त हो रही है।

भारतमें हिन्दू-समाजने लगभग एक सहस्र वर्ष तक विदेशोसे आनेवाली अनेक जातियो का पूरी तरह सामना किया। हिन्दुओने अपनी जाति-सस्थाद्वारा अपने सस्कारो और परम्पराओको सुरक्षित रक्खा। ग्रीक, हूण, शक, तुर्क, अफ़गान और ईरानी आदि

अनेक जातियाँ भारतमें आईं और हमारे साथ घुलमिलकर रहने लगी। हिन्दुओंने उन सबको अपनेमें आत्मसात् कर लिया। उनके पश्चात् भारतमें पुर्तगीज़, डच, फ्रेंच और अंग्रेज आदि योरोपीय जातियाँ आईं! उन्होंने हमारे सामाजिक और आर्थिक, जीवनको नष्ट करनेका भयकर प्रयत्न किया। प्रधानत उनका हेतु आर्थिक था। क्योंकि वे यहाँसे सस्ते मूल्यमें कच्चा माल ले जाकर अपने कारखानोंमें नई-नई वस्तुएँ बनाकर मालामाल होना चाहते थे। इस प्रकार हमारे हुनर, उद्योग और गृहशिल्प नष्ट हो गए। एक धोती जैसी मामूली वस्तु भी मांचेस्टरसे बनकर आने लगी थी। नि.संदेह ये जातियाँ प्रगतिशील थी। ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें वे अधिक अग्रसर थी। लगभग एक हजार वर्षके पराये शासनमे हमने स्वराज्य तो खोया ही था अपने स्वाधीन व्यवसाय भी खोये। ज्ञानके प्रति हमारी उत्सुकता नही रही। हमारी धार्मिक तथा सामाजिक बातोंमें भी शिथिलता आ गई!

सन् १८५७में भारतीयोंने अँगरेज़ी शासनसे छूटनेका प्रथम प्रयास किया। परन्तु हमारा संगठन ठीक नहीं था अत उसमें हम असफल रहे। परन्तु प्रजाकी चेतनामें स्वाधीनताकी तीव्र आकांक्षा जाग उठी। वह अपना मनोबल भी बढाने लगी। परिणाम यह हुआ कि एक ओर ज्ञानप्राप्तिका यज्ञ आरभ हुआ और दूसरी ओर धर्ममें आई हुई जडता और सडाँद दूर करनेका उद्योग होने लगा। हिन्दू लोग वेद-वेदातका अध्ययन करके हिन्दू धर्ममें प्रविष्ट हुई अशुद्ध धारणाओं और मान्यताओंको दूर करने लगे। समझदार लोग हिन्दू-समाजमें आये हुए दुष्ट रीति-रिवाजोंको साफ करने लगे।

उस युगमें हमारे भारत देशकी राजधानी कलकत्ता थी। वहाँपर यूरोपियन विद्वानो का भारतीय विचारकों और प्रगतिप्रिय महानुभावोंके साथ संपर्क होने लगा। उनके साथ विमर्श और विचार विनिमय होने लगा। इस संपर्कका फल यह हुआ कि समझदार भारतीयोंने आत्म-शुद्धि और समाज-संशोधनके आंदोलन प्रारंभ किये। इन आन्दोलनोंमें राजर्षि राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, पडित प्रवर श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन जैसे मेधावी और देशभक्त प्रमुख थे। इन महानुभावो ने धर्ममें आई हुई अनिष्ट पौराणिक मान्यताओंको और सामाजिक जीवनमें घुसी हुई दूषित रुढ़ियोंको दूर करनेका भगीरथ प्रयत्न किया।

उन्ही दिनों बंगालमें ब्राह्मसमाज नामकी धर्म-सुधारक संस्थाकी स्थापना हुई। इस संस्था द्वारा समाज-सुधारका काम भी उठाया गया। बबई प्रांतमें भी उन्ही दिनो बबई, पूना और अहमदाबादमें ब्राह्म समाज जैसी प्रार्थना-समाज नामक संस्था स्थापित की गई। इसके प्रमुख विधायक महामान्य महादेव गोविन्द रानाडे, डॉक्टर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर और श्री भोला नाथ साराभाई जैसे सुविचारक थे। ब्राह्मसमाज ने जहाँ नवीन संप्रदाय स्थापित करनेका प्रयत्न किया वहाँ प्रार्थना समाजने कुछ एक परिवर्तनोंके साथ हिन्दू-समाजके द्वारा ही सामाजिक और धार्मिक सुधारणा करना पसद किया।

इसी प्रकार सौराष्ट्रकी वीरभूमिके प्रतापी पुत्र महर्षि दयानन्द सरस्वतीने धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें प्रबल सुधारके लिए सन् १८७५ में बंबईमें आर्यसमाजकी स्थापना की। प्रस्तुत लेख में धार्मिक सुधारोंका विषय प्रासगिक नहीं है तथापि यह कहना

आवश्यक है कि ब्राह्मसमाज प्रार्थना-समाज और आर्यसमाजके य नवीन सुधारक हजारो ईश्वरोमें विश्वास न रखते हुए एक सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और निराकार परमेश्वरकी उपासनामें श्रद्धा रखते थे। लगभग १८८०के सालमें गुजरातके वीर कवि नर्मदाशकर ने गुजराती प्रजाको आह्वान किया —

सौ चलो जीतवा जंग विगुल वाजे !
वा होम करीने पड़ो, फतह छे आगे !!

अर्थात्—"विगुल वज चुका है, सव लोग जग जीतनेके लिए चल पडो। होमाग्नि में अपनी आहुति प्रदान करो, विजय तुम्हारे सामने है।"

उस युगमें गुजरातमें समाज-सुधारणामें निम्नलिखित वातोका समावेश होता था —

(१) विद्या-सपादनके लिए समुद्रपार करके विदेश-यात्रा करनेमें सकोच नही करना चाहिए।

(२) भील और कोली आदि अज्ञान और सस्कारशून्य जातियोंके सपर्कसे हिन्दू समाजमें अनेक प्रकारके वहम और दूपित मान्यताएँ प्रविष्ट हो गई हैं। उनका समूल नाश करना चाहिए। उस समय लोग माता (देवी) के नामसे सिर धुनते थे। भूत, प्रेत, चाडाल, डाकिनी, शाकिनी आदिमें विश्वास रखते थे। रोग निवारण के लिए डोरे वँधवाते थे। यह भी मानते थे कि माता (देवी) की नजर लग जानेसे अमुक-अमुक रोग हो जाते हैं। सुधारक इन सव वातोका खडन करते थे।

(३) सुधारक लोग वाल-विवाहका विरोध करते थे। सामान्यतया गुजरातमे ऋतु-दर्शन होनेसे पूर्व ही, आठ वर्षकी नन्ही उमरमें ही, कन्याओका विवाह कर देनेकी प्रथा थी। गरीवीके कारण दूसरी कन्या चाहे कितनी ही छोटी क्यो न हो, उसका विवाह भी पहली कन्याके विवाहके समय ही कर डालते थे। इस प्रकारकी कथाओका शिक्षण भी दस वर्प की उमरके वाद वद कर दिया जाता था। इन प्रथाओके विरोधमें आवाज़ उठाई गई क्योकि यदि स्त्रियाँ अशिक्षित रहेंगी, तो फिर गृहजीवन सुखी कैसे हो सकेगा ?

(४) ऊपरकी प्रथाओका परिणाम यह हुआ था कि समझदार होनेसे पूर्व ही देशमें लाखो की सख्यामें स्त्रियाँ विधवा हो जाती थी। विधवाएँ विवाहकी कामना न करें यह विचार ऊँचा अवश्य था परन्तु प्रत्येक वाल-विधवा पुनर्विवाहसे वचित रहनी चाहिए इस रिवाजके कारण विधवाओपर अनेक प्रकारके अत्याचार होते थे। यह वात स्पष्ट है कि वलात् वैधव्य पालनके दूपित रिवाजके कारण विधवाएँ मुसलमान वन जाती थी। अत सुधारकोने विधवा-विवाहके पक्षमें जोरदार आवाज़ उठाई थी।

(५) उन दिनो हिन्दू समाजमें अनेक लोग स्त्री-शिक्षाके विरोधी थे। अत॰ सुधारकों को प्राचीन शास्त्रो तथा इतिहासके प्रमाण देकर यह प्रचार करना पडा कि स्त्रियो को अच्छी शिक्षा मिलनी ही चाहिए। उनके प्रयत्नोसे गुजरातमे उन दिनो कई कन्या शालाएँ स्थापित हुईं और उनके लिए अध्यापिकाएँ तैयार करनेके लिए अध्यापन कलाके विद्यालय भी खुले। पाठकोको यह पढकर विस्मय होगा कि उन दिनो गुजरातमें विधवाएँ, परित्यक्ताएँ और सधवाएँ शिक्षाप्राप्तिके लिए

विद्यालयमें जाते समय मार्गमें अपनी पुस्तकें साड़ीमे या ओढ़नीमें छिपाकर ले जाती थी, मानो वे कोई अपराध कर रही हो।

(६) सुधारक लोग पर्दा-प्रथाके विरोधी थे। उत्तरीय भारतमें पर्देका विशेष जोर था। मुसलमान शासकोंके समयमे मुसलमान पुरुषोसे पृथक् और अदृश्य रहने के लिए यह प्रथा प्रारभ हुई होगी। पंजाब, उत्तरप्रदेश, विहार, बंगाल, राजपूताना और मध्य प्रदेशमें पर्दे पर बहुत जोर दिया जाता था। परन्तु गुजरात और महाराष्ट्रमें इसका जोर बहुत कम था। दक्षिण भारतमें तो यह प्रथा थी ही नही। स्पष्ट है कि पर्देके कारण शिक्षा नही मिल सकती, व्यायाम नही किया जा सकता, खुली हवामें घूम नही सकते, पुरुष वर्गके साथ सहचार कम होनेसे बौद्धिक विकासमें बाधा आती है। इस प्रकारके अनेक दूषित रिवाज़ो के कारण सुधारक लोग इस प्रथाका विरोध करते थे।

(७) विचारशील लोग यह समझने लगे थे कि हिन्दुओकी जात-पॉत (संकुचित ज्ञाति-प्रथा) के कठोर रूढि बंधनोके कारण प्रजाकी प्रगति रुक रही है। अत. सुधारक लोग जातपाँतका जोर तोडनेके लिए भी प्रयत्न शील थे।

इन प्रवृतियांकी फलश्रुति

गुजरातमें समाज-सुधारको द्वारा चलाये गये आंदोलनोका समाज पर क्या प्रभाव पडा, यह अधोलिखित विवरणसे स्पष्ट हो जायगा :—

(१) गुजरातमें परदेश-गमन (समुद्रपार) करनेवाले को क्या सहन करना पडता था, यह एक शिक्षण अधिकारीके उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। गुजरातके प्रसिद्ध विद्वान् और शिक्षा-शास्त्री श्रीमहीपतराम रूपराम नीलकंठ इँगलैण्डसे विद्याभ्यास करके लौटे थे। विदेशयात्राके लिए दण्ड स्वरूप उनको लगभग तीन हज़ार रुपए अपनी बिरादरीको देने पडे थे। उनसे प्रायश्चित्त विधि कराई गई थी, फिर भी बिरादरीके भोजमें उनको सम्मिलित नही किया गया था।

लेखकके पिताजीको भी दण्ड रूपमें रु० २८००) देने पडे थे तथा सारी बिरादरीको भोज देना पड़ा था। परन्तु मैंने तथा मेरे भाइयोने विदेश यात्रासे लौटनेपर किसी प्रकारका प्रायश्चित नही किया। सुधारकोके बराबर प्रयत्नोंसे बादको विदेशयात्राकी सामाजिक अड़चनें दूर हो गईं।

(२) वहमो और अनार्य मान्यताओका जोर भी अब कुछ ढीला पड़ गया है। भूत पिशाचोका डर पहलेसे कम हो गया है। परन्तु खेदका विषय है आज सन् १९५६ में भी गुजरातके हिन्दू-समाजमें अनेक खोटी मान्यताएँ और वहम विद्यमान है। आज भी अधिकाश लोग सूर्य-ग्रहण और चन्द्रग्रहणके समय छूआछूत मानते है। अनेक लोग बुधवारको यात्रा करनेमें सकोच करते है। अमावस्याके दिनको अशुभ मानकर घबराहट अनुभव करते हैं। गुजराती भाषाके शिष्ट और प्रतिष्ठित दैनिक समाचारपत्रोमें प्रति सप्ताह पूरे एक पन्नेमें भविष्य कथन की बातें छपती हैं। लाखो मनुष्योका भविष्य बतानेका आडम्बर अभी तक चालू हैं। बबईमें एक ज्योतिषीको भविष्य-कथनके कारण ही कोई बीस हज़ार रुपए मासिकसे अधिक की आमदनी होती है। यह सब कुछ वहममें ही

सम्मिलित हैं, तो भी पढे-लिखे लोग उसका विरोध कर रहे है। अच्छा मुहूर्त निकलवाकर विवाह करनेपर भी स्त्रियाँ विधवा होती हैं। लाखों विवाह दु खप्रद सिद्ध होते है। अच्छा मुहूर्त देखकर चलनेपर भी रेलगाडी, मोटर और वायुयानमें मनुष्योकी मृत्यु होती है। अभी तक करोडो लोग इन वहमो से चिपटे हुए है। सुधारकोके अथक प्रयत्नोके वावजूद इस दिशामें समाजमे कुछ विशेप प्रगति नही हुई है।

(३) वालविवाहके प्रतिवधके लिए वडोदाके दिवंगत महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने आजसे कोई आधी शताव्दी पूर्व १९०४में एक कानून वनाया था। उसमे वाल विवाह करानेवाले पिता या सरक्षकको दण्ड देनेका विधान किया गया था। उस समय इस कानूनपर वडी गरमागरम चर्चाएँ हुई थी। परन्तु वाल-विवाहकी सख्यामें विशेप कमी नही हुई। कुछ वर्पोके पश्चात् एक नया कानून वनाया गया और उसके द्वारा वाल-विवाह करनेवाले पुरोहितो (ब्राह्मणो) को दोपी मानकर उनके लिए दण्ड नियत किया गया। परन्तु प्रजा इस प्रथा की वुराईको समझते हुए भी, इस सुधारणाको अपना नही सकी।

आज तो यह अवस्था आ गई है कि शिक्षित समाज (यह वर्ग वढता जा रहा है) में कन्याको अच्छा शिक्षण प्राप्त न हुआ हो तो उसका विवाह नही हो सकता। जो लोग पहले मना करनेपर यह वात नही समझ पाते थे वे अव परिस्थितियोसे हारकर वाल-विवाहकी वुराईको समझने लगे है। शहरोमें तो विवाहकी उमरमें अच्छी वृद्धि हुई है।

(४) चौथी समस्या विधवा-विवाहकी थी। सुधारकोके प्रयत्नोका यह परिणाम हुआ कि पहले तो अक्षत योनि विधवाओको विवाह करनेकी छूट मिलने लगी। अव स्थिति यह पैदा हो गई है कि विवाह करनेवालेको तो कुछ सहन नही करना पडता, परन्तु उनके सगे-सवधियोंके मन वहुत विकल रहते है।

वडोदा राज्यमें "ज्ञाति-त्रास-प्रतिवधक" नामक एक कानून वनाया गया था। उसमें यह निश्चय किया गया था कि यदि विरादरी (जाति) के लोग किसी व्यक्तिको दण्ड देंगे या उसे कप्ट देंगे, तो वे लोग अपराधी माने जायँगे। इस प्रकार वडोदा राज्यमें रहने वाले अट्ठाईस लाख गुजरातियोके लिए विरादरी द्वारा दिए जाने वाले कप्टोका जोर कम हो गया था।

(५) स्त्री-शिक्षाके विपयमें शहरो और वडे ग्रामो में विशेपतया शिक्षित समाजमें उन दिनो अच्छी प्रगति हो रही थी। तथापि यह स्मरण रखना चाहिए कि गुजरात में सन १९१६ में भी अँगरेजी पढनेकी इच्छुक कन्याओको छात्र वृत्तियाँ देनी पडती थी। अव तो स्त्री-शिक्षा इतनी अधिक वढ गई है कि गुजरात कॉलेज अहमदावादमें (विज्ञानकी कक्षाओको छोडकर) कन्याओकी सख्या पुरुप छात्रो जितनी ही है। विवाहके विपयमें कन्याका कॉलेजमें पढा होना, प्रमाणपत्र के समान गिना जाता है।

(६) गुजरातमें राजपूत आदि थोडी-सी जातियोमें पर्दा-प्रथा चालू थी। इनके अतिरिक्त परिवारके पुरुप वर्गीय वडे वूढोंके सामने एक प्रकारकी लाज (इज्जत

काढी जाती थी। साठ वर्ष पहले स्त्रियां पर-पुरुषोसे वात नही करती थी। अपने स्वामी (पति) का नाम तो ले ही नही सकती थी। सौराष्ट्र (काठियावाड) और कच्छमें पर्दा और लाज काढनेका रिवाज अवश्य था परन्तु अब वातावरण वदल गया है।

(७) स्मरण रहे विरादरियोका जोर जुल्म तो कम हो गया है पर विरादरिया ज्योकी त्यों कायम है। विरादरियोके अंदर कई उप-विरादरियाँ हैं। उनका भी सगठन नही हो पाता है। पहले विरादरीके वाहर विवाह करना वड़ा अपराध समझा जाता था। अब विरादरीके वाहर विवाह हो सकता है और समाज उसे सहन कर लेता है या यो कहिए कि विरादरियाँ आँख मिचौनी कर लेती हैं। तथापि यह तो स्पष्ट है कि ९०—९५ प्रतिशत विवाह अपनी विरादरीमें या उप-विरादरीमें ही होते हैं। गुजरात अपनी उपविरादिरियोके लिए प्रसिद्ध है। सुधारकोके प्रवल प्रयत्नोके वावजूद भी विरादरियाँ कायम हैं।

सामाजिक सुधारणाकी अन्य वाते

(१) आरम्भमें ही सुधारकोने वेमेल विवाहोके विरोधमें खूव प्रचार किया था। वेमेल-विवाह दो प्रकारके होते थे—(क) एक तो उमरका वेमेलपना। राजपूतोमे कन्या पुरुपकी अपेक्षा ५—७ वर्प वड़ी हो सकती थी। अथवा वडी उमरके विधुर ४०—५०, या ६० वर्प की उमरमें १२—१३ वर्षकी कन्याके साथ विवाह करते थे। इस विपयमें लोकमत पर्याप्त शिक्षित हो चुका है और इस प्रकारके अनमेल विवाहोंकी संख्या घटती जा रही है।

(ख) अनमेल विवाहोका दूसरा प्रकार "गुण" की दृष्टि से था। पुरुष अच्छा पढ़ा-लिखा होता था तो कन्या सर्वथा निरक्षर होती थी। एक कविने उन दिनोके इस प्रकारके अनमेलपनेको देखकर कहा था—स्वामी तो भूगोल और खगोलकी वातें करता है और पत्नीका लक्ष्य केवल चूल्हेमें ही रहता है। यह आवस्था ग्रामोमें तो अव भी पूर्वतवत् विद्यमान है। नगरोमें स्थिति सुधरी है। सभी जानते है कि अपने भारत राप्ट्रकी ८० प्रतिशत जनता ग्रामोमें रहती है। अत. इस दिशामें संतोपकारक सुधार नही हो सकता है।

(२) गुजरातमें विवाहपर और मृत्युके पश्चात् लोग अपनी सामर्थ्यसे अधिक व्यय किया करते थे। उनके विरोधमें युवकोने समय-समयपर प्रवल आन्दोलन चलाकर कुछ सुधार करवाया है। परन्तु दूसरी ओर धनी पुरुप विशेपतया कालावाजार आदि करने वाले लोग पुष्कल व्यय करके वातावरणको कुत्सित वनाते हैं। विवाह खर्चकी अपेक्षा मरणके वाद अधिक खर्च किया जाता था, वाधित रूपमें पुराने समयमें दो-तीन विशाल मरण भोज विरादरीको देने पड़ते थे। युवकोने उनको "लहूके लड्डू" कहकर उनका खूव धिक्कार किया है। जिससे लोकमतमें अच्छा जागरण हुआ है।

(३) गुजरातमें विशेपत वडोदा राज्यमें विभिन्न विरादरियोंके साथ मिलकर सहभोजन करने में खूव प्रचार किया गया था। अव सहभोजनके विपयमें समाजकी

बाधा नही रही है। युगके वातावरणने इस समस्याका समाधान स्वय ही कर दिया है। बबई तथा अन्य बडे नगरोमे विद्याध्ययनके लिए जानेवाले असख्य विद्यार्थी होटलो तथा जलपानगृहोमें भोजन करने लगे है।

(४) रोटी-व्यवहारकी तरह बेटी-व्यवहार (अन्तर्जातीय विवाह) के लिए भी पर्याप्त प्रचार किया गया था। परन्तु वह सीधी रीतिसे सफल नही हुआ। अब अन्य प्रकारोसे अन्तर्जातीय विवाह होने लगे हैं। स्कूलो और कॉलेजोमें लडकियाँ और लडके साथ-साथ पढते है, नाटक-गोष्ठी और सगीत-सम्मेलन आदिके सांस्कृतिक कार्योमें साथ-साथ भाग लेते हैं। इस प्रकार एक-दूसरेके निकट परिचयमे आते हैं। इन परिचयोके कारण अन्तर्जातीय विवाहोकी सख्या बढ रही है। सख्या अधिक भले न हो, परन्तु अब इस प्रकारके विवाहोको रोकनेका प्रयत्न नही होता। हाँ यदि लडके-लडकीमें अपलक्षण होतेहै, तो रुकावट डाली जाती है।

(५) अब १७–१८ और २० वर्षकी कन्याएँ अपनी पसदगीसे विवाह करने लगी है। कुछ एक विचारशील बिरादरियोमें कन्याकी सम्मति लिये बिना उसका विवाह नही करते।

बडोदाके प्रगतिशील और सुविचारक दिवगत महाराजा सयाजीरावके सतत प्रयत्नो के फलस्वरूप अनेक प्रकारके सामाजिक सुधार किये गये थे। इस क्षेत्रमें उनका नाम आदरपूर्वक याद किया जायगा। उन्होने बाल-विवाहपर प्रतिबध लगवाया था। सब प्रकारके बालकोंके लिए नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षाका प्रबध किया था। बिरादरीके त्रास-निवारणके लिए कानून बनवाया था और अत्यजोके उद्धारके लिए स्पृहणीय प्रयत्न किया था।

(६) बडोदा राज्यमें महाराजने इस सदीके प्रारभमें सन् १९१० में सिविल मैरेज कानून लागू किया था। इस कानूनके द्वारा किसी भी बिरादरीके लोग किसी धार्मिक विवाह विधिके बिना भी केवल रजिस्टर्ड कराकर विवाद कर सकते थे। इस कानूनसे बडोदा राज्यके बाहरकी जनताने भी लाभ उठाया है।

(७) न्यायालयमें यदि ऐसा न्याय दिया जाता था कि अमुक परिणीता स्त्रीको अपने पतिके साथ रहना ही चाहिए तो उस स्त्रीका शारीरिक अधिकार प्राप्त करके वह पतिको सौंप दी जाती थी। यह कानून बादमें रद्द कर दिया गया।

(८) प्रारभिक समाज-सुधारक मदिरा निषेधका खूब प्रचार करते थे। ५०–६० वर्षके बाद आज यह अवस्था आई है कि कई प्रातीय सरकारोने कानूनके बलसे शराबबदीका प्रयत्न किया है। उस प्रयासकी सफलताके विषयमें मतभेद है। नि सदेह अमुक वर्गको इस कानूनसे लाभ हुआ है, परन्तु गुप्त रूपसे शराब खूब बन रही है और बिक रही है। सरकार इस प्रकारके शराब बनानेके विषयमें जो प्रयत्न किया करती है, वह व्यर्थ है।

(९) बडोदा राज्यमें महाराजाके आग्रहसे विवाह-विच्छेद (तलाक) का कानून भी चालू हो गया था।

(१०) अब तो समस्त भारत देशमें स्त्रियोको उत्तराधिकारके हक भी मिल गए है।

गुजरात सामान्यतया अधिक परिश्रमी और धनवान् है अत यह क़ानून गुजरात के लिए विशेष उपयोगी हो सकेगा।

(११) पुराने सुधारक इस बातका विरोध किया करते थे कि शिष्ट समाजमें पेशेवर नाचने वालियाँ बुलाई जायँ। इस दिशामें सारा वातावरण बदल गया है। एक तो यह बात हुई कि पेशेवर नाचनेवाली स्त्रियोका बुलाना बंद हो गया है। दूसरी ओर देशमें अपनी प्राचीन शिष्ट नृत्यकलाका प्रचार बढ रहा है और अच्छे शिक्षित और सस्कारी परिवारोकी स्त्रियाँ शिष्ट नृत्य करने लगी है।

(१२) गुज्रातमें विद्यालयो तथा महाविद्यालयो (कॉलेजो) में लडके-लड़कियोंके सहशिक्षणको अब कोई हौवा नही समझता। स्त्रियोकी पृथक् सस्थाएँ भी है तथापि सहशिक्षाके प्रति गुजरातमें विरोध नही है।

(१३) अंत्यजोद्धार (अछूतोद्धार) के लिए भी गुजरात और काठियावाड़में प्रबल लोकमत जाग उठा है। परन्तु लज्जापूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि गुजरातमें कुछ धार्मिक संप्रदायोका विशेष प्रभाव होनेके कारण अस्पृश्यताका व्यवहार उग्रतासे होता था। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा अछूतोद्धारकी आवाज़ उठानेपर गुज्रातपर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा। महाराजा सयाजी रावने अछूतोद्धारके लिए जो प्रयत्न किये थे, वे भी अभिनदनीय थे। अन्तमें महात्मा गाँधीजीने अस्पृश्यता निवारणकी प्रवृत्तिको राजनीतिक कार्यक्रमके साथ जोड़कर उस विकट समस्याके समाधानके लिए अच्छा प्रयत्न किया था। परन्तु हमें कहना पड़ेगा कि अभीतक अस्पृश्यताका निवारण बहुत कम हुआ है॥

अनुवादक—श्री शंकरदेव विद्यालंकार

—:०:—

श्री शोभालाल गुप्त

राजस्थानमें समाज-सुधार की लहर

राजस्थान त्याग, वलिदान और शौर्यके लिए इतिहासमें प्रसिद्ध रहा है। जब देशमें स्वतंत्रता और राष्ट्रीय स्वाभिमानकी ज्योति मंद पड गई थी, या बुझ गई थी, तब भी राजस्थानने उसे जलाए रखा इसलिए राजस्थानका इतिहास देशवासियोंको सदा प्रेरणा देता रहा है और भविष्यमें भी देता रहेगा। किन्तु वह समय भी रहा, जब राजस्थान गहरी नींदमें सो गया और जब देशके दूसरे प्रान्त जागते जा रहे थे और जीवनके विविध क्षेत्रोमें आगे बढनेके लिए जुट पडे थे, राजस्थान अचेता ही पडा रहा। देशमें जो विविध राजनीतिक और समाज-सुधारके आन्दोलन हुए, उनके वह बहुत अंशमें अप्रभावित ही रहा। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि राजस्थानमें राजनीतिक और समाजसुधारके आन्दोलन हुए ही नही। असलमें उनको तीव्र बाधाओंका सामना करना पडा और उनकी रफ्तार अपेक्षाकृत काफी मंद रही।

जिस भू-भागको हम राजस्थानके नामसे जानते है, वह कुछ वर्षों पहले तक २०-२१ छोटी-बडी रियासतोंमें विभक्त था। इन रियासतोंमें राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ प्राय एक-सी थी। राजस्थानकी रियासतोंमें सदियो सामन्तवादी व्यवस्था का बोलबाला रहा। समाजकी सारी सत्ता, शक्ति और साधन राजा-महाराजाओंके हाथोमें केन्द्रित रहे। राजा-महाराजाओंके बाद उनके सामन्तो अर्थात जागीरदारो का वर्ग काफी प्रभावशाली था। रियासतोंके एक बडे भागपर उनका कब्जा था। समाजपर उनका दबदबा छाया रहता था। वही समाजके नेता और सम्मानके पात्र समझे जाते थे। राजा-महाराजाओंको अपने ऐश-आराम और भोग-विलाससे फुर्सत नही थी। नये-नये कर लगाकर वे प्रजाका धन-अपहरण करते थे और उसे अपने भोग-विलासमें उडाते रहते थे। एक ओर प्रजा-पीडन और दूसरी ओर शान-शौकत और उडाऊपनके लिए उन्होने ख्याति प्राप्त की। जनता राजा-महाराजाओंके अत्याचारो को मूक होकर सहन करती थी और यदा-कदा सिर उठानेके अलावा जीवनका भार ढो रही थी।

राजस्थानकी रियासतोंमें राजा-महाराजाओ और उनके सामन्तोको यह पसंद नही था कि लोगोंमें शिक्षा और ज्ञानकी नई रोशनी फैले और वे दुनियामें होनेवाले परिवर्तनो की जानकारी प्राप्त करें, उन्हें भय था कि तब उनकी मनमानी और स्वेच्छाचारिता नही चल पाएगी और लोग अपने अधिकारोंका दावा करने लगेंगे। उस समय शिक्षा-संस्थाएँ

इनी-गिनी ही थी और पोलिटिकल एजेण्टोंसे प्रगतिशीलताका प्रमाणपत्र प्राप्त करनेके लिए उनकी स्थापना की जाती थी।

सामाजिक क्रांतिके अग्रदूत स्वामी दयानन्दने राजस्थानको विशेष रूपसे अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। हमारे देशमें 'यथा राजा, तथा प्रजा'की उक्ति चरितार्थ होती रही है। स्वामी दयानन्दने सोचा कि यदि राजस्थानके राजा-महाराजाओंको सीधी राहपर ले आया जाए, तो जन-जीवनको भी तेजीसे बदला जा सकेगा। उन्होंने अजमेर को अपना केन्द्र बनाया, जो उस समय ब्रिटिश राज्यके अधीन था और जहाँ अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र वातावरण था। उन्होंने राजस्थानके कई राजा-महाराजाओंके साथ-सम्पर्क स्थापित किया, जिनमें उदयपुर, जोधपुर, शाहपुरा आदिका विशेष रूपसे उल्लेख किया जा सकता है। उदयपुरके महाराणा सज्जनसिंह बडे सज्जन प्रकृतिके पुरुष थे और स्वामी दयानन्दने उन्हें मनुस्मृतिका अध्ययन कराया। जोधपुरके महाराजा विलासी प्रकृतिके थे और इसके लिए स्वामी दयानन्दको एक बार उनकी भर्त्सना भी करनी पडी थी। यही प्रसंग आगे चलकर स्वामी दयानन्दके प्राणोंके लिए संकटका कारण बन गया। उन्हें विष देकर उनके जीवनको समाप्त करनेकी चेष्टा की गई, जो सफल हुई और सामाजिक क्रांतिकी ज्योति बीचमें ही शान्त हो गई।

अजमेर आर्यसमाजका एक सुदृढ दुर्ग बन गया। वहाँ आर्यसमाजने एक हाई-स्कूल चलाया, जो अब कॉलेजका रूप धारण कर चुका है। इससे निकले हुए नवयुवकोंने समाज-सेवा और सामाजिक क्रांतिका संदेश राजस्थानमें फैलाया। राजस्थानमें आर्य समाजकी शाखाएँ स्थापित हुई और उनके द्वारा भी सामाजिक अंध-विश्वासों और रूढ़ियोंके विरुद्ध प्रचार किया गया। अजमेरमे एक बडा यन्त्रालय भी स्थापित किया गया और उसके द्वारा वैदिक साहित्यका प्रकाशन और प्रचार हुआ। अनाथालय और विधवा-आश्रमकी भी आर्यसमाजने अजमेरमें स्थापनाकी जो देशकी प्राचीनतम संस्थाओंमेंसे है। स्वामीजीने जिस परोपकारिणी सभाकी स्थापना की थी, उसका केन्द्र भी अजमेरमें ही था। एक प्रकारसे यह कहा जा सकता है कि राजस्थानमें समाज-सुधार कार्यका श्रीगणेश करने का श्रेय आर्यसमाजको है। उसीने लोगोंमें सामाजिक चेतना पैदा की और समाज-सेवाका मंच प्रदान किया। वह धार्मिक कट्टरताका युग था। छुआछूत, ऊँच-नीच और जाति-पाँतिकी भावना समाजमें व्याप्त थी। विधवा-विवाहको अत्यन्त नीची निगाहसे देखा जाता था और बाल-विवाहोंका दौर-दौरा था। इन तमाम सामाजिक कुरीतियोंके खिलाफ आर्यसमाजने प्रचार व आन्दोलन किया। किन्तु उसे काफी प्रतिकूलता का सामना करना पड़ा। बूंदी रियासतका एक बारका जिक्र है। कोई आर्यसमाजके प्रचारक वहां गए और सभाकी योजना की। जब यह बात महाराजाको ज्ञात हुई तो उन्होंने पूछा—यह क्या बखेड़ा है? महाराजाके अनुचर ने उन्हें बताया कि आर्यसमाजी माजी साहिबा (राजमाता) का फिरसे ब्याह कराने आए है। बस फिर क्या था, सभा दरबारके हुक्मसे बंद करा दी गई और प्रचारक अपनी बात भी नहीं कह पाए।

आर्यसमाजकी प्रेरणासे और स्वतंत्र रूपसे भी राजस्थानमें कई जगह सेवासमितियोकी स्थापना हुई। इन सेवा-समितियोंका काम मेलोंठेलोंमें व्यवस्था करना, पानी पिलाना,

दवा-दारू देना होता था। किन्तु इन सेवासमितियोकोभी राज्य अथवा जागीरदारो के कोपका शिकार होना पड जाता था। सन् १९१७ में भरतपुरमें सेवासमिति इसीलिए बन्द करदी गई कि सेवासमितिके एक स्वयसेवकने महाराजाको मदिरमें उस द्वारसे प्रविष्ट नही होने दिया, जो स्त्रियोंके लिए सुरक्षित कर दिया गया। जयपुरमें बिसाऊ के ठाकुरसाहबने सेवा समितिके कार्यकर्त्ताओको पकडकर जेलमें डाल दिया और उन्हें रिहा करानेके लिए समाचारपत्रोमें बडा आन्दोलन करना पडा। यह असहयोग आन्दोलनके दिनोकी बात है। सेवासमितिके कामका भी असहयोग आन्दोलनसे सबध जोड दिया गया, जो निराधार था। बीकानेरमें १९३० में राजद्रोहका जो मुकदमा चलाया गया था, वह चूरूकी उस सस्थाको लेकर चलाया गया था जिसका मुख्य काम शिक्षा-प्रसार, समाज-सेवा आदि था। पुस्तकालयकी स्थापनाके अपराधमें दो चार और ६ वर्षकी लम्बी सजाएँ दी गई थी। उदयपुरमें डा० मोहनसिंह मेहताने स्काउट आन्दोलन का श्री गणेश किया और बादमें विद्याभवन नामक शिक्षण-सस्थाकी स्थापना की। यद्यपि यह शिक्षा-सस्था आज विशाल रूप धारण कर चुकी है, किन्तु शुरूमे उसे सामाजिक कट्टरता और शासकीय सकीर्णताके बीचसे अपना रास्ता निकालना पडा।

देशमें बाल-विवाहकी प्रथा काफी व्यापक थी। छोटी और कच्ची उम्रमें लडके-लडकियोकी शादी कर देनेका आम रिवाज था। इस प्रथाको शास्त्रसम्मत माना जाने लगा था। ऐसे भी उदाहरण सामने आए, जिनमें माता-पिताने अपनी गर्भ-स्थित सन्तान का सबध स्थिर कर लिया। यह आम दृश्य देखा जा सकता था कि माता-पिता गोदमें उठाकर वर-वधूको विवाह-मण्डपमें ले जाते थे। बाल-विवाहकी इस प्रथाके विरुद्ध पुरानी केन्द्रीय व्यवस्थापक सभामें अजमेरके प्रतिनिधि श्री हरविलासजी शारदाने एक विधेयक पेश किया, जिसमें लडके-लडकियोकी शादीकी एक न्यनतम उम्र निर्धारित की गई और उससे कम उम्रकी शादियोको अपराध ठहराया गया। लडकीकी आयु १४ वर्ष और लडकेकी १६ वर्ष निर्धारित की गई। यद्यपि सनातनी वर्गने इस विधेयक का तीव्र विरोध किया, किन्तु उसके बावजूद वह व्यवस्थापक सभा द्वारा स्वीकार कर लिया गया और शारदा कानूनके नामसे विख्यात हुआ। कानूनमें कुछ त्रुटियाँ थी और वह देशी राज्योपर लागू नही थी जिसके कारण राजस्थानको उसका लाभ नही मिला और बाल-विवाह होते रहे। फिर भी समाज-सुधारकी दिशामें यह एक बडा कदम था। उसका श्रेय एक राजस्थानी समाज-सुधारकको ही देना होगा। समाज-सुधारके क्षेत्रमें उनकी सेवाओको आदरके साथ स्मरण किया जाएगा।

सामन्ती युगमें घरमें कन्याका पैदा होना ही एक भारी अभिशाप माना जाता था। राजपूत कुटुम्बोमें तो स्थिति इस हद तक पहुँच गई थी कि लोग अपनी नवजात कन्याका जन्मके साथ ही गला घोट देते थे या खाटके पायेके नीचे दबाकर मार डालते थे। राज-पूतोमें अहकारकी मात्रा विशेष होती थी और कन्या-पक्षको वर-पक्षके आगे झुकना ही पडता था। इस कथित अपमानसे बचनेके लिए ही नवजात कन्याओको मौतके घाट उतारनेकी प्रथा अस्तित्वमें आई थी। यद्यपि इस प्रथाका लोप हो चुका है, किन्तु अभी भी कन्याके जन्मका आम तौरपर स्वागत नही किया जाता। कन्या माता-पिता के लिए एक भारी बोझ समझी जाती है। लडके-लडकियोंके लालन-पालनमें भेद-भाव

तो होता ही है। कन्याका उतना लाड-चाव नही होता, जितना पुत्रका। कन्याका विवाह माता-पिताके लिए एक सबसे कठिन समस्या वन गई है। तिलक और दहेजकी प्रथा के कारण ही यह हो रहा है। वर-पक्षकी माँगें वढती ही जा रही है। उनके कारण समाजमें योग्य वर प्राप्त करना कठिन हो गया है। यह खेदका विषय है कि दहेजकी प्रथा के विरुद्ध कोई प्रभावशाली कानून नही वन सका, जो अनेक परिवारोकी आर्थिक तवाही का कारण वन रही है।

राजस्थानमें अनमेल विवाहकी कुप्रथाका भी जोर रहा है। वैश्य वर्गमें धनसम्पन्न व्यक्ति प्रौढ अथवा वृद्धावस्थामें निरीह किशोरीके साथ विवाह करनेमें सफल हो जाते है और माता-पिता पैसेके लोभमें अपनी कन्याका भविष्य अन्धकारमय वना देते हैं। ऐसे अनमेल विवाहोके विरुद्ध अव समाजका अन्त करण जाग्रत हो रहा है। विशेपकर नवयुवकोमें उनका विरोध करनेकी शक्ति प्रकट हो रही है। उसके फलस्वरूप कई अनमेल विवाह नहीं हो पाए है। राजस्थानमें राजपूत और उनसे संवधित वर्गोमें वहु-विवाहकी प्रथा भी प्रचलित रही। कोई विरला ही ऐसा राजा-महाराजा या जागीर-दार होगा, जिसका एकसे अधिक विवाह न हुआ हो। इसके अलावा अनैतिक सवंधोकी तो कोई गिनती ही नही। राजा-महाराजाओ और जागीरदारोके वे पुराने ठाठ-वाट अव समाप्त हो गए हैं। उनकी आय सीमित हो गई है और कानूनन भी वहु-विवाहपर रोक लगा दी है, अत यह प्रथा धीरे-धीरे मिट रही है।

राजस्थानमें पर्दा-प्रथाका भी खूव वोलवाला रहा। इस प्रथाको उच्चता और सम्पन्नताकी निशानी समझा गया। उच्च घरानोमें स्त्रियोको कडे पर्देमें रहना पड़ता है। स्त्रियाँ पुरुपोसे ही नही, वड़ी-वूढ़ी स्त्रियोंसे भी पर्दा करती हैं। राजपूत और वैश्य वर्गमें पर्देका रिवाज विशेप है। राजस्थानके इतिहासमें राजपूत रमणियोने युद्ध-क्षेत्रमें अपने जौहर दिखाये थे। किन्तु जव मुसलमानी शासन-कालमें स्त्रियोकी इज्जत अरक्षित हो गई, तो उन्हें पर्देमें रखनेका रिवाज चल पड़ा। सामन्ती युगमें भी यह अरक्षाकी भावना वनी रही। यदि कही कोई सुन्दर स्त्री दिखाई देती, तो उसे येन-केन प्रकारेण गढमें पहुँचा दिया जाता था और फिर उसका कोई पता न चलता था। वलात अपहरणके ऐसे किस्से होते रहते थे और राजस्थानकी एक वड़ी रियासतके महाराजाके रनवासमें ऐसी डेढ हजार स्त्रियाँ वंद थी। इस रनवाससे निकली हुई एक महिलाने उसका जो हाल सुनाया, वह रोंगटे खडे कर देनेवाला था। पर्दा प्रथाके शुरू होनेका जो भी कारण रहा हो, उसने स्त्री-समाजको पंगु और परावलम्वी वनादिया। अव जैसे-जैसे शिक्षाका प्रसार हो रहा है, पर्दा-प्रथाकी कठोरता कम होती जा रही हैं। जो लोग पर्दा-प्रथाको तोड़नेका साहस करते है, उन्हें समाजके वड़े-वूढे निर्लज्ज कहनेमें संकोच नही करते।

मृतक भोजका भी राजस्थानमें आम रिवाज है। समाजमें अपनी प्रतिष्ठा कायम रखनेके लिए मृतक भोजका आयोजन आवश्यक समझा जाता है। समाजके सभी वर्गो में यह रिवाज प्रचलित है। इसे एक धार्मिक और सामाजिक कर्त्तव्य मानलिया गया है और उसे पूरा करनेके लिए लोग कर्जदार तक वन जाते हैं। मृतक भोज करनेकी यह प्रथा सामाजिक अपव्ययकी निशानी वन गई है। जिन दिनो अभावके कारण

खाद्य पदार्थोपर नियन्त्रण लागू कर दिए गए थे, उन दिनोमें चोरी-छिप इस प्रकारके बड़े-बड़े भोज होते रहते थे। राज्य कर्मचारी कुछ ले-लिवाकर उनकी ओरसे आँख वद कर लेते थे। उस जमानेमें करौली रियासतमें एक भयंकर काण्ड हो गया। राज्य-कर्मचारियोंके एक दलने मृतक भोजको रोकनेका प्रयास किया, तो ग्रामीणोने बीसो राज्य-कर्मचारियोको मौतके घाट उतार दिया।

राजस्थानमें समाज-सुधारके आन्दोलनको जन्म देनेका अधिकतर श्रेय उन प्रवासी राजस्थानियोको है, जो व्यापार-व्यवसाय तथा उद्योग आदि के लिए देशमें दूर-दूर तक चारो ओर फैले हुए है। राजस्थानके अधिकतर मरुभूमि ही होनेसे जीवन-निर्वाहकी समस्याको हल करनेके लिए इनको राजस्थानसे प्रवास करनेके लिए वाध्य होना पड़ा। जिन प्रदेशोमें जाकर ये वस गए, उनके निवासियोंके जीवन तथा आन्दोलनसे इनका प्रभावित होना स्वाभाविक था। कलकत्ता, वम्वई आदिमें इनके द्वारा अनेक ऐसी सामाजिक सस्थाएँ कायम की गईं कि जिनका मुख्य उद्देश्य सामाजिक जीवनमें सुधार करना था। उनसे पैदा हुई सामाजिक चेतनाका लाभ राजस्थानको भी मिला क्योकि उनके सामाजिक जीवनका सम्वन्ध अपने जन्म-प्रदेश राजस्थानके साथ ही था। शादी, गमी आदिके अवसरोपर उनको यहाँ आना ही होता था। उन सामाजिक सस्थाओमें मारवाडी अग्रवाल महासभा, महेश्वरी महासभा, ओसवाल महासम्मेलन, खडेलवाल महासभा, ब्राह्मण महासभा, मारवाडी कार्यकर्त्ता सम्मेलन तथा अ० भा० मारवाडी सम्मेलन आदि मुख्य हैं। इनमेंसे अनेकके वार्पिक अखिल भारतीय अथवा प्रादेशिक सम्मेलन राजस्थानमें अनेक स्थानोपर हुए। शेखावाटी रूढिवादका गढ है, धार्मिक व सामाजिक कट्टरताका वहाँ वोलवाला है। इसी कारण फतहपुरमें मारवाडी अग्रवाल महासभाका जो वार्पिक अधिवेशन हुआ, उसकी वहुत चर्चा रही। इन सस्थाओंके कारण अनेक वार कुछ शिष्ट-मडलोने भी राजस्थानके विभिन्न भागोका दौरा किया। इनकी ओर से समाज-सुधार-सवधी कुछ साहित्यका भी राजस्थानमें प्रचार किया गया, इनकी देखा-देखी अन्य जातीय सस्थाओका भी प्रादुर्भाव हुआ। उनमें राजपूत महासभा, जाट महासभा, दिगम्वर जैन महासभा, दिगम्वर जैन परिपद आदि मुख्य है। धीरे-धीरे अन्य जातीय सस्थाएँ भी सगठित हुई। गुर्जर, मीणा व नाई आदि ने भी अपनी सामाजिक सस्थाओको सगठित किया। अनेक युवक-सगठन भी जहाँ-तहाँ पनप गए। उनका विरोध भी किया गया। रीगसमें स्वर्गीय श्री वसन्तलालजी मुरारकाके सभापतित्वमें जिस युवक सम्मेलनका आयोजन किया गया था, उसका विरोध समाजके पचो और जयपुर राज्यके अधिकारियोने यहाँ तक किया था कि उसमें वाहरसे आनेवालोंके लिए ठहरनेके स्थान और भोजन आदिकी व्यवस्था वहुत कठिनाईसे की जा सकी थी। शेखावाटीमें जव वे दौरे पर गए तव स्थान-स्थानपर काले झडोंके विरोधमें प्रदर्शन किए गए और लक्ष्मणगढमें उन पर धूल, मिट्टी व पत्थर तक फेंके गए। ऐसा विरोध समाज-सुधारकोका प्राय सारे ही राजस्थानमें किया जाता था। फिर भी धीरे-धीरे सामाजिक चेतनाको प्रश्रय मिलता गया और पिछड़ा होनेपर भी राजस्थान समाज-सुधारकी लहर से अछूता नही रह सका। समयके सर्वथा अनुकूल होते हुए भी समाज-सुधारके क्षेत्रमें अभी वहुत कुछ करना वाकी है। अनेक स्थान ऐसे है, जिनमें समाज-सुधारकी हवा भी

एक भी झोंका अभी नही पहुँचा और वहाँके अधिकांश लोग बाबा आदमके दिनोकी दुनिया में रहते है ।

राजस्थानमे सामन्तवादी व्यवस्थाके कारण हरिजनोकी स्थिति काफी दयनीय रही । छुआछूतका खूब बोल-बाला था । शिक्षा-सस्थाओ जलागयो और देव-मंदिरोके द्वार उनके लिए बन्द थे । राजस्थानके कुछ भागोमें तो इतनी दयनीय स्थिति थी कि हरिजनोंको खेलसे पानी लेना पडता था । कुओपर एक हौज बना होता था, जिसमें जांनवरोके लिए पानी भर दिया जाता था । उसीसे हरिजन अपनी प्यास बुझाते थे । राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की प्रेरणासे राजस्थानमें भी हरिजन-उत्थानका सगठित प्रयत्न हुआ । हरिजन सेवक संघकी राजस्थान-शाखा स्थापित हुई । जगह-जगह हरिजनो के लिए स्कूल खोले गए । कुएँ बनवाए गए । राजस्थानमें सबसे पहले झालावाडके महाराजाने हरिजनोके लिए अपने राजमन्दिरके द्वार खोले । हालमें उदयपुरका प्रसिद्ध जगदीशका मन्दिर भी हरिजनोके लिए खुल गया है । हरिजनोपर राजस्थानमें और भी तरह-तरहके प्रतिबंध लगे हुए थे । जैसे वे चीनीकी मिठाई नही बना सकते थे, घोड़ेकी सवारी नही कर सकते थे, चाँदी-सोनेके जेवर नही पहन सकते थे, । ये सब प्रतिबन्ध धीरे-धीरे टूट रहे हैं । अब तो राज्यने भी क़ानून द्वारा सब भेदभावको खत्म कर दिया है और वह उनकी उन्नतिके लिए विशेष प्रयत्न कर रहा है ।

राजस्थानमें सामन्तवादने एक और कुप्रथाको जन्म दिया, जिसे दास-प्रथा कहा जा सकता है । राजा-महाराजाओ और जागीरदारोके यहाँ बडी सख्यामें दास-दासी रहते थे, जिनको चाकर, दरोगा, बांदी आदि नामोंसे पुकारा जाता था । सन् १९२१ की मर्दुमशुमारीमें इनकी संख्या १ लाख ६० हज़ार गिनी गई थी । ये लोग पीढी-दर-पीढी अपने मालिकोकी गुलामी करनेके लिए बँधे हुए थे और मालिकोको उनके शरीरपर भी पूरा अधिकार प्राप्त था । मालिक अपनी लड़कियोके दहेजमें धन-सम्पत्तिके अलावा दरोगोके कुटुम्बके कुटुम्ब दे दिया करते थे । इन गुलाम स्त्री-पुरुषोको उनके मालिक चाहे-जैसी यत्रणा दे सकते थे । उनकी स्त्रियोके सतीत्वके साथ चाहे जैसा वर्त्ताव किया जा सकता था । नामके लिए उनका पति भलेही कोई हो, किन्तु वे अपने 'अन्नदाता' की इच्छाकी उपेक्षा नही कर सकती थी । अलवर-राज्यमें एक बाँदीके मुक्त होजानेके विरुद्ध अदालतमें दावा दायर किया गया था और उसपर कानूनी अधिकार जताया गया था । अब राजा-महाराजाओ और जागीरदारोंके लिए पहले जितनी संख्यामें दास-दासी रखना सभव नही रह गया है । इसलिए उन्होने बहुत-से पुराने दास-दासियोको मुक्त कर दिया है । अब इस प्रकार मुक्त हुए दास-दासी, अपनेको निराश्रित अनुभव कर रहे हैं और समाजके स्वाभिमानी और स्वावलंबी नागरिक बननेमें अभी उन्हें समय लगेगा ।

देशके स्वतंत्र होनेके बाद राजस्थानकी भी कायापलट हो गई है । सामन्तवाद समाप्त हो गया है । राजा महाराजाओके हाथोसे सत्ता निकलकर जनताके प्रतिनिधियो के हाथोमें पहुँच गई है । जागीरदारी प्रथा समाप्त हो गई है । लोकसत्ताका उदय हो चुका है । सारा राजस्थान अजमेर सहित एक इकाईमें सगठित हो गया है । इन बडे और क्रांतिकारी परिवर्तनोंसे राजस्थानके सामाजिक जीवनपर अनिवार्य रूपसे गहरा

असर पड़ेगा। आनेवाले जमानेमे स्त्री और पुरुषका दर्जा समान होगा और पुरुषो की भाँति स्त्रियाँ भी सामाजिक जीवनमें बराबरीके नाते भाग ले सकेंगी। किन्तु हमको यह नही भूलना चाहिए कि राजनीतिक परिवर्तनोकी तुलनामें सामाजिक परिवर्तन धीमी गतिसे होते है। और सामाजिक कुप्रथाओको तोडनेके लिए अधिक दृढता और साहस की आवश्यकता होती है। यदि पर्दा प्रथाको तोडना है, दहेजकी प्रथाको समाप्त करना है या मृतक भोजको वन्द करना है, तो व्यक्तिको स्वय ही इस दिशामें प्रयत्न करना होगा। समाज-सुधारके क्षेत्रमें केवल उपदेश काफी नही हो सकता, वल्कि अपने व्यक्तिगत आचरण द्वारा एक मिसाल स्थापित करनी होगी। आशा है राजस्थानकी नई पीढी हानिकर सामाजिक बधनोको तोड फेंकेगी और भविष्यमें कोई यह अगुली-निर्देश नही कर सकेगा कि राजस्थान समाज-सुधारके क्षेत्रमें अन्य प्रान्तोंसे पिछडा हुआ है। राजनीतिक और आर्थिक उन्नतिके साथ उसे सामाजिक प्रगति भी करनी होगी अन्यथा वह उन्नति अधूरी ही रहेगी।



श्री विनय घोष

बंगालमें समाज-सुधार आन्दोलन

जब समाजमें विकार उत्पन्न हो जाता है, तब उसके शोधन-संस्कारकी आवश्यकता पड़ती है। समाज कभी भी स्थिर नही रहा है और जब कभी उसकी परिवर्तनशीलता के गति-पथमें कुसंस्कारो और जड विचारोके कारण बाधा आयी है, तब समाजके अन्दर से ही कुछ ऐसी परिस्थितियोका आविर्भाव हुआ है, जिनसे प्रगति-पथको मुक्त करनेकी चेतना जाग्रत हुई है। युग-वैशिष्ट्यके अनुसार यह चेतना कभी कम और कभी अधिक होती रही है। इस प्रकारकी चेतना भारतमें प्राचीन युगसे ही चली आती है और मध्य युगमें भी वह नितान्त सुषुप्त नही थी। एतरेय ब्राह्मणकी एक कहानीमें राजकुमार रोहितको देवताओने जो उपदेश दिया, वह इस प्रसगमें स्मरणीय है। वर्षो तक चलते रहने के बाद थककर जब राजकुमार रोहित विश्रामके लिए घरकी ओर लौटने के लिए उद्यत हुए, तब पथमें वृद्ध ब्राह्मणरूपी इन्द्रने उनसे कहा—"हे रोहित, जो चलते-चलते थक जाय, उसकी श्रीका कही अन्त नही है। मैंने युगोसे यही बात सुनी है। जो चलता है, देवराज इन्द्र भी उसके मित्र होकर साथ-साथ चलते है। जो चलना नही चाहता, वह श्रेष्ठ होते हुए भी क्रमश. अवनतिको प्राप्त होता है। अत 'चरैवेति, चरैवेति' चलते चलो—चलते चलो। इस प्रकार इन्द्रने रोहितको यह 'चरैवेति' मत्र पाँच बार सुनाया। आगे चलना ही मनुष्यका धर्म है—समाजका धर्म है। भारतके समाजका धर्म और आदर्श प्राचीन और मध्य युगमें भी यही रहा है। किन्तु जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में, उसी प्रकार सामाजिक जीवनमें भी आदर्श की विकृति और विच्युति हमेशा ही होती रही है। अपने लक्ष्य और नीतिके प्रशस्त राजपथको छोडकर मनुष्य और समाज दुराचार-दुर्नीति के मार्गपर बढ़ चला है और कुसंस्कार एवं जड़ विचारकी आवर्जनासे वह पथ ढक गया है। धर्मकी विकृति हुई, सदाचारकी जगह व्यभिचारने लेली, उसी समय समाजमें सकटकी सृष्टि हुई और सकटसे मुक्तिके मार्गकी खोज आरम्भ हुई। जिन्होंने इस सकट मुक्तिका मार्ग बताया, वे ही युगपुरुष और युग सुधारक कहलाए। इसी प्रकार एक युग-संकटके सधि कालमें शंकर और चैतन्यका हमारे देशमें आविर्भाव हुआ था। आधुनिक युगमें राममोहन, रानाडे, दयानन्द और विद्यासागरने भी इसी संकट-मुक्तिके उद्देश्यसे समाज-सुधारका व्रत ग्रहण किया।

आधुनिक युगमें समाज-सुधारके जिन आदर्शोसे नयी शिक्षा-प्राप्त भारतवासी अथवा बगालवासी उद्बुद्ध हुए उनका सारा श्रेय केवल अंग्रेजो और उनकी शिक्षाको ही दिया

जाय तो ठीक नही होगा। इसमें कोई सदेह नही कि अग्रेजोने परिस्थिति और सुयोग की सृष्टि कर अप्रत्यक्ष रूपसे समाज-सुधारका पथ सुगम किया।

नई शिक्षा और पश्चिमी सभ्यताके सस्पर्शके परिणामस्वरूप ही इस प्रकारके वातावरणको पनपनेका अवसर प्राप्त हुआ। १७५७ ई० के प्लासीके युद्धसे लेकर १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य-सग्राम तक प्राय १०० वर्ष ईस्ट इण्डिया कम्पनीका राज्य रहा। उस समय कम्पनीके सचालकोका प्रधान लक्ष्य भारतके घरेलू मामलोमें और विशेपकर धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रोमें किसी भाँतिका हस्तक्षेप करना नही था। इसी नीतिका पालन कर वे केवल अर्थोपार्जनकी ओर उन्मुख होकर भारतवासियोंके आस्थाभाजन बनना चाहते थे। कम्पनीके शासन-कालमें राज-प्रतिनिधियोमें कुछ लोग व्यक्तिगत रूपसे उदारपथी और सुधारपथी थे। उन्होने ही यहाँके शिक्षित वर्गके लिये सुधार-सुविधा सम्बन्धी माँग की। इसी माँगको लेकर इगलैण्डके शासकोके साथ सघर्ष किया। और जनमत सगठित किया। इसीलिए हम देखते है कि सिपाही-विद्रोहके समय सभी अग्रेजोने एक स्वरसे यह कहा कि बिना सोचे-समझे कुछ राज-प्रतिनिधियोने यहाँके शिक्षितो और धार्मिकोके बीच हस्तक्षेप करके विद्रोहकी ज्वाला जलाई। उन्होने सती-प्रथा बन्द करने, विधवा-विवाहका कानून बनाने, अग्रेजी शिक्षाका प्रचार करने और पादरियो द्वारा धर्म-प्रचारके अत्युत्साहको ही विद्रोहके प्रधान कारणोमें बताया है। अत. अग्रेज शासक सरकारी तौरसे कम्पनीके शासन-कालमें समाज-सुधारका खास कार्य नही कर सके, यह स्पष्ट है। प्रधानत इस देशके नव शिक्षा-प्राप्त युवकोने ही विभिन्न प्रदेशोमें समाज-सुधारके कार्यमे अपनेको सलग्न किया और इस दिशामें बंगाल भी पीछे नही रहा।

अँग्रेज शासकोकी अपेक्षा पादरियोने हमारे देशके समाज-सुधारके काममें विशेप हाथ बँटाया है। इसीलिए अँग्रेज शासक सजातीय होनेपर भी पादरियोको अच्छी निगाहसे नही देखते थे। भारतवर्षमें आकर धर्म-प्रचार करनेकी उन्हें पूरी आज़ादी नही दी थी। १८३३ ई० तक पादरियोको भारतवर्षमें आनेके लिए "लाइसेन्स" की आवश्यकता होती थी और तब भी उनको पूर्ण स्वाधीनताके साथ काम करनेका सयोग प्राप्त नही था। इतना होनेपर भी बहुतसे पादरी भारतवर्षके विभिन्न स्थानोमें पहुँच गये और उन्होने देशवासियोके हृदयमें समाज-सेवाकी भावना जाग्रत की। १७९२ ई० में "बैपतिस्त मिशनरी सोसाइटी" की स्थापना होनेके बाद १७९३ ई० के अन्तिम दिनोमें विलियम केरी और जौन टामस कलकत्ते आये। जौन टॉमस ही बगालमे आनेवाले पहले बैपतिस्ट मिशनरी थे। १७८३ ई० में वे एक जहाजके डाक्टरके रूपमें बगालमें आये और तभी उनके मनमें धर्म-प्रचारकी भावना जागी। १७९५ ई० मे लन्दन मिशनरी सोसाइटीका कार्य शुरु हुआ और सोसाइटीकी ओरसे नैयेनियल फॉरसाइद ने कलकत्तेमें प्रचार-कार्य शुरू किया। आरम्भमें लन्दन सोसाइटीका विशेप कार्य कर्नाटक प्रदेश और दक्षिण भारतमें केन्द्रित था। १८१२ ई० में उन्होने बंगालमें पूरे जोशके साथ कार्य शुरू किया। १७९९ ई० में चर्च मिशनरी सोसाइटी की स्थापना हुई। १८१४ ई० से इन्होने बगालमें एव दक्षिण भारतमें कार्य शुरु किया। १८०४ ई० में "बाइबिल सोसाइटी" एव १८१४ में ई० मे कलकत्ता डॉयसिज सोसाइटीकी स्थापना

हुई। १८२० ई० से वेसेलियन मिशनरी सोसाइटीने अपने प्रतिनिधि भेजने आरम्भ किये। १८३० ई० में अलेक्जेन्डर डॉफके आगमनके वादसे स्कॉटिश मिशनरी सोसाइटी का काम वंगालमें आरम्भ हुआ। जैसा कि कहा गया है, १८३३ ई० तक इन मिशनरियोको काम करनेकी पूरी स्वाधीनता नही थी। कम्पनीके शासकोमें से अनेक पादरियोका मन-ही-मन तो समर्थन करते थे, किन्तु प्रत्यक्ष रूपसे वे कुछ नही कर सकते थे। इस देशके निवासी भी स्वभावत ही उनको अच्छी निगाहसे नही देखते थे। इन वाधा-विपत्तियोके पथसे गुजरकर भी मिशनरियोने शिक्षा और समाज-सुधारके कार्य को किया और यह कहना अत्युक्ति न होगी कि १८ वी शताब्दीके उत्तरार्द्धसे लेकर उन्नीसवी शताब्दीके पूर्वार्द्ध तक भारत और वगालमें इन्ही मिशनरियोके द्वारा सामाजिक चेतनाका विकास हुआ।

मिशनरियोके कार्य-कलापका प्रधान केन्द्र वगाल था और उनका प्रधान कार्य था ईसाई धर्मका प्रचार करना। धर्म-प्रचारके लिये स्वभावत ही उन्हें इस देशके आचारित धर्मकी खामियाँ निकालकर लोगोके सामने रखना और उनको विशेष तूल देना पडता था। विशेषकर उन्होने हिन्दू धर्मकी शास्त्रीय विकृति और पुँजीभूत सस्कारो के विरुद्ध आवाज़ उठायी। विकृतिका मुख्य रूप था तैंतीस कोटि देवताओकी मूर्त्ति-पूजा, उत्कट ब्राह्मणवाद और जातिवाद। पादरी लोग वात-वातमें इन बुराइयोंका उल्लेख करते और ईसाई धर्मकी विशेषता प्रतिपादित करते थे। हिन्दू धर्मका सुधार करना उनका उद्देश्य नही था वल्कि उनका उद्देश्य हिन्दू-धर्मको लोक-समाजमें हेय प्रतिपन्न कर ईसाई धर्मकी प्रतिस्थापना करके इस देशके निवासियोका धर्म परिवर्तन करना था। समाज-सुधार भी उनका प्रथम उद्देश्य नही था। अपने धर्म-प्रचारके कार्योकी सफलता के लिए ही उन्हें कुछ ऐसे सुधारके कार्य करनेके लिए वाध्य हो जाना पडा जिनके विना सफलता नही हो सकती थी। मिशनरियोके इन कार्य-कलापोको हम वंगालके धर्म-सुधार और समाज-सुधार आन्दोलनकी पृष्ट-भूमिका कह सकते है। यदि इनको भारतवर्षके सुधार-आन्दोलनोकी भित्ति कहें, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी।

उन्नीसवी शताब्दीके दूसरे दशकमें प्राय सभी मिशनरी सोसाइटियोने अपने प्रतिनिधि वगालमें भेजना शुरू किया और वे धर्मके प्रचारका कार्य वड़े आत्म नियोगसे करने लगे। इनके इस कार्यके साथ ही समाज-सुधारका प्रश्न खड़ा हुआ। इसी समय १८१४ ई० के आसपास राजाराममोहन राय स्थायी रूपसे कलकत्ता आकर रहने लगे। क्यो राममोहनरायकी दृष्टि पहले पहल धर्मकी ओर आकृष्ट हुई, क्यो उन्होने धर्म-सस्कारकी आवश्यकता अनुभव की, इन वातोको मिशनरियोके कार्यकलापकी पृष्ठ-भूमिमें आसानीसे समझा जा सकता है। इसके अलावा उस समय धर्म ही सम्पूर्ण सामाजिक आचार-विचार, रीति-नीति और ध्यान-धारणाका मूल उत्स था। धर्मको छोड़कर उस समय समाज-सुधारकी कल्पना करना भी सम्भव नही था। इसीलिए राममोहनरायने पहले मूल उत्सकी ओर ही ध्यान दिया। साथ ही ईसाई मिशनरियो के धर्म-प्रचारने भी उनकी दृष्टि विशेष रूपसे धर्म-सस्कारकी ओर आकृष्ट कर दी थी।

कलकत्ता आनेके वाद राममोहनरायने १८१५ ई० में वेद ग्रंथोका अनुवाद प्रकाशित करवाया। वेद-उपनिषदोकी चर्चा उस समय वंगालमें कम होने लगी थी। संस्कृत पडितो

के बीच ही उनकी चर्चा होती थी। बाहर उनका कोई प्रचार नही था। पोथियो तक वेद-उपनिषदकी वाणी बन्दी थी। राममोहनरायका युग मुद्रण-युग कहलाता है। इसके पूर्वसे ही पादरी लोगोने छापेखाने खोलकर इसाई धर्म-ग्रंथोको छापकर प्रचार करना शुरू कर दिया था। राममोहनरायने भी वेदान्त ग्रंथोको बंगलामें अनुवाद करके विना मूल्य वितरण करना आरम्भ कर दिया। पोथियोंके रूपमें जो दुर्लभ था और संस्कृत भाषा के कारण जो दुर्बोध था, वह मातृभाषामें और मुद्रित अवस्थामें आनेपर बोधगम्य और सहज प्राप्य हो गया। ज्ञान-जगतमें एक नए विप्लवकी सृष्टि हुई और उसमें सहायक थे छापनेकी मशीन और मातृभाषा। हिन्दू धर्म के विरुद्ध मिशनरियो द्वारा जो कुप्रचार हो रहा था, उसका राममोहन रायने इसी प्रकार प्रतिरोध किया। उन्होने कतिपय उपनिषदोका अनुवाद कर प्रकाशित कराया। उनकी यह प्रमाणित करनेकी इच्छा थी कि निराकार ब्रह्मकी साधना ही हिन्दू धर्मकी श्रेष्ठ साधना और एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद ही हिन्दू धर्मका स्वीकृत सत्य हैं। वही सत्य और वही साधना समय-समय पर जन-साधारणमें विकृत होती रही और शास्त्रकार तथा पुरोहित लोग ही उस विकृति के लिए मुख्यत: उत्तरदायी है। ईसाई धर्म भी तो इसी प्रकारसे मध्यकालीन युगमें पादरियो द्वारा विकृत किया गया था। किंतु जिस प्रकार उससे सच्चा ईसाई-धर्म उपेक्षित नही हुआ, उसी प्रकार हिन्दू धर्म भी उपेक्षणीय नही हैं। राममोहनरायकी इस अकाट्य युक्तिके सामने विलक्षण बुद्धिशाली पादरी लोग भी विभ्रांत हो गए। एक दिन नए इस्लाम धर्मका सामना होनेपर और हिन्दू धर्ममें प्रचलित कुसंस्कारोसे व्यथित होकर शंकरने अद्वैतवादका प्रचार किया था। राममोहनने भी बहुत-कुछ इसी प्रकारकी ऐतिहासिक आवश्यकतावश हिन्दू धर्ममें सुधार करनेके लिए निराकार ब्राह्म-धर्मका प्रचार किया। मूर्त्ति-पूजा, बहुदेवोपासना हिन्दू धर्मका एकमात्र अथवा श्रेष्ठ सत्य नही है, इस बातका वेद-उपनिषद के माध्यमसे प्रचार करके राममोहनने उस समय हिन्दू धर्म और हिन्दू समाजको एक विपर्ययसे बचा लिया।

इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिए ब्राह्म-समाजकी स्थापनाके बहुत पहले राममोहनरायने १८१५ ई० में 'आत्मीय सभा' नामक एक सभा प्रतिस्थापित की थी। इस सभामें नियमित तौरसे धर्मालोचना होती थी, वेद-पाठ और ब्रह्म-संगीत होता था। किंतु, चूंकि धर्म-सुधारके साथ उस समय समाज-सुधार अविच्छेद्य रूपमें जुडा हुआ था, इसलिए आत्मीय सभाके अधिवेशनमें धर्मके साथ सामाजिक समस्याओकी भी आलोचना होती थी। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओंमें इस सभाके अधिवेशनोकी जो कार्यवाही बीच-बीचमें प्रकाशित होती थी (जैसे 'कलकत्ता जरनल'में) उससे इसका आभास मिलता है। १८ मई, सन् १८१९ के 'कलकत्ता जरनल' में प्रकाशित विवरणसे मालूम होता है कि आत्मीय सभाके अधिवेशनोमें नियमित रूपमें धर्मालोचनाके अतिरिक्त विभिन्न सामाजिक समस्याओ की भी आलोचना होती थी। जाति-भेद समस्या, पंक्ति-भोजन और निषिद्ध खाद्यकी समस्या, बाल-विधवाओ द्वारा कठोर ब्रह्मचर्य पालनके औचित्यानौचित्य, बहु विवाहकी प्रथा, सती-प्रथा अथवा सह-मरण कुसंस्कार और मूर्त्ति पूजा-संबधी विभिन्न प्रकारके कदाचार इत्यादिके संबधमें इस सभाके अधिवेशनोमें आलोचनाएं होती थी। आत्मीय-सभा केवल ब्राह्म-धर्म-प्रचार अथवा ब्रह्मोपासनाकी सभा ही नही थी, समाज-सुधारकी

भी सभा थी, यह इस विवरणसे स्पष्ट मालूम होता है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर राममोहनराय द्वारा स्थापित इस आत्मीय सभाको ही वर्तमान वंगदेशकी प्रथम समाज-सुधारकी संस्था कहा जायगा। बादमें बंगालमें और सारे भारतवर्पमें जिन सब सामाजिक कुप्रथाओ और जड़ विचारोके विरुद्ध सुधारक गणने संगठित रूपसे आन्दोलन किया, राममोहनरायकी आत्मीय सभामें उन्हींके विपयमें नियमित तौरसे चर्चा-वार्त्ता होती थी।

आत्मीय सभा वहुत दिन नही चली, क्योकि राममोहनरायके धार्मिक और सामाजिक मतामतका वाहर प्रचार होनेपर उनके विरुद्ध स्थितिपालक और प्रतिक्रियावादी हिन्दुओ ने तुमुल प्रतिवाद करना शुरू किया, भाँति-भाँतिके निम्नकोटिके उपायो द्वारा उनको और उनके दलके कुछेक लोगोको अपदस्थ करनेकी चेप्टा की। इससे आत्मीय सभा विखर गई। राममोहनने सन् १८२१ में यूनिटेरियन सोसाइटीकी स्थापनाकी और उसमें ईसाई ढंगसे उपासना करनेकी विधि आरम्भ की, किंतु उससे भी संतुष्ट न हो कर सन् १८२८ में ब्राह्म-समाजकी स्थापना की। राममोहनका यह ब्राह्म-समाज किसी दिन भी हिन्दुओका अथवा किसी भी विशिप्ट धर्मसम्प्रदायका समाज नही था। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और यहूदी सव ब्राह्म-समाजकी उपासनामें सम्मिलित होते थे। तदनन्तर देवेन्द्रनाथ ठाकुरके पिता और केशवचन्द्र सेनके समयमें ब्राह्म-समाजकी नीतिमें अनेक परिवर्तन हुए। तथापि यह समझ रखना चाहिए कि ब्राह्म-समाज ही बंगालमें समस्त सामाजिक प्रगतिशील आदोलनका अगुवा था और समाज-सुधारके कार्य में इसीने नई प्रेरणाके युगकी सृष्टि की। राममोहनरायके धर्मसे दूर चले जाने तथा क्रमश. एक नई साम्प्रदायिकताकी चहारदीवारीमें आवद्ध हो जानेके वावजूद ब्राह्म-समाज किसी दिन राममोहनकी सामाजिक नीति और आदर्शसे विच्युत नही हुआ। एक नयी साम्प्रदायिकता में सीमावद्ध होजानेके फलस्वरूप जन-साधारणमें विस्तृत प्रभाव विस्तार करना ब्राह्म-समाजके लिए संभव नही रहा? किंतु उसका सामाजिक आदर्श प्रगतिशील लोगोको वरावर अनुप्राणित करता रहा।

समाज-सुधारके क्षेत्रमें सती-प्रथाका निवारण राममोहनका चिरस्मरणीय अवदान रहेगा। इस अमानुपिक प्रथाके कारण भारतके विभिन्न स्थानोमें, विशेपत. वगालमें ऐसी वीभत्स सामाजिक परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसका वर्णन नही किया जा सकता। एक दिन शायद भारतीय वीरागनाओको आत्म-रक्षाके लिए जिस क्रियाका प्रयोजन हुआ था, परवर्त्ती युगमें वही प्राणहीन स्थूल आचार और प्रथाके रूपमें परिणत हो गई, धर्मका सहारा पाकर। सती अर्थात् सहमरणकी वीभत्स प्रथाको वंद करनेके लिए मुगल वादशाह अकवरने भी चेप्टा की थी, किंतु भिन्न-धर्मी होनेके कारण उसके लिए दूसरेके धर्ममें हस्तक्षेप करना संभव नही था। अँगरेज़ोके शासन-कालमें भी यही हुआ। एकाधिक विदेशी यात्रियों और ईसाई मिशनरियोने इस सह-मरणकी प्रथाका आँखो देखा वर्णन लिखा है। १९ वीं शताब्दिके प्रारम्भसे ही मिशनरी लोग सती-प्रथाके विरुद्ध आदोलन कर रहे थे। श्रीरामपुरके वैपतिस्त मिशनरियोने १८०३-४ ई० में कलकत्ताको केन्द्र रखकर ३० मीलके दायरेमें सती-प्रथा पालन की सख्या और आनुप्ठानिक विवरण संग्रह करनेका कार्य हाथमें लिया। विलियम कैरीने फोर्ट विलियम कॉलेजके पंडितोंसे इस विपयमें शास्त्रीय मतामत भी संग्रह किया। मृत्युञ्जय विद्या-

लंकार जैसे धुरंधर संस्कृतज्ञ पडितोने भी यह मत दिया कि सती-प्रथा शास्त्र-सम्मत नही है। मिशनरियो द्वारा सग्रहीत तथ्योका जव इँग्लैण्डमें प्रचार हुआ, तो वहाँके जन-साधारणमें हलचल हुई। इग्लैण्डके विख्यात सुधारक विलियम विलवरफोर्सने सन् १८१३ में ईस्ट इडिया क० की सनदपर स्वीकृति देते समय कॉमन सभामें अपनी वक्तृतामें सती-प्रथाका विवरण प्रस्तुत किया और मानवताकी दृष्टिसे अविलम्ब इस प्रथाको वद करनेके लिए निवेदन किया। नाना प्रकारसे सती-प्रथाको वद करनेकी चेष्टा की गई। किन्तु कानूनके जोरसे कोई भी गवर्नर-जनरल इस कुप्रथाको खत्म करनेका साहस नही कर सका। इसका प्रधान कारण यह था कि इस देशके लोग धर्मके डरसे इस कुप्रथाके विरुद्ध खुले तौरसे आगे नही आए। मिशनरी विदेशी धर्म-प्रचारक थे। उनके मतामतके आधारपर कुछ भी करना विदेशी शासकोके लिए सभव नही था। आखिरमें राममोहन रायने खुले रूपमें सती-प्रथाके विरुद्ध अपने विचार व्यक्त किए और सन् १८१८ तथा १८१९ में उनके 'सह-मरणके विषयमे प्रवर्त्तक और निवर्त्तक सवाद' तथा 'सह-मरणके सम्वन्धमें प्रवर्तक और निवर्त्तकका द्वितीय सवाद' प्रकाशित हुए। सख्यामें कम होनेपर भी राममोहन रायके समर्थकोका इस देशके लोगोपर मिशनरियोकी अपेक्षा अधिक असर पड़ा। सह-मरण शास्त्र-सम्मत प्रथा नही है, शास्त्र-विकृत कुसस्कार है, यह राममोहनने वताया। किन्तु धर्मका व्यामोह उस समय भी प्रवल था। इसलिए राममोहनराय भी एकाएक सती-प्रथाको वद करानेके लिए आवेदन करनेका साहस न कर सके। अतमे विलियम वैंटिकने राममोहन रायके आदोलनका आश्रय लेकर ४ दिसम्वर, सन् १८२९ को सती-प्रथाको गैर-कानूनी घोषित कर दिया। सन् १८२९ में 'सह-मरण विषय' नामसे राममोहनने एक पुस्तिका लिखी। अँगरेजीमें भी उनकी कुछ पुस्तिकाएँ और अपीलें प्रकाशित हुईं। मधुमक्खीके छत्तेको छेडनेके समान इस कानूनसे समाजमें एक ववडर-जैसा खडा हो गया। सनातनी लोगोने 'धर्मका नाश' नारा लगाकर प्रतिवाद करना शुरू किया और धर्म-सभा नामसे सन् १८३० में एक सभा का गठन किया गया। इग्लैण्डमें भी इस कानूनको रद्द करानेके लिए आवेदन-निवेदन किया गया। उल्लेखनीय वात यह है कि वेथी नामक एक अँगरेज भी इस धर्म-सभाका प्रतिनिधि होकर विलायत गया। लेकिन इस सारी चेष्टासे कुछ भी नही हुआ। नवम्वर सन् १८३० में राममोहन राय विलायत गए और वही सन् १८३३ में उनकी मृत्यु हो गई। स्वदेश वापस आकर अपने प्रारम्भ किए हुए सुधार-कार्यको पूरा करनेका सुयोग राममोहन रायको न मिला। सिर्फ सहमरण ही नही, कुलीन प्रथा, वहुविवाह, वाल्य-विवाह, हिन्दू नारीके साम्पत्तिक अधिकार, जाति-भेद और मूर्त्ति-पूजा आदि प्रत्येक सामाजिक समस्याके विषयमें उन्होने विचार किया था और उनके वारेमें खुले रूपमें आलोचा प्रत्यालोचना करनेमें उन्होने कभी पीछे पैर नही रखा।

राममोहन रायकी मृत्युके पश्चात् १९ वी सदीके तृतीय और चतुर्थ दशक-कालमें उनकी ज्योतिको जाग्रत रखते हुए 'यग वंगाल' और 'तत्त्वबोधिनी सभा' के सदस्य सामाजिक सुधारके पथपर वढते रहे। २० जनवरी, सन् १८१७ में हिन्दू कॉलिजकी स्थापना हुई। यह हिन्दू-कॉलेज ही वगालमें पाश्चात्य विद्या और अँगरेजी शिक्षाका प्रधान प्रतिष्ठान वन गया। हिन्दू-कालेजसे ही वगालमे नवयुगके बुद्धिजीवी वर्गका

विकास हुआ। इस विश्वविद्यालयके अँगरेज़ शिक्षक हेनरी डिरोजिओने अपने निर्भीक युक्तिवादी विचारो और जीवन-दर्शन द्वारा छात्र-समाजमें गम्भीर प्रभाव उत्पन्न किया। बेकन, लॉक, ह्यूम, रूसो, टाम पेन आदि नवयुगके मनीषियोंकी भावधाराके साथ उन्होंने विद्यालयके छात्रोका परिचय करवाया। स्वाधीन, संस्कार-मुक्त बुद्धि और युक्तिके प्रकाशमे विचार करनेकी दृष्टि उन्होने छात्रोमें पैदा की। सन् १८२७–२८ में 'एकेडेमिक एसोसिएशन' नामसे एक सभाकी स्थापना कर उन्होने विद्यार्थियोंके मध्य विभिन्न दार्शनिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयोपर आलोचना आरम्भ की। हिन्दू कॉलेज में शिक्षित बंगाली युवकोमें डिरोजिओके नैतिक प्रभावने प्रतिक्रियावादी सनातनी लोगो के मनमें आतंक पैदा कर दिया। डिरोजियोपंथी इन युवकोको ही उस समय 'यंग बंगाल' कहा जाता था। १९ वी शताब्दीमें बंगालके श्रेष्ठ प्रतिभाशालियोमें अधिकांश लोग इस 'यंग बंगाल' दलके सदस्य थे। नया जीवन-दर्शन, शिक्षा और विद्या-बुद्धिके आलोकमें वे कुछ अंशमें अध-पाश्चात्यपंथी बनकर दिग्भ्रांत हो गए थे, ऐसा भी कहा जा सकता है। हिन्दू-समाजकी रूढिवादिता और कुसंस्कारके कारण उसके प्रति श्रद्धा छोडकर वे स्वधर्म-विरोधी हो गए थे और अलैक्ज़ेंडर डॉफकी तरह प्रभावशाली मिशनरियोंके प्रभावमें पड़कर कुछको तो ईसाई -धर्ममें दीक्षित होनेमे भी दुविधा नही हुई। रेवेरेण्ड कृष्ण मोहन बंद्योपाध्याय और माइकेल मधुसूदन दत्तके समान प्रतिभाशाली युवकोंके धर्मान्तरसे उस समय बंगाली समाजमे विपुल हलचलकी सृष्टि हो गई। उच्च समाजके हिन्दू युवकोमें उस समय (१९ वी सदीके तृतीय और चतुर्थ दशकोमें) और भी कई लोगोने धर्मान्तर किया था। अद्यावधि मिशनरियोकी दृष्टि अवहेलित और उपेक्षित हिन्दू-समाजकी ओर ही निबद्ध थी और उसी वर्गमें के लोगोको धर्मान्तरित करनेमें सफल हुए थे, किंतु उच्च वर्गके हिंदुओमें भी जब इस प्रकारसे टूट-फूट शुरु हुई, तो स्वभावत ही सभी लोग शंकित हो उठे। धर्म-सभा सौगुने उत्साहसे 'यंग बंगाल' के विरुद्ध विषोद्गार करने लगी। उनके आर्तनाद और प्रतिवादकी ध्वनि क्रमशः जोरदार होने लगी। यंग बंगाल-दल उन लोगोको 'गुड्डुम सभा' कहकर विद्रूप करता था और उनके प्रतिवाद से ज़रा भी विचलित न होकर अपना मतामत व्यक्त करता रहा। दोनों दलोकी उग्रता समान थी। धर्म-सभाकी रूढिवादिता जिस प्रकार उग्र थी, 'यंग-बंगाल' का प्रगतिवाद भी उसी प्रकार उग्र था। धर्म-सभा जिस प्रकार सब-कुछको बाँधकर रखना चाहती थी, 'यंग बंगाल' उसी प्रकार सब-कुछको तोड़-फोडकर तहस-नहस करनेके लिए उद्यत था। इसी समय 'यंग बंगाल' दल अपने मुखपत्र बँगला 'ज्ञानान्वेषण' और अँगरेजी-बंगला 'बँगाल स्पेक्टेटर' में बाल-विवाह और जाति-भेदके विरुद्ध और विधवाओंके पुनर्विवाहके पक्षमें निर्भय होकर कलम चलाता था। उनके प्रचारके फलस्वरूप बंगाल के नवशिक्षित युवकोमें हलचल मच गई और प्राचीनता भयातंकित और सन्त्रस्त हो गई। इधर राममोहन रायके धर्मादर्शके सुयोग्य उत्तराधिकारी महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर सन् १८३९ में 'तत्वबोधिनी सभा' स्थापित करके अपने गुरु द्वारा प्रारम्भ किए हुए कार्यको सुसम्पन्न करनेमें अग्रसर हुए। यंग बंगाल और धर्म-सभाके घात-प्रतिघातकी तीव्रताके बीच देवेन्द्रनाथ और तत्वबोधिनी सभाने बंगालके सामाजिक क्षेत्रमें संयम, शृङ्खला और मर्यादाबोध उत्पन्न किया। सभाके मुखपत्र 'तत्वबोधिनी पत्रिका' की

समालोचनामें मिशनरी लोग भी संयत होकर लिखते थे। धर्मान्तरकी तेजी कम हो गई। सिर्फ दससे शुरू करके तत्वबोधिनी सभाके सदस्योकी संख्या दो वर्षमें ही लगभग पाँच सौ हो गई। बगालके शिक्षित और मध्यवित्त समाजके समस्त युवक इस सभामें शामिल हो गए। देवेन्द्रनाथके ब्राह्म-धर्मने जिनको आकर्षित नही किया, उनको भी सभाके उदार समाज-सुधार और शिक्षाके आदर्शने आकर्षित कर लिया। पडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और अक्षयकुमार दत्त इसी सभा और पत्रिकाके साथ सयुक्त थे।

१६ वी शताब्दिके मध्यमे पचम दशकसे प० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बगालमें समाज-सुधार आदोलनके सूत्रधार हुए। तृतीय और चतुर्थ दशकोका आन्दोलन प्रधानतया वाक्‌वितडा, तर्क-वितर्क और पत्र-पत्रिकाओकी आलोचनाओ में ही सीमाबद्ध था। व्यवस्थित रूपमें कोई किसी आदोलनका प्रारम्भ नही कर सका था। स्त्री-शिक्षा और मातृभाषामें शिक्षाकी उन्नतिके लिए विद्यासागर एक विराट परिकल्पना लेकर कर्मक्षेत्र में अग्रसर हुए। साथ-साथ सामाजिक-सुधार-कार्यकी दिशामें भी उनकी दृष्टि थी। सन् १८५१ में सस्कृत कॉलेजके अध्यक्ष होनेके बाद दो महीनोमें ही उन्होने ब्राह्मण और वैद्यके अतिरिक्त कायस्थ छात्रोको भी कॉलेजमें प्रवेशाधिकार दे दिया। केवल ब्राह्मण और वैद्य छात्रोको ही शास्त्रानुशीलनका एकाधिकार नही रहा। छ महीने बीतते-बीतते सभी हिन्दू छात्रोको सस्कृत कॉलेजमें अध्ययनका सुयोग दे दिया गया। तत्वबोधिनी पत्रिकाकी सन् १८५४ की फाल्गुन सख्यामे विद्यासागरने 'विधवा-विवाह प्रचलित होना उचित है कि नही?' शीर्षकसे से अपने नामसे एक लेख लिखा। जनवरी सन् १८५५ में 'विधवा-विवाह प्रचलित होना उचित है कि नही, एतद् विषयक् प्रस्ताव' और अक्टूबर महीनेमें इस विषयकी दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई। ४ अक्टूबर, सन् १८५५ में उन्होने विधवा-विवाहको वैध करानेके लिए सरकारके पास आवेदन-पत्र भेजा। १६ जुलाई, सन् १८५६ में विधवा-विवाह-सबधी कानून पास हुआ।

७ दिसम्बर, सन् १८५६ को कलकत्तेमें बगालका प्रथम कानून-सम्मत विधवा-विवाह सम्पन्न हुआ। प्रसिद्ध कथक रामधन तर्कवागीशके कनिष्ठ पुत्र श्री गिरीशचन्द्र विद्यारत्न और पलाशडाँगा-ग्राम निवासी ब्रह्मानन्द मुखोपाध्यायकी द्वादश वर्षीया विधवा-पुत्री कालीमतीका विवाह हुआ। इससे पुरातनवादी हिन्दू-समाजमें फिर शोरगुल उठा। इस बार पूर्वापेक्षा कई गुना अधिक शोरगुल हुआ क्योकि सती-प्रथाके उच्छेद और विधवा-विवाहके प्रवर्तनके बीच काफी समयका फर्क था। विधवाओ द्वारा आजीवन ब्रह्मचर्य-पालनका सस्कार कई गुना ज्यादा बद्धमूल है। बाल-वैधव्य अथवा उम्रका सवाल सनातनी हिन्दू-समाजके सामने कुछ भी विचारणीय नही था। समस्त प्रतिवाद और बाधा-विपत्तिकी उपेक्षा करके विद्यासागर एकके बाद एक विधवा-विवाहका आयोजन और व्यवस्था करते रहे। एक सस्कृत पडितकी ऐसी चारित्रिक दृढता और उदारतासे साधारण लोक-समाज स्तम्भित हो गया। गभीर श्रद्धा विस्मय और विद्रूपके विचित्र भावावेगमें उद्वेलित हो बंगालके जन-साधारणमें उस समय विद्या-सागरके बारेमें कितने लोकगीतो और कहानियोकी रचना की गई, इसका कुछ ठिकाना नही।

बहु-विवाह और कुलीन-प्रथाके विरुद्ध भी विद्यासागरने यथेष्ट आदोलन किया था। किंतु वह सफल नही हुआ। २७ दिसम्बर सन् १८५५ को उन्होने बहु-विवाह बद

करानेके लिए सरकारके पास निवेदन-पत्र भेजा था, परन्तु उसका कोई फल नही हुआ। १६ फरवरी, सन् १८६६ को बहु-विवाह बंद करनेको उन्होने दूसरी बार भारतकी व्यवस्थापिका सभाके पास निवेदन भेजा था और उस निवेदनका समर्थन करते हुए और भी कई लोगोने पत्र लिखे थे, परन्तु उससे भी कुछ नही हुआ। सरकारने किसी आवेदनपर ध्यान नही दिया। सन् १८७१ में विद्यासागरने एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसका नाम था 'बहु विवाह बद होना उचित है या नही, एतद् विषयक विचार' इस विषयमें उनकी दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई सन् १८७३ में। विज्ञ पंडितोके साथ इस विषयपर यथेष्ट तर्क-वितर्क हुआ और दोनो पक्षोंके विचार पुस्तकाकार प्रकाशित किए गए। तथापि क़ानून द्वारा बहु-विवाह बंद करना संभव नही हुआ।

उन्नीसवी सदीके पञ्चम दशक अथवा मध्य कालमें विद्यासागरके नेतृत्वमें बगालमें समाज-सुधार—आन्दोलनका स्वर्णयुग था। विधवा-विवाहका कानून पास हो जाने एवं विधि-सम्मत विधवा-विवाह प्रारभ हो जानेके बाद बगालके सामाजिक जीवनमें प्रतिक्रियाशीलताकी जो विक्षुब्ध तरंग उठी, उससे सुधार-आन्दोलनमें कुछ रुकावट-सी आई, ऐसा लगा। यह स्वाभाविक भी था क्योकि तत्कालीन सुधार-आन्दोलनके पीछे संगठित और सचेतन जन-समर्थन नही था, हो भी नही सकता था। उस समय तक समाजमें जन-शिक्षा, और विशेषकर नवयुगकी शिक्षाका कोई उल्लेखयोग्य प्रचार नही हुआ था। स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाहके आन्दोलनमें काफी सफलता मिल चुकनेपर भी विद्यासागर थोड़े ही दिनोमें उसकी सामाजिक व्यर्थताके कारण दुखी और हताश हो उठे। तथापि उन्होने बिलकुल हाथ-पैर नही डाल दिये। जीवनकी अंतिम घड़ी तक वे समाज-सुधारके अपने निर्धारित लक्ष्यको पूरा करनेका प्रयास करते रहे। किन्तु उन्नीसवी सदीके पंचम दशकके बाद वे मुख्य तौरसे थोड़े समयमें ही समाजके अग्रगामी दलके प्रेरणा-सूत्र बने रहे; प्रत्यक्ष रूपसे आन्दोलनके संचालन और नेतृत्वसे अवसर ग्रहण कर लिया। तत्पश्चात् उनका कार्य शिक्षाके क्षेत्रमें ही सीमाबद्ध रह गया। २९ जुलाई सन् १८९१ को उनकी मृत्यु हो गई।

विद्यासागरके बाद जो लोग समाज-सुधारके कार्यमें आगे आए, वे ब्राह्म समाजके नये युवक गण थे। सन् १८६० से १८७० के बीच बंगालके समाज-जीवनमें ब्राह्मसमाजके तरुणोने एक नई लहर पैदा की। विद्यासागरके आन्दोलनके एकदम शात और स्थिर होनेके पूर्व ही उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी आगे आ गये। इन ब्राह्म तरुणो के अप्रतिम नेता थे केशवचन्द्र सेन। समाज-सुधारके इतिहासकी दृष्टिसे हम विद्यासागरपरवर्ती युगको "केशवचन्द्र युग" एवं "रामकृष्ण-विवेकानन्द युग" कह सकते है। समाजसुधारके साथ-साथ धर्म-सुधारका आन्दोलन भी इस युगमें तीव्रतर हो उठा। "राममोहन—यंग बंगाल युग" के साथ बहुत कुछ सादृश्य होते हुए भी इस युगकी अपनी विशेषताएँ थीं। केशवचन्द्र और रामकृष्ण—विवेकानन्दके युगमें धर्म-सुधार तीव्रता का पथ अतिक्रमण कर क्रमशः सुस्थिर समन्वयका पथ खोजने लगा। रामकृष्ण अपने सर्व-धर्म-समन्वयके आदर्शकी उपलब्धि में उसे व्यक्त करने लगे, विवेकानन्दने तेजोदीप्त कंठसे उसी सत्यकी वाणीका देश-विदेशमें प्रचार किया, केशवचन्द्र ब्राह्म-धर्म और ब्राह्म-समाजको नये रूपमें गढने के लिये बद्ध-परिकर हुए; उसकी संकीर्णताकी प्राचीर

तोड़कर, क्षुद्र गोष्ठी से बाहर लाकर समस्त जातियोंके बीच प्रसारित करनेको प्रस्तुत हुए। साथ-साथ प्रत्यक्ष सुधार-कार्यमें भी उनको आगे आना पड़ा। ब्राह्म समाजमें दो दल हो गये। सुधारपंथी लोग केशवचन्द्रके नेतृत्वमें 'प्रगतिशील' कहलाने लगे और देशके अधिकाश नवशिक्षित युवक उनके दलमें आगये। देवेन्द्रनाथ ठाकुरका दल—जो विद्यासागर-युगके सुधार-आन्दोलनके पुरोभागमें था, अब पीछे रह गया। इतिहासके प्रत्येक युगमें नव-जाग्रत युवाशक्तिके सम्मुख पूर्वकालीन लोगोकी इसी प्रकार पराजय होती रही है। उनके आदर्शको लेकर समाजका नया दल आगे बढ़ता है, और कुछ दूर पहुँचकर वह भी रुक जाता है और प्राय पिछड भी जाता है।

केशवचन्द्र सेन और उनके अनुयायी वृन्द का सामाजिक सुधारके क्षेत्रमें सबसे बडा अवदान था स्त्री-शिक्षा और स्त्री-स्वतंत्रताका प्रसार। स्त्री-शिक्षाके लिये आन्दोलन और विद्यालयादिकी प्रतिष्ठापना काफी पहलेसे ही आरम्भ हो गये थे और विद्यासागरने उनके लिए अविश्रान्त चेष्टा की थी किन्तु दीर्घकालीन कुसंस्कार और पर्दा प्रथा के कारण स्त्रियोका घरसे बाहर स्वतन्त्रतापूर्वक आने-जानेका अभी चलन नही हुआ था। ब्राह्म-समाजमें भी स्त्रियोको उपासनाके लिये जानेका अधिकार नही था। किसी सामाजिक सभा अथवा अनुष्ठानमें पतिके साथ भी स्त्रीके सम्मिलित होनेका रिवाज नही था। केशवचन्द्रके दलके लोगोने ही सर्वप्रथम इस सामाजिक कुप्रथाको दूर कर स्त्री-स्वाधीनताके लिये आन्दोलन किया। उपासना-मंदिरमें या सामाजिक सभा-सम्मेलनोमें प्रत्यक्ष रूपमें भाग लेनेका स्त्रियोको अधिकार दिलानेके लिये उन्होने आन्दोलन किया और आगे बढकर खुदका उदाहरण पेश किया। इससे कार्य-सिद्धिमें बडी सहायता मिली। इसी आन्दोलनके फलस्वरूप सन् १८७२ में सिविल मैरेज कानून बना। नारी के व्यक्तिगत अधिकारको सामाजिक क्षेत्रमें स्वीकृति मिली।

धर्म-सुधार और समाज-सुधारका यह आदर्श और आन्दोलन राष्ट्रीय महासभा कॉंग्रेसकी प्रतिष्ठापनाके बाद सन् १८८५ में क्रमश राजनीतिक स्वाधीनता-सग्राम और सामाजिक-आर्थिक स्वाधीनता-सग्रामके साथ सयुक्त हो गया। स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद आज भी उस सग्रामकी परिसमाप्ति नही हुई है। हमारा समाज आज भी अनेक कुसस्कारोसे ग्रस्त है। इसका परिचय हमें हिन्दू कोड बिलको पास करनेके आन्दोलनके समय मिला था। दहेज प्रथा आज भी उसी रूपमे मौजूद है, यहाँ तक कि शिक्षित समाजमें भी उसका आधिपत्य बना हुआ है। देशका आर्थिक तन्त्र बदल रहा है। सामन्तवाद के दिन लद चुके है। यान्त्रिक उद्योग-धधो और विज्ञानका प्रसार हो रहा है। स्त्री-पुरुषकी अर्थनीतिक स्वाधीनता समस्त क्षेत्रोमें प्रतिष्ठित हो रही है। परिणामस्वरूप छोटे परिवारके घेरेसे बृहत्तर समाजका रूप बदल रहा है। स्त्री-पुरुष—सम्बन्धोंमें भी परिवर्तन हो रहा है। इस अवस्थामें सामाजिक कुसस्कारोका बधन बहुत दिन नहीं चल सकता। उनकी भित्ति ही जब नही रहेगी, तो वे अपने-आप खत्म हो जायेंगे और सामाजिक प्रगतिका पथ सुगम हो जायगा।

—:o:—

एक दक्षिण भारतीय

दक्षिण भारत और समाज-सुधार

भारतमे समाज-सुधारका काम नया नही है। वह उतना ही पुराना है, जितना कि समाजका निर्माण। जैसा हमारा समाज वना है, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि देशके समाज-सुधारकोने इसमें काफी परिवर्त्तन करनेका प्रयत्न किया है। वर्णाश्रम धर्म, फिरकावन्दी, तरह-तरहकी छोटी-छोटी जातियोका निर्माण, उप-जातियोका विकास तथा अन्य कितनी ही वाते हमारे समाजमें पाई जाती हैं। विज्ञान तथा उच्चकोटिके मनुष्यत्वकी दृष्टिका ज्ञान हमारा जितना ही वढ़ता जाता है, उतनी ही हमारे मनमें यह आतुरता उत्पन्न होती है कि हम अपनी दृष्टिसे जिसे सुधार मानते है, उसे अपने समाजमें भी प्रवेश करा दें और जिनको हम कुरीतियाँ समझते है, उनको दूर करनेका प्रवल प्रयत्न करें।

दक्षिण भारतमें समाज-सुधारका आन्दोलन वहुत ही पुराना कहा जा सकता है। यह विदित है कि दक्षिणमें कितने ही धर्माचार्योका जन्म हुआ। उन्होने अपने धर्मका वड़े जोरसे प्रचार किया। उनमें धर्मसे सम्वन्ध रखनेवाले कितने ही विषयोके साथ साथ समाज-सुधारका विषय भी सम्वद्ध था। कितने ही धर्माचार्योने समाजकी कुरीतियो को दूर कर और विषमताओको तोडकर मनुष्यको ईश्वरका अंश मात्र सिद्ध कर मनुष्यत्वके महत्वको वढानेका प्रयत्न किया, जैसे आदि शंकराचार्यका अद्वैतवाद, रामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद, माध्वाचार्यका द्वैतवाद। यद्यपि दर्शन और वेदान्त एकेश्वरवादकी तरफ मनुष्यकी दृष्टि आकृष्ट करने के लिए सवल साधन समझे जाते है, फिर भी उनमें समाज-सुधारके वीजोकी कमी नही है। आदि शंकराचार्य, जिनका जन्म लगभग १२०० साल पहले केरलमे हुआ था, के संवधमें यह कहा जाता है कि उन्हें समाज वड़े तिरस्कारकी दृष्टिसे देखता था। उनके सम्वन्धमें यह किवदन्ती मशहूर है कि जव उनकी माताका देहान्त हुआ और वे उसके मृत शरीरकी दाह-व्यवस्था सम्पन्न करना चाहते थे, तव उनकी जात-विरादरीने कहा कि संन्यासी होनेके कारण--वह भी वाल संन्यासी होनेके कारण--उनको माता-पिताका दहन-संस्कार करनेका अधिकार नही है। कोई उस मृत शरीरको उठाने के लिए साथ देने को तैयार नही हुआ। तव उस शरीरको खण्ड-खण्डमें काट कर उनकी दहन-क्रिया करनी पड़ी।

केरल

केरलकी कट्टरता वहुत मशहूर है। वह कट्टरता उच्च जातियोंमें ही नही, वल्कि प्राय. सभी जातियोंमें पाई जाती है। केरलमें भिन्न-भिन्न जातिके लोग

अपने-अपने अधिकारोकी रक्षाके बहाने दूसरी जातियोको नीची दृष्टिसे देखा करते थे। वहाँ पिछले १५–२० वर्षोके पहले तक यह कुरीति प्रचलित थी कि अग्र जाति के आदमी जहाँ-कही खडे हो, उनसे दस गजकी दूरीपर ही उनके बादकी जातिके आदमी खडे हो सकते थे और उसके बादकी जातिके आदमीका हक और दस गजके फासलेपर खडा होना माना जाता था। इसी तरहसे अपने-अपने सामाजिक अधिकार अपनेसे निम्न जातियोको कितने फासलेपर खडा रखना चाहिए, इसका हिसाब गिनकर आँकते थे। केरल प्रान्तमें अस्पृश्यता ही नही बल्कि अदृश्यता भी अमलमे थी। अग्र जातिके आदमी नीच जातिके आदमीको देखनेसे अपनेको अपवित्र ही नही मानते थे वरन् उस अपवित्रताको दूर करनेके लिए प्रायश्चित्त भी करते थे। केरल वैसे तो बहुत ही सुन्दर देश है, लोग भी बडे हृष्ट-पुष्ट है लेकिन वहाँके समाजका निर्माण सदियोसे विचित्र-सा बना हुआ है। इसके लिए इतिहास बहुत हद तक ज़िम्मेदार है। सुदूर दक्षिणके एक कोनेमें स्थित रहनेके कारण यही कहा जा सकता है कि उत्तर-पश्चिमोत्तर तथा पूर्वोत्तरसे भिन्न-भिन्न जातिया केरलमें आकर बसी। वे अपने-अपने रस्म-रिवाज साथ ले आई। वहाँकी आदिम जातियोके साथ हिल-मिलकर रहने और उनके साथ सम्बन्ध जोडनेमे काफी समय लग गया। बीसवी सदीके प्रारम्भमे केरलमें समाज-सुधारका काम जिस द्रुत गतिसे चला, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आज केरलका समाज किसी भी समाजसे पीछे नही रहा।

केरलमें अग्र जातियोने, विशेषकर ब्राह्मणोने जिस तरह दूसरी जातियोको दबाकर रखा, उसकी भीषण प्रतिक्रिया दूसरे वर्गोपर भी हुई। राजनीतिक, आर्थिक तथा शिक्षा के क्षेत्रोमें बहुत पिछड जानेके कारण वहाँकी पिछडी हुई जातियोने बीसवी सदीके प्रथम पादमें विद्रोह करना शुरू कर दिया। उसके प्रतीक डा० नायर है जो दक्षिण भारतके अब्राह्मण आदोलनके जन्मदाता है। डा० नायरने जिस तरह बीसवी सदीकी दूसरी तथा तीसरी दशाब्दिके अन्त तक अब्राह्मण आदोलनको जीवित रखा और भिन्न-भिन्न क्षेत्रोमें अग्रतम जातियोका धर्माधिपत्य तोडनेका प्रयत्न किया, उसका इतिहास लिखा जाए तो बडा ही लम्बा होगा। एक जमाना था जब कि अब्राह्मण लोग राजनीतिक क्षेत्रमें और खासकर विधान-सभाओमें अपने लिए स्थानोको सुरक्षित चाहते थे, जब कि उनकी सख्या ९० प्रतिशतसे अधिक है और ब्राह्मणोकी सख्या १० प्रतिशत से भी कम है। आज स्थिति बिल्कुल भिन्न है। आज कोई भी जाति किसी भी जातिसे न डरती है, न अपने लिए कोई विशेष रक्षण ही चाहती है। इसका अधिकाश कारण शिक्षाका प्रचार और समाज-सुधारकोका कार्य कहा जा सकता है।

तमिलनाड

डा० नायरके अब्राह्मण आदोलनने कुछ दिनके बाद एक दूसरा रूप ग्रहण कर लिया जिसने तमिलनाडमें आकर बहुत बड़ा ज़ोर पकड लिया। इस आन्दोलन का नाम स्वय–मर्यादा आदोलन है जिसे अग्रेज़ीमे (Self–respect Movement) कहते हैं। इस आदोलनके द्वारा पिछडी जातियोमें आत्म-गौरवकी ज्योति जगायी गयी। किसी ऊँची जातिका आदमी सिर्फ जन्मसे बडा होनेके कारण अपनेको बडा माने और

विशेष अधिकारोको प्राप्त करना चाहे, इसके विरुद्ध स्वयं-मर्यादा आंदोलनने बलवा मचाया। जब स्वयं-मर्यादा आंदोलनने अपने कार्यमें सफलता पाई, उसने अपनेको द्रविड़ कड़घमके नामसे परिवर्तित किया। सन् १९५७ के आम चुनावोमें उसकी एक शाखा द्रविड़ मुन्नेज कड़घमके नामसे निकल पड़ी। इस आंदोलनका उद्देश्य यह है कि अग्र जातियोके आधिपत्यका अंत किया जाय जिसका आधार हिन्दू शास्त्रो तथा स्मृतियोपर अवलबित है और जो इसी उद्देश्यसे आर्यो द्वारा बनाई गई थी। जब तक लोगोमें यह विश्वास बना रहेगा कि श्रुति, स्मृति, पुराण, शास्त्र आदि देवदत्त है और बड़े पवित्र है, तब तक उनमें उनके प्रति श्रद्धा बनी रहेगी। इस श्रद्धाको नष्ट करनेसे ही आम जनता में अपने प्रति गौरव तथा आत्म-विश्वास पैदा हो सकता है। यह नही कहा जा सकता कि इस आन्दोलनका परिणाम क्या होगा, उसको सही रास्तेपर चलाया जा सकता है कि नही और उससे कितने नये दोष पैदा होगे। लेकिन यह भविष्यके इतिहासकार अवश्य मानेंगे कि समाज-सुधारका यह एक बहुत जबर्दस्त आन्दोलन है जिसके द्वारा लोगोको अपनी-अपनी वुद्धिसे अपनेको पहचानने और अपने अधिकारोंको समझने तथा उनको अनुभव करनेके लिए मौका मिला है।

आन्ध्र

आन्ध्रके समाज-सुधार आन्दोलनका आधार अधिकतर ब्राह्म-समाज ही कहा जा सकता है। दक्षिणमें जब समाज-सुधारका आन्दोलन शुरू हुआ, तब राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन आदि युगपुरुषोंके आन्दोलनने शिक्षित लोगोको बहुत प्रभावित किया। जगह-जगहपर ब्राह्म-समाज स्थापित हुए, ईश्वरमें आस्था बढ़ी, समाजमें जो कुरीतियाँ फैली हुई थी, उनको प्रचार और शिक्षासे दूर करनेका प्रयत्न किया गया। स्वनाम-धन्य सर आर० वेन्कटरत्नम नायडू और कंदुकुरी विदेशलिंगम पंतुलु आदिके नाम इस सम्बन्धमें विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने आचरण तथा चरित्र, साहित्य के निर्माण और प्रचारसे आंध्रके कितने ही युवकोके हृदयमें साहस का प्रवेश कराया और उनको कुरीतियोंके जालसे लड़नेके लिए तैयार किया। देवदासी प्रथा, शुभ समारोहोमें वेश्याओके द्वारा नाच, विधवाओपर अन्याय व अत्याचार तथा छोटी-छोटी बालिकाओं का विवाह आदि कुरीतियोसे बड़ा साहसपूर्ण युद्ध किया गया। आज ये सारी कुरीतियाँ आन्ध्र प्रदेशसे करीब-करीब गायब हो गई है।

कर्नाटक

जब समाज-सुधारके आन्दोलनका इतिहास लिखा जायेगा, तब कर्नाटकके बसवेश्वर का नाम सबसे पहले लिया जायगा। यद्यपि ये जातिके ब्राह्मण थे, तथापि उन्होने अब्राह्मणो को ऊपर उठानेके महान् प्रयत्न किए। उनमें ईश्वरके प्रति श्रद्धा पैदा करते हुए उन्होने उन्हें अपनी आत्माको पहिचाननेके लिए काफ़ी सामग्री दी। बसवेश्वरके वचन कन्नड़ भाषामें बहुत मशहूर है। आज करीब-करीब आधा कर्नाटक बसवेश्वरके प्रभावके अन्तर्गत है। बसवेश्वरके धर्मानुयायी लिंगायत कहलाते है। इस धर्मको सुरक्षित रखनेके लिए लिंगायतोंके कितने ही धर्मपीठ तथा आचार्यपीठ कर्नाटक भरमें फैले हुए है। यद्यपि वैदिक धर्मका प्रचार भी कर्नाटकमें काफी हुआ है और वैष्णव तथा शैव

सम्प्रदायोंके कारण उसकी बुनियाद हिली नही है फिर भी वैदिक धर्मके मानने वालोके वीच में जात-पाँतके द्वारा जो कुरीतियाँ तथा विपमताएँ फैल सकती थी, उनको दूर करनेके लिए वसवेश्वरके धर्मानुयायियोने वडा जबर्दस्त काम किया।

समाज-सुधारका एक मात्र ध्येय स्वच्छ, जाग्रत, वलिष्ट तथा विपमताहीन नए समाज का निर्माण करना है। स्त्रियो और पुरुपोके वीचमें अधिकारोकी विशेप विपमता, जाति-जातिके वीचमें विभेद, ईश्वर तथा धर्मके नामसे होनेवाले अनुचित कार्य, मन्दिर तथा धर्मपीठोका अड्डा वनकर उनके द्वारा कुछ स्वार्थियोकी तरफसे फैलाये जानेवाले सम्प्रदाय आदिके सम्वन्धमें अशिक्षित जनताको सचेत करनेका काम समाज-सुधारक करते आए है। उनकी सख्या प्रतिदिन वढ़ती जा रही है। महात्मा गाधीने भी अपने समाज-सुधार आन्दोलनसे दक्षिणके कोने-कोनेको प्रभावित किया। आज प्राय पुराने सभी समाज-सुधारके आन्दोलन या तो काग्रेसके साथ मिल गए हैं, या रचनात्मक कार्यकर्त्ताओके आश्रयमें आ गए है।



श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय

उत्तर-प्रदेशमें समाज-सुधार

वर्तमान उत्तर प्रदेश कभी आर्यावर्तका मुख्य भाग था। बहुतसे लोग तो गंगा और यमुनाकी इस पवित्र क्रिडास्थली बद्रीनाथ, केदारनाथ, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग और काशी आदि तीर्थोंकी इस पुण्य भूमि तथा राम, गौतम बुद्ध, और कृष्णके के इस परम पावन जन्म प्रदेश को ही आर्यावर्त मानते हैं। आर्यावर्तकी सारी धार्मिकता इस प्रदेशको प्राचीन आर्योंसे विरासतमें मिली है। अन्य सभी प्रदेशोसे इस की धार्मिक मान्यता अधिक है।

लेकिन, इसकी यह सब धार्मिकता धर्मान्धतामें परिणत होकर रूढि, परंपरा और अंधविश्वासका रूप धारण कर चुकी है। वह जीवनके विकास, प्रगति और उन्नतिमें यत्किंचित भी सहायक न होकर ह्रास पतन और अवनतिका निमित्त बन गई है। धार्मिक मिथ्या विश्वासो और सामाजिक रूढियोका वह गढ बन गया है। पडो, पुजारियो और पुरोहितोका मायाजाल यत्र तत्र बिछा हुआ है। तीर्थ, मठ और मदिर धर्मान्धता के आधार स्तभ बन गए हैं। अज्ञान और अविद्याके केन्द्र जहाँ-तहाँ कायम है। गतानुगतिकताका चारो ओर बोलबाला है। इस प्रकार आर्यावर्तकी यह भूमि अपना आर्यत्व प्राय खो चुकी हैं।

उत्तर प्रदेश एक मध्यवर्ती प्रदेश हैं। भारतकी सीमाओसे बहुत दूर, बगालकी खाड़ीसे दूर, पंजाबके पर्वतोसे दूर, हिन्द महासागरसे दूर, कुमारी अन्तरीपसे दूर, अत सीमान्त प्रदेशोके सामाजिक या नैतिक परिवर्तनोकी तरगें वेगसे उठती हुई भी हमारे प्रान्त तक आते आते शान्त हो जाती है और उनका आतिक्षम्य मन्द पड जाता है। उत्तरी सीमा हिमालय तो इतना ऊँचा है कि वह अधिक उत्तरीय वायुको पहले ही रोक लेता है। इसलिये इस प्रदेशको मध्यवर्ती कहना अनुचित नही है। हम लोगोमें अधिक जोश भी नही और परले दर्जेकी सुस्ती भी नही। हमारे यहाँ समाज-सुधार-सम्बन्धी आन्दोलनों की भी वही अवस्था और वही व्यवस्था रही। "सुव्यवस्थित और मन्द" (Sure and Steady) यह हमारे प्रान्तकी विशेषता है। यह प्रश्न नही कि अच्छी बात है या बुरी। जो है सो है। समाज-सुधारका आधार है सामाजिक न्याय या सोशल जस्टिस (Social Justice) अर्थात् उन कुप्रथाओंको दूर करना जिनके कारण समाजके व्यक्तियोंको यथेष्ट रूपसे अपने वैयक्तिक विकासका अवसर नही मिलता। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के समाज-क्षेत्रमें तीन रूप हैं। पहला स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध

है। लाठी पुरुषके हाथमें रहती है। अत वह स्त्रियोको अपने वशमे रखता है। पुरुष एक बार भी कई विवाह कर सकता है और एक स्त्री के मरनेपर जब तक या जितने चाहे विवाह कर सकता है। स्त्री विधवा हो जाय और दो वर्षकी ही क्यो न हो उसको आयुपर्यन्त विधवा ही रहना चाहिये। उत्तर प्रदेशमें अन्य प्रान्तोके समान यह अत्याचार प्रचलित था। एक साथ कई पत्नियां करना तो विधिवत् होते हुये भी बहुत कम प्रचलित था परन्तु कम आयुकी विधवाओकी सख्या तो लाखो तक पहुँचती थी। कभी-कभी कोई सती भी हो जाती थी। परन्तु इटावे आदिके क्षत्रिय-प्रधान ग्रामोमें तो लडकियोको जनमते ही मार डालनेकी प्रथा जोरोपर रही। बगालके पुराने आदिकालीन सुधारको राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द विद्यासागर तथा उनके अनुयायियोके काम की जो तीव्र गति उन प्रान्तोमें रही उसका कोई तीव्र प्रभाव उत्तर-प्रदेशपर नही पडा।

इसके साथही एक बहुत बुरी प्रथा थी—विवाहोमे "वेश्या-नृत्य"। यह "वेश्या-प्रथा" जिसका हम सस्कृत नाटकोमें उल्लेख पाते हैं स्त्री जातिके साथ घोर अत्याचार था। इसका आरभ भी ऐसे समय हुआ होगा जब पत्नियोपर घोर नियत्रण और पतियोको खुली छुट्टी दे दी गई होगी। उपनिषद्में लिखा है "न स्वैरी स्वैरिणी कुत", अर्थात् उस समय कोई स्वैरी नही था फिर स्वैरिणीका प्रश्न ही नही उठता। उपनिषद् के इस वाक्यमें एक सचाई है अर्थात् स्वैरी ही स्वैरिणीयोको बनाते है। वेश्याओकी प्रथा उन लोगोने चलाई होगी जो स्वय तो स्वैरी बन गये परन्तु अपनी स्त्रियोको सदैव सदेह की दृष्टिसे देखते रहे। मेरे बाल्य कालमें आर्यसमाजियोकी ओरसे यह सुधार किया गया विवाहोमें 'वेश्या नृत्य' बन्द किया जाय। मेरे विवाहमें मुख्य झगडा इसी बातपर हुआ था? उस समय लोगोको यह सोचना भी कठिन प्रतीत होता था कि 'वेश्या-नृत्य' के बिना विवाह हो भी सकता है या नही। मेरे विवाहमें वेश्याका नृत्य हुआ। मैंने नृत्य नही देखा परन्तु मेरे बुजुर्ग लोग (मेरे पिता जीवित न थे) मेरे ऊपर टूट पडे। उस दिन मैंने अपने परिश्रमको विफल पाकर यह प्रण किया कि आगेसे अधिक सावधानी रखी जायगी। मैं आठ वर्ष तक अपने परिवारके किसी विवाहमें भी शरीक नही हुआ। मेरे मामाजीने अतमें तग आकर अपने एक लडकेके विवाहमें केवल मेरे बुलानेके लिए नाच बन्द कर दिया। और उस बारातमें मैंने विधवा-विवाहके औचित्यपर एक ओजस्विनी वक्तृता दी। उन्ही दिनो मैंने एक ट्रैक्ट निकाला "विवाह और रडियाँ", इसका प्रभाव अच्छा हुआ। वेश्या-नृत्यकी कुप्रथा बन्द हो गई। उस समय यह एक बडा सुधार था। आज तो लोग इसको सुधार कहते हुए भी हँसेंगे।

उन दिनो विधवा-विवाहके औचित्यपर व्याख्यान तथा शास्त्रार्थ तो होते थे परन्तु किसीको आगे आनेका साहस नही होता था। बिजनौरमें एक सज्जन थे श्री श्रोत्रिय शकरलालजी। यह आर्यसमाजी न थे परन्तु विधवा-विवाहके पक्षपाती थे। उन्होने अपना विवाह एक बाल-विधवासे किया था। १९०४ ई० मे जब मै बिजनौरके गवर्नमेंट स्कूलमें अध्यापक था श्रोत्रियजी बडे जोरसे प्रचार करते थे उनके घरवालोंने उनका बहिष्कार कर दिया था। उन्होने श्री विद्यासागरजीकी पुस्तकका बगलासे हिन्दीमें शायद अनुवाद कराया था। वह केवल इस उद्देश्यसे कि सनातनियोमें विधवा-विवाहका प्रचार हो जाय इसमें उनको बहुत सफलता मिली। फिर भी विधवा-

विवाहका विरोधभी कम नही हुआ । १९०७ में मेरे परिवारमें एक दुर्घटना हो गई । मेरे खास चाचाके लडकेका विवाह ११ वर्षकी आयुमें हुआ । मैंने सम्मिलित होनेसे इनकार कर दिया । उसी वर्ष उस लडकेकी मृत्यु हो गई । उन्ही दिनो उनकी लड़की भी जो बारह या तेरह सालकी थी विधवा हो गई । मेरे हृदयपर बडी चोट लगी । मैंने पुर्नविवाहका प्रश्न उठाया और छः सात साल वड़े जोरसे आन्दोलन करता रहा । अपने चाचाजीको वहुत समझाया आगा-पीछा सुझाया । शास्त्रकी वात कही, लोकलाज के नामपर अपील की, अपने संवधियोको फुसलाया परन्तु कोई टस से मस नही हुआ । अन्तको १९१४ ई० में मैं अपनी माताजी तथा अपनी पत्नीजीके सहयोग और उद्योगसे अपने भाईका विवाह एक वाल-विधवासे करनेमें सफल हुआ । परन्तु विरोधका भी कुछ हाल सुनिए । हमने विवाहकी वातको गुप्त रखा था केवल वीसके लगभग युवक ही सम्मिलित थे । लडकीके माता-पिताको तैयार करनेमें एड़ी चोटी का पसीना वहाया गया था । यह भाषा आलंकरिक नही है । १९१४ की जेठकी गर्मी और मेरी दौड़-धूप ! जव विवाहका हाल लोगोको ज्ञात हुआ तो एक वहुत वडी सभा एटेमें की गई । इतनी वडी सभा मेरी विरादरीवालोंने न पहले देखी न सुनी । मुरादावादके पडित ज्वाला प्रसाद तथा अन्य सनातनी उपस्थित थे । इधर आर्य समाज एटाने भी भरसक कार्य किया । पडित अखिलानन्द उन दिनो आर्य समाजमें ही थे । उनके शास्त्रार्थके लिये चैलेंज हुआ करते थे । सभाका पूरा हाल देना व्यर्थ है । मुझे विरादरीसे निकालनेका प्रस्ताव पास हो गया । मेरे मित्रोंने मेरे भाई को वधाई दी । मैं न शरीक हुआ न मैंने किंचित परवाह की । परन्तु विधवा-विवाहकी प्रथा जारी हो गई और शीघ्र ही विरोधी कैम्प तितर-वितर हो गया । अन्य क्षेत्रोमें भी अव यह सुधार स्थायी रूपसे हो गया । इसका श्रेय आर्यसमाजको ही है ।

हमारे देशके पर्वती प्रान्तोमें एक जाति है, जिसको 'नायक' कहते हैं । भुवाली के पास रामगढ़में एक ग्राम है 'नयकाना' । नायकलोग अपनी लडकियोका विवाह नहीं करते थे । सनातनी पडितोने वहका रक्खा था कि उनकी जातिके लिये लडकियोका विवाह वर्जित है । लड़कियाँ खुल्लमखुल्ला वेश्यावृत्ति करती थी और मैदानके रईस लोगोंके छोकरे उनको ले आया करते थे ! कहते है कि वेश्या-वृत्ति आरम्भ करनेके समय सनातनी पडित संस्कार भी कराते थे और दान-दक्षिणा भी लेते थे । आर्यसमाज ने इस प्रश्नको उठाया । हमारे प्रदेशमें एक सज्जन थे श्री गजाधर प्रसादजी प्रयागके रहने वाले । परन्तु वह अल्मोडेमें अधिक रहते थे । उन्होने इस कामको उठाया । गवर्नमेंटसे मिलकर एक कानून वनवाया, लड़कियोके विवाह करानेकी प्रथा डाली गई । उनकी शिक्षाके लिए हलद्वानी, मेरठ आदिमें स्कूल स्थापित हुए । इस सम्वन्धमें मेरठकी श्रीमती हीरादेवीजीने प्रशंसनीय कार्य किया । यह नायक जातिकी थी और आर्य प्रतिनिधि सभाकी वहुत दिनो तक सदस्या रहीं । इन्होने नायक जाति-सुधारमें वहुत कार्य किया । जवसे श्री नारायण स्वामीजी महाराजने संन्यासी होनेपर रामगढ़की पहाडियोमें अपना आश्रम वनाया तवसे वह कुप्रथा विल्कुल नष्ट हो गई । आज रामगढ़ में एक इण्टर कालेज है । और नायक जातिके शेष लोग मान और प्रतिष्ठाका जीवन व्यतीत करने लगे हैं ।

सामाजिक मामलोमें "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का दूसरा रूप है अछूत जातियाँ। जिनके पास विद्याका बल था या बाहुबल था या धन-बल था वह उच्च बन गए। शेष जातियाँ नीच, दलित और अस्पृश्य बन गईं। पौराणिक कालके अत्याचारोका यह एक भीषण रूप था जिसने समाजको तो गदा किया ही, जीवनके अन्य विभागोको भी दूषित कर दिया। जाति और देशकी पराजय तथा ह्रासमें इसका मुख्य हाथ है। मेरे बाल्यकालमें इस प्रदेशके आर्यसमाजोमें इसपर बडा जोर दिया जाता था और सनातनियो की ओरसे तनातनी भी रहा करती थी। आर्यसमाजियोके विरुद्ध किसी जाति, किसी बिरादरी, किसी गाँव या किसी सम्प्रदायको भडका देनेका एक सस्ता उपाय यह था कि यह लोग चमार-मेहतरकी रोटी खा लेते हैं। पजाबके लोगोके समक्ष रोटीकी समस्या इतनी जटिल न थी। उत्तर प्रदेशमें तो 'आठ कनौजिया और नौ चूल्हे' की उक्ति प्रसिद्ध थी। सूलीपर चढ जाना आसान था, दूसरी बिरादरीकी रोटी खाना कठिन था। क्योकि सूलीपर चढनेवाला तो स्वय ही मरता था परन्तु दूसरी बिरादरीकी रोटी खाने वाला तो सन्तानके विवाह आदिके कठिन प्रश्नको उपस्थित कर देता था। मुझे अपना अनुभव है। दूसरे लोग इस कठिनाईको समझ नही सकते। मैं १८६६ ई० की बात कर रहा हूँ। मेरी माताजी और मेरे मामाजीको भडका दिया गया। मेरी माता का प्रेम ही मेरा रक्षक बना! परन्तु धीरे-धीरे सुधार होता गया।

गढवाल और कमायूंके उच्च वर्गने निम्न वर्गको बहुत दबाया। यह प्रान्त बहुत पिछडे हुए है। यहाँ क्षत्रिय और ब्राह्मण लोग छोटे लोगोको विवाहके समय 'डोला पालकी' पर चढने नही देते थे। सबसे पहले आर्यसमाजने इस प्रश्नको उठाया। उस समय न काग्रेस आगे थी, न गाधीजी महाराज आये थे। श्री ठक्कर बापाका तो नाम भी न था। न जाने कितने सिर फूटे, कितनी लडाइयाँ हुई और कितने मुकद्दमे हुए। बिजनौर और नजीबादके आर्य लोग गढ़वाल और कमायूंका साथ देते रहे। मुझे खेद हुआ जब मैंने श्री पट्टाभि सीतारमैयाकी पुस्तकमें डोला-पालकीके विषयपर उन आर्य वीरोका नाम तक न देखा जो इस युद्धके आदि लडाका थे। अब तो उस प्रश्नकी जटिलता इतनी नही रही। इस प्रान्तके ग्रामोमें आर्योनें इस विषयमें क्या किया है, उसका एक उदाहरण दूंगा। मैं बारह वर्ष हुए अलीगढके "मई" ग्राममें गया। वहाँके आर्य समाजके प्रचारक थे एक क्षत्रिय। नाम नही याद है। मेरा गाडीवान था चमार। जब हम भोजन करने बैठे तो वह चमार सकोच करने लगा। उसे भय था कि ठाकुर साहेब कुपित न हो जायँ। परन्तु ठाकुर साहबने एक थाली उसके सामने रखदी और कहा कि हम आर्यसमाजी हैं छूतछात और भेद-भाव नही मानते। इसी प्रकार उन दिनो मैं हाथरसके निकट एक ग्राममे व्याख्यान दे रहा था। मैंने कहा कि आप लोगोको चाहिए कि अछूत चमारोको अपनाने का यत्न करें। मुझे तुरन्त बताया गया कि श्रोतागणमें कई सौ चमार विद्यमान थे। इस उत्थान और सुधारकी तीव्रताका श्रेय महात्मा गाधी और काग्रेसको है।

यह है उत्तर प्रदेशके समाज-सुधारकी पिछली शताब्दीकी कहानी। यह समाज-सुधार नही अपितु सुधारका आरभ मात्र है, कुछ आशिक सुधार केवल मनोवृत्तिमें हुआ है। असली काम तो पड़ा ही हुआ है। इक्के-दुक्के विधवा विवाहको स्त्री-अधिकार-रक्षण नही कह सकते। इधर-उधरके धूम-धामपूर्वक मन्दिर प्रवेशको अछूतोंके प्रश्नका

समाधान नहीं कह सकते । समाज-सुधार एक अलग-थलग वस्तु नहीं है । आर्थिक सुधार, नैतिक सुधार, धार्मिक सुधार, सांस्कृतिक सुधार सभी एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं । काली और खुरदरी जडसे सुन्दर फूलोको अलग कैसे किया जा सकता हैं , गुलाबके कॉटे भी हैं फूल भी । कांटे भी फूलोंके हितैषी ही है । अत सन्त सुधारकोकी दृष्टि सर्वतो-मुखी होनी चाहिए ।

इधर समाज-सुधारकी ओर कुछ उदासीनता आ गई है । देश भर का ध्यान केंद्रित हैं राजनीतिपर । इसीको हम परमपद समझते है और स्वाभाविक भी, परन्तु क्या इतने मात्रसे ही भविष्य बन सकेगा यह मीमासनीय हैं । हमने गत कालमें जो परिश्रम किया है वह व्यर्थ तो नही हुआ परन्तु उसको पल्लवित कहते हुए भी पुष्पित या फलीभूत नहीं कह सकते । समाज-सुधारकी योजना को वैज्ञानिक रीतिपर सोचना और चलाना हैं ।

—:.oo :—

श्री काशीनाथ सोमण

महाराष्ट्रमें समाज-सुधारके सौ वर्ष

सौभाग्यसे समझिए या दुर्भाग्यसे, महाराष्ट्रकी स्थिति भारतके अन्य राज्योकी अपेक्षा कुछ भिन्न है। खैबर घाटीसे हो या सागरी मार्गसे, हमारे देशपर हुए विदेशी आक्रमणो का सबसे कडा मुकाबला महाराष्ट्रमें हुआ। देश-भरमें फैल जानेवाले मुगल साम्राज्य को महाराष्ट्रमें मुँहकी खानी पडी। "शिवाजी न होते, तो सुन्नत होत सबकी" कविवर भूषणके कथनानुसार छत्रपति शिवाजीने ही स्वाधीन राज्यकी स्थापना कर राजनीतिक ही नही धार्मिक एव सामाजिक दृष्टिसे भी देशकी अवनतिको रोका। पोर्तुगीज, फ्रेंच और ब्रिटिश आदि पश्चिमी देशोके आक्रमणका भी पहले बंगालमे और अन्त तक महाराष्ट्रमें मुकाबला किया गया। लगभग १८१८ में पेशवाईका अन्त हुआ और सारे भारतमें अगरेजी राज कायम हो गया। अन्य प्रान्तो की अपेक्षा बंगाल और महाराष्ट्र अँगरेजोंसे अत तक लडे। अगरेजोंके खिलाफ विद्रोहकी भावना इन दो प्रान्तो में ही सर्वप्रथम प्रज्वलित हुई। अगरेजोकी बराबरीमें, यहाँका समाज पिछडा हुआ था। हारसे समाजमें नैराश्यकी भावना फैल गई और उनकी लौकिक अमन-चैनकी सुविधाओ से जनता अँगरेजी राजकी ओर आकृष्ट होने लगी। कई लोग तो यहाँ तक कहने लगे कि अँगरेजोका आगमन इस देशमें यो ही नही हुआ उसके पीछे कोई दैवी प्रेरणा होगी। अँगरेजोंके साथ-साथ ईसाई धर्मोपदेशक भी आ धमके। ईसाई धर्मकी आडमें यह भी प्रचार होने लगा कि यहाँका धर्म, पुराण, इतिहास, ज्ञान-विज्ञान और सस्कृति आदि सब घिनौना है। यहाँके सामाजिक रीति-रस्म हेय है। इन धर्मोपदेशकोके प्रचार तथा यहाँके अगरेजी पढे-लिखे लोगोके अँगरेज अधिकारियोके साथ बढते हुए सम्पर्कसे यह धारणा पैदा होने लगी कि हमारी इस अवनति एव अनावस्थाका कारण सामाजिक एव धार्मिक हीनता और सुधारोकी कमी है। उन कमजोरियोको हटाना हमारा प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए।

अन्य प्रान्तोसे महाराष्ट्रकी स्थिति भिन्न होनेके और भी अनेक कारण है। अँगरेजी राजके प्रारम्भमे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्य तथा सगीत आदि जीवनके हर क्षेत्रमें उच्च कोटिके कार्यकर्ता सामने आए। काग्रेसकी स्थापना इसी प्रान्तमें हुई और उसके कर्णधारोमें न्यायमूर्त्ति रानाडे, नामदार गोखले, दादाभाई नौरोजी आदि प्रमुख थे। समाज-सुधारके क्षेत्रमें लोकहितवादी अर्थात् गोपाल हरि देशमुख, गोपालरावजी आगरकर, न्यायमूर्त्ति रानाडे डा० भाडारकर आदि अगुवा थे। स्वगज्य

के जन्मसिद्ध अधिकारका अमरमंत्र देनेवाले लोकमान्य तिलक यही पैदा हुए। अपने निन्यानवे वर्षमें आज भी महिलाओंकी शिक्षाके लिए काममें जुटे हुए महर्षि अण्णा साहब कर्वे उन्ही दिनोंकी देन है। अनाथ महिलाओके सुधारके लिए "सेवा सदन" नामक संस्थाकी नीव डालनेवाले श्री गोपालराव देवधर, रंगमंचके संस्थापक श्री भावेजी तथा अण्णा साहब किर्लोस्कर, भारतीय चित्रपट सृष्टिके जनक श्री फालके महाराष्ट्रमें ही पैदा हुए। इन महापुरुषोकी मालिका मैंने महाराष्ट्रका वडप्पन प्रकट करनेके लिए उद्धृत नही की किन्तु इस का उद्देश्य इतना ही दिखाना है कि अगरेजोंके सम्पर्कसे जो नव विचार यहाँ प्रकट हुए उनसे तुरन्त लाभ उठानेवाले महान् नेताओका ताँता यहाँ लगा रहा। इनके ही कारण जीवनके हर क्षेत्रमें महाराष्ट्र प्रगतिपथपर अग्रसर हुआ। किन्तु यहाँ हमें सिर्फ यही देखना है कि समाज-सुधारके मार्गपर महाराष्ट्रने किस प्रकार यात्रा की।

चारों ओर फैले हुए अंधेरेको दोष देनेकी अपेक्षा क्या यह अच्छा नही कि अपना-अपना दिया जलाकर उसको दूर करनेकी कोशिश की जाय। इस प्रकार बंगालमें ब्राह्म-समाज, पंजाबमें आर्य-समाज और महाराष्ट्रमें प्रार्थना-समाज, सत्यशोधक-समाज तथा आगरकर जीके सुधारकी-सम्प्रदाय आदिके द्वारा समाजकी कमजोरियाँ नष्ट करनेका प्रयत्न शुरू हुआ। वैसे १८७५ में इसी प्रान्तमें वम्बईमे आर्यसमाजकी सबसे पहले स्थापना हुई थी। हिन्दू-संस्कृतिके इतिहासमें स्फूर्तिप्रद एवं उल्लेखनीय बात यह है कि समय-समय पर उसको नया रूप देनेके लिए नव-विचारकी परिपाटी चलानेवाले सुधारक बराबर पैदा होते रहे। भागवतधर्मी संतोके बाद महाराष्ट्रमें सामाजिक क्रांतिकी जोत जलाने वाले पाँच महर्षि पैदा हुए। ज्योतिर्वा फुले, लोकहितवादी, रानाडे, आगरकर और विट्ठलराव शिंदे, ये है वे महर्षि-पंचक। वम्बई हाईकोर्टके न्यायमूर्त्ति गजेन्द्र गडकर जीके कथनानुसार आधुनिक महाराष्ट्रके सामाजिक जीवनमें क्रांति पैदा करनेके लिए किए गए प्रयत्नोका जब भी कभी इतिहास लिखा जाएगा तव उसमें सामाजिक क्रांति के अगुवा वीरोमें ज्योतिर्वा फुलेका ही नाम सर्वप्रथम होगा। जाति-व्यवस्थापर कडा प्रहार करनेवाले वे पहले विद्रोही थे। दिनाक २७ नवम्बर १८२७ में आपका जन्म हुआ। आप बहुत पढे-लिखे नही थे, फिर भी अज्ञ एव दीन जनताके उद्धारके लिए आपने बडी लगनसे काम किया। सामाजिक समताके लिए आपमें असामान्य निष्ठा थी। उसी निष्ठासे स्वार्थ त्यागपूर्ण समाज-सेवाका व्रत आपने लिया और आजीवन उस को निवाहा। १८५८में आपने ही पूनामें हरिजनोके लिए पाठशालाकी स्थापना की। सवर्ण हिन्दुओंके पनघट हरिजनोंके लिए खेलनेका आन्दोलन सबसे पहले आपने शुरू किया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि विपदावस्थामें पडी कुमारी तथा विधवा महिलाओंके लिए जच्चा घर भी आपने स्थापित किया। जच्चा-घरकी विशेषता यह थी कि प्रसूतिके बाद बच्चा वही छोडकर महिलाचली जा सकती थी। इसीसे प्रेरणा पाकर न्यायमूर्त्ति रानाडेके प्रयत्नसे १८७८ में पंढरपुरमें अनाथ बालकाश्रम की स्थापना की गई। विधवा विवाहके भी आप पुरस्कर्ता थे। मराठा समाजके आप उद्धारकर्त्ता माने गए। उसी उद्देश्यसे आपने २४ सितम्बर १८७३ को सत्य-शोधक-समाजकी नीव डाली। सत्यशोधक-समाजकी उद्देश्य-पत्रिकामें यह लिखा है कि ब्राह्मण

भट, जोशी एव उपाध्याय आदिकी गुलामीसे शूद्र जनताकी मुक्ति करानेके हेतु समाजकी स्थापना की जा रही है। अपने धर्मान्धतापूर्ण ग्रथो द्वारा लगभग हजार वर्ष तक, शूद्रो को नीच ठहराकर उनका हर प्रकारसे शोषण किया गया। उनको जाग्रत करनेके लिए इस समाजकी स्थापना की गई थी। महात्मा ज्योतिर्वा फुलेकी कार्यपद्धतिमें सामाजिक तत्वज्ञान स्पष्ट रूपमें विद्यमान था। किन्तु उसके लिए हिन्दू-धर्म-शास्त्र, सस्कृति तथा ब्राह्मण-वर्गकी बदनामी व निन्दा करनेका काम इस समाजके नामसे अनेकोने अपने हाथमें ले लिया। इससे ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरवादने महाराष्ट्र भरमे भयानक रूप धारण कर लिया। ज्योतिर्वा वास्तवमें सच्चे मानवतावादी थे। आपके धर्मकी परिभाषा यही थी कि जो धर्म एक ही घरमें बौद्धधर्मी पत्नी, इसाई-धर्मी पति, इस्लाम-धर्मी कन्या, एव सार्वजनीन सत्यधर्मी पुत्र आदि परिवारको प्रेमसे बरताव करनेकी सीख देगा वही वास्तविक धर्म है।

बचपनमें ब्राह्मणोसे अपमानित एव त्रसित किए जानेसे आपके मनमें 'ब्राह्मण-द्वेष' की भावना प्रज्वलित हुई, ब्राह्मण वर्गकी प्रभुताके सम्बन्धमें आपने जो कुछ युक्तायुक्त विवेचन किया है वह ईसाई धर्मोपदेशकोकी हिन्दू-धर्म विषयक पुस्तकें पढकर किया था। इस कारण हिन्दू-धर्मकी बुराइयोकी ओर ही आपका ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ और उनके विरुद्ध आपने तीव्र आन्दोलन किया।

महाराष्ट्रके महान विचारक लोकहितवादी गोपाल हरि देशमुखजी के कार्यकी चर्चा करनेसे पहले मराठी पत्रकारिताकी नीव डालने वाले श्री बालशास्त्री जाम्बेकर का स्मरण होना स्वाभाविक है (इ० सन १८१० से १८४६)। पैंतीस वर्षकी आयुमें ही आप चल बसे। किन्तु इस अल्पावधिमें "दर्पण" साप्ताहिक और "दिग्दर्शन" मासिक पत्रिका के द्वारा महाराष्ट्रके तीन महत्व पूर्ण आन्दोलनोका बीज आपने बोया। समाचार पत्र विधवा-विवाह, पतित-परिवर्तन इन तीन क्षेत्रोमें महाराष्ट्रमें आज जो प्रगति दिखाई दे रही है उसका श्रेय आपको ही है।

राजनीतिक कार्यके लिए भारतमे कई गुप्त सगठन स्थापित हुए है किन्तु यह क्या कभी किसीने सुना है कि जाति-भेद जैसी सामाजिक सस्था नष्ट करनेके लिए गुप्त संगठन की स्थापना की गई! महाराष्ट्रमें १८५० के लगभग श्री दादोबा पाडुरग प्रभृतिने "परमहस-मडल" नामक एक गुप्त सस्था बम्बईमें स्थापित की थी। लगभग १५ साल तक यह सस्था कार्य करती रही किन्तु सस्थाके सदस्योकी सूची जब प्रकट हो गई तब सामाजिक बहिष्कारके डरसे सभी सदस्य सस्थासे अलग हो गए। इसीकी भस्ममें से १८६७ में प्रार्थना-समाजका प्रादुर्भाव हुआ।

महाराष्ट्रमे बडे पैमानेपर समाज-सुधारका प्रचार लोकहितवादीने किया। (१८२३ से १८९२) "प्रभाकर" नामक समाचार-पत्रमें प्रकाशित 'शत पत्रो' द्वारा निद्रित समाजको जगानेकी भरसक कोशिश लोकहितवादीने की। एक पत्रमें आपने लिखा है कि हिन्दू समाजमें जो मूर्खता बढ गई है, उसे हटानेके हेतु ही अँगरेजोका यहाँ आगमन हुआ। अब हमको चाहिए कि अँगरेजोको गुरु समझकर उनके चरणोमें बैठकर उनसे अक्लमदीके कुछ पाठ सीखें, हमारी जो सस्कृति नष्ट-भ्रष्टसी दीख पडती है, उसको पूर्व रूप प्राप्त करनेके लिए मानो ईश्वरी प्रेरणासे अँगरेज भारतमे पधारे है।

यह पूछा जा सकता है कि लोक-हितवादीके अँगरेज़ी राजके सम्बन्धमें प्रकट किए गए विचारोका समाज-सुधारके साथ क्या सम्बन्ध है ? कुछ अर्थोंमें यह आशंका ठीक है। किन्तु लोक हितवादीने इन विचारो द्वारा सिर्फ यही बतलानेकी कोशिश की है कि हमारी पराधीनताका कारण हमारी सामाजिक हीनता थी। समाजकी हर एक कुप्रथापर आपने प्रहार किया। "शास्त्रात् रूढिर्बलीयसी" इस परिपाटीको तोडकर "बुद्धिरेव बलीयसी" का संदेश आपने दिया। "आपने एक स्थानपर कहा है कि मनुका वचन और याज्ञवल्क्य ही क्यो ब्रह्मदेवका कहना भी ज्योका त्यो माननेसे पहले उसे बुद्धिकी कसौटी पर परख लेना चाहिए।

हरिजनोके सम्बन्धमें भी आपके विचार प्रगतिशील थे। हरिजनोके प्रति आपके मनमें सहानुभूति थी और उनपर होनेवाले अन्यायके प्रति चिढ थी। आपने कहा था कि ब्राह्मण हरिजनोकी निन्दा करते है। उन्हें छूते तक नही। किंतु अँगरेजोके साथ बडे प्रेमसे बैठकर बातचीत करते है। वास्तवमें यदि धर्म शास्त्रकी दृष्टिसे देखा जाय तो अँगरेज़ोंसे हरिजन हमारे अधिक निकट है। आपकी विशेषता यह है कि यूरोपीय राजनीतिक एव लोकसत्तात्मक राज्यक्रातिका विवेचन आपने किया और समाजको नव-विचारोसे परिचित कराते हुए उसमें स्वातंत्र्य भावना जाग्रत की। आपका यह स्पष्ट कहना था कि अँगरेज यहाँ दो सौ वर्षसे अधिक नही रह सकेंगे।

समाज-सुधारके संगठित आन्दोलनका पुरस्कार तथा सामाजिक परिषद्की नीव डालनेवाले थे न्यायमूर्त्ति रानाडे (१८४२ से १६०१)। महाराष्ट्रके ही नही समूचे देशके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा औद्योगिक आन्दोलनका सूत्रपात न्यायमूर्त्ति रानाडेने अपने लेखो तथा व्याख्यानो द्वारा किया। इस लिए लोकमान्यने रानाडेका अभिनन्दन किया। लोकमान्य तिलकने उसके सम्बन्धमें लिखा है कि उस जमानेमें महाराष्ट्रकी अवस्था ठंडे गोलेके समान थी। उस ठडे गोलेको किस प्रकार एवं किस किस्मकी गरमी दी जाय जिससे वह फिर सजीव होकर अपने हाथ-पैर हिला सके, इस पर रात दिन विचार कर, कतिपय उपायोसे उसको सजीव करनेके कठिन काममें जुट जानेवालोमें सर्वप्रथम थे 'माधवरावजी रानाडे।

पूनामें वक्तृत्वोत्तेजक सभा, वसन्त-व्याख्यान-माला, औद्योगिक परिषद्, फीमेल-हाई स्कूल, नेटिव-जनरल-लाइब्रेरी, प्रार्थना-समाज, सार्वजनिक सभा आदि कई सस्थाओ के सूत्रचालक न्यायमूर्त्ति रानाडे थे। सामाजिक परिषदकी स्थापना एव उस परिषद का आन्दोलन उन्होने शुरु किया था। परिषद्के हर अधिवेशनमें विभिन्न सामाजिक विषयों पर अभ्यासपूर्ण चर्चा वे किया करते थे। अबलाओकी उन्नतिके जो प्रयत्न उन्होने किए, उनमें उनके प्रेमार्द मनकी बेचैनी दिखाई देती थी। महिलाओपर पुरुषवर्गकी ओरसे चलाई जानेवाली हुकूमतके वे विरोधी थे। उनके विचारोकी आधारशिला बुद्धिवादी नही थी; न्याय, दया एवं शास्त्राधार प्रमुख था। पुरानी परपराके वे अभिमानी थे इसलिए जब कभी आधुनिक समाज-सुधारकी बात छेड़ी जाती, तो वे उसके लिए कोई ऐतिहासिक परम्परा ढूंढ निकालते थे।

उनके समयमें महाराष्ट्रके इतिहासमें एक महत्वपूर्ण परिवर्त्तन हुआ जिसमे महाराष्ट्र में ही नही समूचे देशमें नया वायुमंडल पैदा हुआ। अँगरेज़ी राज देशमें स्थापित होने

के बाद पहले पचासवर्षकी कालावधिमें (लगभग १८७५ तक) समाज-सुधारकोने समाज को नवविचारोसे जाग्रत करनेकी कोशिश की किन्तु जिस समाजकी जागृतिके लिए वह प्रयत्न किया गया उसका रूप क्या था ? वह उच्च श्रेणीके ब्राह्मण वर्ग तथा अँगरेजी पढे-लिखे चद लोगो एव सरकारी नौकरो तक ही सीमित था। मध्यमवर्ग तथा किसान-मजदूरोका बहुजन-समाज उन सुधारोसे कोसो दूर था। इन तथाकथित उच्च श्रेणी के लोगोमें समाज-सुधारकी भाषा केवल बोलने तक सीमित थी। आचरण करनेका समय आनेपर सब रूढिवादी बन जाते थे। यहाँ तक विधवा-विवाहका पुरस्कार करनेवाले श्री रानाडे भी अपने पुर्नविवाहके समय पूरे रूढिवादी बन गए। पिताजीके दु खका बहाना बनाकर, उन्होने अपने विवाहका समर्थन किया। सामाजिक परिषद के जनककी जब यह हालत थी तब औरोका तो क्या कहना ?

अँगरेजी राज्यके पैर जमा लेनेके बाद महाराष्ट्रमे वासुदेव बलवत फडकेके नेतृत्व मे एक सशस्त्र विप्लव का असफल प्रयत्न हुआ। इसी कारण समाज नेताओके विचारोको विशिष्ट विधायक ढाँचेमें ढालनेकी कोशिश शुरू हुई। १८८५ मे बम्बईमें काग्रेसकी नीव डाली गई। काग्रेसके जनक ह्यू म साहबका मत यह था कि काग्रेस अपने कार्यका शुभारम्भ सामाजिक सुधारोसे ही करे। किन्तु आपका यह मत टिक न सका। सामाजिक सुधारोंसे राजनीतिक सुधारोको ही अग्रस्थान देनेकी आवश्यकता लोकमान्य तिलक और उनके राष्ट्रवादी सम्प्रदायने बना दी। लोकमान्य तिलकका अपने सहकारी श्री आगरकर से इसी प्रश्नपर मतभेद हुआ और अन्तमें आगरकरको तिलकका साथ छोड देना पडा।

समाज-सुधारके सम्बन्धमे लोकमान्य तिलकने अपनी सैद्धान्तिक भूमिको स्पष्ट करते हुए कहा कि समाज-रचना चाहे जिस प्रकारकी क्यो न हो जब तक स्वाधीनता एव राष्ट्रीयताका जोश देशमें जाग्रत है, तब तक समाजकी कमजोरियाँ राष्ट्रकी उन्नति व उत्कर्षमें रोडे नही अटका सकती। किन्तु वह जोश ही अगर नष्ट हो गया, तो वे कमजोरियाँ रावणके धनुषके समान सीनेपर गिरकर हँसीका कारण बन जायेगी। इस-लिए देशके हितके लिए काम करनेवाले कार्यकर्ता का पहला प्रयत्न यह होना चाहिए कि देशके प्रति तथा अपनी सामाजिक सस्थाओके सम्बन्धमें अभिमानकी भावना जाग्रत रहे, फिर समाज रचना चाहे जिस प्रकार की क्यो न हो।

पेडपरके तोतेकी ओर तीर चलानेकी द्रोणाचार्यकी आज्ञा होते ही, वीर अर्जुनको तोतेकी आँखके सिवा अन्य कुछ भी नही दिखाई दिया। लोकमान्य तिलकके बारेमें भी यही कहा जा सकता है। अँगरेजी हुकूमतके विरुद्ध जनतामें असतोषकी भावना प्रज्वलित कर उन्हे उसके विरुद्ध खडा करना उनका लक्ष्य था। हर मौके और साधनका उपयोग लोकमान्यने उसी लक्ष्यकी पूर्त्तिके लिए किया। समाज-सुधारकी ओर उन्होने उसी दृष्टिसे देखा।

लोकमान्य समाज-सुधारके प्रतिकूल नही थे। रूढिवादी, कर्मठ और कट्टर सनातनी भी नही थे। "केसरी" का काम तथा जन जागृतिका प्रयत्न ही उनकी 'सध्या' थी। हरिजनोके सम्बन्धमें उनके विचार कट्टर सुधारकोंने भी अधिक प्रगतिशील थे। उन्होने बम्बईमें अपने एक भाषणमें कहा था कि If a God were to tolerate untouchability I would not recognize him as God at all." अगर ईश्वरको अस्पृश्यता मजूर हैं, तो मैं उसे ईश्वर ही माननेको तैयार नही।

लोकमान्य तिलकका यह भी विचार था कि वर्तमान स्थितिमें यह आवश्यक है कि सामाजिक सुधारका उत्तरदायित्व समाजको ही उठाना चाहिए। विदेशी शासनकी सहायतासे किसी कानून द्वारा आवश्यक सुधार तुरन्त किया जा सकता है किन्तु इससे घातक प्रथाका श्रीगणेश होकर समाजकी उससे हानि होगी क्योंकि हम अपने ही हाथोंसे विदेशी शासनको अपनी अन्तर्गत व्यवस्थामें हस्तक्षेप करनेका अधिकार दे देते हैं।

श्री गोपालराव आगरकर (१८५६ से १८९५) महाराष्ट्रके समाज-सुधारके स्फूर्त्ति-दाता थे। आप व्यक्तिवादी तथा बुद्धिप्रामाण्यवादी थे। सामाजिक क्षेत्रके समान ही राजनीतिक क्षेत्रमें भी आपके विचार क्रांतिकारी थे। समाजवादी समाज-रचना के जो नारे आज लगाए जा रहे हैं वे आगरकरके लेखोंमें स्पष्ट दिखाई देते है। आप चाहते थे कि पहले घरमें सब तरहके सुधार हो जिससे जनताको अंगरेजोंसे लड़ने के लिए बल प्राप्त होगा। पर तिलकका कहना था कि जिस घरकी बात आगरकर कर रहे है वह घर ही अपना नही है। अँगरेज़ोको यहाँसे हटा देनेपर ही जनताको वह घर प्राप्त हो सकेगा और जनता फिर अपनी प्रगतिके लिए आवश्यक सुधार कर लेगी। एक था राजनीतिक नेता तथा राष्ट्रीय दल सगठनकर्ता और दूसरा था सैद्धांतिक सस्कृति सुधारक। लोकमान्य थे देशभक्त पडित तो आगरकर सुधारवादी सुधारक कवि।

न्यायमूर्त्ति रानाडेका था नरम सर्वांगीण सुधारवाद, आगरकरका था गरम सर्वांगीण सुधारवाद और चिपलूणकर तथा लोकमान्य तिलकका था गरम राजनीतिक राष्ट्रवाद। इस प्रकार विचारोके तीन स्वतंत्र प्रवाह उन दिनोंमें थे। १८९५ के पूर्व महाराष्ट्रमें १०–१५ साल जो विचार-मथन हुआ उसमें इन तीनो विचार प्रवाहोकी त्रिधारा थी। बादमें आगरकरके विचारोंकी सरस्वती लुप्त हो गई। रानाडेका नरम दल और तिलक का गरम दल महाराष्ट्रमें कार्य करते रहे। पर उनमें भी आगे चलकर तिलकके गरम दलने सब ओर अपना सिक्का जमा लिया।

१८१८से १९०० तक की यात्रा अब हम कर चुके है। लोकमान्यके प्रभावशाली नेतृत्वसे अब राजनीतिक विचारोकी प्रधानता होनेपर भी समाजमें फिरसे नव जागृति पैदा होने लगी। शुरूमें वह जागरण सिर्फ उच्च श्रेणीके ब्राह्मण वर्ग तक सीमित था। अब मध्यम श्रेणीका समाज भी उसमे शामिल हुआ। १८९४ में लोकमान्यने गणेशोत्सवको सामूहिक रूप दिया। १८९५ में शिवाजी-महोत्सवकी नीव डाली। इस प्रकार जनताकी धर्म-भावना एवं ऐतिहासिक विभूतिके प्रति होनेवाली पूज्य भावनाको परिस्फुटित कर उसका उपयोग उन्होंने राजनीतिक आन्दोलनको बल-प्राप्त करानेके लिए किया।

१८८५ में स्थापित काग्रेसके सूत्रचालकोमें यह एक विचारधारा थी कि सामाजिक सुधारका ही कार्यक्रम पहले हाथमें लिया जाय। किन्तु वह विचारधारा टिक न सकी। दो साल बाद १८८७ में मद्रासमें काग्रेसके साथ इन विचारोंके सूत्रचालकोने सामाजिक परिषद्की स्थापना की। १९०१ तक यानी अपनी मृत्यु तक न्यायमूर्त्ति रानाडेने परिषद् का सूत्रचालन किया। १९१७ तक काग्रेस अधिवेशनके साथ सामाजिक परिषद् होती रही। १९१८ में काग्रेससे नरम दलके लोग अलग हो गए और उनके नेशनल लिबरल फेडरेशन के साथ भी सामाजिक परिषद् होने लगी। लगातार १० साल तक क्रम चला। उसके

वाद राजनीतिक आन्दोलनपर देशका ध्यान केन्द्रित हो जानेसे सामाजिक परिषद् फिर कांग्रेसके साथ होने लगी, परन्तु उसका सिलसिला अधिक वर्ष नहीं चल सका। अतर्जातीय भोज इस परिषद्का आवश्यक अंग होता था। नागपुरमें हुई सामाजिक परिषद् मे भाषण करते हुए लोकमान्यके अन्यतम साथी दादा साहब खापर्डेने कहा था कि सुधारकी प्रेरणा दिलसे होनी चाहिए। सुधारोंके लिए जब अन्य मार्ग खुले है, तो कानून का उपयोग करना लाभकारक नही होगा। उससे तो विरोधके लिए विरोध पैदा होता है। सुधारोको अपने बर्तावमें व्यक्त कर उससे व्यक्तिके स्वावलम्बनको बढावा मिलना चाहिए। किन्तु सुधारकी यह उद्देश्यपूर्त्ति कानून द्वारा बिलकुल भी नही हो सकती। लगभग २५ सालके बाद बम्बईमें १९१२ मे प्रांतिक समाज-सुधार-परिषद् हुई। ५० सालके समाज-सुधारके कार्यका सिंहावलोकन किया गया। सामाजिक सुधारोके आन्दोलनका लक्ष्य निश्चित करनेके हेतु एक उप-समिति बनाई गई।

१८९० में लोकमान्यकी ओरसे एक निवेदन प्रकट किया गया था जिसमें कहा गया था कि विवाहके लिए लडकी की आयु १६ और लडकेकी २० हो, उससे कम उम्रमे विवाह न किया जाय। ४० वर्षकी आयुके बाद पुरुष विवाह न करे। अगर उसे करना ही हो तो वह विधवा-विवाह करे। शराब पीना बंद किया जाय। दहेजकी प्रथा बंद हो। हर एक आदमी अपने आयका दसवाँ हिस्सा सार्वजनिक काममें लगाए। लगभग ६५ साल पूर्व व्यक्त किए गए तिलकके इन विचारोको आज स्वाधीनता प्राप्त हुए ९ साल बीतनेपर भी स्वीकार नही किया जा सका है। विवाहकी आयु-मर्यादाके बारेमें खींचतान बराबर चल रही है। शराबखोरी अब भी बन्द नही हुई। दहेज की कुप्रथाने तो समाजके नाको दम कर रखा है और आचार्य विनोबा समाजमें जीवन-दान, श्रमदान व सम्पत्तिदानका उपदेश आज भी कर रहे है। इन विचारोंसे स्पष्ट है कि तिलक समाज-सुधारके प्रतिकूल नही थे। उनका कहना सिर्फ यह था कि हमें जन-समूहमें सुधार करना है। पर कही सुधारके हेतु जन-समूहमें फूट न पड जाय।

चिपलूणकरकी प्रेरणासे तिलक और आगरकरने जिस राष्ट्रीय शिक्षाकी नींव डाली थी वह विकसित होती गई। महिलाओकी शिक्षाके लिए भी पाठशालाएँ खुली। १८९६ मे पूनामें अनाथ-बालिकाश्रम (हिन्दू विडोज होम) की स्थापना की गई। १९०८ में श्री गोपाल कृष्ण देवधरने सेवासदनकी नींव डाली। राजनीतिक एव सामाजिक कार्यकर्ताओंके साथ साहित्यिकोका भी समाज-सुधारमे बडा हाथ रहा। श्री हरि नारायण आपटेके सामाजिक उपन्यासोने मध्यम श्रेणीके समाजमें खलबली मचा दी। रंग-मंचने भी और खासकर 'शारदा' जैसे नाटकोने समाज-सुधारके कार्य में बडी मदद की। फिर भी यह सब जागरण मध्यम श्रेणीके समाज तक ही सीमित रहा। सामाजिक विचारोकी अपेक्षा तिलकके राजनीतिक विचारोंसे सर्वप्रथम किसान मजदूरमें अर्थात् महाराष्ट्रके बहुजन-समाजमें जागृति पैदा हुई। १९०८ में लोकमान्यको राजद्रोहके अभियोगमे ६ सालकी सजा हुई और उनको माडले भेज दिया गया। बम्बईके मिल-मजदूरोंने लोकमान्यके प्रति अपना प्रेम तथा शासनके विरुद्ध अपना असतोष प्रकट करनेके लिए हडताल की। राजनीतिक कारणसे हुई वह पहली स्वयं स्फूर्त हडताल थी जिसे सुनकर लेनिनने भी कहा था कि भारतके किसान मजदूरोंके जाग्रत होनेकी यह निशानी है।

चार साल पूर्व १९५३ में पूनामें महाराष्ट्र-सामाजिक परिषदका फिरसे श्रीगणेश हुआ। उस परिषद्के सभापति थे बम्बई हाईकोर्टके न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गडकर। आपने अपने भाषणमें कहा था कि महाराष्ट्रमें आत्माभिमान तथा देशाभिमान जाग्रत करनेका काम चिपलूणकरने अपनी तेज लेखनीसे किया। उन्हें अगर स्वामी दयानन्द सरस्वती या ज्योतिर्वा फूलेके विचारोके ध्येयवादके लिए कुछ न कुछ सहानुभूति एवं श्रद्धा होती और तिलक आगरकर एक-दूसरेके प्रति स्पर्धा करनेके बजाय सहकारी होते और उनके सयुक्त नेतृत्वमें सामाजिक तथा राजनीतिक जागरणका आन्दोलन शुरू रहता, तो महाराष्ट्रका ही नही समूचे देशका इतिहास बदल जाता। देशके स्वाधीन होनेके बाद सामाजिक प्रगतिका रथ जो अटका हुआ या धँसा हुआ दिखाई देता है, वह न दीखता पर "Of all sad words of pen and tongue the saddest are these : "It might have been". इस कविके वचनके अनुसार "अगर ऐसा होता तो" ऐसे विचारोको मनमें स्थान देना व्यर्थ है।

न्यायमूर्त्ति गजेन्द्र गडकरके इन विचारोकी तरह मन कभी-कभी सोचने लगता है कि महाराष्ट्रके आद्य क्रातिकारी सुधारक महात्मा फुलेका बचपन मे ब्राह्मणवर्ग से अपमान न होता, आप इसाई धर्मोपदेशकोके चगुलमें फँस न जाते और कोल्हापुरके छत्रपति महाराज के वेदोक्त प्रकरण में महाराष्ट्र के सुधारकोने उनका साथ दिया होता तो महाराष्ट्रमें ब्राह्मण ब्राह्मणेतर वाद कभी न पनप पाता और महाराष्ट्रका स्वरूप बदल जाता परन्तु होनी तो होकर ही रहती है।

मानवतावादी महात्मा ज्योतिर्वा फुलेने १८७३ में सत्यशोधक समाजकी नीव डाली और आजीवन समाजकी सेवा की किन्तु १८८९ में आप चल बसे और आपके साथ समाज-सुधारका कार्य रुक गया। १९१२ तक कोई प्रभावशाली नेता समाज-सुधार के क्षेत्रमें प्रकट नही हुआ। इसी बीच १९०२–३ में कोल्हापुरमें निर्माण हुए वेदोक्त प्रकरण से सत्यशोधक समाजको नया जीवन मिला। कोल्हापुर के साहू महाराजकी यह इच्छा थी कि मराठा क्षत्रिय होनेसे उसके सभी संस्कार ब्राह्मणोंके समान वेदोक्त विधिसे होने चाहिए, न कि पुराणोंकी पद्धतिसे। कोल्हापुरके साहू महाराजको जिस परिवारसे गोदमें लिया गया था वह मराठाओकी परम्पराके अनुसार 'कुलीन' क्षत्रिय घराना नही था। कोल्हापुरके ब्राह्मणोंके विरोधका कारण यही था। इसका निर्णय शकराचार्यजी से करवानेका प्रस्ताव किया गया था पर करवीर स्थित पुरोहितोका यह कहना था कि इसमें दखल देनेका श्री शंकराचार्यको कोई अधिकार नही है। फिर भी सकेश्वर पीठके आचार्य ब्रह्मनाल स्वामीने यह आदेश दिया कि महाराज कोई भी सस्कार वेदोक्त विधिसे नही कर सकते। महाराजके आत्माभिमानपर सामाजिक विषमता की यह पहली चोट थी। कोल्हापुरमें स्वतत्र धर्मपीठकी स्थापना की गई। संकेश्वर धर्मगुरुसे सम्बन्ध विच्छेद किया गया। ब्राह्मण आचार्य के बदले ब्राह्मणेतर धर्मगुरु की स्थापना करनेकी प्रार्थना महाराज से १९०४ में की गई। आगे चलकर करवीर में क्षत्रिय धर्मगुरु की स्थापना हुई और इसी आचार्य द्वारा वेदोक्त विधि शुरू करदी गई। १९१२ में २१ अगस्तको कोल्हापुरमें सत्यशोधक समाजकी स्थापना की गई और ब्राह्मण पुरोहितके बिना ही व्याह-विधि सम्पन्न करनेके आन्दोलनको बल मिला।

१९१३ में केवल कोल्हापुरमें १५१३ विवाह-सस्कार विना ब्राह्मण-पुरोहितके, वेदोक्त पद्धतिसे किए गए।

समाज-सुधारके आन्दोलनका केन्द्र पूनासे कोल्हापुर चला गया। साहू महाराज की सहायतासे समाज-सुधारका आन्दोलन तो पनपने लगा किन्तु उसका महान तत्व ही पैरो तले कुचल दिया गया। महात्मा जोतिर्वाकी विचारधारा यह थी कि शिव और जीवकी एकतामें किसी साध्यकी आवश्यकता नही या ईश्वर और भक्तके बीच किसी आढतिए व दलालकी ज़रूरत नही। केवल ब्राह्मण-पुरोहितके स्थानपर क्षत्रिय पुरोहित स्थानापन्न होनेसे सामाजिक समता प्रस्थापित नही हो सकती थी। १९१७ में खाम-गाँव (विदर्भ)में साहू महाराजकी अध्यक्षतामे मराठा-शिक्षा-परिषदका अधिवेशन हुआ। इसी समय मान्टेग्यूके राजनीतिक सुधारोकी घोषणा हुई थी। उसका निर्देश कर साहू महाराजने कहा था कि विशिष्ट लोगोके ही हाथमें अधिकार न चले जायँ, इसलिये करीब १० साल तक सभी जातिके प्रतिनिधि लिए जायँ। सत्य-शोधक समाजके आन्दोलनका रुख प्रधानतया ब्राह्मणवर्गके विरुद्ध था। बहुजन-समाजमें यह धारणा पैदा करनेकी कोशिश की गई कि छत्रपति शिवाजी महाराजने स्वाधीन राज्यकी स्थापनाकी थी किन्तु पेशवाओने उसे हडपकर अन्त में डुबा दिया। अँगरेजोका राज स्थापित होनेपर फिर वही ब्राह्मण-समाज उनके कारोबारमें अधिकारपद पर आसीन हो गया। मराठा-समाज के पिछडा रहनेका कारण भी ब्राह्मण वर्गको बताया गया। कुछ समय तक ब्राह्मण-विरोधका यह जहरीला प्रचार यहाँ तक बढ गया कि देहातोमें उनके लिए जीवन बिताना दूभर हो गया। किन्तु राजनीतिक विचारोके वायुमण्डलमें वह जहरीला प्रचार लुप्त हो गया। महात्माजीकी हत्याके बाद महाराष्ट्रमे जो अग्निकाड हुआ, उसका निशाना प्रधानतया ब्राह्मणवर्ग ही था। यह स्पष्ट है कि उस मौकेका उपयोग परम्परागत द्वेष का बदला लेनेके हेतु किया गया।

१८८५ में काग्रेसकी स्थापना की गई। काग्रेसके नेतृत्वकी बागडोर भी ब्राह्मण-वर्गके हाथोमें चली गई। इस कारण काग्रेसको ब्राह्मण-वर्गकी सस्था समझकर मराठा 'समाज' उससे दूर रहा। क्रातिकारी आन्दोलन पेशवाईके पुनरुज्जीवनके लिए ही है इस आकाक्षासे मराठा-समाजके कार्यकर्ता उससे न केवल दूर रहे, किन्तु उसके विरुद्ध उन्होने विदेशी शासनको सहायता देनेमे भी सकोच नही किया। लगभग १९२० तक यही स्थिति रही। तब देशका सामाजिक स्वरूप राजनीतिक स्वरूपमें परिणत हो गया। १९२०, १९२३ तथा १९२६ मे कौंसिलोके चुनावमें ब्राह्मणेतर दलको सफलता मिली। काग्रेसकी असहकार नीतिके कारण अनेक प्रान्तोमें इस दलके मत्रिमडल, मुस्लिम प्रतिनिधियोकी सहायतासे स्थापित हुए। श्री भास्करराव जाधव जैसे कार्यकर्त्ताके हाथ बम्बईका शिक्षा मत्रालय आ जानेसे ब्राह्मणेतर समाजमें आपने शिक्षा का विशेष प्रचार किया। अकेले सतारा जिलेमें छात्रोकी सख्या ३० हजारसे ६० हजार पर पहुँच गई। १९२० से ३० तकके १० सालके समाज-सुधारके कार्यका सिंहावलोकन किया जाय, तो यह दिखाई देता है कि अपने समाजके हितके लिए इस दलने बहुत सराह-नीय कार्य किया। सरकार शासकीय नौकरियोका दरवाजा खोल दिया गया। इस प्रकार आर्थिक एव शैक्षणिक दृष्टिसे ब्राह्मणेतर समाजमें विशेष प्रगति हुई। उसमें

आत्माभिमानकी भी प्रवल भावना पैदा हुई। ब्राह्मणेतर आन्दोलन दक्षिणमें बम्बई, नागपुर, पूना और मद्रासमें अधिक प्रवल था। इन सभीमें ऐसा ही हुआ।

१९२० में देशके नेतृत्वकी वागडोर गाँधीजीके हाथोमें आ गई। गाधीजीने राजनीतिके साथ समाज-सुधारका अद्भुत मिश्रण इस ढगसे किया कि लोकमान्यको उससे जनतामें बुद्धिभेद पैदा होनेकी जो आशका थी वह निर्मूल सिद्ध हो गई। अपने रचनात्मक कार्यक्रममें उसको उन्होने प्रमुख स्थान दिया। ब्राह्मणेतर समाजपर भी इसका अद्भुत असर पडा। १९३८ के अक्तूवरमें नागपुरमे विदर्भ-मध्यप्रान्त-ब्राह्मणेतर-परिषद् हुई। लगभग २००० कार्यकर्त्ता परिषद्में उपस्थित थे। श्री केशवराव जेधेने अपने अध्यक्षीय भाषणमें कहा था कि सामाजिक समता प्रस्थापित करनेका कार्यक्रम सत्यशोधक समाजका था। किन्तु राजनीतिक क्षेत्रमें महात्माजीके आगमनसे सत्यशोधक समाजका कार्यक्रम ही मानो काग्रेसने स्वीकृत किया है। इसलिए अब काग्रेससे दूर रहनेकी कोई आवश्यकता नही। १९३५ के कानूनसे हिन्दी जनताको जो अधिकार प्राप्त हुए है उनमें हमारा उद्देश्य पूर्ण नही होता। फिर भी भारतकी ३॥ करोड जनता को मतदानका हक प्राप्त हो गया। उस हिसाबसे महाराष्ट्रके ११ जिलोंमें लगभग २० लाख मतदाता होगे। अब देशका कारोवार जनमतपर ही निर्भर है। अत प्राप्त अधिकारका उपयोग वहुजन समाजके हितके लिए किया जा सकेगा। उसी दृष्टि मे मैं अपने हमराहियोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे सव काग्रेसमें शामिल हो जायँ। सत्यशोधक-समाजके तत्वावधानमे काम करनेवाला महाराष्ट्रका ब्राह्मणेतर समाज कांग्रेममें समाविष्ट हो गया।

सत्यशोधक-समाजकी स्थापना जिस प्रकार मराठा-समाजकी प्रगतिके लिए थी उसी तरह हरिजनोके उद्धारके लिए भी थी। महात्मा फुलेने आजीवन अस्पृश्योद्धारके लिए प्रयत्न किया। महात्माजीके नेतृत्वमे भी महाराष्ट्रमें हरिजनोद्धारके लिए भरसक कोशिश की गई, मन्दिर-प्रवेशके लिए पूनाके इतिहास-प्रसिद्ध पर्वती-मदिरमें तथा नासिकके ख्यातनाम राम-मन्दिरमें सत्याग्रह हुए जिनमें महाराष्ट्रके कई कार्यकर्त्ता शामिल हुए थे। चंद साल पहले पंढरपुरमें मन्दिर प्रवेशके लिए स्वर्गीय साने गुरुजी ने तो अनशन शुरू कर अपने प्राणोकी वाजी लगा दी थी। हरिजनोद्धारके लिए आजीवन कष्ट उठाने वाले स्वर्गीय विट्ठलरामजी शिंदेके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित किए विना आगे वढना असम्भव है। एकही वाक्यमें कहा जाय, तो महाराष्ट्रमें महिला-शिक्षाके लिए महर्षि अण्णा-साहव कर्वेने जो तपस्याकी वही कर्मवीर शिंदेने हरिजनोकी सेवाके लिए की। अपना जीवन कार्य समझकर शिंदेने अपना तन, मन, धन उसमें लगा दिया। १९२४ से १९३७ तक क्रांति-वीर सावरकर रत्नगिरिमें नजरवन्द थे। उन्होने उन दिनोंमें वहाँ हरिजनोंके उद्धारका सराहनीय कार्य किया। वहाँ पतित-पावन-मन्दिरकी नीव डालकर उन्होंने मन्दिर-प्रवेश का सफल प्रयत्न किया। सार्वजनिक रूपमें हरिजनोके साथ सह-भोजनका आन्दोलन भी उन्होने शुरू किया, जो आज भी वम्वईके श्री अनन्त हरि गद्रे चला रहे है। सावरकरने "किर्लोस्कर" मासिक पत्रिकामें एक लेख-माला भी लिखी। उसमें अस्पृश्यता निवारण के अलावा हिन्दू-समाजकी रूढ़िवादी परम्पराओंके विरुद्ध भी विचार प्रकट किए।

महर्षि कर्वेके कारण महाराष्ट्रमें महिलाओंने शिक्षाके क्षेत्रमें उल्लेखनीय प्रगति की। अन्य प्रान्तोकी अपेक्षा महाराष्ट्रकी महिलाओको बहुत अधिक स्वाधीनता है। यहाँ परदेकी प्रथा नही है। शिवाजी महाराजसे लेकर पेशवाओ तक महाराष्ट्रीय महिलाओ ने समाजमें ही नही समरभूमिमें भी अपना तेज प्रकट किया है। वही परिपाटी आज भी सुचारु रूपसे चालू है।

हिन्दू-समाजकी कमजोरीके जो कतिपय कारण है, उनमें निवृत्ति भी एक है। साधु-महात्मा बनकर भोलीभाली जनताको अपने चगुलमें फँसानेवालोके विरुद्ध भी आन्दोलन किया गया। श्री महादेवशास्त्री दिवेकरका इसमें प्रथम स्थान है। आपने "कि र्लोस्कर" मासिक पत्रिकामें एक लेखमाला लिखकर इस गुरुडमपर कडा हमला किया। उसके पहले १६११ में श्री रंगकर पराजपेने "टाइम्स" में एक पत्र लिखकर इस आन्दोलन का सूत्रपात किया था। उसके बाद केसरीमें 'भोदू गुरुची साथ' इस शीर्षकसे टीका-टिप्पणी की गई। अज्ञान एवं दारिद्र्य इस कुप्रथाकी जडमें है उसे नष्ट करनेपर समाज इनके हाथोंसे छूटकारा पा सकेगा।

महात्मा गाधी केवल राजनीतिक नेता नही थे और न केवल सत ही थे। देशके नेतृत्वकी बागडोर अपने हाथोमें लेनेपर १६२१ की "यग इंडिया" में Neither a saint nor a politician" शीर्षकसे आपने लिखा था कि राजकरणको धर्म की पृष्ठभूमिपर स्थापित करनेका प्रयोग मैं अपने मित्रोकी सहायतामे कर रहा हूँ। सब धर्मोंमे हिन्दू धर्म मुझे अधिक प्रिय है किन्तु मेरी धर्मकी परिभाषा हिन्दू धर्मसे भिन्न और श्रेष्ठ है। महात्माजीने सर्वश्रेष्ठ मानव-धर्मका अधिष्ठान अपनी राष्ट्रीयताको दिया। मानवके हृदयमे असत्यसे सत्यकी ओर, अज्ञानसे ज्ञानकी ओर तथा अपूर्णतासे पूर्णता की ओर जानेकी एक सनातन प्रवृत्ति है। उसीसे मनुष्यकी स्वार्थपूर्ण अहकारकी भावना नष्ट होकर वह परार्थी लोकसेवक बन जाता है। उसीको महात्माजी धर्मप्रवृत्ति या धर्म कहते थे। हिन्दू-समाजकी विषमता नष्ट करनेके प्रतीक के रूपमें महात्माजीने अस्पृश्यता-निवारण तथा हरिजनोद्धारको राष्ट्र निर्मित्तके रचनात्मक कार्यमें अग्रस्थान दिया। हिन्दुओंसे हरिजनोको अलग करनेकी विदेशी शासनकी चाल अपने प्राणोकी बाजी लगाकर महात्माजीने विफल करदी। लोकमान्य तिलक, महात्मागाधी और जवाहरलाल नेहरू जैसे एकके बाद एक प्रभावशाली नेता पानेवाला भारत जैसा कोई विरला ही देश होगा। इन भाग्य-विधाताओके भगीरथ प्रयत्नसे १६४७ में देश स्वाधीन हुआ।

१८७८ से देशके स्वाधीन होने तक की महाराष्ट्रकी समाज-सुधार सम्बन्धी प्रवृत्तियो का सरसरी तौरपर सिहावलोकन करनेका प्रयत्न यहाँ किया गया है। देशको आजाद हुए अब ६ साल बीत चुके हैं। राजनीतिक क्राति पूरी होनेपर भी सामाजिक तथा आर्थिक क्राति हुए बिना स्वाधीनता अधूरी ही समझी जाएगी। इसीलिए तो अब समाजवादी-समाजकी स्थापना करने की कोशिश शुरु हुई है। विदेशी शासनको समाजके आन्तरिक व्यवहारमें हस्तक्षेप करनेका मौका न मिले इसी कारण कानूनसे समाज-सुधार करनेका विरोध किया गया था। अब जनताका शासन हो जानेसे समाज-सुधारके हेतु बनाये जानेवाले कानूनोका स्वागत किया जाता है। अस्पृश्यता-निवारण और मद्य-निषेधका उल्लेख सविधानमें कर दिया गया है। हिन्दू-

कोड जैसे विधेयकों द्वारा महिलाओंको समान अधिकार देनेका सफल प्रयत्न किया गया है। बम्बई राज्यमें कानूनसे शराब तथा बहुपत्नी विवाहपर प्रतिबंध लगाया गया है। सारांश यह है कि समाज-सुधारका प्रयत्न अब सुधारकोंके द्वारा ही नही, शासनके द्वारा भी किया जा रहा है।

फिर भी यह कहना आवश्यक है कि आज भी समाज-सुधारकोंके प्रयत्नकी वैसी ही परम आवश्यकता है। आजादीके बाद महाराष्ट्रकी सामाजिक स्थितिका विचार करने पर क्या दीख पडता है? समाज-सुधारका विचार करते समय प्रधानतया जाति-संस्था, विवाह-संस्था तथा कुटुम्ब सस्थाका विचार करना पडता है। जाति निर्मूलन का गुप्त या प्रकट प्रयत्न हुआ किन्तु आज भी समाज जाति बंधनोंमें पूर्ववत् जकडा हुआ है। लगभग ३०० ज़ातियाँ महाराष्ट्रमें मौजूद है। विवाह-संस्थामे भी कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। कई वर्षोसे "रजिस्टर्ड" विवाह करनेकी सुविधा होनेपर भी परम्परागत संस्कारयुक्त विवाह ही होते है। विवाहके सबधमें व्यक्तिगत रूपसे पूर्ण स्वतत्रता है जिससे कुछ अतप्रांतीय तथा अंतर्जातीय विवाह हुए है, किन्तु उनके पीछे समाज-सुधारकी जैसी चाहिए वैसी भावना नही है। सुशिक्षित समझे जानेवाले ब्राह्मण-वर्ग में भी विवाहकी बात करते समय उप जातिका विशेष ख्याल किया जाता है। बहुजन समाजमें भी वही बात है। छूआछूत सार्वजनिक रूपसे बहुत कम हो गई है यहाँ तक कि पूनामें जूतोका व्यापार ब्राह्मण करने लग गये है। फिर भी घरोंमें परपरागत सस्कार कायम है। कानूनसे अस्पृश्यता नष्ट हो चुकी है किन्तु प्रत्यक्ष रूपमें वह आज भी विद्यमान है। विधवा-विवाहको सहूलियत होनेपर भी विधवा-विवाह मंडल द्वारा हुए विवाहों की संख्या उल्लेखनीय नही है। बाल-विवाह बद हो चुका है। किन्तु अब नई समस्या प्रौढ-विवाहकी पैदा हो चुकी है। युवावस्थामें ठीक समयपर विवाह न होनेसे अनेक समस्याएँ समाजके सामने उपस्थित हो गई है। बाल-विवाह बन्द हो जानेसे विधवाओ की संख्या बढनी रुक गई है। किन्तु प्रौढ विवाहोंसे अब परित्याक्ताओंकी नई समस्या पैदा हो गई है। कुटुम्ब-पद्धतिमें भी काफी अतर पैदा हो गया है। व्यक्तिगत स्वा-तंत्र्यके इस जमानेमें विभक्त परिवारोकी सख्या बढती ही जाती है जिससे समाज-सगठनमें एक प्रकारसे शिथिलता पैदा हो रही ह।

तर्कतीर्थ श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशीने कहा है कि महाराष्ट्रके सुशिक्षितोके बीच जीवन की विशेषता यह है कि उनके विचार और व्यावहारिक जीवनमें विसंगति दिखाई देती है। महाराष्ट्रके सुशिक्षित आदमी के विचार बुद्धिवादी, व्यापक तथा मूर्त्तिभजक और क्राति-कारी होते हैं, नए सुधार तथा विज्ञानका स्वागत करनेके लिए वह लालायित रहता है किन्तु उसका व्यावहारिक जीवन परम्परागत रूढियोंमें ही घूमता रहता है। विचार और वर्त्ताव में मेल नही है। मस्तक हस्तकके रूपमें काम नही करता। विचारोंसे प्रकट होनेवाली भावनाको कार्यमें परिणत करनेवाली सामाजिक स्थिति उपलब्ध नही है। इसीलिए सामाजिक स्थितिमें सुधारके लिए प्रयत्न करनेवाली सामाजिक सस्था की महाराष्ट्रमें आज विशेष आवश्यकता है।

महाराष्ट्रके ख्यातनामा अर्थशास्त्री प्राचार्य धनंजयराव जी गाडगिलके अनुसार हमारी सामाजिक स्थिति ही भारतकी प्रगतिमें बाधक हो रही है। मराठा, महार

(अस्पृश्य जाति) और ब्राह्मण ये ही महाराष्ट्रके प्रमुख तीन घटक है। उनमें परस्पर स्नेहपूर्ण, सहृदय सम्बन्ध कायम हुए विना महाराष्ट्रकी प्रगति असम्भव है। किन्तु महाराष्ट्रके हरिजनोंके नेता स्वर्गीय श्री भीमराव अम्बेदकरने बौद्ध धर्म स्वीकार करने की नई प्रणाली चला दी है। बौद्ध धर्म स्वीकार करके भी हिन्दू-धर्मसे पृथक् नही हुआ जा सकता क्योकि बौद्ध धर्म भी हिन्दू धर्मका ही एक अग है। पहले भी अनेक हरिजनोने ईसाई तथा मुस्लिम धर्मोको स्वीकार किया किन्तु वहाँ भी उन्हें सतोप नही मिला क्योकि धर्मान्तरके बाद भी उनमें जातिभेद ज्योका त्यो रह गया। इसीलिए तो सामाजिक सुधारकी आज भी आवश्यकता है। जडको सुधारे विना शाखाओ और पत्तियोको सुधारना कुछ भी अर्थ नही रखता।

— oo —

श्री विश्वम्भरप्रसाद वर्म्मा

मध्य-प्रदेशमें समाज-सुधार

नवीन प्रदेशका निर्माण होनेसे पहले यह प्रदेश मुख्यत. तीन भागोमें विभक्त था। एक वरार, दूसरा मराठी-भापी नागपुर और तीसरा हिन्दी भापी। सरकारी काम-काजके लिए केवल दो भाग थे। एक वरार और दूसरा सेंट्रल प्रोविन्सेज। अब वरार तथा विदर्भको उससे अलग करके वम्वई राज्यमें मिला दिया गया है। महाकोगल को मध्य भारत, भोपाल और विंध्य से मिलाकर नए मध्य प्रदेश का निर्माण किया गया है।

सामाजिक एवं राजनीतिक प्रगतिका वरार तथा नागपुरका इतिहास महाराष्ट्रके इतिहासके साथ जुडा हुआ है। यहाँके नेता, कार्यकर्ता, समाचारपत्र तथा सार्वजनिक संस्थाएँ सबकी सब पूनासे स्फूर्त्ति, चेतना एव प्रेरणा प्राप्त करती थी। अमरावती के दादा साहव खापर्डे, यवतमालके श्री माधव श्रीहरि अणे और नागपुरके डाक्टर मुजे आदि पूनासे ही प्रेरणा प्राप्त किया करते थे। इसलिए वरार अथवा विदर्भकी समाज-सुधार सम्वन्धी प्रवृत्तियोका इतिहास महाराष्ट्रके इतिहाससे भिन्न अथवा स्वतत्र नही हैं। सम्भवत यही कारण हैं कि इस प्रदेशमें ज्योतिर्वा फूले, गोपालराव आगरकर, न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द रानाडे तथा महर्षि अण्णा साहव कर्वे सरीखा कोई पहली श्रेणीका तेजस्वी समाज-सुधारक नेता पैदा नही हुआ। जो हुए वे सब पूनाके नेताओंके पद-चिन्होपर चलनेमें ही अपनेको कृतार्थ समझते रहे। शिक्षित उच्च वर्णीय ब्राह्मण समाजमें लोक-मान्यकी विचारधारा वहुत तेजीसे फैल गई और वही पूरी तरह राजनीतिमें रँग गई। समाज-सुधारके कार्यकी ओरसे उसका ध्यान प्राय हट गया। हरिजनोमें सत्यशोधक समाजका फैलाव कुछ अवश्य हुआ और डा० भीमराव अम्बेदकरका भी काफी प्रभाव रहा। ब्राह्मणेतर आन्दोलन ने मराठा समाजमें गहरी जड़ें जमाई थी और वह पूनाके ब्राह्मणेतर आन्दोलनके समानान्तर चलता रहा। १९२० में यहाँ भी ब्राह्मणेतर दलने चुनाव लड़कर राजनीतिक सत्ता हस्तगत की परन्तु वादमें ब्राह्मणेतर नेता गांधीजीके आन्दोलनसे प्रभावित होकर सामूहिक रूपमें कांग्रेसमें सम्मिलित हो गए। इसका एक कारण यह भी था कि वरारके महा राष्ट्रीय ब्राह्मण नेता गाधीजीके विरोधी थे और वे उनपर तरह-तरहके आक्रमण सदा ही करते थे। उनके इस विरोधके कारण ब्राह्मणेतर समाज और उसके नेता गाधीजीके साथ होकर काग्रेसमें सम्मिलित हो गए। प्रार्थना-समाजका कोई विशेष प्रभाव इस प्रदेशपर नही पड़ा। उसकी अपेक्षा आर्यसमाजका प्रभाव कुछ अधिक पड़ा और प्राय. सभी वड़े शहरोमें आर्य-समाजकी स्थापना हुई।

सार्वजनिक गणपति-उत्सव और शिवाजी-उत्सवकी परिपाटी भी विशाल और व्यापक रूपसे अपनाई गई। सार्वजनिक गणपति-उत्सवके अवसरपर सामाजिक विषयोकी चर्चा भी विशेष रूपसे की जाती थी। १९२० के बाद गाँधीजीके समाज-सुधार आन्दोलन का इस प्रदेशपर विशेष प्रभाव पड़ा। हरिजन-आन्दोलन उग्र रूपमें हुआ। गाधीजी के साबरमतीसे वर्धा आ जानेका भी विशेष प्रभाव पडा और वर्धाका सत्याग्रह आश्रम न केवल गाधीजीकी राजनीतिक किन्तु रचनात्मक प्रवृत्तियो और सर्वोदयी (समतावादी) विचारधाराका भी प्रेरणादायक और स्फूर्तिप्रद केन्द्र बन गया। सामाजिक क्षेत्रपर उसका विशेष प्रभाव पडा।

विदर्भ, महाकोसल तथा मध्य भारतमें भी राजस्थानी लोग अत्यधिक सख्यामें रहते है। सच तो यह है कि पिछले पचास वर्षोका इस प्रदेशका समाज-सुधारका आन्दोलन मुख्यत इन प्रवासी राजस्थानियोसे ही सम्बन्ध रखता है। उनकी अनेक अखिल भारतीय समाज सुधारक सस्थाओका प्रादुर्भाव अथवा जन्म इसी प्रदेशमें हुआ। जैसे कभी भारतके राजनीतिक क्षेत्रमें लाल, पाल, बालकी त्रिमूर्तिका बोलबाला था वैसे ही १९२० के समाज-सुधार आन्दोलनके मुख्य नेता, बजाज, बियाणी, मालपाणी थे। इस त्रिमूर्तिका प्रभाव न केवल इस प्रदेशके राजस्थानी समाजपर, अपितु बम्बई, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिणपर भी पडा और यहाँ प्रादुर्भूत समाज-सुधार-सस्थाओने इनके विशिष्ट व्यक्तित्वके कारण सहजमें अखिल भारतीय स्वरूप एव प्रतिष्ठा प्राप्त करली। वैसे सामान्य राजस्थानी समाज अन्य समाजोंसे तुलनात्मक दृष्टिसे समाज-सुधारके क्षेत्रमें यहाँ भी वैसा ही पिछड़ा हुआ था जैसा कि देशके अन्य भागोमें। मराठी-भाषी महिलाओमें परदा-प्रथा उतनी कठोर नही है, जितनी कि राजस्थानी महिलाओमें थी। अशिक्षा भी उनमें विशेष थी। विवाह-सबधी अनेक कुरीतियाँ भी उनमें जड पकडे हुए थी। दहेज और औसर मौसरकी अत्यधिक प्रबलता थी। इन और ऐसी ही अनेक सामाजिक कुरीतियोके कारण दूसरोकी तुलनामें राजस्थानी समाजको बहुत नीचा देखना पडता था और बडी दीनता व हीनता अनुभव करनी पडती थी। उसकी शक्ति, साधनो तथा व्यापार-बुद्धि और औद्योगिक प्रतिभाका यथेच्छ लाभ सारे राष्ट्रको इसी कारण नही मिल सकता था। उसका प्रदेश के सार्वजनिक जीवनमें सामाजिक चेतना के अभावके कारण कोई स्थान अथवा महत्व नही था। उसपर पास पडोसका प्रभाव पडना स्वाभाविक था। अन्य समाजोकी प्रगतिशीलतासे राजस्थानी समाज भी प्रभावित हुआ और उसमें सामाजिक चेतना विकसित होनी शुरु हुई।

उसके फलस्वरूप १९०५ में माहेश्वरी महासभाकी स्थापना हुई। उनमें स्व० सेठ जमनालालजी बजाज भी उपस्थित थे जो तपोवन जाजूजीके शिक्षा-प्रचारमें योग दे रहे थे। शिक्षा-प्रचारका मुख्य केन्द्र वर्धा था परन्तु अर्थाभावके कारण उसकी प्रगति रुकी हुई थी। इस कोशमें उसी समय करीब १ लाख रुपएका चन्दा हुआ और इसमें सबसे बड़ी धनराशि ब्यावरके देशभक्त सेठ दामोदरदासजी राठीने प्रदान की थी। यही कोश आगे चलकर मारवाडी शिक्षा मण्डल वर्धाकी स्थापनाका निमित्त बना जिसके द्वारा अनेक स्थानो पर छात्रावास तथा विद्यालय स्थापित किए गए और उनमें अध्ययन करके अनेक होनहार मारवाड़ी नवयुवक निकले। आज यह सस्था इस प्रान्तमें अनेक कालिज

और स्कूलोका संचालन कर रही है। इसकी स्थापना पूनामें लोकमान्य तिलक और उनके साथियो द्वारा स्थापित डेक्कन एजुकेशन सोसाइटीके ढंगपर की गई थी। इसके कारण समस्त राजस्थानी समाजमें शिक्षा और अध्ययनकी एक विशेष लहर बडे वेगसे पैदा हो गई और अनेक नवयुवक शिक्षित होकर समाज-सुधारके क्षेत्रमें काम करने लग गए।

माहेश्वरी महा सभाका तीसरा अधिवेशन सेठ दामोदरदासजी राठीकी अध्यक्षतामें पालीमें होनेवाला था परन्तु उससे कुछ समय पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया। उनके स्थानपर रा० सा० करोड़ीमल जी मालू महासभाके अध्यक्ष चुने गए। महासभाका चतुर्थ अधिवेशन पुन विदर्भ (अकोला) में १६२१ में हुआ। इस अधिवेशनके अध्यक्ष जवलपुरके दीवान वहादुर सेठ वल्लभदासजी मालपाणी थे और इसपर महात्मागांधीके नेतृत्वमें प्रारम्भ हुए असहयोग आन्दोलनकी छाया स्पष्ट रूपमें दीख पडती थी। अनेक नवयुवक उससे अनुप्राणित होकर समाज-सुधारके क्षेत्रमें काम करनेके लिए आगे बढ़े थे। औसर मौसरकी कुप्रथाके विरुद्ध इसमे विशेष आवाज उठाई गई और उसको त्यागनेके प्रतिज्ञापत्रोंपर हस्ताक्षर करवाए गए। स्व० श्री आइदानजी मोहता स्वागताध्यक्ष थे। वे और उनका घराना पुरातनपथी माना जाता था। इस कारण उनका इसमें सम्मिलित होना और समाज-सुधारकी प्रवृत्तियोका उन द्वारा समर्थन किया जाना विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। श्री व्रिजलालजी वियाणी वकालतकी अन्तिम वर्ष की पढ़ाई असहयोग आन्दोलनके कारण छोडकर और श्री गोविन्ददासजी मालपाणी राजघरानेके से वैभवका परित्याग कर सामाजिक क्षेत्रमें आगे आए थे। उसका भी समाजपर विशेष प्रभाव पड़ा।

इस अधिवेशनमें माहेश्वरी महासभाको संगठित रूप मिला और इसी समय इसने अखिल भारतीय रूप धारण किया। महासभाकी नियमावलीको व्यवस्थित तथा विस्तृत वनाया गया। उक्त चारो अधिवेशनोके पीछे तपोधन जाजूजी की वलवती प्रेरणा काम कर रही थी और उन्हीके प्रोत्साहनसे अनेक युवक समाज सेवाके कार्यमें अग्रसर हुए थे। श्रद्धेय जाजूजी ही इस समय महासभाके सूत्रधार थे। उनके दो अन्य सहयोगी सेठ रामनारायणजी राठी और सेठ दामोदरदासजी राठी स्वर्गस्थ हो चुके थे। ये दोनो व्यक्ति मारवाडी समाजकी विभूति और सामाजिक जागरणके प्रवल स्तम्भ थे।

श्री रामनारायणजी राठीने नागपुरमें मारवाड़ी प्रेसकी स्थापना करके मारवाडी पत्रका प्रकाशन प्रारम्भ किया था। वह विशुद्ध रूपमे राष्ट्रीय पत्र था। समाजमें राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना पैदा करनेका उसने सराहनीय काम किया। वम्बईके "श्री वेंकटेश्वर समाचार पत्र" के वाद यह दूसरा पत्र था जिसका प्रकाशन उन दिनो मे एक मारवाड़ी सज्जनने प्रारम्भ किया था। हिन्दीके अनेक ख्यातनामा विद्वान इसके सम्पादक रहे। उनके भाई स्वर्गीय श्री शिवनारायणजी राठी सुप्रसिद्ध गो-सेवक थे। स्वर्गीय श्री सतीसदासजी मूँदड़ाने भी नागपुरसे "प्रणवीर" और "समाज सेवक" नामसे राष्ट्रीय और सामाजिक पत्रोका प्रकाशन स्व० श्री राधामोहन गोकुलजीके सम्पादकत्व में प्रारम्भ किया था। वे कट्टर समाज-सुधारक थे। कलकत्तेमें उन्होने समाज-सुधारके कारण अनेक यातनाएँ सहन की थी।

यद्यपि १९०५ में माहेश्वरी महासभाके नामसे माहेश्वरी समाजका प्रथम सम्मेलन अमरावतीमे हुआ परन्तु माहेश्वरी समाजमें सामाजिक जागरणका शखनाद सन् १८८८ में ही अजमेरमें "माहेश्वरी महासभा" के नामसे हो चुका था। स्व० रा० ब० श्यामसुन्दरलालजी लोईवाल, रा० सा० रामविलासजी शारदा और स्व० मथुरा प्रसादजी भट्टड आदि महानुभावोके प्रयत्नसे अजमेरमे "माहेश्वरी महत सभा" का जन्म हुआ और इस सस्थाने उत्तर भारतके माहेश्वरी समाजमें समाज-सुधारके आन्दोलनका सूत्रपात किया था। इस सस्थाको "माहेश्वरी सदर सभा हिन्द" भी कहा जाता था। आरम्भ में इस सस्थाके विराट अधिवेशन नही हुए परन्तु इसके द्वारा जगह-जगह प्रचार किया गया, पचायतें गठित की गई और स्थानिक परिस्थितिके अनुसार सामाजिक रीति-रिवाजो की मर्यादाएँ बाँधी गई। आगे चलकर वैश्य महासभाके साथ माहेश्वरी महत् सभाके विराट अधिवेशन हुए। सहारनपुरमे वैश्य महासभाके साथ सन् १८९४ में प्रथम माहेश्वरी महासभा कांफ्रेंस हुई। इसमें देशके अनेक स्थानोसे करीब १००–१५० माहेश्वरी सज्जन पधारे और अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए। बाल-विवाह-निषेध के बारेमें भी एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुआ जिसमे समाजसे अनुरोध किया गया कि "लडकीका विवाह कम से कम १४ और लडके का १८ वर्षकी उम्रके बाद किया जाय। यदि माता-पिता इससे बडी उम्रमें विवाह करें, तो सराहनीय हैं।" यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लडके-लडकियो के १८–१४ से कम आयुके विवाहोको गैर-कानूनी करार देनेवाला शारदा-कानून जिसको राजस्थानी समाज सुधारक श्री हरविलासजी शारदाने प्रस्तुत किया था १९२९ में पास किया गया था जब कि उससे ३५ वर्ष पूर्व सन् १८९४ में ही माहेश्वरी महत सभा इस आशयका प्रस्ताव पास कर चुकी थी। इससे प्रकटहै कि माहेश्वरी समाजके नेता आजसे ३५ वर्ष पूर्व समाज-सुधारके लिए कितने सजग और प्रयत्नशील थे।

स्व० रा० ब० श्यामसुन्दरलालजी लोईवाल पहले व्यक्ति है, जिन्होने राजस्थानी समाजमें सर्वप्रथम जन जागृतिका शखनाद किया। उन्हीकी प्रेरणासे सन् १८९२ में "माहेश्वरी पत्र" का प्रकाशन आरम्भ हुआ। माहेश्वरी महासभाके कार्यालयके साथ-साथ इसका प्रकाशन अलीगढ, कलकत्ता और बादमें १९३६ में बम्बईसे होता रहा। माहेश्वरी महत सभाकी अनेक स्थानोपर शाखाएँ स्थापित हुई और अलीगढ, हाथरस, मथुरा, देहली तथा अजमेरमे इसके अधिवेशन हुए। एक अधिवेशन इसका कलकत्ता में भी हुआ। बादमे यह सस्था शिथिल हो गई। कुछ वर्षोकी शिथिलताके बाद माहेश्वरी समाजमें पुन सामाजिक चेतना जागी। १९०५ में अमरावतीमें श्री जाजूजी व श्री रामनारायणजी राठीके सदुद्योगसे माहेश्वरी महासभाने जन्म लिया। "माहेश्वरी" पत्रका प्रकाशन भी इसी समय स्व० भागीरथदासजी मूधडाने अलीगढसे पुन आरम्भ किया था।

माहेश्वरी महत सभा और माहेश्वरी महासभाके सगठनोको एक करके अकोलामें अ० भा० माहेश्वरी महा सभाका चतुर्थ अधिवेशन १९२१ में किया गया, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उसके बाद कलकत्ता, इन्दौर और बम्बईमे महासभाके पचम, षष्ठ और सप्तम अधिवेशन हुए। इन्दौर महासभा तक समाजमें समाज-सुधारके

प्रश्नोंपर कोई खास मतभेद नही था और सारा समाज महासभाके मंचपर संगठित था। इन्दौरके वाद समाजमें कोलवार प्रकरण उठ खडा हुआ। कोलवार सज्जन अपनेको माहेश्वरी कहते थे। उनकी जाँचके लिए महासभाने एक कमीशन विठाया था। इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी थी और उसपर वम्वई महासभामें विचार होनेवाला था। इसी वीच वम्वई महासभाके स्वागताध्यक्ष श्री रामेश्वरदासजी विड़लाने कोलवारोंके यहाँ अपना विवाह कर लिया। इसपर समाजमे एक भीपण संघर्ष उठ खडा हुआ। वम्वई महासभामें इस प्रकरणको शांत करनेकी वहुत कोशिश की गई परन्तु विरोध वढ़ता ही गया। यद्यपि महासभाकी विपय निर्वाचिनी समितिने कोलवारोकी दोवारा जाँच करानेका प्रस्ताव पास कर दिया था परन्तु पंचायत पक्षके लोग इससे सतुप्ट न हुए। वे कोलवारोको माहेश्वरी माननेको तैयार न थे और उन्हें तत्काल गैर-माहेश्वरी घोपित करनेपर तुले हुए थे। यही नही वह विडलाजीका जाति-वहिप्कार करनेकी माँग कर रहे थे। इसी सघर्पमे महासभाका अधिवेशन स्थगित हो गया। पंचायत पक्षके लोगो ने वही अ० भा० डीडू माहेश्वरी महापचायतकी स्थापना कर डाली। नागपुरके वयो-वृद्ध सेठ शिवनारायणजी राठीको उसका अध्यक्ष चुना गया। कोलवारोको गैर-माहे-श्वरी घोपित करके उससे सम्वन्व रखनेवालोका जाति-वहिप्कार किया गया। दूसरे पक्षने अ० भा० माहेश्वरी युवक मण्डल स्थापित करके कोलवारोको शुद्ध डीडू माहेश्वरी घोपित किया। इस सघर्पने व्यापक रूप धारण किया। और कोलवारोसे संवंध करनेवालो तथा उनके सवधियोका भी सामाजिक वहिप्कार करके समाजमें सर्वत्र भीपण सामाजिक कलह उत्पन्न कर दिया।

यह संघर्प काफी समय तक चला परन्तु अन्तमें सुधार पक्षकी विजय हुई। १६२७ में पंढरपुरमें महासभाने वयोवृद्ध सेठ रामगोपालजी मोहता, वीकानेर, की अध्यक्षता में कोलवारोंको माहेश्वरी घोपित कर दिया और सामाजिक वहिप्कारकी प्रथाका हमेशा के लिए अन्त हो गया। इसके परिणामस्वरूप न केवल कोलवारो वल्कि गुजराती एवं अन्य माहेश्वरी सज्जनोके साथ भी सामाजिक सम्वन्व खुल गए। इस संघर्पसे जहाँ सामाजिक संगठनकी थोड़ी क्षति हुई वहाँ समाज-सुधारकी दृष्टिसे माहेश्वरी समाज वहुत आगे वढ गया। विलायत-यात्रा, विधवा-विवाह, अस्पृश्यता-निवारण, ओसर-मौसर त्याग, दहेज और परदा-प्रथा-वहिप्कारके संवंधमें प्रस्ताव स्वीकृत हुए। पंढर-पुरके वाद महासभाके दो अधिवेशन लगातार विदर्भमें वामनगाँव और देवलगाँवमें हुए। इसके वाद महासभाके अधिवेशन अजमेर, कानपुर, सूरत और ग्वालियरमें होते रहे। ग्वालियरमें श्री दामोदरदासजी नागोरीकी अध्यक्षतामें उसका स्वर्णजयन्ती महोत्सव मनाया गया।

माहेश्वरी महासभाने अपना दृष्टिकोण सदा राप्ट्रीय रखनेका प्रयत्न किया और कांग्रेसकी रीति-नीति तथा महात्मा गांधीजीके नेतृत्वमें अखंड निप्ठा रखी। इसका कारण माहेश्वरी महासभाके नेताओंका राप्ट्रीय आन्दोलन में प्रमुख भाग लेना था। तपोधन जाजूजी, श्री व्रिजलाल वियाणी और सेठ गोविन्ददासजी हमारे राप्ट्रीय आन्दोलनके सम्मानित सूत्रधार रहे और यही महानुभाव महासभाके भी सूत्रधार थे। वा० गोविन्ददासजीने अजमेरमें महासभाका अध्यक्ष स्थान ग्रहण किया। श्री वियाणीजी

देवलगांव महासभाके अध्यक्ष थे। इन महानुभावोके पथ-प्रदर्शनके कारण समाजके अनेक नवयुवक राष्ट्रीय आन्दोलनमें आगे आये और उसके लिए उत्सर्ग किया।

माहेश्वरी महासभाकी इस बहुँमुखी सफलताका एक बडा कारण यह भी था कि उसने धनकी पूजा नही की। यद्यपि कुछ करोड़पति भी माहेश्वरी महासभाके अध्यक्ष हुए परन्तु इसका नेतृत्व सदा उन्ही महानुभावोंके हाथोंमें रहा जो राष्ट्र तथा समाजकी सेवामें तप चुके हैं। माहेश्वरी महासभाने न केवल माहेश्वरी समाजमें जीवन और जागृतिका सचार किया वल्कि इतर समाजोमें भी समाज सुधारकी भावना जाग्रत की और इसके लिए सदा उसका स्मरण किया जायेगा।

माहेश्वरी समाजकी जन-जागृतिका प्रभाव प्रदेशके अन्य राजस्थानी समाजोपर पडा। अग्रवाल, ओसवाल, खडेलवाल और ब्राह्मण- समाजोमे भी सामाजिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। अग्रवाल महासभाकी जन्मभूमि भी यही प्रदेश है। १९१८ मे स्व० सेठ जमनालालजी बजाजके शुभ प्रयत्नोसे वर्धामें अ० भा० मारवाडी अग्रवाल महासभाकी स्थापना हुई और इसका प्रथम अधिवेशन श्रीमान सेठ खेमराज श्री कृष्णदास वम्बईकी अध्यक्षतामें सपन्न हुआ। १९२१ में दूसरा महत्वपूर्ण अधिवेशन इन्दौरमें अमलनेरके श्रीमान प्रतापजी सेठकी अध्यक्षतामें हुआ जिससे मध्यभारतके अग्रवाल समाजमें विशेष जागृति पैदा हुई। छठा अधिवेशन १९२६ में श्री सेठ जमनालालजी वजाजकी अध्यक्षतामें दिल्लीमें हुआ। १९२८ मे अजमेरमें वम्बईके राजा गोविन्दलाल शिवलालजी पित्तीकी अध्यक्षतामें विशेष अधिवेशन हुआ। अग्रवाल महासभा भी सदा राष्ट्रीयताकी समर्थक रही और इसके द्वितीय अधिवेशन वम्बईमें महात्मा गाधीको राष्ट्र भाषा हिन्दीके प्रचारार्थ ५० हजार रुपयेकी थैली भेंट की गई।

माहेश्वरी समाजमें कोलवार माहेश्वरियोके साथ विवाह-सम्वन्धको लेकर जो सामाजिक सघर्ष हुआ था उससे अग्रवाल समाज भी बच नही सका। अग्रवाल-समाजमे इस सघर्षका सूत्रपात कलकत्तामे विधवा-विवाहको लेकर किया गया था। स्वर्गीय श्री पद्मराजजी जैन, श्री वसतलालजी मुरारका और विश्वमित्र-सचालक श्री मूलचन्द्र जी अग्रवाल विधवा-विवाहके अन्यतम समर्थक थे। उनके सहित १२ सज्जनोको अग्रवाल महापचायतने जाति वहिष्कृत किया था, परन्तु ये महानुभाव विधवा-विवाहके सक्रिय आन्दोलनमें लगे रहे और कुछ विधवा-विवाह भी सम्पन्न किए गए। जिनमें झरियाके श्री नागरमल ल्हीलाका विवाह उल्लेखनीय था। अग्रवाल-पचायतकी स्थापना डीडू माहेश्वरी महापचायतके ढगपर की गई थी और उसीके पद-चिन्होपर उसका सचालन किया गया था। कुछ समय तक कलकत्तामे भयानक सघर्ष मचा रहा था। परन्तु अतमें सुधारकोकी दृढता काम आई। मारवाडी-अग्रवाल-महासभापर इन सघर्षका अत्यन्त विपरीत असर पडा और उसका सगठन एव कार्य बहुत शिथिल पड गया। आठ वर्ष वाद १९३६ में सेठ रामकृष्णजी डालमियाकी अध्यक्षतामे कलकत्तामें उसका अधिवेशन सम्भव हो सका। इसमें एक बडा कदम यह उठाया गया कि महासभाकी नियमावली और नाममें संशोधन करके मारवाडी और देसवालीका भेदभाव मिटा दिया गया और उसके द्वार अग्रवाल मात्रके लिए खोल दिए गए। राजस्थानके अतिरिक्त पजाब, दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश आदिमें रहनेवाले अग्रवालोको मारवाडी नहीं माना जाता था

और वे प्रायः महासभासे उदासीन थे। महासभामें "अग्रवाल महासभा" के नाममें नई चेतनाका संचार किया गया। १९३७ में स्वर्गीय श्री मूलचन्द्रजी अग्रवालकी अध्यक्षतामें जबलपुरमें अधिवेशनका आयोजन किया गया और उनको सभापति मनोनीत करके यह स्पष्ट कर दिया गया कि महासभाके क्षेत्रमें अग्रवाल-संबंधी भेद-भाव मिटा दिया गया।

देहलीके मित्रोंके प्रयत्नसे १९४८ और १९५० में इसके अधिवेशन देहली तथा अग्रोहा में हुए, परन्तु संगठनमें पहले-जैसी व्यापकता और तेजस्विता न आई। फिर १९५३ में महासभाका अधिवेशन नागपुरमें श्री ईश्वरदासजी जालानकी अध्यक्षतामें किया गया। इस अवसरपर अ० भा० अग्रवाल युवक सम्मेलन भी हुआ और इसका अध्यक्ष-स्थान श्री वसंतलालजी मुरारकाने, ग्रहण किया। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण द्वारा नवयुवको को द्रुतगतिसे सामाजिक क्रांतिकी ओर अग्रसर होनेकी प्रेरणा दी।

मध्य-प्रदेश राजस्थानी-समाज-सुधारकी दृष्टिसे बहुत आगे रहा है। कलकत्ते के बाद सबसे अधिक बिना परदेके विवाह इसी प्रान्तके राजस्थानी समाजमें हुए हैं और दहेज आदि कुप्रथाओंका बहिष्कार किया गया है। श्री बियाणीजी के नेतृत्वमें १९२० में जिस मारवाड़ी-सेवा-संघकी स्थापना नागपुरमें काग्रेसके अधिवेशनके अवसरपर हुई थी वह भी उल्लेखनीय है। इस संस्थाने अनेक वर्षों तक सामाजिक क्रांतिका शंखनाद किया और मृतक भोजोंको बंद करनेके लिए पिकेटिंग किये। अग्रवाल और माहेश्वरियोंके पारस्परिक सम्बन्ध खोलनेमें सबसे पहले अगवानी इसी प्रान्तने की और इस दिशामें तपोवन जाजूजीने अपनी सुपुत्रीका विवाह सेठ जमनालालकी बजाजके भतीजे श्री राधाकृष्ण बजाजके साथ करके आदर्श प्रस्थापित किया।

महासभाकी ओरसे "अग्रवाल" नामसे एक मासिक पत्र प्रकाशित किया जाता था, जो समाज-सुधारकी उग्र भावना एवं विचारोंसे ओत-प्रोत रहता था। एक लम्बे समय तक स्वर्गीय श्री पद्मराजजी जैन, श्री तुलसीदासजी सरावगी तथा श्री राधाकृष्ण जी नेवटिया उसका सम्पादन करते थे। विधवाविवाहके संघर्षसे छुट्टी पाकर महासभा की ओर से परदा निवारण आंदोलन हाथमें लिया गया। श्री पद्मराजजी जैन, श्री वसंतलालजी मुरारका और श्रीमती रमादेवी मुरारकाके एक शिष्ट मण्डलने बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बरार और उड़ीसा आदिका व्यापक दौरा किया।

माहेश्वरी और अग्रवाल महासभाओंकी तरह गोंदियामें मारवाड़ी ब्राह्मण महासभा के अधिवेशनका आयोजन विशेष धूमधामसे किया गया और ओसवाल समाजके भी कुछ सम्मेलन प्रमुख स्थानोंमें हुए। वर्धामें श्री ऋषभदासजी रांकाकी अध्यक्षतामें स्थापित जैन महामण्डलने भी समाज-सुधारके क्षेत्रमें उल्लेखनीय काम किया।

इन महासभाओं द्वारा पैदा की गई सामाजिक चेतनाका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राजस्थानी जनतामें विभिन्न समाजोंकी भावनाका अंत होकर राजस्थानी अथवा मारवाड़ीके नाते सामूहिक चेतनाका सचार हुआ। भिन्न-भिन्न समाजोंकी महासभाओं का स्थान अखिल समाजकी संस्थाने ले लिया। पहले मारवाड़ी कार्यकर्त्ता सम्मेलन के नामसे और बादमें मारवाड़ी सम्मेलनके नामसे ऐसे सगठन स्थापित किए गए जिनका

स्वरूप और कार्यक्षेत्र सारा राजस्थानी समाज बन गया। इस व्यापक भावनाके सम्मुख भिन्न-भिन्न समाजोकी महासभाओ सरीखी सस्थाएँ कायम न रह सकी, फिर भी वे सस्थाएँ सामाजिक चेतना पैदा करके जो काम कर गई वह अपना ही महत्व रखता है। निस्सदेह मध्यप्रदेशको उसका अधिकाश श्रेय प्राप्त है।

मध्य प्रदेशका एक बडा भाग विध्य, छत्तीसगढ, भोपाल और मध्यभारतके रूपमे देशी नरेशोके आधीन रहा। जहाँ-तहाँ समाज-सुधार संबंधी कुछ थोडा-सा काम हुआ पर वह अँगरेजी राजमें बनाए गए समाज-सुधार सबधी कानूनोको लागू करने तक ही सीमित रहा, परन्तु उनका पालन भी पूरी सचाई, ईमानदारी और दृढताके साथ नही किया गया। बड़ौदा और कोल्हापुर सरीखे समाज-सुधारक और प्रगतिशील किसी राज्य का नाम मध्यप्रदेशमें नही लिया जा सकता। लेकिन मध्यप्रदेशके देशी राज्योकी जनता राज्यके अन्य भागोमें पैदा होनेवाली सामाजिक-चेतनासे अवश्य ही अनुप्राणित होती रही। इन्दौरमे अग्रवाल महासभा तथा माहेश्वरी महासभा और ग्वालियरमें माहेश्वरी महासभाके अधिवेशनका आयोजन इसीका सूचक है। इस महाप्रदेशमें महाराष्ट्रीय जनताकी विशेष सख्या है। मध्य भारतके ग्वालियर, इन्दौर, धार और दोनो देवास मराठी राज्य थे। इन राज्योकी जनता महाराष्ट्रमे पैदा हुई सामाजिक जागृतिमे निरतर प्रभावित होती रही और अनेक महाराष्ट्रीय प्रवृत्तियोमें इन राज्योंके राजाओ ने भी प्रमुख भाग लिया। शिक्षा सबधी कार्योमें उन्होने मुक्त हस्त से आर्थिक सहयोग भी प्रदान किया। शैक्षणिक, साहित्यिक एव सास्कृतिक प्रवृत्तियोंसे भी इन राज्योकी जनतामें सामाजिक चेतनाका सचार हुआ। उनमें ग्वालियर, इदौर तथा देवास का मुख्य स्थान था।

इस प्रकार मध्यप्रदेशको न केवल वर्धाके महात्मा गाधीके सत्याग्रह आश्रमके कारण देशके सामाजिक एव राजनीतिक जीवनमें विशेष महत्व प्राप्त हुआ, अपितु उसकी अपनी भी सामाजिक एव राजनीतिक चेतना, जागृति एव प्रगतिकी पुरानी परम्परा रही, जिसके लिए वह यथेच्छ गर्व अनुभव कर सकता है।

—०—

श्री गट्टुभाई धू

प्रार्थना-समाज

भारतके अन्यान्य प्रदेशोंकी अपेक्षा गुजरातमें जाति-उपजातिकी वाडेवदी वहुत अधिक रही है। पजाव, राजस्थान और उत्तरप्रदेशमें घूँघट निकालनेका जितना रिवाज था, उतना तो गुजरातमें नही था, परन्तु दक्षिणकी अपेक्षा यह रिवाज भी कही अधिक था। गमीके मौकोपर आम सडको, गलियो और मोहल्लोमे छाती पीटनेका रिवाज जितना गुजरातमें था, उतना भारतके किसी दूसरे प्रदेशमें न था। मरनेके वाद वारहवी, वरसी वगैरह करने—जीमनवार और उसपर भारी खर्च करनेका रिवाज यहाँ जितना था, उतना अन्यत्र कही नही था। वाल-विवाह, विधवा-विवाहका प्रतिवन्ध, विदेश-यात्राके कारण जाति-वहिष्कार, एक पत्नीके होते दूसरा विवाह, कन्या-विक्रय, वय-विक्रय, अनमेल-विवाह और वहिन-भाईका आटा-साँटा—ये सारे रिवाज लगभग भारतवर्षके सभी प्रान्तोमें प्रचलित थे। थोड़े दिनोसे शहरोमें मे ये उठ गये हैं। परन्तु गाँवोमें अल्पाधिक रूपमें यह अभी भी चालू है, हालाँकि इनमेंसे कुछ रिवाजोपर प्रतिवन्ध लगाने के लिए कानून भी वन गये हैं।

इन सव सामाजिक रिवाजोका एक जमानेमें वहुत जोर था। अग्रेज अध्यापकोमे शिक्षा प्राप्त और मिल, स्पेन्सर जैसे निरीश्वरवादियो और अज्ञेयवादियोकी पुस्तकोके अध्ययनसे प्रभावित गुजरातके नवशिक्षित वर्गमें वहुतसे युवक नास्तिकता निरीश्वरवाद की तरफ ढलते जा रहे थे; कुछ युवक स्वच्छद और दुर्व्यसनी भी वन रहे थे, कुछेक इन सवके प्रत्याघातके फलस्वरूप जड और वहमी होकर मूर्त्ति-पूजा जैसे प्राचीन रिवाजो और रूढियोको अर्थहीन और केवल वहम वढानेवाली मानते हुए भी उनके प्राचीन होने के कारण ही दुराग्रहसे पकडे हुए थे; पर धर्मके प्रति सहिष्णुताका वडा अभाव था, प्राचीन आध्यात्मवाद, उपनिपदो तथा भक्ति-मार्गके ग्रंथोका अध्ययन वहुत थोड़ा रह गया था, शाक्त मार्गके अधम और अनीतिमय अगोका भी समाजके कतिपय भागोमें प्रवेश हो गया था; वल्लभीय सम्प्रदायके कतिपय मन्दिरोंके गोस्वामी महाराजोमें से कुछ लोग धर्म के नामपर दुराचार-लीलामें फँस गये थे—इस प्रकारके विपम संयोगोमें अहमदावादमें प्रार्थना-समाजकी स्थापना हुई थी। वगालमें व्राह्म-समाजकी स्थापना इस समयसे लगभग ४५ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। वगालमें व्राह्म-समाजकी और वम्वईमें प्रार्थना-समाजकी स्थापनाका असर अहमदावादके प्रार्थना-समाजपर हुआ माना जा सकता है। परन्तु जहाँ वगालमें और कुछ अंशोमें वम्वईमें भी ईसाई-पादरियोंके सहवास और उपदेश

से कुछ नवशिक्षित युवक ईसाई-धर्म अंगीकार करनेकी दिशामे भी प्रेरित हुए थे। गुजरातमें वैसा भय नही था।

अहमदावादमें प्रार्थना-समाजके सस्थापकोमें युवक नही थे। ४० वर्षमे ऊपर की उम्रके प्रौढ विचारवान, धीर-गंभीर, धर्मपरायण, सदाचारी, नीतिवान, सुशिक्षित और सस्कारी वर्गके लोग थे। स्वर्गीय डा० रा० व० भोलानाथ सारा भाई, रा० सा० महीपतराम रूपराम और रा० व० रणछोडलाल, इन तीनो मित्रोने मिलकर सन् १९७२ में प्रार्थना-समाजकी स्थापना की थी।

इस समाजकी स्थापना एक खास घटनाको लेकर हुई थी। सन् १८७१मे महारानी विक्टोरियाके ज्येष्ठ पुत्र प्रिंस ऑफ वेल्स, जो वादमें सप्तम एडवर्डके नामसे सम्राट हुए, वे अत्यन्त वीमार हो गये। राज्यके अधिकारियो और स्थानीय अफसरोकी ओरसे प्रिंस ऑफ वेल्सके आरोग्य-लाभके लिए प्रार्थना करनेकी अपील की गई। उक्त तीनो मित्रोने मिलकर विचार किया कि इस अवसरपर ऐसी प्रार्थनाकी व्यवस्था हो सके तो वहुत अच्छा हो जो समस्त जातियो और कौमोके लोगोको अनुकूल पडे और जिसमे किसीके धर्म-सिद्धात और मान्यतामे वाधा न आवे और जिसको सव साथ मिलकर समूह रूपमें कर सकें। इस प्रकारकी व्यवस्था की गई और प्रेमचन्द प्राथमिक ट्रेनिंग कालेज के मैदानमें सव जातियोके लोगोने प्रार्थना की। गुजरातमें सामूहिक प्रार्थनाका यह सर्वप्रथम आयोजन था।

इस प्रार्थनाका समारोह हो चुकनेके वाद तीनो मित्रोने यह विचार स्थिर किया कि सामूहिक प्रार्थनाका क्रम प्रति सप्ताह चलता रहे और उसमें सव जातियोंके स्त्री-पुरुष भाग ले सकें, इसलिए एक सस्थाकी स्थापना की जाये। इस विचारको सक्रिय रूप मिला और ता० १७ सितम्बर सन् १८७१ में प्रार्थन-समाजकी स्थापना हुई। वादमें ३ मई सन् १८७६ को प्रार्थना-समाज अपने वर्तमान मन्दिरमें शुरू हुआ।

प्रार्थना-समाजके सिद्धान्त मुख्यतया उपनिपदोमें उल्लिखित धर्म और तत्व-ज्ञानके सिद्धान्तोके अनुसार वनाये गये। अमूर्त, निराकार, अव्यय, अविकारी—ऐसे परमेश्वर की मानसिक उपासना करना इस समाजका उद्देश्य था।

प्रार्थना-समाज थोडे ही दिनोमें सारे गुजरातमें एक लोकप्रिय सस्था वन गई। उस समयके अनेक उच्च शिक्षित विशिष्ट व्यक्ति समाजके सदस्य वने और वहाँ जाकर व्याख्यान भी दिए। जो सदस्य नौकरी-धधे करनेके लिए अहमदावादके वाहर गये, उन्होंने उन-उन स्थानोमें प्रार्थना समाजकी नाना रूपोमें स्थापना की। इस तरह वडोदा, पेटलवाद, कपडवज, भडौच, सूरत, खेडा, आदि स्थानोमें भी प्रार्थना-समाज स्थापित हो गया।

धर्मके विषयमें उदार तथा विशाल दृष्टि होनेके परिणामस्वरूप सामाजिक विचारो और रूढियोके विपयमे भी सकुचित और अर्थहीन प्राचीन प्रणालीका अनुसार चालू आचार विचारकी जगह स्वभावत ही विशाल दृष्टि, न्याय-वृत्ति, समताकी भावना, उदार मनोवृत्ति उत्पन्न हो गई।

अतएव अहमदावादमें एव गुजरातमें हिन्दुओमे प्रचलित रूढियो, अन्यायपूर्ण आचरण, समानताके अभाव, रूढिके या दासत्व आदिको खत्म करनेका महान् कार्य भी प्रार्थना-समाजके सदस्योने ही किया था। प्रार्थना-समाज वैसे तो मात्र धार्मिक सस्था ही थी

परन्तु उदार धर्म-भावनाके परिणामस्वरूप सामाजिक-सुधारकी प्रेरणा भी स्वभावतः ही उसमेंसे उत्पन्न हो गई।

सामाजिक कुप्रथाओंको दूर करनेके लिए बाल-विवाह प्रतिबन्धक सभा, अनमेल और वृद्ध-विवाह रोकनेके लिए व्यवस्था विधवा-विवाहको प्रोत्साहन देनेवाली संस्था, मद्य-निषेधकी सभा, स्त्री-शिक्षाका प्रचार करनेवाली संस्था, मृत्युके बाद की क्रियाओं में जीमनवार करनेके रिवाजको बन्द करनेवाली सस्था, विदेश-यात्राको प्रोत्साहन देने वाला मण्डल, विवाह तथा दूसरे मागलिक अवसरो पर वेश्या-नृत्यकी प्रथाके विरुद्ध जात-पाँतकी सकुचित वाडावदीको तोड़नेकी प्रवृत्ति, वगैरह अनेक प्रकारकी सामाजिक सुधारकी सस्थाएँ प्रार्थना-समाजके सदस्योंने अहमदाबादमें शुरु की। इन विभिन्न सस्थाओंको मिलाकर बादमें 'गुजरात-ससार-सुधार-समाज' नामकी संस्था स्थापित करने वाले भी प्रार्थना-समाजके सदस्य ही थे।

इन धर्मनिष्ठ और सामाजिक कल्याणका कार्य शुरू करनेवाले प्रार्थना-समाजके विशिष्ट सदस्योंके कार्योंका प्रभाव जन साधारणपर काफी पडा। गुजरातमें सामाजिक सुधारके क्षेत्रमें जो-कुछ हुआ है, उसको शुरू करनेका श्रेय प्रार्थना-समाजके मूल स्थापको और उनके परवर्ती अनुयायियोंको है।

वर्तमान समयमें सामाजिक सुधार और धार्मिक-सुधार दोनो अलग-अलग प्रवृत्तियाँ हो गई है। सामाजिक सुधारके कार्य करनेवाले—जीवनमें इन सुधारोंको क्रियान्वित करनेवाले स्त्री-पुरुष आजकल धार्मिक सुधारकी संस्थाके या प्रार्थना-समाजके सदस्य नही है, उनमें भाग भी नही लेते परन्तु सामाजिक सुधारोंके प्रति जन-साधारणका ध्यान आकर्षित करनेवाले—इन प्रवृत्तियोंको शुरू करनेवाले अगुआ (Pioneers) के रूपमें प्रार्थना-समाजके संस्थापकोंका स्थान सबसे ऊपर है, यह निर्विवाद है।



अष्टम खण्ड

नये समाजकी ओर

श्री सुरेन्द्र मोहन

नव-निर्माणका आधार

नये समाजका निर्माण नये व्यक्ति करते है। नये व्यक्ति पुराने व्यक्तियोसे शारीरिक या प्राणिशास्त्रिक दृष्टिसे भिन्न नही होते हैं। प्राणी समाजमें रहकर ही सीखता है, उसीमें रहकर, उसके प्रशिक्षणसे प्रभावित होकर और उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें वह अपने अदर कुछ विशिष्टताओ और कुछ सामान्यताओका अनुभव करता है; तभी धीरे-धीरे उसके व्यक्तित्वका विकास होता है, और वह व्यक्ति बनता है। व्यक्ति एक सामाजिक तत्व है और उसका विकास सामाजिक या मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। ज्यो-ज्यो वह अपने प्रति दूसरे लोगोके व्यवहारोका आभास पाता है, ज्यो-ज्यो वह इस बातकी चेतना प्राप्त करता है कि वह दूसरोसे पृथक् कुछ है, त्यो-त्यो उसमें 'स्व'का विकास होने लगता है। वह अपने हितो, अपनी आवश्यकताओ और अपनी माँगोंके प्रति चेतन होता है। वह उनकी पूर्तिके लिए समाज द्वारा निहित व्यवहारोको अपनाता है, और उन सामाजिक सस्थाओसे अपनापन महसूस करता है, जो उसकी माँगोको पूरा करती हो या इस कार्यमें उसकी सहायता करती हो। इसी प्रकार वह उन मान्यताओको अपने आचारमें धारण कर लेता है जो समाज-द्वारा स्वीकृत होती है। प्राणी एक ओर व्यक्तित्वका विकास करके समाजका एक सदस्य भी होता जाता है और सामाजिक व्यवहारो, मूल्यो और सस्थाओको मानने लगता है और दूसरी ओर वह अपने अनुभवो द्वारा समाजके ज्ञानकी वृद्धि भी करता है। समाजके दूसरे व्यक्तियोके साथ वह एक घनिष्टता, एक सामान्यता और एकता महसूस करता है, परन्तु वह समाज के किसी सदस्यसे एकरूप नही होता और चूंकि वह एक 'स्व' है एक व्यक्तित्व है, और दूसरे लोगोसे कुछ विशिष्ट है, इसलिए वह समाजमें रहकर भी कुछ अलग रहता है।

समाजके प्रमाणित या विहित व्यवहारोमें कुछ आधारभूत मान्यताएँ निहित होती होती है। ये मान्यताएँ उस समाजके सदस्योके पुराने, सगृहीत और परपरागत अनुभवोके आधारपर बनती है। सामाजिक सस्थाएँ जो सामाजिक सगठनकी ठोस, रीढकी हड्डी-जैसी भित्तियाँ होती है, और जो व्यक्तियोको समाजमें रहकर अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने, अपने प्रति दूसरोंके व्यवहार और अपने व्यवहारको समझने, व्यक्तियोको समाज-विरोधी-कार्योंसे रोकनेके महत्वपूर्ण कार्योको पूर्ण करती है, इन आधारभूत मान्यताओका प्रतिनिधित्व करती है। प्राणी अपने व्यक्तित्वका विकास इन्ही सस्थाओके अतर्संबधोमें रहकर करता है, इन्हींके साथ बार-बार व्यवहार करके वह समाजका

सदस्य बना रहता है और इस घनिष्ट व्यवहारसे उसके व्यक्तित्वमें इन मान्यताओंकी एक घनिष्ट रूप-रेखा बन जाती है। कोई भी व्यक्ति इन मान्यताओं, इन सामाजिक संस्थाओं और समाजका तब तक अपमान नही करता, जब तक कि उसके व्यक्तित्व, उसकी माँगो और उसके स्वार्थोका इनके साथ तादात्म्य बना रहता है।

व्यक्ति एक प्राणी है, एक विशिष्ट इकाई है। वह अनुभव करता है, और उस अनुभवसे ज्ञान प्राप्त करता है। वह प्रत्येक अनुभवको अपने पहले अनुभवोकी रोशनी में देखता है। अपने अनुभवोंसे कुछ परिणाम निकालकर वह वर्तमान अनुभवोकी इन परिणामोके आधारपर परीक्षा करता है। अपने अनुभवोके आधारपर, अपने बढते हुए ज्ञानके आधारपर ही वह सामाजिक मूल्यों और मान्यताओंको स्वीकार करता है। यदि उसके अनुभव उस पर यह जाहिर करने लगें कि सामाजिक मान्यताएँ या संस्थाएँ उसके हितोको पूर्ण नही करती, उसकी आवश्यकताओंकी तृप्ति नही करती और उसके अनुभव जनित ज्ञानकी कसौटीपर पूरी नही उतरती, तो वह उन मान्यताओ और संस्थाओ का विरोध करने लगता है। वह पुराने समाजका विरोधी हो जाता है।

व्यक्तिकी माँगें, आवश्यकताएँ, हित, स्वार्थ और अनुभव-जनित ज्ञान, सभी उसके व्यक्तित्वमें समाहित होते हैं और उसके रुझानो, सवेगो और विचारोमें संगठित होते है। उसकी कोई एक माँग पूरे व्यक्तित्वकी ही माँग होती है पूरे व्यक्तित्वकी ही प्रतिक्रिया होती हैं। कोई एक सामाजिक संस्था उसकी किसी एक खास माँगको पूरा करती हो; पर उस सस्थाके साथ व्यक्तिका सबध अपनी उस खास माँग और उसकी पूर्तिपर ही आधारित नही रहता। वैसे भी व्यक्तित्वके अलग-अलग रुझान, भावनाएँ सवेग और माँगें एक-दूसरेसे संबधित होते है, उसी तरह सामाजिक सस्थाएँ भी एक-दूसरेसे सम्बन्धित होती हैं। जब कोई व्यक्ति अपने अनुभव और ज्ञानके कारण समाज की त्रुटियोंके प्रति सचेत हो जाता है, तो वह केवल एक माँग या एक ही हितसे प्रेरित नही होता, न ही वह किसी एक सस्थाके विरुद्ध होता है। व्यक्ति न तो केवल आर्थिक है न प्राणिक और नही वह कुछ विचारोका संघटन मात्र है। समाज भी केवल आर्थिक या प्राणिक सगठन नही है। समाज अपने पूर्ण रूपमें व्यक्तिके समक्ष होता है, व्यक्ति भी उसका अनुभव अपने सभी ज्ञान-अनुभवोपर करता रहता है।

समाज और व्यक्तिके इस घनिष्ट अन्तर्संबन्धको न समझ पाकर समाजके नवनिर्माण के जो सिद्धांत उपस्थित किये गये है, उनमें एक है समाजको व्यक्तिसे विशिष्ट, उच्च और आधारभूत मानकर उसे बदलनेका सिद्धात। हम केवल सामाजिक सस्थाओंको या सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्थाको बदलनेकी बात करने लगते है और चूँकि व्यक्तिको समाज का अंग माना जाता है, इसलिए यह विचार करते हैं कि शायद समाजको बदलकर व्यक्ति को बदलेंगे। या हम सामाजिक परिस्थितियोको पलट देना चाहते है, और चूँकि व्यक्तित्व इन परिस्थितियोंमें ही विकसता है, इसलिये यह मान लेते है कि इन परिस्थितियों को पलटकर या सुधारकर हम व्यक्तिको भी सुधार लेंगे। किंतु क्या समाज-व्यक्तियोंके परस्पर अंतर्संबधोका ही नाम नही है? क्या सामाजिक व्यवस्था व्यक्तियोकी सामाजिक मान्यताओं और विश्वासोपर ही आधारित नही है? और क्या सामाजिक सस्थाएँ समाजके सदस्योंके सहकारी उद्योगो और कार्य-व्यवहारोंके ठोस रूप नही हैं?

सामाजिक परिस्थितिको बदलनेके लिए उन मान्यताओ, रिवाजो, विश्वासो और सम्मानोको बदलना जरूरी है जिनपर कि यह परिस्थिति टिकी हुई है, व्यक्तियोके परस्पर सबधोके मूलमें जो मान्यताएँ विद्यमान है, उनको बदलकर ही सस्थाओका रूप परिवर्तित किया जा सकता है। समाज-व्यक्तियोका समूह-मात्र ही नही है, यह मान लेनेपर भी तो इस तथ्यकी उपेक्षा नही की जा सकती कि समाज व्यक्तियो द्वारा ही सम्भव है और समाजके रचयिता व्यक्ति ही होते है। कुछ समाज-शास्त्रियोने समाज या व्यक्तियोंके समूहको व्यक्तिसे उच्च समझकर उसमें चेतना, मनस और चितनशक्तिको विद्यमान माना है। किन्तु चेतना और मनस और चिंतन शक्ति के लिए जिन भौतिक प्राणिक और रासायनिक तत्वोका होना जरूरी है, वह समाजमे न होकर व्यक्तिमें ही विद्यमान होते है। 'सामाजिक चेतना' व्यक्तिगत चेतना का ही एक रूप हो सकती है।

समाजकी सम्पूर्णता और व्यक्तित्वकी सगठित सत्ता को भूलकर भी कुछ विद्वानोने अधूरे सिद्धातोका प्रतिपादन किया है। यहाँ यह बात दुहराना जरूरी है कि समाजकी सभी सस्थाए एक दूसरीसे सबधित होती है और कुछ एक जैसी ही मौलिक मान्यताओपर आधारित होती है, लेकिन चूंकि समाज एक प्रक्रिया है, एक गतिशील अवस्था है, इसलिए उसमें परिवर्तनका नियम सदा लागू होता है, अत कई बार अलग और विरोधी मान्यताएँ उसमें उपस्थित रहती है। फिर भी एक समाजकी प्रमाणित-सस्थाएँ एक जैसी ही मान्यताओपर आधारित होती है। लेकिन जब केवल एक या दो सस्थाओका सुधार या परिवर्तन करनेकी चेष्टा की जाती है, एक या दो मान्यताओपर कुठाराघात किया जाता है तब अकल्याण ही उसका परिणाम होता है। जिस प्रकार एक समाज संगठित होता है, उसी प्रकार व्यक्तित्वके अलग-अलग स्थान, आवश्यकताएँ, चाहें इत्यादि भी सगठित होती है। व्यक्तिकी किसी एक माँग या चाहको ही तृप्त करनेकी चेष्टा या उसीको सम्पूर्ण व्यक्तित्व और व्यवहारका आधार माननेंकी प्रवृत्तिसे भी वही परिणाम निकलते है जो एक सस्था को पूरे सामाजिक व्यवहारका आधार माननेसे निकलते है। मनुष्यकी आर्थिक माँगोको ही उसके व्यवहारका मूल मानकर चलनेवाले आन्दोलनो ने भी मनुष्यकी दूसरी मागो को कुचल कर व्यक्तित्व के विकास की दशाओ का लोप करके और व्यक्तिकी विशिष्टताको भूलकर जिस समाजकी रचना की है, वह समाज नया नही है, वह मानवके चिरतन सपनोका समाज नही है। केवल राजनीतिक सस्थाओ, शासन, दल या राज्यको ही जिन्होने सामाजिक व्यवस्थाका आधार मानकर उसे महत्व प्रदान किया, वे भी व्यक्तिकी स्वतन्त्रतामें बाधक हुए, उन्होने भी समाजके दूसरे अगो और प्रक्रियाओ को सिकोडकर, रोककर, समाजकी गतिमें अवरोध उत्पन्न किए।

यह भूलना नही चाहिए कि समाजमें परिवर्तन की माँग कहासे आती है। व्यक्ति सामाजिक जीवनके अनुभवोंसे असतुष्ट होकर परिवर्तन की माँग करते है। अपने अनुभवोको अपने बढते हुए ज्ञानकी कसौटीपर परखकर वे कुछ परिणाम निकालते है। अत परिवर्तनका मूल व्यक्तियोंके सामाजिक अनुभवो और सामाजिक ज्ञानमें ही तो निहित होता है।

नए सामाजिक निर्माणके लिए यह श्रेयस्कर है कि (१) केवल एक या दो सस्थाओ पर अपना ध्यान केंद्रित किया जाय, या (२) व्यक्तिकी किसी एक माँगको सबसे अधिक

महत्व दिया जाय; और (३) केवल समाजके ऊपरी ढाँचेको बदलनेकी चेष्टामें व्यक्तियो की उपेक्षा करके, व्यक्तिको समाजसे अलग करके, उसे नए ढाँचोका दास बना दिया जाय।

नई मान्यताओ, नए आधारभूत सिद्धांतो, नए चिंतनपर ही नई सामाजिक व्यवस्था का विकास हो सकेगा।

नये व्यक्तियो या नई मान्यताओ, नए विश्वासो और विचारो वाले व्यक्तियोंका विकास कैसे होगा ?

व्यक्तियोंके विचार और उनकी मान्यताएँ उनके अनुभवोपर बनती है। वह अनुभव प्रत्यक्ष भी हो सकता है, परोक्ष भी। शिक्षकके यह बता देनेपर कि बम गिराने से लाखो लोगोकी हत्या की जा सकती हैं, विद्यार्थी इसे मान लेगा, और बमके गिरनेके बाद उसके परिणामोको देखकर भी। हाँ, यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष अनुभव अधिक स्पष्ट स्थायी और प्रभावोत्पादक हो। जब व्यक्ति अपने अनुभवोंसे संतुष्ट नहीं होते, तो वे उनका विश्लेपण करने लगते है, नए अनुभवोकी खोज करते है, नई परिस्थितियाँ पैदा करना चाहते है। यह सब-कुछ वह अपने पुराने अनुभवोसे अर्जित ज्ञानके आधारपर ही करते है। यदि व्यक्तियोंके अनुभवो और उनके ज्ञानका एक नया सम्बन्ध एक नया समन्वय स्थापित हो जाय, तो वे पुरानी मान्यताओको छोडकर नई मान्यताएँ मानने लगते हैं। अत. नई मान्यताएँ मनुष्योके ज्ञान और अनुभवकी परिधिके बाहरकी वस्तुएँ नही होती; वे किसी दैवी चमत्कार, कुशाग्र दार्शनिक बुद्धि या मसीहाई योग्यताके कारण प्रस्फुटित नही होती। अतः जब तक व्यक्तियोके अनुभवोमें से ही नई मान्यताएँ नही उभरती, तब तक न तो वे स्वय उन मान्यताओको स्वीकार करते है, और न वे मान्यताएँ एक सामाजिक व्यवस्थाका धरातल प्रस्तुत कर सकती है। नयी मान्यताओका आधार, अनुभव, ज्ञान द्वारा, सुलझाया गया अनुभव ही हो सकता है। बुद्धि भी अनुभव की सहगामिनी होती है; वह उसीके साथ, उसीमें से विकसित होती है, और वही उसका पथ-प्रदर्शन भी करती चलती है।

इसका अर्थ यह है कि व्यक्तियोके अनुभवोका स्वतंत्र आदान-प्रदान, उनपर तर्क-वितर्क-युक्त विचार-विनिमय होना समाजके नवनिर्माणकी पहली शर्त है। जिस व्यवस्थामें इसपर प्रतिबंध लगा दिए जाते है, वह व्यवस्था न तो स्वयम् बदलनेकी क्षमता रखती है, न ही उसकी गति, चेतना और उसके प्राण सुरक्षित रह पाते है।

परन्तु चूंकि व्यक्तियोंके अनुभव सामाजिक संस्थाओंसे सम्बन्धित होते है, अत. उनके व्यक्तियो और उनकी बुद्धियोपर भी उन संस्थाओंका प्रभाव पडता है। जिस व्यवस्थामें बच्चेकी ताडना होती है, उसमे वह असतुष्ट, संवेग-ग्रसित व्यक्तित्वको लेकर समाजमें विकसित होता है। क्या उसकी बुद्धि उसके शैशवके अनुभवोंसे प्रभावित नही होती ? इसी प्रकार एक व्यक्ति आर्थिक कठिनाईसे परेशान, बेकारी और भूखका शिकार होकर अपने व्यक्तित्वमें आक्रमणकारिता, आवेशभर समाज-विरोधी भावनाको प्रश्रय दे लेता है। क्या उसके चिंतन और ज्ञानका आधार यह और इसी प्रकारकी भावनाएँ न हो जायेंगी ? और क्या एक संतप्त व्यक्तित्व बुद्धिका ऐसा प्रयोग कर पायेगा जिससे कि वह कुछ सही नतीजोपर पहुँच सके ? जाहिर है कि आधुनिक युगमें जब कि व्यक्ति

सवेगोपर अपनी बुद्धिका अधिकार स्थापित नही कर पा रहा है, नए समाजका निर्माण सवेग ग्रसित बुद्धिके आधारपर ही तो होगा । यदि मनुष्य अपनी बुद्धिपर ही चल सकता, तो क्या आजके से हालातसे मानवता दो चार होती ? व्यक्ति जब अपने अनुभवोके कुछ आर्थिक परिणाम नही निकाल पाता, तो वह सवेगोका, सहारा लेता है, सवेग अबौद्धिक नही होते, वल्कि वे बुद्धिके अपूर्ण, भ्रात प्रयोगोकी उपज होते है ।

व्यक्तियोके अनुभवोको वदलनेके लिए न केवल उन अनुभवोंके वारेमें उनका दृष्टि-कोण वदलना होगा, वल्कि उन परिस्थितियोको भी उस मात्रामें वदलते रहना होगा जिस मात्रामें व्यक्तियोके दृष्टिकोण और उसकी मान्यताएँ वदलती रहें । यो तो ज्यो-ज्यो व्यक्ति अपनी मान्यताओको वदलेंगे, लोगोकी परिस्थितियोको और सामाजिक सस्थाओको भी वदलेंगे । तो भी समाजके निर्माणमें व्यक्तियोके अनुभवोको वदलनेके लिए धीरे-धीरे नीचेसे व्यक्तियोके सहयोगके द्वारा नई सस्थाओको विकसित करनेकी चेष्टा करनी होगी । नई मान्यताओको परस्पर व्यक्तिगत व्यवहारोमें समाविष्ट करना होगा । यदि सहयोग को नए समाजकी मान्यता वनाना अभीष्ट है, तो सहयोगी सस्थाओका विकास करके ही व्यक्ति अपने अनुभवो, वुद्धि और ज्ञानको एक नई दिशा दे सकेंगे । व्यक्तिका व्यक्तित्व समाजमें ही विकसित होता है, सस्थाओके माध्यमसे ही यह समाजके कार्यक्रम में भाग लेता है, अत स्थापित सस्थाओको वदलते रहना और नई सस्थाएँ विकसित करते रहना समाजके नवनिर्माणके लिए आवश्यक है ।

नए व्यक्तियोके विकासके लिए यह उपादेय है कि —

(१) व्यक्ति अपने अनुभवोके प्रति अपने रुख या दृष्टिकोणको वदले और वुद्धिको उनके समझनेमें महत्वपूर्ण स्थान दे ।

(२) वह धीरे-धीरे अपने वदलते हुए दृष्टिकोणको अपने व्यवहारमें समाविष्ट करे ।

(३) वदलते हुए दृष्टिकोणके साथ-साथ पुरानी संस्थाओके परिवर्तन और नई संस्थाओ के विकासकी चेष्टा करे ।

नए समाजकी मान्यताएँ क्या होगी ?

हमारे अनुभव आज सामाजिक वातावरणमें व्यक्तिकी घटती हुई प्रतिष्ठा, उसके अधिकारोके सिकुडते हुए प्रागणमें और उसकी सहायतामें चित्रोको हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर रहे है । आज साधारण व्यक्ति न तो कीमतो के घटने-वढनेपर रोक लगा पा रहा है न ही युद्धो और शान्तिके प्रश्नोका निदान कर पा रहा है, सैन्यीकरण, राजनीतिक दलोके कार्यक्रम उत्पादन प्रक्रिया, गोया कि किसी भी सामाजिक क्षेत्रमें घटनेवाली घटनाओ को न तो वह प्रभावित कर पा रहा है और न ही समझ पा रहा है । हमारे अनुभव आज साधारण व्यक्तिके असतोष अतृप्त, सवेगात्मकता और भीड व्यवहारमे भी हमें अवगत कराते है और साप्रदायिक दगो, भाषाके प्रश्नपर वलवो और सरकारके गोली-वारुद द्वारा जनता के दमन से भी हम यही परिणाम निकाल सकते है । एक दूसरे पर अविश्वास और एक-दूसरेके प्रति रोषपर हमारे परस्पर संबध आधारित है । परन्तु क्या नया समाज अविश्वास, हिंसा, रोष, संवेगात्मकता अज्ञान और उत्तेजनाकी मान्यताओ पर वनेगा ? अपने अनुभवोको मानवकी बुद्धिके अनुसार समझनेकी चेष्टा शायद हमें यह वताएगी कि आजके युगमें जब कि हिंसा और अविश्वास मानवताको तहस नहस कर

रहे हैं सहयोग और परस्पर विश्वासके बिना काम न चलेगा। परन्तु सहयोग और परस्पर विश्वास स्वतंत्र और समानाधिकारवाले व्यक्तियोंमें होता है, न कि स्वामी-दास और उच्च-नीचके सम्बन्धोंवाले व्यक्तियोंमें। सहयोग, स्वतंत्रता और समानतापर आधारित व्यवहार ही परस्पर विश्वासको जन्म दे सकेंगे। किन्तु जब तक सभी व्यक्ति स्वयम् पर और अपनी बुद्धिपर विश्वास न करेंगे, न तो वे स्वतंत्रताके मूल्यको पहचानेंगे, न ही उसका उपयोग कर सकेंगे और दूसरोंपर भी विश्वास करना उनके लिए संभव न होगा। नए समाजकी मान्यताएँ यह हो सकती हैं—परस्पर सहयोग, बौद्धिक आचरण, समता, स्वतन्त्रता और उदारता।

इन मान्यताओंपर आधारित समाजकी व्यवस्थाका क्या रूप होगा? इसकी संस्थाएँ किस प्रकारकी होंगी?—यह बातें तो इन मान्यताओंको स्वीकार करनेवाले समाजके सदस्य ही बता सकेंगे। आज तो उनका निर्माण की प्रेरणाओंकी बात ही मुख्य है।

---:०:---

श्री सुन्दरलाल

नया समाज

एक दिन गाधीजीने मुझसे "हरिजन" के लिये एक लेख लिखनेको कहा। मैंने वह लिखकर उनके सामने पेश किया। लेखमें एक वाक्य इस तरहका आता था—"यदि हम करें तो इस देशको फिरसे स्वर्ग बना सकते है।" गाधीजीने लेखको पढा और 'फिरसे' इन शब्दोके नीचे लकीर खीचकर मुझसे पूछा—"स्वर्ग कब था ?" चन्द सैकण्डके अन्दर हजारो बरसका इतिहास मेरी आँखोके सामने से फिर गया। जरा सोचकर मैंने जवाब दिया—"सचमुच, बापू! स्वर्ग तो कभी नही था।" उन्होंने फिर कहा—"तो 'फिरसे' शब्दोको निकाल दो।" मैंने ऐसा ही किया। अब वह वाक्य इस तरह रह गया—"यदि हम करें तो इस देशको स्वर्ग बना सकते है।" उस सुधारके साथ वह लेख "हरिजन" मे छप गया।

बात छोटी-सी पर मारकेकी थी। देशमें जब कभी भावी समाजके निर्माणकी बात आती है, तो कई तरहके विचारोके लोग मिलते है, उनमें दो तरहके लोग खास है। एक वह जो देशमें वेदो या पुराणो, रामायण या महाभारतका समय फिरसे लाना चाहते है और दूसरे वह, जिन्हें देशकी हर पुरानी बात बुरी और निकम्मी मालूम होती है, और जो इसे यूरपके किसी न किसी देशकी एक नकल बनाना चाहते है? यह दोनो विचार-धाराएँ गलत और खतरनाक है। पर इनमें पहली विचारधारा दूसरीकी अपेक्षा अधिक गलत और खतरनाक है।

कुछ कट्टर या भोले लोग इस मामलेमें इतने बहके हुए है कि उन्हे यह ठीक-ठीक जाननेकी आवश्यकता भी अनुभव नही होती कि हमारा भूतकाल कब, कैसा और क्या था। वेदोंके समय की मैं अधिक चर्चा करना नही चाहता। जिन्हें वैदिक कालके सामाजिक जीवनको जाननेका शौक हो, वह सनातन विचारके सबसे बडे वेदवेत्ता सायनाचार्य के भाष्यको पढलें। कुछ बरस हुए दरभगासे निकलनेवाली शायद "गंगा" नामकी हिन्दी पत्रिकाने अपना एक 'वेदाक' निकाला था। उसमें भारत-भरके बडे से बडे वैदिक पडितोके लेख वेदो और वैदिक कालके जीवनके बारेमें सकलित किये गए थे। 'गगा' का वह विशेषाक भी इस बारेमें पढनेके योग्य है।

आर्य-समाजके साथ मेरा बहुत गहरा सम्बन्ध रहा है। इसमें सदेह नही कि आर्य-समाजने अनेक बातोमें देशका बहुत बडा उपकार किया है। अनेक प्रान्तोमे देशके अन्दर आजादीकी भावनाको जगानेका सेहरा भी आर्य-समाजके सर है।

इसमें भी सदेह नही कि वेद बड़े मूल्यवान ग्रथ है। दुनियाके साहित्यमें उनका वहुत ऊँचा और अमर स्थान है। वेदोके ज्ञान काण्ड यानी उपनिषदोंसे वढ़कर पुस्तकें दर्शन और आध्यात्मपर शायद अव तक दुनियामे नही लिखी गईं। लेकिन हर चीज़की एक हद होती है। जो आर्यसमाजी वेदोको "सव सत्यविद्याओकी पुस्तक" मानते थे और मानते है, वे अनेक गुरुकुलो और उनके सैकड़ो स्नातकोके होते हुए भी आज तक कोई नई वैज्ञानिक या दूसरी ईजाद वेदोमें से न निकाल पाए। हमारे गुरुकुलोमे भी हमे फिजिक्स और कैमिस्ट्री पढानेके लिये अँगरेजी पुस्तको या उनके अनुवादोका ही सहारा लेना पड़ता है।

जो भोले लोग वैदिक कालको फिरसे दुनियामें लानेका विचार रखते है, उनसे मै केवल इतना कहूँगा कि यदि वैदिककालके कुछ ऋषियो और दूसरे लोगोका एक गिरोह उसी समयका खान-पान और रहन-सहन लिये हुए कही शून्यसे उतर आवे, तो आज उसे किसी मुसलमान, ईसाई, पारसी या सिख घरमें जगह भले ही मिल जावे, उत्तर-भारतके किसी धर्मनिष्ठ हिन्दूके घरमें जगह मिल सकना सर्वथा असम्भव है।

कुछ भारतवासी महाभारतके समयकी भी दुहाई देते है। महाभारत एक खुली पुस्तक है, जिसके अर्थो मे वहस की कोई गुजाइश नही। महाभारतका समय वह समय था, जव सव वर्णो और सव आश्रमोके लोगोमें लगभग सव तरहके पशुओका मास खाया जाता था, खुले तौरपर शराव पी जाती थी, दरवारोमें जुएँ खेले जाते थे, स्त्रियाँ, विवाहित स्त्रियाँ तक रुपयेकी थैलियोकी तरह वाज़ी पर लगाई जा सकती थी, एक पतिके कई स्त्रियाँ और एक स्त्रीके कई पति, दोनो रिवाज जायज थे, इत्यादि अनेक वातोमें समाजका तत्कालीन आदर्श आजके आदर्शसे कही गिरा हुआ था। स्वयं गीतामें श्रीकृष्णने उस समयको "धर्मकी ग्लानि और अधर्मके अभ्युत्यान" का समय कहा है। स्त्री-पुरुपके सम्वन्धके वारेमें तो समाज इतना गिरा हुआ था कि महाभारतमें एक स्थानपर महा-भारतके लगभग सव पात्रोकी पैदाइश की जो चर्चा की गई है, वह अगर सच्ची है, तो महाभारतके सारे पात्रो में अधिकांश ऐसे थे, जिन्हें आजकलके अर्थोमें हलालकी पैदाइश नही कहा जा सकता।

कोई-कोई भोले लोग तो कभी-कभी वडे गर्वके साथ कह वैठते है कि उनकी नाडियोमें भीम और अर्जुनका रक्त है। सुनकर अचरज और दुःख होता है। हमारे किसी पूर्वजमे यदि कोई दोप था, तो उसके कारण उस पूर्वजके वंशज होनेमें हमें शरमानेकी कोई वात नही। गुण-दोप सवमें होते है। पर उस आदमीका अपनेको वंशज माननेमें कोई विशेप अभिमान की भी वात नही है, जो सव तरहका माँस खाता था, शराव पीता था, जुआ खेलता था, जिसने चार और भाइयोंके साथ मिलकर एक वीवी रख रखी थी, और जो अपनी वीवीको जुएमें लगा सकता था।

पुराणो या रामायणके समयकी, या वादके हिन्दू या मुसलमान राजाओके जमाने की चर्चा करना इस सम्वन्धमें और भी ग़लत और वेमानी है।

इसका यह मतलव नही है कि उस पुराने ज़मानेमें या किसी भी ज़मानेमें कोई वात अच्छी थी ही नहीं। अच्छी और वुरी वातें भी हर ज़मानेमें होती है। किसी वातमें कोई एक ज़माना अच्छा और किसी दूसरी वातमें कोई दूसरा ज़माना अच्छा, मतलव केवल

इतना है कि 'स्वर्ग' यह देश कभी नही था। शायद कभी कोई देश भी नही था। हमारे लिये इन बातोमें न आँख बद करके प्राचीनताको पूजना कल्याणकर है और न सब पुरानी बातोको एक सिरेसे बुरा समझकर त्याग देना अक्लमन्दी है। अपने आगे और पीछे, दाएँ और बाएँ, सब तरफ निगाह डालते हुए, विवेक, साहस और निष्पक्षताके साथ हमें अपना आगेका रास्ता तय करना चाहिए। पुरानी हो या नई, जो चीज अच्छी है और हितकर है उसे अपनाना चाहिए और जो आगेके विकासमें बाधक है, उसे त्याग देना चाहिए।

इस सबधमें एक और बात ध्यानमें रखना जरूरी है। कोई भी एक विचार, रिवाज, या सस्था एक समय के लिये हितकर और अच्छी हो सकती है और दूसरे समय के लिये अहितकर और बुरी। एक संस्कृतके कविने इसे बडी सुन्दरतासे यो बयान किया है— अगर किसीके दादाने कोई कुँआ खुदवाया था, जिसका पानी उस समय मीठा था और अब नीचे का सोता बदल जानेके कारण खारी हो गया है, तो जो कोई यह समझकर कि कुँआ मेरे दादाका बनवाया हुआ है, उसी खारे पानीको पीता रहे, वह कायर और निकम्मा है। नए समाजकी रचनाके लिये हमें अपनी इस समयकी हालतको ध्यानसे देखना और आगेकी जरूरतोको समझना होगा।

पहली प्रश्न यह कि हमारे समाजका इस समयका रूप है क्या?

सबसे पहली बात यह है कि इस देशमें अनेक धर्म और अनेक सम्प्रदाय है, जिनमें हर धर्म या सम्प्रदायवाला अपनेको ठीक और दूसरोको गलत मानता है। हर एक अपनी-अपनी विशेष रूढियो और रीति-रिवाजोसे चिपटा हुआ है। जहाँ तक चरित्र या नेकी बदीका सम्बन्ध है, मोटे तौरपर, किसी धर्म या सम्प्रदायके लोग किसी दूसरे धर्म या सम्प्रदायवालोसे अधिक अच्छे नही है।

सन् १९४७ के साम्प्रदायिक दगोमें हमने भारतमें और पाकिस्तानमें, सरहदके इस पार और उस पार, हजारो मील घूमकर उन दगोके रूपको देखा है। कोई बुरे-से बुरा पाप ऐसा नही था जो हिन्दुओने न किया हो, जो मुसलमानोने न किया हो या जो सिखोने न किया हो, और तीनोने जो-कुछ किया, वह अपने-अपने धर्मकी रक्षाके नामपर किया। यदि किसी ने यह सुन लिया कि किसी दूसरे शहर या गाँवमें किसी दूसरे धर्मवालेने सुनने-वालेके धर्मके किसी बच्चेको जिदा भून डाला, या सुननेवालेके धर्मकी स्त्रीका सतीत्व नष्ट कर डाला, या और कोई इसी तरहकी बुरी हरकतकी तो सुननेवालेने अपना यह धर्म और अधिकार समझा कि वह अपने नगर या गाँवके अन्दर उस दूसरे धर्मके माननेवाले किसी भी बच्चे या स्त्रीको पकडकर उसके साथ वैसा ही व्यवहार करे। तीनो धर्मवालोने ऐसा ही किया भी।

तीनो धर्मोके लोगोमें इस तरहके नेक, इनसाफपसन्द और बहादुर लोग भी थे जिन्होने स्वय अपने धर्मवालोसे लडकर, अपनी जान जोखममें डालकर, अपने धर्मवालोंके अत्या-चारोसे दूसरे धर्मवालोकी रक्षाकी। ऐसा न होता तो परिणाम कही अधिक भयकर होता। मनुष्य के अन्दरसे न्याय और प्रेमका अश मिटा नही है। वास्तवमें उसी अशको जगाने और बढाने तथा अन्याय और नफरतके अशको मिटानेकी आवश्यकता है। पर इन मामलेमें भी तीनो लगभग एकसे साबित हुए।

दूसरी ओर बुरेसे बुरे विचार और गन्दीसे गन्दी भावनाएँ भी हमारे अन्दर से अभी तक मिटी नही है। दूसरे धर्मवालोके खिलाफ़ जान-बूझकर झूठी खबरें उड़ाना, कोई बुरा काम खुद करके उनके सर थोप देना और उसे बहाना बनाकर उनपर हर तरहके अत्याचारोको दबा रखना और कर डालना आज भी हमारे सामाजिक जीवनका एक लज्जाजनक अंग बना हुआ हैं।

इसके अलावा हम अपने बाजारो, दूकानो, कचहरियो, अस्पतालो या नगरोके गन्दे कोनोमें कही भी जाकर देखे या सरकारी रिपोर्टोके आँकडोको पढ़ें, शायद कोई जुर्म या कोई पाप ऐसा नही है जिसमें अपनी आबादीके हिसाबसे किसी सम्प्रदायवाले दूसरे सम्प्रदायवालोसे कम हो। यदि अकस्मात किसी कारण एक जुर्ममें एक बढा हुआ है तो तो दूसरेमें दूसरा बढ़ा हुआ हैं।

डेढ सौ बरस तक अँगरेजोकी खुफ्या पुलिसमें हिन्दू, मुसलमान और सिखोमें से किसीने किसीसे कम भाग नही लिया। जिन लोगोने देश और देशवासियोके साथ विश्वासघात करके समय-समयपर विदेशियोका साथ दिया उनमें भी हिन्दू, मुसलमान, सिख और जैन सब धर्मवालोके नाम चमकते हुए मिलते है। साराश यह कि हम किसी पहलूसे देखें यह बात बिलकुल सच है कि इन धर्मों और सम्प्रदायोका उनके मानने-पालने वालोके चरित्रपर, उनकी नेकी और बदीपर कोई खास असर नही पडा। इन अलग-अलग धर्मोंने किसी समयमे दुनियाको कितना ही लाभ पहुँचाया हो, और अवश्य पहुँचाया होगा, पर आज यह केवल मनुष्य समाजके टुकडे-टुकडे करके, दिलोको एक-दूसरेसे फाड़नेका ही काम दे रहे है।

दूसरी खास बात जो इस समय हमें अपने समाजमें दिखाई देती है, वह जात-पाँत, ऊँच-नीच और छूआछूत है। हिन्दू, जैन, मुसलमान, सिख और ईसाई कोई इस रोगसे खाली नही है, पर मुख्यकर यह रोग हिन्दुओका रोग है। हो सकता है किसी समय इस जात-पाँतका भी कुछ अर्थ रहा हो और यह किसी रूपमें किसी दरजे तक समाजके लिये हितकर भी रही हो; पर आज सैकड़ो बरससे इस जात-पाँतका नतीजा सिवाय समाज में फूट और विनाशके और कुछ नही। आज भी इन जातियोके नामोपर सगठन बढते और मजबूत होते जा रहेहैं। जगह-जगह ब्राह्मणो और अब्राह्मणोके भेदने एक खतरनाक सामाजिक, और राजनीतिक रूप धारण कर रखा है। यह हमारे समाजका एक बहुत ज़हरीला रोग है।

हमारा तीसरा बडा रोग इस समय समाजमें फैली हुई भयंकर आर्थिक असमता है। शहरो और गाँवोके जीवनमें तो आकाश-पातालका भेद है ही, स्वय शहरोंके अन्दर भी अमीरो और गरीबोंमें वैसा ही अन्तर है। थोडे-से मुट्ठीभर लोगोंके पास आवश्यकतासे कही अधिक हैं और करोडो जनता दरिद्रता और नादारीमें डूबी हुई है। ऊँचीसे ऊँची अटारियाँ, महल और बँगले और गन्दीसे गन्दी झोपड़ियाँ देशमें साथ साथ देखने को मिलती है।

इन तीन बडे रोगोके अलावा स्वार्थ, बेईमानी, चरित्रहीनता आदि और भी अनेक दोष है जो हमारे समाजके विकास और उन्नतिमें रुकावट डालते है पर इस तरहके दोषो की भी असली जड हमारे सामाजिक विभाजन और आर्थिक असमतामें ही है।

अब सवाल यह है कि हमारे नए समाजका रूप क्या होना चाहिये ? जवाब साफ है—सबसे पहले वह सब दीवारें जिन्होने देशकी मानवताके टुकडे-टुकडे कर रखे है, टूटे, अलग-अलग धर्मो और सम्प्रदायोकी जगह एक मानव-धर्म हम सबका धर्म हो ।

गांधीजी 'सर्वधर्म समभाव' यानी 'सब धर्मोका बराबर आदर' के सिद्धातके मानने वाले थे । किसी भी पुस्तक या पद्धतिको स्वत प्रमाण न मानते हुए भी वह कहा करते थे—"मै हिन्दू हूँ, इसीलिए मैं मुसलमान भी हूँ, मै ईसाई भी हूँ, इत्यादि" वह सत्य और अहिंसा को सब धर्मोका सार मानते थे । और "सत्य और अहिंसा" ही उनका धर्म था ।

नए चीनने "ईमानदारी, सादगी और जन सेवा" को अपना राष्ट्रीय धर्म बना रखा है ।

यही धर्म हम सबका असली और मुख्य धर्म होना चाहिये ।

इसका यह मतलब नही कि धार्मिक विचारो या क्रियाओके मामलेमें किसीके साथ किसी तरहकी जबर्दस्ती की जावे । लोगोके विचारो और विश्वासोमें फरक रहेंगे और रहने चाहिए । व्यक्तिगत हैसियतसे हर एकको अपने ढगसे, अपने इष्टदेवको पूजने या न पूजने और अपना रिवाज पालने या न पालनेकी पूरी आजादी होनी चाहिये, पर सामाजिक मामलो और सार्वजनिक जीवनमे हम अपनेको केवल आदमी समझें और केवल आदमी ही गिने जावें ।

इसके साथ ही हमें अपने अब तकके इतिहासको पढने और समझनेके ढगको भी बदलना होगा । हमें उन सब विचारो, भावो और व्यक्तियोको अपना आदर्श बनाना होगा, जो हमे इन अलग-अलग धर्मो और सम्प्रदायोकी दीवारोसे निकलकर एक सयुक्त राष्ट्र और एक मानवताकी तरफ ले जानेकी कोशिश करते रहे हैं, और ऐसे विचारो, भावो और व्यक्तियोके मोहको छोडना होगा, जो हमें एक-दूसरेसे अलग रखकर इन्ही अलग-अलग धर्मो और सम्प्रदायोके नाशकर घेरोमें बाँधकर रखना चाहते थे या चाहते हैं । जात-पाँत और छुआछूत जडसे मिटनी चाहिये । गुण, कर्म, स्वभाव और रुचिके अनुसार सबके साथ खान-पान और शादी-व्याहका खुला सम्बन्ध होना चाहिये । आर्थिक असमानताकी जडें भी एक दरजे तक जात-पाँतके अन्दर है, आर्थिक समानता लानेके लिए अलग आर्थिक योजनाएँ भी बनानी होगी । सोच-समझकर हमें इस तरहकी नई आर्थिक व्यवस्था कायम करनी होगी जिसमें यह महलो, अटारियो और झोपडोके फरक मिटें, एक बडे दरजे तक आदमी आदमी बराबर दिखाई दें और सब सुखी और खुशहाल हो ।

जातियो, धर्मों या सम्प्रदायोके नामपर स्कूलो कालिजो, यूनिवर्सिटियो और किसी भी तरहकी सार्वजनिक सस्थाओका रहना और बनना बन्द होना चाहिये ।

देशकी सरकार, सरकारी महकमो और शासको की हैसियतसे, किसी अलग धर्म या जातिके साथ किसी तरहका सम्बन्ध नही रहना चाहिये । यही धर्म निरपेक्ष राज्य यानी सेकुलर राज्यका असली मतलब है ।

यही वह दिशा है, जिसकी ओर हमे हिम्मतके साथ बढना है । हम डटे दिलसे देखें, तो अपने देशके गाधीजीके सिद्धान्तो और पश्चिमके कार्लमार्क्सके आदर्शोंसे मिलाकर हमें इसके लिए काफी मार्गदर्शन मिल सकता है । कल्याणका हमारे लिए यही एक रास्ता है । नए समाजकी रचनाका यही रूप हो सकता है ।

श्री जगजीवन राम

सामाजिक समता और समानता

जहाँपर आर्य समाजका प्रवर्तक दयानन्द, और समानताकी गगा वहानेवाला गाधी पैदा हो, वहाँ भी अस्पृश्यता रहे, इसका कारण जल्दी समझमें नही आता । लेकिन वह है । जिस दिन, जिस घड़ी छुआछूतका प्रादुर्भाव हुआ, उसी दिन, उसी घडी इसके विरुद्ध विद्रोह भी पैदा हुआ । हिन्दू-समाज और धर्मके इतिहासमें कोई भी काल ऐसा नही मिलता, जिसमें इस कलकके विरुद्ध विद्रोह नही चलता रहा हो । यह विद्रोह उन लोगोकी तरफसे अधिक रहा जो सवर्ण थे । यह वात भी याद रखनी चाहिए कि जव तक वर्ण-व्यवस्था कायम रहेगी, तवतक छुआछूत कायम रहेगी । एक रहे, और दूसरा न रहे, यह असम्भव है । वर्णव्यवस्थाका आधार असमानता है और जाति-प्रथा उससे भी अधिक असमानताके ऊपर आधारित है । छुआछूतकी व्यवस्था भी इस असमानता का ही प्रतीक है । वहुतसे लोग कहते है कि जाति-प्रथाको भले ही मिटा दें, लेकिन व्यवस्था तो कर्मोंके अनुसार है। मुझे यह दलील मजाक-सी मालूम पडती है। आप हिन्दू-धर्मके इतिहासको पढ जायें तो कही यह नही मिलता कि किसीका वर्ण कर्मके अनुसार माना गया हो । विश्वामित्र क्षत्रिय थे पर उनकी तमन्ना थी कि ब्राह्मण वन जायें । क्षत्रियसे ब्राह्मण वननेमें सिर्फ एक सीढ़ी चढ़नी थी । वशिष्ठ मुनि विरोध करने लगे, तो पुराणोमें पढ़नेको मिलता है, विश्वामित्रने कहा कि हम एक और सृष्टि वना लेंगे । उन्होने अलग दुनिया वनानेकी ठान ली । यह सव होनेके वावजूद भी वे राजर्षिसे ब्रह्मर्षि नही वन सके । यदि कभी कोई अछूत जगजीवनराम जैसा हो जाता है, तो लोग कहते है कि वह पिछले जन्ममें ब्राह्मण था, अव भ्रष्ट हो गया अर्थात् पिछले जन्मका ब्राह्मण था, अव पाप किया तो अछूत हो गया । इसका अर्थ यह कि ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य कोई प्रतिभाशाली हो ही नहीं सकता ।

विचार परम्पराको वदले

भगवान वुद्ध आये, महावीर आये; आजके युगमें राममोहन राय, दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ, महात्मागाधी आदि आये । सवने इस कलंकके विरुद्ध विद्रोह किया । सवसे अधिक सफलता मिली गाधीजीको । इसका क्या कारण है ? मैं तो कहता हूँ कि गांधीजी जितने वडे राजनीतिक नेता थे, उमसे कही अधिक वड़े धार्मिक नेता थे । इस वातको हम लोग जानते है । उन्होने हिन्दू-समाजको छिन्न-भिन्न होने से वचाया । मैं विस्तारमें न जाकर एक वात कह दूं और वह यह है कि सव सुधारकोंका एक अलग

सम्प्रदाय वन गया लेकिन गाधीजीका कोई सम्प्रदाय नही वना । सब सम्प्रदाय रह गये और उनमें फिर पुरानी चीज़ वैसीकी वैसी ही रह गई । हिन्दू-धर्मकी वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथाका प्रभाव इतना प्रवल रहा कि जो भी इसके सम्पर्कमे आया, इससे कलुषित हो गया, । कोई वाकी नही वचा । इस्लाम व क्रिस्चियनिटी जैसे मज़हब यहाँ आये, जिनके अनुयायियोमे भेदभाव नही था लेकिन उनपर हिन्दू-धर्मने असर डाला और मुसलमान और ईसाइयोमें भेदभाव पैदा हो गया । धर्म-परिवर्त्तनके मामलेमे विशेष कहना नही चाहता क्योकि यह मेरी दृष्टिमें कोई महत्वकी चीज नही है । लेकिन जब तक हम बुनियादी चीज़ नही वदलते है, समाजका नव-सस्कार नही हो सकता । अगर हम नया मकान बनाना चाहें, और बुनियाद पुराने मकानकी ही रहने दें तो ऊपर की इमारत सुन्दर हो सकती है लेकिन नीव की जो खामियाँ रहेंगी, वे ऊपर भी आ जायेंगी । अस्पृश्यता मिटानेके लिए जव तक हम विचारपरम्पराओको नही वदलते है, तव तक इसमें सफलता नही मिलेगी । हम तो आदमी की छुटाई-बडाई इससे देखते है कि उसने किस जातिमें जन्म लिया है । कुछ लोग कहते हैं 'हम भगीके हाथका जलपान कर लेते है ।' मै कहता हूँ कि जव तक यह कहा जाता है तव तक हमारे अन्दर द्वेष है । यह तो कोई भी नही कहता कि मैं ब्राह्मणके हाथका पानी पी लेता हूँ। उसको मिटानेके लिए विचार से ही विचारका मुकावला किया जाना जरूरी है । जो परम्परा चली आ रही है, उसके वदलनेके लिए नए दर्शनकी जरूरत हैं । गाधीजीने जो सबसे वडा काम किया, वह यह कि हमारे यहाँ मूल्याकनका जो तराजू था, उसको उन्होने वदला । भगी म्यूनिसिपल कमेटीका सबसे वुनियादी काम करनेवाला है । उसकी तनख्वाह वढानेकी वात होती है तो लोग कहते है कि रुपया नही है । इनकी तनख्वाह वढाई जाय, तो स्कूल वद करने पडेगे । लेकिन हम जडको नही, पत्तोको सीचते है । सोचिये कि जहाँपर सफाई नही होगी, वहाँ स्वास्थ्य कैसे ठीक रह सकता है और जहाँ स्वास्थ्य ठीक नही, वहाँ स्कूल क्या चलेंगे ?

सफेदपोशोसे सघर्ष

इस दुनियामे हमेशा सफेदपोश और मेहनकशका सघर्ष रहा है । सफेदपोश सदा तिकडमवाजीसे काम लेते हैं । अगर मेहनतकश वही तिकडमवाजी करने लगे, तो सफेदपोश खत्म हो जायेंगे । परन्तु मेहनतकशका समाजमें कोई स्थान नहीं हैं । उसको भरपेट खाना भी नही मिलता । लेकिन यदि वही मेहनतकश काम करना वद कर दें तो वडे-वडे कारखानोके धुँएँ वद हो जायेगे । और समाज-सेवाके जितने उपक्रम है, सब पर ताले लग जायेंगे । आज हम कहते हैं कि लोगोका जीवन-स्तर ऊँचा नही । लेकिन जीवनको ऊँचा उठानेवालेकी तरफ किसी का खयाल नहीं है । इसलिए मैं कह रहा था कि स्टैण्डर्डको वदलनेकी आवश्यकता होती है । और वह तभी वदला जा सकता है, जव कि विचारोमें क्राति आती है । जव तक हमारे विचारोमे क्राति नही आती हैं, तव तक हम कुछ नही कर सकते । जव तक हमारे दिमागमें पुरानी चीज़ भरी है तव तक नये समाजकी रचना कैसे हो सकती है ? हमारे विचारोमें क्राति नहीं है, इसलिए हम मरहम-पट्टी वाला काम करते हैं । गाधीजी और दूसरे लोगोमें यही मौलिक अन्तर था । गाधीजीका कहना था कि यदि जख्मको आराम कर सकते है,

तो आराम करें और यदि आराम नही हो सकता तो काटकर फेंक दें। लेकिन हम तो उसपर रेशमी पट्टी बाँधकर दूसरोंको धोखा देते हैं। हमारी नीति कहती है कि सत्य बोलो कटुसत्य न बोलो। लेकिन अगर सत्य है, तो कहना ही चाहिए। वर्ण-व्यवस्थाका सीधा सम्बन्ध हिन्दू धर्मके मौलिक सिद्धान्तोंसे है और वह सिद्धान्त कर्म और पुनर्जन्मका है। मैंने अधर्म या पाप किया तो हरिजनके घरमें पैदा हुआ और आपने पुण्य किया, तो ब्राह्मणके घरमें। लेकिन बातें तो इसमे उल्टी मिलती हैं। एक भगी वेद जानता है और ब्राह्मण यह भी नही जानता है कि वेद चार हैं या चौबीस।

पुनर्जन्मका सिद्धान्त

मुझे ऐसा मालूम होता है कि जिन लोगोको दबाया गया, उनके अन्दर विद्रोहकी भवना न जगे इसलिए कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका निर्माण किया गया था। हमें छूआछूत मिटानी है, वर्ण और जाति-व्यवस्था मिटानी है। एक बार जो परम्परा हमारे दिमागमें बैठ जाती है, उससे उल्टी बात हम सुननेको तैयार नही।

हमको अपने देशमें नवीन समाजकी रचना करनी है जिसकी बुनियाद समानताके ऊपर होगी। जब तक जाति-प्रथा रहेगी तब तक समाजवाद आ नही सकता। दोनो एक साथ चलनेवाली चीज नही हैं। दर्शनके जगतमें चल सकती है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के नारेमें चल सकती हैं। सोशलिस्ट पैटर्नके माने क्या है? समाजवाद का अर्थ कि सब लोग बराबर हो जायें, गलत है। समाजवादके असली माने होते हैं कि हम सबको समान अवसर दें, अपना विकास करनेमे कोई कुठित न रहे।

समाज-सुधार और कानून

आज लोग कहते हैं कि धार्मिक और सामाजिक मामलोमें कानून नही होना चाहिए। मैं पूछता हूँ कि क्या कभी कानून या राजदण्ड के बिना व्यवस्था कायम रही? बराबर राजदण्डका भय रहा है। पहले तो भिन्न जातिकी सन्तानको दौलत आदिसे वञ्चित कर दिया जाता था लेकिन अब उनको अधिकार दे दिया गया है। एक ही जातिके स्त्री और पुरुष के विवाहकी परिपाटी यदि न रहे तो जाति-प्रथा बहुत जल्द खत्म हो जायगी। आज तो इस चीज़की आवश्यकता है और तभी हम उस बुनियादी कामको कर सकेंगे। जितना इस देशको जाति-व्यवस्थासे नुकसान है, उतना न तो मुसलमानोके आक्रमणसे और न ईसाइयोके आक्रमणसे हुआ है। प्राचीन परम्पराको तोड़ना होता है, तो कष्ट होता ही है।

अगर हम चाहते हैं कि हर इन्सानको अपनी योग्यताके विकासका अवसर प्राप्त हो सके तो इस बातको बदलना है और इस बातको बदलेंगे तो बहुत चीज़ें बदल जायेंगी। समाजका कोई क्षेत्र ले लें सबको समान अवसर प्राप्त नही हैं। मानलीजिए कि दो आदमी बेरोज़गार हैं। एक सवर्ण है और दूसरा हरिजन। दोनोंके पास दो रुपए हैं। नौकरी किसीको भी नहीं मिली। सवर्णने तेल-बेसन आदि खरीदकर शहरमें सड़कके किनारे पकौडी-चाट बनाना शुरु कर दिया और दो रुपए से ८ आने कमा लिये लेकिन हरिजन ऐसा करें, तो उसपर डडे पड जायेंगे। तो समाजकी व्यवस्था उसके रास्तेमें रुकावट होती है। ऐसे कितने ही उदाहरण मैं दे सकता हूँ। आर्थिक क्षेत्र में आप ले लीजिये। अमीर बापका बेटा फेल होकर भी पढ़ता है और गरीब बापका

बेटा पास करके भी टैक्सटाइल मिलका क्लर्क बनता है। अगर हम चाहते है कि समाजवादी व्यवस्था समाजमें कायम हो और समाजके लोगोको समान अवसर मिल सकें, तो समान अवसरके रास्तेमें जो जो चीजें रुकावट पैदा करती है, उनको दूर करनेकी आवश्यकता होती है। रूसमें महान क्रांति हुई, चीनमें महान् क्रांति हुई। उनके यहाँ केवल आर्थि क्रांति थी। हमारे यहाँ केवल आर्थिक क्रांतिसे काम नही चलेगा। हमारे यहाँ सबसे बडी सामाजिक क्रांति गाधीजीने की। इसको और तेजीसे चलानेकी जरूरत है।

आजकी व्यवस्था सड गई है। इसको बदलना है। चाहे धार्मिक क्षेत्र हो, चाहे सामाजिक हो, इनमें हमने अबतक जो क्रांतिकारी कदम उठाया है, उसका मकसद यही है कि हम सभी लोगोको समान अवसर दे सकें। समाजमें परिवर्तनका जो भी कार्य होगा, वह सिर्फ सरकारके ऊपर छोड देनेसे ही नही होगा। सरकारी और गैर-सरकारी दोनोके सहयोगसे ही हो सकता है।

मैं यह चहता हूँ कि जो शोषित वर्ग है, वह ऐसी क्रांति लाये जिसमे सारे राष्ट्रका भला हो। चाहे वह गरीब ब्राह्मण है या भगी, दोनोमें कोई अन्तर नही है। दोनोका उत्थान करना है। जो जमानेसे शोषित रहा है, वह कष्टोको जानता है। जिनपर अन्याय हुआ है वह किसीका शोषण नही करना चाहेगा। हम ऊपर उठना चाहते है किसीको गिरानेके लिए नही, बल्कि इसलिए कि हम उठें, तो सब उठ जायें।

—·o:o·—

श्री सुरेशराम भाई

समाज-निर्माण और सर्वोदय

जिसे समाज कहते हैं, वह वस्तु हमारे देशमें शायद आज तक बन नही पाई है। हमारे यहाँ परिवार है—एकसे एक बड़ा और समरस परिवार है। मगर 'समाज' के दर्शन नही मिलते। यो व्यक्तियोके झुण्ड या परिवारोंके समूह तो मिलते हैं लेकिन उन्हें 'समाज' मानना न्यायसंगत नही है।

मान लीजिए धानका एक ढेर कही रखा है। उसमें से मुट्ठीभर दाने कोई निकालता है। हाथ लगते ही ढेरमें गढा पड़ जाता है। वह गढा भरता नही, गढ़ा ही रह जाता है। कुछ महात्मा-वृत्तिके दाने गढेमें ढुलक पड़ते हैं—लेकिन दूसरे दाने अपनी जगह से टससे मस नही होते। इस वजहसे गढ़ा साबित बना रहता है। इसके खिलाफ किसी बरतनमें पानी लीजिये। उस पानीमें से कटोरा-भर या चुल्लू-भर पानी निकाल लीजिये। पानी निकाल लेनेके बाद भी बरतन के पानीमें कोई गढा नही पडता। जैसे ही पानी निकाला, आसपासकी बूँदें गढेको तुरन्त भर देती है। बरतनके पानीकी सतह भले नीची हो जाए, मगर पानीके कणोको असलमें गढा रखना बर्दाश्त नही है। धानके दानोकी वृत्ति झुण्डके जैसी है, पानीके कणोकी समाज-जैसी। भारतकी हालत देखते हुए ऐसा लगता है कि हम अपनेको समाज भले कहलें, लेकिन दानोंकी जैसी व्यक्तिगत और दयनीय स्थितिमें हम हैं, पानीके कणोकी जैसी समाजनिष्ठ और गौरवपूर्णमें नही।

यह सब देखते हुए ऐसा लगता है कि भारत-भूमिमें 'समाज सुधार' का काम तो बादको होगा, पहली जरुरत 'समाज-निर्माण' की है। जिस देशमें लाखो-करोडो आदमी अछूत समझे गये, दूसरे लोगोको जिनकी हवा भी बर्दाश्त न हो—उस देशके बारेमें क्या कहा जाय? तमिलनादके तन्जौर जिलेमें ऐसे ब्राह्मण आज भी मिलते हैं, जिन्हें हरिजन की शक्ल दिखना अपशकुन है। यही नही जिनकी दृष्टिमें अब्राह्मण अछूत है! अछूतोंमें भी आपसमें छुआछूत चलती है। यानी अगर सवर्ण अछूतोसे बचते है तो अछूत भी अछूतोंसे बचते हैं। इस तरह हमने जात-पाँत छुआछूत आदिके अनेक छोटेसे छोटे घरोंदे बना लिये है और उन्हीमें पडे सडते रहते हैं। जिस तरह तालाबका पानी न बहनेके कारण गन्धाता है, उसी तरह हमारी प्रेम-भावना परिवारके बाहर नही बहने के कारण अन्दर ही अन्दर गन्ध देने लग जाती है। यही हमारी असामाजिक प्रकृतिके लिये जिम्मेदार हैं।

हमारे देशके साधुओंने इस दोषको पहचान लिया। उन्होंने इसके खिलाफ आवाज उठाई। कबीरने यहाँ तक कहा—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥

कबीरके अलावा दादू, नानक आदि अनेक संतोंने हमारी इस असामाजिकतापर प्रहार किया। लेकिन हमने एक अनोखी चाल चली। वह यह कि जन-समूहको दो भागोंमें बाँट लिया। एकमें साधु-सन्यासी, दूसरेमें गृहस्थ। हमने यह बँटवारा किया कि साधुकी मालकियत रहेगी नैतिक शक्तियोंपर —जैसे सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि। और गृहस्थकी मालकियत रहेगी भौतिक शक्तियोंपर—जैसे धन, धरती, सम्पत्ति, उद्योग-धन्धे आदि। हमने यह भी मान लिया कि साधुको श्रम या सेवा करनेकी जरूरत नहीं है। गृहस्थ उसका पालन-पोषण कर देगा। और गृहस्थको सत्य, अहिंसा, प्रेम, संयमकी पाबन्दी रखनेकी जरूरत नहीं है। यही नहीं बल्कि यह भी मान लिया गया कि गृहस्थको असत्य, हिंसा, वैर, असंयमसे कोई परहेज़ करनेकी जरूरत नहीं है। इसका परिणाम यह था कि संतोंके वचनोंको 'आदर्श' या 'वास्तविकतासे परे' की चीज़ कहकर गृहस्थ हँसते हुए उड़ा देता था। चीज़को अच्छी तो जरूर बतलाया, मगर उसपर "अव्यावहारिक" की मुहर लगा दी। इसका नतीजा यह हुआ कि —मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।

उन्नीसवीं सदीके अंत तक देशकी यह दुर्दशा चलती रही। उन्नीसवीं सदी के हमारे महापुरुषोंने—राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द सरस्वती और श्री रामकृष्ण परमहंसने जात-पाँत और छुआछूतके घरौंदोंको शैतानी और हैवानी कहकर उनको गलत बताया। इसके कारण कुछ लोगोंकी, विशेषकर शिक्षितोंकी मनस्थितिमें फर्क पड़ना शुरू हुआ। लेकिन असली दुनियामें हालत वैसी ही बनी रही।

उन्नीसवीं बीसवीं सदीके शुरूमें स्वामी विवेकानन्दने जोर की ललकार दी ऐसे धर्मको —जो भेद-भाव बढ़ावे, निष्क्रियता पैदा करे, आलस्यको प्रोत्साहन दे—निषिद्ध बनाया। उन्होंने "दरिद्र नारायण" शब्दका आविष्कार और उसकी सक्रिय सेवा करनेके लिये अपने देश-वासियोंका आवाहन किया। इससे शिक्षितोंके बीच पूरी खलबली मच गई और उनका मानस तैयार हो गया।

इस गरम लोहेपर एकसे एक करारी चोटें महात्मागांधीने लगाईं। जानकी बाजी लगाकर अछूतोंके अधिकारके लिये और सवर्णों के अन्यायके खिलाफ वह खड़े हो गए। जात-पाँत और छुआछूतकी बुनियादें हिल गईं और सदियों पुराने किलेकी दीवारें ढहने लग गईं। तिसपर भी साम्प्रदायिक भावना अन्दर घर बना चुकी थी और अंग्रेजी सरकार ने उसे और जहरीला व गहरा कर दिया था। देश आजाद हुआ—लेकिन उसके दो टुकड़े हो गए।

× × × ×

अब सवाल यह है कि आजादीके बाद असामाजिकताको कैसे मिटाया जाये 'समूह' का 'समाज' में रूपान्तर कैसे हो?

लोकतंत्रमें शासनका यह कर्त्तव्य होता है कि जनताको दु.ख देनेवाले, उसके अन्दर असमानता और विपमताका वीज वोने वाले सावनोका पता लगाकर उन्हें नष्ट करे ताकि लोग सुखी जीवन विता सकें। यही वजह है कि क्या हमारी पार्लियार्मेंटमें क्या प्रान्तीय विधान-सभाओमें, आये दिन सुधार-संवंधी कानून वनते है। वैलफेयर स्टेट या कल्याणकारी राज्य अपना यह धर्म समझता है कि जनताकी सारी प्रवृत्तियोका भार वह खुद उठाकर जनताका संकट निवारण करे।

लेकिन कष्ट-निवारण एक वात है, समाज-निर्माण दूसरी। लोगोंका ऊपर-ऊपरसे दुःख मिटाना एक चीज़ हैं, दुःखकी जड़को ही उखाड़ फेंकना दूसरी। पिछले सौ सालमें देशमें जो वीता सो किसीसे छिपा नही है। जिस जाति-भेदपर राजा राम-मोहन रायसे लेकर महात्मागांधी तकने प्रहार किये, लोकतंत्रकी चुनाव-प्रणाली ने इस जातिवादको फिरसे जिला दिया। कौन नही जानता कि आज चुनावमें जात-पातका जोर और शराबकी वोतलें तक चलती है? सत्ताको अपने हाथमें रखनेके फेरमें सत्तारूढ़ पार्टीका कोई सिद्धान्त ही नही रहता—सिर्फ यह कि सत्ता उसकी चेरी रहे। इस वास्ते जा या वेजा, जात-पांत या छुआछूत आदि का कोई परहेज़ उसे नही रहता। और जव सत्ताधारी यह करते हैं, तो सत्ताकाक्षी, विरोवी पक्षोके सामने तो कोई पैमाना रह ही नही जाय। सव एक ही देवताके—सत्ताके उपासक ठहरे। उसकी धारणा में प्रेम, सद्भावना, अभेद आदि सारे गुणोकी वलि दी जा सकती है। और दी जा रही है। सत्ता स्वामिनी वनी है—सव उसके दास-दासियाँ है!!

इसलिए यह घड़ी वडी नाजुक वन गई है।

कौन जाने कि आजके कायदे-कानून, आजकी सुधार योजनायें असामाजिक भारत को और भी ज्यादा अति-असामाजिक वना दें। देखनेमें तो ऊपरसे चोखा रंग दीखे, लेकिन अन्दर ही अन्दर मैला पडता सड़ता और फूलता जाये।

हमारे इस डरका एक विशेप कारण है। वह है भी स्पष्ट। यह कि नये-नये कायदे-क़ानून या सुधारक- प्रोग्रामोके कर्त्ता-धर्त्ता कौन है? वही है जिनके हाथमें सत्ता है, जिनके पास सम्पत्ति है, जिनका उत्पादनके सावनोपर कमोवेश स्वामित्व है। इनमेंसे ज्यादातर लोग यह मानते है कि संघर्प और प्रतियोगिताही जीवनके आधार है। वे यह भी मानते है कि कुछ लोगोका ज्यादासे ज्यादा भला हो सकता है, मगर सवका भला करना नामुमकिन है। दूसरे शब्दोंमें—आजके अधिकांश सार्वजनिक कार्यकर्त्ता 'अल्पोदय वादी है। उनकी सर्वोदयमें—सवके हितमें—श्रद्धा नही है। उनका विश्वास है कि सव अंगोको तो सतुप्ट नही किया जा सकता, कुछको किया जा सकेगा और कुछकी ख़ातिर वाकी थोडे-सोकी अवहेलना करनी ही पड़ेगी। आज सारी दुनियामें अल्पोदय-वादियो का ही राज है—चाहे उनका रूप अमरीकाके जैसा पूंजीवादी हो, इंगलैण्डके जैसा लोकतंत्रवादी हो या रूसके जैसा साम्यवादी हो। सवका गुरुमंत्र है, 'अल्पोदय'।

अनेक कारणोंसे—खासकर साम्राज्यवादी, गोचर या अगोचर, सुविधाओका इस अल्पोदयके आधारपर चलकर भी कुछ ज्यादा विगाड़ नही हुआ। वहाँकी साधारण जनता दु.खी है, वहाँ विपमता है, वहाँ शोपण चलता है। मगर साम्राज्यकी लूटकी

बदौलत वह दुखडा ज्यादा उग्र रूप नही ले सका। लेकिन आज हमारे देशको वह सहूलियत हासिल नही है—भगवान न करे कभी हो।

फिर अल्पोदयके अनुसार, आठ-नौ वरसमें जो 'विकास' हुआ है, उससे विषमता और असमानता बढी ही है। यही नही आपसमें दिल फटे हैं, दरारें चौडी हो गई है। बम्बई, कटक और अहमदावादकी घटनायें रह-रहकर यह सन्देश दे रही है। ऐसी हालतमें कुछ दु खका सुधार भले हो जाये, समाज-निर्माण कैसे हो सकता है? भगी को वेतन जरूर ज्यादा मिलने लगेगा, लेकिन भगीकी जाति नही मिट सकती। लोक-जीवनके विभिन्न अगोको जीवन-सामग्री आजसे अच्छी मिल सकती है, लेकिन 'समाज' रूपी फूल नही खिल सकेगा।

हमारा विनम्र निवेदन है कि वर्त्तमान भयानक परिस्थितिका सफलतापूर्वक सामना करनेका एक ही उपाय है। यह कि "अल्पोदय" की बजाय "सर्वोदय" को अपनी आधार-शिला बनायें। स्वराज्यप्राप्तिके पहले ही महात्मागाधीने "सर्वोदय" का मत्र हमें दे दिया था। और उस दिशामें आर्थिक, सामाजिक व नैतिक दृष्टिसे कुछ रूपरेखा भी खीची थी। लेकिन विदेशी सत्ताकी मौजूदगीमें हम वह आगेका कदम रखनेसे मजबूर थे। उसकी विदाईके बाद जब नये कदम उठानेका समय आ रहा था कि हमारे बीच से वह चले गये। मगर करना क्या है—वह क्या चाहते थे—इसका चित्र तो वे बता ही चुके थे। वास्तवमें उनका जीवन ही उसका सर्वोत्तम दृष्टान्त था।

तेजीके साथ देशका मानस बदल रहा है। असामाजिकतासे तग आकर भारत अब नई करवट ले रहा है। अल्पोदयके नाटकके भयानक परिणाम विदेशमें और स्वदेशमें भी देखकर, भारतकी जनता अब सर्वोदयकी तरफ कदम रख रही है। हमें आशा और विश्वास है कि "वसुधैव कुटुम्बकम्" के मत्रका प्रथम उच्चार करनेवाला भारत एक परिपूर्ण कुटुम्बके रूपमें निखर उठेगा। और फिर उस प्राचीन मत्रको साकार रूप देनेमें भी समर्थ होगा। यही सच्चे सुधार और समाज-निर्माणका सुनिश्चित मार्ग है।

—.०ः.—

श्री चन्द्रोदय दीक्षित

सामाजिकताके नये मूल्य

सामाजिकताके नये मूल्योपर विचार करते समय हम दो मार्गोका अनुसरण कर सकते है। एक तो हम अपने देशके नवीन संविधानके निर्देश-सिद्धातों, मौलिक अधिकारो और अन्य संरक्षण-अधिकारोको स्वीकार करलें, साथ ही संसदने देशमें समाजवादकी स्थापनाका जो लक्ष्य घोषित किया है, उसको भी अपना आधार मानलें और वर्तमान समाजपर पडनेवाले विभिन्न प्रकारकी प्रतिछायाओका मूल्यांकन करनेके चक्कर में ही न पड़ें और दूसरा रास्ता यह है कि हम वर्तमान समाजकी विवेचना करें। समाज की धार्मिक निष्ठा, राजनीतिक चेतना, आर्थिक शृङ्खलाएँ और भविष्यकी आशाओ और आकांक्षाओको मूर्त करनेवाले विचारोकी विवेचना करें, वर्तमान मनुष्य और उसकी सामाजिकताकी परीक्षा करें और मनुष्यके सम्यक् चरित्रके निर्धारणके लिए आवश्यक नियमोकी खोज करें। एक लेखकी सीमामें दोनो प्रकारकी विवेचना के साथ पूर्ण न्याय किया जा सकेगा, इसमें संदेह है। हम विशद् विवेचना तो नही कर सकेंगे, लेकिन नैतिक आचरणके नियमोको ढूढ़नेके लिए इस प्रकारकी विवेचनाकी अवहेलना भी नही की जा सकती।

सबसे पहले हम संविधानके निर्देश-सिद्धान्तोपर विचार करेंगे। संविधानकी १५ धाराओमें (३६ से ५१) तक इनका उल्लेख है। इनमें कहा गया है कि राज्यको नागरिकोंके कल्याणके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये, सभी नागरिको की जीविकाका प्रबन्ध किया जाना चाहिये, जच्चा-बच्चाकी समुचित व्यवस्था और सुविधाका प्रबन्ध करना चाहिये, राज्यको सभी नागरिकोंके लिए एक प्रकारका कानून बनाना चाहिए, १४ वर्षकी आयु तक सभी बच्चोको निःशुल्क शिक्षाकी व्यवस्था, मद्य-निषेधका प्रबन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय जगतमें शान्ति और सुरक्षाका समर्थन करना राज्यका कर्त्तव्य होगा। स्मरण रहे कि निर्देश-सिद्धात मौलिक अधिकारोंसे भिन्न है और इनको लागू करानेकी माँग नही की जा सकती। राज्यको इनकी ओर अग्रसर होनेका अधिकार रहेगा।

भारतीय संविधानमें मौलिक अधिकारोकी जो घोषणा की गयी है, उसमें समानता, स्वतंत्रता, शोषणसे मुक्ति, धार्मिक स्वतंत्रता, सम्पत्तिका अधिकार; संस्कृति और शिक्षा के अधिकारका और इन अधिकारोकी रक्षाकी विधिका उल्लेख है। संविधानकी धारा १७ के अन्तर्गत अस्पृश्यता समाप्त की गयी है। धारा १६ के अतर्गत भाषण और

अभिव्यक्तिकी स्वतन्त्रता, सभा और संघ बनानेकी स्वतंत्रता, आवागमनकी स्वतन्त्रता, सम्पत्ति अर्जन और विसर्जनका अधिकार, पेशे और व्यापारकी स्वतन्त्रताका उल्लेख है। राज्यकी ओरसे जिन नौकरियोंकी भर्त्ती की जायेगी उनमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं किया जायेगा। बिना किसी कानूनी अपराधके कोई व्यक्ति गिरफ्तार नहीं किया जायेगा और किसी व्यक्तिका जीवन या उसकी सम्पत्तिका बिना कानून अपहरण नहीं किया जायेगा।

संविधानके इन अंशोंको पढ़नेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतके प्रत्येक नागरिक को सामाजिकता, आर्थिक और राजनीतिक न्यायका अधिकार है। उसे अभिव्यक्ति, विश्वास, निष्ठा और उपासनाकी स्वतन्त्रता है। सभी नागरिक समान हैं, और व्यक्ति की प्रतिष्ठा भी सुरक्षित हैं। संसदने देशमें समाजवादी समाजकी स्थापनाका लक्ष्य घोषित किया है और पंचवर्षीय योजनाओंके माध्यमसे उसे स्थापित करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। इस पृष्ठभूमिपर हमें देखना चाहिये कि समाजवादी समाजमें सामाजिकता के क्या मूल्य होने चाहिये। इस प्रश्नका उत्तर देनेके पूर्व हमें दूसरी पद्धतिकी भी विवेचना कर लेनी चाहिये।

यह कहना तो निर्विवाद है कि मानव-समाज चिर-परिवर्तनशील है। मानव-समाजका अविच्छिन्न इतिहास विभिन्न युगोंमें बँटा हुआ है। प्रत्येक युगकी कुछ अपनी विशेषताएँ होती है और ये विशेषतायें उस युगके सामाजिक संगठन और आचार-विचार को भी प्रभावित करती है। इन आचार-विचारोंको ही युग-धर्म कहा जाता है। युग धर्ममें दार्शनिक सिद्धान्तकी आधारशिलापर निर्मित प्रासाद है जिसमें आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक तथा धार्मिक चार खंड है। इनमेंसे कौन प्रथम और कौन द्वितीय है, इस सम्बन्धमें मतभेद चाहे भले हो लेकिन इनके अस्तित्व एवं महत्त्वसे इन्कार नहीं किया जा सकता।

वर्तमान युग-धर्मका स्वरूप स्थिर करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम वर्तमान समाजका विश्लेपण करें। आज धर्म और दर्शनकी भावनामें वैसा ही संकट है, जैसा हमें सामाजिकताके क्षेत्रमें दिखायी देता है। भारतीय धर्म और दर्शन की विविधता होते हुए भी उसका पुराना स्वरूप नष्ट हो गया है। प्रारम्भमें दर्शन समग्र ज्ञानके आधार पर निश्चित ऐसा सिद्धांत माना जाता था जिससे संसारकी समस्त समस्याएँ सुलझायी जा सकती थी। धर्म उन्हें विश्वास मानकर आचरणके नियम स्थिर कर देता था। गीताके लिए तो स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि उसमें सभी दर्शनोंका सार है। ज्ञान अनन्त है और नवीन वैज्ञानिक अनुसंधान, अनेक दार्शनिक मान्यताएं शिथिल पड़ती जा रही हैं। भारतमें दर्शनके विकासका बहुत कम काम हुआ है। फिर धार्मिक क्षेत्रमें तो और भी कलह है। अनेक धर्म और उनकी विभिन्न अवस्थाओंके बीचमें भी कुछ ऐसे नियम चले आते हैं, जिन्हे सभी धर्मोंमें आदर प्रदान किया गया है। उनमे दया, क्षमा, दान, धृति, अस्तेय, अपरिग्रह, अपरिहार्य, और सत्य शामिल हैं। गांधीजी ने अहिंसाको इसमें और जोड दिया है। विभिन्न धर्मोंकी विविधता तथा विरोधको छोडकर सामाजिकताके नियमोंके लिए इन्हें आधार बनाया जा सकता है।

राजनीतिक चेतनाके संबंधमें इतना कहा जा सकता है कि भारतने लम्बे सघर्षके बाद स्वतंत्रता प्राप्त की है। सघर्षके दिनोमें प्रजातांत्रिक चेतना और समाजवादी सिद्धान्त से हम प्रभावित हुए थे। राजनीतिक क्षेत्रमें व्यक्तियोकी समानताका सिद्धान्त तो प्रजातंत्रमें ही स्वीकार कर लिया गया है। समाजवादमें तो आर्थिक क्षेत्रमें भी इसको माननेपर जोर दिया जाता है। विभिन्न राजनीतिक मतवादोको लें, तो उन सबमें मानवको केन्द्रमें रखे बिना काम नही चलता। अधिनायकशाहीमें अतिमानवकी ओर से यह घोषणा की जाती है कि वह मानव समाजके कल्याणके लिए शासन करता है। यह घोषणा भी राजाके शासनके ईश्वरीय अधिकारसे भिन्न नही है। प्रजातान्त्रिक सिद्धातो का आधार बहुजन हिताय बहुजन सुखाय माना गया था लेकिन हमारे राष्ट्रपिता गाधीने तो इसे और अधिक विस्तृत करके सर्वजन हिताय बना दिया है और इसी आधारपर उन्होंने अपना सर्वोदय सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वे कार्लमार्क्सकी वर्गकी लघु सीमासे आगे बढ गये है। स्वर्गीय श्री मानवेन्द्रनाथ रायने भी समस्त मानवसमाजके विकास का सिद्धान्त अपनाया। उन्होने मानव-समाजके नैतिक आचरणके नियमोके लिए धार्मिक विश्वासको अपना आधार नही बनाया। उनका कहना है कि मनुष्यमें सद्‌बुद्धि और सद्‌विवेक है। इसी आधापर वह अपना सम्यक् चरित्र बना सकता है। सम्यक चरित्र का आधार धर्म या राजसत्ता हो ऐसा आवश्यक नही है क्योकि इन दोनो का मूल भय है और भय मानवताके लिए लाछन है। मानवताको विकसित करने के लिए मानवकी स्वतत्रताकी आवश्यकता है और सम्पूर्ण मानव इतिहास इसी स्वतत्रता का संघर्ष है। वर्ग-रहित समाजकी स्थापनाके लिए भी वर्ग संघर्ष और उसके लिए वर्ग संगटनकी नही अपितु मानव चेतनाको उद्‌बुद्ध करनेकी आवश्यकता है। विवेक ही इसका एकमात्र मार्ग है। अतः मनुष्यमें सम्यक् ज्ञान, विवेक और आचरणके द्वारा ही स्वतत्र मानवसमाजकी स्थापना हो सकती है जिसमें समाजकी वर्तमान विकृतियाँ नष्ट हो जायँ। आर्थिक शोषणका विष तो नष्ट ही करना पड़ेगा क्योकि इससे दोहरी हानि होती है। यह मनुष्यको हीनतम दशामें ले जाती है। जिसका शोषण होता है और जो शोषण करता है वे दोनों ही मानवके सहज रूप स्वभावसे वंचित हो जाते है। लोभ और स्वार्थ एक को अधा बना देता है और दूसरेके हाथ पाँव जकड़ देता है। फिर भी यदि मानव-समाजके विकासकी विभिन्नता स्थितियोकी परिसीमाओको भी स्वीकार कर लिया जाय, तो भी उन्हें शाश्वत नही माना जा सकता। अतः मनुष्यको अपनी मुक्तिके लिए लोभ, स्वार्थ, मोह, वासना, घृणा और क्रोधको दया, क्षमा, दान, करुणा, अपरिग्रह, अस्तेयसे जीतना पड़ेगा।

ऊपरकी विवेचनाके विरोधमें कुछ क्षेत्रोसे यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समाज का मनुष्य अंग्रेज विचारक हाब्सके उस कथनसे भिन्न नही है, जिसे उसने मनुष्यकी प्राकृतिक स्थिति बतलायी है। व्यक्ति-स्वार्थ, वर्ग-स्वार्थ, जाति-स्वार्थ, धर्म-स्वार्थकी जडताने जीवनके सभी अंगोको विकृत कर रखा है। सामाजिक जीवनमें ईमानदारी दिखलायी नही देती। अरक्षा और प्रतिस्पर्धाकी भावनामें ईमानदारी दिखलायी नही देती। अरक्षा और प्रतिस्पर्धाकी भावनाके कारण सामाजिकताके मूल्य-नीति अनीति का विचार नष्ट सा हो गया है। सत्यका पालन तो दूर, लोग उसका अर्थ ही भूल गये

है और कुछ क्षेत्रोंमें तो स्वार्थका ही दूसरा नाम सत्य कर दिया गया है। इस प्रकारके मनुष्यको क्या सुधारा जा सकता है ? उसको यदि राज-दंड और नरक-दडका भय न रहे, तो क्या वह सुधर सकता है ? इन दोनो प्रश्नो केउत्तरमें इतनाही निवेदन है कि राजदड और नरकदड इन दोनोमे कोई पारलौकिक शक्ति नही है। अधिकतमसे अधिकतम सामाजिक चेतनाका नियत्रण इन्हे कहा जा सकता है और यह सामाजिक चेतना भी वर्ग-स्वार्थ और निहित-स्वार्थोकी रक्षा करने लगती है अत नवीन सघर्षोमें इनकी सत्ताका मूलोच्छेद हो गया है। वर्तमान समाजकी विशृखलता तो इतनी बढ गयी है कि मनुष्य अपने स्वाभाविक गुणोसे वचित हो गया है। विकृत मनुष्यको सामान्य मनुष्य मानना ही अनुचित है। अत यह कहा जा सकता है कि यदि मानव-समाजको अमानवीय तत्वोसे मुक्त कर दिया जाय, तो उसमें फिरसे सम्यक चरित्र उत्पन्न हो सकता है।

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि भारतमें अधिकारकी अपेक्षा धर्म या कर्तव्य पर अधिक जोर दिया गया है। इस बातकी परीक्षा करें, तो हमें मालूम होगा कि कृषि समाज और सामन्त-समाजमें इस प्रकारकी मान्यताये समाजपर लाद दी जाती है। वैसे कर्त्तव्य और अधिकार एक ही प्रक्रियाके दो नाम हैं। नैतिक व्यवहारके नियमोके सम्बन्धमें कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्तिको दूसरेके साथ सत्व्यवहार करना चाहिये। यह कर्तव्य समझा जाता है लेकिन कानूनकी दृष्टिमे इसे थोडे अन्तरके साथ स्वीकार कर लिया गया है कि दूसरेके साथ दुर्व्यवहार करना दडनीय है। यहां दूसरेका अर्थ केवल उस व्यक्तिसे है, जो एकके दुर्व्यवहारसे कुछ क्षति या हानि उठाता है। इस उदाहरणमे नैतिक नियम कानूनका स्वरूप कैसे ग्रहण कर लेते है यह साफ हो जाता है।

समाजकी इस समयकी सबसे महत्वपूर्ण मान्यता है समानता। इस मान्यताके पीछे इस अधिकारके लम्बे सघर्षकी कहानी है। इस्लाम, ईसाई धर्मोमे मनुष्यको समान माना गया है। वेदान्तमें सभी व्यक्तियोमें समान आत्मा मानी गयी है फिर भी तत्कालीन समाजमे वेदान्तके प्रतिपादको ने श्रेष्ठ और हीन जातियोका समर्थन किया। बौद्ध धर्म और सन्त परपरामे व्यक्तिको समान माननेका प्रयास किया गया। प्रजातन्त्रतो इसी आधारको लेकर चलता है। इसके पूर्व धार्मिक पुनर्जागरणके कालमें महर्षि दयानन्द सरस्वतीने अछूतोद्धारकी आवाज उठायी जिसे बादमें गाधीजीने आगे बढाया। व्यक्ति की समानताके सिद्धान्तके आधारपर वर्ग, जाति, वर्ण, धर्म और लिंगकी असमानताका तिरस्कार किया जाने लगा है। पुरुष और स्त्रियोके अधिकार समान होने चाहिये। समान कार्यके लिये समान पारिश्रमिक मिलना चाहिये। कानूनके समक्ष सभीको समान सरक्षण मिलना चाहिए। इस दृष्टिसे देखा जाय, तो कहना पडेगा कि दो-तीन वर्ष पूर्व इलाहाबादके कुम्भ मेलेमें विशेष व्यक्तियोकी ओर पुलिसने विशेष ध्यान देकर और सामान्य व्यक्तियोकी उपेक्षा करके जिसके फलस्वरूप बहुतसे व्यक्ति मर गये जघन्य अपराध किया था।

नये नैतिक मूल्योमें दो-तीन बातें स्पष्ट रूपसे सामने आ रही है। पहली तो यह कि सम्पत्तिके उत्तराधिकारमें पुत्रके समान पुत्रीका भी अधिकार माना जाने लगा है। पुरुष और स्त्रीके विवाह सम्बधमें अभी दोनोका स्तर समान तो नहीं हो गया है फिर भी

समानताकी दिशामें ही प्रयास हो रहा है। अब पुरुष एकसे अधिक स्त्रियोके सहवास का सुख लूटे इसे अनैतिक माना जाने लगा है और जहाँ एकको छोड़कर दूसरे साथीको ढूँढनेकी बात है, वह अधिकार पुरुषके समान स्त्रीको भी मिल गया है। अशिक्षा और आर्थिक दृष्टिसे पराश्रित होनेके कारण आज स्त्री चाहे अपने अधिकारका उपयोग न कर सके लेकिन भावी समाजमें उसे इन अधिकारोसे वञ्चित नही रखा जा सकेगा। भविष्य में स्त्री और पुरुष समानताके आधारपर एक-दूसरेके साथ सहयोग करेंगे यह विश्वास दृढ होता जा रहा है।

इन बातोंके अतिरिक्त आचार, व्यवहार, आहार और विहारके नियमोमें नवीन स्थितिमें परिवर्तन हो रहे हैं। व्यक्तिके निजी स्वार्थ और समाजके सम्बन्धोंमे जो नया संतुलन स्थापित करनेकी दिशामें हम आगे बढ रहे है उसमें वर्तमान समाजकी विषमताजन्य दैन्य या अमानवीय लक्षणोका ह्रास होगा और व्यक्ति अपनेको समाजके बडे कुटुम्ब का सदस्य समझ सकेगा। समाजको व्यक्तिके हितोका संरक्षण करना है अत पुराने बन्धन समाप्त होनेपर पुरानी क्षुद्र वृत्तियाँ भी नष्ट हो सकेंगी। आचार और व्यवहार में सम्यक ज्ञान, सम्यक् विवेक और सम्यक् चरित्रके आधारपर नवीन भ्रातृत्व भावना का उदय होगा।

आहार और विहारके सम्बन्धमें समाजकी वर्तमान मान्यताओपर एक ओर अतीत की धार्मिक भावनाओका प्रभाव है और दूसरी ओर नवीन ज्ञानका। दोंनोने वर्तमान मनुष्यको किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया है। पुरानी मान्यताओंमें प्रत्येक धर्ममें खानपान पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे। प्रतिबन्ध लगानेके कारण की खोजका प्रयत्न तो इस लेख में नहीं किया जा सकता फिरभी भौगोलिक कारणोके अतिरिक्त धार्मिक मूढाग्रहोंके कारण भी बहुत-सी मान्यताएँ स्थिर की गई थी। आधुनिक शोधोमें खानपानकी सीमायें—अमुक वस्तु खाओ और अमुक न खाओ यह माननेके लिए कोई सबल तर्क नही है। कही मास खाया जाता है और अडा नही खाया जाता। कही अंडा खाया जाता है मांस नही खाया जाता। कही मछली खायी जा सकती है और मांस तथा अंडा नहीं खाया जा सकता। कही हसेर डिम्ब (बत्तखका अंडा) खाया जा सकता और मुर्गीका अंडा नही खाया जा सकता। इन बातोंके सबधमे कोई आन्दोलन तो नही हुआ लेकिन पुराने प्रतिबन्ध शिथिल होते जा रहे है। पहले ये प्रतिबन्ध होटलो और रेस्ट्राओमें टूट रहे है फिर छिपे रूपसे घरोमें टूटेंगे और कुछ पीढ़ियो बाद शायद आसानी से टूट जायेंगे।

विहारके सम्बन्धमें कुछ कहना आवश्यक हो गया है! हमारे देशमें ब्रह्मचर्यपर अतिशय जोर दिया जाता रहा है, लेकिन फिर भी सृष्टिसर्जनमें भारत संसारके अन्य देशो से आगे है। ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विश्वासका आधार शरीर विज्ञान सम्बन्धी वह ज्ञान है जो हजारो वर्षो पुराना है। शरीर-विज्ञानने काफी प्रगति की है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि बालक या बालिका जब युवा होती है, तो उसमें कामेच्छा उत्पन्न होती है, कामेच्छा पुरुष और स्त्रीकी वयस्कताका लक्षण है। वयस्क होते समय जिस प्रकार स्त्री रजस्वला होती है उसी प्रकार युवकका भी वीर्य पात होता है। हमारे देशमें काम-संबंधी बात करना पाप समझा जाने लगा है और युवक और युवतीको जब रज या वीर्य

पात होता है तो वह घवडा उठती है और वह समझती है कि न मालूम किन पापोंका उदय हुआ। काम या यौन संवधी ज्ञान किसीको नहीं वताया जाता और उल्टे उसमें पाप की भावना दृढ कर दी जाती है। इसकी अपेक्षा आवश्यकता इस वातकी है कि हम युवक और युवतियोको शरीर-विज्ञानकी मोटी-मोटी वातें उनके युवा होनेके पूर्व ही वतला दें। यौन और कामके सम्वन्धमे भी आवश्यक वातें स्वास्थ्य और सफाईके नियमोके अनुसार वतला दें। इससे दो लाभ होगे एक तो युवको और युवतियोमें पाप-वृत्ति उत्पन्न नही होगी और दूसरे वे इस प्रकारके सम्वन्वोके लिए कुसगतिमें नही पड़ेंगे। वर्तमान चिकित्सकोके मतानुसार युवक और युवतीके वयस्क होनेपर रज-दर्शन होने या स्वप्नदोप अथवा किसी अन्य प्रकारसे वीर्यपात हो जानेमें खतरेकी कोई वात नही हैं। कुछ डाक्टरोका तो कहना हैं कि वीर्यपातसे उतना ही नुकसान होता है जितना थूक थूकनेसे होता है। यह सव कहनेके साथ ही कुसंगतिमें न पडनेकी चेतावनी दे देना आवश्यक है। इस सम्वन्धमें यह समझ लेना चाहिये कि युवक और युवतियोको कुसगतिमें डालनेकी जिम्मेदारी वहुत कुछ अशमें माता-पिताकी होती है। वे अपनी निर्लज्जता छिपा नही पाते और लडकोपर उसका वुरा असर पडता है। फिर कुछ ऐसे पुरुप या स्त्रियाँ, जो स्वय कुसगतिका शिकार हो चुकते है, उन्हे भी कुसगतिमें घसीटते है। इन सवसे वचनेका एक ही तरीका है कि युवक-युवतियोको यौन अथवा काम सवधी वातें वतला दी जायें। अज्ञान-मूलक ब्रह्मचर्यकी भावनासे स्वास्थ्य-रक्षा होनेकी अपेक्षा पाप-वृत्ति ही अधिक वढती है। पाप-वृत्तिका एक ही लक्षण है। वह है उसको गुप्त रूपसे करना।

विहारका हमें सकुचित अर्थ नही लेना चाहिये। युवक और युवतियोके मिलने पर जो प्रतिवन्ध हमारे यहाँ थे, उनके पीछे भी असमानताकी ही भावना है। ब्रह्मचर्य के पालनकी वात तो दूर रही, यहाँ तो सयमका निर्वाह भी नही होता और छोटी आयुमें ही सन्तानोत्पत्ति आरम्भ हो जाती है। नवीन परिस्थितिमें युवक और युवतियोके मिलने पर प्रतिवन्ध नही लगाना चाहिए। इस प्रतिवन्वके कारण एक ओर आधी आवादीको पगु वना दिया जाता है और दूसरी ओर उसे केवल सन्तानोत्पत्तिकी मशीनके अतिरिक्त कुछ भी नही वनने दिया जाता। नवीन समाजमें पुरुप और स्त्री दोनोको समाजका सहभागीदार वनना है। स्त्रीको जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें पुरुपसे होड लेनी है। मेहनत और उत्पादनके कार्यमें उसे घरसे वाहर निकलना है। अत उसे प्रतिवन्धोमे वाँवना उचित नही है। युवक और युवतियोमें परस्पर आकर्पण होना स्वाभाविक है। दोनोमें मित्रता होना भी वैसा ही स्वाभाविक है। जहाँ कही युवक और युवती मिलें, वहीं यह आरोप करना कि वे दोनो कुसगतिमें पड गये है, मिथ्या और आधारहीन है। फिर वयस्क युवक-युवतियोके मेलके वाद यदि उनमें दाम्पत्य सम्वन्ध विकसित हो, तो इससे घवरानेसे काम नहीं चलेगा। अतीतके स्वयवरोकी कहानियाँ हमें अच्छी लगती है लेकिन अपनी आँखके सामने हम इसे वुरा समझते है। सामाजिकताके नामपर हम १४ वर्पकी युवतीको ६० वर्पीय वृद्धसे व्याहनेमें सकोच नहीं करते, विधवा-विवाहको वुरा कहते है और विधवाको आत्मनिर्भर वननेका अवसर न देकर उसे पापाचरणमें प्रवृत्त करनेको तत्पर हो जाते है। ऐसी निष्ठा और विश्वास चूल्हा जलानेके काममें ही लाया जा

सकता है। इस विषमताके बीच नवीन सामाजिकताकी नवीन रश्मियाँ फूट रही है। अभी हालमें अहमदाबादमें एक युवक और युवतीपर एक पार्कमें चुम्बन लेने के अपराधमें निर्लज्जताका मुकदमा चला। मजिस्ट्रेटने उनपर जुर्माना किया। सेशन अदालतने उन्हें छोड़ दिया और बम्बई हाईकोर्टमें अपील हुई तो माननीय न्यायाधीश ने कहा कि सार्वजनिक स्थानमें चुम्बन लेना अपराध नही है क्योकि सामाजिक चेतनाका आधार बदल चुका है। माता सार्वजनिक स्थानपर अपनी संतानका चुम्बन लेती है। विदाईके समय स्टेशनपर पिता अपनी पुत्रीका चुम्बन लेता है। फिर चुम्बन लेना मात्र अपराध नही समझा जाता। इस प्रकारके अनेक उदाहरण आगे और मिलेंगे।

नवीन सामाजिक चेतनाकी हवामें युवक और युवतियाँ सजग मनसे एक दूसरेका वरण करेंगी तो उससे जो दाम्पत्य जीवन आरम्भ होगा, उसमें दोनोंके व्यक्तित्वका विकास होगा और सच्चे अर्थमें एक-पति या एक-पत्नी भाव विकसित होगा। फिर औरत पैर की जूती नही समझी जाएगी, वह वास्तवमें घरकी लक्ष्मीका आसन ग्रहण करेगी। व्यक्ति-स्वातंत्र्यसे दोनो—पति और पत्नी—में स्नेह-बंधन दृढ होंगे और वे दोनो एक-दूसरेका सम्मान कर सकेंगे। जहाँ यह स्पष्ट हो जायेगा कि दो व्यक्तियोमें सामंजस्यके स्थान पर वैषम्य ही अधिक है, वहाँ निरन्तर एक-दूसरेकी छातीका पीपल बननेके बजाय, वे अलग हो जायेंगे और इस प्रकार के अलगावको कोई हीन दृष्टिसे नही देख सकेगा।

सामाजिकताके नये मूल्योका उदय नवीन समाजकी आवश्यकताओं, परिसीमाओ और आकांक्षाओके त्रिविध-संतुलनसे ही हो सकेगा। इस संतुलनको किसी शोधशालामें बैठ कर निश्चित नही किया जा सकता। इसके लिए तो समाजमें प्रत्येक व्यक्तिको सम्यक ज्ञान, सम्यक विवेक और सम्यक् चरित्रका अनुसरण करना चाहिये। प्रत्येक सामाजिक समस्याके निदानके लिए वर्तमान ज्ञान और उसके प्रयोगको आधार मानना चाहिये और साथ ही व्यक्ति-स्वार्थकी सीमाओंको छोडकर उनका निराकरण करना चाहिए। इस प्रकारके आचरणको सम्यक् प्रज्ञापूर्ण या स्थितप्रज्ञ आचरण कहा जा सकता है। सामाजिकताके नये मूल्यों, नीति-अनीतिकी नयी मान्यताओके निर्धारण के पूर्व समाजमें सामाजिकताकी शिक्षा के प्रसारकी नितान्त आवश्यकता है। इस प्रकारके सम्यक् ज्ञानसे सम्यक् विवेक और सम्यक् विवेकसे सम्यक् चरित्र विकसित होगा और सम्यक् चरित्रके नियमोको समाजकी नवीन मान्यतायें कहा जा सकेगा।

—:o:—

समाजको बदल डालो !

"समाज परिवर्तनशील है। उसमें नित्य नयी बातें होना आवश्यक है। पुरानी बातें अनुपयोगी हो जाती हैं। उनका असली मतलब हम भूल जाते हैं या उनका स्वरूप बदल जाता है। उनका ठाट तो बना रहता है परन्तु प्राण निकल जाता है। जो रीतियाँ या प्रथाएँ अनावश्यक हैं, उन्हें दूर करना ही होगा।"

—प्लेटो

"रूढ़िका विनाश ही नीति और सदाचारका प्रथम सोपान है।"

—कान्त

"न केवल सदियोका ज्ञान, बल्कि सदियोका पागलपन भी हममे फूट निकलता है, वारिस होना खतरनाक है।"

—नीत्से

"अज्ञान और अन्ध-विश्वासकी कट्टरता युग-युगसे मानव-जातिको बीमार करती आ रही है।"

—वाल्टेयर

"ऐसा एक भी शास्त्र नही है, जिसको सदियो तक माननेके पश्चात् मानव-जातिने उससे अच्छे किसी दूसरे शास्त्रकी खोज और प्रचारमें भुला नही दिया हो और आज मानव-जाति अपने इस स्वभावको बदल देगी, यह माननेका कोई कारण नही दिखाई देता। .. मानव-जातिको प्रगतिकी ओर लेजानेवाले सब बडे-बडे सिद्धान्त आरम्भमें मानव-जातिके प्रचलित विश्वासोके प्रतिकूल ही थे और ऐसे व्यक्तियो द्वारा प्रतिपादित किए गए थे जिनको तत्कालीन समाजने अपमानित किया, सताया और फाँसी तक पर चढाया है।"

—जोसेफ मैजिनी

"परम्परासे चली आनेवाली निर्जीव रूढियाँ—मुर्दा बातें—किसी सजीव विज्ञान का थोडा-सा भी धक्का लगनेसे चूर-चूर हो जायेंगी। वे उसे बर्दाश्त न कर सकेंगी। नई और जिन्दा बातोके धक्केको पुरानी मुर्दा बातें किस तरह बरदाश्त कर सकती है?"

—जॉन स्टुअर्ट मिल

"गुजरे वक्तपर गुजरे वक्तकी तह अपने आप वरावर जमती रहती है ।"

—वर्गसन

"जो इस समय नये काम कर रहे हैं, उन्होंने धीरे-धीरे टटोलते हुए वर्तमान नीति निश्चित की है। हमसे पहलेके लोग अपने समयके लोकमतका अनुकरण करते थे, किन्तु आजकल की ज्योतिमें वे वातें मन्द पड़ गयी है। हमने उन वातोको कृत्रिम समझा और उन्हें छोड दिया। यह हमारे पूर्वजोपर आक्षेप नही है। जो काम वे अधूरा छोड़ गए है, हमें उसे हाथमें लेकर पूरा करना चाहिए। इस समय जो गड़े मुर्दे उखाड रहे हैं, वे शीघ्र नष्ट होंगे, और उनका स्थान लेने कोई दूसरा आयेगा।"

—स्टेरेन्स मेक्स्विनी

"और निस्संदेह वह वक्त आयेगा, जव हम अपने मस्तिष्क और शरीरको इस रोगी-खानेसे, जहाँ हमने अपनेको कारागारमें डाल रखा है और खुद ही जेलके दरोगा वन बैठे है, मुक्ति प्रदान करेंगे।"

—एडवर्ड कारपेन्टर

"जो वास्तविक सत्य है, उसकी प्रतिष्ठा और स्थापना तभी होगी, जव विचार स्वतन्त्र और निर्वन्ध होगे।"

—टामस पेन

"सनातन सत्य जैसी कोई वस्तु नही होती। प्रत्येक दर्शन या तत्वज्ञान सिर्फ अपने युगके भाव और विचारोकी व्याख्या होता है। किन्ही भी दो कालो या युगोका तत्व-ज्ञान समान नही होता। जो अन्तर होता है, वह अमर और नाशवान सिद्धान्तोके वीच नही होता वल्कि जो सिद्धान्त अपने कालमें मनुष्यके जीवनमें उतरे और जो कभी नही उतरे, उनके वीचका फर्क है। अतएव मेरे निकट किसी भी विचारकके तत्वज्ञानकी कसौटी यह है कि उसने अपने कालकी समस्याओ और तथ्योकी कितनी व्याख्या की है। जो विचारक अपने युगकी वास्तविक समस्याओंको समझकर उनका हल नही वता सकता, वह महान हो ही नही सकता। जो सिद्धान्त अपने युगकी समस्याओंके निराकरणमें मदद नही देता, वह नितान्त फिजूल है और ऐसे सिद्धान्तके रहनेकी कल अगर कोई सम्भावना थी, तो आज विलकुल नही रही।"

—ऑसवाल्ड स्पेंगलर

"संघर्ष करो! संघर्षके मानी जिन्दगी है और जितना ही घोर संघर्ष होगा, उतना ही जीवन परिपूर्ण तथा गम्भीर वनेगा। तव तुम दरअसल जिन्दा वनोगे और इस तरहकी जिन्दगीके चन्द घण्टे घास-फूसकी तरह वर्षोंके जीवनसे ज्यादा गौरवयुक्त है।

संघर्ष करो! ताकि सारी दुनिया उभरता हुआ और भरापूरा जीवन विता सके। विश्वास रखो कि इस संघर्षमें तुम्हें वह आनन्द मिलेगा, जो और कोई चीज नही दे सकती।"

—क्रोपाटकिन

"सामाजिक जीवनके आदर्श, जिनके ऊपर मनुष्योके सारे काम-काज होते हैं, वदलते रहते हैं और उन्हींके साथ-साथ मानव-जीवनका व्यवस्था-क्रम भी वदलता रहता है।"

—टाल्सटाय

"दार्शनिकोने दुनियाकी व्याख्या की है, जरूरत इसको वदलनेकी है।

—कार्ल मार्क्स

"आदमीकी सवसे ज्यादा प्यारी दौलत जिन्दगी है, और चूंकि आदमीको जिन्दगी सिर्फ एक वार ही मिलती है, इसलिए उसको यह जिन्दगी इस ढगसे वितानी चाहिए कि उसको ओछेपन और वुजदिलीसे भरे हुए गुजरे जमानेकी शर्मकी तपन न हो, उसे इस तरह रहना चाहिए कि मरते वक्त कह सके—मैंने अपनी सारी ताकत, अपनी सारी जिन्दगी दुनियाके सवसे वड़े आदर्श—मानव-जातिकी आजादीके लिए न्योछावर करदी।"

—लेनिन

"सस्कृतिका पौधा वेहद नाजुक होता हैं। अनेक यत्नो और सावधानियोके वाद ही वह किसी समाजमें फूलता-फलता है। उसके लिए व्यक्तिका अभिमान, राष्ट्रका अभिमान और कौम का अभिमान सवोको तिलाञ्जलि देनी पडती है। मानव-जाति जिस दिन सस्कृतिके महत्व को समझेगी, उसी दिन वह अपनी आत्माके साथ साक्षात्कार करने के योग्य हो सकेगी। सस्कृति न तो भौगोलिक सीमा-वन्धनोको महत्व देती है, न राजनीतिको ही। संस्कृतितो अखिल मानवताकी सम्मिलित पूंजी है।"

"पुराने जमानेमे समाजका उपयोगी सदस्य वननेके लिए व्यक्तिको केवल आत्माभिमान ही छोडना पडता था किन्तु आज उसे वर्ग और राष्ट्रका अभिमान भी छोडना पड़ेगा। इन थोथे अभिमानोको दूर करके ही मानव-सस्कृतिकी ठोस वुनियादें डाली जा सकती हैं और तभी मानवताको उन्नत वनाया जा सकता है। तभी उसका कल्याण हो सकता है।"

—आईस्टीन

"वढे चलो!
पुरानी दुनियाके गुजरे हुए ख्यालके आदर्शोको छोडकर वढे चलो।
रुको मत, मुडो मत
अतीतकी मरी हुई आवाजोको सुननेके लिए थमो मत।
वढे चलो, वढे चलो।"

—रोमाँरोला

"आज जो घटनाएँ हो रही है, उनसे मुडकर हम पीछेकी ओर नही देख सकते। जो लोग ऐसे अवसरोपर भूतकालीन अनुभवका आधार ढूंटते है, वे यह नही जानते कि भूतकालके अनुभवने ही तो इस स्थितिको उत्पन्न किया है। उनको नये विचारोंका उ-

लगने लगता है; परिवर्तन उनको न केवल अवांछनीय ही, बल्कि अनावश्यक भी लगते है। पूर्वजोकी तरह वे यह धारणा बनाये रखते है कि हमारा सामाजिक विधान शाश्वत काल के लिए है। वे समाजके ऊपरी ढाँचेमें तो फिर भी परिवर्तन स्वीकार कर लेते है पर बुनियादी परिवर्तनोको हमेशा आशंकाकी दृष्टिसे देखा करते हैं।"

—हैराल्ड जे० लास्की

"आज विचारकी महत्ता ही स्वीकार करनी होगी, जिसकी अग्निमें युगोंसे बटोरा हुआ कूडा जल जायगा। इसलिये आज युगानुकूल नये धर्मके लिए बहुत कुछ संहारका काम पडा है। संहार और विनाशके बाद ही नयी जीवन-संस्कृतिका विकास होगा।"

—बरट्रेन्ड रसल

"जब आजके शासन-तंत्र, जीवनके विचार, धर्म और राजनीतिक विचारधाराओ की प्रतिष्ठा मिट जायगी, तभी ससारमें नव-निर्माणका कार्य शुरू होगा। और इस निर्माणका कार्य वे ही कर सकेगे, जिनमें नई दृष्टि और नई शक्ति एवं साधना होगी।"

—एच० जी० वेल्स

"जब हम लाखो पौंड खर्च करके और अथाह परिश्रम द्वारा किसी नये युद्ध-पोत अथवा दूसरे प्रकारके शस्त्रास्त्रोका निर्माण करते है और जब उसमें कोई भूल रह जाती है तो हम क्या करते है? बिना जरा भी समय गँवाए उसको तोड़कर नया बनाते हैं। उसी तरह आज हमने धर्म और सदाचार और न मालूम दूसरे क्या-क्या नाम देकर जो कुछ गढ़ रखा हैं, वह जीवनके तथ्योंसे विपरीत है, परिस्थितियोके जरा भी अनुकूल नही है। इन सबको तोड़ डालिये—तोड़ डालिये और नयेका निर्माण कीजिए। आजकी दुनियामें यही खराबी हैं कि वह अपने पुराने इजिनो—डायनेमोंको तोड़नेको तैयार हैं, लेकिन जो धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक विचार आजकी परिस्थितियोंकी दृष्टिसे बेमतलब है, उन्हें तोड़ने और बदलनेको तैयार नही।"

—बर्नार्ड शा

"जो सभ्यता अपने सवाल हल हो जानेपर सुस्त बन जाती है, और नई परिस्थितिका मुकाबला नये ढंगसे नही करती, उसका भविष्य उज्ज्वल नही।

हमारा अपना युग भयंकर हो गया। इसका एक बड़ा कारण यह है कि हमें अपने राष्ट्र, अपने झडे और अपने इतिहासकी पूजा करना सिखाया गया है जब हम अपने भूतकालकी पूजा करने लगते हैं, तब मानो हम असफलताको न्योता देते है।"

—आर्नोल्ड टायन्बी

"इतिहास आज पहलेके किसी भी युगकी अपेक्षा अधिक तेज गतिसे बदल और बन रहा है। अगर हम भी इतनी ही गतिसे परिवर्तनशील हो जायेंतो हम इतिहासके निर्माण में योगदान करनेका गौरव पा सकते हैं। जो परिवर्तन और क्राति अवश्यंभावी हैं, उसे कोई रोक नही सकता, उसमें जितना विलम्ब करनेकी कोशिश की जायगी, उतनी ही दुनियामें हिंसा और रक्तपातकी वृद्धि होगी।"

—जूलियन हक्सले

"किसी धर्मको इसलिए अंगीकार मत करो कि वह सबसे प्राचीन है। इसका सबसे प्राचीन होना इसके सच्चे होनेका कोई प्रमाण नही है। कभी-कभी पुरानेसे पुराने घरोंका गिराना उचित होता है और पुराने वस्त्र अवश्य बदलने पड़ते है।

यदि आप नई रोशनीको ग्रहण करनेको राजी और तैयार नही है, तो जाओ पितृ लोकमें पूर्व-पुरुषोंके साथ निवास करो। यहाँ ठहरनेका कौन काम है?

अपनी स्वतन्त्रताको बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और कृष्णके हाथ न बेच डालो।"

—स्वामी रामतीर्थ

"आनेवाले समाजकी नव-रचनामें जो धर्म संकुचित रहेगा और बुद्धिकी कसौटी पर खरा नही उतरेगा, वह टिक न सकेगा क्योंकि उस नव-निर्माणमे हरेक चीजका मूल्य नये ढंगसे ही कूता जायगा।

कोई भी सुधार तब ही हुआ है, जब साहसी व्यक्तियोंने समाजमे प्रचलित अमानवीय प्रथाएँ और रस्में स्वयं ही तोड डाली हैं।"

—महात्मा गाधी

हमारी समस्याका समाधान कहाँसे आयेगा? मनके परिवर्तनसे—युगके परिवर्तनसे। जिस तरह यूरोप सत्यकी साधना और ज्ञानकी व्याप्तिके द्वारा मध्ययुगके भीतरसे गुजर कर आधुनिक युग तक आ पहुँचा है, उसी तरह हमको भी अपने संकीर्ण दायरोंसे निकलकर बाहर की ओर यात्रा करनी होगी, धर्मको कब्रकी तरह चुनकर समूची जाति को हमेशाके लिए भूतकालके भीतर दफना देनेसे उन्नतिके पथपर चलना असम्भव है। हमारी मानसिक प्रकृतिके भीतर जो अवरोध क्रमशः दृढ हो गया है, उसे सम्पूर्णतया मिटाए बिना हम किसी प्रकारकी कोई स्वाधीनता उपलब्ध नही कर सकेंगे। शिक्षाके द्वारा साधनाके द्वारा हमें यही बुनियादी परिवर्तन लाना होगा।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"दुनियाके दूसरे राष्ट्रोंसे हमारी अलहदगी अध पतनका कारण है और उसका इलाज सिर्फ यही है कि हम फिरसे बाकी दुनियाकी धारामें शामिल हो जायँ। गतिशीलता जीवनका चिन्ह है।"

—विवेकानन्द

"इस समूचे बीहड़के बीच विश्वासकी आँखें देख पा रही है कि एक अनगढ लेकिन विपुलाकार परिवर्तनका श्रीगणेश हो गया है। मनीषा और ज्ञान—अभी न सही सौन्दर्य, की वाणी अब सुनी जाने लगी है और तेजीके साथ किसी विस्तृत, धुंधली लेकिन अन्तमे कार्यकरी संकल्प शक्तिको भी अपने उद्देश्य-साधनके लिए उत्पन्न करनेमें समर्थ होने लगी है।"

"अगर उपनिषदो या बुद्धके जमानेका या बादके स्मृति-युगका कोई पुराना हिन्दुस्तानी आज के हिन्दुस्तानमें ला बिठाया जाय, तो वह देखेगा कि उसकी जाति पुराने बाह्य

के वाहरी रूपों, छिलको और चिथड़ोसे चिपटी हुई है, और उसके ऊँचे मतलवके दस हिस्सों में से नौ को खो वैठी है। उसे अचरज होगा कि यहाँ इतना दिमागी लचरपन, इतनी जड़ता है, वातोका दोहराते रहना है, जो हमें आगे नही वढाता। विज्ञानका खात्मा हो गया है; कला वहुत दिनोंसे वाँझ हो रही है और रचनात्मक वुद्धि कितनी कमजोर हो गई है।"

—श्री अरविन्द

"शांति, शांति, शांति सुनते-सुनते कान वहरे हो गये। परन्तु इस असत्य का कौन लोग प्रचार करते हैं, जानते हो? इस मिथ्या मंत्रके ऋषि वही है, जो दूसरोकी शांति लूटकर वडी-वड़ी अट्टालिकाएँ और प्रासाद वनाकर रास्ता रोके वैठे हैं। वँधी हुई गाय भूखे मरते देखी है? वह खड़ी-खड़ी मर जाती है मगर उस पुरानी कमजोर रस्सीको तोड़कर मालिककी शांति नष्ट नही करती? यही तो हुआ है। इसीसे तो दीन-दरिद्रोंके चलनेका रास्ता एक दम वन्द हो गया है। फिर भी उन्हींकी अट्टालिकाओ और प्रासादोको तोडनेके काममें अगर हम भी उन्हीके साथ स्वर मिलाकर अशान्ति, अशान्ति कहकर रोने लगें, तो रास्ता नही मिलेगा? नही, यह नही हो सकता। वह संस्था चाहे जितनी प्राचीन हो चाहे जितनी पवित्र हो, चाहे जितनी भी सनातन हो, मनुष्यसे वडी नही हो सकती। आज हमें उसे तोड़ ही डालना होगा। धूल तो उडेगी ही, वालू-चूना तो झरेगा ही, ईंट-पत्थर तो खिसक-खिसककर आदमीके सिरपर गिरेंगे ही, यह तो स्वाभाविक है।"

—शरत् चन्द्र चटर्जी

"ससारमें ऐसी कोई रचना हो ही नही सकती, जिसमें कोई क्रातिकारी संशोधन करना ही न पड़े, जो कभी क्षीण या जीर्ण ही न हो या जिसमें कोई अशुभ तत्व न हो। नव दर्शन हो जाने पर प्राचीन दर्शनको और उसपर खड़ी हुई धर्म-रचनाको पकड़े रहने में दोष है। उस नये दर्शनमें भी दोष तो होगे ही, फिर भी नये युगमें वही काम दे सकेगा, पुराना नही। उस नयेमें पुरानेका समूचा स्वरूप नष्ट नही हो सकता; परन्तु उसमे पुराना उसी हद तक रह सकता है, जिस हद तक नये दर्शन और विवेचनने उसे स्वीकार किया होता है, अथवा अस्वीकार नही किया होता। वर्तमान धर्म-सम्प्रदायोंके स्थानपर अपने ही सत्यके वलको प्रमाण मानकर उसके आधारपर नये धर्मका निर्माण हुए विना मुझे नही लगता कि शुभकी ओर हमारी कोई प्रगति हो सकेगी।"

—किशोरलाल घ० मशरूवाला

"देश-काल-भेदसे आचार-विचार वदलते रहते है। समाजको गति देनेवाला मूल तत्व यह है कि आर्थिक संगठनके वदलनेसे सामाजिक सम्वन्ध वदलते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि नवीन उद्देश्य और आकांक्षाओका जन्म होता है। इनकी पूर्तिके लिए जीवनके नये मूल्योको स्वीकार करना पड़ता है।"

—आचार्य नरेन्द्र देव
